लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

भैमीव्याख्या

{द्वितीय भाग}

भीमसेन शास्त्री

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

भैमीव्याख्या

[द्वितीय भाग]

(दश गण तथा एकादश प्रक्रिया)

भीमसेन शास्त्री

एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न

—प्राप्ति-स्थान—

भैमी प्रकाशन

५३७, लाजपतराय मार्केट, दिल्ली—११०००६

व्याकरण-प्रशस्तिः

गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः ।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति ॥१॥

रूपान्तरेण ते देवा विचरन्ति महीतले ।
ये व्याकरण -संस्कार -पवित्रित-मुखा नराः ॥२॥

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥३॥

★ वैयाकरणमूर्धन्य की तुला में यह ग्रन्थ ★

वैद्यवर श्रीभीमसेन शास्त्री की नूतनतम कृति लघुसिद्धान्तकौमुदी की भैमीव्याख्या को देखने का अवसर मिला, देख कर चित्त अतीव प्रसन्न हुआ। इतनी विस्तृत व्याख्या आज तक कभी नहीं हुई। वरदराज की मूलकृति पाणिनीय-प्रवेश के लिये है, प्राथमकल्पिक छात्रों के लिये हैं। परन्तु यह व्याख्या न केवल उनके लिये है, अपितु उपाध्यायों के लिये भी है। प्रक्रियांश में यह अद्वितीय ग्रन्थ है। शब्दसिद्धि सर्वत्र स्फटिकवत् स्फुट और हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष और इतनी असन्दिग्ध और परिपूर्ण है कि इस के ग्रहण के लिये अध्यापक की अपेक्षा नहीं रहती। कौमुदीस्थ प्रत्येक धातु की अविकलरूपेण सूत्राद्युपन्यासपूर्वक सविस्तर सिद्धि दी गई है।

व्याख्यांश में भी यह कृति अत्यन्त उपकारक है। सूत्रादि में अनुवृत्ति, पदच्छेद, विभक्तिनिर्देश आदि सर्वत्र अनवद्यरूप से निष्पन्न हुए हैं। स्थान-स्थान पर धात्वर्थ-प्रदर्शन के लिये साहित्य से उद्धरण दिये हैं। धातूपसर्गयोग को भी बहुत सुन्दर काव्य-नाटकों से उद्धृत उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है। यह इस कृति की अपूर्वता है।

इस व्याख्या के प्रणयन में शास्त्रीजी ने अथाह प्रयत्न किया है। महाभाष्य, न्यास, पदमञ्जरी आदि का वर्षों तक अवगाहन करके उन्होंने यह व्याख्या लिखी है। प्रक्रिया में शङ्का उठा कर जो जो समाधान भाष्यकारादि ने दिये हैं वे सभी यहां विशद रूप से उद्धृत किये हैं। रुदिहि, स्वपिहि आदि में झलन्त रुद् आदि से 'हि' को 'धि' क्यों नहीं होता, इस के चार समाधान दिये हैं (पृ० २८८)। दूसरे व्याख्याकारों के क्वाचित्क स्खलनों का प्रदर्शन भी यहां यथावसर किया गया है (पृ० २१६)। वृत्त्यादि के सूत्रार्थ में दीक्षित की सूक्ष्म दृष्टि का आश्रयण कर के यथेष्ट संशोधन भी किया गया है (पृ० ६२)।

इस प्रकार सर्वाङ्गसुन्दर यह व्याख्या समान रूप से छात्रों तथा उपाध्यायों के लिये उपादेय है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस का लोक में यथेष्ट प्रचार होगा।

चारुदेव शास्त्री

★ शुभाशंसनम् ★

उत्तरार्धे तिङन्तभागोऽयं श्रीमद्वरदराजाचार्यप्रणीताया लघुसिद्धान्तकौमुद्या भैमीव्याख्ययोद्भासितः । व्याकरणशास्त्रे कृतभूरिपरिश्रमाणां भीमसेनशास्त्रि-महोदयानामनन्यसाधारणा भक्तिर्व्याकरणे निष्ठा च छात्रवृन्दे । अत एव तैर्लघुसिद्धान्तकौमुदी स्वकीयया भैमीव्याख्ययोद्भासिता । गहनं खलु व्याकरण-शास्त्रं भवति च परिभवस्थानं छात्राणां नूतनाध्येतॄणां च । यद्यपि अध्ययनसौकर्यार्थमेव कौमुदीग्रन्थाः प्रणीताः प्रवृत्ताश्च तथापि सुखबोधः तैर्न संजायत इति सार्वजनीनोऽनुभवः । अत एव व्याकरणग्रन्थानामाधुनिक भारतीयभाषया व्याख्यानमावश्यकमेवाधुना सञ्जातम् । धन्यवादान् खल्वर्हन्ति भीमसेनशास्त्रिणो यैरीदृशः प्रयासः समारब्धः । अयं स्पृहणीयो विशेषोऽस्य ग्रन्थस्य यदत्र व्याकरणनियमविवेचनानन्तरं प्रयोगप्रदर्शनार्थं संकलितानि उदाहरणानि रघु-कुमार-किरात-नैषध-मेघदूत-शाकुन्तल-मृच्छकटिकादिग्रन्थेभ्यः। यथाऽहम्पश्यामि अत्र सरलं विवेचनं सोदाहरणं स्पष्टीकरणं विलोभनीयं प्रभुत्वं प्रशंसनीयं महाकाव्यनाटकादिविदग्धवाङ्मयावलोकनमेतेषां शास्त्रिमहोदयानाम्। न तच्चित्रं स्याद्यदेभिर्गुणविशेषैरलङ्कृता भैमी छात्रहृदयप्रवेशं लप्स्यते । शब्द-ब्रह्मणि दत्तावधाना एते महोदया अर्थब्रह्मणि निरपेक्षा उदासीनाश्च । अत एव मन्ये तैर्ग्रन्थप्रकाशन ईदृशी अर्थापत्तिः स्वीकृता । न मे मनागपि सन्देहो यद् येषां भवति शास्त्रेषु पक्षपातः, व्याकरणे रुचिः, कृतपरिश्रमेषु आदरस्ते सर्वेऽपि अस्योत्तरार्धस्य एतद्ग्रन्थ-पूर्वार्धवद् हार्दिक्यं स्वागतं करिष्यन्ति । तथापीदमेव सम्प्रार्थ्यते –

अलब्धगुरुपाठानां कौमुदी आतपायते ।
भैमीव्याख्याप्रसन्ना चेद् भवेत्कौमुदी कौमुदी ॥

T.G.MAINKAR
M.A.Ph.D.D.Litt.
Bhandarkar Professor of Sanskrit & Head of the department, University of Bombay, BOMBAY – 20

माईणकरकुलोत्पन्नो
गोविन्दसूनुस्त्र्यम्बकः
डॉ. भाण्डारकराध्यासननियुक्तः,
प्रधानसंस्कृतप्राध्यापको विभागाध्यक्षश्च,
मुम्बई-विश्वविद्यालये ।

प्राक्कथन

संस्कृतशिक्षाप्रणाली में व्याकरण का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बिना व्याकरण के ज्ञान के शब्दसाधुत्व का ज्ञान नहीं हो सकता। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने इसे स्मृति की उपाधि देते हुए कहा है–**तस्मान्निबध्यते शिष्टैः साधुत्वविषया स्मृतिः** (१.२.९)। उन्होंने इसे सिद्धिसोपान के चरणों में प्रथमचरण और मोक्ष के इच्छुक जनों के लिये ऋजु राजमार्ग बताया है–

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः॥

भारत में समय-समय पर अनेक व्याकरण लिखे जाते रहे हैं। प्रत्येक युग के अपने अलग-अलग व्याकरण हैं–**युगे युगे व्याकरणान्तराणि**। एक कारिका में इन के रचयिताओं की संख्या आठ बताई गई है। इस में आचार्य पाणिनि का भी उल्लेख है। 'आदिशाब्दिकाः' इस रूप में उस कारिका में उन वैयाकरणों का उल्लेख है–**जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः**। उन की संख्या केवल आठ ही नहीं थी इस से कहीं अधिक थी इस में कोई सन्देह नहीं है क्योंकि अपने से पूर्ववर्ती इन शाब्दिकों का उल्लेख तो आचार्य पाणिनि ने अपने सूत्रों में ही किया है। इस से यह सिद्ध है कि व्याकरण की परम्परा भारत में अतिप्राचीन है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में दस शाब्दिकों का उल्लेख होने पर भी उन में से किसी एक का भी समग्र व्याकरण अब उपलब्ध नहीं है। पाणिनि का व्याकरण अपने में इतना पूर्ण था, इतना परिपक्व था कि उस के सामने और कोई व्याकरण टिक नहीं सका। पूर्ववर्ती सभी वैयाकरण कालकवलित हो गये। केवल एक मात्र पाणिनि का व्याकरण ही समस्त संस्कृतसमाज पर छा गया। पाणिनि के सूत्रों से ही भाषा की शुद्धता-अशुद्धता का निर्णय होने लगा। सूत्रों के विरोधी बात कहने वाले की बात प्रामाणिक नहीं मानी जाती थी–**यो ह्युत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत** (महाभाष्य, पस्पशा०)। भाषा की सही पकड़ की दृष्टि से पाणिनीयव्याकरण का ज्ञान अनिवार्य था। उसी से ही अन्य शास्त्रों को भी जाना समझा जा सकता था। इसी कारण ही संस्कृतसमाज में एक सुप्रसिद्ध उक्ति चल पड़ी थी–**काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्।**

इस सर्वशास्त्रोपकारक पाणिनीय व्याकरण के अध्ययनाऽध्यापन की परम्परा भारत में अब लगभग ढाई हज़ार वर्ष से चली आ रही है। बीच में अनेकानेक व्याकरण बने पर वे पूरी तरह इस का स्थान न ले सके। परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रही। हां, देशकाल के अनुरोध से क्रम आदि में कुछ परिवर्तन अवश्य इसमें हुआ। शब्दसिद्धि की दृष्टि से जिसे कि प्रक्रियापद्धति कहा जाता है पाणिनि के सूत्रों का विषयों के आधार पर नवीन वर्गीकरण किया गया और यह समझा गया कि इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण अधिक सुगमता से समझ आ सकेगा। इस दिशा में सब से पहला प्रयास था बौद्ध वैयाकरण धर्मकीर्ति का जिसने ११वीं शताब्दी के लगभग पाणिनि के कतिपय उपयोगी सूत्रों का नये ढंग से वर्गीकरण कर **'रूपावतार'** की रचना की। इसके अनन्तर १४वीं शताब्दी के लेखक विमलसरस्वती ने **'रूपमाला'** में इस पद्धति को अपनाया। उसके एक शताब्दी पश्चात् रामचन्द्र ने **'प्रक्रियाकौमुदी'** की इसी पद्धति से रचना की। इसे पूर्णता प्रदान की सत्रहवीं शताब्दी के मूर्धन्य वैयाकरण भट्टोजिदीक्षित ने जिसने **'वैयाकरण-सिद्धान्त-कौमुदी'** में पाणिनि के उन सूत्रों का भी समावेश कर लिया जिसे रामचन्द्र ने छोड़ दिया था। भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्त-कौमुदी अब एक ऐसा ग्रन्थ था जो नवीन पद्धति पर था और जिस में पाणिनि का एक भी सूत्र छूट न पाया था। ११वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुई–विषयों

अथवा प्रकरणों के आधार पर पाणिनि के सूत्रों के वर्गीकरण की पद्धति सत्रहवीं शताब्दी में आ कर पूर्णता को प्राप्त हुई ।

इन्हीं महावैयाकरण भट्टोजिदीक्षित के शिष्य थे वरदराज, जिन्होंने बालकों और किशोरों की सुगमता को दृष्टि में रख **मध्यसिद्धान्तकौमुदी** और **लघुसिद्धान्तकौमुदी** नामक ग्रन्थ तैयार किये । इनमें लघुसिद्धान्तकौमुदी अत्यधिक लोकप्रिय हुई । वर्त्तमान में परिस्थिति यह है कि प्राचीनपद्धति के संस्कृत पण्डितों के घरों में संस्कृत-शिक्षा का प्रारम्भ लघुसिद्धान्तकौमुदी एवं अमरकोष से किया जाता है । इन दोनों ग्रन्थों से बालक विशाल संस्कृतवाङ्मय में प्रवेश करता है ।

इस लघुकौमुदी पर समय-समय पर बीसियों टीकाएं और व्याख्याएं लिखी गई हैं । इतने लोकप्रिय ग्रन्थ के लिये यह अस्वाभाविक न था । मुख्यतया परीक्षाओं में इस ग्रन्थ के पाठ्यक्रम में होने के कारण टीकाकारों व्याख्याकारों एवं अनुवादकों तथा प्रकाशकों को इस के विभिन्न संस्करण प्रकाशित करने में उत्साह था । इसी कारण इस के अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं । उन्हीं संस्करणों की निरन्तर वर्धमान शृंखला में वैद्य भीमसेन शास्त्री का प्रस्तुत संस्करण भी है जिसे तैयार करने में उन्होंने कठोर परिश्रम एवं आर्थिक विनियोग किया है । प्रस्तुत संस्करण बहुत सुन्दर बन पड़ा है । विषय को विशदरूप में प्रस्तुत करने में वैद्यजी ने अथक प्रयास किया है । व्याख्या कितनी विस्तृत है इस का पता इस से ही लग सकता है कि अकेले तिङन्त प्रकरण पर ही ७०० से अधिक पृष्ठ लिखे गये हैं । इस अंश में व्याख्याकार ने कतिपय अन्य प्राचीन व्याख्याकारों का अनुसरण किया है । याज्ञवल्क्यस्मृति की **मिताक्षरा** या सिद्धान्तकौमुदी की **प्रौढमनोरमा** के समान प्रस्तुत ग्रन्थ बहुत कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रतीत होता है । व्याख्याकार ने अपनी व्याख्या में अनेक पाणिनीय एवं अन्य वैयाकरणों के मतों का उल्लेख किया है, नाना शास्त्रार्थ दिये हैं, विभिन्न व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं । इस व्याख्या की विशेषताओं में सभी धातुओं के सभी लकारों के रूप, विभिन्न उपसर्गों के साथ भिन्न-भिन्न अर्थों में धातुओं के प्रयोग एवं च गणों के अन्त में अभ्यासों का उल्लेख किया जा सकता है । कहीं-कहीं व्याख्याकार ने भाषाविज्ञान के क्षेत्र में भी प्रवेश किया है । इसी प्रकार यदा-कदा उन्होंने भाषा-वैज्ञानिक कल्पनाएं भी की हैं । ये कल्पनाएं अधिकांश ध्वनिसाम्य पर आधारित हैं । भाषाशास्त्रीय सम्प्रदाय की एक सुप्रसिद्ध उक्ति है–Sound philology is not sound philology (ध्वनि पर आधारित भाषाविज्ञान का आधार सुदृढ़ नहीं होता) ।

लघुकौमुदी के पूर्वार्ध पर वैद्य जी की व्याख्या बहुत पहले प्रकाशित हो चुकी है । विद्वानों ने उस का जिस प्रकार स्वागत किया है उसी प्रकार वे इस के उत्तरार्ध के तिङन्तप्रकरण की व्याख्या का भी स्वागत करेंगे इसका मुझे पूर्ण विश्वास है । वैद्यजी का व्याकरण शास्त्र का अध्ययन गहन है, वे परिश्रमी भी हैं, उनमें सूक्ष्मेक्षिका भी है । इन सब गुणों का परिचय प्रस्तुत व्याख्या में पदे पदे होता है । मैं वैद्यजी की इस सफल व्याख्या पर भूरि-भूरि साधुवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि उन की सशक्त लेखनी संस्कृतसमाज को इस प्रकार की अनेकानेक कृतियों से लाभान्वित करती रहेगी ।

३/५४ रूपनगर, दिल्ली-७
२७ मई, १९७१

डा० सत्यव्रत शास्त्री
आचार्य एवं अध्यक्ष,
संस्कृत-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-७

आत्मनिवेदन

लगभग २१ वर्षों के महाव्यवधान के बाद भैमीव्याख्या का यह द्वितीय भाग गुणग्राही विद्वज्जनों और विद्यार्थियों के आगे प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। इस भाग में लघु-सिद्धान्तकौमुदी के तिङन्तप्रकरण अर्थात् दशगण और एकादश प्रक्रियाओं का व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है । संस्कृतव्याकरण में तिङन्तप्रकरण (Backbone) पृष्ठास्थि समझा जाता है । इसे पृष्ठास्थि समझे जाने के दो प्रमुख कारण हैं । पहला–इस में धातुओं का विवेचन होने से यह प्रकरण सम्पूर्ण व्याकरण का प्राण है, क्योंकि धातुओं से ही विविध प्रत्ययों के संयोग से अनेकविध शब्दों की सृष्टि होती है । दूसरा–प्रक्रियाविषयक जैसी जटिलता व गम्भीरता इस प्रकरण में देखी जाती है वैसी अन्य किसी भी प्रकरण में दृग्गोचर नहीं होती। जो इस प्रकरण की जटिलतम प्रक्रिया को एक बार हृदयङ्गम कर लेता है उसे फिर अन्यत्र कहीं कठिनाई का अनुभव करना नहीं पड़ता ।

इस ग्रन्थ के निर्माण में बहुत काल लगा । दरजनों ग्रन्थों की कई बार आवृत्तियां करनी पड़ीं, अनेक दुर्लभ ग्रन्थों को खोजना पड़ा । किसी एक समस्या को लेकर कई दिनों तक निरन्तर सोचविचार चलता रहा । जब तक निःसन्देह नहीं हुए आगे नहीं बढ़े । केवल नाममात्र की व्याख्या प्रस्तुत करना अभीष्ट न था । ग्रन्थकार के एक-एक रहस्य का उद्घाटन करते हुए उस के अन्तस्तल तक पहुंचने का पूरा-पूरा यत्न करना उद्दिष्ट था । निदर्शनार्थ **'द्विर्वचनेऽचि'** (४७४) सूत्र को ही ले सकते हैं । सिद्धान्तकौमुदी में इसका **'द्वित्वनिमित्तेऽचि परे अच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्तव्ये'** ऐसा अर्थ दिया गया है । परन्तु वरदराजजी ने लघुकौमुदी में इस का अर्थ देते हुए **'परे'** शब्द को हटा दिया है ।–**द्वित्वनिमित्तेऽचि अच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्त्तव्ये ।** ऐसा क्यों किया गया है ? वरदराजजी के आगे ऐसी कौन सी समस्या थी जिससे उन्हें विवश होकर **'परे'** पद को हटाना पड़ा ? लघुकौमुदी की अद्ययावत् मुद्रित किसी भी व्याख्या में इस के विषय में कुछ प्रकाश नहीं डाला गया परन्तु इस भैमीव्याख्या में इस पर खूब सोच विचार किया गया है और सिद्ध किया गया है कि वरदारज जी ने यहां से **'परे'** पद को हटाकार अपनी अपूर्व बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है । केवल यही नहीं इस प्रकार के अनेक स्थलों के समाधान इस व्याख्या में यथासम्भव पूर्णरीत्या दिये गये हैं । संक्षेप में इस व्याख्या की निम्नस्थ छः प्रमुख विशेषताएं हैं–

(१) रूपसिद्धि और रूपमाला

अविकल रूपसिद्धि और रूपमाला इस व्याख्या की पहली प्रमुख विशेषता है । आरम्भिक विद्यार्थियों तथा परीक्षार्थी छात्रों को इस की बड़ी आवश्यकता हुआ करती है । रूपसिद्धि में कहीं कोर-कसर नहीं छोड़ी गई । प्रायः डेढ़ सहस्र रूपों की सिद्धि इस में की गई है । स्पष्टता को दृष्टि में रखते हुए कहीं कहीं पुनरुक्ति की भी चिन्ता नहीं की गई । इस में जहां कहीं वैयाकरणों का मतभेद पाया जाता है उसका भी विस्तृत उल्लेख किया है । ऐसा करना व्युत्पन्न विद्यार्थियों तथा तुलनात्मक अध्ययन करने वालों के लिये अतीव आवश्यक था । इसी प्रकार एतद्ग्रन्थान्तर्गत प्रायः सवा तीन सौ धातुओं में से प्रत्येक धातु के दस लकारों की रूपमाला भी स्पष्ट लिख
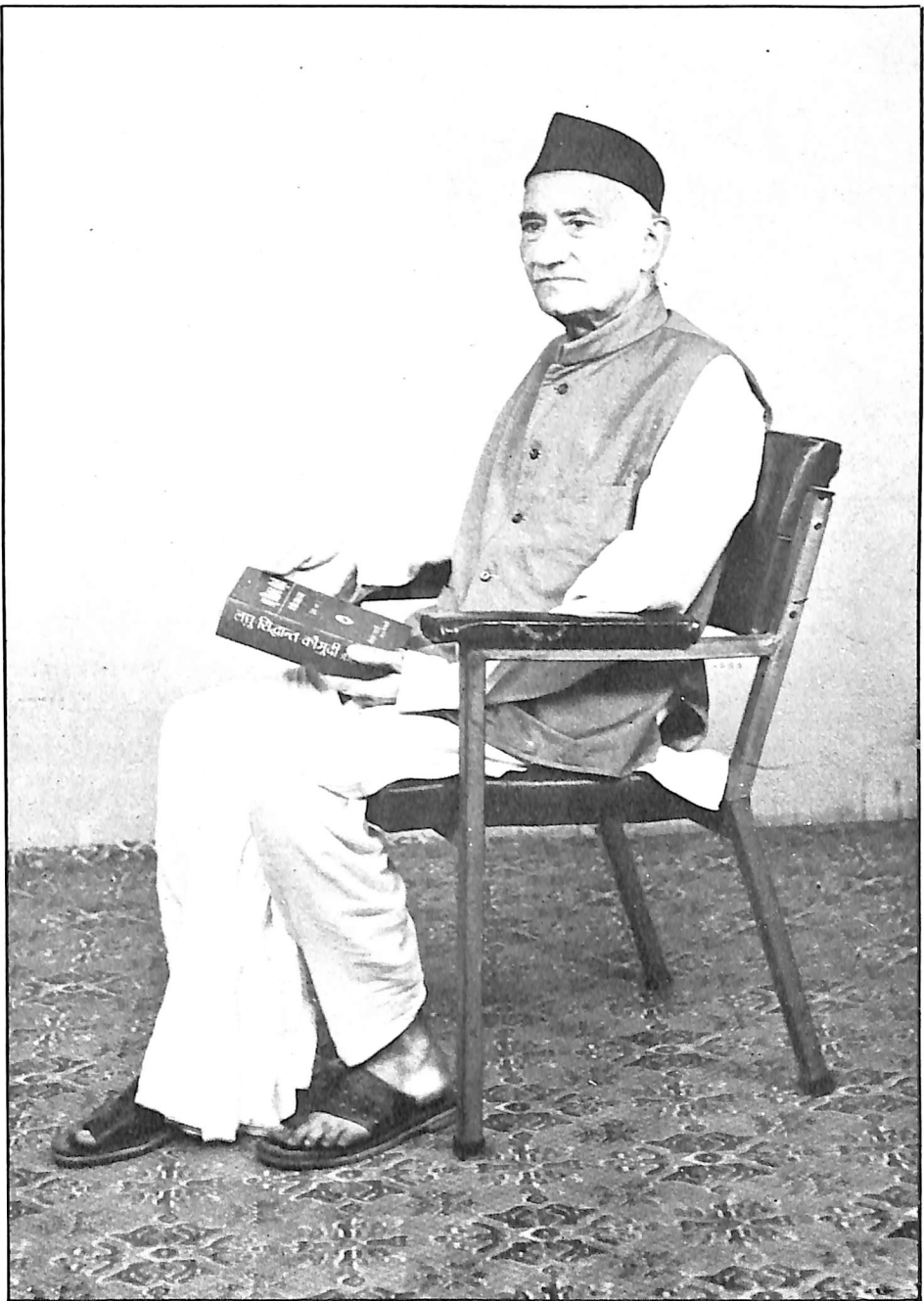
भैमीव्याख्याकार डा० भीमसेन शास्त्री

दी है, कहीं भी 'तद्वत्' का प्रयोग नहीं किया। इस से इस व्याख्या के पाठकों को धातुरूपावलियों की आवश्यकता नहीं रहेगी। इस के साथ साथ रूपमालाओं में जहां कहीं सूत्रों का निर्देश ज़रूरी था वहां वह कोष्ठक या टिप्पणी में कर दिया गया है। किञ्च यदि कोई प्रयोग किसी काव्यादि में प्रयुक्त जान पड़ा है तो वह भी टिप्पण में दे दिया है। इस से विद्यार्थियों का ध्यान लक्षणों के साथ साथ लक्ष्यों की ओर भी रहेगा। जैसा कि भाष्यकार ने कहा है – **लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्**।

(२) सूत्रों का अर्थ

सूत्रार्थ इस व्याख्या की दूसरी प्रमुख विशेषता है। तीन अक्षरों वाले सूत्र का पैंतीस-चालीस अक्षरों वाला अर्थ कैसे निष्पन्न हो जाता है? इस का यहां पूर्ण विवेचन किया गया है। सूत्र का अर्थ करने में पदच्छेद, विभक्तिवचन, समास, अधिकार तथा अनुवृत्ति-निर्देश के अतिरिक्त अनेकविध परिभाषाओं तथा न्यायों का आश्रय लेना पड़ता है यह सब यहां प्रति-सूत्र उपपत्तिपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। आजकल के त्वरितवक्ता बनने वाले विद्यार्थी यद्यपि इसे आवश्यक नहीं समझते तथापि इस की उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्योंकि पाणिनीयप्रवेशाय बनी लघुकौमुदी का अपने मूलस्रोत अष्टाध्यायी से सम्बन्धविच्छेद नहीं किया जा सकता। यदि मूल से इस का सम्बन्ध कट जाये तो कौमुदी कौमुदी (चन्द्रिका) ही न रहे अन्धतमिस्रा बन जाये। तब **'पूर्वत्रासिद्धम्'** (३१) **'असिद्धवदत्रा-ऽऽभात्'** (५६२), **'सिंज्लोप एकादेशे [illegible]द्धो वाच्यः'** (वा०), **'पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः'**, **'परमपि स्वरत्यादि[illegible]ल्पं बाधित्वा–'**, **'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'** (११३) आदि सब व्यर्थ हो जायें और सारा [illegible]ल ही बिगड़ जाये।

(३) धातुओं के अर्थों का विवेचन

धात्वर्थों का विवेचन इस ग्रन्थ की तीसरी प्रमुख विशेषता है। शालाओं के छात्र धातुपाठ के संस्कृत अर्थ को रट तो लेते हैं परन्तु उन को धातुओं के अर्थ का वास्तविक ज्ञान नहीं होता। वे **'ध्वंसुँ गतौ च'** **'भ्रस्जँ पाके'** इत्यादि तो बता सकते हैं परन्तु **'गतौ** और **'पाके'** का यहां क्या अभिप्राय है – यह नहीं बता सकते। इसी प्रकार – **श्रा पाके, दुहँ प्रपूरणे, दिहँ उपचये, पुष पुष्टौ** आदि के विषय में समझना चाहिये। इस व्याख्या में यथासम्भव प्रत्येक धातु के अर्थ को स्पष्ट करने का यत्न किया है। इस के लिये कहीं कहीं पाणिनीतर वैयाकरणों का उल्लेख भी किया है और कई जगह विशाल संस्कृतसाहित्य से चुने हुए प्रयोग भी उपस्थित किये हैं। साधारण अर्थ की व्यापकता तथा लाक्षणिकता का भी उदाहरणों द्वारा भरसक स्पष्टीकरण किया गया है (यथा - **रुधिँर् आवरणे, भिदिँर् विदारणे** आदि पर)। कुछ धातुओं के तिङन्त प्रयोग नहीं मिलते केवल उन से बने शब्द ही दृग्गोचर होते हैं; इसी प्रकार कुछ धातुएं संस्कृत में इस समय सर्वथा लुप्त हो चुकी हैं परन्तु प्राकृत आदि अन्य भाषाओं में उन के प्रयोग पाये जाते हैं – इन सब का विवेचन यथासम्भव तत्तत्स्थानों पर किया गया है। कुछ स्थानों पर भारोपीय भाषाओं के साथ संस्कृत धातुओं की तुलनाएं भी दी गई हैं; परन्तु ये अन्तिम निष्कर्ष नहीं हैं इन में वाद-विवाद की पूरी सम्भावना है। इस में संस्कृत-विद्यार्थियों को भाषाविज्ञान की ओर आकृष्ट करना मात्र उद्देश्य रहा है। इस प्रकार के प्रयास आप्टे तथा मोनियर विलियम

के कोषों में भी किये गये हैं। कई लोग केवल ध्वनि-साम्य को भाषाविज्ञान का सुदृढ़ आधार नहीं मानते परन्तु जब एक ही परिवार की भाषाओं में अर्थ और ध्वनि का साम्य मिल जाता है तब वह भाषाविज्ञान के क्षेत्र में अवश्य विचारणीय बन जाता है। लघुकौमुदी पर इस प्रकार के भाषाविज्ञानसम्बन्धी टिप्पणों का यह प्रथम प्रयास है।

(४) उपसर्गयोग

इस व्याख्या की चौथी प्रमुख विशेषता है उपसर्गयोग। प्रायः सब प्रसिद्ध २ धातुओं के अन्त में उपसर्गयोग दिये गये हैं। इस प्रकार लगभग चार सौ से अधिक उपसर्गयोग एकत्रित किये गये हैं। इन के साथ अर्थ तो दिये ही हैं परन्तु उन के लगभग एक सहस्र उदाहरण **वेद, ब्राह्मण, उपनिषत्, श्रौतसूत्र, आयुर्वेद, स्मृति, रामायण, महाभारत, पुराण, स्तोत्र, भास-नाटकचक्र, रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत, शाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, भट्टिकाव्य, किरातार्जुनीय, माघ, भर्तृहरिकृत शतकत्रय, हितोपदेश, पञ्चतन्त्र, कथासरित्सागर, कादम्बरी, उत्तररामचरित, महावीरचरित, अनर्घराघव, नैषध, भामिनीविलास, गीतगोविन्द** आदि सुप्रसिद्ध संस्कृतग्रन्थों से यत्नपूर्वक चयन किये गये हैं। सब के पते ठिकाने भी यथा-सम्भव दे दिये गये हैं ताकि मूलग्रन्थ में उन को खोजा जा सके। इस प्रकार इस व्याख्या के पाठक को **अनु √ भू** का उदाहरण केवल 'अनुभवति' ही नहीं बल्कि **'अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णम्'** यह कालिदास का सुन्दर वचन दृग्गोचर होगा। **अनु √ गम्** का उदाहरण **'विपत्तौ च महाँल्लोके धीरतामनुगच्छति'** यह हितोपदेश की सुन्दर उक्ति उपलब्ध होगी। **वि √ धा** का उदाहरण **'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्'** यह – किरातार्जुनीय की सुन्दर लोकोक्ति मिलेगी। **प्र √ भू** का उदाहरण **'नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति'** यह भर्तृहरि की सुन्दर स्वानुभूति प्राप्त होगी। उदाहरणों के चयन में प्रायः दृष्टिकोण यह रहा है कि इन से कुछ शिक्षा अथवा सूक्ति प्राप्त हो सके तो अच्छा है इस से व्याकरण और साहित्य का अभूतपूर्व समन्वय हो जाता है जो आगे चल कर विद्यार्थियों के लिये परम लाभप्रद सिद्ध होता है।

(५) अभ्यास तथा नानाविध तालिकाएं

प्रथम भाग की तरह इस भाग में भी प्रत्येक प्रकरण के अन्त में दिये गये अभ्यास इस व्याख्या की पाञ्चवीं प्रमुख विशेषता हैं। ये अभ्यास अत्यन्त सावधानी वा श्रम से एकत्र किये गये हैं। इन में कुछ ऐसे प्रश्न भी दिये गये हैं जिन से विज्ञजन भी चौंक पड़ते हैं। परन्तु अभ्यासगत प्रश्नों के उत्तर सब इसी व्याख्या में निहित हैं। जो इस व्याख्या का सावधानी से मनन करेगा वह इन प्रश्नों को तुरन्त हल कर लेगा। संक्षेप में ये अभ्यास सारे प्रकरण को विलोडित कर नवनीतवत् निकाले गये सार हैं। इन अभ्यासों का हल करना मानो सारे प्रकरण को दुहरा कर आत्मसात् करना है। अभ्यासों की तरह नानाप्रकार की तालिकाएं भी इस व्याख्या की अपनी विशेषता हैं। यथा – णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त और भावकर्म-प्रक्रिया में सुप्रसिद्ध धातुओं के एक एक सौ रूपों का सार्थ संग्रह प्रस्तुत किया गया है। यङ्लुगन्त और कण्ड्वादियों का सार्थ संग्रह भी यत्न से गुम्फित है। इन से विद्यार्थियों को बहुत लाभ होगा।

(६) तुलनात्मक अध्ययन को प्रोत्साहन

इस व्याख्या में स्थान स्थान पर पाणिनीतर वैयाकरणों तथा पाणिनीय व्याकरण के भी अनेक व्याख्याकारों के मतों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इस का उद्देश्य विद्यार्थियों में तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति को जागृत करना है। आज के युग में तुलनात्मक अध्ययन के विना अध्ययन को अधूरा समझा जाता है और यह है भी ठीक। अतः विद्यार्थियों को विद्यार्थिकाल में ही इस ओर रुचि बढ़ानी चाहिये। इससे अधीत विषय उत्तरोत्तर परिमार्जित तथा सुस्पष्ट होता चला जाता है। एक बार इस प्रवृत्ति के जागृत होने पर पाठक को स्वयं इस के विना चैन नहीं आता। इस व्याख्या में कहीं कहीं सूत्रों के अर्थों का ऐतिहासिक अनुशीलन भी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। यथा **अस्तिसिँचोऽपृक्ते (४४५), अतो लोपः (४७०)** आदि पर।

इन प्रमुख विशेषताओं के अतिरिक्त इस व्याख्या की अन्य भी अनेक छोटी मोटी विशेषताएं हैं। यथा–

(क) प्रत्येक धातु के अनुबन्धों का प्रयोजन वहीं सोदाहरण स्पष्ट किया गया है।

(ख) दरजनों परिभाषाओं का सोदाहरण विवेचन किया गया है।

(ग) प्रत्येक सूत्र के अवतरण से पूर्व उस की पूर्वपीठिका दी गई है जिस से समझने में सुविधा रहे।

(घ) प्रत्येक फक्किका वा कठिनस्थल को अनेक उदाहरणों वा दृष्टांतों से समझाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया गया है। निदर्शनार्थ आप **असिद्धवदत्राभात्, अचः परस्मिन्पूर्वविधौ, स्वतन्त्रः कर्ता, कण्ड्वादिभ्यो यक्, युष्मद्युपपदे०, सन्वल्लघुनि०, अत एकहल्०, लिङ्निमित्ते लृङ्०, क्रादिनियम, परमपि स्वरत्यादिविकल्पं बाधित्वा–स्थानषष्ठीनिर्देशाद्रोप धयोर्निवृत्तिः, उप्रत्यये लघूपधस्य गुणो वा, यङ्लुगन्त** आदि की व्याख्या को देखें, आप की बुद्धि में कोई संशय अवशिष्ट नहीं रहेगा।

(ङ) सूत्रों के अर्थों को हृदयङ्गम कराने के लिये अनेक स्थानों पर काशिका की शैली का अनुसरण करते हुए यथासम्भव प्रत्युदाहरण भी दिये गये हैं। परन्तु वे बोझिल न हों इसका पूरा ध्यान रखा गया है।

(च) प्रथम भाग की तरह इस भाग में भी उपदेशावस्था के अनुनासिकचिह्नों को यथावत् अङ्कित किया गया है, इसे गुरु-परम्परा पर छोड़ा नहीं गया। यथा–लँट्, लिँट्, सिँच् आदि। कई स्थानों पर इस के प्रयोजनों पर ऊहापोह करते हुए विशेष टिप्पण भी दिये गये हैं। यथा–सिँच् के इकार के विषय में पृष्ठ ७९ पर तथा तासि के इकार के विषय में पृष्ठ ४१ पर टिप्पणी दी गई है।

(छ) लघुकौमुदी में धातुओं की संख्या बहुत थोड़ी है। अत्यन्त प्रसिद्ध **पठ्, चल्, रक्ष्, भक्ष्, घ्रा, खाद्, चर्, कम्प्** आदि धातुओं का भी उल्लेख नहीं है। इस कमी को पूरा करने के लिये व्याख्या में यत्र-तत्र डेढ़ सौ के लगभग अत्यन्त प्रसिद्ध धातुओं की सार्थ रूपमाला प्रस्तुत की गई है। इस में प्रधानतः उन धातुओं का संग्रह किया गया है जिनकी सिद्धि वा रूपमाला में लघुकौमुदी के सूत्रों से ही काम चल जाता है अन्य कोई सूत्र लगाना नहीं पड़ता।

(ज) कई स्थानों पर गणशब्दों को संगृहीत करने के लिये अथवा विषय के झटिति स्मरण कराने के लिये निज श्लोकों का भी निर्माण किया गया है। यथा मुचादियों को श्लोकबद्ध किया गया है।

(झ) कुछ स्थानों पर व्याकरणसम्बन्धी लोकप्रसिद्ध सुभाषितों, प्रहेलिकाओं तथा अन्य सुन्दर वचनों की भी व्याख्या प्रस्तुत की गई है। यथा—**'अचकमत'** (पृष्ठ २३९) तथा **'घो अन्तकर्मणि'** (पृष्ठ ४२०) पर।

लघुकौमुदी के प्रणयन में वरदराजजी का चाहे कुछ उद्देश्य रहा हो परन्तु आज लघुकौमुदी जहां बालकों के लिये उपयोगी है वहां वह प्रौढों के लिये भी है। इसे M.A. जैसी आलोचनाप्रधान उच्च कक्षाओं में अनेक विश्वविद्यालयों द्वारा पाठ्यग्रन्थ के रूप पें स्वीकृत किया गया है। अन्य अनेक विषयों के स्नातकोत्तर प्रौढ व्यक्ति भी संस्कृत सीखने के लिये इस का सहारा लेते हैं। नवीन शैली से संस्कृत पढ़ने के बाद कई लोग प्राचीन शैली के रसास्वादन के लिये लघुकौमुदी का अध्ययन करते हैं। कुछ लोग भाषाविज्ञान के भारोपीय क्षेत्र में विशेष दक्षता प्राप्त करने के हेतु भी इस के अध्ययन में प्रवृत्त होते हैं। ऐसे लोग आलोचनाप्रधान होते हैं। उन का मानस प्रतिक्षण नई नई शङ्काओं से तरङ्गित रहता है। वे बालकों की तरह सूत्रों के केवल शब्दार्थ से ही सन्तुष्ट नहीं हो सकते, उन को कुछ और भी चाहिये। इधर ऐसे विद्यार्थियों को पढ़ाने वाले प्राध्यापकों की संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है जो प्रायः नवीन शैली से संस्कृत का अध्ययन कर अध्यापनकार्य में प्रवृत्त हुआ करते हैं। पढ़ाते समय उन के मन में भी तरह तरह की शङ्काओं की ज्वाला उठा करती है, वे भी समाधान के लिये इधर-उधर दौड़ा करते हैं—पर सन्तुष्ट नहीं हो पाते। इसी प्रकार प्राचीन शैली से पढ़नेवाले छात्र भी जब प्रारम्भिक परीक्षाओं को उत्तीर्ण कर सिद्धान्तकौमुदी आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों को पढ़ने लगते हैं तो उन को वे स्थल समझ में नहीं आते कारण कि उन का लघु का ज्ञान ही कच्चा होता है। वे उन स्थलों को लघु में ही समझे नहीं होते। तब वे साहाय्य के लिये इधर-उधर दौड़ा करते हैं। इन सब को ध्यान में रखते हुए इस व्याख्या का प्रणयन किया गया है। यह व्याख्या न केवल प्रारम्भिक बालकों के लिये है अपितु प्रौढ विद्यार्थियों, उपाध्यायों, व्याकरणाध्यापकों, अन्वेषण-प्रेमियों एवं व्याकरण में रस लेने वाले जिज्ञासुओं के लिये भी लिखी गई है। सब को अपने अपने काम की बातें इस एक ही व्याख्या में उपलब्ध हो सकती है।

ध्यान रहे कि संस्कृतव्याकरण शुष्क विषय नहीं है। जो विद्यार्थी अपने अन्दर गहरा पैठने की प्रवृत्ति को एक बार जागृत कर लेता है उसे व्याकरण में भी काव्यों जैसा आनन्द आने लग जाता है। व्याकरणशास्त्र भी आनन्द की उद्भूति कराने में किसी अन्य शास्त्र से कम नहीं है। इस में काव्य जैसी सरसता, योगाभ्यास जैसी समाहितता, संगीत जैसी हृदय-द्रावकता तथा तर्कशास्त्र जैसा बुद्धिकौशल आदि सब गुण विद्यमान हैं। व्याकरण के शङ्कासमाधानों से भयभीत होकर इनको हेय नहीं समझना चाहिये। वस्तुतः ये शङ्कासमाधान ही व्याकरण के प्राण हैं। इन से ही व्याकरण की परिपक्वता, पररिनिष्ठितता, आनन्द की अपूर्व उद्भूति तथा व्याकरणशास्त्र की पूर्ण सफलता प्राप्त होती है। जिस प्रकार आजकल गणित आदि से बुद्धि को विकसित करने का कार्य लिया जाता है उसी प्रकार भारत में सदियों से व्याकरण द्वारा बुद्धिविकास तथा तर्कशक्ति को जागृत करने का कार्य लिया जाता रहा है।

यहां विद्यार्थियों के लिये भी एक बात कहनी आवश्यक है। जो लोग संस्कृतव्याकरण में विशेष दक्षता प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करनी ही चाहिये। क्योंकि विना इसके न तो कोई व्याकरण का पण्डित हुआ है और न हो ही सकता है। इस युग में संस्कृतव्याकरण के सूर्य **प्रातःस्मरणीय गुरुवर्य स्वर्गीय पं० हरनारायण जी त्रिपाठी (तिवारीजी)** भी प्रतिदिन अष्टाध्यायी का पाठ करने के अनन्तर ही विद्यार्थियों को व्याकरण पढ़ाया करते थे। यह कार्य कठिन भी नहीं है। कोई भी विद्यार्थी धैर्यपूर्वक इसका नित्य पारायण करते करते इसे कुछ मासों में ही कण्ठाग्र कर सकता है। यदि कोई इतना न भी करे तो भी उसे मूल अष्टाध्यायी अपने पास रख कर कौमुदीपठित सूत्रों का अर्थ समझने का प्रयत्न करना चाहिये इस से उस में सूत्रार्थ समझने का सामर्थ्य उत्तरोत्तर बढ़ता चला जायेगा और आनन्द का अनुभव भी होने लगेगा। व्याकरण पढ़ने में सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि व्याकरण के ग्रन्थ उपन्यास आदि की तरह एक बार पढ़नेमात्र से कभी बुद्धिस्थ नहीं होते। इन का तो बार बार मनन और आवर्तन करना पड़ता है। कुछ बातें अभी समझ में आ जायेंगी, कुछ बातें दूसरी-तीसरी या और अधिक आवृत्तियों में स्पष्ट होंगी। आगे आगे पढ़ने से पूर्व पूर्व विषय स्वच्छ, स्पष्ट और परिमार्जित होता चला जाता है। विद्यार्थी को ज़रा धैर्य रखना चाहिये। अध्यापक वा गुरुजनों से एक बार समझ लेने के बाद इस व्याख्या की स्वयं अनेक आवृत्तियां करनी चाहियें। जो विद्यार्थी इस व्याख्या को ठीक ढंग से समझ कर इस में आनन्द लेने लगेगा उस को आगे चल कर **सिद्धान्तकौमुदी, तत्त्वबोधिनी, काशिका वा महाभाष्य** के गूढ़ स्थलों को समझने में भी किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होगी। उस की प्रवृत्ति व्याकरण के गहन वा गूढ़ स्थलों को समझने समझाने में अपने आप होती चली जायेगी।

इस ग्रन्थ के मुद्रण में भी बड़ा श्रम करना पड़ा है। इसी में प्रायः दो वर्ष लग गये। कोई भी प्रेस इस कठिन कार्य को करने के लिये उद्यत नहीं होता था। बड़ी कठिनता से इस का मुद्रण दो प्रेसों और एक कम्पोजिंग एजेन्सी के द्वारा सम्पन्न हुआ है। संस्कृतव्याकरण का ग्रन्थ सुनते ही प्रेस वाले मुंह फेर लेते थे। संस्कृतव्याकरण में भी यह रूपमालामय तिङन्तप्रकरण ठहरा। इस में प्रतिपद नये नये टाइपों का उपयोग होता है। कई टाइप तो इस में ऐसे भी प्रयुक्त हुए हैं जो शायद दुबारा अन्यत्र कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुए। कुछ विशिष्ट टाइपों के लिये कई टाइप-फ़ाउण्ड्रियों के लगातार कई दिनों तक चक्कर भी लगाने पड़े हैं। कुछ अक्षरों को अनुनय-विनयपूर्वक विशेष रीति से ढलवाया गया है। इस मुद्रणकार्य के प्रमुख-सञ्चालक मेरे सुपुत्र चिरञ्जीव **पतञ्जलि शास्त्री** रहे हैं। अन्य बच्चों ने भी यथासम्भव सहयोग दिया है। इतना करने पर भी अनुदात्तेत् और स्वरितेत् धातुओं के लिये अनुदात्त और स्वरित चिह्नों की व्यवस्था नहीं कर सके इस का हम सब को खेद है। सम्पूर्ण दिल्ली नगर में इस की कोई व्यवस्था नहीं थी और दिल्ली से बाहर मुद्रण करा नहीं सकते थे।

यह तो सब हुआ सो हुआ पर सब से बड़ा सहयोग **श्री पं० दीनानाथ जी शास्त्री सारस्वत,** भूतपूर्व प्रिंसिपल रामदलसंस्कृतमहाविद्यालय, दरीबा कलां दिल्ली का प्राप्त हुआ है। आदरणीय शास्त्रीजी ने इस व्याख्या के प्रथमभाग में भी इसी प्रकार का सहयोग दिया था। इन्होंने आदि से अन्त तक इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को अक्षरशः विचारपूर्वक दो बार पढ़ा और स्थान स्थान पर अपने उपयोगी सुझाव दिये। शास्त्री जी व्यवहार में अत्यन्त विनम्र सरल और सात्विक पुरुष हैं। मैं हृदय से उनका कृतज्ञ हूँ।

श्रद्धेय श्री पं० चारुदेवजी शास्त्री एम० ए० एम० ओ० एल० (पाणिनीय) महोदयों ने भी इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि का अधिकांश भाग पढ़ कर अपने उपयोगी सुझाव दिये हैं। पितृकल्प वयोवृद्ध शास्त्री जी पाणिनीय व्याकरण में कृतभूरिपरिश्रम और स्नेह के अवतार हैं। उन से पितृतुल्य स्नेह पा कर मैं अपने आप को कृतकृत्य समझता हूं। उन के द्वार मेरे लिये सदा अनावृत रहे—इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूं। उन के सुझावों को भी इस ग्रन्थ में यथास्थान गुम्फित किया गया है। इस व्याख्या के विषय में पूज्य शास्त्री जी की सम्मति पहले दे चुके हैं।

श्रीमान् डा० सत्यव्रत जी शास्त्री व्याकरणाचार्य, अध्यक्ष संस्कृत-विभाग दिल्लीविश्वविद्यालय का मैं हृदय से आभारी हूं जिन्होंने अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी मेरे आग्रह पर समय निकाल कर इस व्याख्या को यत्र-तत्र पढ़ा तथा इस का प्राक्कथन लिखकर मुझे तथा समस्त विद्वज्जनों को उपकृत किया है।

श्रीमान् डा० त्र्यम्बक गोविन्द माईणकर, अध्यक्ष संस्कृतविभाग, बम्बई विश्वविद्यालय एवं डा० भाण्डारकर अध्यासननियुक्त महोदयों का मैं चिरकृतज्ञ हूं। इन्होंने अत्यन्त आत्मीयतापूर्वक इस ग्रन्थ का शुभाशंसन लिखकर मुझे सम्मानित किया है। डा० जी सौजन्य की मूर्त्ति तथा संस्कृत के अनन्य भक्त हैं। सुरभारती की सेवा के लिये उन की तत्परता हम सब के लिये सदा अनुकरणीय है।

यह ग्रन्थ किसी आर्थिक लाभ के उद्देश्य से प्रकाशित नहीं किया गया। इसके प्रथम भाग के प्रकाशन में भी कई सहस्र रु० की हानि उठानी पड़ी थी। संस्कृतव्याकरण में इस प्रकार के वैज्ञानिक तुलनात्मक एवं विश्लेषात्मक अध्ययन को प्रोत्साहन देना तथा जनता की संस्कृतव्याकरण के प्रति अधिक से अधिक रुचि जागृत कराना ही उद्दिष्ट है। इस ग्रन्थ का तृतीय भाग भी तैयार होकर प्रेस में जा रहा है। आशा है अगले कुछ वर्षों में वह भी पाठकों के हाथों में पहुंच जायेगा। मैं इस पुनीतकार्य में प्रत्येक उस विद्यार्थी, अध्यापक, अनुसन्धानप्रेमी, संस्कृतानुरागी अथवा व्याकरणप्रेमी का सहयोग चाहता हूं जो इस व्याख्या के प्रशंसक हैं या रहे हैं, मेरा उन से नम्र निवेदन है कि वे इस ग्रन्थ का अधिकाधिक प्रचार कर मेरे हाथ मजबूत करें ताकि उत्साहित होकर इस प्रकार की अष्टाध्यायी वा सिद्धान्तकौमुदी की भी वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने में समर्थ हो सकूं।

इस ग्रन्थ के प्रूफसंशोधन का कार्य यद्यपि सुचारुरूप से हुआ है तथापि मानवसुलभ प्रमाद का यह अपवाद नहीं है। अतः क्वचित् अशुद्धियों का रह जाना स्वाभाविक है। आशा है विद्वज्जन अपनी उदारवृत्ति से क्षमा करेंगे।

यह है मेरा आत्मनिवेदन। अब आगे पाठकों का काम है कि लेखक को उत्साहित कर आगे सेवा करने का अवसर दें या न दें।

अलमतिपल्लवितेन बुद्धिमद्वरशिरोमणिषु।

मुकर्जी स्ट्रीट,
गांधीनगर, दिल्ली
१.७.१९७१ ई०

विदुषामनुचरो
भीमसेनः शास्त्री

द्वितीय आवृत्ति पर

विशेष वक्तव्य

भैमीव्याख्या के इस द्वितीय भाग (तिङन्त-प्रकरण) का पुनर्मुद्रण हुआ है। छात्रों एवं प्राध्यापकों की ज़ोरदार मांग के कारण बहुत दिनों से अप्राप्य भैमीव्याख्या का यह द्वितीय भाग अब आफ़्सेट् द्वारा पुनः छपवाया गया है। इस संस्करण में अनेक स्थानों पर लेखक द्वारा संशोधन वा लघु परिवर्त्तन-परिवर्धन भी किये गये हैं। प्रथमसंस्करण की अनेक जगह टूटी मात्राओं वा अक्षरों को भी सुधार दिया गया है। सब से बड़ी दो बातें इस संस्करण में मुख्यतः ध्यातव्य हैं—(१) अनुदात्तेत् वा स्वरितेत् धातुओं पर स्वर के चिह्न अङ्कित करना जो विश्व भर में लघुकौमुदी पर किया जाने वाला प्रथम प्रयास है। इससे विद्यार्थियों को पाणिनिकालिक शैली का पूरा पूरा आभास मिल सकेगा। (२) ग्रन्थ के अन्त में व्याख्यागत विशेष स्मरणीय पद्यों वा वचनों का संग्रह। इस से विद्यार्थियों को उनके कण्ठस्थ करने में महती सुविधा रहेगी। अब सम्पूर्ण लघुकौमुदी पर यह भैमीव्याख्या छः खण्डों में पूर्णतः मुद्रित वा प्राप्य है। विद्यार्थी, परीक्षार्थी वा व्याकरण के विशेषजिज्ञासु इस के पृथक् पृथक् खण्ड अपनी रुचि के अनुसार खरीद सकते हैं। विश्व भर के विद्वज्जनों ने इस व्याख्या की जो भूरि भूरि प्रशंसा की है लेखक उसके लिये उन का चिर आभारी रहेगा।

विनीत लेखक

३१.१. १९९२ ई०

भीमसेन शास्त्री

लघु-सिद्धान्त-कौमुद्याः

★ तिङन्तप्रकरणस्य विषयानुक्रमणिका ★

श्रीमद्वरदराजाचार्यप्रणीता

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

(उत्तरार्धम्)

श्रीभीमसेनशास्त्रिनिर्मितभैमीव्याख्ययोद्भासिता

विश्ववाहं परं ध्यात्वा पूर्वेषां वचनानि च ।
छात्र-ध्वान्त-हरा भैमी द्वितीयेऽर्धे वितन्यते ॥१॥
पूर्वार्धं भैमीव्याख्याया यद्वदत्यादृतं बुधैः ।
तद्वदुत्तरमप्यर्धं भावीत्यत्र न संशयः ॥२॥
श्रमस्य मे महन्मूल्यं ज्ञास्यन्ति वीतमत्सराः ।
नापि सद् भासते सम्यग्दर्पणे मलिने क्वचित् ॥३॥

अब यहाँ से आगे धातुओं का प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है। यह प्रकरण संस्कृतव्याकरण का प्राणस्वरूप है। धातुओं से ही विविध प्रकार के क्रियारूपों तथा कृदन्तरूपों की सृष्टि हुआ करती है। शाकटायन आदि वैयाकरण तो प्रत्येक शब्द की निष्पत्ति किसी न किसी धातु से ही मानते हैं। अतः विद्यार्थियों को यह प्रकरण प्राणपन से आत्मसात् करने का प्रयत्न करना चाहिये। जिस विद्यार्थी की इस प्रकरण में जितनी गति होगी उसका संस्कृत-भाषा पर भी उतना अधिकार होगा—यह शतशः अनुभूत सत्य है। यह भी ध्यान रहे कि व्याकरणप्रक्रिया में तिङन्त-प्रकरण ही सबसे अधिक जटिल है, इस प्रकरण पर जितना परिश्रम करना पड़ता है उतना और किसी प्रकरण पर करना नहीं पड़ता। हम इस प्रकरण को पदे पदे विस्पष्ट करने का पूरा यत्न करेंगे, विद्यार्थियों से अनुरोध है कि यदि एक बार पढ़ने

से उन्हें पूरा पूरा बोध न भी हो तो भी वे हतोत्साह न हों। आगे आगे पढ़ने से पिछला पिछला अधिकाधिक स्पष्ट होने लगता है। अब सर्वप्रथम तिङन्तप्रकरण में अनुस्यूत दस लकार दर्शाए जाते हैं—

अथ तिङन्ते भ्वादयः ॥

[लघु०] लँट्, लिँट्, लुँट्, लृँट्, लेँट्, लोँट्, लँङ्, लिँङ्, लुँङ्, लृँङ्। एषु पञ्चमो लकारश्छन्दोमात्रगोचरः॥

अर्थः – (१) लँट्, (२) लिँट्, (३) लुँट्, (४) लृँट्, (५) लेँट्, (६) लोँट्, (७) लँङ्, (८) लिँङ्, (६) लुँङ्, (१०) लृँङ्। इन में से पांचवां (लेँट्) लकार केवल वेद में ही प्रयुक्त होता है।

व्याख्या—लँट्, लिँट् आदि अष्टाध्यायी के तृतीयाध्याय में पढ़े गये प्रत्यय हैं। इन प्रत्ययों के अनुबन्धों का लोप होकर 'ल्' मात्र अवशिष्ट रहता है अतः इनको लकार कहते हैं। लकारों का दस प्रकार का होना अनुबन्धभेद के कारण ही समझना चाहिये, क्योंकि वस्तुतः तो ल् (लकार) यहां एक ही प्रकार का है।

इन दस लकारों में पांचवां अर्थात् लेँट् केवल वेद में ही प्रयुक्त होता है। लघु-कौमुदी में वैदिकप्रकरण नहीं अतः इस लेँट् लकार की आगे व्याख्या न कर शेष नौ लकारों की ही व्याख्या की जायेगी। लेँट् का वर्णन सिद्धान्तकौमुदी की वैदिक-प्रक्रिया के तृतीयाध्याय में किया गया है, विशेषजिज्ञासु उसे वहीं देखें।

लकारों में प्रथम छः लकार टित् और शेष चार ङित् हैं। टित् का प्रयोजन 'टित आत्मनेपदानां टेरे' (५०८) आदि सूत्रों में तथा ङित् का प्रयोजन 'नित्यं ङितः' (४२१) आदि सूत्रों में स्पष्ट होगा।

लँट्, लिँट् आदि लकार प्रत्याहारक्रम से कहे गये हैं। यथा अ इ उ ण्, ऋ ऌ क्, ए ओ ङ्। 'लँट्' यहां लकारोत्तर 'अ' है। 'लिँट्' यहाँ लकारोत्तर 'इ' है। 'लुँट्' यहां लकारोत्तर 'उ' है। 'लृँट्' में लकार के बाद 'ऋ' है[1]। 'लेँट्' में लकार के अनन्तर 'ए' है। 'लोँट्' में लकार के उत्तर 'ओ' है। इसी प्रकार लँङ्-लिँङ् आदि ङित् लकारों में भी समझ लेना चाहिये।

यहां आगे नौ लकारों का ही विवेचन किया जायेगा, परन्तु लिँङ् के द्विविध

---

१. 'ल्' में 'ऌ' मिलाने से उच्चारण जरा भद्दा और क्लिष्ट हो जाता है अतः मुनि ने 'ऌ' नहीं मिलाया।

(विधिलिँङ्, आशीर्लिँङ्) होने से पुनः लोक में भी वैसे दस लकार हो जाते हैं [१]। यद्यपि लोँट् को भी द्विविध (विधिलोँट्, आशीर्लोँट्) माना गया है तथापि उसमें कुछ विशेष अन्तर न होने से उसे एक ही प्रकार का गिनने की प्रथा है [२]।

अब इन लकारों के अर्थों की व्यवस्था करने के लिये अग्रिम-सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्— (३७३) लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः ।३।४।६९॥

लकाराः सकर्मकेभ्यः कर्मणि कर्त्तरि च स्युरकर्मकेभ्यो भावे कर्त्तरि च॥

अर्थः—लकार सकर्मक धातुओं से कर्म और कर्ता में तथा अकर्मक धातुओं से भाव और कर्त्ता में हों।

व्याख्या—इस सूत्र में दो वाक्य हैं, (१) लः कर्मणि च। (२) भावे च अकर्मकेभ्यः। दोनों वाक्यों में 'च' ग्रहण के कारण 'कर्तरि कृत्' (७६९) सूत्र से 'कर्तरि' पद का तथा अधिकृत होने से 'धातोः' पद का अनुवर्त्तन होता है।

प्रथम वाक्य यथा—लः।१।३। कर्मणि।७।१। च इत्यव्ययपदम्। कर्तरि।७।१। ('कर्तरि कृत्' सूत्र से)। धातोः।५।१। (यह अधिकृत है)। अर्थः—(धातोः) धातु से परे (लः) लकार (कर्मणि) कर्म में (च) और (कर्तरि) कर्त्ता में हों। यह वाक्य सकर्मक धातुविषयक है, क्योंकि अकर्मकों में 'कर्मणि' अंश नहीं घट सकता। इस प्रकार इस वाक्य का अभिप्राय हुआ—**सकर्मक धातुओं से लकार कर्म और कर्त्ता में होते हैं।**

द्वितीय वाक्य यथा—लः।१।३। (पूर्ववाक्य से)। भावे।७।१। च इत्यव्ययपदम्। कर्तरि।७।१। ('कर्त्तरि कृत्' से) अकर्मकेभ्यः।५।३। धातुभ्यः।५।३। ('धातोः' इस अधिकृत का वचनविपरिणाम हो जाता है)। अर्थः—(अकर्मकेभ्यः धातुभ्यः) अकर्मक धातुओं से परे (लः) लकार (भावे) भाव (च) और (कर्तरि) कर्त्ता में हों।

---

१. जैसे कि—
त्रिष्ववस्थासु, प्रक्षीणायाः
सद्यो मृत्युर्जातोऽम्बायाः।
प्रासोष्ट द्राक् पुत्रं जाया
'इस् का बट्टा (न्यूनता) उसमें आया'॥ (विद्युन्माला)

२. दोनों लोटों के प्रथम और मध्यम पुरुषों के एकवचन में ही केवल अन्तर होता है और वह भी केवल परस्मैपद में।

दोनों वाक्यों का तात्पर्य यह है कि लकारों के तीन अर्थ होते हैं—कर्त्ता, कर्म और भाव। यदि धातु सकर्मक हो तो लकार कर्त्ता और कर्म में होंगे, यदि धातु अकर्मक है तो लकार कर्त्ता और भाव में होंगे। कोष्ठक यथा—
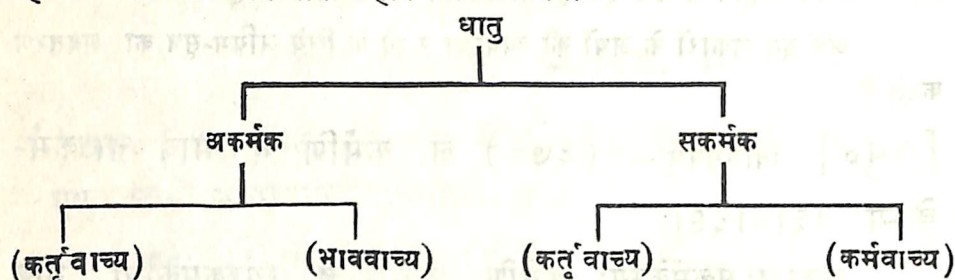
जिस धातु का कर्म होता है उस धातु को सकर्मक, और जिस धातु का कर्म नहीं होता उस धातु को अकर्मक कहते हैं। यथा—**पुरुषो वृक्षं छिनत्ति** (पुरुष वृक्ष को काटता है) यहाँ छिद् धातु का कर्म 'वृक्ष' है अतः 'छिद्' धातु सकर्मक है। **देवदत्तः शेते** (देवदत्त सोता है) यहाँ शी धातु का कोई कर्म नहीं अतः शी धातु अकर्मक है[1]।

सकर्मकों से लकार कर्त्ता और कर्म में होते हैं जिसे कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य कहा जाता है। कर्त्ता (कर्तृवाच्य) में यथा—**पुरुषो वृक्षं छिनत्ति** यहाँ छिद् धातु से लँट् लकार कर्त्ता में हुआ है अतः इसका सम्बन्ध कर्त्ता से ही है। इसीलिये तो कर्त्ता के द्विवचनान्त या बहुवचनान्त होने पर क्रिया भी द्विवचनान्त या बहुवचनान्त हो जाती है—**पुरुषौ वृक्षं छिन्तः**,

---

१. सकर्मक और अकर्मक धातुओं का विस्तृत विवेचन **वैयाकरण-भूषण-सार** (धात्वर्थनिर्णयान्त) के हमारे हिन्दीभाष्य में देखें। यह ग्रन्थ मुद्रित हो चुका है। यहाँ हम व्युत्पन्न छात्रों के लिये सकर्मक-अकर्मक धातुओं के विषय में संक्षिप्त शास्त्रीय जानकारी प्रस्तुत कर रहे हैं—

प्रत्येक धातु के अर्थ के दो विभाग होते हैं—फल और व्यापार। फल का आश्रय 'कर्म' और व्यापार का आश्रय 'कर्त्ता' हुआ करता है। जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिये कोई क्रिया की जाती है वह उस क्रिया का 'फल' कहाता है। यथा पचन-क्रिया (पकाना) तण्डुल आदियों की विक्लित्ति (गलना) के उद्देश्य से की जाती है अतः 'विक्लित्ति' पचनक्रिया का फल है। इसी प्रकार गमनक्रिया 'उत्तरदेश के संयोग' के लिये की जाती है अतः 'उत्तरदेश का संयोग' गमन क्रिया का फल है। फल की सिद्धि के लिये जो जो क्रिया-चेष्टा-हरकत की जाती है उसे व्यापार कहते हैं। यथा पचन में आग जलाने से लेकर बरतन को चूल्हे से नीचे उतारने तक जो-जो क्रियाएं की जाती हैं वे सब पच्धातुवाच्य व्यापार हैं। इसी प्रकार गमन में उत्तरदेश

पुरुषा वृक्षं छिन्दन्ति। जब लकार कर्त्ता में होता है तब उसका सम्बन्ध कर्म के साथ कुछ भी नहीं रहता, कर्म चाहे द्विवचन में रहे या बहुवचन में, क्रिया तो कर्त्ता के अनुसार ही रहेगी। अतएव पुरुषो वृक्षौ छिनत्ति, पुरुषो वृक्षान् छिनत्ति यहाँ कर्म के वचन के बदलने के साथ क्रिया नहीं बदलती। कर्म (कर्मवाच्य) में यथा—पुरुषेण घटः क्रियते (पुरुष से घड़ा बनाया जाता है)। यहाँ 'क्रियते' में लँट् लकार कर्म में हुआ है अतः इसका कर्म के साथ सम्बन्ध है। इसीलिये तो कर्म के द्विवचनान्त या बहुवचनान्त होने से क्रिया भी द्विवचनान्त व बहुवचनान्त हो जाती है पुरुषेण घटौ क्रियेते, पुरुषेण घटाः क्रियन्ते। जब लकार कर्म में होता है तब उसका कर्त्ता के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, कर्त्ता चाहे द्विवचन में हो या बहुवचन में, क्रिया कर्म के अनुसार ही होती है। अतएव पुरुषाभ्यां घटः क्रियते, पुरुषैर्घटः क्रियते यहाँ कर्त्ता के वचन के बदलने के साथ क्रिया का वचन नहीं बदलता और कर्म में प्रथमा भी

संयोग रूप फल की सिद्धि के लिये जो कदम बढ़ाने आदि की क्रिया की जाती है वह गम्धातुवाच्य व्यापार है।

फल कर्म में और व्यापार कर्त्ता में रहता है। पचन में विक्लित्ति रूप फल का आश्रय तण्डुल या ओदन है अतः वह कर्म है; और उस विक्लित्ति के साधक आग जलाना, पात्र ऊपर धरना आदि क्रियारूप व्यापार का आश्रय देवदत्त आदि है अतः वह कर्त्ता है।

जिन धातुओं के फल और व्यापार के आश्रय भिन्न-भिन्न हों उन धातुओं को 'सकर्मक' कहते हैं—फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं सकर्मकत्वम्। यथा पच् धातु, इसका विक्लित्ति रूप फल तण्डुलों में तथा तदनुकूल (उस विक्लित्ति को पैदा करने वाला) व्यापार देवदत्त आदि कर्त्ता में रहता है।

जिन धातुओं के फल और व्यापार के आश्रय एक ही हों उन धातुओं को अकर्मक कहते हैं—फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वम् अकर्मकत्वम्। यथा शीङ् धातु, इसका फल विश्राम तथा तदनुकूल व्यापार लेटना आदि दोनों एक ही आश्रय देवदत्त आदि में रहते हैं। अकर्मक धातुओं के परिज्ञानार्थ यह श्लोक कण्ठस्थ कर लेना चाहिये—

लज्जा-सत्ता-स्थिति-जागरणं वृद्धि-क्षय-भय-जीवित-मरणम्।
शयन-क्रीडा-रुचि-दीप्त्यर्थं धातुगणं तमकर्मकमाहुः॥ (शेखरे)

साधारण बुद्धि वालों के लिये हिन्दी में यह पहचान है कि जिस क्रिया में 'को' लग सके; वह सकर्मक है, जैसे—वह ग्रन्थ को देखता है। जिसमें 'को' न लग सके; वह अकर्मक है, जैसे—सोता है, होता है, आदि।

हो जाती है ।

अकर्मकों से लकार कर्त्ता और भाव में होते हैं । कर्त्ता में यथा—बालः शेते । यहाँ शीङ् धातु से लँट् लकार कर्त्ता में हुआ है अतएव कर्त्ता से सम्बद्ध है; कर्त्ता के वचन में परिवर्त्तन आने पर इसमें भी तदनुसार परिवर्त्तन आ जाता है । यथा—बालौ शयाते, बालाः शेरते । अकर्मक धातुओं से लकार भाव में भी हुआ करता है । भाव धातु के अर्थ को कहते हैं, इस में पुरुष और संख्या का अन्वय नहीं हुआ करता । अत एव भाववाच्य में सदा प्रथमपुरुष के एकवचन का ही प्रयोग होता है । यथा - बालेन शय्यते, बालाभ्यां शय्यते, बालैः शय्यते, त्वया शय्यते, युवाभ्यां शय्यते, युष्माभिः शय्यते, मया शय्यते, आवाभ्यां शय्यते, अस्माभिः शय्यते आदि । यहाँ लकार केवल धातु के अर्थ शयन (सोना) को ही प्रकट करता है अतएव सदा एकवचनान्त रहता है ।

इस प्रकार एक बात की समानता को यहां नहीं भूलना चाहिए। धातु चाहे सकर्मक हो या अकर्मक दोनों से कर्त्ता में लकार समानरूपेण हुआ करते हैं। आगे आने वाले दस गणों तथा सभी प्रक्रियाओं में (भावकर्म और कर्मकर्तृ को छोड़ कर) लकारों का प्रतिपादन केवल कर्त्ता में ही किया गया है । कर्म और भाव में लकारों का प्रतिपादन भावकर्मप्रक्रिया तथा कर्मकर्तृप्रक्रिया में किया जायेगा।

टिप्पणी—अत्राऽकर्मकग्रहणेन अविवक्षितकर्मका अपि गृह्यन्ते । तेन 'देवदत्तेन भुज्यते' इत्यत्र सतोऽप्योदनरूप-कर्मणोऽविवक्षायां भावे लकारोऽस्त्येवेति । सकर्मकेभ्यो न भवन्ति भावे लकारा इत्येतदप्येतेन सूत्रेण ज्ञाप्यते । सकर्मकेभ्योऽपि भावलकारप्रवृत्तौ तु भावलकारेण कर्मणोऽनभिहितत्वाद् 'देवदत्तेन घटं क्रियते' इत्यादौ द्वितीया स्यात् । सूत्रे चकारद्वयोपादानमुभयत्र वाक्ये 'कर्त्तरि' इत्यनुकर्षणार्थम्, तेन सकर्मकेभ्योऽकर्मकेभ्यश्च कर्त्तरि लकारा भवन्ति ।

अब सर्वप्रथम लँट् के काल का प्रतिपादन करने के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३७४) वर्त्तमाने लँट् ।३।२।१२३।।

वर्त्तमानक्रियावृत्तेर्धातोर्लँट् स्यात् । अँटावितौ । उच्चारणसामर्थ्याल्लस्य नेत्त्वम् ।।

अर्थः—वर्त्तमानकाल की क्रिया के वाचक धातु से लँट् प्रत्यय हो । **अँटावितौ**—लँट् के अकार और टकार की इत्संज्ञा हो जाती है । लकार की उच्चारणसामर्थ्य से इत्सञ्ज्ञा नहीं होती ।

व्याख्या—वर्त्तमाने ।७।१। लँट् ।१।१। धातोः ।५।१। (यह अधिकृत है) । भू

आदि धातु शब्दस्वरूप हैं, उनका वर्त्तमान आदि कालों में रहना सम्भव नहीं। वर्त्तमान आदि काल तो धातु के अर्थ (क्रिया) के ही हो सकते हैं अत एव वृत्ति में **वर्त्तमानक्रियावृत्तेः** कहा गया है। अर्थः—(वर्त्तमाने) वर्त्तमानकाल में जो क्रिया तद्वाचक (धातोः) धातु से परे (लँट्) लँट् हो।

'प्रत्ययः' (१२०) के अधिकार में पढ़े जाने से लँट् प्रत्यय है। **'हलन्त्यम्'** (१) सूत्र से इसके टकार की तथा **'उपदेशेऽजनुनासिक इत्'** (२८) सूत्र से अनुनासिक अकार की इत्सञ्ज्ञा होकर **'तस्य लोपः'** (३) से दोनों का लोप हो जाता है 'ल्' मात्र ही अवशिष्ट रहता है। टकार को इत् करने का प्रयोजन **'टित आत्मनेपदानां टेरे'** (५०८) द्वारा टितों की टि को एत्व करना है—यह सब आगे यथास्थान स्पष्ट होगा। लकारोत्तर अनुनासिक अकार लिँट् आदियों से इसका भेद कराने के लिये जोड़ा गया है। इसी प्रकार अन्य लिँट् आदियों में भी समझना चाहिये। शेष बचे 'ल्' की उच्चारणसामर्थ्य से अथवा **'लस्य'** (३.४.७७) इस अधिकार के सामर्थ्य से **'लशक्वतद्धिते'** (१३६) द्वारा इत्सञ्ज्ञा नहीं होती।

जिस प्रथम क्षण से आरम्भ होकर कोई कार्य जिस अन्तिम क्षण में समाप्त होता है उस समग्र काल को 'वर्त्तमानकाल' कहते हैं। यथा—आग जलाना, बरतन को चूल्हे पर रखकर पानी गरम करना, उसमें चावल आदि डाल कड़छी से हिलाना, चावलों के गले व अधगले का निश्चय करने के लिये बार-बार थोड़ा-थोड़ा निकालकर अंगुलियों से मसल कर परीक्षा करना, तथा सिद्ध हो जाने पर बरतन को चूल्हे से नीचे उतारना—इत्यादि क्रियाओं के समूह को पचनक्रिया कहते हैं[1]। इस प्रकार पाक के आरम्भिक क्षण से लेकर अन्तिम क्षण तक जो काल रहता है उसे 'वर्त्तमानकाल' कहते हैं। यदि क्रिया उस काल की हो तो धातु से परे लँट् प्रत्यय करना चाहिये—यह इस सूत्र का तात्पर्य है।

---

१. भर्तृहरि ने इसी बातकी पुष्टि अत्यन्त सुन्दर शब्दों में की है—

"गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताऽभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते॥" (वाक्य० ३.८.४)

अर्थात् क्रमशः उत्पन्न होने वाली, गुणभूत अर्थात् तत्तद्रूपेण भासमान क्रियाओं का ऐसा समूह जो बुद्धि-द्वारा एकाकार होकर अभिन्न सा प्रतीत होता है **'क्रिया'** के नाम से पुकारा जाता है।

इस संसार में कोई भी व्यक्ति क्रिया को सम्पूर्णरूपेण प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। हम सब क्रिया के एक अंश को ही देख पाते हैं। क्रिया अवान्तर क्रियाओं का

[लघु०] भू सत्तायाम् ॥१॥ कर्तृविवक्षायां 'भू+ल्' इति स्थिते—

अर्थः—भू धातु 'सत्ता' अर्थ में प्रयुक्त होती है। कर्तृविवक्षा में वर्त्तमानकाल में लँट् प्रत्यय होकर अनुबन्धों का लोप करने पर 'भू+ल्' बना। अब इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

व्याख्या—अब जो धातु आरम्भ किये जा रहे हैं वे पाणिनिमुनिप्रणीत धातु-पाठ से चयन किये गये हैं। इन धातुओं को धातुपाठ में दस श्रेणियों में विभक्त किया गया है। यथा—

"भ्वाद्यदादी जुहोत्यादिर्दिवादिः स्वादिरेव च।
तुदादिश्च रुधादिश्च तन-क्र्यादि-चुरादयः ॥"

(१) भ्वादिगण, (२) अदादिगण, (३) जुहोत्यादिगण, (४) दिवादिगण, (५) स्वादिगण, (६) तुदादिगण, (७) रुधादिगण, (८) तनादिगण, (९) क्र्यादिगण, (१०) चुरादिगण। इन गणों का नामकरण उन में आने वाली प्रथम धातु के आधार पर किया गया है। यथा—प्रथमगण का नाम उसमें आनेवाली प्रथम धातु 'भू' के कारण भ्वादिगण हुआ है। इसी प्रकार 'अद्' के कारण अदादिगण आदि जानें।

धातुपाठ के आदि में सर्वप्रथम 'भू' रखने का अभिप्राय मङ्गल करना है, क्योंकि 'भू' शब्द 'ओं भूर्भुवः स्वः' इन महाव्याहृतियों के आदि में प्रयुक्त है तथा परब्रह्म का वाचक भी है। धातुओं के आगे सप्तमीविभक्ति द्वारा जिस अर्थ का निर्देश किया जाता है, केवल वही उनका अर्थ नहीं हुआ करता। धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं, यहां तो केवल प्रायः प्रसिद्ध अर्थ ही दिया जाता है। शेष अर्थ विस्तृत वाङ्मय से

समूह होती है और वह समूह कभी भी समुदितरूपेण देखा नहीं जा सकता। क्योंकि अवान्तर क्रियाएं क्षणिक होती हैं, क्षण भर रह कर नष्ट हो जाती हैं। जब दूसरी अवान्तर क्रिया प्रारम्भ होती है तब तक पहली नष्ट हो चुकी होती है। इसी प्रकार जब तीसरी चौथी अवान्तर क्रियाएं प्रारम्भ होती हैं तब तक पूर्व पूर्व क्रिया नष्ट हो चुकी होती है, अतः उनका समूह कभी भी एक काल में नहीं बन सकता। जब समूह ही नहीं तो उसका नाम 'क्रिया' कैसे? इसका उत्तर अत्यन्त बुद्धिमत्ता से कारिका में 'बुद्धया प्रकल्पिताऽभेदः' शब्द जोड़ कर दिया गया है। अर्थात् यद्यपि हम क्षण-वर्त्तिनी क्रियाओं के समूह को किसी एक काल में इकट्ठा प्रत्यक्ष नहीं कर सकते तथापि अपनी बुद्धि द्वारा उनके समूह को समझ सकते हैं। बस बुद्धि द्वारा उनके समूह की कल्पना कर अभेद समझ कर उसकी ही 'क्रिया' सञ्ज्ञा की जाती है।

(वैयाकरणभूषणसार के भैमीभाष्य से उद्धृत)

स्वयं जानने चाहियें[1]।

अपने आपको धारण करने का नाम 'सत्ता' है। 'देवदत्तो भवति' (देवदत्त है) का अभिप्राय 'देवदत्त अपने आपको धारण करता है' से है। इस प्रकार 'सत्ता' भी यहां एक प्रकार की क्रिया ही समझी जाती है और उस क्रिया का वाचक होने से 'भूवादयो धातवः' (३६) द्वारा 'भू' धातुसञ्ज्ञक है।

'भू' धातु से कर्तृविवक्षा (कर्ता को कहने की इच्छा) में 'वर्त्तमाने लँट्' (३७४) सूत्रद्वारा वर्त्तमानकाल में लँट् प्रत्यय किया तो 'भू+लँट्' हुआ। अब अनुबन्धों (टकार और अनुनासिक अकार) का लोप करने पर 'भू+ल्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३७५) तिप्-तस्-झि-सिप्-थस्-थ-मिब्-वस्-मस्-ताऽऽताञ्-झ-थासाथां-ध्वमिड्-वहि-महिङ् ।३।४।७८॥

एतेऽष्टादश लादेशाः स्युः ॥

अर्थः—तिप्, तस्, झि; सिप्, थस्, थ; मिप्, वस्, मस्; त, आताम्, झ; थास्, आथाम्, ध्वम्; इट्, वहि, महिङ्—ये अठारह प्रत्यय ल् के स्थान पर आदेश हों।

व्याख्या—यह सूत्र 'प्रत्ययः' (१२०) और 'लस्य' (३. ४. ७७) के अधिकार में पढ़ा गया है अतः तिप्, तस् आदि अठारह प्रत्यय लकार के स्थान पर आदेश होते हैं। सूत्र में तस् आदियों में रुँत्वादि का अभाव आर्ष समझना चाहिये। तिप्, सिप् और मिप् में पकारानुबन्ध 'सार्वधातुकमपित्' (५००) आदि कार्यों के लिये

---

१. धातुपाठ में दिये गये धातुओं के अर्थ उपलक्षणार्थ ही समझने चाहियें। महाभाष्य (१.३.१ तथा ६.१.६) में लिखा है—'बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति' अर्थात् धातुएं बहुत अर्थ वाली भी होती हैं। धातुपाठ में भी 'कुर्द खुर्द गुर्द गुद क्रीडायामेव' (भ्वादि० २१—२४) में 'एव' कह कर अर्थ का अवधारण करना धातुओं की अनेकार्थता में ज्ञापक है। सूत्रकार ने भी 'गन्धनावक्षेपण०' (१.३.३२) आदि सूत्रों में अनेक अर्थों का निर्देश किया है। अतएव 'यागात् स्वर्गो भवति, क्षीरभोजिन्या श्रुतन्धरः पुत्रो भवति' आदि वाक्यों में उत्पत्ति, 'अशुक्लः पटः शुक्लो भवति' में अभूततद्भाव (पहले न होकर पीछे होना) आदि अर्थ देखे जाते हैं। सुखमनुभवति, हिमवतो गङ्गा प्रभवति, सेना पराभवति इत्यादि वाक्यों में जो विभिन्न अर्थ प्रतीत होते हैं वे भू धातु के ही हैं। उपसर्ग केवल दीपवत् अन्तर्निहित धात्वर्थ के द्योतक होते हैं। उपसर्गविषयक टिप्पण आगे भू धातु के अन्त में देखें।

जोड़ा गया है। इट् में टकार स्पष्टप्रतिपत्ति के लिये है, अन्यथा 'इटोऽत्' (५२२) आदि सूत्रों को 'एरत्' आदि बना कर अनेक प्रकार के बवण्डर खड़े हो जाते जो तत्त्वबोधिनी आदि में देखे जा सकते हैं। महिङ् में ङकार तङ् और तिङ् प्रत्याहारों के लिये जोड़ा गया है। इनका उपयोग 'तङानावात्मनेपदम्' (३७७), 'तिङस्त्रीणि त्रीणि०' (३८१) आदि सूत्रों में होता है। तस्, थस्, वस्, मस्, थास्—इनमें सकार की तथा आताम्, आथाम्, ध्वम्—इनमें मकार की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा नहीं होती, 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) सूत्र निषेध कर देता है। 'विभक्तिश्च' (१३०) सूत्र से इन प्रत्ययों की विभक्ति सञ्ज्ञा तो है ही।

टिप्पणी—'तिप् तस् झि' इत्यादिषु समाहारद्वन्द्वः, अतएव प्रथमैकवचनान्तम्। 'लस्य' इति स्थानषष्ठ्यन्तमधिकृतं तेन 'आदेशः' इति लभ्यते।

अब इन अठारह प्रत्ययों की व्यवस्था करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(३७६) लः परस्मैपदम्।१।४।९८॥

लादेशाः परस्मैपदसञ्ज्ञाः स्युः॥

अर्थः—ल् के स्थान पर होने वाले आदेश परस्मैपदसंज्ञक हों।

व्याख्या—लः।६।१। परस्मैपदम्।१।१। 'लः' में स्थानषष्ठी होने से 'आदेशाः' का अध्याहार किया जाता है। अर्थः—(लः) ल् के स्थान पर होने वाले आदेश (परस्मैपदम्) परस्मैपदसंज्ञक हों। इस सूत्र से तिप्, तस्, झि आदि अठारह प्रत्ययों की परस्मैपदसञ्ज्ञा प्राप्त होती है। इस पर अग्रिम अपवादसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(३७७) तङानावात्मनेपदम्।१।४।९९॥

तङ्प्रत्याहारः शानच्-कानचौ चैतत्सञ्ज्ञाः स्युः। पूर्वसंज्ञाऽपवादः॥

अर्थः—तङ्प्रत्याहार अर्थात् त, आताम्, झ; थास्, आथाम्, ध्वम्; इट्, वहि, महिङ्—ये नौ प्रत्यय तथा शानच् और कानच् प्रत्यय आत्मनेपदसंज्ञक हों। यह सूत्र पूर्वसूत्रद्वारा विहित परस्मैपदसंज्ञा का अपवाद है।

व्याख्या लः।६।१। ('लः परस्मैपदम्' से)। तङानौ।१।२। आत्मनेपदम्।१।१। तङ् च आनश्च तङानौ, इतरेतरद्वन्द्वः। 'आन' यह निरनुबन्ध पढ़ा गया है अतः 'निरनुबन्धकग्रहणे सानुबन्धस्य' (यदि अनुबन्धरहित का ग्रहण हो तो सब प्रकार के अनुबन्धों से युक्त का ग्रहण हो जाता है) इस न्याय से शानच्, कानच् और चानश् तीनों का ग्रहण प्राप्त होता है। परन्तु 'लः' की अनुवृत्ति आने से लकार के स्थान पर होने वाले शानच् और कानच् प्रत्ययों का ही ग्रहण होता है चानश् प्रत्यय का नहीं, क्योंकि चानश् प्रत्यय लकार के स्थान पर आदेश नहीं होता अपितु 'ताच्छील्यवयो-

वचनशक्तिषु चानश्' (३.२.१२९) सूत्र द्वारा सीधा धातु से परे विधान किया जाता है। अर्थः—(लः) ल् के स्थान पर आदेश होने वाले (तङानौ) तङ् प्रत्याहार[1] तथा शानच् और कानच् प्रत्यय (आत्मनेपदम्) आत्मनेपदसंज्ञक होते हैं[2]।

यह सूत्र तथा पूर्वसूत्र दोनों एकसंज्ञा के अधिकार (आकडारादेका संज्ञा) में पढ़े गये हैं अतः दोनों संज्ञाओं का एकत्र समावेश नहीं हो सकता। जैसे लोक में एक वस्तु की दो या अधिक संज्ञाएं देखी जाती हैं वैसे इस शास्त्र में भी हुआ करता है, यथा तव्यत् आदि प्रत्ययों की कृत्, कृत्य और प्रत्यय तीनों संज्ञाएं हैं; परन्तु यहां विशेषरूप से एकसञ्ज्ञा का अधिकार किये जाने से वैसा नहीं होता। इस अधिकार में एक की एक ही सञ्ज्ञा होती है—यह सब पूर्वार्ध में 'आकडारादेका सञ्ज्ञा' (१६६) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं।

इस प्रकार त, आताम् आदि नौ प्रत्यय आत्मनेपदसञ्ज्ञक तथा अवशिष्ट तिप्, तस् आदि नौ प्रत्यय परस्मैपदसंज्ञक हो जाते हैं। कोष्ठक यथा—

परस्मैपद			आत्मनेपद		
तिप्	तस्	झि	त	आताम्	झ
सिप्	थस्	थ	थास्	आथाम्	ध्वम्
मिप्	वस्	मस्	इट्	वहि	महिङ्

अब किस किस धातु से परस्मैपद और किस किस धातु से आत्मनेपद प्रत्यय हों—इसका विवेचन अग्रिमसूत्रों में करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३७८) अनुदात्त-ङित आत्मनेपदम्। १।३।१२॥

अनुदात्तेतो ङितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात्॥

अर्थः—जिस धातु का अनुदात्त इत् हो या ङकार इत् हो, उस धातु से परे (लकार के स्थान पर) आत्मनेपद प्रत्यय हों।

व्याख्या—अनुदात्तङितः।५।१। धातोः।५।१। ('भूवादयो धातवः' से विभक्ति

---

१. 'तिप्-तस्-झि०' (३७५) सूत्र में दसवें 'त' प्रत्यय से लेकर अन्तिम महिङ् प्रत्यय के ङकार तक तङ्प्रत्याहार बनता है। इसमें 'त, आताम्, झ; थास्, आथाम्, ध्वम्; इट्, वहि, महिङ्' ये नौ प्रत्यय गृहीत होते हैं। यहां पर तस् के तकार से प्रत्याहार नहीं बनाना, क्योंकि वह शास्त्रविरुद्ध तथा 'समुदायो ह्यर्थवान् तस्यैकदेशोऽनर्थकः' के अनुसार अनुचित भी है।

२. ध्यान रहे कि लकार के स्थान पर होने वाला शतृ प्रत्यय इन दोनों (शानच् और कानच्) से भिन्न होने के कारण पूर्वसूत्रद्वारा परस्मैपदसंज्ञक ही बना रहेगा।

और वचन का विपरिणाम करके)। आत्मनेपदम् ।१।१। अनुदात्तश्च ङ् च अनुदात्तङौ, तौ इतौ यस्य तस्माद् अनुदात्तङितः, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः । 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इस न्यायानुसार 'इत्' पद का दोनों (अनुदात्त और ङ्) के साथ सम्बन्ध होता है—अनुदात्तेतो ङितश्चेत्यर्थः । आत्मनेपद प्रत्यय क्योंकि ल् के स्थान पर आदिष्ट किये जाते हैं अतः 'लस्य' का भी यहाँ अध्याहार कर लिया जाता है । अर्थः—(अनुदात्तङितः) जिसका अनुदात्त इत् हो या ङकार इत् हो उस (धातोः) धातु से परे (लस्य) लकार के स्थान पर (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद प्रत्यय हों ।

धातुपाठ में यत्र तत्र प्रयोजनवशात् अनुदात्त स्वर जोड़ा गया है । यथा—एधँ॒ वृद्धौ, कमुँ॒ कान्तौ, यतीँ॒ प्रयत्ने आदि । यहाँ अन्त्य स्वर अनुदात्त हैं । 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इस अनुदात्त स्वर की अनुनासिक होने के कारण इत्सञ्ज्ञा हो जाती है और 'तस्य लोपः' (३) से उस का लोप हो जाता है । इस प्रकार धातु अनुदात्तेत् कहलाती है । अनुदात्तेत् धातु से परे लकार के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं, परस्मैपद नहीं । यथा—एध् धातु से परे लँट् के स्थान पर त, आताम्, झ आदि नौ आत्मनेपद प्रत्यय हो जायेंगे —एधते, एधेते, एधन्ते आदि ।

इसी प्रकार जिस धातु के ङकार की इत्सञ्ज्ञा होती हो उस धातु से परे भी लकार के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं । यथा—शीङ् स्वप्ने, यहाँ 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा उपदेश में अन्त्य हल्—ङकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है अतः यह धातु ङित् है । ङित् होने से इससे परे आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं—शेते, शयाते, शेरते आदि ।

इस सूत्र में यदि 'धातोः' की अनुवृत्ति न लाते तो 'अदुद्रवत्, अवोचत्' आदि में चङ् और अङ् से परे लुँङ् लकार के स्थान पर भी आत्मनेपद प्रसक्त होता जो अनिष्ट था । अब 'धातोः' की अनुवृत्ति लाने से चङन्त या अङन्त के धातुसञ्ज्ञक न होने से कोई दोष नहीं आता ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३७९) स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले ।१।३।७२।।

स्वरितेतो ञितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात् कर्तृगामिनि क्रियाफले ।।

अर्थः—यदि क्रिया का फल कर्त्ता को प्राप्त हो तो स्वरितेत् तथा ञित् धातु से आत्मनेपद प्रत्यय हों ।

व्याख्या—स्वरितञितः ।५।१। कर्त्रभिप्राये ।७।१। क्रियाफले ।७।१। धातोः ।५।१। ('भूवादयो धातवः' से पूर्ववत्) । यहाँ भी 'लस्य' का अध्याहार कर लेना चाहिये । स्वरितश्च ञ् च स्वरितञौ, तौ इतौ यस्य, तस्मात् स्वरितञितः, द्वन्द्वगर्भ-

बहुव्रीहिः । कर्तारम् अभिप्रैति (गच्छति) इति कर्त्रभिप्रायम् (फलम्), तस्मिन् कर्त्र-भिप्राये । कर्मण्यण् । क्रियायाः फलं क्रियाफलम्, तस्मिन् क्रियाफले, षष्ठीतत्पुरुषः । अर्थः—(स्वरितञितः) जिस का स्वरित इत् हो या ञ् इत् हो उस (धातोः) धातु से परे (लस्य) लकार के स्थान पर (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद प्रत्यय हों (कर्त्रभिप्राये क्रियाफले) क्रिया का फल कर्त्ता को प्राप्त होता हो तो ।

जिस अभिप्राय से कोई क्रिया आरम्भ की जाती है वह अभिप्राय क्रिया का फल कहाता है । यथा पचनक्रिया (पकाना) तृप्ति के लिये आरम्भ की जाती है तो पच् क्रिया का फल 'तृप्ति' हुआ । यजनक्रिया (यज्ञ करना) स्वर्ग आदि की प्राप्ति के लिये की जाती हैं तो 'स्वर्ग आदि की प्राप्ति' यज् क्रिया का फल हुई । यद्यपि पुरोहित को यजनक्रिया से दक्षिणा आदि की पुष्कल प्राप्ति होती है तथापि दक्षिणादि को यजनक्रिया का मुख्य फल नहीं माना जा सकता, वह तो परिश्रमरूपेण उसे प्राप्त होता है[1] । मुख्य फल तो 'यागात् स्वर्गो भवति' आदि शास्त्रीय वचनों के अनुसार स्वर्गादि ही है ।

यदि क्रिया का फल कर्त्ता को प्राप्त हो तो स्वरितेत् तथा ञित् धातुओं से परे लकार के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय होंगे । स्वरितेत् धातु उसे कहते हैं जिस का स्वरित स्वर इत् होता है, यथा यजँ देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु, इसमें जकारोत्तर अकार, डुपचँष् पाके, इसमें चकारोत्तर अकार स्वरितानुनासिक है । 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इनकी इत्सञ्ज्ञा होकर लोप हो जाता है । अतः इनसे परे आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं—यजते, यजेते, यजन्ते; पचते, पचेते, पचन्ते आदि । यदि क्रिया का फल कर्त्ता को नहीं मिलेगा तो 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' (३८०) से परस्मैपद प्रत्यय होंगे । यथा पुरोहित के यजन में 'यजति, यजतः, यजन्ति' इत्यादि प्रकारेण परस्मैपद प्रत्यय प्रयुक्त होंगे । इसी प्रकार यदि पाचक दूसरों की तृप्ति के लिये पकायेगा तो 'पचति, पचतः, पचन्ति' इत्यादि प्रकारेण परस्मैपद का प्रयोग होगा । जिस धातु के ञकार की इत्सञ्ज्ञा होती है उसे ञित् कहते हैं, यथा—डुकृञ् करणे, हृञ् हरणे, णीञ् प्रापणे आदि । इनमें भी यदि क्रिया का फल कर्त्ता को मिलेगा तो आत्मनेपद अन्यथा परस्मै-पद प्रत्ययों का प्रयोग होगा ।

---

१. क्रियायाः फलञ्चात्र स्वर्गाद्येव, असाधारणत्वात्, न तु दक्षिणादि, तस्याऽन्यथाऽपि सिद्धत्वात् । तदुक्तम्भाष्ये—'न चान्तरेण यजिं यजिफलं लभते । याजकाः पुनरन्तरेणापि यजिं गां लभन्ते' इति । तदुक्तं हरिणा—

'यस्यार्थस्य प्रसिद्ध्यर्थमारभ्यन्ते पचादयः ।
तत् प्रधानं फलं तेषां न लाभादि प्रयोजकम्' ।। (वाक्यपदीय ३.१२.१८)

नोट—संस्कृत भाषा के अनेक लेखक प्रायः इस नियम का पूरी तरह पालन नहीं करते, उन से सावधान रहना चाहिये[1]।

अब परस्मैपद प्रत्ययों के लिये प्रकृति का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३८०) शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम् ।१।३।७८।।

आत्मनेपदनिमित्तहीनाद् धातोः कर्तरि परस्मैपदं स्यात् ।।

अर्थः—जिस धातु में आत्मनेपद के निमित्त विद्यमान न हों उस धातु से कर्त्ता में परस्मैपद प्रत्यय हों।

व्याख्या—शेषात्।५।१। कर्त्तरि।७।१। परस्मैपदम्।१।१। उक्तादन्यः शेषः। इस सूत्र से पूर्व अष्टाध्यायी के अनेक सूत्रों में आत्मनेपद-प्रत्ययों के विधान के लिये अनेक निमित (चिह्न) वर्णित किये गये हैं[2]। उन नियमों के अन्तर्गत जो धातु नहीं आते वे यहाँ 'शेष' पद से गृहीत किये गये हैं। अर्थः—(शेषात्) जिस धातु में आत्मनेपद का कोई लक्षण विद्यमान न हो, उस धातु से परे (कर्त्तरि) कर्त्ता अर्थ में (परस्मैपदम्) परस्मैपद प्रत्यय होते हैं।

ध्यान रहे कि परस्मैपद प्रत्यय केवल कर्त्ता में ही होते हैं, भाव और कर्म में नहीं। वहाँ तो प्रत्येक धातु से '**भावकर्मणोः**' (७५१) द्वारा आत्मनेपद प्रत्ययों का ही विधान है। सार यह है कि परस्मैपद केवल कर्त्ता में ही करने चाहियें और वे भी केवल उसी धातु से, जिस में कोई अन्य-सूत्र आत्मनेपद का विधान नहीं करता। यदि कोई सूत्र आत्मनेपद का विधान करेगा तो कर्त्ता में भी परस्मैपद न होकर आत्मनेपद प्रत्यय होंगे। उदाहरणार्थ 'भू' धातु में आत्मनेपद का कोई निमित्त नहीं पाया जाता, क्योंकि न तो यह अनुदात्तेत् है और न ही ङित्। इसी प्रकार यह स्वरितेत् और ञित् भी नहीं। इसके अतिरिक्त आत्मनेपद प्रक्रिया का कोई अन्य सूत्र भी यहां

---

१. इस कारण यजमान के लिये यज्ञ अथवा जप उद्दिष्ट होने पर ऋत्विक् लोगों को '**यक्ष्यामि, जपनं करिष्यामि**' इस प्रकार संकल्प में परस्मैपद प्रयुक्त करना पड़ता है; यदि अपने लिये कर्म उद्दिष्ट हो तो '**अहं सन्ध्योपासनकर्म करिष्ये**' कहना पड़ता है। ध्यान रहे कि यह नियम केवल स्वरितेत् तथा ञित् धातुओं तक ही सीमित है। जो केवल अनुदात्तेत् धातु हो या उदात्तेत् व शेष हो, उनकी क्रिया का फल कर्त्ता को मिले या अन्य को—उनमें क्रमशः आत्मनेपद तथा परस्मैपद ही होगा।

२. यहां भी '**अनुदात्तङित आत्मनेपदम्**' (३७८) तथा '**स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले**' (३७९) ये दो सूत्र आत्मनेपद के निमित्तों के लिये कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त अन्य निमित्तों के लिये आत्मनेपदप्रक्रिया देखें।

आत्मनेपद का विधान नहीं करता । अतः इससे कर्तृ विवक्षा में परस्मैपद प्रत्यय ही होंगे—भवति भवतः, भवन्ति आदि ।

पदों की व्यवस्था करके अब पुरुषों की व्यवस्था करने के लिये सर्वप्रथम प्रथम-मध्यम-उत्तम संज्ञाओं का विधान करते हैं—

[लघु०] संज्ञासूत्रम्—(३८१) तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः ।१।४।१००॥

तिङ उभयोः पदयोस्त्रयस्त्रिकाः क्रमाद् एतत्सञ्ज्ञाः स्युः ॥

अर्थः—तिङ् के दोनों पदों के त्रिक क्रमशः प्रथम, मध्यम और उत्तम संज्ञक हों ।

व्याख्या—तिङः ।६।१। त्रीणि ।१।३। त्रीणि ।१।३। प्रथम-मध्यमोत्तमाः ।१।३। परस्मैपदस्य ।६।१। आत्मनेपदस्य ।६।१। ('लः परस्मैपदम्' से 'परस्मैपदम्' तथा 'तङानावात्मनेपदम्' से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आकर षष्ठयन्ततया विपरिणाम हो जाता है) । अर्थः—(तिङः) तिङ् के (आत्मनेपदस्य परस्मैपदस्य) आत्मनेपद और परस्मैपद दोनों पदों के (त्रीणि त्रीणि) तीन-तीन वचन (प्रथममध्यमोत्तमाः) प्रथम मध्यम और उत्तम संज्ञक होते हैं ।

तिङ् के दोनों पदों में प्रत्येक में नौ-नौ प्रत्यय होते हैं । अतः प्रत्येक पद में तीन तीन त्रिक (तीन तीन प्रत्ययों के टोले) बनते हैं । इधर संज्ञाएं भी तीन हैं —प्रथम, मध्यम और उत्तम । 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्'(२३) से पहला त्रिक प्रथमसंज्ञक, दूसरा त्रिक मध्यमसञ्ज्ञक और तीसरा त्रिक उत्तमसञ्ज्ञक होता है । त्रिकों की इन संज्ञाओं के साथ 'पुरुष' शब्द का व्यवहार पाणिनि से पूर्ववर्त्ती आचार्य करते आये हैं, अतः इस शास्त्र में भी 'पुरुष' शब्द जोड़ कर इन संज्ञाओं का व्यवहार प्रसिद्ध हो चला है । इस प्रकार प्रथम से प्रथमपुरुष, मध्यम से मध्यमपुरुष तथा उत्तम से उत्तमपुरुष समझना चाहिये । इनका कोष्ठक यथा—

त्रिक संख्या	परस्मैपद	आत्मनेपद	सञ्ज्ञा
पहला त्रिक	तिप्, तस्, झि	त, आताम्, झ	प्रथमपुरुष
दूसरा त्रिक	सिप्, थस्, थ	थास्, आथाम्, ध्वम्	मध्यमपुरुष
तीसरा त्रिक	मिप्, वस्, मस्	इट्, वहि, महिङ्	उत्तमपुरुष

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम् — (३८२) तान्येकवचन-द्विवचन-बहुवचनान्ये-कशः ।१।४।१०१।।

लब्धप्रथमादिसञ्ज्ञानि तिङस्त्रीणि त्रीणि वचनानि प्रत्येकम् एक-वचनादिसञ्ज्ञानि स्युः ।।

अर्थः—प्रथम मध्यम और उत्तम संज्ञाएं जिसे प्राप्त हो चुकी हैं, तिङ् का ऐसा प्रत्येक त्रिक 'एकवचन-द्विवचन-बहुवचन' संज्ञक हो ।

व्याख्या—तानि ।१।३। एकवचन-द्विवचन-बहुवचनानि ।१।३। एकश इत्यव्ययपदम् । तिङः ।६।१। त्रीणि ।१।३। त्रीणि।१।३। ('तिङस्त्रीणि त्रीणि०' से) । तद् शब्द से पूर्व का परामर्श कराया जाता है अतः यहां 'तानि' पद से पूर्वसूत्र निर्दिष्ट उन त्रिकों का ग्रहण अभिप्रेत है जिनकी प्रथम मध्यम और उत्तम संज्ञाएं की जा चुकी हैं ।

तिङ् प्रत्याहार के कुल छः त्रिक (तीन परस्मैपद के और तीन आत्मनेपद के) बनते हैं । प्रत्येक त्रिक को 'एकवचन, द्विवचन, बहुवचन' ये तीन संज्ञाएं मिलती हैं, इनको वह अपने अन्तर्गत तीन प्रत्ययों में बांट देता है । यथासंख्यपरिभाषा के अनुसार प्रत्येक त्रिक का पहला एकवचन, दूसरा द्विवचन और तीसरा बहुवचन हो जाता है । यथा—'तिप्, तस्, झि' यह पहला त्रिक है । इसे 'एकवचन, द्विवचन, बहुवचन' ये तीन संज्ञाएं प्राप्त होती हैं । यह त्रिक इन तीन संज्ञाओं को अपने अन्तर्गत तीन प्रत्ययों में क्रमशः बांट देता है । इससे 'तिप्' यह एकवचन, 'तस्' यह द्विवचन, तथा 'झि' यह बहुवचन हो जाता है । इसी प्रकार अन्य पांच त्रिकों में भी समझ लेना चाहिये । इन का कोष्ठक यथा—

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
पहला त्रिक (प्रथम पु०)	तिप्	तस्	झि	त	आताम्	झ
दूसरा त्रिक (मध्यम पु०)	सिप्	थस्	थ	थास्	आथाम्	ध्वम्
तीसरा त्रिक (उत्तम पु०)	मिप्	वस्	मस्	इट्	वहि	महिङ्

यदि सूत्र में 'एकशः' (प्रत्येक) न कहते तो पहला त्रिक एकवचन, दूसरा त्रिक द्विवचन और तीसरा त्रिक बहुवचन होकर दोष उपस्थित हो जाता। अब 'एकशः' कहने से प्रत्येक त्रिक को तीन तीन संज्ञाएं प्राप्त होने से कोई दोष नहीं आता।

टिप्पणी—तानीत्यस्य व्याख्यानं 'लब्धप्रथमादिसंज्ञानि' इति। एतदभावे एक-संज्ञाधिकारात् प्रथमादिसंज्ञानाम् एकवचनादिसंज्ञानाञ्च पर्यायः स्यात्। 'एकशः' इत्यस्य व्याख्यानम् 'प्रत्येकम्' इति। 'सङ्ख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' (५.४.४३) इति शस्प्रत्ययः।

ध्यान रहे कि 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' (१२३) सूत्र से एकत्व की विवक्षा में एकवचन, द्वित्व की विवक्षा में द्विवचन, तथा 'बहुषु बहुवचनम्' (१२४) सूत्र से बहुत्व की विवक्षा में बहुवचन प्रत्यय किया जायेगा।

अब अग्रिम तीन सूत्रों के द्वारा इस बात की व्यवस्था करते हैं कि कहां किस पुरुष का प्रयोग करना चाहिये—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३८३) युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः ।१।४।१०४।।

तिङ्वाच्यकारकवाचिनि युष्मदि (उपपदे) प्रयुज्यमानेऽप्रयुज्यमाने च मध्यमः ।।

अर्थः—तिङ् का वाच्य जो कारक, तद्वाचक युष्मद् शब्द के प्रयुज्यमान वा अप्रयुज्यमान रहते मध्यमपुरुष होता है।

व्याख्या—युष्मदि ।७।१। उपपदे ।७।१। समानाधिकरणे ।७।१। स्थानिनि ।७।१। अपि इत्यव्ययपदम्। मध्यमः ।१।१। उप=समीपे उच्चारितं पदम् उपपदम्, तस्मिन् उपपदे। युष्मदि समीपोच्चारिते सतीत्यर्थः। समानम् अधिकरणं (वाच्यम्) यस्य तत् समानाधिकरणम्, तस्मिन् समानाधिकरणे,सामानाधिकरण्यञ्चेह युष्मदस्तिङः स्थानिभूतलकारेणैव विवक्षितम्, 'लः परस्मैपदम्' इत्यतस्तदनुवृत्तेः। स्थानं प्रसङ्गः, सोऽस्यास्तीति स्थानी, तस्मिन् स्थानिनि, अप्रयुज्यमान इत्यर्थः। अपिशब्देन प्रयुज्य-मानेऽपीति भावः। अर्थः—(समानाधिकरणे) लकार के साथ समान वाच्य वाले (युष्मदि) युष्मद् शब्द के (उपपदे) समीप उच्चरित होने पर (स्थानिनि) उसके अप्रयुक्त वा (अपि) प्रयुक्त होने पर भी (मध्यमः) मध्यम पुरुष होता है। यह सूत्र विद्यार्थियों को प्रायः कठिन प्रतीत हुआ करता है और परीक्षक भी इसकी व्याख्या बार बार पूछते हैं अतः हम विद्यार्थियों के सुबोध के लिये इसकी खण्डशः व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

(क) युष्मदि उपपदे मध्यमः—युष्मद् शब्द के समीप उच्चरित होने पर मध्यमपुरुष प्रयुक्त होता है। यथा—त्वं वनं गच्छसि; यहां 'त्वम्' यह युष्मद् शब्द उपपद है अतः गम्धातु से मध्यम पुरुष हुआ है[1]।

(ख) समानाधिकरणे—परन्तु वह युष्मद् शब्द लकार का समानाधिकरण होना चाहिये। अर्थात् लकार का जो अधिकरण (वाच्य) हो वही अधिकरण (वाच्य) युष्मद् शब्द का भी होना चाहिये। तात्पर्य यह है कि लँट् आदि लकार जिस कर्त्ता वा कर्म में हुए हों, युष्मद् शब्द का वाच्य भी वही कर्त्ता वा कर्म होना चाहिये उस से भिन्न नहीं। यथा—त्वं वनं गच्छसि, यहाँ गम्धातु से लँट् लकार कर्त्ता में हुआ है; तो लँट् से जिस कर्त्ता का निर्देश किया जा रहा है युष्मद् (त्वम्) शब्द भी उसी का निर्देश कर रहा है उससे भिन्न का नहीं, अतः दोनों के अधिकरण (वाच्य) में अभेद के कारण मध्यमपुरुष प्रयुक्त हुआ है। यदि उन दोनों के अधिकरणों (वाच्यों) में भेद होगा तो मध्यमपुरुष का प्रयोग न होगा। यथा—देवदत्तस्त्वां पश्यति, यहाँ 'पश्यति' में लँट् लकार देवदत्त नामक कर्त्ता की ओर निर्देश करता है, परन्तु युष्मद् (त्वाम्) शब्द किसी अन्य की ओर निर्देश करता है अतः अधिकरणों के भिन्न भिन्न होने से मध्यमपुरुष का प्रयोग नहीं हुआ। वृत्ति में 'तिङ्वाच्यकारकवाचिनि' का भी यही अभिप्राय है, वहां दीक्षितजी ने लकार की जगह 'तिङ्' का प्रयोग किया है जो स्पष्टतः एक ही बात है।

(ग) स्थानिन्यपि-अर्थात् उपर्युक्त लक्षण वाला युष्मद् शब्द चाहे साक्षात् पढ़ा गया हो या गम्यमान (Understood) हो, दोनों अवस्थाओं में मध्यमपुरुष हो सकता है। युष्मद् शब्द के साक्षात् पढ़े जाने पर तो मध्यमपुरुष होता ही है—यथा 'त्वं वनं गच्छसि', परन्तु अप्रयुज्यमान अर्थात् प्रयोग के विना केवल गम्यमान होने पर भी मध्यमपुरुष हो जाता है। यथा—वनं गच्छसि। यहाँ युष्मद् का साक्षात् प्रयोग न होने पर भी वह गम्यमान है अतः मध्यमपुरुष हो जाता है।

---

१. यदि यहां 'उपपदे' का ग्रहण न करते, केवल 'युष्मदि मध्यमः' ही कहते तो '**तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य**' (१६) परिभाषा से युष्मद् शब्द के अव्यवहित परे होने पर ही मध्यमपुरुष होता, युष्मद् के पूर्व में प्रयुक्त होने पर या व्यवहित होने पर वह न हो सकता। यथा—'वनं गच्छसि त्वम्' यहां तो हो जाता, किन्तु 'गच्छसि वनं त्वम्' यहां व्यवहित होने के कारण तथा 'वनं त्वं गच्छसि' यहां परे न होने के कारण न हो सकता। परन्तु अब 'उपपदे' (समीपोच्चारिते सति) कह देने से कोई दोष नहीं आता, क्योंकि युष्मद् शब्द का समीपोच्चारण तो व्यवधान में या पूर्व में स्थित होने पर भी हो सकता है।

इस प्रकार सब दोषों से रहित सूत्र का यह अर्थ निष्पन्न होता है—लकार (तिङ्) का वाच्य जो कारक, तद्वाचक युष्मद् शब्द के प्रयुज्यमान या अप्रयुज्यमान रहते हुए मध्यमपुरुष होता है।

टिप्पणी—'अत्वं त्वं सम्पद्यते' इत्यादौ तु न मध्यमः, तत्र युष्मच्छब्दस्य गौणत्वात्। 'भवान् आगच्छति' इत्यादौ युष्मच्छब्दप्रयोगाभावान्न मध्यमः।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३८४) अस्मद्युत्तमः ।१।४।१०६॥

तथाभूतेऽस्मद्युत्तमः स्यात् ॥

अर्थः—तिङ् का वाच्य जो कारक, तद्वाचक अस्मद् शब्द के प्रयुज्यमान वा अप्रयुज्यमान रहते उत्तमपुरुष हो।

व्याख्या—अस्मदि ।७।१। उत्तमः ।१।१। यहाँ **'युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः'** सूत्र के 'युष्मदि' और 'मध्यमः' पदों को छोड़कर शेष सब पदों की अनुवृत्ति आती है। **अर्थः**—(समानाधिकरणे) लकार के साथ समान वाच्य वाले (अस्मदि) अस्मद् शब्द के (उपपदे) समीप उच्चरित होने पर (स्थानिनि) उसके अप्रयुज्यमान (अपि) या प्रयुज्यमान होने पर भी (उत्तमः) उत्तम पुरुष होता है।

इस सूत्र की व्याख्या भी पूर्वसूत्रवत् समझनी चाहिये। अहं वनं गच्छामि, वनमहं गच्छामि, गच्छाम्यहं वनम्, गच्छामि वनम् इत्यादि इस के उदाहरण हैं। इसी प्रकार 'स मां पश्यति' आदि प्रत्युदाहरण समझने चाहियें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३८५) शेषे प्रथमः ।१।४।१०७॥

मध्यमोत्तमयोरविषये प्रथमः स्यात् ॥

अर्थः—मध्यम और उत्तम का विषय न होने पर प्रथमपुरुष हो।

व्याख्या—शेषे ।७।१। प्रथमः ।१।१। यहाँ भी **'युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः'** सूत्र के 'युष्मदि' और 'मध्यमः' पदों को छोड़कर शेष सब पदों का अनुवर्त्तन होता है। उक्ताद् अन्यः—शेषः। उक्त अर्थात् कहे गये से भिन्न 'शेष' होता है। युष्मद् और अस्मद् कहे जा चुके हैं अतः उनसे भिन्न सब शब्द शेष हैं। **अर्थः**—(समानाधिकरणे) लकार के साथ समान वाच्य वाले (शेषे) युष्मद्-अस्मद् शब्दों से अतिरिक्त अन्य शब्दों के (स्थानिनि) अप्रयुज्यमान या (अपि) प्रयुज्यमान रहने पर (प्रथमः) प्रथमपुरुष होता है।

इस सूत्र का विषय विशाल है। 'युष्मद्युपपदे०' सूत्र केवल युष्मद् को तथा **'अस्मद्युत्तमः'** सूत्र केवल अस्मद् को विषय बनाता था, परन्तु यह सूत्र उन दो के

अतिरिक्त सब प्रकार के सर्वनामों तथा सञ्ज्ञाओं को विषय बनाता है। यथा—भवान् वनं गच्छति, वनं भवान् गच्छति, गच्छति भवान् वनम्, गच्छति वनम्; स वनं गच्छति, वनं स गच्छति, गच्छति स वनम्, गच्छति वनम्: रामो वनं गच्छति, वनं रामो गच्छति, गच्छति रामो वनम्, गच्छति वनम् इत्यादि। इस सूत्र की व्याख्या भी पूर्ववत् समझनी चाहिये।

यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि यदि युष्मद् और अस्मद् दोनों की एक ही क्रिया में साथ साथ विवक्षा होगी तो परत्व के कारण 'अस्मद्युत्तमः' सूत्र से उत्तम पुरुष ही होगा, यथा—त्वं च अहं च गच्छावः। यदि मध्यम और प्रथम दोनों की युगपत् विवक्षा होगी तो मध्यमपुरुष ही होगा क्योंकि वहाँ 'युष्मद्' शब्द के विद्यमान रहते शेषत्व उपपन्न नहीं होता, यथा त्वं च स च गच्छथः। इसी प्रकार उत्तम और प्रथम की विवक्षा में उत्तमपुरुष ही होगा, यथा—असौ चाऽहञ्च गच्छावः।

यहाँ तक साधारण प्रक्रियान्तर्गत पदों वचनों और पुरुषों की व्यवस्था बतलाई गई है। अब यहाँ से आगे भू धातु की लँट् आदि लकारों में क्रमशः प्रक्रिया दिखाई जायेगी।

भू धातु से कर्तृविवक्षा में 'वर्त्तमाने लँट्' (३७४) सूत्र से लँट् प्रत्यय लाकर अनुबन्धलोप किया तो 'भू+ल्' हुआ। अब यहाँ 'शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्' (३८०) से ल् के स्थान पर परस्मैपद प्रत्यय करने हैं। अतः प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में 'तिप्' आदेश होकर 'भू+तिप्' बना। तिप् के पकार की 'हलन्त्यम्' (१) से इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' (३) से लोप होकर 'भू+ति' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(३८६) तिङ्शित् सार्वधातुकम् ।३।४।११३॥

तिङः शितश्च धात्वधिकारोक्ता एतत्संज्ञाः स्युः ॥

अर्थः—'धातोः' के अधिकार में कहे गये तिङ् और शित् प्रत्यय सार्वधातुक-सञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—तिङ्शित् ।१।१। सार्वधातुकम् ।१।१। धातोः ।५।१। (यह अधिकृत है)। तिङ् च शित् च तिङ्शित्, समाहारद्वन्द्वः। अथवा व्यस्तमेव। श् इत् यस्य स शित्, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(धातोः) 'धातोः' कह कर विधान किये गये (तिङ्शित्) तिङ् और शित् प्रत्यय (सार्वधातुकम्) सार्वधातुकसञ्ज्ञक हों।

तिप्, तस्, झि आदि अठारह प्रत्यय तिङ् कहाते हैं, यह पीछे कह चुके हैं। शित् प्रत्यय वह कहलाता है जिसके श् की इत्संज्ञा होती है, यथा—शप्, श्यन्, श,

श्नम्, श्ना आदि शित् प्रत्यय हैं। तिङ् और शित् प्रत्यय तभी सार्वधातुक होंगे जब वे धात्वधिकार में पठित होंगे। धात्वधिकार में पठित न होने से इनकी सार्वधातुक-सञ्ज्ञा न होगी, यथा—हरि+शस्=हरीन्, यहाँ पर शस् प्रत्यय के शित् होने पर भी सार्वधातुकसञ्ज्ञा नहीं होती। ध्यान रहे कि यदि यहाँ सार्वधातुकसञ्ज्ञा हो जाती तो 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङिद्वद्भाव के कारण 'घेर्ङिति' (१७२) से गुण हो जाता जो अनिष्ट था।

यहाँ 'धातोः' पद का 'धातु से विधान किये गये' ऐसा अर्थ नहीं किया गया; क्योंकि तब 'श्री+शस्=श्रियः, लिह्+शस्=लिहः' इत्यादियों में शस् की सार्वधातुकसंज्ञा होकर 'सार्वधातुके यक्' (७५२) से यक् प्राप्त होने लगता, कारण कि 'क्विबन्ता विडन्ता विजन्ताः शब्दा धातुत्वं न जहति' इस परिभाषा से श्री, लिह् आदियों का धातुत्व अक्षुण्ण है। परन्तु अब 'धात्वधिकारपठित' अर्थ करने से कोई दोष नहीं आता, क्योंकि यहाँ शस् का विधान 'धातोः' के अधिकार में नहीं हुआ अपितु 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' (११६) से 'प्रातिपदिकात्' के अधिकार में हुआ है[1]।

'भू+ति' यहाँ धात्वधिकार में भू धातु से 'ति' यह तिङ् विधान किया गया है अतः प्रकृतसूत्र से 'ति' की सार्वधातुक संज्ञा हो जाती है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३८७) **कर्त्तरि शप्** ।३।१।६८॥

कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे धातोः शप् स्यात् । शपावितौ ॥

अर्थः—कर्त्ता अर्थ में सार्वधातुक परे हो तो धातु से परे शप् प्रत्यय हो। शप् के शकार और पकार की इत्संज्ञा हो जाती है।

व्याख्या—कर्तरि ।७।१। शप् ।१।१। धातोः ।५।१। ('धातोरेकाचो हलादेः०' से) 'प्रत्ययः' और 'परश्च' दोनों अधिकृत हैं। सार्वधातुके ।७।१। ('सार्वधातुके यक्' से)। अर्थः—(कर्तरि) कर्त्ता अर्थ में (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे होने पर (धातोः) धातु से (परः) परे (शप्) शप् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो।

---

१. 'धात्वधिकारपठित' से केवल 'धातोः' (३.१.९१) इस अधिकार में पठित प्रत्ययों का ही ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि तब इस अधिकार से पूर्व प्रतिपादित शप्, श्यन् आदि प्रत्यय सार्वधातुक न हो सकेंगे। अतः 'धातोः' कह कर विधान किये गये प्रत्यय धात्वधिकार के अन्तर्गत पठित मानने चाहियें। शप्, श्यन् आदि के विधायक सूत्रों में भी 'धातोरेकाचः०' (७११) से 'धातोः' की अनुवृत्ति आती है अतः वे भी धात्वधिकार पठित हैं।

'भू+ति' यहां 'ति' यह सार्वधातुक परे है और वह लँट्स्थानिक होने से कर्त्ता अर्थ में विधान किया गया है। अतः भू धातु से परे शप् प्रत्यय होकर 'भू+शप्+ति' हुआ। शप् के शकार की 'लशक्वतद्धिते' (१३६) से तथा पकार की 'हलन्त्यम्' (१) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा होकर 'तस्य लोपः' (३) से दोनों का लोप हो जाता है[1]—भू+अ+ति। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३८८) सार्वधातुकाऽऽर्धधातुकयोः ।७।३।८४।।

अनयोः परयोरिगन्ताङ्गस्य गुणः स्यात्। अवादेशः—भवति। भवतः।।

अर्थः—सार्वधातुक या आर्धधातुक परे हो तो इगन्त अङ्ग के स्थान पर गुण आदेश हो। अवादेशः—'एचोऽयवायावः' (२२) से ओकार को अव् आदेश हो जाता है।

व्याख्या—सार्वधातुकाऽऽर्धधातुकयोः ।७।२। गुणः ।१।१। ('मिदेर्गुणः' से) अङ्गस्य ।६।१। (अधिकृत है)। 'इको गुणवृद्धी' (१।१।३) परिभाषा से 'इकः' पद उपस्थित होकर 'अङ्गस्य' का विशेषण हो जाता है, तब विशेषण से तदन्तविधि होकर 'इगन्तस्य अङ्गस्य' बन जाता है। अर्थः—(सार्वधातुकार्धधातुकयोः) सार्वधातुक या आर्धधातुक[2] परे होने पर (इकः=इगन्तस्य) इगन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (गुणः) गुण आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह गुणादेश इगन्त अङ्ग के अन्त्य वर्ण इक् के स्थान पर ही होता है।

'भू+अ+ति' यहां शप् का अकार शित् होने के कारण 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' (३८६) से सार्वधातुकसंज्ञक है अतः इसके परे होने पर प्रकृतसूत्र से 'भू' इस इगन्त अङ्ग के अन्त्य वर्ण ऊकार को ओकार गुण होकर 'भो+अ+ति' हुआ। अब 'एचोऽयवायावः' (२२) से ओकार को अव् आदेश करने पर 'भवति' प्रयोग सिद्ध होता है।

भू धातु से कर्तृविवक्षा के वर्त्तमान काल में लँट् प्रत्यय होकर प्रथमपुरुष के

---

१. शप् में पकार 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३.१.४) द्वारा अनुदात्तस्वर करने के लिये तथा 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा ङिद्वद्भाव से बचने के लिये लगाया गया है। शकार के जोड़ने का प्रयोजन 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' (३८६) से सार्वधातुक संज्ञा का करना है।

२ आर्धधातुकसंज्ञा का स्पष्टीकरण आगे मूल में ही (४०४) सूत्र पर किया गया है। आर्धधातुक परे होने पर गुण के उदाहरण 'भविता, भवितारौ' आदि भी आगे मूल में ही स्पष्ट हैं।

द्विवचन में उसे तस् आदेश करने पर 'भू+तस्' हुआ। तिङ् होने के कारण तस् की 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' (३८६) से सार्वधातुकसंज्ञा होकर 'कर्त्तरि शप्' (३८७) से शप्, अनुबन्धलोप, शित्त्व के कारण शप् के अकार की भी सार्वधातुकसञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (३८८) से भू के ऊकार को ओकार गुण तथा 'एचोऽयवायावः' (२२) से अव् आदेश करने से 'भवतस्' बना। अब 'ससजुषो रुँः' (१०५) सूत्र से पदान्त सकार को रुँत्व, अनुबन्धलोप तथा अवसान में रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'भवतः' प्रयोग सिद्ध होता है।

भू धातु से कर्तृविवक्षा के वर्त्तमानकाल में लँट्, प्रथमपुरुष के बहुवचन की विवक्षा में लकार के स्थान पर झि आदेश, झि की सार्वधातुकसञ्ज्ञा, 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप्, अनुबन्धलोप, पुनः शप् की भी सार्वधातुकसंज्ञा, गुण तथा अवादेश होकर 'भव+झि' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् —(३८९) झोऽन्तः ।७।१।३॥

प्रत्ययावयवस्य झस्य अन्तादेशः स्यात् । अतो गुणे (२७४)— भवन्ति । भवसि । भवथः । भवथ ॥

अर्थः—प्रत्यय के अवयव झ् के स्थान पर अन्त् आदेश हो।

व्याख्या—झः ।६।१। अन्तः ।१।१। तकारादकार उच्चारणार्थः। प्रत्ययस्य ।६।१। ('आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्' से एकदेशस्वरित के बल से केवल 'प्रत्यय' अंश आकर षष्ठ्यन्ततया विपरिणमित हो जाता है)। अर्थः— (प्रत्ययस्य) प्रत्यय के अवयव (झः) झ् के स्थान पर (अन्तः) अन्त् आदेश हो। अन्त् आदेश के तकार की 'हलन्त्यम्' (१) सूत्र से इत्संज्ञा प्राप्त होती है, परन्तु 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) से उसका निषेध हो जाता है। ध्यान रहे कि 'विभक्तिश्च' (१३०) सूत्र द्वारा तिङों की विभक्तिसञ्ज्ञा भी है।

'भव+झि' यहाँ 'झि' यह प्रत्यय है अतः इसके अवयव झ् के स्थान पर अन्त आदेश होकर—'भव+अन्त् इ=भव+अन्ति' हुआ। अब 'अकः सवर्णे दीर्घः' (३९) द्वारा प्राप्त सवर्णदीर्घ का बाध कर 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने पर 'भवन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है।

'अन्त्' आदेश के आदि में अकार रखने का यद्यपि यहाँ कुछ प्रयोजन प्रतीत नहीं होता तथापि अदादिगण में, जहाँ शप् का लुक् हो जाता है, इसकी उपयोगिता स्पष्ट है, यथा—अद्+अन्ति=अदन्ति, द्विषन्ति, लिहन्ति आदि।

'प्रत्यय का अवयव' न कहते तो 'उज्झिता' आदि में धातु के झकार को भी

अन्त् आदेश होकर अनिष्ट रूप बन जाता।

भू धातु से कर्तृविवक्षा के वर्त्तमानकाल में लँट्, मध्यमपुरुष के एकवचन में लकार के स्थान पर सिप् प्रत्यय, पकार अनुबन्ध की इत्सञ्ज्ञा और लोप, 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' (३८६) से 'सि' की सार्वधातुकसञ्ज्ञा, 'कर्त्तरि शप्' (३८७) से शप्, अनुबन्धलोप होकर शित्व के कारण शप् के अकार की भी सार्वधातुकसञ्ज्ञा करने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (३८८) से उकार को ओकार गुण तथा 'एचोऽयवायावः' (२२) से ओकार को अवादेश होकर 'भवसि' प्रयोग सिद्ध होता है।

लँट् के स्थान पर मध्यमपुरुष के द्विवचन की विवक्षा में 'थस्' प्रत्यय होकर पूर्ववत् शप्, गुण, अवादेश तथा पदान्त सकार को रुँत्व-विसर्ग करने पर 'भवथः' प्रयोग सिद्ध होता है।

लँट् के स्थान पर मध्यमपुरुष के बहुवचन में 'थ' आदेश होकर पूर्ववत् शप्, गुण और अवादेश करने पर 'भवथ' प्रयोग सिद्ध होता है।

उत्तमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में लँट् के स्थान पर मिप् प्रत्यय, पकारानुबन्ध का लोप, उसकी सार्वधातुकसञ्ज्ञा, शप्, अनुबन्धलोप, गुण तथा अवादेश करने पर 'भव+मि' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३९०) अतो दीर्घो यञि।७।३।१०१॥

अतोऽङ्गस्य दीर्घो यञादौ सार्वधातुके। भवामि। भवावः। भवामः। स भवति। तौ भवतः। ते भवन्ति। त्वं भवसि। युवां भवथः। यूयं भवथ। अहं भवामि। आवां भवावः। वयं भवामः॥

अर्थः—अदन्त अङ्ग के स्थान पर दीर्घ आदेश हो, यञादि सार्वधातुक परे हो तो।

व्याख्या—अतः।६।१। दीर्घः।१।१। यञि।७।१। अङ्गस्य।६।१। (अधिकृत है)। सार्वधातुके।७।१। ('तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके' से)। 'अतः' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है इसलिये तदन्तविधि होकर 'अदन्तस्य अङ्गस्य' बन जाता है। 'यञि' यह 'सार्वधातुके' का विशेषण है अतः 'यस्मिन्विधिस्तदा०' से तदादिविधि होकर 'यञादौ सार्वधातुके' बन जाता है। अर्थः—(अतः=अदन्तस्य) अदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है (यञि=यञादौ) यञादि (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे हो तो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह दीर्घ अदन्त अङ्ग के अन्त्य वर्ण—अत् के स्थान पर ही होता है।

'भव+मि' यहां 'मि' यह यञादि सार्वधातुक परे विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र

से अदन्त अङ्ग 'भव' के अन्त्य अकार को दीर्घ आदेश होकर 'भवामि' प्रयोग सिद्ध होता है।

अजी ! मिप् प्रत्यय तो 'भू' से किया गया था अतः **'यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्'** (१३३) सूत्रद्वारा 'भू' की ही अङ्ग संज्ञा होनी चाहिये थी न कि 'भव' की—यहां यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उस सूत्र में तदादि' कहने से विकरणविशिष्ट की अङ्गसञ्ज्ञा निर्बाध हो जाती है। यह सब पीछे पूर्वार्ध में इसी सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं।

यञादि कहने से 'भवसि, भवथः, भवथ' आदियों में तथा सार्वधातुक कहने से 'अङ्गना, केशवः[1]' आदियों में दीर्घ नहीं होता।

उत्तमपुरुष के द्विवचन में लँट् को वस् प्रत्यय, शप्, अनुबन्धलोप, गुण, अवादेश तथा 'अतो दीर्घो यञि' से दीर्घ होकर 'भवावः' सिद्ध होता है। इसी प्रकार उत्तमपुरुष के बहुवचन में मस् प्रत्यय होकर 'भवामः' प्रयोग बनता है। लँट् में रूपमाला यथा—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र० पु०	स भवति (वह होता है)	तौ भवतः (वे दो होते हैं)	ते भवन्ति (वे सब होते हैं)
म० पु०	त्वं भवसि (तू होता है)	युवां भवथः (तुम दो होते हो)	यूयं भवथ (तुम सब होते हो)
उ० पु०	अहं भवामि (मैं होता हूँ)	आवां भवावः (हम दो होते हैं)	वयं भवामः (हम सब होते हैं)

सः, तौ आदि के विना भी 'भवति, भवतः, भवन्ति' आदि का प्रयोग हो सकता है, यह पीछे पुरुषव्यवस्थाप्रकरण में स्पष्ट कर चुके हैं।

अब लिँट् की प्रक्रिया आरम्भ करते हुए सर्वप्रथम लिँट् लकार का अर्थ प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३९१) परोक्षे लिँट् ।३।२।११५।।

भूताऽनद्यतनपरोक्षार्थवृत्तेर्धातोर्लिँट् स्यात् । लस्य तिबादयः ।।

अर्थः—अनद्यतन परोक्ष भूत अर्थ में स्थित धातु से लिँट् हो। **लस्य**—लिँट्

---

१. अङ्गना—प्रशस्तानि अङ्गानि अस्या इति विग्रहे **'लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः श-नेलचः'** (११८८) इति नप्रत्ययः। केशवः—केशाः सन्त्यस्येति विग्रहे **'केशाद्वोऽन्यतरस्याम्'** (११९०) इति मत्वर्थीयो वप्रत्ययः।

लकार के स्थान पर तिप् आदि हो जायेंगे ।

व्याख्या—परोक्षे ।७।१। लिँट् ।१।१। अनद्यतने ।७।१। (अनद्यतने लँङ्' से) भूते ।७।१। (यह अधिकृत है)। धातोः ५।१। (यह भी अधिकृत है) । अर्थः—(अनद्यतने परोक्षे भूते) अनद्यतन परोक्ष भूत अर्थ में स्थित (धातोः) धातु से परे (लिँट्) लिँट् हो ।

अद्य भवम् अद्यतनम् ['सायंचिरम्०' (१०८६) इति ट्युप्रत्ययस्तुडागमश्च] जो आज का हो उसे 'अद्यतन' कहते हैं । न अद्यतनम्, अनद्यतनम्, आज न होने वाले को 'अनद्यतन' कहते हैं । लिँट् लकार ऐसे भूतकाल में प्रयुक्त होता है जो आज का न हो । देवदत्त ने आज प्रातः भोजन किया— यहां भूतकाल तो है पर वह भूत आज का होने से अद्यतन है, अनद्यतन नहीं । अतः इसमें लिँट् का प्रयोग नहीं होता । आजकल डाकखाने और रेल्वे आदियों में रात्रि के बारह बजने के बाद तिथि परिवर्त्तन होता है । इस प्रकार गत रात्रि के बारह बजे से लेकर आगामी रात्रि के बारह बजे तक का काल 'अद्यतन'[1] होगा । इस अद्यतन से भिन्न, व्यतीत हुआ काल अनद्यतनभूत और आगे आने वाला अनद्यतनभविष्यत् कहलायेगा । अनद्यतनभूत में लिँट् का तथा अनद्यनभविष्यत् में 'अनद्यतने लुँट्' (४०२) से लुँट् का प्रयोग होता है ।

लिँट् के प्रयोग में अनद्यतन भूत के अतिरिक्त एक और भी शर्त है । वह है उस का परोक्ष[2] होना । यदि अनद्यतनभूत परोक्ष न होगा तो उसमें लिँट् का प्रयोग न होकर 'अनद्यतने लँङ्' (४२२) से लँङ् का प्रयोग होगा । परोक्ष के अर्थ के विषय में महाभाष्य में कई मत दिखाये गये हैं । कई लोग सौ साल पुरानी बात को परोक्ष कहते हैं । अन्य विद्वान् एक हज़ार वर्ष पुरानी को परोक्ष बतलाते हैं । कई दो या

---

१. अहरुभयतोऽर्धरात्रमेषोऽद्यतनः काल इति पूर्वे वैयाकरणाः (देखें काशिका १.२.५७) ।

२. अक्ष्णः परम् परोक्षम्, मयूरव्यंसकादित्वात्समासः । वृत्तिविषये चाक्षिशब्दः सर्वेन्द्रियवाची, न तु चक्षुर्मात्रपर्यायः । अन्यथेन्द्रियान्तरविज्ञातं वस्तु परोक्षशब्दवाच्यं स्याद् इति कैयटः । भट्टोजिदीक्षितमते तु परोक्षम् इत्यत्राव्ययीभावः, 'प्रति-पर-समनु-भ्योऽक्ष्णः' इति समासान्तष्टज् इति । परं नागेशादयो दीक्षितमतं नाऽनुमोदन्ते । अक्षशब्दोऽप्यस्तीन्द्रियवाचकः, तेनालं समासान्तकरणकल्पनया । 'प्रति-पर-समनु०' इति वार्त्तिके परशब्दोपादानमनार्षम् इत्याहुः ।

'परोभावः परस्याक्षे परोक्षे लिटि दृश्यताम् ।
उत्वं वाऽऽदेः परादक्ष्णः सिद्धं वाऽस्मान्निपातनात् ॥' (महाभाष्ये)

तीन दिन पुरानी बात को परोक्ष मानते हैं। इतर बुद्धिमान् दीवार चटाई आदि की ओट में हुई बात को भी परोक्ष स्वीकार करते हैं। परन्तु सामान्य मत यह है कि वक्ता से जो परोक्ष अर्थात् नेत्रादि इन्द्रियों के ज्ञान से दूर हो उसे परोक्ष कहते हैं फिर चाहे वह अतीत में कभी क्यों न हुआ हो[1]।

इस प्रकार भू धातु से अनद्यतन-परोक्ष-भूतकाल में लिँट् हो गया तो—भू+लिँट्=भू+ल् हुआ। अब प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में लकार के स्थान पर तिप् प्रत्यय करने पर 'भू+ति' बना। इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है —

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (३९२) परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः । ३।४।८२।।

लिँटस्तिबादीनां नवानां णलादयः स्युः । 'भू+अ' इति स्थिते—

अर्थः—लिँट् के स्थान पर आदिष्ट तिप् आदि नौ प्रत्ययों के स्थान पर क्रमशः णल्, अतुस्, उस्; थल्, अथुस्, अ; णल्, व, म ये नौ आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—परस्मैपदानाम् ।६।३। णल्-अतुस्-उस्-थल्-अथुस्-अ-णल्-व-माः ।१।३। लिँटः ।६ १। ('लिँटस्तझयोरेशिरेच्' से)। अर्थः—(लिँटः) लिँट् के (परस्मैपदानाम्) परस्मैपद प्रत्ययों के स्थान पर (णल्—वमाः) णल्, अतुस्, उस्, थल्, अथुस्, अ, णल्, व, म ये नौ आदेश हो जाते हैं।

लिँट् के स्थान पर होने वाले परस्मैपद प्रत्यय तिप्, तस्, झि आदि नौ हैं। इनके स्थान पर हो रहे णल्, अतुस्, उस् आदि आदेश भी नौ हैं। अतः यथासङ्ख्य-परिभाषा से ये आदेश क्रमशः होते हैं, यथा तिप् को णल्, तस् को अतुस्, झि को उस् आदि। कोष्ठक यथा—

पुरुष	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	तिप् (णल्)	तस् (अतुस्)	झि (उस्)
मध्यमपुरुष	सिप् (थल्)	थस् (अथुस्)	थ (अ)
उत्तमपुरुष	मिप् (णल्)	वस् (व)	मस् (म)

१. कथं जातीयकं पुनः परोक्षं नाम ? केचित्त्वाहुः—वर्षशतवृत्तं परोक्षमिति। अपर आहुः—वर्षसहस्रवृत्तं परोक्षमिति। अपर आहुः—कुड्य-कटान्तरितं परोक्षमिति। अपर आहुः—द्व्यहवृत्तं त्र्यहवृत्तं चेति (दृश्यतामत्रत्यं महाभाष्यम्)।

तिप् के स्थान पर होने वाले णल् का णकार 'चुटू' (१२६) से तथा लकार 'हलन्त्यम्' (१) सूत्र से इत्सञ्ज्ञक है अतः 'अ' ही अवशिष्ट रहता है[1]। इसी प्रकार मिप् के स्थान पर होने वाले णल् के विषय में भी समझ लेना चाहिये। थल् का लकार भी इत्सञ्ज्ञक है अतः 'थ' ही अवशिष्ट रहता है। अतुस्, अथुस्, उस् इन आदेशों के सकार की हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा नहीं होती, 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) से निषेध हो जाता है। इनकी विभक्तिसञ्ज्ञा स्थानिवद्भाव के कारण 'विभक्तिश्च' (१३०) सूत्र द्वारा है ही।

तिप् के स्थान पर होने वाला णल् 'अनेकाल्शित्०' (४५) सूत्र से सर्वादेश होता है। यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि णल् में अनुबन्धों का लोप होकर 'अ' ही शेष बचता है, पुनः अनुबन्धों के कारण किसी को अनेकाल् माना नहीं जाता—'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्' (५०)। अतः णल् के अनेकाल् न होने से सर्वादेश न होना चाहिये, प्रत्युत अलोऽन्त्यपरिभाषा से तिप् के अन्त्य अल्-इकार को ही णल् आदेश करना उचित है। इसका समाधान यह है कि जब तक तिप् के स्थान पर णल् आदेश न हो जाये तब तक उसके णकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं हो सकती, कारण कि 'चुटू' (१२६) सूत्र प्रत्यय के आदि वाले चवर्ग टवर्ग की ही इत्सञ्ज्ञा करता है। जब तक आदेश न हो ले तब तक स्थानिवद्भाव के कारण णल् को प्रत्यय नहीं माना जा सकता; अतः आदेश करते समय णल् में प्रत्ययत्व न होने के कारण णकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती तब अनेकाल् होने से सर्वादेश हो जाता है कोई दोष प्रसक्त नहीं होता[2]।

मध्यमपुरुष के बहुवचन 'थ' के स्थान पर होने वाला आदेश 'अ' अनेकाल् न

---

१. णल् में णकार 'अचो ञ्णिति' (१८२) आदि वृद्धिकार्यों के लिये तथा लकार 'लिति' (६.१.१८७) आदि स्वरकार्यों के लिये जोड़ा गया है।

२. परं भाष्यमर्मविदः श्रीनागेशभट्टास्त्वत्रारुचिमेव विदधति। उक्तञ्च तैरत्र शेखरे—

णलः सर्वादेशत्वं ततः प्राग्णकारस्य लोपाभावेन अनेकाल्त्वाद् इति केचित्, तन्न। नाऽनुबन्धकृतमनेकाल्त्वम् इति निषेधात्। अनुबन्धत्वयोग्यकृतम् इति तदर्थः। ध्वनितञ्चेदं 'डा-रौ-रसः' इतिसूत्रे 'अनेकाल्०' इति च सूत्रे भाष्ये, इति 'जसः शी'-त्यत्र निरूपितम्। तस्माद् 'ण अल्' इति प्रश्लेषेण अनेकाल्त्वेन सर्वादेशत्वसिद्धिः। प्रश्लेषसामर्थ्याद् आदेशोत्तरम् एकादेशप्रवृत्तिः। एवं 'डा+आ' इति प्रश्लेषणाद् डादेशः सर्वादेशो बोध्यः।

होने से अलोऽन्त्यपरिभाषाद्वारा अन्त्य अकार के स्थान पर होना चाहिये था [1], परन्तु सूत्र में 'अ+अ' इन दो अकारों में 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप होकर एक अकार बना हुआ स्वीकार कर लेने से नहीं होता। तात्पर्य यह है कि 'थ' के स्थान पर 'अ+अ' इस प्रकार दो अकारों वाला आदेश होता है और प्रश्लेषसामर्थ्य से आदेश होते ही उन अकारों में सर्वप्रथम पररूप एकादेश हो जाता है। इस प्रकार दो अकारों वाला आदेश मानने से अनेकाल्त्वात् सर्वादेश हो जाता है अलोऽन्त्यपरिभाषा प्रवृत्त नहीं होती।

इत्थं णल् आदि नौ आदेश तिप् आदियों के स्थान पर सर्वादेश ही होते हैं— यह सर्वसम्मत सिद्धान्त समझना चाहिये।

'भू+ति' यहां प्रकृतसूत्र से तिप् के स्थान पर णल् आदेश होकर अनुबन्धों का लोप करने से 'भू+अ' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३९३) भुवो वुग्लुँङ्लिँटोः ।६।४।८८॥

भुवो वुगागमः स्याल्लुँङ्लिँटोरचि॥

अर्थः—भू को वुक् का आगम हो लुँङ् या लिँट् सम्बन्धी अच् परे हो तो।

व्याख्या—भुवः। ६।१। वुक् ।१।१। लुँङ्-लिँटोः ।६।२। अचि ।७।१। ('अचि श्नु०' से) अङ्गस्य।६।१। (अधिकृत है)। अर्थः—(लुँङ्-लिँटोः) लुँङ् या लिँट् का (अचि) अच् परे हो तो [2] (भुवः, अङ्गस्य) भू अङ्ग का अवयव (वुक्) वुक् हो जाता है। वुक् में ककार इत् तथा उकार उच्चारणार्थ है। कित् होने से वुक् का आगम 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) के अनुसार भू का अन्तावयव बनता है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'भू+अ' यहां प्रकृतसूत्र से वुक् का आगम करें या परत्व के कारण 'अचो ञ्णिति' (१८२) सूत्र से अजन्त अङ्ग को वृद्धि करें? इसका उत्तर यह है कि 'नित्यत्वादयं गुणवृद्धी बाधते' अर्थात् नित्य होने से वुक् का

---

१. यदि कहें कि अन्त्य 'अ' के स्थान पर पुनः 'अ' करने का कुछ भी फल न देखकर विधानसामर्थ्य से इसे सर्वादेश ही मान लेंगे तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि तिप् आदि नौ प्रत्ययों का णल् आदि नौ प्रत्ययों के साथ यथासङ्ख्यसम्पादन करना इस का प्रयोजन मान लेंगे तो विधानसामर्थ्य भी नहीं रहेगा।

२. अचि किम्? अभूत्। वुकि सति 'लोपो व्योर्वलि' (४२९) इति लोपं बाधित्वा परत्वाद् हल्ङ्यादिलोपः स्यात्। विस्तरस्तु **प्रौढमनोरमायां तत्त्वबोधिन्यां** वाऽवलोकनीयः।

आगम गुण और वृद्धि दोनों का बाध कर लेता है [१]। हमेशा पर से नित्य बलवान् होता है, जैसा कि कहा है—'पूर्व-पर-नित्याऽन्तरङ्गाऽपवादानाम् उत्तरोत्तरं बलीयः'। यहाँ गुण और वृद्धि यद्यपि पर हैं तथापि नित्य होने से वुक् का आगम उन दोनों का बाध कर लेता है। नित्य का लक्षण है –'कृताऽकृतप्रसङ्गी यो विधिः स नित्यः' अर्थात् जो विधि दूसरी विधि के होने या न होने पर समानरूप से प्राप्त रहे वह उसकी अपेक्षा नित्य होती है। यथा यहां यदि वृद्धि या गुण कर भी लिये जायें तो भी 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय के अनुसार भू समझ कर वुक् का आगम प्राप्त होगा, परन्तु यदि वुक् कर लेते हैं तो अजन्त व इगन्त न रहने से वृद्धि या गुण में से कोई भी प्राप्त नहीं हो सकता। अत: वृद्धि और गुण की अपेक्षा वुक् का आगम नित्य होने से प्रवृत्त हो जायेगा, गुण और वृद्धि न होंगे।

'भू+अ' यहाँ लिँट् का अच् परे विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से भू को वुक् का आगम होकर अनुबन्धलोप करने से 'भूव्+अ' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(३९४) लिँटि धातोरनभ्यासस्य ।६।१।८।।

लिँटि परेऽनभ्यासधात्ववयवस्यैकाचः प्रथमस्य द्वे स्तः, आदिभूतादचः परस्य तु द्वितीयस्य। 'भूव् भूव् अ' इति स्थिते—

अर्थः—लिँट् परे होने पर अनभ्यास धातु के अवयव प्रथम एकाच् को द्वित्व हो जाता है परन्तु यदि धातु का आदिभूत (पहला अक्षर) अच् हो तो उससे परे दूसरे एकाच् भाग को द्वित्व होता है।

व्याख्या—लिँटि ।७।१। धातोः ।६।१। अनभ्यासस्य ।६।१। यहां दो अधिकार-सूत्र पीछे से आरहे हैं—'एकाचो द्वे प्रथमस्य, अजादेर्द्वितीयस्य'। अर्थः—(लिँटि) लिँट् परे होने पर (अनभ्यासस्य) जिसकी अभ्याससंज्ञा नहीं ऐसी (धातोः) धातु के अवयव (एकाचः) एक अच् वाले (प्रथमस्य) प्रथम भाग के (द्वे) दो उच्चारण हो जाते हैं परन्तु (अजादेः) आदिभूत अच् से परे तो (द्वितीयस्य) द्वितीय एकाच् भाग के ही दो उच्चारण होते हैं।

'अनभ्यासस्य' यह 'धातोः' का विशेषण है। न अभ्यासः=अनभ्यासः, तस्य=अनभ्यासस्य। द्वित्व ऐसी धातु को होता है जिसकी अभ्याससंज्ञा न हो। द्वित्व कर चुकने पर पहले भाग की 'पूर्वोऽभ्यासः' (३९५) से अभ्याससंज्ञा कही गई है। इस प्रकार 'अनभ्यास धातु को द्वित्व हो' इस कथन का यही तात्पर्य निकलता है कि

---

१. 'भू+इथ' यहाँ 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (३८८) से गुण प्राप्त था, इस का बाध कर वुक् प्रवृत्त हो जाता है।

यदि एक बार द्वित्व हो जाये तो बाद में किसी अन्य सूत्र द्वारा द्वित्व के प्राप्त होने पर भी द्वित्व न हो। यथा—यङन्त धातु को एक बार 'सन्यङोः' (७०६) सूत्र से द्वित्व हो चुकता है पुनः उस से सन् प्रत्यय करने पर तन्निमित्तक द्वित्व न होगा। परन्तु महाभाष्य में इस अंश का खण्डन किया गया है। वहां कहा गया है कि ऐसे प्रयोग लोक में नहीं पाये जाते। वेद के लिये तो सम्पूर्ण द्वित्वप्रकरण का ही विकल्प है।

'धातोः' में षष्ठी अवयवावयविभाव में आई है। 'धातु का अवयव जो एकाच् प्रथमभाग या द्वितीय भाग' ऐसा अर्थ समझना चाहिये। 'धातोः' और 'एकाचः' का सामानाधिकरण्य समझने की भूल नहीं करनी चाहिये।

'धातोः' का ग्रहण न करते तो 'लिँट् परे होने पर एक अच् वाले प्रथम भाग को द्वित्व हो' ऐसा अर्थ होने से 'पपाच' आदि तो सिद्ध हो जाते परन्तु 'जागृ+अ' यहां 'जाग्' भाग को द्वित्व न हो सकता क्योंकि उससे परे लिँट् न होता। अब 'धातोः' कहने से कोई दोष नहीं आता।

'एकाचः' यहां तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसमास है। एकोऽच् यस्य यस्मिन् वा स एकाच्, तस्य=एकाचः। यदि यहां 'एकश्चाऽसावच् च एकाच्, तस्य=एकाचः' इस प्रकार कर्मधारयसमास मानेंगे तो इयाय, आर आदि तो सिद्ध हो जायेंगे क्योंकि उन में 'इ' और 'ऋ' यह एकाज्रूप धातु है, परन्तु पच् पठ् आदियों के पपाच, पपाठ आदि उपपन्न न हो सकेंगे क्योंकि वहां एकाज्रूप धातु नहीं है। अतः बहुव्रीहिसमास मानना ही युक्त है। बहुव्रीहिसमास स्वीकार करने से 'पपाच, पपाठ' आदि तो सिद्ध होंगे ही किन्तु इयाय, आर आदि भी व्यपदेशिवद्भाव से सिद्ध हो जायेंगे[1]।

'अजादेः' यहाँ कर्मधारयसमास से पञ्चमी का एकवचन समझना चाहिये। अच्चासौ आदिश्च अजादिः, तस्माद् अजादेः[2]। आदि अच् से परे द्वितीय एकाच् को

---

१. महाभाष्य में इसका वर्णन अत्यन्त सुन्दर शब्दों में आया है—

"एकाच इति किमयं बहुव्रीहिः, एकोऽच् यस्मिन् इति, आहोस्वित् तत्पुरुषोऽपि समानाधिकरणः—एकोऽच्=एकाच् इति। किञ्चातः? यदि बहुव्रीहिः, सिद्धं पपाच पपाठ। इयाय, आर इति न सिध्यति। अथ तत्पुरुषः समानाधिकरणः, सिद्धम् इयाय आर इति। पपाच पपाठेति न सिध्यति। (अत उत्तरं पठति) एकाचो द्वे प्रथमस्येति बहुव्रीहिनिर्देशः। एकवर्णेषु कथम्? एकवर्णेषु व्यपदेशिवद्वचनात्। व्यपदेशिवदेकस्मिन् कार्यं भवतीति वक्तव्यम्। एकवर्णेषु द्विर्वचनं भविष्यति।"

२. यदि यहाँ बहुव्रीहिसमास से षष्ठी स्वीकार करें तो 'इन्दिद्रीयिषति' प्रयोग न बन सकेगा। इन्द्रमात्मन इच्छतीति इन्द्रीयति, इन्द्रीयितुमिच्छतीति इन्दिद्रीयिषति।

द्वित्व हो जाता है तात्पर्य यह है कि यदि धातु अजादि हो तो उस धातु के द्वितीय एकाच् भाग को द्वित्व होता है।

ध्यान रहे कि जब अच् को द्वित्व होता है तो उसके दोनों ओर के व्यञ्जनों को भी साथ ही द्वित्व होता है। 'वृक्षः प्रचलन् सहावयवैः प्रचलति' अर्थात् जब वृक्ष हिलता है तो अपने शाखा पत्र पुष्प आदि सब अवयवों के साथ हिलता है। इस विषय में महाभाष्य में बड़ा सुन्दर दृष्टान्त दिया गया है—"व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति। तद्यथा नटानां स्त्रियो रङ्गगता यो यः पृच्छति कस्य यूयमिति तं तं तव तवेत्याहुः। एवं व्यञ्जनान्यपि यस्य यस्याचः कार्यमुच्यते तं तं भजन्ते।" इसमें 'शर्पूर्वाः खयः' (६४८), 'न न्द्राः संयोगादयः' (६००), 'हलादिः शेषः' (६६६) आदि भी ज्ञापक हैं। यदि अचों को ही द्वित्व होता तो इन सूत्रों की आवश्यकता ही न होती।

तो इस प्रकार सूत्र का सार यह निकलता है कि—

(क) लिँट् परे होने पर धातु के प्रथम एकाच् को द्वित्व होता है।

(ख) यदि धातु अजादि अनेकाच् हो तो लिँट् परे होने पर उसके द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है।

इन नियमों के कुछ उदाहरण यथा—जगाम। यहाँ गम् धातु में द्वित्व 'गम्' इस प्रथम एकाच् को हुआ है[1]। जजागार—यहां जागृ धातु में द्वित्व प्रथम एकाच् 'जाग्' भाग को हुआ है। ऊर्णुनाव—यहां ऊर्णु धातु अजादि अनेकाच् है अतः इसके द्वितीय एकाच् भाग 'र्णु' को द्वित्व होता है (बाद में रेफ के द्वित्व का 'न न्द्राः

यहां 'इन्द्रीय' इस क्यजन्त धातु से सन् करने पर 'सन्यङोः' (७०६) से द्वित्व होता है। इन्द्रीय धातु के द्वितीय एकाच् 'न्द्रीय्' भाग को द्वित्व प्राप्त होता है, परन्तु 'न न्द्राः संयोगादयः' (६००) से नकार का निषेध होकर 'द्रीय्' को द्वित्व हो जाता है। यदि 'अजादेः' में बहुव्रीहिसमास होता तो 'न न्द्राः संयोगादयः' में भी उसकी अनुवृत्ति जाने से, 'अच् है आदि में जिस धातु के, उसके द्वितीय एकाच् भाग के संयोग के आदि में स्थित न् द् र् द्वित्व न हों' ऐसा अर्थ होने से न् के निषेध के साथ दकार के द्वित्व का भी निषेध हो जाता तब 'इन्दिद्रीयिषति' न बन सकता। परन्तु अब कर्मधारयसमास मानने से—'आदि जो अच् उससे परे संयोग के आदि वाले न् द् र् द्वित्व न हों' ऐसा अर्थ होने से केवल नकार का ही निषेध होता है दकार को द्वित्व हो जाता है, क्योंकि यहाँ आदि अच् से परे नकार का व्यवधान आ जाने से दकार को द्वित्वनिषेध नहीं हो सकता।

१. 'गम्' इस एकाजभाग का प्रथमत्व व्यपदेशिवद्भाव से समझना चाहिये।

संयोगादय:' से निषेध होकर केवल 'नु' भाग को ही द्वित्व होता है)।

'भूव्+अ' यहाँ प्रकृतसूत्र से 'भूव्' को व्यपदेशिवद्भाव से प्रथम एकाच् समझ कर द्वित्व हो गया तो 'भूव् भूव्+अ' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञासूत्रम्—(३९५) पूर्वोऽभ्यासः ।६।१।४।।

अत्र ये द्वे विहिते तयोः पूर्वोऽभ्याससञ्ज्ञः स्यात् ।।

अर्थः—इस प्रकरण में जो दो उच्चारण कहे गये हैं उनमें पूर्व अभ्यास सञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—पूर्वः ।१।१। अभ्यासः ।१।१। अर्थः—(पूर्वः) पहला (अभ्यासः) अभ्याससञ्ज्ञक हो। किस का पहला अभ्याससञ्ज्ञक हो? इस विषय में भाष्यकार कहते हैं—'पूर्वोऽभ्यास इत्युच्यते। कस्य पूर्वोऽभ्याससञ्ज्ञो भवति? द्वे इति वर्त्तते। द्वयोरिति वक्तव्यम्। स तर्हि तथा निर्देशः कर्तव्यः। अर्थाद् विभक्तिविपरिणामो भविष्यति।" इसका तात्पर्य यह है कि यह सूत्र 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' के अधिकार में पढ़ा गया है, अतः इस अधिकार में जो दो दो उच्चारण विधान किये गये हैं उनमें से पहला उच्चारण अभ्याससञ्ज्ञक हो[1]।

'भूव् भूव्+अ' यहाँ भूव् को द्वित्व किया गया है अतः पहला 'भूव्' अभ्याससंज्ञक हुआ। अब अभ्याससञ्ज्ञा का प्रयोजन दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३९६) हलादिः शेषः ।७।४।६०।।

अभ्यासस्य आदिर्हल् शिष्यते, अन्ये हलो लुप्यन्ते। इति वलोपः।।

अर्थः—अभ्यास का आदि हल् शेष रहता है, अन्य हल् लुप्त हो जाते हैं।

व्याख्या—हल्[2] ।१।१। आदिः ।१।१। शेषः ।१।१। अभ्यासस्य ।६।१। ('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से)। शिष्यत इति शेषः, कर्मणि घञ्। इतरनिवृत्तिपूर्वकावस्थितौ

---

१. ध्यान रहे कि यह अभ्याससञ्ज्ञा इसी षाष्ठद्वित्वप्रकरण के लिये ही है, अष्टमाध्याय के 'सर्वस्य द्वे'(८.१.१) वाले द्वित्व में यह प्रवृत्त नहीं होती। इसीलिये तो वृत्ति में 'अत्र ये द्वे विहिते' कहा गया है।

२. 'हलादिः' को समस्त नहीं समझना चाहिये। क्योंकि समस्तदशा में यदि षष्ठीतत्पुरुषसमास मानें तो विग्रह होगा—हलाम् आदिः। अर्थात् हलों के मध्य में जो आदि, वह अवशिष्ट रहता है। इस प्रकार 'आनक्ष, आनक्षतुः, आनक्षुः' आदि रूपों में 'अक्षू व्याप्तौ' धातु के अभ्यास के ककार का लोप न हो सकेगा क्योंकि वहाँ

शिष्धातुर्वर्त्तते। अर्थः—(अभ्यासस्य) अभ्यास का (आदिः) आदि जो (हल्) हल् वर्ण, वह (शेषः) शेष रहता है अर्थात् अन्य हल् लुप्त हो जाते हैं। यथा—पपाच, यहां 'पच् पच्+अ' इस दशा में अभ्यास का आदि हल्-पकार शेष रहता है अन्य हल्-चकार लुप्त हो जाता है। ध्यान रहे कि अभ्यास के अच् को यह सूत्र नहीं छेड़ता, वह वैसे का वैसा रहता है। जैसे 'पपाच' में अभ्यासगत पकारोत्तर अकार वैसा अवस्थित रहता है।

यहां एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि 'अभ्यासस्य' में 'अभ्यास' शब्द जातिवाचक है व्यक्तिवाचक नहीं। अभ्यास जाति में कहीं तो आदि वर्ण हल् होता है (यथा 'पपाच' आदि में) और कहीं अच् (यथा 'आट, आटतुः' आदि में)। परन्तु उन सब प्रकार के अभ्यासों को एक ही जाति का समझ कर यह सूत्र प्रवृत्त हो जाता है। इससे 'अट् अट्+अ' आदि में अभ्यास का आदिवर्ण हल् न होने पर भी टकार का लोप हो जाता है कारण कि अभ्यास में अन्यत्र अनेक स्थानों पर आदिवर्ण हल् पाया जाता है (जैसे पपाच, पपाठ आदि में)। इस समस्या का समाधान कुछ लोग अन्य प्रकार से भी करते हैं। तथाहि—अष्टाध्यायी के संहितापाठ में 'ह्रस्वो हलादिः शेषः' इस प्रकार के पाठ का 'ह्रस्वः, अहल्, आदिः शेषः' यह सूत्रच्छेद किया जाता है। 'अहल्' सूत्र का अर्थ है—अभ्यास अहल् अर्थात् हलों से रहित हो। तदनन्तर 'आदिः शेषः' का अर्थ है—अभ्यास का आदि हल् शेष रहता है। यह 'अहल्' का अपवाद होगा। इससे 'अट् अट्+अ' यहाँ 'अभ्यास हल् रहित हो' इस कथन से टकार का लोप हो जायेगा। 'पठ् पठ्+अ' यहां 'अहल्' सूत्र से अभ्यास के ठकार का लोप तथा 'आदिः शेषः' से आदि पकार के लोप का निषेध हो जायेगा।

'भूव् भूव्+अ' यहां प्रथम 'भूव्' अभ्याससंज्ञक है अतः प्रकृतसूत्र से इसका आदिहल्—भकार अवस्थित रहा तथा दूसरे हल्-वकार का लोप हो गया तो

'क्ष्' इन दो हलों में से क् हलादि ठहरेगा। अब यदि कर्मधारयसमास (हल् चासा-वादिश्च) मानते हैं तो प्रक्रिया में तो कोई दोष नहीं आता परन्तु 'आदि' शब्द के विशेषण होने से उसका पूर्वनिपात होना चाहिये था; अर्थात् तब 'आदिहल् शेषः' सूत्र बनाना चाहिये था। अतः इन सब बातों का विचार कर 'हलादिः शेषः' सूत्र में 'हल्' को असमस्त मानना ही उचित प्रतीत होता है। पदमञ्जरीकार श्रीहरदत्त ने कहा भी है—

"कर्मधारयपक्षे स्यादादिशब्दस्य पूर्वता।
षष्ठीसमासे त्वानर्थक्यादौ शेषः प्रसज्यते॥"

'भू भूव्+अ' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् —(३९७) ह्रस्वः ।७।४।५९।।

अभ्यासस्याचो ह्रस्वः स्यात् ॥

अर्थः—अभ्यास के अच् के स्थान पर ह्रस्व आदेश हो।

व्याख्या—अभ्यासस्य ।६।१। (**'अत्र लोपोऽभ्यासस्य'** से)। ह्रस्वः ।१।१। जहां ह्रस्व दीर्घ प्लुत विधान करें वहां **'अचश्च'** (१.२.२८) सूत्र से 'अचः' पद उपस्थित हो जाता है। अर्थः—(अभ्यासस्य) अभ्यास के (अचः) अच् के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश हो। ध्यान रहे कि ह्रस्वादेश करते समय **'स्थानेऽन्तरतमः'** (१७) परिभाषा उपस्थित हो जायेगी।

'भू भूव्+अ' यहाँ प्रकृतसूत्र से अभ्यास के ऊकार के स्थान पर आन्तरतम्य के कारण ह्रस्व उकार आदेश हो गया तो 'भु भूव्+अ' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् —(३९८) भवतेरः ।७।४।७३।।

भवतेरभ्यासस्य उकारस्य अः स्याल्लिँटि ॥

अर्थः—लिँट् परे होने पर भू धातु के अभ्यास के उकार के स्थान पर 'अ' आदेश हो।

व्याख्या—भवतेः ।६।१। अः ।१।१। लिँटि ।७।१। (**'व्यथो लिँटि'** से)। अभ्यासस्य ।६।१। (**'अत्र लोपोऽभ्यासस्य'** से)। 'भवतेः' यह 'भवति' शब्द के षष्ठी का एकवचन है। 'भवति' का अभिप्राय है—भू धातु। धातु का निर्देश करने के लिये कहीं उससे इक्प्रत्यय जोड़ा जाता है, यथा—**'गमेरिट् परस्मैपदेषु'** (५०६), **'चिन्ति-पूजि-कथि-कुम्बि-चर्चश्च'** (३.३.१०५) आदि। कहीं उसके आगे श्तिप्प्रत्यय लगाया जाता है, यथा—**'उपसर्गात् सुनोति-सुवति-स्यति-स्तौति०'** (८.४.६५) आदि[1]। यहां 'भवतेः' में श्तिप्प्रत्यय लगाकर भूधातु का निर्देश किया गया है। अर्थः—(भवतेः) भू धातु के (अभ्यासस्य) अभ्यास के स्थान पर (अः) 'अ' आदेश हो (लिँटि) लिँट्

१. **'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे'** (३.३.१०८ पर वा०) अर्थात् धातु के स्वरूप बताने में इक् और श्तिप् प्रत्यय लगाये जाते हैं। श्तिप् प्रत्यय में श् की इत्सञ्ज्ञा होती है। **'उपसर्गात् सुनोति—'**(८.४.६५) आदि निर्देशों के बल पर प्रत्यय के अकर्त्रर्थ होने पर भी शप् आदि विकरण हो जाते हैं। श्तिप् को शित् करने का प्रयोजन पिब जिघ्र आदि आदेश करना है, यथा—**'लोपः पिबतेरीच्चाभ्यासस्य'** (७.४.४), **'जिघ्रतेर्वा'** (७.४.५) आदि। विशेष **बृहच्छब्देन्दुशेखर** में देखें।

परे हो तो । 'अ' विधीयमान है अतः सवर्णग्रहण का प्रश्न ही पैदा नहीं होता । समग्र अभ्यास के स्थान पर विहित यह 'अ' आदेश अलोऽन्त्यपरिभाषा से अभ्यास के अन्त्य उकार के स्थान पर होता है । 'नाऽनर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे' (प०, सूत्र २७७) द्वारा अलोऽन्त्यपरिभाषा की प्रवृत्ति में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती क्योंकि वहां स्पष्टतया 'अनभ्यासविकारे' कहा गया है ।

लिँट् परे होने पर ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है । 'बुभूषति' आदि में लिँट् परे नहीं अपितु सन्प्रत्यय परे है अतः वहां 'अ' आदेश नहीं होता ।

शङ्का—'ह्रस्वः' (३९७) सूत्र अनावश्यक प्रतीत होता है क्योंकि 'भवतेरः' सूत्र से दीर्घ ऊकार को भी 'अ' किया जा सकता था ।

समाधान—'ह्रस्वः' सूत्र का प्रयोजन 'बिभाय, बिभ्यतुः, बिभ्युः ; शिश्ये, शिश्याते, शिश्यिरे ; लुलाव, लुलुवतुः, लुलुवुः ; पपौ, पपतुः, पपुः' आदियों में स्पष्ट है । यहां 'पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः' (सूत्र ५९ पर देखें) से इसकी प्रवृत्ति हो जाती है । जैसे मेघ जल-थल पर समान रूप से बरसते हैं, उनका थल पर बरसना सप्रयोजन और जल में बरसना निष्प्रयोजन होता है, वैसे सूत्र भी सप्रयोजन निष्प्रयोजन दोनों प्रकार के स्थानों पर समभाव से प्रवृत्त होते हैं ।

'भु भूव्+अ' यहां प्रकृतसूत्र से अभ्यास के उकार को अकार होकर 'भ भूव्+अ' हुआ । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३९९) अभ्यासे चर्च ।८।४।५३।।

अभ्यासे झलां चरः स्युर्जशश्च । झशां जशः, खयां चर इति विवेकः । बभूव, बभूवतुः, बभूवुः ॥

अर्थः—अभ्यास में झलों को चर् और जश् हों ।

व्याख्या—अभ्यासे ।७।१। चर् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । झलाम् ।६।३। ('झलां जश्झशि' से) । 'च' के कारण 'झलां जश्झशि' से 'जश्' का समुच्चय होता है । अर्थः—(अभ्यासे) अभ्यास में (झलाम्) झलों के स्थान पर (चर्) चर् (च) और जश् हो जाते हैं ।

झल्प्रत्याहार में वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा श् ष् स् ह्—कुल चौबीस वर्ण आते हैं । इनके स्थान पर चर् और जश् आदेश होते हैं । चरों में वर्गों के प्रथम और श् ष् स् तथा जशों में वर्गों के तृतीय वर्ण समाविष्ट होते हैं । इस प्रकार श् ष् स् के स्थान पर श् ष् स् ही हो जाते हैं[1] । हकार के स्थान पर विशेष

१. ष् के स्थान पर ष् ही होता है । यद्यपि पाणिनीय व्याकरण में धातु के

सूत्र 'कुहोश्चुः' (४५४) की प्रवृत्ति होती है। अवशिष्ट बीस वर्णों में किसके स्थान पर कौन सा आदेश हो—इसके लिये स्थानेऽन्तरतमः' (१७) से आन्तर्य देखा जाता है।

वर्गों के प्रथम और द्वितीय अर्थात् खय् वर्णों का बाह्ययत्न 'विवार, श्वास, अघोष' है। चरों और जशों में इस प्रकार के यत्न वाले वर्ण 'चर्' ही हैं। अतः 'खयां चरः' यह मूलोक्त वचन उपपन्न हो जाता है।

वर्गों के तृतीय और चतुर्थ अर्थात् झश् वर्णों का बाह्ययत्न 'संवार, नाद, घोष' है। चरों और जशों में इस प्रकार के यत्न वाले वर्ण 'जश्' ही हैं। अतः 'झशां जशः' यह मूलोक्त वचन उपपन्न हो जाता है।

खयों को चर् तथा झशों को जश् करने में भी स्थानकृत आन्तर्य के कारण तत्तद्वर्गों को तत्तद्वर्गीय ही आदेश होते हैं। इत्थं इस सूत्र का सार इस प्रकार समझना चाहिए—

(क) अभ्यासगत वर्गों के चतुर्थ वर्ण को उसी वर्ग का तृतीय वर्ण हो जाता है, यथा—'धा' धातु का 'दधौ', 'भज्' धातु का 'बभाज', 'ढौकृ' धातु का 'डुढौके', 'झर्मु' का 'जझाम', 'भिद्' का 'बिभेद' आदि रूप बनते हैं।

(ख) अभ्यासगत वर्गों के तृतीय वर्ण को उसी वर्ग का तृतीय वर्ण हो जाता है कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। यथा—जीव्—जिजीव, डीङ्—डिड्ये, दा – ददौ, बुध्—बुबुधे आदि।

(ग) अभ्यासगत वर्गों के द्वितीय वर्ण को उसी वर्ग का प्रथम वर्ण हो जाता है। यथा—खाद्—चखाद,[1] खन्—चखान, छिद्—चिच्छेद, फण्—पफाण, थुड्—तुथोड आदि।

(घ) अभ्यासगत वर्गों के प्रथम वर्ण को उसी वर्ग का प्रथम वर्ण हो जाता है। यथा—चर्व्—चचर्व, चल्—चचाल, टीकृ—टुटीके, तुद्—तुतोद, पा—पपौ आदि।

(ङ) अभ्यासगत श् ष् स् को क्रमशः वही श् ष् स् आदेश होते हैं। यथा—शीङ्—शिश्ये, ष्वष्क्—षष्वष्के, स्ना—सस्नौ आदि।

आदि ष् को स् होकर अभ्यास में सर्वत्र स् ही मिलता है ष् नहीं, तथापि 'सुब्धातु-ष्ठिवुं-ष्वष्कतीनां सत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः' (वा० ५३९) इस वार्त्तिक से जहां सत्व का निषेध होगा वहां अभ्यासगत षकार को षकार ही हो जायेगा, यथा—षष्वष्के।

१. यहां 'कुहोश्चुः' (४५४) से खकार को छकार हो जाता है तब छकार को प्रथमवर्ण चकार आदेश किया जाता है।

(च) अभ्यासगत हकार के स्थान पर 'कुहोश्चुः' (४५४) सूत्र से प्रथम झकार हो जाता है पुनः (क) नियम के अनुसार झकार को जकार होता है। यथा—हन्—जघान, हस्—जहास, ह्री—जिह्राय आदि।

सार यह है कि अभ्यास में वर्ग के पहले दूसरे को पहला, और तृतीय चतुर्थ को तीसरा अक्षर हो जाता है।

'भभूव्+अ' यहां प्रकृत सूत्र से अभ्यास के झल्-भकार के स्थान पर जश्-बकार आदेश होकर—बभूव्+अ='बभूव' प्रयोग सिद्ध होता है।

बभूवतुः—भू धातु से भूतानद्यतन परोक्ष अर्थ में 'परोक्षे लिँट्' (३९१) द्वारा लिँट्, प्रथमपुरुष के द्विवचन की विवक्षा में लकार के स्थान पर तस्, 'परस्मैपदानां णल्०' (३९२) सूत्र से तस् को अतुस् आदेश, 'भुवो वुग्०' (३९३) से भू को वुक् का आगम, 'लिँटि धातोरनभ्यासस्य' (३९४) से द्वित्व, अभ्याससञ्ज्ञा (३९५), 'हलादिः शेषः' (३९६) से अभ्यास के वकार का लोप, 'ह्रस्वः' (३९७) से अभ्यास को ह्रस्व, 'भवतेरः' (३९८) से अभ्यास के उकार को अकार तथा 'अभ्यासे चर्च' (३९९) से अभ्यास के भकार को जश्त्व बकार होकर पदान्त में सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग करने पर बभूवतुः' प्रयोग सिद्ध होता है।

बभूवुः—भू धातु से लिँट्, प्रथमपुरुष के बहुवचन की विवक्षा में झिप्रत्यय, झि को उस् आदेश, वुक् का आगम, द्वित्व, हलादिशेष, ह्रस्व, अभ्यास के उकार को अत्व, जश्त्व तथा सकार को रुँत्व-विसर्ग करने पर 'बभूवुः' प्रयोग सिद्ध होता है।

मध्यमपुरुष के एकवचन में सिप् को थल आदेश होकर भू+थल्=भू+थ।

अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञासूत्रम्—(४००) लिँट् च।३।४।११५॥

लिँडादेशस्तिङ् आर्धधातुकसञ्ज्ञः॥

अर्थः—लिँट् के स्थान पर आदेश हुआ तिङ् आर्धधातुकसंज्ञक हो।

व्याख्या—लिँट् इति लुप्तषष्ठ्यन्तं पदम्। च इत्यव्ययपदम्। तिङ् ।१।१। ('तिङ्शित्सार्वधातुकम्' से)। आर्धधातुकम् ।१।१। ('आर्धधातुकं शेषः' से)। एव इत्यव्ययपदम् ('लँङः शाकटायनस्यैव' से)। **अर्थः**—(लिँट्=लिँटः) लिँट् के स्थान पर हुआ (तिङ्) तिङ्, (आर्धधातुकम्) आर्धधातुकसञ्ज्ञक (एव) ही हो। 'तिङ्शित्०' (३८६) सूत्र से लिँट् के स्थान पर हुए तिङ् की सार्वधातुकसंज्ञा प्राप्त थी परन्तु इस सूत्र से उसकी आर्धधातुक सञ्ज्ञा ही हुई, सार्वधातुक नहीं।

यहां यह बात ध्यातव्य है कि इस प्रकरण में एकसञ्ज्ञा का अधिकार (आकडारादेका संज्ञा) नहीं है अतः एक की दो सञ्ज्ञाएं भी हो सकती हैं। लिँडादेश

तिङ् की इस सूत्र से आर्धधातुकसंज्ञा तथा 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' से सार्वधातुकसञ्ज्ञा अर्थात् दोनों सञ्ज्ञाएं प्राप्त होती थीं, परन्तु यहां 'एव' की अनुवृत्ति आने से केवल आर्धधातुकसञ्ज्ञा ही हुई है सार्वधातुक नहीं। आर्धधातुकसञ्ज्ञा के कारण ही लिँट् में शप् आदि नहीं होते अन्यथा वे प्राप्त थे। आर्धधातुकसञ्ज्ञा के कारण अग्रिमसूत्र की भी प्रवृत्ति होती है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् - (४०१) आर्धधातुकस्येड् वलादेः ।७।२।३५।।

वलादेरार्धधातुकस्येडागमः स्यात्। बभूविथ, बभूवथुः, बभूव। बभूव, बभूविव, बभूविम ।।

अर्थः—वलादि आर्धधातुक को इट् का आगम हो।

व्याख्या—आर्धधातुकस्य ।६।१। इट् ।१।१। वलादेः ।६।१। अर्थः—(वलादेः) वल् है आदि में जिसके ऐसे (आर्धधातुकस्य) आर्धधातुक का अवयव (इट्) इट् हो जाता है। इट् के टकार की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा तथा 'तस्य लोपः' (३) से लोप होकर 'इ' मात्र अवशिष्ट रहता है। यकार को छोड़कर सब व्यञ्जन वल्-प्रत्याहार के अन्तर्गत आते हैं। इट् का आगम टित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) के अनुसार वलादि आर्धधातुक का आद्यवयव होता है।

'भू+थ' यहां लिँट्स्थानी सिप् 'लिँट् च' (४००) सूत्र से आर्धधातुक था अतः तत्स्थानी थल् भी स्थानिवद्भाव से आर्धधातुक हुआ। इसे प्रकृतसूत्र से इट् का आगम होकर टकार अनुबन्ध का लोप करने से 'भू+इथ' हुआ। अब 'भुवो वुग्०' (३९३) से वुक् का आगम, द्वित्व तथा अभ्यासकार्य होकर 'बभूविथ' प्रयोग सिद्ध होता है।

बभूवथुः—यहां लिँट्स्थानी थस् के स्थान पर अथुस् आदेश हुआ है। सम्पूर्ण प्रक्रिया 'बभूवतुः' की तरह होती है।

बभूव—यहां उत्तमपुरुष के एकवचन में मिप् के स्थान पर णल् आदेश हो जाता है। सम्पूर्ण प्रक्रिया प्रथमपुरुष के एकवचन की तरह होती है।

बभूविव—यहां उत्तमपुरुष के द्विवचन वस् के स्थान पर 'व' आदेश होकर उसे इट् का आगम हो जाता है। अब धातु को वुक् का आगम, द्वित्व तथा अभ्यास-कार्य करने पर 'बभूविव' प्रयोग सिद्ध होता है।

बभूविम—यहां उत्तमपुरुष के बहुवचन मस् के स्थान पर 'म' आदेश होकर इट् का आगम, वुक्, द्वित्व तथा अभ्यासकार्य करने पर 'बभूविम' सिद्ध होता है। लिँट् में रूपमाला यथा—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र० पु०	बभूव (वह हुआ)	बभूवतुः (वे दो हुए)	बभूवुः (वे सब हुए)
म० पु०	बभूविथ (तू हुआ)	बभूवथुः (तुम दो हुए)	बभूव (तुम सब हुए)
उ० पु०	बभूव (मैं हुआ)	बभूविव[1] (हम दो हुए)	बभूविम (हम सब हुए)

अब लुँट् की प्रक्रिया प्रारम्भ करते हुए लुँट् का अर्थनिर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४०२) अनद्यतने लुँट् ।३।३।१५।।

भविष्यत्यनद्यतनेऽर्थे धातोर्लुँट् ।।

अर्थः—अनद्यतन भविष्यत् क्रिया में वर्त्तमान धातु से लुँट् हो।

व्याख्या—अनद्यतने ।७।१। लुँट् ।१।१। भविष्यति ।७।१। ('भविष्यति गम्यादयः' से) धातोः ।५।१। (यह अधिकृत है) । अर्थः—(अनद्यतने) अनद्यतन (भविष्यति) भविष्यत् काल में (धातोः) धातु से (लुँट्) लुँट् हो। काल का अन्वय क्रिया में होता है अतः यहां पर भी पूर्ववत् 'अनद्यतन भविष्यत् में वर्त्तमान जो क्रिया, तद्वाची धातु से लुँट् हो' इस प्रकार अर्थ समझना चाहिये। अद्यतन अनद्यतन शब्दों का विवेचन पीछे कर चुके हैं। अद्यतन भविष्यत् में लुँट् का प्रयोग अशुद्ध होता है। यथा—'सोऽद्य गृहं गन्ता' (वह आज घर जायेगा) यह वाक्य अशुद्ध है। यहां 'सोऽद्य गृहं गमिष्यति' इस प्रकार लृँट् का प्रयोग करना चाहिये[2]।

---

१. अत्र 'असंयोगाल्लिँट् कित्' इति कित्त्वेन 'क्रयुकः किति' इति इण्निषेधो नैव शङ्क्यः। क्रादिनियमादिट् सिद्ध इत्यन्यत्र विस्तरः।

२. भविष्यत्सामान्य में लृँट् का विधान है। यहां अनद्यतन भविष्यत् में उसका अपवाद लुँट् विधान किया गया है। अतः अनद्यतन भविष्यत् में लुँट् का ही प्रयोग करना चाहिये न कि लृँट् का। किञ्च यहां यह भी भूलना नहीं चाहिये कि 'अनद्यतने'

लुँट् में उँट् का लोप होकर 'ल्' मात्र शेष रहता है। इसके स्थान पर पूर्ववत् तिप् आदि आदेश होते हैं—भू+ति। यहां पर तिप् के सार्वधातुक होने से शप् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम अपवादसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४०३) स्य-तासी लृँ-लुँटोः ।३।१।३३।।

धातोः स्यतासी एतौ प्रत्ययौ स्तः, लृँ-लुँटोः परतः। शबाद्यपवादः। 'लृँ' इति लृँङ्-लृँटोर्ग्रहणम् ।।

अर्थः—लृँ परे होने पर धातु से 'स्य', तथा लुँट् परे होने पर धातु से 'तासि' प्रत्यय हो। यह सूत्र शप् आदियों का अपवाद है। 'लृँ' से यहां लृँङ् और लृँट् दोनों का ग्रहण होता है।

व्याख्या—स्यतासी ।१।२। लृँ-लुँटोः ।७।२। प्रत्ययौ ।१।२। ('प्रत्ययः' यह अधिकृत है)। धातोः ।५।१। ('धातोरेकाचो हलादेः०' से)। स्यश्च तासिश्च स्यतासी, इतरेतरद्वन्द्वः। इसी प्रकार 'लृँ-लुँटोः' में भी द्वन्द्व समझना चाहिये। 'लृँ' से लृँङ् और लृँट् दोनों का ग्रहण अभीष्ट है क्योंकि 'लृँ' यह दोनों में एक समान पाया जाता है। अर्थः—(लृँ-लुँटोः) लृँ और लुँट् परे हो तो (धातोः) धातु से परे (स्य-तासी) स्य और तासि (प्रत्ययौ) प्रत्यय हों। यथासङ्ख्यपरिभाषा के अनुसार लृँ परे होने पर स्य तथा लुँट् परे होने पर तासि प्रत्यय होता है [1]। तासि में इकार उच्चारणार्थ है, 'तास्' मात्र प्रत्यय समझना चाहिये [2]। यह सूत्र शप् आदि ('आदि' से श्यन्, यक्

में बहुव्रीहिसमास माना गया है—अविद्यमानोऽद्यतनः कालो यस्मिन्नसावनद्यतनः, तस्मिन्=अनद्यतने। इससे जहां अद्यतन अनद्यतन दोनों का व्यामिश्रण होगा वहां लृँट् ही होगा लुँट् नहीं, यथा—अद्य श्वो वा भविष्यति।

१. यद्यपीह लृँशब्देन लृँङ्लृँटोर्ग्रहणं तथापि यथासंख्यं वाचकशब्दसाम्या-द्बोध्यम्।

२. काशिका के जयादित्यग्रन्थ में तासि के इकार की इत्सञ्ज्ञा की गई है। वहां इसका प्रयोजन 'मन्ता' (आत्मनेपद) में 'अनिदितां हलः०' (३३४) द्वारा प्राप्त नकार के लोप का वारण करना बताया गया है। तथाहि—मन् तास् डा=मन् तास् आ=मन् त् आ इस स्थिति में 'त' स्थानी डा के 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङिद्वत् हो जाने के कारण 'अनिदितां हलः०' से उपधाभूत नकार का लोप प्रसक्त होता है जो अब 'तासि' के इकार के इत् चले जाने से अङ्ग के अनिदित् न होने से नहीं होता।

काशिका के वामनग्रन्थ में इकार उच्चारणार्थक माना गया है। वहां का

आदि) का अपवाद है[१]।

'भू+ति' यहां लुँट् का 'ति' परे है अतः प्रकृतसूत्र द्वारा धातु से परे तास् प्रत्यय होकर 'भू+तास्+ति' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४०४) आर्धधातुकं शेषः ।३।४।११४।।

तिङ्शिद्भ्योऽन्यो धातोरिति विहितः प्रत्यय एतत्संज्ञः स्यात् । इट् ।।

अर्थः—तिङ् और शित् से भिन्न, 'धातोः' इस प्रकार कहकर विधान किया हुआ प्रत्यय आर्धधातुकसंज्ञक हो।

व्याख्या - इस सूत्र से पूर्व अष्टाध्यायी में 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' सूत्र पढ़ा गया है। उसमें तिङ् और शित् प्रत्ययों की सार्वधातुकसंज्ञा की गई है। अब इस सूत्र में शेष अर्थात् तिङ् और शित् से भिन्न प्रत्ययों की आर्धधातुकसंज्ञा की जाती है। आर्धधातुकम् ।१।१। शेषः ।१।१। धातोः ।५।१। इस सूत्र में दो स्थानों से 'धातोः' पद की अनुवृत्ति होती है। एक 'धातोः' पद तो अधिकृत है ही, दूसरा 'धातोरेकाचः०' सूत्र से प्राप्त होता है। दो बार अनुवर्त्तन होने से 'धातोरिति धातोर्विहितः' अर्थात् 'धातोः' इस प्रकार कहकर धातु से विधान किया हुआ—यह अर्थ उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(धातोः, धातोः) 'धातोः' इस प्रकार कहकर धातु से विधान किया हुआ (शेषः) तिङ् और शित् से भिन्न प्रत्यय (आर्धधातुकम्) आर्धधातुकसंज्ञक हो।

अभिप्राय यह है कि 'मन्त्+आ' में 'टेः' (२४२) द्वारा किया गया टिलोप आभीय होने के कारण 'अनिदितां हलः' के प्रति असिद्ध है। अतः नकार का लोप प्रसक्त ही नहीं होता पुनः उसके वारण के लिये तास् को इदित् करने की आवश्यकता ही नहीं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने अष्टाध्यायीभाष्य में लिखा है कि तासि में सकार की रक्षा के लिये इकार की इत्सञ्ज्ञा करनी चाहिये वरना 'हलन्त्यम्' (१) से तास् के सकार की इत्सञ्ज्ञा को कोई रोक न सकेगा। माधवीयधातुवृत्ति में भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये गये हैं—'अत्र केचित् तासेरिकारमुच्चारणार्थमाहुः। परमते तु अनुनासिकं सलोपप्रतिषेधार्थम्'। इस विषय पर पदमञ्जरी तथा न्यास भी द्रष्टव्य है।

१. 'स्य' आदि की अपेक्षा लकार के स्थान पर होने वाले तिप् आदि आदेश पर हैं, तथा 'विकरणेभ्यो नियमो बलीयान्' इस न्याय के अनुसार तिप् आदियों की उत्पत्ति पहले हो जाती है। अतः यदि 'स्य' आदि विधान नहीं करेंगे तो शप् आदि हो जायेंगे, बस यही इस सूत्र की शप् आदियों के प्रति अपवादता है।

'धातोः' से विहित न होने पर आर्धधातुकसंज्ञा नहीं होती, यथा—लूभ्याम्, लूभिः । यहां 'क्विबन्ता विडन्ता विजन्ताः शब्दा धातुत्वं न जहति' के अनुसार भ्याम् भिस् आदि प्रत्यय धातु से तो किये गये हैं पर 'धातोः' कहकर विधान नहीं किये गये अपितु 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' पढ़ कर विधान किये गये हैं अतः इनकी आर्धधातुकसंज्ञा और तन्निमित्तक इट् का आगम नहीं होता । इसी प्रकार 'जुगुप्सते' में 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' (३.१.५) द्वारा विधान किया गया सन् प्रत्यय गुप् धातु से परे तो किया गया है परन्तु 'धातोः' कहकर विधान नहीं किया गया अतः इसकी आर्धधातुकसंज्ञा नहीं होती । एवं 'वृक्षत्वम्' यहां 'वृक्षशब्द से विधान किया गया 'त्व' प्रत्यय आर्धधातुकसंज्ञक नहीं होता । यदि इसकी आर्धधातुकसंज्ञा हो जाती तो इट् प्रसक्त होता जो स्पष्टतः अनिष्ट था ।

'भू+तास्+ति' यहां तास् प्रत्यय 'धातोः' कह कर धातु से विधान किया गया है (४०३ सूत्र की व्याख्या देखें) और यह तिङ् वा शित् से भिन्न भी है अतः प्रकृतसूत्र से इसकी आर्धधातुकसञ्ज्ञा हो गई । आर्धधातुकसंज्ञा हो जाने से 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (४०१) से इट् का आगम, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (३८८) से गुण[1] और 'एचोऽयवायावः' (२२) से ओकार को अव् आदेश करने पर 'भवितास्+ति' हुआ । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(४०५) लुँटः प्रथमस्य डा-रौ-रसः ।२।४।८५।।

डा, रौ, रस्—एते क्रमात् स्युः । डित्त्वसामर्थ्याद् अभस्यापि टेर्लोपः—भविता ।।

अर्थः—लुँट् के प्रथमपुरुष के स्थान पर क्रमशः डा, रौ, रस् आदेश हों ।

व्याख्या—लुँटः ।६।१। प्रथमस्य ।६।१। डा-रौ-रसः ।१।३। अर्थः—(लुँटः) लुँट् के (प्रथमस्य) प्रथमपुरुष के स्थान पर (डा-रौ-रसः) डा, रौ, रस् आदेश हों। प्रथमपुरुष में तीन प्रत्यय होते हैं और इधर आदेश भी तीन हैं, अतः यथासङ्ख्यपरिभाषा से एकवचन के स्थान पर डा, द्विवचन के स्थान पर रौ तथा बहुवचन के स्थान पर रस् आदेश होता है[2] ।

---

१. तास् को आर्धधातुक मानकर 'भू' को जो 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण हुआ है, उसमें इट् का व्यवधान न समझना चाहिये । 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' इस परिभाषा से इट् का आगम भी आर्धधातुक होने से कोई विजातीय व्यवधान नहीं ।

२. परस्मैपद के तिप्, तस्, झि और आत्मनेपद के त, आताम्, झ—कुल

'भवितास्+ति' यहां प्रकृतसूत्र से तिप् को 'डा' आदेश होकर 'भवितास्+डा' हुआ। 'डा' के डकार की 'चुटू' (१२९) से इत्सञ्ज्ञा होकर 'आ' मात्र शेष रहता है—भवितास्+आ। 'डा' तिप् के स्थान पर हुआ है अतः स्थानिवद्भाव से इस की भी प्रत्ययसञ्ज्ञा है, परन्तु यह स्वादियों के अन्तर्गत नहीं आता इसलिये इस के परे होने पर पूर्व की भसञ्ज्ञा नहीं होती। भसञ्ज्ञा न होने से डित् के परे होने पर भी 'टेः' (२४२) सूत्र द्वारा टि (आस्) का लोप प्राप्त नहीं हो सकता। इस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि—

"डित्वसामर्थ्याद् अभस्यापि टेर्लोपः"

अर्थात् 'डा' को डित् करने के सामर्थ्यसे भसञ्ज्ञा न होने पर भी टि का लोप हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यदि टिलोप नहीं करते तो 'डा' को डित् करना निष्प्रयोजन हो जाता है। परन्तु आचार्य पाणिनि की कोई भी प्रवृत्ति निष्प्रयोजन नहीं होती, अतः इस डित्करणसामर्थ्य से टि का लोप हो जायेगा[1]। टि का लोप होकर भवित्+आ='भविता' प्रयोग सिद्ध हुआ[2]।

लुँट् के प्रथमपुरुष के द्विवचन में तस् करने पर 'स्यतासी लृ॑-लुँटोः' से तास्-प्रत्यय, 'आर्धधातुकं शेषः' से उसकी आर्धधातुकसञ्ज्ञा, 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से इट् का आगम, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण तथा 'एचोऽयवायावः' से ओकार को अवादेश होकर 'भवितास्+तस्' बना। अब प्रकृतसूत्र से तस् के स्थान पर 'रौ'

मिलाकर छः स्थानी हैं तथा आदेश डा, रौ, रस् ये तीन हैं, कैसे यथासङ्ख्य होगा? इसका समाधान यह है कि—डा च रौ च रस् च डारौरसः, इतरेतरद्वन्द्वः। डारौरसश्च डारौरसश्च—डारौरसः, एकशेषः। इस प्रकार एकशेष मानने से आदेश भी छः हो जाते हैं, अतः यथासङ्ख्य में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। न्यास, पदमञ्जरी और शेखर आदियों में 'प्रान्तरतम्यात्' द्वारा भी समाधान प्रस्तुत किया गया है, विशेषजिज्ञासु वहीं देखें।

१. यहां यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि डकार अनुबन्ध तो सर्वादेश करने के लिये किया गया है अतः उसके सामर्थ्य से टिलोप न होगा। सर्वादेश के लिये तो कोई अन्य अनुबन्ध भी लगाया जा सकता था। अथवा 'डा-आ' इस प्रकार के प्रश्लेष से भी सर्वादेश तो सिद्ध था ही, पुनः डकार अनुबन्ध किस लिये किया गया है? अतः तत्करणसामर्थ्य से टि का लोप हो जायेगा।

२. 'भवित्+आ' इस स्थिति में 'पुगन्तलघूपधस्य च' (४५१) सूत्र द्वारा लघूपधगुण प्राप्त होता है, उसका 'दीधीवेवीटाम्' (१.१.६) सूत्र से निषेध हो जाता है—यह सब सिद्धान्तकौमुदी में देखें। यहां बालकों के लिये अनुपयोगी समझकर ग्रन्थकार ने छोड़ दिया है।

सर्वादेश होकर 'भवितास्+रौ' हुआ । तास् के सकार का लोप करने के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४०६) तासस्त्योर्लोपः ।७।४।५०।।

तासेरस्तेश्च सस्य लोपः स्यात् सादौ प्रत्यये परे ।।

अर्थः—सकारादि प्रत्यय परे होने पर तास् और अस् के सकार का लोप हो ।

व्याख्या—तासस्त्योः ।६।२। लोपः ।१।१। सि ।७।१। ('सः स्यार्धधातुके' से) 'अङ्गस्य' का अधिकार होने से 'प्रत्यये' का आक्षेप कर लिया जाता है । 'सि' पद 'प्रत्यये' का विशेषण है । विशेषण से तदादिविधि होकर 'सादौ प्रत्यये' बन जाता है । तास् च अस्तिश्च तासस्ती, तयोः=तासस्त्योः, इतरेतरद्वन्द्वः । 'अस्ति' में श्तिप् द्वारा अस् धातु का निर्देश किया गया है । अर्थः—(सि=सादौ) सकारादि (प्रत्यये) प्रत्यय परे होने पर (तासस्त्योः) तास् और अस् का (लोपः) लोप हो जाता है । अलोऽन्त्य-परिभाषा से यह लोप अन्त्य अल्—सकार का ही होता है । तास् का उदाहरण—भवितास्+सि=भवितासि । अस् का उदाहरण—अस्+सि=असि (तू है) । अग्रिमसूत्र में अनुवृत्तिप्रदर्शनार्थ इस सूत्र को प्रक्रिया के क्रम से पूर्व रखा गया है ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४०७) रि च ।७।४।५१।।

रादौ प्रत्यये तथा । भवितारौ । भवितारः । भवितासि । भवितास्थः । भवितास्थ । भवितास्मि । भवितास्वः । भवितास्मः ।।

अर्थः—रेफादि प्रत्यय परे होने पर भी तास् और अस् के सकार का लोप हो ।

व्याख्या—रि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । तासस्त्योः ।६।२। लोपः ।१।१। ('तासस्त्योर्लोपः' सूत्र से) । यहां भी पूर्ववत् 'रि' से तदादिविधि होकर 'रादौ प्रत्यये' बन जाता है । अर्थः—(रि=रादौ) रेफ जिसके आदि में है ऐसे (प्रत्यये) प्रत्यय के परे होने पर (च) भी (तासस्त्योः) तास् और अस् का (लोपः) लोप हो जाता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा से तास् और अस् के अन्त्य अल्—सकार का ही लोप होता है[1] ।

'भवितास्+रौ' यहां 'रौ' यह रेफादि प्रत्यय परे विद्यमान है अतः तास् के सकार का लोप होकर 'भवितारौ' रूप सिद्ध होता है ।

लुँट् के प्रथमपुरुष के बहुवचन में—भू+झि । तास् प्रत्यय, आर्धधातुकसञ्ज्ञा,

१. काशिका में अस् का उदाहरण 'व्यतिरे' दिया गया है । परन्तु पदमञ्जरी तथा न्यास में इसका खण्डन किया गया है । इस प्रकार रेफादि प्रत्यय परे होने पर अस् का उदाहरण नहीं है—ऐसा समझना ही युक्त है । विस्तार के लिये तत्तद्ग्रन्थ देखें ।

इट् का आगम, गुण और अवादेश करने पर 'भवितास्+झि' इस स्थिति में 'लुटः प्रथमस्य०' (४०५) से झि को रस् सर्वादेश तथा 'रि च' (४०७) से तास् के सकार का लोप होकर—भवितारस्='भवितारः' प्रयोग सिद्ध होता है।

लुट् के मध्यमपुरुष के एकवचन में पूर्ववत् सब कार्य होकर 'भवितास्+सि' इस स्थिति में 'तासस्त्योर्लोपः' (४०६) से तास् के सकार का लोप होकर 'भवितासि' प्रयोग सिद्ध होता है।

लुट् मध्यमपुरुष के द्विवचन में भवितास्+थस्=भवितास्थः। यहां न तो सकारादि प्रत्यय है और न ही रेफादि, अतः तास् के सकार का लोप नहीं होता। इसी प्रकार बहुवचन में भवितास्+थ=भवितास्थ।

लुट् के उत्तमपुरुष में भी सकार का लोप नहीं होता। रूपमाला यथा—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र० पु०	भविता[1] (वह होगा)	भवितारौ (वे दो होंगे)	भवितारः (वे सब होंगे)
म० पु०	भवितासि (तू होगा)	भवितास्थः (तुम दो होंगे)	भवितास्थ (तुम सब होंगे)
उ० पु०	भवितास्मि (मैं होऊँगा)	भवितास्वः (हम दो होंगे)	भवितास्मः (हम सब होंगे)

अब लृट् लकार की प्रक्रिया आरम्भ करते हुए सर्वप्रथम लृट्विधायक सूत्र का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४०८) लृट् शेषे च ।३।३।१३।।

भविष्यदर्थाद् धातोर् लृट् स्यात् क्रियार्थायां क्रियायां सत्यामसत्याञ्च। स्यः, इट्। भविष्यति, भविष्यतः, भविष्यन्ति। भविष्यसि, भविष्यथः, भविष्यथ। भविष्यामि, भविष्यावः, भविष्यामः।।

अर्थः—क्रियार्था क्रिया चाहे विद्यमान हो या न हो, भविष्यत्काल में स्थित क्रिया वाली धातु से लृट् हो।

---

१. प्रिये ! स कीदृग्भविता तव क्षणः—नैषध १.१३७

व्याख्या—लृट् ।१।१। शेषे ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । भविष्यति ।७।१। ('भविष्यति गम्यादयः' से) धातोः ।५।१। (यह अधिकृत है)। अष्टाध्यायी में इस सूत्र से कुछ पूर्व 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' (८४६) सूत्र पढ़ा गया है। उस में 'क्रियार्थायां क्रियायाम्' की शर्त है। उससे भिन्न 'शेष' अभिप्रेत है। अर्थः—(शेषे च) क्रियार्था क्रिया चाहे विद्यमान हो या न हो (भविष्यति) भविष्यत्काल में (धातोः) धातु से परे (लृट्) लृट् प्रत्यय हो।

जो क्रिया किसी दूसरी क्रिया के निष्पादनार्थ की जाती है उसे क्रियार्था क्रिया कहते हैं। क्रिया अर्थः—प्रयोजनं यस्याः सा क्रियार्था क्रिया। यथा—**करिष्यामीति व्रजति** (मैं करूंगा—इसलिये वह जाता है) यहां करने के लिये व्रजनक्रिया की जा रही है अतः व्रजनक्रिया क्रियार्था क्रिया है। **पठिष्यामीति गच्छति** (मैं पढ़ूंगा—इस लिये वह जाता है) यहां पढ़ने के लिये गमनक्रिया की जा रही है अतः गमनक्रिया क्रियार्था क्रिया है। यहां क्रियार्था क्रियाओं के विद्यमान रहते 'करिष्यामि' और 'पठिष्यामि' में भविष्यत्काल में लृट् किया गया है[1]। परन्तु इस प्रकार की क्रियार्था क्रियाएं यदि साथ में न भी पढ़ी गई हों तो भी भविष्यत्काल में लृट् का प्रयोग हो सकता है। यथा—करिष्यामि, पठिष्यामि इत्यादि अकेले का भी प्रयोग होता है।

यहां यह नहीं भूलना चाहिये कि यह लृट् किसी प्रकार की उपाधि से युक्त नहीं है। अद्यतन, अनद्यतन, परोक्ष, प्रत्यक्ष आदि का कोई भी बन्धन इसके साथ नहीं लगा है अतः यह सामान्य भविष्यत् में प्रवृत्त होता है। हां! उत्सर्ग होने के कारण इसे लुट् का विषय छोड़ कर प्रवृत्त होना पड़ेगा। अनद्यतन भविष्यत् में लुट् का ही प्रयोग होगा, यथा—**श्वो भविता**।

प्रश्न—जब आप क्रियार्था क्रिया के उपपद होने या न होने दोनों प्रकार की अवस्थाओं में लृट् का विधान करते हैं तो सूत्र में 'शेषे च' अंश छोड़ क्यों नहीं देते? केवल 'लृट्' सूत्र ही क्यों नहीं बना देते? इससे 'भविष्यत्काल में लृट् हो' ऐसा सरल अर्थ होकर सब जगह लृट् हो जाने से कोई दोष नहीं आयेगा।

उत्तर—यदि ऐसा करते तो क्रियार्था क्रिया के उपपद होने पर '**तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्**' (८४६) सूत्र लृट् का बाध कर लेता तब लृट् केवल उसी अवस्था में होता जब क्रियार्था क्रिया न होती। हमें क्रियार्था क्रिया के होने की दशा में ण्वुल् और तुमुन् के साथ लृट् वाला रूप भी अभीष्ट है अतः सूत्र में 'शेषे च' यह अंश जोड़ा गया है[2]। उदाहरण यथा—(तुमुन्) पठितुं व्रजति [भविष्यत्कालिक

---

१. क्रियार्था क्रिया के उपपद रहते यदि लृट् करना हो तो 'इति' का प्रयोग अवश्य करना चाहिये, यथा—**पठिष्यामीति गच्छति**।

२. ध्यान रहे कि तब वाऽसरूपविधि से भी लृट् न हो सकता क्योंकि क्त, ल्युट्,

पठन के लिये जाता है], (ण्वुल्) पाठको व्रजति [भविष्य में पढ़ने वाला जाता है], (लृट्) पठिष्यामीति व्रजति [मैं पढ़ूंगा इसलिये जाता है]। तीनों का तात्पर्य एक जैसा है[1]।

भू धातु से भविष्यत्काल में लृट्, अनुबन्धलोप, प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में लकार के स्थान पर तिप्, शप् का बाध कर 'स्यतासी लृलुटोः' (४०३) से धातु से परे स्य प्रत्यय, 'आर्धधातुकं शेषः' (४०४) से उसकी आर्धधातुकसञ्ज्ञा, 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (४०१) से इट् का आगम, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (३८८) से भू के ऊकार को ओकार गुण, 'एचोऽयवायावः' (२२) से ओकार को अवादेश, तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से 'स्य' के सकार को षत्व करने पर 'भविष्यति' प्रयोग सिद्ध होता है। इसीप्रकार द्विवचन में—भविष्यतस्=भविष्यतः। बहुवचन में 'भविष्य+झि' इस स्थिति में 'झोऽन्तः' (३८९) से प्रत्यय के आदि झकार को अन्त् आदेश होकर 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने पर—भविष्यन्ति।

मध्यमपुरुष के एकवचन में लकार के स्थान पर सिप् होकर पूर्ववत् स्य आदि करने से—भविष्यसि। द्विवचन में थस् करने पर—भविष्यथस्=भविष्यथः। बहुवचन में थ करने पर—भविष्यथ।

उत्तमपुरुष के एकवचन में मिप् तथा पूर्ववत् स्य आदि करने पर 'भविष्य+मि' इस स्थिति में 'अतो दीर्घो यञि' (३९०) से अदन्त अङ्ग 'भविष्य' को दीर्घ करने से 'भविष्यामि' रूप सिद्ध होता है। इसीप्रकार द्विवचन और बहुवचन में दीर्घ कर लेना चाहिये—भविष्यावः, भविष्यामः। लृट् में रूपमाला यथा—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र० पु०	भविष्यति (वह होगा)	भविष्यतः (वे दो होंगे)	भविष्यन्ति (वे सब होंगे)
म० पु०	भविष्यसि (तूं होगा)	भविष्यथः (तुम दो होंगे)	भविष्यथ (तुम सब होंगे)
उ० पु०	भविष्यामि (मैं होऊँगा)	भविष्यावः (हम दो होंगे)	भविष्यामः (हम सब होंगे)

तुमुन् और खलर्थप्रत्ययों में वाऽसरूपविधि का निषेध कहा गया है (क्त-ल्युट्-तुमुन्-खलर्थेषु वासरूपविधिर्नास्ति)।

१. परन्तु तुमुन् भाव में, ण्वुल् कर्त्ता में, तथा लृट् कर्त्ता कर्म और भाव तीनों में हो सकता है।

क्रियार्था क्रिया उपपद रहने के उदाहरण—भविष्यतीति व्रजति (वह होगा-इसलिये जाता है) आदि स्वयं जान लेने चाहियें।

अब लोट् की प्रक्रिया का प्रारम्भ करते हुए प्रथम लोट्विधायकसूत्र द्वारा लोट् के अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४०९) लोट् च ।३।३।१६२॥

विध्यादिष्वर्थेषु धातोर्लोट् स्यात् ॥

अर्थः—विधि आदि अर्थों में धातु से परे लोट् प्रत्यय हो।

व्याख्या—लोट् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। विधि-निमन्त्रणाऽऽमन्त्रणाऽधीष्ट-सम्प्रश्न-प्रार्थनेषु ।७।३। ('विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्ट०' सूत्र से) धातोः ।५।१। (यह अधिकृत है) अर्थः—(विधि-निमन्त्रणाऽऽमन्त्रणाऽधीष्ट-सम्प्रश्न-प्रार्थनेषु) विधि, निमन्त्रण आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न और प्रार्थन अर्थों में (धातोः) धातु से परे (लोट्) लोट् (च) भी होता है। अष्टाध्यायी में इस सूत्र से पूर्व विधि आदि छः अर्थों में लिङ् का विधान किया गया है। यहां पुनः इन अर्थों में लोट् का विधान कर रहे है। इस प्रकार इन अर्थों में लिङ् वा लोट् दोनों लकार होते हैं। विधि आदि अर्थों का विस्तृत विवेचन आगे (४२५) सूत्र पर देखें। अब अग्रिमसूत्र से आशीर्वाद अर्थ में भी लोट् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४१०) आशिषि लिङ्-लोटौ ।३।३।१७३॥

अर्थः—आशीर्वाद अर्थ में धातु से परे लिङ् और लोट् प्रत्यय हों।

व्याख्या—आशिषि ।७।१। लिङ्-लोटौ ।१।२। धातोः, प्रत्ययः, परश्च—ये तीनों अधिकृत हैं। अर्थः—(आशिषि) आशीर्वाद में (धातोः) धातु से परे (लिङ्-लोटौ) लिङ् और लोट् प्रत्यय हों। वक्ता का किसी दूसरे के लिये अप्राप्त इष्ट वस्तु की कामना करना आशीर्वाद कहाता है। जैसे किसी को कहें—चिरं जीव, पुत्रस्ते भवतात् आदि। आशीर्वाद में लिङ् की प्रक्रिया आगे आयेगी, यहां पर लोट् की प्रक्रिया दर्शाई जाती है—

भू धातु से लोट्, अनुबन्धलोप, प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में लकार के स्थान पर तिप् आदेश, शप्, गुण और अवादेश करने पर लट् की तरह 'भवति' बना। अब इसके इकार को उकार करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४११) एरुः ।३।४।८६॥

लोट इकारस्य उः। भवतु ॥

अर्थः—लोँट् के इकार के स्थान पर उकार आदेश हो ।

व्याख्या—एः ।६।१। उः ।१।१। लोँटः ।६।१। ('लोँटो लँङ्वत्' से) । अर्थः—(लोँटः) लोँट् के (एः) इकार के स्थान पर (उः) उकार आदेश हो ।

'भवति' यहां लोँट् के तकारोत्तर इकार को प्रकृतसूत्र से उकार आदेश होकर 'भवतु' रूप सिद्ध होता है । आशीर्वाद में 'भवतु' बनने के पश्चात् निम्नसूत्र अधिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४१२) तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम् ।७।१।३५।।

आशिषि तुह्योस्तातङ् वा । परत्वात्सर्वादेशः । भवतात् ।।

अर्थः—आशीर्वाद में तु और हि के स्थान पर विकल्प से तातङ् आदेश हो ।

व्याख्या—तुह्योः ।६।२। तातङ् ।१।१। आशिषि ।७।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। तुश्च हिश्च तुही, तयोः=तुह्योः, इतरेतरद्वन्द्वः । सूत्र में 'तातङ्+आशिषि' में '**ङमो ह्रस्वादचि०**' (८६) सूत्रद्वारा ङमुट् का आगम समझना चाहिये । अर्थः—(आशिषि) आशीर्वाद अर्थ में (तुह्योः) तु और हि के स्थान पर (तातङ्) तातङ् आदेश हो (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में । दूसरी अवस्था में न होने से विकल्प सिद्ध हो जाता है । 'तातङ्' में ङकार की '**हलन्त्यम्**' (१) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है । अकार की भी इत्सञ्ज्ञा हो जायेगी या उसे उच्चारणार्थक मान लेंगे । 'तात्' ही अवशिष्ट रहेगा ।

परत्वात्सर्वादेशः—यह तातङ् आदेश ङित् है । '**ङिच्च**' (४६) सूत्र द्वारा ङित् आदेश अन्त्य अल् के स्थान पर हुआ करते हैं अतः यहां भी इसे तु और हि के अन्त्य अल् उकार और इकार के स्थान पर होना चाहिये । परन्तु अनेकाल् (अनेक अलों अर्थात् वर्णों वाला) होने से यह '**अनेकाल्शित्सर्वस्य**' (४५) सूत्र द्वारा सम्पूर्ण 'तु' और सम्पूर्ण 'हि' के स्थान पर होगा । क्योंकि दोनों सूत्रों के मुकाबले में '**अनेकाल्शित्सर्वस्य**' (१.१.५४) सूत्र '**ङिच्च**' (१.१.५२) सूत्र की अपेक्षा अष्टाध्यायी में पर है । मुकाबले में पूर्वसूत्र से परसूत्र बलवान् होता है, जैसा कि कहा है—'**विप्रतिषेधे परं कार्यम्**' (११३) अर्थात् तुल्यबल वालों का विरोध होने पर परला कार्य करना चाहिये ।

शङ्का—आप पीछे '**ङिच्च**' (४६) सूत्र पर कह आये हैं कि '**ङिद् अनेकाल् अपि अन्त्यस्य एव स्यात्**' अर्थात् ङित् आदेश चाहे अनेकाल् भी क्यों न हो वह अन्त्य अल् के स्थान पर होता है । परन्तु यहां आप तातङ् आदेश को अन्त्य अल् के स्थान पर न करके सम्पूर्ण 'तु' और सम्पूर्ण 'हि' के स्थान पर करने को कह रहे हैं और साथ

ही यह तर्क भी देते हैं कि 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' (१.१.५४) सूत्र परत्व के कारण 'ङिच्च' (१.१.५२) सूत्र का बाध कर लेगा। श्रीमन् ! 'ङिच्च' सूत्र तो 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' सूत्र का अपवाद है, यदि परत्व के कारण सर्वादेश होने लगे तो 'ङिच्च' सूत्र को कहीं प्रवृत्त होने के लिये स्थान ही न मिले और वह निरवकाश हो जाये। निरवकाश और सावकाश विधियों में पूर्व-पर नहीं देखा जा सकता क्योंकि 'विप्रतिषेधे पर कार्यम्' सूत्र की वृत्ति में 'तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्यात्' ऐसा स्पष्ट लिखा है। जब एक कार्य को स्थान ही नहीं मिलेगा तो तुल्यबलविरोध कैसा ? ऐसे स्थलों पर तो 'पूर्व-पर-नित्यान्तरङ्गाऽपवादानाम् उत्तरोत्तरं बलीयः' इस परिभाषा के अनुसार अपवादविधि ही अधिक बलवान् होती है। अतः 'ङिच्च' सूत्र अष्टाध्यायी में चाहे पूर्व है परन्तु अपवाद होने से सर्वादेश की अपेक्षा बलवान् है। इसलिये तातङ् आदेश 'तु' और 'हि' के अन्त्य अल् उकार और इकार के स्थान पर ही होना चाहिये।

समाधान—ङित् आदेश दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जिनमें ङकार के इत् करने का केवल अन्त्यादेश के सिवाय दूसरा कुछ प्रयोजन नहीं होता, यथा—'अनङ् सौ' (१७५) में अनङ् आदेश। दूसरे ङित् आदेश वे होते हैं जिनमें ङकार के इत् करने का प्रयोजन गुणवृद्धिनिषेध आदि करना होता है, यथा— तातङ् आदेश। 'युतात्' में तातङ् के ङित् होने से 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (५६६) से वृद्धि नहीं होती क्योंकि 'क्ङिति च' (४३३) सूत्र निषेध कर देता है। 'द्विष्टात्' में लघूपधगुण नहीं होता। 'उष्टात्' (वश कान्तौ) में 'ग्रहिज्या०' (६३४) से सम्प्रसारण हो जाता है। तो जहां ङित् करने का दूसरा कोई प्रयोजन नहीं होता वहां 'ङिच्च' सूत्र लग जाता है उसे कोई रोक नहीं सकता। इस प्रकार वह सावकाश हो जाता है। परन्तु जहां ङित् करने का दूसरा कोई प्रयोजन रहता है वहां उसकी गति शिथिल हो जाती है उसका बल नहीं रहता। तब वहां कहा जा सकता है कि ङित् तो किसी दूसरे कार्य के लिये किया गया है अन्त्यादेश के लिये नहीं। इतने पर भी यदि उसकी प्रवृत्ति का आग्रह है तो 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' परिभाषा उपस्थित होकर व्यवस्था देती है कि दोनों सूत्र सावकाश हैं ('ङिच्च' सूत्र अनङ् आदियों में तथा 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' सूत्र 'अतो भिस ऐस्' आदियों में) अतः परत्व के कारण 'अनेकाल्०' सूत्र ही प्रवृत्त हो 'ङिच्च' नहीं। इस प्रकार तातङ् आदेश सम्पूर्ण 'तु' और सम्पूर्ण 'हि' के स्थान पर होता है।

'भवतु' यहां प्रकृतसूत्र से सम्पूर्ण 'तु' के स्थान पर तातङ् आदेश होकर अनुबन्धलोप करने से 'भवतात्' प्रयोग सिद्ध होता है। पक्ष में 'भवतु' भी रहेगा। अतः आशीर्वाद में 'भवतात्-भवतु' दोनों रूपों का प्रयोग हो सकेगा।

अब लोट् के तस् आदियों के स्थान पर ताम् आदि आदेश विधान करने के लिये सर्वप्रथम लोट् को लङ्वत् अतिदेश करते हैं—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(४१३) लोँटो लँङ्वत् ।३।४।८५।।

लोँटस्तामादयः सलोपश्च ।।

अर्थः—जैसे लँङ् के स्थान पर कार्य होते हैं वैसे लोँट् के स्थान पर भी हों। इस से लोँट् के स्थान पर ताम् आदि आदेश तथा उसके (उत्तमपुरुष के) सकार का लोप हो जायेगा।

व्याख्या—लोँटः ।६।१। लँङ्वत् इत्यव्ययपदम्। लँङ इव लँङ्वत्[1], लँङ इति स्थानषष्ठचन्तात् 'तत्र तस्येव' (११४६) इति वतिप्रत्ययः। अर्थः—(लँङ्वत्) लँङ् के स्थान पर होने वाले कार्यों की तरह (लोँटः) लोँट् के स्थान पर भी कार्य होते हैं[2]। लँङ् के स्थान पर 'तस्थस्थमिपाम्०' (४१४) सूत्र से ताम् आदि आदेश होते हैं वे लोँट् में भी होंगे। लङ् के उत्तमपुरुष में 'नित्यं ङितः' (४२१) से सकार का लोप होता है वह लोँट् में भी हो जायेगा[3]। ध्यान रहे कि ऊपर वृत्ति में सूत्र का फलितार्थ दिया गया है अक्षरार्थ नहीं।

अब लँङ्वत् का प्रयोजन बतलाने के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४१४) तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः ।३।४।१०१।।

ङितश्चतुर्णां तामादयः क्रमात् स्युः। भवताम्। भवन्तु ।।

अर्थः—ङितों के स्थान पर होने वाले तस्, थस्, थ, मिप् इन चार प्रत्ययों के स्थान पर ताम्, तम्, त, अम् ये चार क्रमशः आदेश हों।

व्याख्या—ङितः ।६।१। ('नित्यं ङितः' से)। लस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। तस्-थस्-थ-मिपाम् ।६।३। तान्तन्तामः । १।३। ताम् च तम् च तश्च अम् च—तान्तन्तामः, इतरेतरद्वन्द्वः। समास में ताम् और तम् के मकार को अनुस्वार तथा अनुस्वार को परसवर्ण हो गया है। अर्थः—(ङितः) ङित् (लः) लकार के (तस्-

---

१. लोँट इत्युपमेयस्य षष्ठचन्तत्वाद् उपमाने लँङ्यपि षष्ठ्या भवितव्यम्। तेन 'लँङीव लँङ्वत्' इति विग्रहो नैव कार्यः।

२. 'लुँङ्लँङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः, आडजादीनाम्' सूत्रों से अट् और आट् के आगम लँङ् के स्थान पर नहीं होते अपितु लँङ् परे होने पर अङ्ग को होते हैं अतः वे यहां लोँट् में न होंगे।

३. 'इतश्च' (४२४) सूत्र द्वारा होने वाला इकार का लोप भी यद्यपि लँङ् के स्थान पर होता है तथापि लोँट् में 'एरुः' (४११) से उत्वविधान के कारण वह यहां प्रवृत्त नहीं होता।

थस्-थ-मिपाम्) तस्, थस्, थ और मिप् के स्थान पर (तान्तन्तामः) ताम्, तम्, त और अम् आदेश हो जाते हैं। यथासङ्ख्यपरिभाषा (२३) से ये आदेश क्रमशः होते हैं अर्थात् तस् को ताम्, थस् को तम्, थ को त तथा मिप् को अम् आदेश होता है।

भवताम्—भू धातु से विध्यादि अर्थों में या आशीर्वाद में लोँट्, प्रथमपुरुष के द्विवचन की विवक्षा में उसे तस् आदेश, 'लोँटो लँङ्वत्' (४१३) से लँङ्वत् अतिदेश के कारण 'तस्थस्थमिपाम्० सूत्र द्वारा तस् को ताम् आदेश, स्थानिवद्भाव से उसकी सार्वधातुकसञ्ज्ञा, शप्, गुण तथा अवादेश करने पर 'भवताम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

भवन्तु—भू धातु से लोँट्, प्रथमपुरुष के बहुवचन की विवक्षा में झि आदेश, सार्वधातुकत्वात् शप्, गुण, अवादेश, 'झोऽन्तः' (३८९) से अन्त् आदेश तथा 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप होकर 'भवन्ति' बना। अब 'एरुः' (४११) सूत्र से इकार को उकार करने पर 'भवन्तु' प्रयोग सिद्ध होता है।

अब सिप् के स्थान पर हि आदेश करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है।

[लघु०] विधिसूत्रम्— (४१५) सेर्ह्यपिच्च ।३।४।८७॥

लोँटः सेर्हिः सोऽपिच्च ॥

अर्थः—लोँट् के 'सि' को 'हि' आदेश हो और वह अपित् हो।

व्याख्या—लोँटः ।६।१। ('लोँटो लँङ्वत्' से)। सेः ।६।१। हि ।१।१। अपित् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। न पित्—अपित्, नञ्तत्पुरुषः। अर्थः— (लोँटः) लोँट् के (सेः) सि के स्थान पर (हि) हि आदेश हो (च) और वह (अपित्) अपित् हो। 'हि' आदेश अनेकाल् होने से सम्पूर्ण 'सि' के स्थान पर होता है।

सिप् प्रत्यय पित् है अतः उसके स्थान पर होने वाला 'हि' आदेश भी स्थानिवद्भाव से पित् होना चाहिये। परन्तु यहाँ उसे अपित् अतिदेश किया जा रहा है। इसका प्रयोजन 'इहि, स्तुहि' आदि में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) के द्वारा ङिद्वत् हो जाने से 'क्ङिति च' (४३३) से गुणनिषेध करना है। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रयोजन हैं जो आगे हमारी व्याख्या में पदे पदे स्पष्ट होंगे।

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (४१६) अतो हेः ।६।४।१०५॥

अतः परस्य हेर्लुक्। भव, भवतात्। भवतम्। भवत॥

अर्थः—अदन्त अङ्ग से परे 'हि' का लुक् हो।

व्याख्या—अतः ।५।१। हेः ।६।१। लुक् ।१।१। ('चिणो लुक्' से)। 'अङ्गस्य' इस अधिकृत का विभक्तिविपरिणाम से 'अङ्गात्' बन जाता है। 'अतः' यह 'अङ्गात्'

का विशेषण है। विशेषण से तदन्तविधि होकर 'अदन्ताद् अङ्गात्' निष्पन्न हो जाता है। अर्थः—(अतः=अदन्तात्) अदन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (हेः) हि का (लुक्) लुक् हो जाता है। 'प्रत्ययस्य लुक्०' (१८६) सूत्र में प्रत्यय के अदर्शन की लुक् सञ्ज्ञा की गई है अतः यहां समग्र 'हि' प्रत्यय का लुक् होता है अलोऽन्त्यपरिभाषा प्रवृत्त नहीं होती।

'अदन्त' इसलिये कहा है कि 'इहि' आदि में 'हि' का लुक् न हो जाये। तपरकरण का प्रयोजन यह है कि 'याहि, पाहि, आख्याहि' आदि में आकार से परे 'हि' का लुक् न हो जाये।

भव—भू धातु से लोट्, मध्यमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में सिप्, 'सेर्ह्यपिच्च' (४१५) से सि को हि आदेश, स्थानिवद्भाव से उसकी सार्वधातुक-सञ्ज्ञा, शप्, गुण तथा अवादेश होकर 'भव+हि' हुआ। अब अदन्त अङ्ग से परे 'अतो हेः' (४१६) द्वारा हि का लुक् करने पर 'भव' प्रयोग सिद्ध होता है[1]।

आशीर्लोट् में 'भव+हि' इस स्थिति में परत्व[2] के कारण तातङ् आदेश लुक् का बाध कर लेता है—भवतात्। तातङ् के अभाव में लुक् भी हो जायेगा—भव।

भवतम्—भू धातु से लोट् मध्यमपुरुष के द्विवचन की विवक्षा में थस्, लँङ्वद्भाव के कारण 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' (४१४) से थस् को तम् आदेश, शप्, गुण और अवादेश करने पर 'भवतम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

भवत—यहां मध्यमपुरुष के बहुवचन 'थ' के स्थान पर 'तस्थस्थमिपाम्०' से त आदेश हो गया है शेष प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

लोट् के उत्तमपुरुष के लिये अग्रिमसूत्रों की प्रवृत्ति होती है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४१७) मेर्निः ।३।४।८६॥

लोटो मेर्निः स्यात् ॥

अर्थः—लोट् के मि को नि आदेश हो।

---

१. यद्यपि यहां 'हि' के विधान का कुछ उपयोग प्रतीत नहीं होता तथापि 'स्तुहि, याहि, पाहि' आदि में इसकी उपयोगिता स्पष्ट है।

२. तातङ्विधि 'अद्धि-अत्तात्' आदि में सावकाश है। 'अतो हेः' (४१६) द्वारा किया जाने वाला लुक् विध्यादिलोट् के 'भव' आदि में चरितार्थ है। अब 'भव+हि' में दोनों की युगपत् प्राप्ति होती है। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) से परत्व के कारण तातङ् आदेश हो जाता है।

व्याख्या—लोँटः ।६।१। ('लोँटो लँङ्वत्' से)। मेः ।६।१। निः ।१।१। अर्थ :—(लोँटः) लोँट् के (मेः) 'मि' के स्थान पर (निः) 'नि' आदेश हो। 'नि' आदेश अनेकाल् होने से सम्पूर्ण 'मि' के स्थान पर होता है। लँङ्वद्भाव के कारण लोँट् के मिप् को 'तस्थस्थ०' (४१४) सूत्र से अम् आदेश प्राप्त था, उसका यह अपवाद है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४१८) आडुत्तमस्य पिच्च ।३।४।६२॥

लोँडुत्तमस्याट् स्यात् पिच्च। हिन्योरुत्वं न, इत्त्वोच्चारणसामर्थ्यात् ॥

अर्थः—लोँट् के उत्तमपुरुष को आट् का आगम हो और उत्तमपुरुष पित् माना जाये। 'हिन्योः' हि और नि के इकार को उच्चारणसामर्थ्य से 'एरुः' (४११) द्वारा उत्व नहीं होता।

व्याख्या—आट् ।१।१। उत्तमस्य ।६।१। पित् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। लोँटः ।६।१। ('लोँटो लँङ्वत्' से)। अर्थः—(लोँटः) लोँट् के (उत्तमस्य) उत्तमपुरुष का अवयव (आट्) आट् हो जाता है (पित् च) किञ्च उत्तमपुरुष पित् भी हो जाता है[1]। आट् टित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) द्वारा उत्तमपुरुष का आद्यवयव बनता है।

मिप् पित् था अतः उसके स्थान पर होने वाला 'नि' भी पित् ठहरा। अब यदि उसे आट् का आगम हो जाता है तो आट्सहित 'नि' भी पित् ही रहता है। पुनः पित् को पित् करने का क्या प्रयोजन? इसका उत्तर यह है कि परस्मैपद उत्तमपुरुष के एकवचन में तो पित् करने का कुछ प्रयोजन नहीं परन्तु द्विवचन (वस्) और बहुवचन (मस्) में स्वतः पित्त्व न होने से पित्त्व करना आवश्यक है।

पित् करने का प्रयोजन 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङिद्वद्भाव की रक्षा करना है। इस से गुण-वृद्धि का निषेध नहीं होता। यथा—स्तवानि, स्तवाव, स्तवाम; करवाणि, करवाव, करवाम; मार्जानि, मार्जाव, मार्जाम आदि।

भवानि—भू धातु से लोँट्, उत्तमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में मिप्, 'मेर्निः' से मि को नि आदेश, 'आडुत्तमस्य पिच्च' से नि को आट् का आगम, सार्व-

---

१. अथाट एव पित्त्वं कस्मान्न क्रियते? निरर्थकत्वात्। पित्त्वं हि अनुदात्तार्थं वा स्याद् गुणवृद्ध्यर्थं वा; तत्र आटोऽनुदात्तत्वम् आगमत्वादेव सिद्धम्, गुणवृद्ध्योस्तु नैवासौ निमित्तम् अप्रत्ययत्वात्। तस्माद् आटं प्रति पित्त्वमनर्थकम् इत्युत्तमस्यैव विधीयते। अत्रत्या न्यास-पदमञ्जरी-शेखर-भैरव्यादयश्चानुसन्धेयाः।

धातुकत्वात् शप्, अनुबन्धलोप, गुण तथा अवादेश करने पर 'भव + आनि' हुआ। अब '**अकः सवर्णे दीर्घः**' (४२) से सवर्णदीर्घ होकर 'भवानि' प्रयोग सिद्ध होता है।

नोट—यहां भ्वादिगण में यदि आट् का आगम न भी होता तो भी '**अतो दीर्घो यञि**' (३९०) से दीर्घ होकर 'भवानि भवाव भवाम' प्रयोग सिद्ध हो जाते कोई दोष न आता, परन्तु अदादिगण और जुहोत्यादिगण जहां शप् का लुक् और श्लु हो जाता है—के लिये आट् का आगम आवश्यक है। यथा—अदानि, अदाव, अदाम; हनानि, हनाव, हनाम; जुहवानि, जुहवाव जुहवाम आदि। यहां भी न्यायवशाद् इसकी प्रवृत्ति दिखा दी गई है[1]।

लोट् के हि (स्तुहि, जहि) और नि (भवानि) के इकार को '**एरुः**' (४११) सूत्र से उकार आदेश नहीं होता। क्योंकि यदि उकार आदेश करना अभीष्ट होता तो स्वयं सूत्रकार ही '**मेर्नुः, सेर्ह्वपिच्च**' इस प्रकार उकारान्त आदेश विधान करते अथवा '**झोऽन्तः**' की तरह '**मो नः, सो ह्रोऽपिच्च**' इस तरह सूत्र बनाते, इससे प्रक्रिया में भी लाघव होता। उनका वैसा न करना इस बात का ज्ञापक है कि हि और नि को उत्व नहीं होता[2]।

'भवानि' के साथ प्र आदि उपसर्गों के जुड़ने से णत्व हो जाया करता है। प्रसङ्गतः उसका वर्णन करते हुए सर्वप्रथम उपसर्गादियों के स्थान का नियामक सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(४१९) ते प्राग्धातोः ।१।४।७९॥

ते गत्युपसर्गसञ्ज्ञका धातोः प्रागेव प्रयोक्तव्याः ॥

अर्थः—जिनकी पीछे गतिसञ्ज्ञा या उपसर्गसञ्ज्ञा की जा चुकी है वे धातु से पहले ही प्रयुक्त होते हैं।

व्याख्या—ते ।१।३। प्राक् इत्यव्ययपदम् (अथवा क्विन्नन्तं क्रियाविशेषणम्)। धातोः ।५।१। अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय के चतुर्थपाद में '**उपसर्गाः क्रियायोगे गतिश्च**' आदि इक्कीस सूत्रों द्वारा उपसर्ग और गतिसञ्ज्ञकों का वर्णन किया गया है। उसी का यहाँ 'ते' द्वारा परामर्श कराया गया है। अर्थः—(ते)[3] वे गति और उपसर्ग (धातोः)

---

१. कहीं कहीं भ्वादिगण में भी इसकी आवश्यकता पड़ती है। यथा—शृणवानि, शृणवाव, शृणवाम।

२. इसी विधानसामर्थ्य से '**इतश्च**' (४२४) सूत्र द्वारा इकारलोप की भी प्रवृत्ति नहीं होती।

३. 'ते' ग्रहणमुपसर्गार्थम्, गतयो ह्यनन्तरा उक्ताः। असति 'ते' ग्रहणेऽनन्तरोक्ता गतय एव धातोः प्राक् स्युर्नोपसर्गाः।

धातु से (प्राक्) पहले प्रयुक्त करने चाहियें। यथा—अधिगच्छति, अनुभवति, प्रभवति आदि। वेद में इन का प्रयोग धातु से परे भी होता है और व्यवधान में भी होता है—**छन्दसि परेऽपि** (१.४.८०), **व्यवहिताश्च** (१.४.८१)। यथा—हरिभ्यां **याहि** ओक **आ** (ऋग्वेद ५.३.१७), अन्येषामस्तमुप नक्तम् एति (ऋग्वेद १०.३४.१०)। अब णत्वविधायकसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४२०) आनि लोट् ।८।४।१६।।

उपसर्गस्थान्निमित्तात् परस्य लोडादेशस्य आनीत्यस्य नस्य णः स्यात्। प्रभवाणि ।।

अर्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त (ऋ, र्, ष्) से परे लोट् के स्थान पर आदेश होने वाले 'आनि' के नकार को णकार आदेश हो।

व्याख्या—णत्वविधायक सब सूत्र अष्टाध्यायी के अष्टमाध्याय के चतुर्थपाद में पढ़े गये हैं। इस प्रकरण का प्रारम्भ '**रषाभ्यां नो णः समानपदे**' और '**अट्कुप्वाङ्नुम्-व्यवायेऽपि**' सूत्रों से किया गया है। अतः सारे प्रकरण में नकार को णकार करने के निमित्त र् और ष् हैं। '**ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्**' वार्त्तिक से इन निमित्तों में 'ऋ' भी सम्मिलित कर लिया जाता है, इस प्रकार णत्वविधान में ऋ, र्, ष्, ये तीन निमित्त कहलाते हैं। यदि निमित्त और स्थानी (न्) के मध्य अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम् का व्यवधान भी आ जाये तो भी नकार को णत्व हो जाता है। इतनी पूर्वपीठिका समझने के बाद अब इस सूत्र को समझना चाहिये। उपसर्गात् ।५।१। ('**उपसर्गादसमासेऽपि०**' से)। आनि इति लुप्तषष्ठीकं पदम्। लोट् इत्यपि लुप्तषष्ठीकम्। नः ।६।१। णः ।१।१। ('**रषाभ्यां नो णः समानपदे**' से)। अर्थः—(उपसर्गात्) उपसर्ग अर्थात् उपसर्गस्थनिमित्त से परे (लोट्=लोटः) लोट् के स्थान पर आदिष्ट हुए (आनि=आनेः) आनि के (नः) न् के स्थान पर (णः) ण् आदेश हो।

लोट् के मिप् के स्थान पर '**मेर्निः**' (४१७) सूत्र से नि आदेश होता है और पुनः उसे '**आडुत्तमस्य पिच्च**' (४१८) द्वारा आट् का आगम हो जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण 'आनि' लोट् के स्थान पर आदिष्ट समझा जाता है—'**यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते**'। उदाहरण यथा—'प्र+भवनि' यहाँ 'प्र' की '**उपसर्गाः क्रियायोगे**' (३५) से उपसर्गसञ्ज्ञा है, अतः '**ते प्राग्धातोः**' (४१९) के अनुसार उसका धातु से पूर्व प्रयोग होता है। तब प्रकृतसूत्र से उपसर्गस्थ निमित्त रेफ से परे लोट् के स्थान पर आदिष्ट 'आनि' के नकार को णकार आदेश होकर 'प्रभवाणि' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—प्रयाणि, परियाणि आदि में समझना चाहिये। ध्यान रहे कि अट्-कु-प्वाङ्-नुम् के ही व्यवधान में णत्व होता है अन्य के व्यवधान में नहीं, यथा—'प्रतपानि' यहाँ तकार के व्यवधान में णत्व नहीं होता।

'लोँट् का आनि' इसलिये कहा है कि 'प्रवपानि मांसानि' यहाँ नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा व द्वितीया के बहुवचन 'आनि' के न् को ण् न हो जाये। महाभाष्य में लोँट् के ग्रहण का प्रत्याख्यान किया गया है। इस सूत्र पर न्यास और तत्त्वबोधिनी भी द्रष्टव्य है।

नोट—णत्वप्रकरण में 'समानपदे' का अधिकार होने से 'प्र+भवानि' आदि में 'अट्कुप्वाङ्०' (१३८) से णत्व प्राप्त नहीं था अतः इस सूत्र का आरम्भ किया गया है।

'दुर्+भवानि' यहाँ पर भी 'आनि लोँट्' से णत्व प्राप्त होता है परन्तु वह अनिष्ट है, अतः इसकी निवृत्ति के लिये अग्रिम-वार्त्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(३१) दुरः षत्व-णत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

दुःस्थितिः। दुर्भवानि ॥

अर्थः—षत्व और णत्व करने में दुर् के उपसर्गत्व का निषेध करना चाहिये।

व्याख्या—दुरः ।६।१। षत्व-णत्वयोः ।७।२। उपसर्गत्वप्रतिषेधः ।१।१। वक्तव्यः ।१।१। अर्थः—(षत्व-णत्वयोः) ष् या ण् करने में (दुरः) दुर् के (उपसर्गत्वस्य प्रतिषेधः) उपसर्ग होने का निषेध (वक्तव्यः) कहना चाहिये।

'दुर्+भवानि' यहां 'आनि लोँट्' (४२०) से न् को ण् करना है परन्तु प्रकृतवार्त्तिक से दुर् की उपसर्गता ही नहीं रहती तो 'आनि लोँट्' प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि वह उपसर्गस्थ निमित्त से परे णत्व करता है। इस प्रकार 'दुर्भवानि' ही रहा।

षत्व का उदाहरण है—दुःस्थितिः। यहां 'उपसर्गात् सुनोति-सुवति०' (८.३.६५) सूत्र से स्था के सकार को षकार प्राप्त था परन्तु प्रकृतवार्त्तिक से दुर् के उपसर्गत्व-निषेध से नहीं होता।

'अन्तर्+भवानि' यहाँ 'अन्तर्' अव्यय है उपसर्ग नहीं, अतः 'आनि लोँट्' (४२०) से णत्व प्राप्त नहीं होता। परन्तु यहाँ णत्व करना अभीष्ट है। इस के लिये अग्रिमवार्त्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(३२) अन्तःशब्दस्याङ्किविधिणत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम् ॥

अन्तर्भवाणि ॥

अर्थः—अङ्प्रत्यय के विधान में, किप्रत्यय के विधान में तथा णत्व करने में अन्तर् शब्द को उपसर्ग कहना चाहिये।

व्याख्या—अन्तःशब्दस्य ।६।१। अङ्-कि-विधि-णत्वेषु ।७।३। उपसर्गत्वम् ।१।१। वाच्यम् ।१।१। अर्थः—(अङ्-कि-विधिणत्वेषु) अङ्विधि किविधि तथा णत्व में (अन्तःशब्दस्य) अन्तर् शब्द की (उपसर्गत्वम्) उपसर्गता (वाच्यम्) कहनी चाहिये।

अङ्प्रत्यय के विधान में यथा—अन्तर्धा। यहां अन्तर् शब्द के उपसर्ग होने से 'आतश्चोपसर्गे' (७८८) द्वारा अङ् प्रत्यय हो जाता है[1]।

किप्रत्यय के विधान में यथा—अन्तर्धिः। यहां अन्तर् के उपसर्ग होने से 'उपसर्गे घोः किः' (८६२) द्वारा धा धातु से किप्रत्यय हो जाता है। तब 'आतो लोप इटि च' (४८६) से धातु के आकार का लोप होकर 'अन्तर्धि' (छिपना) यह पुल्ँलिङ्ग शब्द निष्पन्न होता है[2]।

णत्व में यथा—अन्तर्भवाणि। यहां अन्तर् शब्द की उपसर्गसञ्ज्ञा होकर 'आनि लोँट्' (४२०) से आनि के नकार को णकार हो जाता है। इसी प्रकार अन्तर्+आयानि=अन्तरायाणि, अप्यन्तरायाण्यार्य ? (क्या मैं अन्दर आ सकता हूं श्रीमन् !)

अब लोँट् के उत्तमपुरुष के द्विवचन और बहुवचन के लिये सकारलोपविधायक सूत्र का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४२१) नित्यं ङितः ।३।४।६६।।

सकारान्तस्य ङिदुत्तमस्य[3] नित्यं लोपः। अलोऽन्त्यस्य (२१) इति सलोपः। भवाव। भवाम ।।

अर्थः—ङित् लकार के सकारान्त उत्तमपुरुष का नित्य लोप हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य सकार का ही लोप होगा।

व्याख्या—नित्यम् इति द्वितीयैकवचनान्तं क्रियाविशेषणम्। ङितः ।६।१। लस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। सः ।६।१। उत्तमस्य ।६।१। ('स उत्तमस्य' सूत्र से)। लोपः ।१।१। ('इतश्च लोपः०' से)। 'सः' यह 'उत्तमस्य' का विशेषण है अतः विशेषण से

---

१. 'अन्तर्+धा+अङ्' इस स्थिति में 'आतो लोप इटि च' (४८६) से धातु के आकार का लोप होकर 'स्त्रियां क्तिन्' (८६३) के अधिकार के कारण स्त्रीत्व की विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' (१२४९) से टाप्, अनुबन्धलोप तथा सवर्णदीर्घ करने पर 'अन्तर्धा' यह आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—छिपना। 'अन्तर्धाम् उपययुरुत्पलावलीषु' इति माघः (८.१२)।

२. इस का प्रयोग यथा—अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति (१.४.२८), अन्तर्धिभूतमिव कर्तुमश्रुवर्षैः—माघे (८.४२)।

३. ङित उत्तमस्य ङिदुत्तमस्येति षष्ठीतत्पुरुषः।

तदन्तविधि होकर 'सकारान्तस्य उत्तमस्य' बन जाता है। अर्थः— (ङितः, लस्य) ङित् लकार के (सः=सकारान्तस्य) सकारान्त (उत्तमस्य) उत्तमपुरुष का (नित्यम्)[1] नित्य (लोपः) लोप हो जाता है। सम्पूर्ण सकारान्त उत्तमपुरुष का लोप प्राप्त होने पर अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य स् का ही लोप होता है।

भवाव—भू धातु से लोट्, उत्तमपुरुष के द्विवचन की विवक्षा में वस् आदेश, आट् का आगम, शप्, गुण, अवादेश तथा सवर्णदीर्घ करने पर 'भवावस्'। अब 'लोटो लङ्वत्' (४१३) से लङ्वद्भाव के कारण 'नित्यं ङितः' से स् का लोप होकर 'भवाव' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार उत्तमपुरुष के बहुवचन में मस् आदेश होकर 'भवाम' प्रयोग बनता है। लोट् में रूपमाला यथा—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र० पु०	भवतु (भवतात्)	भवताम्	भवन्तु
म० पु०	भव (भवतात्)	भवतम्	भवत
उ० पु०	भवानि	भवाव	भवाम

कोष्ठान्तर्गत रूप केवल आशीर्लोट् में ही होते हैं। शेष रूप दोनों प्रकार के लोट् में तुल्य समझने चाहियें।

अब लङ् की प्रक्रिया प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम लङ्विधायक सूत्र का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४२२) अनद्यतने लङ् ।३।२।१११॥

अनद्यतनभूतार्थवृत्तेर्धातोर् लङ् स्यात् ॥

अर्थः—अनद्यतन-भूतकालिक क्रिया के वाचक धातु से लङ् हो।

व्याख्या—अनद्यतने ।७।१। लङ् ।१।१। भूते ।७।१। धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। [ये सब अधिकृत हैं]। अर्थः—(अनद्यतने) अनद्यतन (भूते) भूतकाल में वर्त्तमान (धातोः) धातु से (परः) परे (लङ्) लङ् (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है।

'मैंने आज सवेरे स्नान किया' यहां भूत तो है अनद्यतन नहीं, अतः लङ् न

---

१. ध्यान रहे कि अष्टाध्यायी में पीछे 'वा' का प्रकरण चल रहा था उसकी निवृत्ति के लिये यहां 'नित्यम्' का ग्रहण किया गया है।

होगा। 'मैंने कल स्नान किया' यहां अनद्यतन भूत है अतः यह लँङ् का विषय है। कई विद्यार्थी अन्धाधुन्ध लँङ् का प्रयोग करते हैं यह ठीक नहीं। सामान्य भूत में वक्ष्यमाण लुँङ् का ही प्रयोग उचित होता है।

'अनद्यतने' यहां बहुव्रीहि समास है। अविद्यमानोऽद्यतनो यस्मिन् सोऽनद्यतनः (कालः), तस्मिन् अनद्यतने। इस प्रकार जहां अद्यतन और अनद्यतन दोनों प्रकार के भूतकाल का मिश्रण होगा वहां लँङ् न होगा, किन्तु भूतसामान्य में लुँङ् का ही प्रयोग होगा। यथा—'अद्य ह्यश्च अभुक्ष्महि' (हम ने आज और कल खाया)।

अब लँङ् आदियों के प्रधान कार्य अट् के आगम का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४२३) लुँङ्लँङ्लृँङ्क्ष्वडुदात्तः।६।४।७१॥

एष्वङ्गस्याऽट् स्यात्॥

अर्थः—लुँङ् लँङ् या लृँङ् परे होने पर अङ्ग को अट् का आगम हो और वह उदात्त हो।

व्याख्या—लुँङ्-लँङ्-लृँङ्क्षु।७।३। अट्।१।१। उदात्तः।१।१। अङ्गस्य।६।१। (यह अधिकृत है)। अर्थः—(लुँङ्-लँङ्-लृँङ्क्षु) लुँङ्, लँङ् या लृँङ् परे हो तो (अङ्गस्य) अङ्ग का अवयव (अट्) अट् हो जाता है और वह (उदात्तः) उदात्त होता है। अट् के टकार की 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञा और 'तस्य लोपः' (३) से लोप होकर 'अ' मात्र शेष रहता है। 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) के अनुसार टित् होने से अट् का आगम अङ्ग का आद्यवयव बनता है। अट् को उदात्त कहा गया है अतः 'अभवत्' आदि आद्युदात्त हो जाते हैं। लघुकौमुदी में स्वरप्रकरण नहीं है अतः स्वर के विषय में विशेष नहीं लिखते, विशेषजिज्ञासु काशिका आदि का अवलोकन करें।

भू धातु से अनद्यतनभूत में लँङ्, प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में उसे तिप् आदेश, सार्वधातुकसञ्ज्ञा, 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप्, अनुबन्धलोप, शित् होने से शप् की भी सार्वधातुकसञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (३८८) से ऊकार को ओकार गुण तथा 'एचोऽयवायावः' (२२) से ओकार को अव् आदेश करने पर 'भव+ति' हुआ। अब 'भव' इस अङ्ग को 'लुँङ्-लँङ्-लृँङ्क्ष्वडुदात्तः' (४२३) से अट् का आगम किया तो 'अभव+ति' बना[1]। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

---

१. ध्यान रहे कि अट् व आट् का आगम तिप् आदि आदेशों, शप् आदि विकरणों तथा यथाप्राप्त सम्प्रसारणकार्य के कर चुकने के बाद ही करना चाहिये पहले नही, अन्यथा 'औह्यत, ऐज्यत, औप्यत' (वह्, यज्, वप् के कर्मणि लँङ्) आदि प्रयोग उपपन्न न हो सकेंगे। यद्यपि लकारावस्था में भी अट्-आट् करने में भाष्यकार की

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४२४) इतश्च ।३।४।९९।।

ङितो लस्य परस्मैपदम् इकारान्तं यत्तदन्तस्य लोपः। अभवत्, अभवताम्, अभवन्। अभवः, अभवतम्, अभवत। अभवम्, अभवाव, अभवाम।।

अर्थः—ङित् लकार के स्थान पर आदेश हुआ जो इकारान्त परस्मैपद, उसके अन्त्य इकार का लोप हो।

व्याख्या—इतः।६।१। च इत्यव्ययपदम्। ङितः।६।१। ('नित्यं ङितः' से)। लस्य।६।१। (यह अधिकृत है)। परस्मैपदस्य।६।१। ('इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' से विभक्ति तथा वचन का विपरिणाम करके)। लोपः।१।१। (पूर्वोक्त सूत्र से)। 'इतः' पद 'परस्मैपदस्य' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि होकर 'इकारान्तस्य परस्मैपदस्य' बन जाता है। अर्थः—(ङितः) ङित् (लस्य) लकार के स्थान पर होने वाले (इतः=इदन्तस्य) इकारान्त (परस्मैपदस्य) परस्मैपद का (लोपः) लोप हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह लोप अन्त्य अल् अर्थात् इकार का ही होगा[1]।

यहां काशिका आदि प्राचीन ग्रन्थों में 'ङित्लकार-सम्बन्धी इकार का लोप हो परस्मैपद प्रत्ययों में' इस प्रकार सूत्र का सरल अर्थ किया गया है। दीक्षित जी का कथन है कि वैसा अर्थ करने से 'भवेत्' (भव+यास् त्=भव+इय् त्=भव+इत्=भवेत्) आदि के इकार का भी लोप प्रसक्त होगा। किञ्च 'अरुदिताम्' में भी

अनुमति है और इस पक्ष में आने वाले दोषों का परिहार भी आकर-ग्रन्थों में उपलब्ध है तथापि यह मत व्याकरण के प्रक्रियाग्रन्थों में आदृत नहीं है और इसे भाष्यकार का परिहारान्तरमात्र ही समझा जाता है। अतः प्राथमिक विद्यार्थियों को उपर्युक्त मत का ही अनुसरण करना चाहिये।

१. यह सूत्र 'धातोः' के अधिकार में पढ़ा गया है, अतः धातु से परे ही ङित्सम्बन्धी इकारान्त परस्मैपद का लोप होगा। परन्तु पर के स्थान पर प्राप्त होने वाला कार्य 'आदेः परस्य' (७२) द्वारा उसके आदि को हुआ करता है। इस प्रकार 'ति' के इकार का नहीं अपितु 'त्' का लोप होना चाहिये। इस शंका का समाधान यह है कि यहां 'धातोः' का 'विहित' विशेषण है अर्थात् धातु से विहित जो ङित् लकार, तत्सम्बन्धी इकारान्त परस्मैपद का लोप हो। जहां 'तस्मादित्युत्तरस्य' (७१) सूत्र से पर को कार्य कहा जाता है वहां पर ही 'आदेः परस्य' की प्रवृत्ति होती है। यहां पर 'धातोः' में पञ्चमी का अन्वय 'परस्य' के साथ नहीं अपितु 'विहितस्य' के साथ है अतः कोई दोष नहीं आता।

लोप प्राप्त होगा, क्योंकि वहाँ 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' (७.२.७६) से होने वाला इट् का आगम 'ताम्' इस ङित् लकार का अवयव है। दीक्षितजी के अर्थ में स्थानी के इकारान्त न होने से कोई दोष नहीं आता। व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिकार श्रीविश्वेश्वरसूरि ने यहां 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' सूत्र से दूसरे 'इतः' पद की अनुवृत्ति लाकर 'इद्रूपस्य इतो लोपः' इस प्रकार अर्थ करके प्राचीनों के अर्थ का ही समर्थन किया है।

'अभवति' यहाँ लँङ् के स्थान पर 'ति' यह इकारान्त परस्मैपद आदेश किया गया है अतः प्रकृतसूत्र से इसके अन्त्य इकार का लोप करने पर 'अभवत्' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां पर भी 'लिट्, लिड्' (देखें हलन्तपुल्ँलिङ्गप्रकरण का प्रारम्भ) की तरह 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करके 'अभवत्, अभवद्' दो रूप बना लेने चाहियें। जश्त्व-चर्त्व प्रक्रिया हम बार बार नहीं लिखेंगे, बुद्धिमान् विद्यार्थियों को स्वयं इसकी यथास्थान उद्भावना कर लेनी चाहिये।

अभवताम्—भू धातु से अनद्यतनभूत में लँङ्, प्रथमपुरुष के द्विवचन की विवक्षा में तस् प्रत्यय, 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' (४१४) से तस् को ताम् आदेश, शप् विकरण, तथा 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से ऊकार को ओकार गुण होकर 'भवताम्' बना। अब 'लुँङ्-लँङ्-लृँङ्क्ष्वडुदात्तः' (४२३) से अङ्ग को अट् का आगम करने पर 'अभवताम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अभवन्—भू धातु से लँङ्, प्रथमपु० के बहुवचन की विवक्षा में झि आदेश 'झोऽन्तः' (३८९) से प्रत्यय के आदि झकार को अन्त् आदेश, 'इतश्च' (४२४) से अन्त्य इकार का लोप, शप्, गुण, अवादेश तथा अङ्ग को अट् का आगम होकर—अभव् अ अन्त्। अब 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप करने पर 'अभवन्त्' इस स्थिति में 'हलोऽनन्तराः संयोगः' (१३) से 'न् त्' की संयोगसञ्ज्ञा और 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से संयोगान्त तकार का लोप करने से 'अभवन्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अभवः—भू धातु से लँङ्, मध्यमपु० के एकवचन की विवक्षा में लकार को सिप् आदेश, पकारलोप, 'इतश्च' से इकारलोप, शप्, गुण, अवादेश तथा अङ्ग को अट् का आगम होकर 'अभवस्' इस स्थिति में पदान्त सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग करने पर 'अभवः' प्रयोग सिद्ध होता है।

अभवतम्—यहां लँङ् के मध्यमपु० के द्विवचन में थस् को 'तस्थस्थ०' (४१४) सूत्र से तम् आदेश हो जाता है, शेष प्रक्रिया पूर्ववत् है। इसी प्रकार बहुवचन में 'थ' को 'त' आदेश होकर— अभवत।

अभवम्—यहां उत्तमपु० के एकवचन में मिप् को अम् आदेश, शप्, गुण, अवादेश, पररूप तथा अङ्ग को अट् का आगम होकर 'अभवम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अभवाव—उत्तमपु० के द्विवचन में वस् आदेश, 'नित्यं ङितः' (४२१) से सकारलोप, शप्, गुण, अवादेश, 'अतो दीर्घो यञि' (३९०) से दीर्घ, तथा 'लुँङ्-लँङ्०' (४२३) से अट् का आगम करने पर 'अभवाव' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार उत्तमपु० के बहुवचन में 'अभवाम' प्रयोग बनता है। लँङ् की रूपमाला यथा—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र० पु०	अभवत् (वह हुआ)	अभवताम् (वे दो हुए)	अभवन् (वे सब हुए)
म० पु०	अभवः (तू हुआ)	अभवतम् (तुम दो हुए)	अभवत (तुम सब हुए)
उ० पु०	अभवम् (मैं हुआ)	अभवाव (हम दो हुए)	अभवाम (हम सब हुए)

अब विधिलिँङ् की प्रक्रिया प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम लिँङ्विधायक सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४२५) विधिनिमन्त्रणाऽऽमन्त्रणाऽधीष्ट-सम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिँङ् ।३।३।१६१॥

एष्वर्थेषु धातोर्लिँङ् ॥

अर्थः—विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न और प्रार्थन इन अर्थों में धातु से परे लिँङ् होता है।

व्याख्या—विधि—प्रार्थनेषु ।७।३। लिँङ् ।१।१। धातोः, प्रत्ययः, परश्च ये तीनों अधिकृत हैं। अर्थः—(विधि-निमन्त्रणाऽऽमन्त्रणाऽधीष्ट-सम्प्रश्न-प्रार्थनेषु) विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट सम्प्रश्न और प्रार्थन इन अर्थों में (धातोः) धातु से (परः) परे (लिँङ्) लिँङ् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो।

(१) **विधि**—अपने से छोटे अर्थात् सेवक आदि को आज्ञा या हुक्म देना 'विधि' कहाता है। यथा कोई अपने सेवक से कहे—जल भवान् आनयेत् (आप जल लाएं), वस्त्राणि भवान् प्रक्षालयेत् (आप वस्त्रों को धो दें) आदि।

(२) **निमन्त्रण**—अवश्यकर्त्तव्य प्रेरण को 'निमन्त्रण' कहते हैं, अर्थात् ऐसी

प्रेरणा जिसे यदि पालन न किया जाये तो प्रत्यवाय (पाप) लगता हो। जैसे श्राद्धादि में किसी अन्य श्रोत्रिय भोक्ता के न मिलने पर यदि कोई ब्राह्मण अपने दौहित्र आदि को कहे कि 'इह भवान् भुञ्जीत' (आप यहां खाएं)। ध्यान रहे कि यदि दौहित्रादि ऐसे श्राद्धभोजन के लिये इन्कार करेगा तो स्मृतिशास्त्रानुसार उसे पाप का भागी होना पड़ेगा[1]।

(३) आमन्त्रण—ऐसी प्रवर्त्तना का नाम आमन्त्रण होता है जिसमें कामचारिता होती है। अर्थात् करना या न करना इच्छा पर निर्भर होता है; करने से पुण्य या न करने से पाप नहीं होता। यथा—इहासीत भवान् (आप यहां बैठें), यहां बैठना या न बैठना श्रोता की इच्छा पर निर्भर है, इसमें कामचारिता है। बैठने में कोई पुण्य तथा न बैठने में कोई पाप नहीं लगता।

(४) अधीष्ट[2]—अधीष्टं नाम सत्कारपूर्वको व्यापारः। किसी बड़े गुरु आदि को सत्कारपूर्वक किसी कार्य के करने की प्रेरणा देना 'अधीष्ट' कहाता है। यथा—पुत्रमध्यापयेद् भवान् (आप कृपया मेरे पुत्र को पढ़ावें)।

(५) सम्प्रश्न—किसी बड़े के समीप किसी बात का सम्प्रधारण=निश्चय करना 'सम्प्रश्न' कहाता है। जैसे किसी विज्ञ से पूछें—कि भो वेदमधीयीय उत तर्कम्? (क्या मैं वेद पढ़ूँ या तर्क-शास्त्र?) यहाँ सम्प्रधारणार्थ (निश्चयार्थ) पूछा गया है।

(६) प्रार्थन—मांगने का नाम 'प्रार्थन' है। यथा—भो भोजनं लभेय (मैं भोजन पाना चाहता हूं)।

इन अर्थों में पहले चार (विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण और अधीष्ट) विभिन्न प्रकार की प्रवर्त्तना—प्रेरणा ही हैं। इनका पृथक्श: उल्लेख प्रपञ्चार्थ ही समझना चाहिये। इन सब अर्थों को वाच्य तथा द्योत्य दोनों प्रकार का आकर-ग्रन्थों में माना गया है। विद्यार्थियों के लिये उपयोगी न समझ कर इस विषय की चर्चा नहीं करते, विशेषजिज्ञासु आकर-ग्रन्थों का अवलोकन करें।

---

१. जैसा कि महाभाष्य में कहा है—"एवं तर्हि यन्नियोगतः कर्त्तव्यं तन्निमन्त्रणम्, किं पुनस्तत्? हव्यं कव्यञ्च। ब्राह्मणेन 'सिद्धं भुज्यताम्' इत्युक्तेऽधर्मः प्रत्याख्यातुः।" इस विषय का विवेचन प्रदीपोद्योत तथा मनुस्मृति के तृतीयाध्याय (श्लोक १२८—१३०) में देखना चाहिये।

२. यह भाव में नपुंसक है। कहीं कहीं 'अधीष्टः' ऐसा पुल्ँलिङ्ग पाठ भी 'व्यापारः' का विचार कर के देखा जाता है। श्रीहरदत्त ने पदमञ्जरी में इसके पुंस्त्व को अपपाठ माना है।

अब परस्मैपद में लिङ् को यासुट् का आगम विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४२६) यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च ।३।४।१०३।।

लिङः परस्मैपदानां यासुडागमो ङिच्च ।।

अर्थः—लिङ्स्थानीय परमैपदों को यासुट् का आगम हो तथा वह आगम उदात्त और ङित् हो।

व्याख्या—यासुट् ।१।१। परस्मैपदेषु ।७।३। उदात्तः ।१।१। ङित् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । लिङः ।६।१। (**'लिङः सीयुट्'** से)। 'परस्मैपदेषु' का षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम होकर 'परस्मैपदानाम्' बन जाता है। अर्थः—(लिङः) लिङ् के (परस्मैपदानाम्) परस्मैपदों का अवयव (यासुट्) यासुट् हो जाता है और वह (उदात्तः) उदात्त (च) तथा (ङित्) ङित् होता है।

अष्टाध्यायी में इस सूत्र से पूर्व **'लिङः सीयुट्'** (५२०) यह सामान्यसूत्र कहा गया है। 'लिङ्स्थानीय प्रत्ययों को सीयुट् का आगम हो' यह उस का अर्थ है। पुनः इस सूत्र में लिङ्स्थानीय परस्मैपदों को उसका अपवाद यासुट् का आगम विधान किया गया है। इस प्रकार पारिशेष्यात् आत्मनेपद में सीयुट् तथा परस्मैपद में यासुट् का आगम होता है। यासुट् में उकार उच्चारणार्थक तथा टकार **'हलन्त्यम्'** (१) से इत्सञ्ज्ञक है। टित्त्व के कारण यासुट् का आगम लिङ्स्थानीय तिबादियों का आद्यवयव बनता है (**आद्यन्तौ टकितौ**)।

यासुट् के आगम को यहाँ उदात्त कहा गया है। इस से प्रतीत होता है कि अन्य आगम अनुदात्त होते हैं—**आगमा अनुदात्ता भवन्तीति**[1] ।

यासुट् के आगम को ङित् कहा गया है। आगम जिसको कहे जाते हैं उसी के अङ्ग होते हैं और उसी के ग्रहण से उनका ग्रहण होता है—**'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते'**। अतः ङित्त्व भी उसे ही होगा जिसे यासुट् का आगम विधान किया गया होगा। इस से गुण-वृद्धि का निषेध हो सकेगा। यथा—'स्तुयात्' में गुण नहीं होता।

यहां पर एक शङ्का उत्पन्न होती है कि लिङ् तो स्वयं ङित् है अतः स्थानिवद्भाव

---

१. यासुट उदात्तवचनाद् विज्ञायते **'आगमा अनुदात्ता भवन्ती'**ति । अन्यथा यासुटः प्रत्ययभक्तत्वात् प्रत्ययस्वरेणैव सिद्धमुदात्तत्वम् । नैतदस्ति ज्ञापकम् । यानि पिद्वचनानि तदर्थमेतत् स्यात् । यद्येतावत् प्रयोजनम् अपिदित्येव ब्रूयात् । तदेतदुदात्तवचनं ज्ञापकमेव आगमा अनुदात्ता भवन्तीति—**पदमञ्जरी** ।

से उसके स्थान पर होने वाले तिप् आदि स्वतः ङित् होंगे ही[1] ; यासुट् का आगम तिबादियों का अवयव है अतः यासुट्विशिष्ट तिबादियों का भी ङित्त्व निर्बाध सिद्ध है पुनः इसके लिये यासुट् को ङित् करने का क्या प्रयोजन ? इस का समाधान यह है कि इसी से तो प्रतीत होता है कि लकार के सहारे तिबादि आदेशों में ङित्त्व धर्म नहीं आता। तात्पर्य यह है कि लकार चाहे ङित् हो परन्तु उस के स्थान पर होने वाले तिबादि ङित् नहीं होते। इस से 'अचिनवम्. अकरवम्' आदि में लँङ् के कारण अम् के ङित् न होने से निर्बाध गुण हो जाता है (देखें काशिकावृत्ति, यही सूत्र)।

भू धातु से विध्यादि अर्थों में लिँङ्, प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में उसके स्थान पर तिप् आदेश, 'इतश्च' (४२४) से इकार का लोप, प्रकृतसूत्र से 'त्' को यासुट् का आगम, अनुबन्धलोप, 'यास्त्' की 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' (३८६) से सार्वधातुकसञ्ज्ञा होकर शप्, शप् की भी सार्वधातुकसंज्ञा, 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से भू के ऊकार को ओकार गुण, पुनः अवादेश करने पर 'भव+यास्त्' हुआ। अब यहां अग्रिमसूत्र की प्राप्ति दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(४२७) लिँङः सलोपोऽनन्त्यस्य ।७।२।७९॥

सार्वधातुकलिँङोऽनन्त्यस्य सस्य लोपः। इति प्राप्ते—

अर्थः—सार्वधातुक लिँङ् के अनन्त्य (अन्त में न रहने वाले) सकार का लोप हो जाता है। इस सूत्र के प्राप्त होने पर (इसका अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है)।

व्याख्या—लिँङः ।६।१। स ।६।१। (लुप्तषष्ठीकं पदम्)। लोपः ।१।१। अनन्त्यस्य ।६।१। सार्वधातुकस्य ।६।१। ('रुदादिभ्यः सार्वधातुके' से विभक्तिविपरिणाम करके)। अन्ते भवोऽन्त्यः, न अन्त्योऽनन्त्यः, तस्य—अनन्त्यस्य। जो अन्त में विद्यमान न रहे उसे अनन्त्य कहते हैं। अर्थः—(सार्वधातुकस्य) सार्वधातुक (लिँङः) लिँङ् के (अनन्त्यस्य) अनन्त्य (स=सस्य) सकार का (लोपः) लोप हो जाता है। इस सूत्र के उदाहरण हैं—शृणुयात्, स्तुयात् आदि।

---

१. अजी अल्विधि होने से स्थानिवद्भाव भी कैसे हो सकेगा ? स्थानी के अल्-ङकार का आश्रय करने से इसका अल्विधित्व तो स्पष्ट है ही। इसका उत्तर यह है कि अनुबन्धविषयक कार्यों में 'अनल्विधौ' प्रवृत्त नहीं होता अर्थात् वहां अल्विधि में भी स्थानिवद्भाव हो जाया करता है; तभी तो 'प्रदाय' आदि में 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' (५८८) द्वारा प्राप्त ईत्व का 'न ल्यपि' (६.४.६९) से निषेध किया गया है, वरना जब ल्यप् कित् ही न था तो ईत्व के प्राप्त न होने से उसके निषेध का यत्न कैसा ?

'भव+यास्त्' यहां 'यास्त्' यह सार्वधातुकलिङ् है, इस में 'स्' यह अनन्त्य है, अतः प्रकृतसूत्र से इस का लोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४२८) अतो येयः ।७।२।८०।।

अतः परस्य सार्वधातुकावयवस्य यास् इत्यस्य इय् । गुणः ।।

अर्थः—अदन्त अङ्ग से परे सार्वधातुक के अवयव यास् के स्थान पर इय् आदेश हो।

व्याख्या—अतः ।५।१। अङ्गात् ५।१। ('अङ्गस्य' इस अधिकृत का पञ्चम्यन्त विपरिणाम हो जाता है)। सार्वधातुकस्य ।६।१। ('रुदादिभ्यः सार्वधातुके' से विभक्ति-विपरिणाम कर के)। याः ।६।१। ('यास्' यहां षष्ठी का लुक् होकर सकार को रुत्व, रेफ को य् आदेश तथा 'लोपः शाकल्यस्य' से य् का लोप हो जाता है। या+इयः=येयः, यहां सन्धि आर्ष है)। इयः ।१।१। यकारादकार उच्चारणार्थः। अर्थः—(अतः=अदन्तात्) अदन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (सार्वधातुकस्य) सार्वधातुक के अवयव (याः=यासः) यास् के स्थान पर (इयः) इय् आदेश होता है। इय् के यकार की विधानसामर्थ्य से इत्सञ्ज्ञा नहीं होती।

'भव+यास् त्' यहां अदन्त अङ्ग है 'भव', इस से परे सार्वधातुक है 'यास्त्', अतः इसके अवयव यास् को प्रकृतसूत्र से इय् आदेश होकर[1] गुण एकादेश किया तो

---

१. बहुत से वैयाकरण 'यास्' के सकार का लोप कर अवशिष्ट 'या' को ही 'इय्' आदेश किया करते हैं। परन्तु इस तरह 'भवेयुः' की सिद्धि उपपन्न नहीं हो सकती क्योंकि तब सकार का लोप करने पर 'भव+या+उस्' इस स्थिति में 'उस्यपदान्तात्' (४६२) से पररूप प्राप्त होगा जो किसी भी प्रकार रोका नहीं जा सकता। यद्यपि इयादेश 'भवेत्' आदियों में और 'उस्यपदान्तात्' सूत्र 'अपुः' आदियों में चरितार्थ है और यहां 'भव+या+उस्' में दोनों के युगपत् प्राप्त होने पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) से परकार्य इयादेश होकर कोई दोष उत्पन्न नहीं होता - ऐसा समाधान किया जाता है, तथापि इस समाधान का कोई ठोस आधार नहीं है। क्योंकि 'या+उस्' में पररूपकार्य केवल प्रत्यय में होने के कारण अन्तरङ्ग और इयादेश अदन्त अङ्ग के आश्रित होने से बहिरङ्ग है। 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' के अनुसार अन्तरङ्ग कार्य पहले करना चाहिये और बहिरङ्ग बाद में। अतः इसके निवारण के लिये यास् को इयादेश करने के सिवाय और कोई उपाय नहीं है। प्राचीन वैयाकरणों को भी अपने पक्ष की निर्बलता ज्ञात थी; काशिका में इस सूत्र की व्याख्या के अन्त में कहा है —

'भवेय् त्' हुआ। अब यकार का लोप करने के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४२९) लोपो व्योर्वलि ६।१।६४।।

भवेत्। भवेताम् ॥

अर्थः—वल् परे होने पर वकार यकार का लोप हो।

व्याख्या— लोपः ।१।१। व्योः ।६।२। वलि ।७।१। अर्थः—(वलि) वल् परे होने पर (व्योः) व् और य् का (लोपः) लोप हो जाता है।

यकारलोप का उदाहरण—'भवेय् त्' यहां पर तकार वल् परे है अतः यकार का लोप होकर 'भवेत्' प्रयोग सिद्ध होता है।

वकारलोप का उदाहरण—जीव्+रदानु=जीरदानुः ('जीवेरदानुः'—देखें महाभाष्य में 'हयवरट्' सूत्र)।

यदि वल् परे न कहते तो 'जीव्यात्, जीव्यास्ताम्, जीव्यासुः' आदि में यकार परे होने पर भी लोप हो जाता।

प्रश्न—वायु शब्द के षष्ठी वा सप्तमी के द्विवचन 'वाय्वोः' रूप में 'लोपो व्योर्वलि' से यकार का लोप क्यों नहीं होता?

उत्तर—वहां उकार के स्थान पर 'इको यणचि' (१५) सूत्र से वकारादेश हुआ है अतः 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' (६९६) से वकार को स्थानिवत् अर्थात् उकार मान लेने से वल् परे नहीं रहता अतः यकार का लोप नहीं होता [न च यलोपविधौ 'न पदान्तद्विर्वचन०' इति स्थनिवद्भावनिषेधः शङ्क्यः, 'स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेश एव न स्थानिवद्' इत्युक्तेः]।

भवेताम्—भू धातु से विधिलिङ्, प्रथमपुरुष के द्विवचन की विवक्षा में तस् आदेश, तस् को 'तस्थस्थमिपां०' (४१४) से ताम् आदेश, यासुट् का आगम, यासुट्-विशिष्ट ताम् की सार्वधातुकसञ्ज्ञा होकर शप्, सार्वधातुकगुण तथा अवादेश करने पर 'भव+यास् ताम्' हुआ। अत्र 'अतो येयः' (४२८) से यास् को इय् आदेश, गुण तथा यकार का लोप करने से 'भवेताम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रथमपुरुष के बहुवचन में विशिष्ट कार्य बतलाने के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४३०) झेर्जुस् ।३।४।१०८।।

लिङो झेर्जुस् स्यात्। भवेयुः। भवेः। भवेतम्। भवेत। भवेयम्। भवेव। भवेम ॥

"केचिदत्र 'अतो यासियः' इति सूत्रं पठन्ति, तेषां सकारान्तः स्थानी, षष्ठीसमासश्च।"

श्रीवरदराज ने निर्दोष तथा सुगम होने के कारण यही मार्ग अपनाया है।

अर्थः—लिङ् के झि के स्थान पर जुस् आदेश हो।

व्याख्या—झेः ।६।१। जुस् ।१।१। लिङः ।६।१। ('लिङः सीयुट्' से) **अर्थः**—(लिङः) लिङ् के (झेः) झि के स्थान पर (जुस्) जुस् आदेश होता है। अनेकाल् होने से जुस् आदेश सम्पूर्ण झि के स्थान पर होता है। 'झि' प्रत्यय है अतः जुस् भी स्थानिवद्भाव से प्रत्ययसञ्ज्ञक हो जायेगा। तब 'चुटू' (१२९) से जकार की इत्सञ्ज्ञा होकर लोप करने से 'उस्' मात्र ही अवशिष्ट रहेगा। अन्त्य सकार की इत्सञ्ज्ञा न होगी, 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) सूत्र निषेध करेगा।

भू धातु से विधिलिङ्, प्रथमपुरुष के बहुवचन की विवक्षा में झिप्रत्यय, प्रकृत-सूत्र से झि को जुस् आदेश, यासुट् का आगम, शप्, गुण तथा अवादेश होकर—भव+यास् उस्। अब 'अतोयेयः' (४२८) से यास् को इय् आदेश तथा 'आद्गुणः' (२७) से गुण एकादेश किया तो भवेयुस्='भवेयुः' रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां वल् परे न होने से यकार का लोप नहीं होता।

मध्यमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में सिप्, 'इतश्च' (४२४) से सि के इकार का लोप, यासुट्, शप्, गुण, अवादेश, यास् को इय् तथा गुण एकादेश करने पर 'भवेय् स्' हुआ। अब संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से 'लोपो व्योर्वलि' (४२९) द्वारा यकार का लोप होकर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग करने से 'भवेः' प्रयोग सिद्ध होता है।

मध्यमपुरुष के द्विवचन में लिङ् को थस्, 'तस्थस्थमिपां०' (४१४) से थस् को तम् आदेश, यासुट् का आगम, शप् गुण, अवादेश, 'अतो येयः' से यास् को इय्, गुण तथा यकार का लोप करने पर 'भवेतम्' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार बहुवचन में थ को त आदेश होकर—'भवेत' सिद्ध होता है।

भवेयम्–यहां उत्तमपुरुष के एकवचन में 'तस्थस्थमिपां०' (४१४) से मिप् को अम् आदेश हो जाता है। वल् परे न होने से यकार का लोप नहीं होता।

भवेव, भवेम—यहां उत्तमपुरुष के द्विवचन और बहुवचन में 'नित्यं ङितः' (४२१) से वस् और मस् के सकार का लोप हो जाता है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् होती है। विधिलिङ् में रूपमाला यथा—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र० पु०	भवेत् (वह हो)	भवेताम् (वे दो हों)	भवेयुः (वे सब हों)
म० पु०	भवेः (तूं हो)	भवेतम् (तुम दो होओ)	भवेत (तुम सब होओ)
उ० पु०	भवेयम् (मैं होऊँ)	भवेव (हम दो हों)	भवेम (हम सब हों)

आशीर्वाद में लिँङ् और लोँट् का प्रयोग होता है, यह पीछे (४१०) सूत्र में बताया जा चुका है। यहां अब विधिलिँङ् के बाद आशीर्लिँङ् की प्रक्रिया दर्शाते हैं—

भूधातु से आशीर्लिँङ्, प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में उसे तिप् आदेश होकर 'भू+ति' हुआ। अब यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(४३१) लिँङाशिषि ।३।४।११६।।

आशिषि लिँङस्तिङ् आर्धधातुकसञ्ज्ञः स्यात् ।।

अर्थः—आशीर्वाद में लिँङ् के स्थान पर होने वाला तिङ् आर्धधातुकसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—लिँङ् ।६।१। (लुप्तषष्ठीकं पदम्)। आशिषि ।७।१। तिङ् ।१।१। (**'तिङ्शित्सार्वधातुकम्'** से)। आर्धधातुकम् ।१।१। (**'आर्धधातुकं शेषः'** से)। अर्थः—(आशिषि) आशीर्वाद में (लिँङः=लिँङः) लिँङ् के स्थान पर होने वाला (तिङ्) तिङ् (आर्धधातुकम्) आर्धधातुकसंज्ञक हो। यहां भी 'लिँट् च' (४००) सूत्र की तरह **'लँङः शाकटायनस्यैव'** (३.४.१११) सूत्र से 'एव' पद का अनुवर्त्तन कर 'आर्धधातुक-सञ्ज्ञा ही हो अर्थात् सार्वधातुकसञ्ज्ञा न हो' इस प्रकार समझ लेना चाहिये। अतः यहां एकसञ्ज्ञाधिकार न होने पर भी एक ही सञ्ज्ञा होगी दो नहीं।

'भू+ति' में सार्वधातुकसञ्ज्ञा का बाध होकर प्रकृतसूत्र से आर्धधातुकसञ्ज्ञा हो गई। इस से शप् न हुआ, क्योंकि **'कर्त्तरि शप्'** (३८७) सूत्र से शप् तभी होता है जब सार्वधातुक परे हो। अब **'यासुट् परस्मैपदेषु०'** (४२६) सूत्र से यासुट् का आगम हो जाता है। परन्तु वहां पर यासुट् को ङित् कहा गया है वह यहां अभीष्ट नहीं, यहां कित् करना ही अभीष्ट है अतः इस के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(४३२) किदाशिषि ।३।४।१०४।।

आशिषि लिँङो यासुट् कित्। स्कोः संयोगाद्योर्० (३०९) इति सलोपः ।।

अर्थः—आशीर्वाद अर्थ में लिँङ् का आगम यासुट् कित् हो। **'स्कोः संयोगाद्यो-रन्ते च'** (३०९) सूत्र से सकार का लोप हो जायेगा।

व्याख्या—कित् ।१।१। आशिषि ।७।१। लिँङः ।६।१। (**'लिँङः सीयुट्'** से) यासुट्।१।१। (**'यासुट् परस्मै०'** से)। अर्थः—(आशिषि) आशीर्वाद में (लिङः) लिँङ्-सम्बन्धी (यासुट्) यासुट् (कित्) कित् हो। कित् करने से सम्प्रसारणादि कार्य सिद्ध हो जाते हैं। यथा—यज् धातु के आशीर्लिँङ् में 'यज्+यात्' इस अवस्था में **'वचिस्वपि०'** (५४७) सूत्र से कित् परे होने पर सम्प्रसारण हो जाता है—इज्यात्।

इसी प्रकार वह् का—उह्यात्, वप् का—उप्यात्, वच् का—उच्यात्, वस् का—उष्यात्, वद् का—उद्यात् आदि रूप यासुट् को कित् मान कर ही उपपन्न होते हैं। 'जागर्यात्' में 'जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु' (७.३.८५) द्वारा गुण भी यासुट् को कित् मान कर ही किया जा सकता है, अन्यथा ङित् में तो उसकी प्रवृत्ति निषिद्ध है।

'भू+यास् त्' यहां न तो अदन्त अङ्ग है और न ही लिंङ् सार्वधातुक है, अतः **'अतो येयः'** (४२८) की प्रवृत्ति नहीं होती। अब **'हलोऽनन्तराः संयोगः'** (१३) से 'स् त्' की संयोगसञ्ज्ञा होकर संयोगान्तलोप (२०) के अपवाद **'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च'** (३०९) द्वारा संयोग के आदि सकार का लोप करने से 'भूयात्' प्रयोग सिद्ध होता है [1]।

शङ्का—'भू+यास् त्' इस स्थिति में **'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्'** (१७९) से अपृक्त तकार का लोप होकर 'भूयाः' बनना चाहिये था क्योंकि **'स्कोः संयोगाद्योः०'** वाला संयोगादिलोप तो त्रिपादी होने से उसकी दृष्टि में असिद्ध है।

समाधान—हल्ङ्यादिसूत्र में अपृक्त के लोप का विधान किया गया है; अपृक्तसञ्ज्ञा **'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः'** (१७८) सूत्र से एकाल्प्रत्यय की ही हुआ करती है। परन्तु यहां 'त्' (तिप्) के साथ यासुट् का आगम भी सम्बद्ध है (**'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते'**) अतः इस की किसी भी प्रकार अपृक्तसंज्ञा नहीं हो सकती। अपृक्त न होने से हल्ङ्यादिसूत्र द्वारा तकार का लोप नहीं होता।

अच्छा तो 'भू+यात्' में 'यात्' इस आर्धधातुक के परे होने पर **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** (३८८) से इगन्त अङ्ग भू के ऊकार को गुण ही हो जाये—इस शङ्का की निवृत्ति के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(४३३) क्क्ङिति[2] च ।१।१।५।।

---

१. यद्यपि **'संयोगान्तस्य लोपः'** (२०) की दृष्टि में **'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च'** (३०९) सूत्र असिद्ध है तथापि **'अपवादो वचनप्रामाण्यात्'** के अनुसार यह उस का अपवाद होने से असिद्ध नहीं होता। इस विषय का स्पष्टीकरण इस ग्रन्थ के प्रथमभाग में (६३) सूत्र पर देखें।

२. कई लोग **'झरो झरि सवर्णे'** (७३) के कारण दूसरे ककार का लोप करके 'क्ङिति च' इस प्रकार एकककारघटित सूत्रपाठ लिखा करते हैं, यह नितान्त अशुद्ध है। क्योंकि यहां ङकार वर्ण ककार का सवर्ण होता हुआ भी झरों के अन्तर्गत नहीं आता, अतः उसके परे रहते झरोझरिलोप सम्भव नहीं। इसलिये कौमुदीग्रन्थों में द्विककारघटित सूत्र ही लिखा जाना उचित है।

गित्-किद्-ङिन्निमित्ते[1] इग्लक्षणे गुणवृद्धी न स्तः। भूयात्, भूयास्ताम्, भूयासुः। भूयाः, भूयास्तम्, भूयास्त। भूयासम्, भूयास्व, भूयास्म॥

अर्थः—गित् कित् ङित् को मान कर इग्लक्षण गुण वा वृद्धि नहीं होते।

व्याख्या—क्क्ङिति ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। 'इकः' इति 'इको गुणवृद्धी' इत्यतोऽनुवर्तते। गुणवृद्धी ।१।२। ('इको गुणवृद्धी' से)। न इत्यव्ययपदम् ('न धातुलोप०' से)। ग् च क् च ङ् च क्क्ङः, क्क्ङ इतो यस्यासौ क्क्ङित्, तस्मिन् क्क्ङिति। निमित्तसप्तम्येषा[2]। अनुवर्तित 'इकः' पद अर्थपरक है—ऐसा आकरग्रन्थों में व्याख्यात है। अर्थः—(क्क्ङिति) गित् कित् ङित् के होने पर अर्थात् गित् कित् ङित् को मानकर ('इकः' इति) 'इकः' इस प्रकार कहकर प्राप्त हुए (गुणवृद्धी) गुण और वृद्धि (न) नहीं होते। जहां 'इकः' पद का निर्देश कर के गुण या वृद्धि का विधान करें उसे इग्लक्षण गुणवृद्धि कहते हैं[3], उसी इग्लक्षण गुणवृद्धि का इस सूत्र में निषेध किया गया है।

गित् में गुणनिषेध यथा—जि+ग्स्नु ('ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' ३.२.१३६)=जि+स्नु=जिष्णुः। यहां ग्स्नुप्रत्यय के गकार की इत्सञ्ज्ञा हुई है अतः यह गित् है इस गित् को मानकर 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से इग्लक्षण गुण प्राप्त होता है उस का प्रकृतसूत्र से निषेध हो जाता है[4]। इसी प्रकार 'भूष्णुः' में भी गुण नहीं होता।

---

१. यहां 'ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' (५१) से प्रगृह्यसञ्ज्ञा हो जाने के कारण प्रकृतिभाव हो गया है अतः सन्धि नहीं हुई।

२. निमित्तात् सप्तमी निमित्तसप्तमी। पञ्चमीति योगविभागेन समासः (न्यासे)। 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (२.३.३७) द्वारा विहित भावसप्तमी का ही दूसरा नाम 'निमित्तसप्तमी' है। यदि यहां निमित्तसप्तमी नहीं मानेंगे तो 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१६) सूत्र द्वारा परसप्तमी होकर 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) का ही निषेध हो सकेगा, 'पुगन्तलघूपधस्य च' (४५१) का नहीं। हमें दोनों स्थानों पर निषेध करना अभीष्ट है, अतः निमित्तसप्तमी मानना ही उचित है; तभी तो काशिका में कहा है—'लघूपधगुणस्याप्यत्र प्रतिषेधः'।

३. जहां किसी स्थानी का निर्देश किये विना गुण या वृद्धि का विधान किया जाता है वहां 'इको गुणवृद्धी' (१.१.३) से 'इकः' पद उपस्थित हो जाता है। यथा—सार्वधातुकार्धधातुकयोः, पुगन्तलघूपधस्य च, मृजेर्वृद्धिः आदि में होता है। इनको ही यहां इग्लक्षण गुण वा वृद्धि कहते हैं।

४. यहां 'ग्स्नु' की जगह 'क्स्नु' प्रत्यय ही क्यों न कर लिया जाये, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। तब 'स्था+क्स्नु=स्थास्नुः' में 'घुमास्था०' (५८८) से ईत्व प्राप्त होने लगेगा जो अनिष्ट है। पाणिनिसम्प्रदाय में वामनाचार्य 'क्ङिति च' इस

गित् में वृद्धिनिषेध का कोई उदाहरण नहीं मिलता।

कित् में गुणनिषेध यथा—जि+क्त=जितः। जि+क्तवतुँ=जितवत्=जितवान्। यहां क्त और क्तवतुँ प्रत्ययों के ककार की इत्सञ्ज्ञा हुई है अतः ये कित् हैं, इन कित् प्रत्ययों को मान कर 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से इग्लक्षण गुण प्राप्त होता है उसका प्रकृतसूत्र से निषेध हो जाता है। इसी प्रकार भुक्तः, भुक्तवान्, छिन्नः, छिन्नवान् आदि में इग्लक्षण लघूपधगुण ('पुगन्तलघूपधस्य च') का निषेध समझना चाहिये। कित् में वृद्धिनिषेध यथा—मृष्टः, मृष्टवान्। यहां क्त और क्तवतुँ कित्प्रत्ययों को मान कर, 'मृजेर्वृद्धिः' (७८२) से इग्लक्षणा वृद्धि प्राप्त होती है उसका प्रकृतसूत्र से निषेध हो जाता है।

ङित् में गुणनिषेध यथा—शृणुतः, शृण्वन्ति। यहां श्नु, तस् और झि सब 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित् हैं, अतः इन को मान कर प्राप्त होने वाले इग्लक्षण गुण का प्रकृतसूत्र से निषेध हो जाता है। ङित् में वृद्धिनिषेध यथा—मृष्टः। यहां मृज् धातु से लँट् में तस् प्रत्यय किया गया है वह 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित् है, अतः उसे मानकर 'मृजेर्वृद्धिः' (७८२) से प्राप्त होने वाली इग्लक्षणा वृद्धि का प्रकृतसूत्र से निषेध हो जाता है।

यह सम्पूर्ण निषेध इग्लक्षण गुण और इग्लक्षणा वृद्धि का ही समझना चाहिये। जहां दूसरे ढंग से गुण वा वृद्धि प्राप्त होंगे वे निर्बाध हो जायेंगे। यथा—लिगोर्गोत्रापत्यं लैगवायनः (लिगु का गोत्रापत्य)। यहां लिगुशब्द से 'नडादिभ्यः फक्' (४१९९) से फक् प्रत्यय, फक् के ककार की इत्सञ्ज्ञा, फ् को 'आयनेयीनीयियः०' (१०१०) से आयन् आदेश, 'किति च' (९९८) द्वारा आदिवृद्धि, 'ओर्गुणः' (१००२) से अन्त्य उकार को ओकार गुण, तथा अवादेश करने से 'लैगवायनः' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां 'किति च' द्वारा वृद्धि करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती क्योंकि इससे विधान की जाने वाली वृद्धि इग्लक्षणा नहीं, वहां 'तद्धितेष्वचामादेः' (९३८) का अनुवर्त्तन होकर 'अचाम् आदेः' (अचों में आदि अच् को वृद्धि हो) कहा गया है 'इकः' नहीं। इसी प्रकार 'ओर्गुणः' से गुण भी निर्बाध हो जाता है, क्योंकि वहां 'ओः' (उकार के स्थान पर गुण हो) कहा गया है 'इकः' नहीं।

प्रकार एकककारघटित सूत्र पढ़ते हैं और गकार का प्रश्लेष नहीं मानते। उनके मत में 'ग्स्नु' प्रत्यय नहीं अपितु 'क्स्नु' प्रत्यय है। वे 'ग्लाजिस्थश्च०' सूत्र में 'ग्ला+आ' इस प्रकार प्रश्लेष करके 'स्थास्नु' में ईत्व का वारण करते हैं। उनका मत काशिका (७.२.११) तथा न्यास-पदमञ्जरी में देखा जा सकता है।

'भू+यात्' यहां 'किदाशिषि' (४३२) से यात् कित् है अतः इसे मान कर 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से प्राप्त होने वाला इग्लक्षण गुण प्रकृतसूत्र से निषिद्ध हो गया तो 'भूयात्' पद ही सिद्ध हुआ।

'भूयास्ताम्'—भू धातु से आशीर्लिँङ्, प्रथमपुरुष के द्विवचन की विवक्षा में तस्, उसे ताम् आदेश, आर्धधातुकसंज्ञा के कारण शप् का अभाव, यासुट् का आगम तथा कित्त्व के कारण इग्लक्षण गुण का निषेध होकर रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां सार्वधातुकसंज्ञा न होने से 'लिँङः सलोपोऽनन्त्यस्य' (४२७) से यास् के सकार का लोप नहीं होता।

प्रश्न—अन्तरङ्ग होने से यदि यासुट् के आगम को ताम् आदेश से पहले कर दें तो क्या 'तस्थस्थमिपां०' सूत्र से यासुट्विशिष्ट तस् को ताम् आदेश प्राप्त नहीं होगा?

उत्तर—'आद्युदात्तश्च' (३.१.३) सूत्रस्थ भाष्य के अनुमोदन से यदि यासुट् का आगम पहले कर भी दें तो भी 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इस परिभाषा के अनुसार केवल तस् आदि को ही ताम् आदि आदेश होंगे यासुट्सहित को नहीं। अतः यासुट् पहले करें या बाद में दोनों अवस्थाओं में कोई दोष नहीं आता।

भूयासुः—भू धातु से आशीर्लिँङ् प्रथमपुरुष के बहुवचन की विवक्षा में लकार के स्थान पर झि आदेश, उसके आर्धधातुक होने से शप् का अभाव, यासुट् आगम, 'झेर्जुस्' (४३०) से झि को जुस् आदेश, अनुबन्धलोप, यासुट् के कित्त्व के कारण 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से प्राप्त इग्लक्षण गुण का निषेध, अन्त्य सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर अभीष्ट प्रयोग सिद्ध होता है।

भूयाः—भू धातु से आशीर्लिँङ्, मध्यमपुरुष के एकवचन में सिप् आदेश, 'इतश्च' (४२४) से इकार का लोप, आर्धधातुकसञ्ज्ञा के कारण शप् का अभाव, यासुट् का आगम, कित्त्वात् इग्लक्षण गुण का निषेध होकर 'भू+यास् स्' इस स्थिति में 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (३०६) से संयोग के आदि में सकार का लोप तथा अन्त्य सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग करने पर 'भूयाः' प्रयोग सिद्ध होता है।

भूयास्तम्—यहां मध्यमपुरुष के द्विवचन में थस् को तम् आदेश हो जाता है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् जाननी चाहिये।

भूयास्त—यहां मध्यमपुरुष के बहुवचन में थ को त आदेश हो जाता है। शेष पूर्ववत्।

भूयासम्—यहां उत्तमपुरुष के एकवचन में मिप् को अम् आदेश हो जाता है।

भूयास्व—यहां उत्तमपुरुष के द्विवचन में वस् के सकार का 'नित्यं ङितः' (४२१) से लोप हो जाता है। इसी प्रकार बहुवचन में भी—भूयास्म। आशीर्लिँङ् में

रूपमाला यथा—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र० पु०	भूयात्	भूयास्ताम्	भूयासुः
म० पु०	भूयाः	भूयास्तम्	भूयास्त
उ० पु०	भूयासम्	भूयास्व	भूयास्म

तव पुत्रो भूयात् (तेरा पुत्र हो), त्वं चिरायुर्भूयाः (तू चिरायु हो), वयं भूयास्म सर्वदा (हम सदा हों) इत्यादि प्रकार से आशीर्लिङ् का प्रयोग समझना चाहिये।

नोट—सिद्धान्तकौमुदी आदि व्याकरण के उच्च प्रक्रियाग्रन्थों में विधिलिङ् और आशीर्लिङ् दोनों में जहां जहां त् वा थ् पाये जाते हैं वहां वहां 'सुट् तिथोः' (५२३) से सुट् का आगम किया जाता है। सुट् का स् शेष रहता है। विधिलिङ् में सर्वत्र सार्वधातुकसञ्ज्ञा होने से उस सकार का 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' (४२७) द्वारा लोप हो जाता है। आशीर्लिङ् में भी 'भू+यास् स् त्' इस दशा में 'स्कोः०' (३०९) सूत्र से प्रथम सुट् के सकार का पुनः उसी सूत्र से यास् के सकार का लोप हो जाता है[1]। सुट् का श्रवण तो आत्मनेपद के आशीर्लिङ् में 'एधिषीष्ट, एधिषीयास्ताम्' आदियों में होता है। लघुकौमुदी में वरदराज जी ने परस्मैपद में यह सब बालकों के लिये अनुपयोगी समझ कर छोड़ दिया है, इस का वर्णन आत्मनेपद में एध् धातु पर मूल में ही किया जायेगा।

अब लुँङ् की प्रक्रिया प्रारम्भ करते हुए प्रथम लुङ्विधायक सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४३४) लुँङ् ।३।२।११०।।

भूतार्थे धातोर् लुँङ् स्यात् ।।

अर्थः—भूतकाल में धातु से लुँङ् हो।

---

१. पहले सुट् के सकार का और तदनन्तर यास् के सकार का लोप होता है—इस क्रम को यहां भुलाना नहीं चाहिये। भट्टोजिदीक्षित का प्रौढमनोरमा में 'झलपर-संयोगादित्वेन यासुटः सस्य लोपः, सुटस्तु पदान्तसंयोगादित्वेन —' यह कथन भ्रमपूर्ण है। इसकी संगति लगाने के लिये उनके पौत्र हरिदीक्षित को लघुशब्दरत्न में कितना व्यायाम करना पड़ा—यह देखते ही बनता है। इस विषय का विवेचन सिद्धान्तकौमुदी की बालमनोरमाटीका में सुन्दर ढंग से किया गया है।

व्याख्या—लुँङ् ।१।१। 'भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च' इन चार अधिकारसूत्रों का यहां अनुवर्त्तन होता है । अर्थः—(भूते) भूतकाल में (धातोः) धातु से (परः) परे (लुँङ्) लुँङ् (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है । पीछे अनद्यतनभूत में लँङ् (४२२) तथा अनद्यतनभूत परोक्ष में लिँट् (३६१) का विधान कर चुके हैं अतः उन दोनों अपवादों के विषय को छोड़ कर भूतसामान्य में लुँङ् का प्रयोग समझना चाहिये ।

अब माङ् के योग में विशिष्ट लकार का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४३५) माङि लुँङ् ।३।३।१७५।।

सर्वलकारापवादः ।।

अर्थः—माङ् शब्द के उपपद रहते धातु से लुँङ् प्रत्यय हो । यह सब लकारों का अपवाद है ।

व्याख्या—माङि ।७।१। लुँङ् ।१।१। 'धातोः, प्रत्ययः, परश्च' ये तीनों पीछे से अधिकृत हैं । अर्थः—(माङि) माङ् शब्द के उपपद होने पर (धातोः) धातु से (परः) परे (लुँङ्) लुँङ् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो । यथा—मा भवान् कार्षीत् (आप मत करें, आप नहीं करोगे, आपने नहीं किया आदि) । माङ् के योग में लुँङ् में अट् या आट् का आगम नहीं होता—यह आगे (४४१) सूत्र पर स्पष्ट है ।

यह सब लकारों का अपवाद है; अतः वर्त्तमान, भूत, भविष्यत् तथा विध्यादियों में भी माङ् के योग में लुँङ् का ही प्रयोग होगा । इसलिये 'मा भवान् कार्षीत्' का केवल 'आप मत करें' इतना ही अर्थ नहीं होता अपितु 'आप नहीं करोगे' आदि अन्य अर्थ भी होंगे[1] ।

कई स्थानों पर 'मा' के योग में लोँट्, विधिलिँङ् वा लृँट् का भी प्रयोग देखा जाता है । यथा—मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि (गीता २.४७), मा खेदं भज हेयेषु (मोहोपनिषद् १६.२८), मा च बुद्धिमधर्मे त्वं कुर्या राजन् कथञ्चन (रामायण उत्तर० ४०,१०), माऽसमीक्ष्य परं स्थानं पूर्वमायतनं त्यजेत् (हितोप० मित्रलाभ), मा विनाशं गमिष्यामः (रामायण उत्तर० ३५.६३), मा भविष्यति शीतार्ता जानकी हृदयस्थिता (गणरत्नमहोदधि, श्लोक ६), मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि (साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी) इत्यादि । यहां काशिकाकार ने 'केचित्' कह कर एक मत उद्धृत किया है । उस का

---

१. चान्द्रव्याकरण तथा भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण में इस सूत्र का विषय केवल भविष्यत्काल तक सीमित किया गया है । इसे 'सर्वलकाराणामपवादः' नहीं कहा गया । सुधीजनों को इस विषय का अन्वेषण करना चाहिये ।

तात्पर्य यह है कि ङित् माङ् की तरह अङित् 'मा' भी निषेधार्थक अव्यय है, अतः जहां लुंङ् का प्रयोग नहीं देखा जाता वहां 'माङ्' का प्रयोग न समझ कर 'मा' का ही प्रयोग समझना चाहिये। परन्तु नागेशभट्ट का मत है कि 'आङ्माङोश्च' (६.१.७४) के महाभाष्य को देखने से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि 'मा' नाम का कोई अव्यय नहीं, अतः वे उपर्युक्त आर्षप्रयोगों को आर्षत्वात् साधु मानते हैं और ऐसे लौकिकप्रयोगों को असाधु। स्वामिदयानन्दसरस्वती अपने अष्टाध्यायीभाष्य में 'आशिषि लिङ्लोँटौ' (३.३.१७३) सूत्र से 'लिँङ्-लोँटौ' की मण्डूकप्लुति से अनुवृत्ति लाते हैं। उनके मत का आधार अन्वेषणीय है तब 'मा भविष्यति' आदियों में लृँट् का समाधान कैसे होगा? यह भी विचारणीय है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४३६) स्मोत्तरे लँङ् च ।३।३।१७६॥

स्मोत्तरे माङि लँङ् स्याच्चाल्लुँङ् ॥

अर्थः—यदि माङ् के आगे 'स्म' लगा हो तो उसके योग में लँङ् भी हो। 'भी' कहने से लुँङ् का प्रयोग भी होगा।

व्याख्या—स्मोत्तरे ।७।१। माङि ।७।१। ('माङि लुँङ्' से)। लँङ् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। स्मशब्द उत्तरो यस्मात्, तस्मिन् स्मोत्तरे, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(स्मोत्तरे) 'स्म' शब्द जिस के आगे लगा हो ऐसे (माङि) माङ् के योग में (लँङ्) लँङ् (च) भी होता है। 'च' से पूर्वप्राप्त लुँङ् भी हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि 'मा स्म' शब्द के योग में धातु से लँङ् और लुँङ् किसी का भी प्रयोग हो सकता है। इस के उदाहरण आगे (४४१) सूत्र पर देखें।

नोट—न्यास और पदमञ्जरीकार का कथन है कि इस सूत्र में उत्तर' शब्द अधिक का वाचक है अर्थात् यदि माङ् के योग में 'स्म' शब्द अधिक प्रयुक्त होगा तो लँङ् या लुँङ् दोनों हो सकेंगे। इस से 'मा देवदत्त स्म हरत्' (हे देवदत्त! आप हरण न करो) इत्यादि व्यवधान में भी प्रयोग उपपन्न हो जाते हैं जो उपर्युक्त व्याख्यान से सिद्ध नहीं हो सकते[1]।

अब लुँङ् में शप् के अपवाद च्लिप्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४३७) च्लि लुँङि ।३।१।४३॥

शबाद्यपवादः ॥

---

१. शाकटायनव्याकरण की चिन्तामणि-लघुवृत्ति में यह स्पष्ट है। जैनेन्द्रव्याकरण में देवनन्दिमहाराज इसी लिये 'सस्मे लङ् च' (२.३.१५२) सूत्र पढ़ते हैं। भट्टोजिदीक्षित तथा तदुत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने यहां कुछ नहीं लिखा, यह बड़े आश्चर्य की बात है।

अर्थः—लुँङ् परे होने पर धातु से परे च्लि प्रत्यय हो। यह सूत्र शप् आदियों का अपवाद है।

व्याख्या—च्लि ।१।१। लुँङि ।७।१। धातोः ।५।१। ('धातोरेकाचो हलादेः०' से) 'प्रत्ययः, परश्च' ये दोनों अधिकृत हैं। अर्थः—(लुँङि) लुँङ् परे होने पर (धातोः) धातु से (परः) परे (च्लि) च्लि (प्रत्ययः) प्रत्यय हो। च्लिप्रत्यय का इकार उच्चारणार्थ है, चकार की 'चुटू' (१२९) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है।

अब च्लि के स्थान पर सिँच् आदेश का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४३८) च्लेः सिँच् ।३।१।४४॥

इचावितौ ॥

अर्थः -च्लि के स्थान पर सिँच् आदेश हो। सिँच् के इकार और चकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है।

व्याख्या—च्लेः ।६।१। सिँच् ।१।१। अर्थः—(च्लेः) च्लि के स्थान पर (सिँच्) सिँच् आदेश होता है। सिँच् के चकार की 'हलन्त्यम्' (१) सूत्र से तथा इकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा होकर 'तस्य लोपः' (३) से लोप हो जाता है, इस प्रकार 'स्' मात्र अवशिष्ट रहता है[1]।

शङ्का—यदि च्लि के स्थान पर सिँच् आदि आदेश ही करने हैं तो बीच में च्लि को क्यों लाते हैं? सीधे सिँच् को ही उत्सर्ग करना चाहिये, जहां वह इष्ट न हो वहां उसके अपवाद अङ्, चङ्, क्स आदि कह देने चाहियें।

समाधान—यदि च्लि को बीच में नहीं लाते तो 'शल इगुपधादनिटः क्सः' (५९०) सूत्र में 'अनिटः' पद 'धातोः' का विशेषण बन जायेगा, तब अर्थ होगा—शलन्त इगुपध अनिट् धातु से परे क्सप्रत्यय हो। इस प्रकार के अर्थ में 'गुहू संवरणे' (भ्वा० उभय०) धातु के लुँङ् में 'अघुक्षत्' रूप सिद्ध न हो सकेगा। क्योंकि ऊदित् होने से 'स्वरतिसूति०' (४७६) सूत्र द्वारा वह वेट् है, अतः अनिट् न होने से उस से परे क्स न होगा। परन्तु अब हम 'अनिटः' पद को 'च्लेः' का विशेषण बना लेते हैं;

---

१. सिँच् में इकार उच्चारणार्थक नहीं अपितु इत्सञ्ज्ञक है। अत एव सिँच् के इदित् होने के कारण 'मन ज्ञाने' (दिवा० आ०) धातु के लुँङ् में 'अमन् स्+त' इस स्थिति में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) के अनुसार 'त' इस ङित् के परे होने पर भी 'अनिदितां हलः०' (३३४) से नकार का लोप न होकर 'अमंस्त' प्रयोग निर्बाध बन जाता है। सिँच् को चित् करने का प्रयोजन 'चितः' (६.१.१५७) द्वारा अन्तोदात्त करना है। च्लि भी चित् और उसके स्थान पर होने वाला आदेश सिँच् भी चित्, दोनों को चित् क्यों किया गया है? इसका विवेचन पदमञ्जरी आदि प्रौढग्रन्थों में देखें।

जिस पक्ष में इट् नहीं होता वहां च्लि के अनिट् होने से क्स आदेश हो जाता है और जहां इट् होता है वहां च्लि के सेट् होने से क्स आदेश न होकर 'अगृहीत्' बन जाता है। इस का विशेष विवेचन न्यास और पदमञ्जरी में देखें।

अब अग्रिम-सूत्र में भू धातु से परे सिँच् का लुक् विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् -(४३९) गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः सिँचः परस्मैपदेषु ।२।४।७७।।

एभ्यः सिँचो लुक् स्यात् । गापाविहेणादेशपिबती गृह्येते ॥

अर्थः—परस्मैपद प्रत्यय परे हो तो गा, स्था, घु, पा और भू धातुओं से परे सिँच् का लुक् हो । गापा०—इस सूत्र में 'गा' से इण् धातु के स्थान पर आदेश होने वाले 'गा' का तथा 'पा' से 'पा पाने' (भ्वादि० परस्मैपद) धातु का ग्रहण होता है अन्य का नहीं ।

व्याख्या— गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः ।५।३। सिँचः ।६।१। परस्मैपदेषु ।७।३। लुक् ।१।१। ('ण्यक्षत्रियार्ष०' से) । अर्थः—(गातिस्थाघुपाभूभ्यः) गा, स्था, घु, पा और भू धातुओं से परे (सिँचः) सिँच् का (लुक्) लुक् हो जाता है (परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्ययों के परे होने पर ।

'गा' यह रूप दो धातुओं का बनता है । एक तो 'गै शब्दे' (भ्वा० परस्मै०) का । इसे '**आदेच उपदेशेऽशिति**' (४९३) से आकार आदेश होकर 'गा' बन जाता है । दूसरा '**इण् गतौ**' (अदा० परस्मै०) धातु के स्थान पर '**इणो गा लुँङि**' (५८२) सूत्र द्वारा 'गा' आदेश हो कर बनता है । परन्तु यहां पर इण् के स्थान पर आदेश होने वाले 'गा' का ही ग्रहण अभीष्ट है । इसी प्रकार 'पा' भी दो धातुएं हैं, एक पा पाने (भ्वा० परस्मै०) और दूसरी पा रक्षणे (अदा० परस्मै०) । यहां पहली 'पा पाने' धातु (जिसके पिबति, पिबतः, पिबन्ति आदि रूप बनते हैं) का ही ग्रहण अभीष्ट है, दूसरी का नहीं । महाभाष्य में कहा भी है—**गापोर्ग्रहणे इण्पिबत्योर्ग्रहणम्** । इस सूत्र के उदाहरण यथा—

गा (इण् गतौ) —अगात्, अगाताम्, अगुः आदि ।

स्था (ष्ठा गतिनिवृत्तौ —ठहरना) —अस्थात्, अस्थाताम्, अस्थुः आदि ।

घु ('दाधाघ्वदाप्' ६२३ सूत्र से दा और धा रूप वाले धातुओं की घुसञ्ज्ञा हो जाती है) डुदाञ् दाने—अदात्, अदाताम्, अदुः । डुधाञ् धारणपोषणयोः—अधात्, अधाताम्, अधुः आदि ।

पा (पा पाने) —अपात्, अपाताम्, अपुः आदि ।

भू (भू सत्तायाम्) —अभूत्, अभूताम्, अभूवन् आदि ।

सिँच् का यह लुक् परस्मैपदों में ही होता है आत्मनेपदप्रत्ययों में नहीं। यथा—'अगासातां ग्रामौ देवदत्तेन' यहां पर इण् के स्थान पर गा आदेश तो हुआ है परन्तु कर्मवाच्य में आत्मनेपद के परे होने से सिँच् का लुक् नहीं होता। 'गै शब्दे' और 'पा रक्षणे' धातुओं का यहां ग्रहण न होने से उनके क्रमशः 'अगासीत्' और 'अपासीत्' रूप बनते हैं।

अभूत्—भू धातु से भूतसामान्य में 'लुँङ्' (४३४) सूत्र से लुँङ्, अनुबन्ध-लोप, प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में लकार को तिप् आदेश, 'इतश्च' (४२४) से तिप् के इकार का लोप, सार्वधातुकत्वात् प्राप्त हुए शप् का बाध कर 'च्लि लुँङि' (४३७) से च्लिप्रत्यय, 'च्लेः सिँच्' (४३८) से उसे सिँच् आदेश तथा अनुबन्धलोप करने पर 'भू स्+त्' हुआ। अब 'लुँङ्-लँङ्-लृङ्क्ष्वडुदात्तः' (४२३) से अङ्ग को अट् का आगम तथा 'गातिस्था०' (४३९) सूत्रद्वारा सिँच् का लुक् करने से 'अभूत्' प्रयोग सिद्ध होता है।

परन्तु अब यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि 'अभूत्' में 'त्' सार्वधातुक को मान कर 'सार्वधातुकार्धधातुकयो.' (३८८) से भू के ऊकार को ओकार गुण क्यों न किया जाये ? इस के समाधान के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४४०) भू-सुवोस्तिङि ।७।३।८८।।

भू सू एतयोः सार्वधातुके तिङि परे गुणो न। अभूत्, अभूताम्, अभूवन्। अभूः, अभूतम्, अभूत। अभूवम्, अभूव, अभूम ।।

अर्थः—सार्वधातुक तिङ् परे होने पर भू और सू को गुण नहीं होता।

व्याख्या—भू-सुवोः ।६।२। तिङि ।७।१। सार्वधातुके ।७।१। न इत्यव्ययपदम् ('नाऽभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' से)। गुणः ।१।१। ('मिदेर्गुणः' से)। अर्थः - (सार्वधातुके तिङि) सार्वधातुक तिङ् परे होने पर (भू-सुवोः) भू और सू के स्थान पर (गुणः) गुण (न) नहीं होता। 'सू' से यहां अदादिगणीय 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' धातु का ही ग्रहण सम्भव है क्योंकि तुदादिगणीय और दिवादिगणीय सू' से परे तो कभी सार्वधातुक तिङ् आता ही नहीं, बीच में सर्वत्र विकरण आ जाता है। किञ्च उन में विकरण के ङिद्वद्भात्र होने से ही गुणाभाव सिद्ध है अतः वहां इस सूत्र की आवश्यकता भी नहीं है। 'सू' के उदाहरण—सुवै, सुवावहै, सुवामहै आदि सिद्धान्त-कौमुदी में देखें।

'अभूत्' में भू से परे सार्वधातुक तिङ् 'त्' विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से गुण

का निषेध होकर 'अभूत्' रूप अक्षुण्ण रहा [१]।

ध्यान रहे कि 'भवति, भवतः, भवन्ति' आदि में इस सूत्र द्वारा गुण का निषेध नहीं होता, क्योंकि वहां भू से परे सीधा तिङ् नहीं रहता अपितु बीच में शप् आता है। शप् को मानकर ही वहां गुण किया जाता है, तिङ् को मान कर नहीं।

अभूताम्—प्रथमपुरुष के द्विवचन में तस् को **'तस्थस्थमिपां०'** (४१४) सूत्र से ताम् आदेश हो जाता है शेष प्रक्रिया पूर्ववत् समझनी चाहिये। किञ्च यहां गुण-निषेध के लिये 'भूसुवोस्तिङि' की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ताम् के ङिद्वत् हो जाने से **'क्ङिति च'** (४३३) द्वारा गुणनिषेध स्वतः ही सिद्ध है।

अभूवन्—भू धातु से भूतसामान्य में लुँङ्, प्रथमपुरुष के बहुवचन में उसे झि आदेश, च्लि विकरण, **'च्लेः सिँच्'** (४३८) से उसे सिँच् आदेश, **'गातिस्था०'**(४३९) से सिँच् का लुक्, **'झोऽन्तः'** (३८९) से झ् को अन्त् आदेश, **'इतश्च'** (४२४) से इकारलोप, **'भुवो वुग्लुँङ्लिँटोः'** (३९३) से भू अङ्ग को वुक् का आगम तथा 'लुँङ्-लँङ्लृँङ्०' (४२३) सूत्र से अट् का आगम होकर 'अभूव् अन्त्' बना। अब **'संयोगान्तस्य लोपः'** (२०) से तकार का संयोगान्तलोप करनें पर 'अभूवन्' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां पर कई व्युत्पन्न (?) विद्यार्थी "संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से **'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य'** (१८०) द्वारा नकार का लोप नहीं होता" इस प्रकार लिखा करते हैं, परन्तु वह नितान्त प्रमाद है क्योंकि **'नलोपः०'** सूत्र द्वारा प्रातिपदिक के अन्त्य नकार का लोप किया जाता है न कि धातु के अन्त्य नकार का। यहां तो नकारलोप की प्राप्ति ही नहीं होती।

नोट—सिँच् का लुक् होकर 'अभू+झि' इस अवस्था में **'झोऽन्तः'** लगाने से पहले **'सिँजभ्यस्तविदिभ्यश्च'** (४४७) से झि को जुस् प्राप्त था जो **'आतः'** (४९१) इस नियम के कारण नहीं हुआ। यह सब आगे स्पष्ट है।

अभूः—यहां पर मध्यमपुरुष के एकवचन में सिप् के इकार का **'इतश्च'** (४२४) सूत्र से लोप हो गया है, शेष प्रक्रिया पूर्ववत् होकर सकार को रुँत्वविसर्ग हो जाते हैं।

अभूतम्—यहां पर लुंङ् के मध्यमपुरुष के द्विवचन थस् को **'तस्थस्थमिपां०'** (४१४) सूत्र से तम् आदेश हो जाता है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

---

१. यहां पर 'त्' इस अपृक्त को 'अस्तिसिँचोऽपृक्ते' (४४५) से ईट् का आगम नहीं होता, क्योंकि वहां विद्यमान सिँच् से परे ईट् का विधान कहा गया है। यहां पर तो सिँच् का लुक् हो चुका है।

अभूत—यहां पर मध्यमपुरुष के बहुवचन में 'थ' को 'त' आदेश हो जाता है। शेष पूर्ववत् जानें।

अभूवम्—यहां पर मिप् को अम् आदेश होकर वुक् का आगम होता है।

अभूव, अभूम—यहां पर 'नित्यं ङितः' (४२१) से वस् मस् के सकार का लोप विशेष है। लुङ् में रूपमाला यथा—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र० पु०	अभूत् (वह हुआ)	अभूताम् (वे दो हुए)	अभूवन् (वे सब हुए)
म० पु०	अभूः (तू हुआ)	अभूतम् (तुम दो हुए)	अभूत (तुम सब हुए)
उ० पु०	अभूवम् (मैं हुआ)	अभूव (हम दो हुए)	अभूम (हम सब हुए)

अब माङ् के योग में विशेषकार्य का विधान करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(४४१) न माङ्योगे ।६।४।७४।।

अडाटौ न स्तः। मा भवान् भूत्। मा स्म भवत्। मा स्म भूत्।।

अर्थः—माङ् के योग में अङ्ग को अट् वा आट् के आगम नहीं होते।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। माङ्योगे ।७।१। अट् ।१।१। आट् ।१।१। ('लुङ्-लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' से अट् तथा 'आडजादीनाम्' से आट् का अनुवर्त्तन होता है)। अङ्गस्य ।६।१। (अधिकृत है)। माङो योगः—माङ्योगः, तस्मिन् माङ्योगे। अर्थः—(माङ्योगे) माङ् के योग में (अङ्गस्य) अङ्ग के अवयव (अट् आट्) अट् वा आट् (न) नहीं होते। अट् का आगम पीछे (४२३) सूत्र में कह चुके हैं। आगे (४४४) सूत्र में अजादि धातुओं को आट् का आगम कहेंगे। परन्तु ये दोनों आगम माङ् का योग होने पर नहीं होते। यथा—मा भूत्, यहां पर 'माङि लुङ्' (४३५) से माङ् के योग में लुङ् हुआ है, सम्पूर्ण प्रक्रिया तो पूर्ववत् होगी परन्तु 'लुँङ्लँङ्०' (४२३) से प्राप्त अट् का आगम प्रकृतसूत्र से निषिद्ध हो जायेगा।

मा स्म भवत्, मा स्म भूत्—यहां पर स्मोत्तर माङ् का योग है इस में 'स्मोत्तरे लँङ् च' (४३६) से लँङ् और लुँङ् दोनों विहित हैं। लँङ् में 'अभवत्' की तरह प्रक्रिया होगी परन्तु अट् के आगम का प्रकृतसूत्र से निषेध हो जायेगा—मा स्म भवत्। लुँङ् में पूर्ववत् 'मा स्म भूत्' बनेगा। मा स्म मे भरतः कार्षीत् प्रेतकृत्यं गतायुषः (रामायण, अयोध्या० १२.६३)।

आट् आगम के निषेध के उदाहरण यथा—मा भवान् ईहिष्ट, मा स्म भवान् ईहत, मा स्म भवान् ईहिष्ट आदि।

मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत् पुत्रमीदृशम् (रामायण, अयोध्या० ५३.२१), **मा स्म मत्कारणाद् देवी सुमित्रा दुःखमावसेत्** (रामायण, अयोध्या० ५३.१६), **मा स्म धर्मे मनो भूयात्** (रामायण, अयोध्या० ७५.४२) इत्यादियों में लिँङ् के प्रयोग का समाधान भी '**मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि**' की तरह पूर्ववत् जानें ।

अब लृँङ् की प्रक्रिया प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम लृँङ्विधायक सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४४२) लिँङ्निमित्ते लृँङ् क्रियातिपत्तौ ।३।३।१३९।।

हेतु-हेतुमद्भावादि लिँङ्निमित्तम्, तत्र भविष्यत्यर्थे लृँङ् स्यात् क्रियाया अनिष्पत्तौ गम्यमानायाम् । अभविष्यत्, अभविष्यताम्, अभविष्यन् । अभविष्यः, अभविष्यतम्, अभविष्यत । अभविष्यम्, अभविष्याव, अभविष्याम । सुवृष्टिश्चेदभविष्यत् तदा सुभिक्षमभविष्यत् इत्यादि ज्ञेयम् ।।

अर्थः—हेतु-हेतुमद्भाव आदि जो लिँङ् के निमित्त कहे गये हैं उन में यदि भविष्यत्कालिक क्रिया कही जाये तो धातु से परे लृँङ् प्रत्यय होता है, क्रिया की अनिष्पत्ति (असिद्धि) गम्यमान हो तो ।

व्याख्या—लिँङ्निमित्ते ।७।१। लृँङ् ।१।१। क्रियाऽतिपत्तौ ।७।१। भविष्यति ।७।१। ('**भविष्यति मर्यादा०**' से)। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब अधिकृत हैं । लिँङो निमित्तं लिँङ्निमित्तम्, तस्मिन् । क्रियाया अतिपत्तिः (असिद्धिरभावो वा) क्रियाऽतिपत्तिः, तस्याम् । अर्थः—(लिँङ्निमित्ते) लिँङ् लकार के जो निमित्त कहे गये हैं उन में (धातोः) धातु से (परः) परे (लृँङ् प्रत्ययः) लृँङ् प्रत्यय हो (भविष्यति) भविष्यत्काल में, (क्रियाऽतिपत्तौ) क्रिया की असिद्धि गम्यमान हो तो ।

अष्टाध्यायी के तृतीयाध्याय के तृतीयपाद में अनेक सूत्रों के द्वारा लिँङ् का विधान किया गया है । वहां जो जो लिँङ् के निमित्त कहे गये है उन में यदि भविष्यत्काल विवक्षित होगा तो धातु से परे लृँङ् लकार हो जायेगा परन्तु शर्त्त यह है कि वहां क्रिया की अनिष्पत्ति (निष्पन्न न होना) पाई जानी चाहिये । उदाहरणार्थ इस प्रकरण में 'हेतु-हेतुमतोर्लिँङ्' (७६५) सूत्र आया है । इस का अर्थ है – 'हेतुन्हेतुमद्भाव अर्थात् कार्यकारणभाव में धातु से परे लिँङ् और लृँट् लकार होते हैं' । यथा—**गुरुं चेत् प्रणमेत् शास्त्रान्तं गच्छेत्** (यदि गुरु का सत्कार करे तो शास्त्र का पारगामी हो जाये), यहां 'गुरु का सत्कार करना' हेतु अर्थात् कारण है तथा 'शास्त्र का पारगामी होना' हेतुमत् अर्थात् कार्य है । अतः कार्यकारणभाव में दोनों क्रियाओं के साथ लिँङ् लकार का प्रयोग हुआ है । इसी प्रकार—**कृष्णं नमेत् चेत् सुखं यायात्, वृष्टिर्भवेत् चेत् सुभिक्षं स्यात्, अतिथीन् लभेत चेत् भृशमन्नं ददीत, गुरुपूजां यदि कुर्वीत**

स्वर्गम् आरोहेत् —इत्यादियों में हेतु-हेतुमद्भाव में लिँङ् समझना चाहिये। परन्तु लिँङ् के इसी निमित्त अर्थात् हेतु-हेतुमद्भाव में भविष्यत्काल विवक्षित होने पर प्रकृतसूत्र से लृँङ् का विधान किया जाता है यदि वक्ता को क्रिया की अनिष्पत्ति (न होना) कहनी अभीष्ट हो तो। यथा 'वृष्टिश्चेदभविष्यत् तदा सुभिक्षमभविष्यत्' अर्थात् यदि वर्षा होगी तो सुभिक्ष (बहुत अन्न) होगा [परन्तु वक्ता को प्रमाणान्तर से निश्चय हो चुका है कि ऐसा होना नहीं है]। यहां 'वर्षा का होना' कारण तथा 'सुभिक्ष का होना' कार्य है और ये दोनों भविष्यत्कालिक हैं, किञ्च वक्ता को पूर्ण विश्वास है कि ऐसा होना नहीं है अतः ऐसे स्थल पर दोनों ओर की क्रियाओं से लृँङ् लकार का प्रयोग हुआ है।

लृँङ् के प्रयोग में तीन बातों की आवश्यकता हुआ करती है—

(१) लिँङ् का निमित्त उपस्थित होना अर्थात् जिस जिस शर्त (Condition) के साथ लिँङ् का विधान किया गया है उस उस शर्त का पूरा होना। यथा हेतु-हेतुमद्भाव में लिँङ् का विधान किया गया है अतः लृँङ् में भी उसका होना आवश्यक है।

(२) भविष्यत्काल का होना। मान लो कि यदि हेतुहेतुमद्भाव आदि लिँङ् के निमित्त वर्त्तमानकाल में हों तो लृँङ् का प्रयोग न होगा।

(३) क्रिया की अतिपत्ति अर्थात् असिद्धि होना। वक्ता कार्यकारणभाव आदि का प्रयोग तो करता है परन्तु उसे किसी अन्य प्रमाण से यह निश्चय हो चुका होता है कि यहां क्रिया होनी नहीं है।

इन तीनों में से यदि कोई एक भी शर्त (Condition) पूरी न होगी तो लृँङ् का प्रयोग न होगा। लृँङ् के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(क) दक्षिणेन चेद् अयास्यन् न शकटं पर्याभविष्यत् अर्थात् यदि दक्षिणमार्ग से जायेगा तो छकड़ा नहीं उलटेगा[1]। यहाँ 'दक्षिणमार्ग से जाना' यह हेतु-कारण है तथा 'शकट का न उलटना' यह हेतुमत्-कार्य है। कार्यकारणभाव को यहां भविष्यत्काल में कहा गया है। किञ्च वक्ता को यहां क्रिया की अनिष्पत्ति का निश्चय हो चुका है अर्थात् उस के मन में यह निश्चित विश्वास है कि न इसने दक्षिणमार्ग से जाना है और न ही इसका रथ उलटने से बच सकना है। अतः यहां लृँङ् का प्रयोग हुआ है।

(ख) अभोक्ष्यत भवान् घृतेन यदि मत्समीपमागमिष्यत् अर्थात् यदि आप मेरे समीप आओगे तो घृत से भोजन करोगे। 'यहां समीप आना' हेतु तथा 'घृत से भोजन करना' हेतुमत् है। दोनों हेतु और हेतुमत् भविष्यत्कालिक हैं। किञ्च वक्ता को यह

---

१ वक्ता को पता है कि दक्षिणमार्ग पक्का, सीधा, हमवार तथा वृक्ष-झाड़ आदियों से रहित है।

निश्चय है कि इसने मेरे समीप आना नहीं अतः घृत से भोजन करना नहीं है। इस-प्रकार क्रिया की अतिपत्ति में लृङ् का प्रयोग हुआ है।

(ग) त्वञ्चेद् यत्नमकरिष्यस्तदा परीक्षामुदतरिष्यः अर्थात् यदि तुम परिश्रम करोगे तो परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाओगे। यहां 'परिश्रम करना' हेतु तथा 'परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाना' हेतुमत् है। दोनों को भविष्यत्काल में कहा गया है। किञ्च वक्ता को यह निश्चय है कि इसने परिश्रम करना नहीं और परीक्षा में उत्तीर्ण होना नहीं, अतः क्रिया की अतिपत्ति में दोनों वाक्यों में लृङ् का प्रयोग किया गया है।

इन सब उदाहरणों में जब वक्ता को क्रिया की अनिष्पत्ति कहनी अभीष्ट न होगी तो 'हेतु-हेतुमतोर्लिङ्' (७६५) से लिङ् का प्रयोग किया जायेगा।

नोट—ध्यान रहे कि जैसे ऊपर भविष्यत्काल में क्रियाऽतिपत्ति गम्यमान होने पर लिङ् के निमित्तों में लृङ् का विधान किया गया है वैसे भूतकाल में भी उसका प्रयोग किया जा सकता है। इस के लिये पाणिनि का सूत्र है—भूते च (३.३.१४०)[1]। भूतकाल में उदाहरण यथा—

(१) सुवृष्टिश्चेदभविष्यत् तदा सुभिक्षमभविष्यत्। अर्थात् यदि अच्छी वर्षा हुई होती (जो स्पष्टतः नहीं हुई) तो फसल अच्छी होती। यहां न वर्षा अच्छी हुई, और न फसल अच्छी हुई इस प्रकार भूतकालिकक्रियातिपत्ति में लृङ् प्रयुक्त हुआ है।

(२) किं वाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता,
तं चेत्सहस्रकिरणो धुरि नाऽकरिष्यत्। (शाकुन्तल, ७.४)

अर्थात् क्या अरुण (सूर्य का सारथि) अन्धकार को दूर करने में समर्थ हो सकता था यदि उसे सूर्य अपने आगे रथ में न बिठाता? यहां स्पष्टतः क्रिया की अतिपत्ति विद्यमान है क्योंकि सूर्य ने उसे अपने आगे रथ में बिठा दिया और उसने अन्धकार को दूर कर दिया।

(३) यदि सुरभिमवाप्स्यस्तन्मुखोच्छ्वासगन्धं
तव रतिरभविष्यत् पुण्डरीके किमस्मिन्? (विक्रमोर्वशीय, ४.४२)

अरे भ्रमर! यदि तुम्हें उसके मुख की सुगन्धित श्वास मिल गई होती तो क्या फिर तुम्हारा इस कमल में प्रेम हुआ होता? स्पष्टतः यहां भूतकालिक क्रियातिपत्ति है क्योंकि न तो तुम्हें वह प्राप्त हुई और न ही तुम कमल से विमुख हुए।

हेतु-हेतुमद्भाव के अतिरिक्त अन्य भी अनेक लिङ् के निमित्त अष्टाध्यायी में

---

१ साहित्य में प्रायः भूतकाल में ही लृङ् के प्रयोग उपलब्ध होते हैं भविष्यत्काल में नहीं। अतएव उत्तरवर्ती कई वैयाकरणों ने भविष्यत्काल में लृङ् का विधान नहीं किया, वे यहां लृट् का ही प्रयोग करते हैं।

वर्णन किये गये हैं,[1] उन सब में भविष्यत्कालिक क्रिया की अतिपत्ति होने पर लृँङ् का प्रयोग होता है। भूतकाल के विषय में 'वोताप्योः' (३.३.१४१) के अधिकार में कई जगह लृँङ् का विकल्प-विधान भी किया जाता है। यह सब विस्तार काशिका-वृत्ति अथवा सिद्धान्त-कौमुदी की लकारार्थ-प्रक्रिया में देखना चाहिये।

अभविष्यत्—भू धातु से भविष्यत्कालिक हेतुहेतुमद्भाव में क्रिया की असिद्धि गम्यमान होने पर लृँङ्, प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में उसे तिप् आदेश, **'इतश्च'** (४२४) से इकार का लोप, **'स्यतासी लृ-लुटोः'** (४०३) से 'स्य' विकरण, आर्धधातुकत्वात् उसे इट् का आगम, 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से भू अङ्ग को गुण तथा **'एचोऽयवायावः'** (२२) से अवादेश होकर 'भविस्य+त्' बना। अब **'लुँङ्लँङ्-लृँङ्क्ष्वडुदात्तः'** (४२३) से अङ्ग को अट् का आगम और **'आदेशप्रत्यययोः'** (१५०) से स्यप्रत्यय के आदि सकार को षत्व करने पर 'अभविष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

अभविष्यताम्—सम्पूर्ण प्रक्रिया पूर्ववत् है, **'तस्थस्थमिपां०'** (४१४) से तस् को ताम् आदेश ही विशेष है।

अभविष्यन्—यहां **'झोऽन्तः'** (३८९) से झि को अन्त् आदेश हो जाता है। शेष पूर्ववत् प्रक्रिया करने पर 'अभविष्य+अन्त्' इस दशा में **'अतो गुणे'** (२७४) से पररूप तथा **'संयोगान्तस्य लोपः'** (२०) से संयोगान्त तकार का लोप करने से यथेष्ट रूप सिद्ध होता है।

अभविष्यः—यहाँ मध्यमपुरुष के एकवचन में सिप् के इकार का लोप हो कर सकार को रुँत्वविसर्ग हो जाते हैं।

अभविष्यतम्—सम्पूर्ण पूर्ववत् प्रक्रिया होती है, केवल **'तस्थस्थमिपां०'** (४१४) सूत्र द्वारा थस् को तम् आदेश विशेष है।

अभविष्यत—यहां पर 'थ' को 'त' आदेश हो जाता है।

अभविष्यम्—यहां उत्तमपुरुष के एकवचन मिप् को अम् आदेश होकर **'अमि पूर्वः'** (१३५) से पूर्वरूप हो जाता है।

अभविष्याव, अभविष्याम—यहां वस् और मस् के सकार का **'नित्यं ङितः'** (४२१) से लोप होकर 'अतो दीर्घो यञि' (३९०) से दीर्घ हो जाता है। सम्पूर्ण रूप-माला यथा—

---

१. यथा—**'विभाषा कथमि लिङ् च'** (३.३.१४३) आदि। इन निमित्तों में यद्यपि हेतुहेतुमद्भाव सब से पहला निमित्त नहीं है तथापि अत्यन्त प्रसिद्ध होने से इसे निदर्शनार्थ चुना जाता है।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र० पु०	अभविष्यत्	अभविष्यताम्	अभविष्यन्
म० पु०	अभविष्यः	अभविष्यतम्	अभविष्यत
उ० पु०	अभविष्यम्	अभविष्याव	अभविष्याम

उपसर्गयोग—पूर्वार्ध में 'उपसर्गाः क्रियायोगे' (३५) सूत्र पर प्र आदियों का परिगणन कर आये हैं। धातु के साथ इनका योग हो तो इनकी उपसर्गसञ्ज्ञा हो जाती है। इन उपसर्गों के योग से धातु के अर्थ में बहुधा महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हो जाया करते हैं। यथा—हृञ् हरणे (चुराना या हरण करना भ्वा० उभय०) धातु के साथ इनका योग होने पर विविध अर्थ देखे जाते हैं—प्रहरति = प्रहार करता है; आहरति = खींचता है या आहार करता है; संहरति = संहार या नाश करता है; विहरति = घूमता है; परिहरति = रोकता या हटाता है आदि[1]। पाणिनीयव्याकरण के अनुसार धातु के अनेक अर्थ हुआ करते हैं (देखें पृष्ठ ९ पर टिप्पणी) परन्तु जैसे भवन में स्थित अनेक वस्तुएं यथावत् प्रकाश के अभाव में प्रकाशित नहीं होतीं वैसे धातुओं के अर्थों के विषय में भी समझना चाहिये। उपसर्ग दीपक की तरह धातुओं के अन्तर्गत अर्थों को यथावत् प्रकाशित कर देते हैं। यहां भू धातु के साथ भी उपसर्गों को लगाने से विविध अर्थ प्रकट होते हैं। यथा—

प्र√भू = समर्थ होना, प्रभवति = समर्थ होता है (नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति—नीतिशतक)।

परा√भू = पराजित करना—हराना—तिरस्कृत करना (पराभवति यत्परान्—पञ्चतन्त्र २.८६); पराजित होना, पराभूत होना—हारना (तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः—महाभाष्य)।

सम्√भू = सम्भव होना (भाग्येनैतत् सम्भवति—पञ्च०); पैदा होना—उत्पन्न होना (सम्भवामि युगे युगे—गीता ४.८); यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्—मनुस्मृति २.२२७); मिलना—युक्त होना (सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा—माघ २.१००)।

---

१. "उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराऽऽहार-संहार-विहार-परिहारवत्॥"

अनु √भू = अनुभव करना — महसूस करना — भोगना (अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णम् — शाकुन्तल ५.७; असक्तः सुखमन्वभूत् — रघु० १.२१)।

अभि √भू = दबाना — तिरस्कृत करना (धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत — गीता १.४०; शत्रुभिर्नाभिभूयते — मनु० ७.१७६; अभिभवितुमिच्छति बलात् — मुद्राराक्षस १)।

उद् √भू = पैदा होना (क्षेत्राद् धान्यमुद्भवति; णिजन्त — मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि — रघु० २.६२); प्रकाशित होना — निकलना (काश्मीरेभ्यो वितस्ता प्रभवति — काश्मीर से जेहलम निकलता है; हिमवतो गङ्गा प्रभवति — हिमालय से गङ्गा निकलती है)।

उपसर्गों के अतिरिक्त कुछ अन्य निपातों तथा च्विप्रत्ययान्तों के साथ भी भू धातु का योग होता है। यथा — आविर्भवति = प्रकट होता है। तिरोभवति = अदृश्य होता है। प्रादुर्भवति = पैदा होता है। तूष्णीम्भवति = चुप होता है। पुरोभवति = आगे होता है। अग्रेभवति = आगे होता है। कृष्णीभवति = काला होता है। मिथ्याभवति = झूठ होता है। न्यूनीभवति = कम होता है। आकुलीभवति = व्याकुल होता है। परिपन्थीभवति = बीच में पड़ता है। विषयीभवति = विषय होता है। इत्यादि।

अभ्यास (१)

(१) इन प्रश्नों का उत्तर दीजिये —

(क) 'भवानि' में 'एरुः' द्वारा उत्व क्यों नहीं होता ?

(ख) 'अभूत्' में सार्वधातुकगुण क्यों नहीं होता ?

(ग) 'वाय्वोः' में 'लोपो व्योर्वलि' से यकार का लोप क्यों नहीं होता ?

(घ) 'अन्त्' आदेश के तकार की इत्सञ्ज्ञा क्यों नहीं होती ?

(२) अधोलिखित शङ्काओं का समाधान करें —

(क) लोँट् में 'हि' को अपित् करने का क्या प्रयोजन है ?

(ख) 'भवानि' आदि में आट् के आगम की क्या आवश्यकता है ?

(ग) लिँट् के थ के स्थान पर 'अ' सर्वादेश कैसे होगा ?

(घ) 'तासि' में इकार इत् है या उच्चारणार्थक ?

(ङ) 'सिँच्' के इकार को इत् न करने से क्या दोष उत्पन्न होता है ?

(३) यदि लोँट् लँङ्वत् है तो लोँट् में अट् का आगम तथा इकार का लोप क्यों नहीं होता ?

(४) यदि अद्यतन और अनद्यतन दोनों प्रकार के भविष्यत् का एक साथ प्रयोग हो तो लुँट् और लृँट् में से किस लकार का प्रयोग होगा ? सप्रमाण लिखें।

(५) किस पुरुष का प्रयोग होगा ? सप्रमाण लिखें—

(क) यदि लकार के साथ युष्मद् और तद् दोनों का सामानाधिकरण्य हो ?

(ख) यदि लकार के साथ अस्मद् और तद् दोनों का सामानाधिकरण्य हो ?

(ग) यदि लकार के साथ युष्मद् और अस्मद् दोनों का सामानाधिकरण्य हो ?

(घ) यदि लकार के साथ युष्मद्-अस्मद्-तद् तीनों का सामानाधिकरण्य हो ?

(६) "लृँङ् के प्रयोग में तीन बातों की आवश्यकता हुआ करती हैं" ये तीन बातें कौन सी हैं ? क्या लृँङ् का भूतकाल में भी प्रयोग हो सकता है ?

(७) 'लः कर्मणि च०' सूत्र की व्याख्या करते हुए सकर्मक और अकर्मक धातुओं का सोदाहरण विवेचन करें ।

(८) इन वचनों की सप्रसङ्ग सोदाहरण व्याख्या करें—

(१) ङित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः ।

(२) परत्वात् सर्वादेशः ।

(३) हित्योरुत्वं न, इकारोच्चारणसामर्थ्यात् ।

(४) झशां जशः खयां चर इति विवेकः ।

(५) गापाविहेणादेशपिबती गृह्येते ।

(६) सर्वलकारापवादः ।

(७) अन्तःशब्दस्याङ्किविधिणत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम् ।

(९) ससूत्र सिद्ध करें—

बभूविथ, भविता, भूयात्, अभूत्, भव-भवतात्, भवतु, भवेयुः, भवानि, अभवः, भवेत्, भवामि, भवताम्, अभवन्, भविष्यन्ति, अभविष्यत्, अन्तर्भवाणि ।

(१०) सूत्रों की व्याख्या करें—

युष्मद्युपपदे०, लिटि धातोरनभ्यासस्य, अतो येयः, क्क्ङिति च, हलादिः शेषः, स्वरितञितः०, लिङ्निमित्ते लृँङ्०, लोँटो लँङ्वत्, तुह्योस्तातङ्०, आनि लोँट्, आर्धधातुकं शेषः, लृँट् शेषे च, लिँट् च ।

(११) डा, रौ, रस् आदेश तीन हैं परन्तु परस्मैपद और आत्मनेपद के स्थानी छः हैं तो यथासङ्ख्य कैसे होगा ?

(१२) 'प्रभवाणि' में 'अट्कुप्वाङ्०' से ही णत्व हो जाता पुनः 'आनि लोँट्' की क्या आवश्यकता ?

(१३) आशीर्लिँङ् में यासुट् को कित् करने का क्या प्रयोजन है ?

(१४) लिँट्, लोँट् लँङ्, लिँङ् में भू की रूपमाला लिखें ।

(१५) उपसर्ग द्योतक हैं या वाचक ? इस विषय पर पाणिनीयमतानुसार संक्षिप्त नोट लिखें ।

(१६) उपसर्गों का प्रयोग अट् व आट् से पूर्व में होता है या परे ? विचारपूर्ण ऊहापोह करें ।

(१७) 'क्विङति च' और 'विङति च' इन में से कौन सा पाठ शुद्ध वा अशुद्ध है ? सप्रमाण लिखें ।

[लघु०] अत सातत्य-गमने ॥२॥ अतति ॥

अर्थः—अत (अत्) धातु 'निरन्तर गमन करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1] ।

व्याख्या—परम्परा के अनुसार अत आदि धातुओं में तकारोत्तर अकार उदात्त तथा अनुनासिक है । अतः 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) से उसकी इत्सञ्ज्ञा होकर लोप हो जाता है । परन्तु भट्टोजिदीक्षित आदि नवीन वैयाकरण प्रयोजनाभाव के कारण इसे उच्चारणार्थक ही मानते हैं, अतएव सिद्धान्तकौमुदी में 'उदात्तेतः' इस प्रकार का उल्लेख धातुओं के साथ कहीं भी देखा नहीं जाता[2] ।

यह धातु न तो अनुदात्तेत् है और न ही ङित्, अतः 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' (३८०) से कर्तृविवक्षा में इस के आगे लकारों के स्थान पर तिप्, तस्, झि आदि परस्मैपद प्रत्यय ही होते हैं ।

लँट् में तिप् आदि प्रत्ययों की 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' (३८६) से सार्वधातुकसञ्ज्ञा होकर 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप् करने पर अनुबन्धलोप होने से 'अतति' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं । लँट् में रूपमाला यथा—अतति, अततः, अतन्ति । अतसि, अतथः, अतथ । अतामि, अतावः, अतामः[3] ।

अत् धातु से परोक्ष अनद्यतन भूतकाल की विवक्षा में लिँट् प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में लकार को तिप् आदेश, उस के स्थान पर 'परस्मैपदानां

---

१. पदाति (पैदल), स्वाति (एक नक्षत्र), आत्मा, अतिथि आदि शब्द इसी धातु से निष्पन्न होते हैं ।

२. कविकल्पद्रुम में बोपदेव गोस्वामी भी इसे मुखसुखार्थं ही मानते हैं—तत्राकारः सुखार्थोऽत्र (कविकल्पद्रुम श्लोक ७) । परन्तु इस प्रकार मानने से 'हलन्त्यम्' (१) सूत्र द्वारा अन्त्य हल् की इत्सञ्ज्ञा और 'तस्य लोपः' (३) से उसका लोप प्राप्त होगा जैसा कि 'डुपचँष् पाके' धातु में षकार का हुआ करता है । अतः अच्छा यही है कि इन में अकार को उदात्तानुनासिक मान कर इत् कर लिया जाये ।

३. यहां से हमने रूपमालाओं में एकवचन, द्विवचन आदि तथा प्रथमपुरुष मध्यमपुरुष आदि का उल्लेख छोड़ दिया है । वैसा करने से ग्रन्थ का अनावश्यक विस्तार होता था । अतः विद्यार्थियों को इसकी कल्पना स्वयं कर लेनी चाहिये ।

णलतुस्०' (३९२) द्वारा णल् आदेश, अनुबन्धलोप, 'अत्+अ' इस स्थिति में 'लिँटि धातो:०' (३९४) से अत् को द्वित्व तथा 'हलादिः शेषः' (३९६) से अभ्यास के तकार का लोप होकर 'अ+अत्+अ' बना। अब यहां पर 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश प्राप्त होता है, इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४४३) अत आदेः ।७।४।७०।।

अभ्यासस्य आदेरतो दीर्घः स्यात् । आत, आततुः, आतुः । आतिथ, आतथुः, आत । आत, आतिव, आतिम । अतिता । अतिष्यति । अततु ।।

अर्थः—अभ्यास के आदि अत् को दीर्घ हो।

व्याख्या—अभ्यासस्य ।६।१। ('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से)। आदेः ।६।१। अतः ।६।१। दीर्घः ।१।१। ('दीर्घ इणः किति' से)। अर्थः—(अभ्यासस्य) अभ्यास के (आदेः) आदिभूत (अतः) अत् के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है। अभ्यास के आदि में यदि कहीं अत् अर्थात् ह्रस्व अकार आ जाये तो उसे दीर्घ कर दिया जाये—यह इस सूत्र का तात्पर्य है। अब यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि अभ्यास के आदि में दीर्घ अकार तो कभी आ नहीं सकता क्योंकि यदि कहीं वह आयेगा भी तो 'ह्रस्वः' (३९७) सूत्र उसे ह्रस्व कर देगा, पुनः सूत्र में 'अतः' इस प्रकार तपर करने का क्या प्रयोजन ? इस का समाधान करते हुए काशिका के व्याख्याकार श्रीजिनेन्द्रबुद्धि तथा श्रीहरदत्त लिखते हैं—कि इस प्रकार सिद्ध होने पर भी सूत्रकार का तपरग्रहण इस बात का द्योतक है कि वे यहां शुद्ध अर्थात् स्वाभाविक ह्रस्व अकार का ही ग्रहण चाहते हैं, 'ह्रस्वः' (३९७) द्वारा सम्पादित ह्रस्व अकार का नहीं। इस का फल 'आञ्छ, आञ्छतुः, आञ्छुः' आदि में प्रकट होता है। 'आछि आयामे' (लम्बा करना, भ्वा० परस्मै०) धातु के लिँट् में—'आञ्छ्+णल्, आञ्छ्+अ, आञ्छ्+आञ्छ्+अ, आ+आञ्छ्+अ' यहां 'ह्रस्वः' (३९७) द्वारा ह्रस्व होकर 'अ+आञ्छ्+अ' हुआ। अब यहाँ यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि ह्रस्व अकार स्वाभाविक नहीं अपितु कृत्रिम है। तब सीधा सवर्णदीर्घ होकर 'आञ्छ' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यदि यहां यह सूत्र प्रवृत्त होता तो 'तस्मान्नुड् द्विहलः' (४६४) सूत्र से नुट् का आगम होकर 'आनाञ्छ' यह अनिष्ट रूप बन जाता। परन्तु कई अन्य वैयाकरण यहां तपरकरण को मुखसुखार्थ मानते हैं, अतः उनके मत में 'आछि' धातु का भी 'आनाञ्छ' रूप बनता है।

प्रकृतसूत्र में यदि 'आदेः' न कहते तो तदन्तविधि होकर अदन्त अभ्यास के अन्त्य अत् को दीर्घ होता, इससे 'पपाच, पपाठ' आदियों में भी अभ्यास को दीर्घ हो जाता जो सर्वथा अनिष्ट था।

इस सूत्र में प्राचीन वैयाकरण 'लिँटि' का भी अनुवर्त्तन करते हैं अतः उनके

मतानुसार यह कार्य लिट् में ही प्रवृत्त होता है, अन्यत्र नहीं। इससे 'अर्रति' यहां यङ्लुक् में अभ्यास को दीर्घ नहीं होता। श्रीनागेश ने कौमुदी के अर्थ में इस त्रुटि की ओर लघुशब्देन्दुशेखर में निर्देश किया है।

'अ+अत्+अ' यहां पर इस सूत्र से अभ्यास के आदि अत् को दीर्घ होकर—आ+अत्+अ। [फिर 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि होकर—आ+आत्+अ] अब 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ एकादेश करने पर 'आत' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार अतुस् और उस् में भी सिद्धि होती है—आततुः, आतुः। थल् में 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (४०१) द्वारा इट् का आगम विशेष है—आतिथ। इसी तरह वस् और मस् में भी जान लेना चाहिये। लिट् में रूपमाला यथा—आत, आततुः, आतुः। आतिथ, आतथुः, आत। आत, आतिव, आतिम।

लुट् में कुछ विशेष नहीं, सर्वत्र इट् का आगम हो जाता है। रूपमाला यथा—अतिता, अतितारौ, अतितारः। अतितासि, अतितास्थः, अतितास्थ। अतितास्मि, अतितास्वः, अतितास्मः।

लृट् की रूपमाला यथा—अतिष्यति, अतिष्यतः, अतिष्यन्ति। अतिष्यसि, अतिष्यथः, अतिष्यथ। अतिष्यामि, अतिष्यावः, अतिष्यामः।

लोट् की सिद्धि में भी कुछ विशेष नहीं। रूपमाला यथा—अततु-अततात्, अतताम्, अतन्तु। अत-अततात्, अततम्, अतत। अतानि, अताव, अताम।

अब लङ् में विशेषकार्य बतलाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४४४) आडजादीनाम्। ६।४।७२॥

अजादेरङ्गस्याऽऽट्, लुङ्-लङ्-लृङ्क्षु। आतत्। अतेत्। अत्यात्, अत्यास्ताम्। लुङि सिंचि इडागमे कृते—

अर्थः—लुङ् लङ् या लृङ् के परे होने पर अजादि अङ्ग को आट् का आगम हो।

व्याख्या—आट्। १।१। अजादीनाम्। ६।३। अङ्गानाम्। ६।३। ('अङ्गस्य' इस अधिकृत का वचनविपरिणाम हो जाता है)। लुङ्-लङ्-लृङ्क्षु। ७।३। उदात्तः। १।१। ('लुङ्-लङ्-लृङ्क्ष्वडुदात्तः' से)। अच् आदिर्येषां ते = अजादयः, तेषाम् = अजादीनाम्, बहुव्रीहिः। अर्थः—(लुङ्-लङ्-लृङ्क्षु) लुङ् लङ् या लृङ् परे होने पर (अजादीनाम्) अजादि अङ्गों का अवयव (आट्) आट् हो जाता है और वह (उदात्तः) उदात्त होता है। लघुकौमुदी में स्वरप्रकरण नहीं है अतः मूल में 'उदात्तः' वाला अंश छोड़ दिया गया है। आट् का आगम टित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) के अनुसार अजादि अङ्गों का आद्यवयव बनता है। यह सूत्र 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' (४२३) सूत्र का अपवाद है अतः जहां अङ्ग अजादि होगा वहां आट् तथा जहां हलादि

होगा वहां अट् का आगम किया जायेगा। अत् धातु अजादि है अतः लुँङ् आदियों में इसे आट् का आगम होगा। आट् का फल एध् आदि धातुओं में स्पष्ट है।

आतत्—अत् धातु से भूतानद्यतन काल में लँङ्, प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में उसे तिप् आदेश, सार्वधातुकत्वात् शप्, 'इतश्च' (४२४) सूत्र से ति के इकार का लोप, 'अत्+अ+त्' इस स्थिति में 'लुँङ्लँङ्लृँङ्०' (४२३) सूत्र से अट् का आगम प्राप्त होता है परन्तु उस का बाध कर प्रकृतसूत्र से आट् का आगम करने से—'आट्+अत्+अ+त्' हुआ। अब टकार की 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञा और 'तस्य लोपः' (३) से उसका लोप कर 'आटश्च' (१९७) सूत्र से आट् और अत् के अकार के स्थान पर वृद्धि (आ) एकादेश करने से 'आतत्' रूप सिद्ध होता है[1]। इसी प्रकार आगे भी आट् का आगम तथा वृद्धि होती चली जायेगी, शेष सब प्रक्रिया सामान्य होगी। लँङ् में रूपमाला यथा—आतत्, आतताम्,आतन्। आतः, आततम्, आतत। आतम्, आताव, आताम।

विधिलिँङ् में कोई विशेष कार्य नहीं होता। रूपमाला यथा—अतेत्, अतेताम्, अतेयुः। अतेः, अतेतम्, अतेत। अतेयम्, अतेव, अतेम।

आशीर्लिँङ् में रूपमाला यथा—अत्यात्, अत्यास्ताम्, अत्यासुः। अत्याः, अत्यास्तम्, अत्यास्त। अत्यासम्, अत्यास्व, अत्यास्म। ध्यान रहे कि अत् धातु में गुण की प्राप्ति नहीं अतः उसके निषेध का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

लुँङ्—अत् धातु से भूतसामान्य में लुँङ्, प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में उसे तिप् आदेश, च्लि, च्लि को सिँच् आदेश, अनुबन्धलोप, आट् का आगम तथा वृद्धि करने पर 'आत्+स्+त्' हुआ। अब सिँच् के आर्धधातुक होने से 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (४०१) द्वारा इट् का आगम होकर 'आत्+इस्+त्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४४५) अस्तिसिँचोऽपृक्ते ।७।३।९६।।

विद्यमानात् सिँचः, अस्तेश्च परस्यापृक्तस्य हल ईडागमः ।।

अर्थः—विद्यमान सिँच् तथा विद्यमान अस् धातु से परे अपृक्त हल् को ईट् का आगम होता है।

व्याख्या—इस सूत्र की व्याख्या प्राचीन वैयाकरण अपने ढंग से करते आ रहे थे, परन्तु उनके अर्थ में प्रक्रियासम्बन्धी कुछ ऐसे दोष प्रसक्त होते थे जिनका परिहार

---

१. यद्यपि यहां सवर्णदीर्घ से काम चल सकता था तथापि आगे 'ऐक्षिष्ट' आदि रूपों के लिये वृद्धि का विधान आवश्यक था अतः यहां भी न्यायानुसार वृद्धि की गई है।

दुष्कर था। अतः भट्टोजिदीक्षित ने अपने बुद्धिचातुर्य से इस सूत्र का नवीन अर्थ सुझाया है। हम यहां व्युत्पन्न विद्यार्थियों तथा अनुसन्धानप्रेमी पाठकों के लिये इस सूत्र की प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार की व्याख्याएं प्रस्तुत कर रहे हैं। सर्वप्रथम प्राचीन व्याख्या यथा —

अस्तिसिँचः ।५।१। अपृक्ते ।७।१। हलि ।७।१। ('उतो वृद्धिर्लुकि हलि' से)। ईट् ।१।१। ('ब्रुव ईट्' से)। यहाँ 'अस्ति' से अदादिगणीय 'अस भुवि' धातु का ग्रहण है। अस्तिश्च सिँच् च अस्तिसिँच् तस्माद् अस्तिसिँचः, समाहारद्वन्द्वः। 'अपृक्ते हलि' में सप्तमी है और इधर 'अस्तिसिँचः' में पञ्चमी है। '**उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्**' (देखें पूर्वार्ध सूत्र ८४ की व्याख्या) परिभाषा के अनुसार पञ्चमीनिर्देश के बलवान् होने से सप्तमीविभक्ति का षष्ठीविभक्ति में विपरिणाम कर लिया जाता है। अर्थः—(अस्तिसिँचः) अस् धातु तथा सिँच् से परे (अपृक्तस्य हलः) अपृक्त हल् का अवयव(ईट्) ईट् हो जाता है। ईट् में टकार की '**हलन्त्यम्**' (१) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा हो जाती हैं अतः टित् होने के कारण '**आद्यन्तौ टकितौ**' (८५) परिभाषा के अनुसार यह अपृक्त हल् का आद्यवयव बनता है। अस् से परे उदाहरण यथा—आसीत्। सिँच् से परे उदाहरण यथा—'अजैषीत्, अनैषीत्, अकार्षीत्, आतीत्' आदि। अस् धातु के स्थान पर आर्धधातुक प्रत्ययों में '**अस्तेर्भूः**' (५७६) सूत्र से भू आदेश हो जाता है अतः लुँङ् में अस् धातु का भी 'अभूत्' रूप बनता है। यहां स्थानिवद्भाव के कारण भू को अस् मान कर ईट् का आगम प्राप्त होता है। इस का वारण कात्यायन के '**आहिभुवोरीट्प्रतिषेधः**' (महाभाष्य १.१.५६ पर। स्थानिवद्भाव के कारण आह् और भू से परे यदि ईट् का आगम प्रसक्त हो तो स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध हो) वार्त्तिक से किया जाता है। यह है काशिकाकार आदि प्राचीन वैयाकरणों की व्याख्या। परन्तु इस व्याख्या में दो दोष प्रसक्त होते हैं—

(१) यदि सूत्र का उपर्युक्त अर्थ मानते हैं तो शुद्ध भू धातु के लुँङ् के 'अभूत्' रूप में तथा 'अपात्, अगात्, अस्थात्' आदियों में '**गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिँचः परस्मैपदेषु**' (४३९) सूत्र से हुए सिँच् के लुक् को प्रत्ययलक्षण के द्वारा अथवा स्थानिवद्भाव के कारण मान कर ईट् का आगम प्राप्त होता है। इसे वारण करने के लिये प्राचीन वैयाकरणों के पास कुछ समाधान नहीं रहता।

(२) अस् वाले 'अभूत्' में भी चाहे 'आहिभुवोरीट्प्रतिषेधः' से अस् के आश्रय ईट् का वारण हो जाये परन्तु वहां सिँच् के लुक् को प्रत्ययलक्षण के द्वारा अथवा स्थानिवद्भाव के कारण मान कर सिँजाश्रय ईट् का वारण कैसे किया जा सकेगा ?

काशिका के व्याख्याकार **श्रीहरदत्त** ने अपनी **पदमञ्जरी** व्याख्या में द्वितीय

दोष के उद्धार का यत्न किया है परन्तु प्रथमदोष को वे स्वमुख से सही मानते हैं[1]। सच तो यह है कि काशिका तथा काशिका के काल के आसपास के वैयाकरणों को उपर्युक्त दोनों दोष सूझे ही नहीं। यही कारण है कि चान्द्रव्याकरण तथा जैनेन्द्रव्याकरण आदियों में इन का कुछ उल्लेख नहीं। न्यासकार को भी इन का कुछ पता नहीं। हां कई शताब्दियों के बाद सम्भवतः सर्वप्रथम श्रीहरदत्त को उपर्युक्त दोनों दोष सूझे। उन्होंने द्वितीयदोष का परिहार तो सोच लिया परन्तु प्रथमदोष को मुक्तकण्ठ से मान गये। महाभाष्य का 'द्विसकारको निर्देशः' भी उन्हें सन्तुष्ट न कर सका। श्रीहरदत्त के बाद प्रतीत होता है कि वैयाकरणों में इन दोषों के लिये पर्याप्त हलचल मची। उन सब का चित्रण सायण ने अपनी माधवीयधातुवृत्ति में विस्तार से किया है। सायणोक्त समाधानों की भी छीछालेदर तदुत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने खूब की, इन का कुछ दिग्दर्शन शब्दकौस्तुभ आदियों में किया जा सकता है। तब इन सब से खिन्न होकर श्रीभट्टोजिदीक्षित ने इस सूत्र का नवीन अर्थ उद्भावित किया। इसे ही यहां लघुकौमुदी में श्रीवरदराज ने उद्धृत किया है। इस नवीन अर्थ की निष्पत्ति इस प्रकार होती है—

'अस्तिसिँचः' में 'अस्ति' से अस् धातु का ग्रहण नहीं अपितु विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय का ग्रहण है[2]। इस का अर्थ है 'विद्यमान'। अतः सूत्र की व्याख्या इस प्रकार से समझनी चाहिये। सिँच् च अस् च सिँचः, समाहारद्वन्द्वः, सौत्रम्भत्वम्, तेन कुत्व-जश्त्वे न। अस्ति (विद्यमानं) च तत् सिँचः—अस्तिसिँचः, कर्मधारयसमासः। इस प्रकार 'अस्तिसिँचस्' शब्द बन जाता है। अत्र इस के आगे सौत्रत्वात् पञ्चमीविभक्ति का लुक् मान कर यह अर्थ निष्पन्न होता है—(अस्तिसिँचः) विद्यमान सिँच् से परे तथा विद्यमान अस् से परे (अपृक्तस्य हलः) अपृक्त हल् को (ईट्) ईट् का आगम हो जाता है। अब इस अर्थ में न तो अस् वाले 'अभूत्' में कोई दोष आता है क्योंकि वहां अस् विद्यमान नहीं, और न ही शुद्ध 'अभूत्' आदि में कोई दोष प्रसक्त होता है क्योंकि वहां सिँच् का लुक् हो जाने से वह विद्यमान नहीं। इस प्रकार संस्कृतव्याकरण में शताब्दियों से चले आ रहे असन्तोष को हल करनेका श्रेय भट्टोजिदीक्षित को दिया जा सकता है[3]।

---

१. 'अभूदिति। स्थानिवद्भावप्रतिषेधाद् अस्त्याश्रयस्तावद् ईण्न भवति। सिँजाश्रयोऽपि न भवति स्थानिवद्भावप्रतिषेधसामर्थ्यात्। अस्त्वेवम्, अस्त्यादेशे भुवि, शुद्धौ तु भवतौ सिँजाश्रय ईट् प्राप्नोति। तस्माद् ईडेवात्र प्रतिषेध्यः।'—देखो इसी सूत्र पर पदमञ्जरी।

२. एतद्विषयक विवेचन हमारे ग्रन्थ के पूर्वार्ध में अव्ययप्रकरणान्तर्गत 'अस्तिक्षीरा' शब्द पर देखें।

३. श्रीनागेशभट्ट ने महाभाष्य के 'द्विसकारको निर्देशः' (महाभाष्य १.१.७०) का आश्रय लेकर 'अस्तिस्सिचोऽपृक्ते' पाठ की कल्पना की है। मध्य में पढ़े सकार को

'आत्+इस्+त्' यहां सिँच् विद्यमान हैं और इस से परे 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' (१७८) के अनुसार 'त्' यह अपृक्त हल् भी मौजूद है। अतः प्रकृतसूत्र से इस अपृक्त हल् को ईट् का आगम होकर 'आत्+इस्+ईत्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४४६) इट ईटि ।८।२।२८॥

इटः परस्य सस्य लोपः स्याद् ईटि परे ॥

अर्थः—इट् से परे सकार का लोप हो ईट् परे हो तो।

व्याख्या—इटः ।५।१। ईटि ।७।१। सस्य ।६।१। ('रात्सस्य' से। सकारादकार उच्चारणार्थः)। लोपः ।१।१। ('संयोगान्तस्य लोपः' से)। अर्थः—(इटः) इट् से परे (सस्य) स् का (लोपः) लोप हो (ईटि) ईट् परे हो तो। तात्पर्य यह है कि इट् और ईट् के मध्यगत सकार का लोप हो जाता है[1]।

'आत्+इस्+ईत्' यहां इट् से परे सिँच् के सकार का प्रकृतसूत्र से लोप हो जाता है क्योंकि इस से परे ईट् विद्यमान है। इसप्रकार 'आत्+इ+ईत्' हुआ। अब यहां पर 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) द्वारा दोनों 'इ+ई' में सवर्णदीर्घ करना है परन्तु इस में एक बाधा उपस्थित होती है। वह बाधा यह है कि 'पूर्वत्रासिद्धम्' (३१) सूत्र के अनुसार 'इट ईटि' (८.२.२८) सूत्रद्वारा किया गया सकार का लोप त्रिपादीस्थ होने से 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६.१.९७) की दृष्टि में असिद्ध है। 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र को तो इट् से परे सकार ही दिखाई देता है ईट् नहीं अतः वह कैसे सवर्णदीर्घ करे? इस का समाधान अग्रिमवार्त्तिक में उपस्थित करते हैं—

[लघु०] वा०—(३३) सिँज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः ॥

आतीत्, आतिष्टाम् ॥

अर्थः—यदि एकादेश करना हो तो सिँच् का लोप सिद्ध कहना चाहिये।

व्याख्या—यह वार्त्तिक महाभाष्य में (८.२.६) सूत्र पर पढ़ा गया है। (सिँज्लोपः)

देहलीदीपकन्याय से दोनों ओर लगा कर वे सकारान्त अस् धातु से तथा सकारान्त सिँच् से परे अपृक्त हल् को ईट् का आगम हो' इस प्रकार अर्थ करते हैं। इस अर्थ में भी किसी प्रकार के दोष की सम्भावना नहीं रहती, अपितु महाभाष्य की अनुमति भी प्राप्त हो जाती है जो दीक्षितजी के अर्थ में न थी। विशेषजिज्ञासु उन का मत 'लघुशब्देन्दुशेखर' तथा 'महाभाष्य' (१.१.७०) की उद्योतटीका में अवलोकन कर सकते हैं।

१. इट इति किम्? अकार्षीत्, अजैषीत्, अनैषीत्। ईटि इति किम्? आतिष्टाम्, आतिषुः ॥

सिँच् का लोप (एकादेशे) एकादेश करने में (सिद्धः) सिद्ध (वाच्यः) कहना चाहिये। सवर्णदीर्घ आदि कार्य 'एकः पूर्वपरयोः' (६.१.८१) के अधिकार में पठित होने से एकादेश कहाते हैं। एकादेश कार्य करने में सिँच् का लोप सिद्ध मानना चाहिये।

'आत्+इ+ईत्' यहां प्रकृतवार्त्तिक से सकार का लोप सिद्ध हो जाने से 'अकः सवर्णे दीर्घः' से पूर्व-पर दोनों के स्थान पर ईकार सवर्णदीर्घ एकादेश होकर 'आतीत्' प्रयोग सिद्ध होता है।

लुँङ् के प्रथमपुरुष के द्विवचन में तस् को ताम् आदेश हो जाता है। 'आत्+इस्+ताम्' यहां पर अपृक्त हल् परे न होने से ईट् का आगम नहीं होता। पुनः ईट् परे न रहने से सकार का लोप भी नहीं होता। अब 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से सिँच् प्रत्यय के सकार को षकार तथा 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से तकार को ष्टुत्व टकार होकर 'आतिष्टाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

लुँङ् के प्रथमपुरुष के बहुवचन में 'आट्+अत्+इस्+झि=आत्+इस्+झि' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४४७) सिँजभ्यस्तविदिभ्यश्च ।३।४।१०९।।

सिँचोऽभ्यस्ताद् विदेश्च परस्य ङित्सम्बन्धिनो झेर्जुस्। आतिषुः। आतीः, आतिष्टम्, आतिष्ट। आतिषम्, आतिष्व, आतिष्म। आतिष्यत्॥

अर्थः—सिँच्, अभ्यस्त तथा विद् धातु से परे ङित्लकारसम्बन्धी झि को जुस् आदेश हो।

व्याख्या—सिँजभ्यस्तविदिभ्यः।५।३। च इत्यव्ययपदम्। ङितः।६।१। ('नित्यं ङितः' से)। लस्य।६।१। (यह अधिकृत है)। झेः।६।१। जुस्।१।१। ('झेर्जुस्' से)। सिँच् च अभ्यस्तं च विदिश्च सिँजभ्यस्तविदयः, तेभ्यः=सिँजभ्यस्तविदिभ्यः, इतरेतर-द्वन्द्वः। अर्थः—(सिँजभ्यस्तविदिभ्यः) सिँच् से, अभ्यस्तसञ्ज्ञक से तथा विद् धातु से परे (ङितः) ङित् (लस्य) लकार के (झेः) झि के स्थान पर (जुस्) जुस् आदेश होता है। जुस् आदेश अनेकाल् है अतः 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' (४५) परिभाषा के अनुसार सम्पूर्ण झि के स्थान पर होता है।

धातुपाठ में पांच स्थानों पर विद् धातु का पाठ आया है—(१) विद ज्ञाने [अदादि० परस्मै०], (२) विदँ सत्तायाम् [दिवादि० आत्मने०], (३) विदँ विचारणे [रुधादि० आत्मने०], (४) विद्लृँ लाभे [तुदादि० उभय०], (५) विदँ चेतनाख्यान-निवासेषु [चुरादि० आत्मने०]। इन में से आत्मनेपदियों का यहां ग्रहण नहीं होता क्योंकि वहां झि का आना सम्भव नहीं। तुदादि० उभयपदी में भी मध्य में विकरण (श) के आ जाने से झि सामने नहीं आ सकता। अतः अवशिष्ट अदादिगणीय 'विद

ज्ञाने' धातु का ही यहां ग्रहण होता है।

इस सूत्र में 'ङितः' की अनुवृत्ति आवश्यक है, अन्यथा सिँच् से परे किसी भी प्रकार का दोष न आने पर भी अभ्यस्तसञ्ज्ञकों तथा विद् धातु से परे लोँट् आदि में भी झि को जुस् प्रसक्त होगा जो अनिष्ट है[1]।

सिँच् से परे उदाहरण यथा—आतिषुः, अजैषुः, अकार्षुः आदि। अभ्यस्तों से परे उदाहरण यथा—अजुहवुः, अबिभयुः आदि। विद् से परे यथा—अविदुः।

'आत्+इस्+झि' यहां सिँच् से परे झि मौजूद है, अतः प्रकृतसूत्र से झि को जुस् सर्वादेश हो गया। स्थानिवद्भाव के कारण जुस् प्रत्यय है अतः उस के आदि जकार की 'चुटू' (१२६) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से लोप होकर 'आदेश-प्रत्यययोः' (१५०) से प्रत्यय के सकार को मूर्धन्य षत्व करने से—आतिषुस्। अब पदान्त सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग करने पर 'आतिषुः' प्रयोग सिद्ध होता है।

आतीः—मध्यमपुरुष के एकवचन में सिप् प्रत्यय, सिप् के इकार का 'इतश्च' (४२४) सूत्र से लोप, च्लि, च्लि को सिँच्, इट्, 'आडजादीनाम्' (४४४) से आट् का आगम तथा 'आटश्च' (१६७) से वृद्धि एकादेश करने पर 'आत्+इस्+स्' हुआ। अब 'अस्तिसिँचोऽपृक्ते' (४४५) सूत्र द्वारा सिँच् से परे सिप् के अपृक्त सकार को ईट् का आगम, 'इट ईटि' (४४६) से सिँच् के सकार का लोप, उसे सिद्ध मानकर सवर्णदीर्घ तथा अन्त में पदान्त सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'आतीः' प्रयोग सिद्ध होता है।

आतिष्टम्—यहां थस् को 'तस्थस्थमिपां०' (४१४) सूत्र से तम् आदेश ही विशेष कार्य है। शेष सिद्धि 'आतिष्टाम्' की तरह होती है।

आतिष्ट—यहां मध्यमपुरुष के बहुवचन में थ का त आदेश हो जाता है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

आतिषम्—यहां उत्तमपुरुष के एकवचन मिप् को अम् आदेश ही विशेष कार्य है। ध्यान रहे कि यहां इट् से परे सकार का लोप नहीं होता क्योंकि ईट् परे नहीं है।

आतिष्व, आतिष्म—यहां 'नित्यं ङितः' (४२१) से वस् और मस् के सकार

---

१. लोँट् के लँङ्वत् होने से विद् धातु से परे लोँट् के झि को भी इस सूत्र से जुस् आदेश क्यों न हो? इस शङ्का के समाधान के लिये 'लँङः शाकटायनस्यैव' (५६७) सूत्र की व्याख्या का अवलोकन करें।

का लोप हो जाता है। लुङ् में रूपमाला यथा—आतीत्, आतिष्टाम्, आतिषुः। आतीः, आतिष्टम्, आतिष्ट। आतिषम्, आतिष्व, आतिष्म।

नोट—माङ् के योग में 'न माङ्योगे' (४४१) द्वारा आट् का आगम निषिद्ध हो जाता है—मा भवान् अतीत्। यहां लुङ् में यह बात भी ध्यातव्य है कि 'वदव्रज०' (४६५) से प्राप्त वृद्धि का 'नेटि' (४७७) सूत्र से निषेध हो जाता है।

लृङ् की सिद्धि में कुछ विशेष नहीं। रूपमाला यथा—आतिष्यत्, आतिष्यताम्, आतिष्यन्। आतिष्यः, आतिष्यतम्, आतिष्यत। आतिष्यम्, आतिष्याव, आतिष्याम।

इसी प्रकार निम्न धातुओं के रूप बनते हैं[1]—

(१) अट गतौ (चलना)। लँट्—अटति, अटतः, अटन्ति। लिँट्—आट, आटतुः, आटुः। लुँट्—अटिता, अटितारौ, अटितारः। लृँट्—अटिष्यति, अटिष्यतः अटिष्यन्ति। लोँट्—अटतु-अटतात्, अटताम्, अटन्तु। लँङ्—आटत्, आटताम्, आटन्। विधिलिँङ्—अटेत्, अटेताम्, अटेयुः। आ०लिँङ्—अट्यात्, अट्यास्ताम्, अट्यासुः। लुँङ्—आटीत्, आटिष्टाम्, आटिषुः। लृँङ्—आटिष्यत्, आटिष्यताम्, आटिष्यन्। उपसर्गयोग—पर्यटति=घूमता है।

(२) अव रक्षणादौ (रक्षा करना आदि)। लँट्—अवति। लिँट्—आव, आवतुः, आवुः। लुँट्—अविता। लृँट्—अविष्यति। लोँट्—अवतु-अवतात्। लँङ्—आवत्। विधि-लिँङ्—अवेत्। आ०लिँङ्—अव्यात्। लुँङ्—आवीत्, आविष्टाम्, आविषुः। लृँङ्—आविष्यत्।

[लघु०] षिध गत्याम्॥३॥

अर्थः—षिध् (सिध्) धातु 'गति-गमन-जाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2]।

व्याख्या—षिध् धातु षोपदेश है। 'धात्वादेः षः सः' (२५५) से इस के आदि षकार के स्थान पर सकार आदेश हो जाता है। इस प्रकार यह 'सिध्' धातु बन जाती है। षोपदेश करने का फल 'सिषेध' आदि में षत्व करना है। सिध् धातु गति अर्थ में प्रयुक्त होती है परन्तु गति का अभिप्राय केवल गमन से नहीं अपितु ज्ञान (जानना), गमन (जाना) और प्राप्ति (पाना) इन तीनों से है। अब सिध् की प्रक्रिया में उपयोगी लघुसञ्ज्ञाविधायक सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(४४८) ह्रस्वं लघु।१।४।१०॥

अर्थः—ह्रस्व की लघुसञ्ज्ञा हो।

---

१. संगृहीत धातुओं का सादृश्य केवल कर्तृवाच्य के दशगणों तक ही सीमित समझना चाहिये। अन्यत्र कहीं कहीं सादृश्य नहीं भी रहता।

२. निषेध, प्रतिषेध, विप्रतिषेध आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं।

व्याख्या—ह्रस्वम् ।१।१। लघु ।१।१। 'ह्रस्व' शब्द प्रायः पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होता है, यथा—मितां ह्रस्वः (७०४), खचि ह्रस्वः (६.४.६४)आदि । परन्तु इस सूत्र में इसे नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त किया गया है । अतः प्रतीत होता है कि यह शब्द पुन्नपुंसक है । अथवा—इसे विशेष्यानुसारी विशेषणशब्द मानना चाहिये । 'अक्षरम्' के विचार से नपुंसक में तथा 'वर्णः' के विचार से पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होता है । इसी प्रकार दीर्घशब्द के विषय में भी जान लेना चाहिये । **अर्थः**—(ह्रस्वम्) ह्रस्व (लघु) लघुसञ्ज्ञक होता है । पीछे (५) सूत्र पर एकमात्रिक की ह्रस्वसञ्ज्ञा की जा चुकी है, उसकी यहां पुनः लघुसञ्ज्ञा कर रहे हैं । लघुसंज्ञा का काम 'पुगन्तलघूपधस्य च' (४५१) आदि सूत्रों में पड़ेगा । अब प्रसङ्गवश ग्रन्थकार गुरुसञ्ज्ञा के विधायक दो सूत्रों को भी यहां दे रहे हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(४४६) **संयोगे गुरु ।१।४।११।।**

संयोगे परे ह्रस्वं गुरुसञ्ज्ञं स्यात् ।।

अर्थः—संयोग परे होने पर ह्रस्व की गुरुसञ्ज्ञा हो ।

व्याख्या—संयोगे ।७।१। गुरु ।१।१। ह्रस्वम् ।१।१। ('ह्रस्वं लघु' से) । **अर्थः**—(संयोगे) संयोग परे होने पर (ह्रस्वम्) ह्रस्व (गुरु) गुरुसञ्ज्ञक हो । अचों के व्यवधान से रहित हल् संयोगसञ्ज्ञक होते हैं—यह पीछे 'हलोऽनन्तराः संयोगः' (१३) सूत्र पर कह चुके हैं । संयोग परे होने पर ह्रस्व की भी इस सूत्र से गुरुसञ्ज्ञा हो जाती है । यथा—शिक्षा, भिक्षा । यहां शिक्ष् और भिक्ष् धातुओं में 'क्ष्' इस संयोग के परे होने पर इकार की गुरुसंज्ञा हो जाती है । गुरुसञ्ज्ञा होने से 'गुरोश्च हलः' (८६८) सूत्र द्वारा भाव में 'अ' प्रत्यय होकर टाप् आदि करने से 'शिक्षा, भिक्षा' सिद्ध होते हैं ।

ध्यान रहे कि लघु और गुरु सञ्ज्ञाएं 'आकडारादेका सञ्ज्ञा' (१६६) के अधिकार में प्रतिपादित की गई है अतः दोनों सञ्ज्ञाओं का एकत्र समावेश नहीं होता, अर्थात् ऐसा नहीं हो सकता कि संयोग परे होने पर जिस ह्रस्व की गुरु सञ्ज्ञा की जा रही है उस की 'ह्रस्वं लघु' (४४८) से लघु सञ्ज्ञा भी रहे । हां ह्रस्वसञ्ज्ञा एकसञ्ज्ञाधिकार के बहिर्भूत है, अतः गुरुसञ्ज्ञा के साथ उसका समावेश हो सकता है । तात्पर्य यह है कि संयोग परे होने पर एकमात्रिक वर्ण गुरुसञ्ज्ञक होता हुआ ह्रस्वसञ्ज्ञक तो रहता है पर लघुसञ्ज्ञक नहीं ।

शङ्का—लघुसञ्ज्ञा करने की आवश्यकता ही क्या है ? जहां जहां लघु को कार्य कहा गया है वहां वहां ह्रस्व को कार्य कह देंगे ।

समाधान—ऐसा नहीं कर सकते; अनेक अनर्थ उपस्थित हो जायेंगे । यथा—

णिजन्त रक्ष् धातु के लुंङ् के प्रथमपुरुष के एकवचन में तब 'अररक्षत्' यह अभीष्ट रूप बन न सकेगा। क्योंकि 'सन्वल्लघुनि०' (५३२) तथा 'दीर्घो लघोः' (५३४) सूत्रों में लघु' के स्थान पर ह्रस्व' पढ़ने से रक्ष्धातु में भी सन्वद्भाव होकर 'सन्यतः' (५३३) से इत्व तथा उसे दीर्घ करने पर 'अरीरक्षत्' यह अनिष्ट रूप बन जायेगा।

शङ्का—यदि 'लघु' की जगह 'ह्रस्व' नहीं पढ़ा जा सकता तो पुनः 'ह्रस्व' सञ्ज्ञा करने का प्रयोजन ही क्या है? जहां जहां 'ह्रस्व' कहा है वहां वहां 'लघु' ही कह देंगे।

समाधान—ऐसा भी नहीं कर सकते, तब भी दोष प्रसक्त होंगे। यथा—सर्पिस्+त्वम्=सर्पिष्ट्वम्। यहां पर 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' (८.३.१०१) द्वारा ह्रस्व से परे सकार को षकार विधान किया जाता है। यदि यहां 'ह्रस्व' की जगह 'लघु' शब्द का प्रयोग करेंगे तो षत्व न हो सकेगा क्योंकि यहां इकार लघु नहीं अपितु 'संयोगे गुरु' (४५९) से गुरु है। अतः दोनों ही सञ्ज्ञाएं अपने अपने स्थान पर आवश्यक हैं[1]।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(४५०) दीर्घं च।१।४।१२॥

गुरु स्यात्॥

अर्थः—दीर्घ भी गुरुसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—दीर्घम्।१।१। च इत्यव्ययपदम्। गुरु।१।१। ('संयोगे गुरु' से)। अर्थः—(दीर्घम्) दीर्घ (च) भी (गुरु) गुरुसञ्ज्ञक हो। पीछे संयोग परे होने पर ह्रस्व की गुरुसञ्ज्ञा की जा चुकी है। अब दीर्घ की भी इस सूत्र से गुरुसञ्ज्ञा कर रहे हैं। 'च' पद इसी बात का द्योतक है। 'ऊकालोऽज्झ्रस्व०' (५) सूत्र में द्विमात्रिक को दीर्घ कह चुके हैं उसी की पुनः यहां गुरुसञ्ज्ञा की गई है। यथा—एधाञ्चक्रे। यहां 'एध्' में एकार दीर्घ के गुरु होने के कारण 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (५११) से आम् प्रत्यय हो जाता है। इस की सम्पूर्ण सिद्धि आगे भ्वादिगण के आत्मनेपद में एध् धातु

---

१. तब 'भिद्+ता = भेत्ता, छिद्+ता = छेत्ता' इत्यादियों में भी गुरुसञ्ज्ञा द्वारा लघुसञ्ज्ञा का बाध हो जाने से 'पुगन्तलघूपधस्य च' (४५१) से लघूपध गुण न हो सकेगा—इस शङ्का का समाधान यह है कि 'त्रसि-गृधि-धृषि-क्षिपेः क्नुः' (३.२.१४०) सूत्र में क्नु को कित् करना इस बात का ज्ञापक रहेगा कि ऐसे स्थलों पर लघूपधगुण का वारण नहीं होता, अपितु भूतपूर्व लघु को लेकर गुण निर्बाध हो जाता है। महाभाष्य (७.३.८६) में कहा भी है—

"संयोगे गुरुसञ्ज्ञायां गुणो भेत्तुर्न सिध्यति।
क्नु-सनोर्यत्कृतं कित्त्वं ज्ञापकं स्याल्लघोर्गुणे॥"

के लिँट् में देखें ।

अब लघुसञ्ज्ञा का प्रकृत में फल दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (४५१) पुगन्त-लघूपधस्य च ।७।३।८६।।

पुगन्तस्य लघूपधस्य चाङ्गस्य इको गुणः सार्वधातुकार्धधातुकयोः । धात्वादेः० (२५५) इति सः । सेधति । षत्वम्—सिषेध ।।

अर्थः—पुगन्त तथा लघूपध अङ्ग के इक् के स्थान पर गुण आदेश हो सार्वधातुक या आर्धधातुक परे हो तो ।

व्याख्या—पुगन्त-लघूपधस्य ।६।१। च इत्यव्ययपदम् । अङ्गस्य ।६।१। (अधिकृत है) गुणः ।१।१। ('मिदेर्गुणः' से)। सार्वधातुकार्धधातुकयोः ।७।२। ('सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से) । स्थानी के निर्देश के विना जहां गुण और वृद्धि का विधान हो वहां 'इको गुणवृद्धी' (१.१.३) परिभाषा से 'इकः' यह षष्ठ्यन्त पद उपस्थित हो जाता है । यहां गुण का विधान है परन्तु स्थानी का निर्देश नहीं अतः यहां पर भी 'इकः' पद उपस्थित हो जायेगा । पुक् अन्ते यस्य तत् पुगन्तम् (अङ्गम्), बहुव्रीहिः । णिच् परे होने पर 'ऋ' आदि धातुओं से 'अर्ति-ह्री-व्ली री-क्नूयी-क्ष्माय्यातां पुग्णौ' (७०२) सूत्र द्वारा पुक् का आगम किया जाता है । यह पुक् जिस समुदाय का अन्तावयव होता है उस को 'पुगन्त' कहते हैं । लघ्वी उपधा यस्य तद् लघूपधम् (अङ्गम्) जिस की उपधा (अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण ; देखो सूत्र १७६) लघु हो उसे 'लघूपध' कहते हैं । पुगन्तं च लघूपधञ्च पुगन्तलघूपधम्, तस्य पुगन्तलघूपधस्य, समाहारद्वन्द्वः । अर्थः—(पुगन्त-लघूपधस्य) पुक् का आगम जिस के अन्त में हो या लघुवर्ण जिस की उपधा हो ऐसे (अङ्गस्य) अङ्ग के (इकः) इक् के स्थान पर (गुणः) गुण हो जाता है (सार्वधातुकार्धधातुकयोः) सार्वधातुक या आर्धधातुक प्रत्यय परे हो तो ।

पुगन्त का उदाहरण यथा—ह्री (लज्जा करना, जुहो० परस्मै०) धातु से णिच् करने पर 'अर्ति-ह्री-व्ली०' (७०२) सूत्र से पुक् का आगम हो जाता है—ह्रीप्+इ । अब यहां 'ह्रीप्' यह पुगन्त अङ्ग है । इस के इक्-ईकार को प्रकृतसूत्र से गुण होकर 'ह्रेपि' बन जाता है । इस के आगे लँट्, शप् आदि आ कर 'ह्रेपयति' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार—व्लेपयति, रेपयति, क्नोपयति आदि पुगन्तों में भी समझ लेना चाहिए ।

लघूपध का उदाहरण यथा—प्रकृत सिध् धातु से लँट्, तिप्, शप् होकर—सिध्+अ+ति । अब यहां 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' (३८६) के अनुसार शप् सार्वधातुक है । इस सार्वधातुक के परे होने पर लघूपध अङ्ग है—सिध् । अतः प्रकृतसूत्र से इस के इक्-इकार को एकार गुण हो कर 'सेधति' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार आगे भी

लँट् में लघूपधगुण होता चला जायेगा[1] । रूपमाला यथा—सेधति, सेधतः, सेधन्ति। सेधसि, सेधथः, सेधथ । सेधामि, सेधावः, सेधामः ।

लिँट् – षिध् धातु के षकार को 'धात्वादेः षः सः' (२५५) से सकार होकर लिँट्, तिप्, णल् करने से—सिध्+अ। 'लिँटि धातोः०' (३९४) से द्वित्व, तथा अभ्यासकार्य करने पर—सि+सिध्+अ। अब 'लिँट् च' (४००) सूत्र द्वारा 'अ' इस आर्धधातुक के परे होने पर 'सिध्' इस लघूपध अङ्ग के इक्-इकार को 'पुगन्त-लघूपधस्य च' सूत्र से गुण-एकार हो कर 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) द्वारा अभ्यास के इण् से परे आदेशरूप सकार को षत्व करने पर 'सिषेध' रूप सिद्ध होता है।

नोट—ध्यान रहे कि यदि धातु षोपदेश न होती तो 'सि+सेध्+अ' इस अवस्था में इण् से परे आदेशरूप सकार न होने से षत्व न हो सकता। अतः मुनि ने सोच समझ कर धातु को षोपदेश पढ़ा है।

लिँट् प्रथमपुरुष के द्विवचन में 'सि+सिध्+अतुस्' इस अवस्था में 'अतुस्' इस आर्धधातुक के परे होने पर 'पुगन्तलघूपधस्य च' सूत्र द्वारा लघूपध गुण प्राप्त होता है परन्तु वह अनिष्ट है। अतः उस के निवारणार्थ अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(४५२) असंयोगाल्लिँट् कित् ।१।२।५।।

असंयोगात् परोऽपित् लिँट् कित् स्यात्। सिषिधतुः। सिषिधुः। सिषेधिथ, सिषिधथुः, सिषिध। सिषेध, सिषिधिव, सिषिधिम। सेधिता।

---

१. प्रश्न—'भिद्+ति' यहां 'रुधादिभ्यः श्नम्' (६६६) सूत्र से भिद् को श्नम् विकरण का आगम होकर 'भिनद्+ति' बनता है। अब यहां 'ति' यह सार्वधातुक परे है और 'भिनद्' यह लघूपध अङ्ग है, तो इस अङ्ग के इक् इकार को 'पुगन्तलघूप-धस्य च' (४५१) सूत्र से एकार गुण हो कर 'भेनत्ति' प्रयोग क्यों नहीं बन जाता ?

उत्तर – यद्यपि 'सेधति' आदि में भी यह गुण नहीं होना चाहिये क्योंकि 'सिध्+अ+ति' इस अवस्था में लघूपध अङ्ग के इक् और सार्वधातुक के बीच में धकार का व्यवधान पड़ता है, तथापि वह क्षन्तव्य है। क्योंकि विना इसके गुजारा नहीं। अर्थात् यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो हमें कोई भी उदाहरण ऐसा नहीं मिल सकेगा जहां लघूपध अङ्ग के इक् से परे विना व्यवधान के साक्षात् सार्वधातुक या आर्धधातुक प्रत्यय हो। अतः लाचार होकर हम एक वर्ण का व्यवधान मानने को बाध्य हो जाते हैं। परन्तु 'भिनत्ति' आदि में एक से अधिक वर्णों का व्यवधान पड़ता है अतः वहां हम ऐसा नहीं कर सकते। इसीलिये कहा भी है—'येन नाऽव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि' अर्थात् जिस वर्ण के व्यवधान के विना काम न चलता हो उस के व्यवधान होने पर भी कार्य हो जाया करता है।

सेधिष्यति । सेधतु । असेधत् । सेधेत् । सिध्यात् । असेधीत् । असेधिष्यत् ॥

अर्थः—असंयोग से परे अपित् लिँट् कित् हो ।

व्याख्या—असंयोगात् ।५।१। लिँट् ।१।१। कित् ।१।१। अपित् ।१।१। ('सार्व-धातुकमपित्' से) । न संयोगः—असंयोगः, तस्माद् असंयोगात् । न पित्—अपित् । नञ्समासः । अर्थः—(असंयोगात्) असंयोग से परे (अपित्) पित् से भिन्न (लिँट्) लिँट् (कित्) कित् हो । तात्पर्य यह है कि जैसे कित् परे होने पर 'क्क्ङति च' (४३३) सूत्र से इग्लक्षण गुण और वृद्धि का निषेध हुआ करता है वैसे यहां भी हो । इस के अतिरिक्त 'ईजतुः' आदि में सम्प्रसारण करना भी कित् करने का प्रयोजन है—यह सब आगे यथास्थान स्पष्ट होगा ।

तिप्, सिप्, मिप् के स्थान पर आदेश होने वाले णल्, थल्, णल् ये तीन प्रत्यय ही पित् लिँट् हैं अतः ये कित् नहीं होंगे । इन के अतिरिक्त शेष पन्द्रह (अतुस्, उस्, अथुस्, अ, व, म—ये छः परस्मैपद में तथा आत्मनेपद के सब के सब पूरे नौ) प्रत्यय कित् हो जायेंगे ।

ध्यान रहे कि असंयोग से परे ही अपित् लिँट् कित् होता है संयोग से परे नहीं । सस्रंसे, दध्वंसे, बभ्रंसे, सस्रम्भे आदि में संयोग से परे लिँट् कित् नहीं होता । इस से 'अनिदितां हलः०' (३३४) द्वारा उपधा के नकार का लोप नहीं होता । यह सब आगे भ्वादिगण के आत्मनेपद में इन धातुओं के प्रकरण में स्पष्ट किया जायेगा ।

उदाहरण यथा—'सि+सिध्+अतुस्' यहां 'सिसिध्' में कोई संयोग नहीं अतः असंयोग से परे 'अतुस्' यह अपित् लिँट् कित् हो जाता है । तब इसे मान कर प्राप्त होने वाले गुण का 'क्क्ङति च' (४३३) से निषेध हो कर 'आदेशप्रत्ययोः' (१५०) से षत्व तथा अन्त में सकार को रुँत्व-विसर्ग करने से 'सिषिधतुः' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार प्रथमपुरुष के बहुवचन 'उस्' में 'सिषिधुः' बनता है ।

लिँट् मध्यमपुरुष के एकवचन में 'सिध्+थल्' इस अवस्था में 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (४०१) से वलादि आर्धधातुक थल् को इट् का आगम होकर द्वित्व तथा अभ्यास के हल् का लोप करने पर 'सिसिध्+इथ' हुआ । अब यहां सिप् के स्थान पर आदेश हुए थल् के पित् होने के कारण कित् न होने से उस के परे रहते 'पुगन्तलघूप-धस्य च' से लघूपध गुण निर्बाध हो जाता है—सिषेधिथ । द्विवचन और बहुवचन में लिँट् के कित् होने से लघूपध गुण नहीं होगा—सिषिधथुः, सिषिध । उत्तमपुरुष के एकवचन में पुनः णल् प्रत्यय आ जाने से—सिषेध । द्विवचन और बहुवचन में इट् का आगम होकर कित्त्व के कारण गुण का निषेध हो जाता है—सिषिधिव, सिषिधिम । रूपमाला यथा—सिषेध, सिषिधतुः, सिषिधुः । सिषेधिथ, सिषिधथुः, सिषिध । सिषेध, सिषिधिव, सिषिधिम ।

लुँट्—में सर्वत्र लघूपध गुण हो जाता है—सेधिता, सेधितारौ, सेधितारः। सेधितासि, सेधितास्थः, सेधितास्थ। सेधितास्मि, सेधितास्वः, सेधितास्मः।

लृँट्—में लघूपधगुण होकर 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व हो जाता है—सेधिष्यति, सेधिष्यतः, सेधिष्यन्ति। सेधिष्यसि, सेधिष्यथः, सेधिष्यथ। सेधिष्यामि, सेधिष्यावः, सेधिष्यामः।

लोँट्—में भी सर्वत्र लघूपध-गुण हो जाता है—सेधतु-सेधतात्, सेधताम्, सेधन्तु। सेध-सेधतात्, सेधतम् सेधत। सेधानि, सेधाव, सेधाम।

लँङ्—असेधत्, असेधताम्, असेधन्। असेधः, असेधतम्, असेधत। असेधम्, असेधाव, असेधाम।

विधिलिँङ्—सेधेत्, सेधेताम्, सेधेयुः। सेधेः, सेधेतम्, सेधेत। सेधेयम्, सेधेव, सेधेम।

आ० लिँङ् में 'किदाशिषि' (४३२) द्वारा यासुट् के कित् होने से लघूपधगुण का 'क्क्ङति च' (४३३) से निषेध हो जाता है—सिध्यात्, सिध्यास्ताम्, सिध्यासुः। सिध्याः, सिध्यास्तम्, सिध्यास्त। सिध्यासम्, सिध्यास्व, सिध्यास्म।

लुँङ्—प्रथमपु० के एकवचन की विवक्षा में 'असिध्+इस्+ईत्' इस अवस्था में लघूपधगुण होकर 'इट ईटि' (४४६) से सकार का लोप, 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' (वा० ३३) से उसे सिद्धवत् मान कर सवर्णदीर्घ करने पर 'असेधीत्' रूप सिद्ध होता है[1]। रूपमाला यथा—असेधीत्, असेधिष्टाम्, असेधिषुः। असेधीः, असेधिष्टम्, असेधिष्ट। असेधिषम्, असेधिष्व, असेधिष्म।

लृँङ्—में भी लघूपधगुण होकर षत्व हो जाता है—असेधिष्यत्, असेधिष्यताम्, असेधिष्यन्। असेधिष्यः, असेधिष्यतम्, असेधिष्यत। असेधिष्यम्, असेधिष्याव, असेधिष्याम।

उपसर्गयोग—अप√सिध्=दूर करना (संवत्सरे यवाहारस्तत्पापमपसेधति—मनु० ११.१९८)। नि√सिध्=रोकना, मना करना, प्रतिकार करना (न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः—रघु० २.४; शिष्यं महर्षेर्नृपतिर्निषिध्य—रघु० ५.१८; भूतगणान् न्यषेधीत्—भट्टि० १.१५; न्यषेधत् पावकास्त्रेण—भट्टि० १७.८७)। प्रति√सिध्=प्रतिषेध करना, मना करना, रोकना (प्रतिषेधत्सु चाधर्मान् हितं चोपदिशत्स्वपि—मनु० २.२०६)।

नोट—नि और प्रति उपसर्गों के साथ सिध् धातु के सकार के स्थान पर

---

१. वस्तुतः यहां पर 'वदव्रजहलन्तस्याचः' (४६५) से हलन्तलक्षणा वृद्धि प्राप्त होती थी उस का 'नेटि' (४७७) से निषेध हो जाने पर ही लघूपध-गुण की प्रवृत्ति होती है—यह सब आगे स्पष्ट होगा।

'उपसर्गात् सुनोति-सुवति-स्यति-स्तौति-स्तोभति-स्था-सेनय-सेध-सिच्-सञ्ज-स्वञ्जाम्' (८.३.६५) सूत्र से षत्व हो जाता है—निषेधति, प्रतिषेधति। ध्यान रहे कि 'सात्पदाद्योः' (१२४१) सूत्र पद के आदि में सकार को षकार करने का निषेध करता था (यथा—मधु सिञ्चति, दधि सिञ्चति) अतः 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व नहीं हो सकता था इसलिये विशेषसूत्र बनाना पड़ा।

[लघु०] एवम्—चिती॑ सञ्ज्ञाने ॥४॥ शुच शोके ॥५॥

अर्थः—इसी प्रकार 'चिती॑ (चित्)=होश में आना' तथा 'शुच्=शोक करना' धातुओं के रूप होते हैं।

व्याख्या—चिती॑ धातु में ईकार अनुनासिक है, इस की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है और तब 'तस्य लोपः' (३) से लोप होकर 'चित्' मात्र धातु रह जाती है। ईकार के इत् करने का प्रयोजन 'श्वीदितो निष्ठायाम्' (७.२.१४) सूत्र द्वारा निष्ठा में इट् आगम का निषेध करना है। अतः चित् धातु का निष्ठा में 'चित्तः, चित्तवान्' बनता है। इसकी लकारों में सम्पूर्ण प्रक्रिया षिध् धातु के समान होती है। रूपमाला यथा—लँट्—चेतति, चेततः, चेतन्ति। लिँट्—चिचेत, चिचिततुः, चिचितुः। चिचेतिथ, चिचितथुः, चिचित। चिचेत, चिचितिव, चिचितिम। लुँट्—चेतिता, चेतितारौ, चेतितारः। लृँट्—चेतिष्यति, चेतिष्यतः, चेतिष्यन्ति। लोँट्—चेततु-चेततात्, चेतताम्, चेतन्तु। लँङ्—अचेतत्, अचेतताम्, अचेतन्। विधिलिँङ्—चेतेत्, चेतेताम्, चेतेयुः। आ० लिँङ्—चित्यात्, चित्यास्ताम्, चित्यासुः। लुँङ्—अचेतीत्, अचेतिष्टाम्, अचेतिषुः। अचेतीः, अचेतिष्टम्, अचेतिष्ट। अचेतिषम्, अचेतिष्व, अचेतिष्म। लृँङ्—अचेतिष्यत्, अचेतिष्यताम्, अचेतिष्यन्।

शुच् धातु की रूपमाला भी इसी तरह बनती है—लँट्—शोचति, शोचतः, शोचन्ति। लिँट्—शुशोच, शुशुचतुः, शुशुचुः। शुशोचिथ, शुशुचथुः, शुशुच। शुशोच, शुशुचिव, शुशुचिम। लुँट्—शोचिता, शोचितारौ, शोचितारः। लृँट्—शोचिष्यति, शोचिष्यतः, शोचिष्यन्ति। लोँट्—शोचतु-शोचतात्, शोचताम्, शोचन्तु। लँङ्—अशोचत्, अशोचताम्, अशोचन्। विधिलिँङ्—शोचेत्, शोचेताम्, शोचेयुः। आ०लिँङ्—शुच्यात्, शुच्यास्ताम्, शुच्यासुः। लुँङ्—अशोचीत्, अशोचिष्टाम्, अशोचिषुः। अशोचीः, अशोचिष्टम्, अशोचिष्ट। अशोचिषम्, अशोचिष्व, अशोचिष्म। लृँङ्—अशोचिष्यत्, अशोचिष्यताम्, अशोचिष्यन्।

इसी प्रकार—बुध अवगमने (जानना)। रूपमाला यथा—लँट्—बोधति। लिँट्—बुबोध, बुबुधतुः, बुबुधुः। लुँट्—बोधिता। लृँट्—बोधिष्यति। लोँट्—बोधतु-बोधतात्। लँङ्—अबोधत्। वि० लिँङ्—बोधेत्। आ० लिँङ्—बुध्यात्। लुँङ्—अबोधीत्। लृँङ्—अबोधिष्यत्।

[लघु०] गद व्यक्तायां वाचि ॥६॥ गदति ॥

अर्थः—गद् धातु व्यक्त वाणी बोलने में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—मनुष्यों की वाणी व्यक्त वाणी कहलाती है अतः मनुष्यों के बोलने में गद् धातु का प्रयोग होता है।

लँट् की प्रक्रिया में कोई विशेष कार्य नहीं होता, सर्वत्र शप् हो जाता है—गदति, गदतः, गदन्ति।

गद् धातु के साथ यदि 'प्र' और 'नि' उपसर्गों का योग किया जाये तो 'प्र+नि+गदति' इस अवस्था में 'नि' के नकार को णकार करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है[2]—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४५३) नेर्गद-नद-पत-पद-घु-मा-स्यति-हन्ति-याति-वाति-द्राति-प्साति-वपति-वहति-शाम्यति-चिनोति-देग्धिषु च ।८।४।१७॥

उपसर्गस्थाद् निमित्तात्परस्य नेर्नस्य णो गदादिषु परेषु । प्रणिगदति ॥

अर्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त[3] से परे नि के नकार को णकार आदेश होता है गद्, नद्, पत्, पद्, घुसञ्ज्ञक धातु, मा, षो, हन्, या, वा, द्रा, प्सा, वप्, वह्, शम्, चि, अथवा दिह् धातु परे हो तो।

---

१. गद (रोग), गद्य (पद्यातिरिक्त लेख), गदा आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं। यह धातु लोक में अत्यन्त प्रचलित है—भूपालसिंहं निजगाद सिंहः—रघु०; राघवस्तं जगाद—भट्टि०; शमाय शास्त्रं जगतो जगाद—न्यायवार्त्तिकारम्भे।

२. 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' (१३८) सूत्र से ही णत्व हो जायेगा। अग्रिम 'नेर्गद०' (४५३) सूत्र की आवश्यकता ही क्या ? यहां ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि वह सूत्र समानपद अर्थात् अखण्डपद में ही णत्व का विधान करता है भिन्न भिन्न पदों में नहीं। यथा—'रामनाम, रघुनाथः, पुरुषनाथः' आदियों में णत्व नहीं होता। यह सब पीछे उसी सूत्र (१३८) पर स्पष्ट कर चुके हैं। यहां पर 'प्र+नि+गदति' में तीन पृथक् पृथक् पद हैं। पहले दो पद अव्यय हैं, इन से परे सुँविभक्ति का 'अव्ययादाप्सुँपः' (३७२) से लुक् हुआ है। अतः उस सूत्र से यहां णत्व प्राप्त नहीं था इसलिये अग्रिमसूत्र आवश्यक है।

३. णत्व करने में र् ष् ही निमित्त हुआ करते हैं (देखो—'रषाभ्यां नो णः समानपदे' २६७)। अतः निमित्त का अभिप्राय यहां र् ष् से ही है। रेफ और षकार में भी यहां रेफ के ही उदाहरण मिलते हैं षकार के नहीं।

व्याख्या—यहां पर 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' सूत्र से 'रषाभ्यां नो णः' इन तीन पदों का अनुवर्त्तन होता है। उपसर्गात् ।५।१। ('उपसर्गादसमासेऽपि०' से) रषाभ्याम् ।५।२। नेः ।६।१। नः ।६।१। णः ।१।१। गद—देग्धिषु ।७।३। च इत्यव्ययपदम् । 'उपसर्गाद् रषाभ्याम्' का अभेदान्वय होने से 'उपसर्गस्थाभ्यां रषाभ्याम्' ऐसा अर्थ हो जाता है। अर्थः—(उपसर्गात्=उपसर्गस्थाभ्याम्) उपसर्ग में स्थित रेफ या षकार से परे (नेः) नि के (नः) न् के स्थान पर (णः) ण् आदेश हो जाता है (गद—देग्धिषु) गद्, नद्, पत्, पद्, घुसञ्ज्ञक, मा, षो, हन्, या, वा, द्रा, प्सा, वप्, वह्, शम्, चि, दिह्—इन में से कोई एक धातु परे हो तो। तात्पर्य यह है कि उपसर्गस्थ रेफ से परे नि हो और उस से परे गद् नद् आदि धातु हों तो नि के नकार को णकार आदेश हो जाता है। यथा—प्र+नि+गदति=प्रणिगदति। प्र+ +नि+नदति=प्रणिनदति। गद् आदि धातु निम्न प्रकार से जानने चाहियें—

(१) गद व्यक्तायां वाचि (स्पष्ट बोलना)। प्रणिगदति।
(२) णद अव्यक्ते शब्दे (अस्पष्ट शब्द करना, भ्वा० परस्मै०)। प्रणिनदति।
(३) पत्लृँ गतौ (गिरना, भ्वा० परस्मै०)। प्रणिपतति। तद्विद्धि प्रणिपातेन (गीता)।
(४) पदँ गतौ (चलना, दिवा० आत्मने०)। प्रणिपद्यते।
(५) घुसञ्ज्ञक धातु[1]। प्रणिददाति। प्रणिदधाति।
(६) माङ् माने शब्दे च (मापना व शब्द करना, जुहो० आत्मने०)। प्रणिमिमीते।
माङ् माने (मापना, दिवा० आत्मने०)। प्रणिमायते।
मेङ् प्रणिदाने (विनिमय या प्रत्यर्पण करना भ्वा० आत्मने०) प्रणिमयते।
(७) षो अन्तकर्मणि (नाश करना, दिवा० परस्मै०)। प्रणिष्यति[2]।
(८) हन हिंसा-गत्योः (मारना व गमन करना, अदा० परस्मै०)। प्रणिहन्ति।
(९) या प्रापणे (जाना, अदा० परस्मै०)। प्रणियाति।
(१०) वा गति-गन्धनयोः (हवा का बहना आदि, अदा० परस्मै०)। प्रणिवाति।
(११) द्रा कुत्सायां गतौ (भागना या सोना, अदा० परस्मै०)। प्रणिद्राति।
(१२) प्सा भक्षणे (खाना, अदा० परस्मै०)। प्रणिप्साति।
(१३) डुवपँ बीजसन्ताने (बीज बोना, काटना, भ्वा० उभय०)। प्रणिवपति-ते।
(१४) वहँ प्रापणे (ले जाना, भ्वा० उभय०)। प्रणिवहति।

---

१. दा और धा रूप वाले धातु घुसञ्ज्ञक कहलाते हैं—इन का विवेचन 'दाधा घ्वदाप्' (६२३) सूत्र पर देखें।

२. यहां 'उपसर्गात् सुनोति०' (८.३.६५) सूत्र से षत्व होता है।

(१५) शमुँ उपशमे (शान्त होना, दिवा० परस्मै०)। प्रणिशाम्यति ।

(१६) चिञ् चयने (चुनना, स्वा० उभय०)। प्रणिचिनोति ।

(१७) दिहँ उपचये (लेपना, अदा० उभय०)। प्रणिदेग्धि ।

गद् आदियों में पहली चार धातुओं का निर्देश शप् अनुबन्ध लगा कर किया गया है तथा स्यति आदि ग्यारह धातुओं का श्तिप् से। जिस कार्य का शप् अथवा श्तिप् से निर्देश किया जाता है वह कार्य यङ्लुक् में नहीं हुआ करता[1] । अतः इन धातुओं में यह णत्व यङ्लुक् प्रक्रिया में नहीं होगा । यथा—प्रनिजागदीति, प्रनिनानदीति, प्रनिजङ्घनीति इत्यादियों में णत्व नहीं होता । ध्यान रहे कि यह णत्व अडागम के व्यवधान में भी प्रवृत्त होता है। यथा —प्रण्यवाप्सीत्, प्रण्यगदत् आदि ।

लिँट्—गद् धातु से लिँट्, प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में तिप्, णल्, 'लिँटि धातोरनभ्यासस्य' (३९४) से द्वित्व, तथा हलादिशेष होकर—ग+गद्+अ । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४५४) कुहोश्चुः ।७।४।६२।।

अभ्यासकवर्गहकारयोश्चवर्गादेशः ।।

अर्थः—अभ्यास के कवर्ग और हकार के स्थान पर चवर्ग आदेश हो ।

व्याख्या—कुहोः ।६।२। चुः ।१।१। अभ्यासस्य ।६।१। ('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से)। कुश्च ह् च कुहौ, तयोः—कुहोः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(अभ्यासस्य) अभ्यास के (कुहोः) कवर्ग और हकार के स्थान पर (चुः) चवर्ग आदेश होता है ।

यहां पर स्थानी छः तथा आदेश पांच हैं अतः यथासङ्ख्यपरिभाषा का आश्रय नहीं लिया जा सकता, 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) से ही व्यवस्था की जायेगी । स्थानियों (कवर्ग, हकार) का स्थान कण्ठ तथा आदेशों (चवर्ग) का स्थान तालु है अतः स्थानकृत आन्तर्य से काम नहीं चल सकता । स्थानियों में हकार का आभ्यन्तरयत्न ईषद्विवृत तथा अन्यों का स्पृष्ट है अतः उस का आश्रय भी नहीं लिया जा सकता । इस प्रकार पारिशेष्यात् यहां बाह्यप्रयत्न के द्वारा ही निश्चय किया जाता है । तथाहि—

क् का बाह्ययत्न—विवार, श्वास, अघोष तथा महाप्राण है । अतः उस के स्थान पर चवर्गों में वैसा चकार ही आदेश होगा । यथा (कृ)—चकार, (कम्)—चकमे ।

ख् का बाह्ययत्न—विवार, श्वास, अघोष तथा महाप्राण है । अतः उस के स्थान पर चवर्गों में से वैसा छकार ही आदेश होगा । बाद में छकार को 'अभ्यासे

---

1. श्तिपा शपानुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च ।
अत्रैकाज्ग्रहणं चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि ।।

चर्च' (३९९) से चकार हो जायेगा। यथा (खन्)—छखान=चखान, (खाद्)—छखाद=चखाद।

ग् का बाह्ययत्न—संवार, नाद, घोष तथा अल्पप्राण है। अतः उस के स्थान पर चवर्गों में से वैसा जकार ही आदेश होगा। यद्यपि ञकार भी वैसा ही है तथापि निरनुनासिक ग् के स्थान पर निरनुनासिक जकार करना ही उचित है। यथा (गम्)—जगाम, (गुप्)—जुगोप, (ग्रह्)—जग्राह।

घ् का बाह्ययत्न—संवार, नाद, घोष तथा महाप्राण है। अतः उसके स्थान पर चवर्गों में से वैसा झकार ही आदेश होगा। बाद में उस झकार को भी 'अभ्यासे चर्च'(३९९) से जकार हो जायेगा। यथा (घट्)—झघटे=जघटे, (घुट्)—झुघुटे=जुघुटे, (घ्रा)—झघ्रौ=जघ्रौ।

ङ् का बाह्ययत्न—संवार, नाद, घोष तथा अल्पप्राण है। अतः उस के स्थान पर चवर्गों में तादृश ञकार ही आदेश होगा। यहां यद्यपि ग् का भी बाह्ययत्न तुल्य है तथापि ङकार के अनुनासिक होने से उसे वैसा अनुनासिक ञकार ही किया जायेगा। यथा (ङुञ्)—ञुङुवे।

ह् का बाह्ययत्न—संवार, नाद, घोष तथा महाप्राण है। अतः उसके स्थान पर चवर्गों में वैसा झकार ही आदेश होगा। बाद में उस झकार को भी 'अभ्यासे चर्च' (३९९) से जकार हो जायेगा। यथा (हन्)—झघान=जघान, (हृ)—झहार=जहार। इन सब की तालिका यथा—

स्थानी	आदेश	साम्य का कारण	उदाहरण
क्	च्	विवार, श्वास, अघोष, अल्पप्राण	कृ—चकार
ख्	छ् (च्)	,, ,, ,, महाप्राण	खन्—चखान
ग्	ज्	संवार, नाद, घोष, अल्पप्राण	गम्—जगाम
घ्	झ् (ज्)	,, ,, ,, महाप्राण	घुट्—जुघुटे
ङ्	ञ्	,, ,, ,, अल्पप्राण	ङु—ञुङुवे
ह्	झ् (ज्)	,, ,, ,, महाप्राण	हृ—जहार

'ग+गद्+अ' इस अवस्था में प्रकृतसूत्र द्वारा अभ्यास के कवर्ग- गकार को चवर्ग-जकार हो जाने पर 'ज+गद्+अ' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४५५) अत उपधायाः ।७।२।११६।।

उपधाया अतो वृद्धिः स्याद् ञिति णिति च प्रत्यये परे। जगाद, जगदतुः, जगदुः। जगदिथ, जगदथुः, जगद ।।

अर्थः—ञित् या णित् प्रत्यय परे होने पर उपधा अत् के स्थान पर वृद्धि हो।

व्याख्या—अतः ।६।१। उपधायाः ।६।१। वृद्धिः ।१।१। ('मृजेर्वृद्धिः' से) ञ्णिति ।७।१। ('अचो ञ्णिति' से)। ञ् च ण् च ञ्णौ, ञ्णौ इतौ यस्य स ञ्णित्, तस्मिन् ञ्णिति, ञिति णिति चेत्यर्थः। 'अङ्गस्य' का अधिकार होने से 'प्रत्यये' पद उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(उपधायाः, अतः) उपधाभूत अत् के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि हो (ञ्णिति) ञित् या णित् प्रत्यय परे हो तो। 'अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा' (१७६) के अनुसार अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण उपधासञ्ज्ञक होता है। अत् के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) परिभाषा के अनुसार आकार ही वृद्धि होगी।

ञित् में उदाहरण यथा—(पच्) पाकः, (त्यज्) त्यागः, (यज्) यागः। यहां सर्वत्र भाव में घञ् प्रत्यय हुआ है। णित् में उदाहरण यथा—पाचकः, पाठकः। यहां ण्वुल् प्रत्यय किया गया है।

अत इति किम्? भेदकः, छेदकः। यहां णित् (ण्वुल्) परे होने पर भी उपधाभूत इकार को वृद्धि नहीं होती। उपधाया इति किम्? तक्षकः। यहां तक्ष् धातु में उपधा ककार है अकार नहीं, अतः वृद्धि नहीं होती।

'ज+गद्+अ' यहां णल्-णित् के परे रहते उपधाभूत अत् को प्रकृतसूत्र से वृद्धि-आकार करने पर 'जगाद' प्रयोग सिद्ध होता है। प्रथमपु० के द्विवचन और बहुवचन में—जगदतुः, जगदुः। कोई विशेष कार्य नहीं होता। थल् में इट् का आगम विशेष है—जगदिथ। द्विवचन और बहुवचन में पूर्ववत्—जगदथुः, जगद।

उत्तमपु० के एकवचन में मिप्, णल्, द्वित्व तथा अभ्यासकार्य होकर 'जगद्+अ' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(४५६) णलुत्तमो वा ।७।१।९१।।

उत्तमो णल् वा णित् स्यात्। जगाद, जगद। जगदिव, जगदिम। गदिता। गदिष्यति। गदतु। अगदत्। गदेत्। गद्यात्।।

अर्थः—उत्तमपुरुष का णल् विकल्प से णित् हो।

व्याख्या—णल् ।१।१। उत्तमः ।१।१। वा इत्यव्ययपदम्। णित् ।१।१। ('गोतो णित्' से)। अर्थः—(उत्तमः) उत्तमपुरुष वाला (णल्) णल् (वा) विकल्प से (णित्)

णित् हो। यह सूत्र अष्टाध्यायी के कार्यातिदेश प्रकरण में पढ़ा गया है अतः इसका यह अभिप्राय नहीं कि उत्तमपु० के णल् के णकार की इत्सञ्ज्ञा विकल्प से हो। इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि इसे णित्कार्य विकल्प से हों। णित् परे होने पर 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि हुआ करती है तो इस के परे होने पर वह विकल्प से होगी।

'जगद्+अ' इस स्थिति में णल् के णित्त्वपक्ष में 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधाभूत अत् को वृद्धि आकार होकर 'जगाद' रूप बनेगा और णित्त्व के अभाव में 'जगद'। इस प्रकार उत्तमपु० के णल् में 'जगाद, जगद' ये दो रूप बनेंगे। द्विवचन और बहुवचन में इट् का आगम होकर—जगदिव, जगदिम। लिँट् में रूपमाला यथा —जगाद,जगदतुः, जगदुः। जगदिथ, जगदथुः, जगद। जगाद-जगद, जगदिव, जगदिम।

लुँट्—गदिता, गदितारौ, गदितारः। लृँट्—गदिष्यति, गदिष्यतः, गदिष्यन्ति। लोँट्—गदतु·गदतात्, गदताम्, गदन्तु। लँङ्—अगदत्, अगदताम्, अगदन्। वि० लिँङ् —गदेत्, गदेताम्, गदेयुः। आ० लिँङ्—गद्यात्, गद्यास्ताम्, गद्यासुः।

लुँङ्—गद् धातु से लुँङ्, तिप्, इकारलोप, च्लि, सिँच्, इट् और ईट् के आगम तथा अङ्ग को अट् का आगम करने पर—'अगद्+इस्+ईत्' इस स्थिति में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है[1]—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४५७) अतो हलादेर्लघोः।७।२।७॥

हलादेर्लघोरकारस्य वृद्धिर्वा इडादौ परस्मैपदे सिँचि। अगादीत्, अगदीत्। अगदिष्यत्॥

अर्थः—हलादि अङ्ग के लघु अकार के स्थान पर विकल्प से वृद्धि होती है, परस्मैपदपरक इडादि सिँच् प्रत्यय परे हो तो।

व्याख्या—अतः।६।१। हलादेः।६।१। लघोः।६।१। इटि।७।१। ('नेटि' से)। सिँचि।७।१। वृद्धिः।१।१। परस्मैपदेषु।७।३। ('सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' से)। विभाषा।१।१। ('ऊर्णोतेर्विभाषा' से)। अङ्गस्य।६।१। (अधिकृत है)। अर्थः—(हलादेः) हलादि (अङ्गस्य) अङ्ग के (लघोः) लघु (अतः) अकार के स्थान पर (वा) विकल्प से (वृद्धिः) वृद्धि हो। कब? (परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्ययों के परे होने पर (इटि= इडादौ, सिँचि) जो इडादि सिँच्, उसके परे रहते। तात्पर्य यह है कि हलादि अङ्ग से परे इडादि सिँच् और उस से परे परस्मैपद प्रत्यय हो तो उस हलादि अङ्ग के लघु अकार को विकल्प से वृद्धि होती है। उदाहरण यथा—

'अगद्+इस्+ईत्' यहां पर सिँच् प्रत्यय को मान कर हलादि अङ्ग है—

---

१. वस्तुतः पहले 'वदव्रज०' (४६५) से हलन्तलक्षणा वृद्धि प्राप्त होती है, उस का 'नेटि' (४७७) से निषेध हो जाता है। तब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है।

गद्[1], उससे परे 'इस्' यह इडादि सिँच् विद्यमान है, उससे परे भी 'ईत्' यह परस्मैपद मौजूद है अतः प्रकृतसूत्र से अङ्ग के गकारोत्तर अकार को विकल्प से आकार वृद्धि हो कर वृद्धिपक्ष में 'अगादीत्' और वृद्ध्यभाव में 'अगदीत्' दो रूप सिद्ध होते हैं।

सूत्र में यदि केवल 'लघोः' ही कहते 'अतः' न कहते तो 'असेधीत्, अशोचीत्' आदि रूपों में इकार उकार को भी वृद्धि प्राप्त होने लगती जो अनिष्ट थी। यदि 'लघोः' का ग्रहण न कर केवल 'अतः' ही का ग्रहण करते तो 'अरक्षीत्, अजल्पीत्, अतक्षीत्' आदियों में—जहां अत् (ह्रस्व अकार) तो है पर लघु नहीं—दोष प्राप्त होता। इसलिये 'अतः' और 'लघोः' दोनों का ग्रहण आवश्यक है।

इस सूत्र में 'इडादौ सिँचि' यह विशेषण अङ्ग का नहीं अपितु 'लघोरतः' का है अतः 'येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि' (देखो सूत्र ४५१) इस परिभाषा के द्वारा इडादि सिँच् परे होने पर केवल एक वर्ण का व्यवधान ही क्षन्तव्य है अनेक वर्णों का नहीं। इस प्रकार 'अचकासीत्' आदि में चकारोत्तर अकार को वृद्धि नहीं होती[2]।

सिँच् प्रत्यय यदि इडादि न होगा तो वृद्धि का यह विकल्प भी प्रवृत्त न होगा। यथा—अपाक्षीत्, अयाक्षीत् आदियों में इसकी प्रवृत्ति न होकर 'वदव्रज०' (४६५) से नित्य वृद्धि हो जाती है।

यदि सिँच् से परस्मैपद प्रत्यय परे न होंगे तो भी प्रकृतसूत्र से विकल्प न होगा। यथा—अयतिष्ट। यहां इडादि सिँच् तो है पर इससे परे परस्मैपद नहीं आत्मनेपद है, अतः वृद्धि नहीं होती।

लुँङ् में गद् धातु की रूपमाला यथा—(वृद्धिपक्षे) **अगादीत्, अगादिष्टाम्, अगादिषुः। अगादीः, अगादिष्टम्, अगादिष्ट। अगादिषम्, अगादिष्व, अगादिष्म। (वृद्धेरभावे) अगदीत्, अगदिष्टाम्, अगदिषुः। अगदीः, अगदिष्टम्, अगदिष्ट। अगदिषम्, अगदिष्व, अगदिष्म।**

लृँङ्—**अगदिष्यत्, अगदिष्यताम्, अगदिष्यन्।**

[लघु०] णद अव्यक्ते शब्दे ॥७॥

अर्थः—णद् (नद्) धातु 'अव्यक्त शब्द करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[3]।

व्याख्या—पशु-पक्षियों का या मेघ आदियों का शब्द मनुष्य की समझ से परे का

---

१. यहां पर अट् का आगम हो जाने पर भी अङ्ग अजादि नहीं होता। क्योंकि अट् का आगम लुँङ्परक अङ्ग का अवयव बनता है न कि सिँच्परक अङ्ग का, सिँच्परक अङ्ग तो हलादि ही रहता है।

२. इस प्रकार मानने से 'अरक्षीत्, अतक्षीत्' आदि में भी कोई दोष नहीं आयेगा। अतः 'लघोः' का ग्रहण विस्पष्टार्थ ही मानना चाहिये।

३. इसी धातु से ही नद, नदी, नाद, निनाद आदि शब्द सिद्ध होते हैं।

होता है अतः इसे अव्यक्त शब्द कहते हैं। णकारादि धातुओं के आदि णकार को नकार आदेश करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४५८) णो नः ।६।१।६३।।

धात्वादेर्णस्य नः ।।

अर्थः—धातु के आदि णकार को नकार आदेश हो।

व्याख्या—धात्वादेः ।६।१। ('धात्वादेः षः सः' से)। णः ।६।१। नः ।१।१। नकारादकार उच्चारणार्थः। धातोरादिः धात्वादिः, तस्य धात्वादेः। षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थः—(धात्वादेः) धातु के आदि वाले (णः) ण् के स्थान पर (नः) न् आदेश होता है। यथा—'णम्' धातु का 'नम्' बन कर 'नमति, नमतः, नमन्ति' प्रयोग बनते हैं। इसी प्रकार 'णीञ्' का 'नीञ्' बनकर 'नयति, नयतः, नयन्ति' आदि[1]। इस तरह सब णकारादि धातुएं नकारादि बन जाती हैं। णोपदेश करने का फल अग्रिमसूत्र में बतलायेंगे।

यद्यपि धातुपाठ में णोपदेश और नोपदेश धातुओं का ज्ञान सुतरां हो सकता है तथापि यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रयोगदशा में तो दोनों के एक से रूप बनते है अतः यह कैसे पता चले कि अमुक धातु णोपदेश है या नोपदेश ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये परिगणन करते हैं—

[लघु०] णोपदेशास्तु अनर्द-नाटि-नाथ्-नाध्-नन्द-नक्क-नॄ-नृतः ।।

अर्थः—नर्द्, नाटि, नाथ्, नाध्, नन्द्, नक्क्, नॄ और नृत् इन आठ धातुओं को छोड़कर शेष सब धातु णोपदेश हैं।

व्याख्या—प्रयोग में जो धातु नकारादि उपलब्ध होते हैं उनमें केवल आठ धातु ही नोपदेश हैं शेष सब णोपदेश। वे आठ धातु ये हैं—(१) नर्द शब्दे (शब्द करना) भ्वा० परस्मै०, (२) नट अवस्यन्दने (नाट्य करना) चुरा० उभय०, (३-४) नाथृँ नाधृँ याच्ञादौ (मांगना आदि) भ्वा० आत्मने०, (५) टुनदिँ समृद्धौ (समृद्ध होना) भ्वा० परस्मै०, (६) नक्क नाशने (नाश करना) चुरा० उभय०, (७) नॄ नये (ले जाना) क्र्या० परस्मै०, (८) नृतीँ गात्रविक्षेपे (नाचना) दिवा० परस्मै०।

अब अग्रिमसूत्र में णोपदेश का फल दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४५९) उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य ।८।४।१४।।

---

१. ध्यान रहे कि धातु के आदि में स्थित होने पर ही णकार को नकारादेश होता है अन्यथा नहीं; अत एव (भण्) भणति, (क्वण्) क्वणति, (अण्) अणति

उपसर्गस्थाद् निमित्तात् परस्य णोपदेशस्य धातोर्नस्य णः । प्रणदति । प्रणिनदति । ननाद ।।

अर्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त (र्, ष्) से परे णोपदेश धातु के नकार को णकार आदेश हो ।

व्याख्या—उपसर्गात् ।५।१। असमासे ।७।१। अपि इत्यव्ययपदम् । णोपदेशस्य ।६।१। रषाभ्याम् ।५।२। नः ।६।१। णः ।१।१। ('रषाभ्यां नो णः०' से) । णः (णकारः) उपदेशे यस्य स णोपदेशः (धातुः), तस्य=णोपदेशस्य । बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(उपसर्गात्=उपसर्गस्थाभ्याम्) उपसर्ग में स्थित (रषाभ्याम्) रेफ या षकार से परे (णोपदेशस्य) णोपदेश धातु के (नः) न् के स्थान पर (णः) ण् आदेश होता है (असमासेऽपि) समास और असमास दोनों स्थानों में[1] ।

उदाहरण यथा—प्र+नमति=प्रणमति । प्र+नयति=प्रणयति । परि+नमति=परिणमति । परि+नयति=परिणयति । इन स्थानों पर असमास में णत्व हो जाता है । प्र+नायकः=प्रणायकः, प्र+नेता=प्रणेता, परि+नायकः=परिणायकः । इन स्थानों पर 'कुगतिप्रादयः' (९४९) सूत्र के समास में भी णत्व हो जाता है । ध्यान रहे कि यदि धातु णोपदेश न होगी तो समास असमास किसी भी दशा में णत्व न होगा । यथा—प्र+नर्दति=प्रनर्दति । प्रनर्दकः । 'उपसर्ग से परे' इसलिये कहा है कि—प्रगतो नायकोऽस्माद् इति प्रनायको देशः, यहां बहुव्रीहिसमास में 'प्र' की 'नी' के प्रति उपसर्गसञ्ज्ञा नहीं अपितु गम् के प्रति है अतः इससे परे न् को ण् नहीं होता[2] ।

प्रकृत में नद् धातु से लँट्, तिप्, शप् होकर अनुबन्धलोप करने से 'नदति' रूप बनता है । 'प्र+नदति' यहां उपसर्गस्थ निमित्त रेफ से परे णोपदेश नद् धातु के नकार को प्रकृतसूत्र से णकार आदेश होकर 'प्रणदति' प्रयोग सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि निमित्त (र्) और न् के बीच में 'अ' का व्यवधान होने पर भी यहां णत्व करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती; इसका कारण यह है कि वह अवाञ्छित व्यवधान नहीं । णत्वविधि में अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम् का व्यवधान वाञ्छित तथा अन्य वर्णों का व्यवधान अवाञ्छित माना गया है । देखें—अट्कुप्वाङ्० (१३८) ।

आदियों में णकार को नकारादेश नहीं होता ।

१. अष्टाध्यायी में पीछे 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' (८.४.३) सूत्र से 'पूर्वपदात्' का अधिकार चला आ रहा था, अतः यदि यहां 'असमासेऽपि' न कहते तो यह सूत्र केवल समास में ही प्रवृत्त होता ।

२. 'प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' इस वार्तिक से बहुव्रीहि-समास में यहां 'प्रगत' शब्द के 'गत' का लोप हो जाता है ।

'प्र+नि+नदति' यहां पर 'नेर्गदनदपत०' (४५३) सूत्र से नद् के परे रहते उपसर्गस्थ रेफ से परे 'नि' के नकार को णकार आदेश हो जाता है—प्रणिनदति। अब 'उपसर्गादसमासेऽपि०' सूत्र से नद् के नकार को णकार आदेश नहीं होता कारण कि बीच में अवाञ्छित वर्ण 'ण्' पड़ा हुआ है।

लिँट् प्रथमपु० के एकवचन की विवक्षा में तिप्, णल्, अनुबन्धलोप, द्वित्व तथा अभ्यासकार्य होकर 'न+नद्+अ' इस स्थिति में 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधा के अत् को आकार वृद्धि करने से 'ननाद' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्विवचन की विवक्षा में तस्, अतुस्, द्वित्व तथा हलादिशेष होकर 'न+नद्+अतुस्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४६०) अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिँटि ।६।४।१२०॥

लिँण्निमित्तादेशादिकं न भवति यदङ्गम्, तस्याऽवयवस्य असंयुक्त-हल्मध्यस्थस्याऽत एत्वम् अभ्यासलोपश्च किति लिँटि। नेदतुः। नेदुः॥

अर्थः—लिँट् को निमित्त मान कर जिस अङ्ग के आदि में कोई आदेश नहीं हुआ उस अङ्ग के, असंयुक्त हलों के मध्य में स्थित अत् के स्थान पर एकार आदेश हो जाता है और साथ ही अभ्यास का लोप भी हो जाता है कित् लिँट् परे हो तो।

व्याख्या—अतः ।६।१। एकहल्मध्ये ।७।१। अनादेशादेः ।६।१। लिँटि ।७।१। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। एत् ।१।१। अभ्यासलोपः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। ('ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' से)। किति ।७।१। ('गमहन०' से)। नास्ति आदेश आदिर्यस्य तद् अनादेशादि (अङ्गम्), तस्य। बहुव्रीहिसमासः। एकयोर्हलोर्मध्ये=एक-हल्मध्ये[1], षष्ठीतत्पुरुषः। यहां 'लिँटि' पद की आवृत्ति की जाती है। एक 'लिँटि' पद में निमित्तसप्तमी मानकर उसका सम्बन्ध 'अनादेशादेः' पद के 'आदेश' अंश के साथ कर लिया जाता है। दूसरे 'लिँटि' पद में परसप्तमी मानकर 'किति लिँटि' (कित लिँट् परे होने पर) इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। अर्थः—(लिँटि) लिँट् को मान कर (अनादेशादेः) जिसके आदि में कोई आदेश न हुआ हो ऐसे (अङ्गस्य) अङ्ग के अवयव, (एकहल्मध्ये) असंयुक्त हलों के मध्य में रहने वाले (अतः) अत् के स्थान पर (एत्) एकार आदेश हो जाता है (च) तथा (अभ्यासलोपः) अभ्यास का लोप भी हो जाता है (किति लिँटि) कित् लिँट् परे होने पर।

---

१. अत्र एकशब्दोऽसहायवचनः। एकश्च एकश्च एकौ, एकौ च तौ हलौ चेत्येकहलौ, एकहलोर्मध्य इति द्विवचनान्तस्य षष्ठीसमासः। द्वयोरेव हलोर्मध्यं सम्भवति नैकस्य (न्यासे)।

इस सूत्र को समझाने के लिये हम इस की खण्डशः व्याख्या करते हैं—

(क) 'अङ्गस्य अत एत्वम् अभ्यासलोपश्च किति लिँटि'—यह सीधा वाक्य है। अङ्ग के अवयव अत् (ह्रस्व अकार) के स्थान पर एकार आदेश हो जाता है और साथ ही अभ्यास का लोप भी हो जाता है कित् लिँट् परे हो तो। यथा—'न+नद्+अतुस्' यहां 'अतुस्' की 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से कित्सञ्ज्ञा है अतः कित् लिँट् के परे होने पर 'न+नद्' इस अङ्ग के द्वितीयनकारोत्तर अत् के स्थान पर एकार आदेश तथा साथ ही अभ्यास (प्रथम 'न') का लोप होकर 'नेद्+अतुस्=नेदतुस्=नेदतुः' प्रयोग सिद्ध होता है। यदि अत् न होगा तो यह सूत्र प्रवृत्त न होगा; यथा आत्मनेपदी रास् धातु के लिँट् में र+रास्+ए='ररासे' प्रयोग बनता है। इसीप्रकार 'सिषिधतुः, सिषिधुः' आदि में इकार को यह आदेश नहीं होता।

(ख) यह कार्य हर एक अत् को नहीं होता किन्तु 'एकहल्मध्ये' स्थित अत् को ही हुआ करता है। अर्थात् अत् भी ऐसा होना चाहिये जो दोनों ओर से एक एक अर्थात् असंयुक्त हल् से घिरा हुआ हो। 'न+नद्+अतुस्' में ऐसा ही अत् था[1]। परन्तु 'ज+ज्वल्+अतुस्=जज्वलतुः; ज+ज्वर्+अतुस्=जज्वरतुः; त+त्सर्+अतुस्=तत्सरतुः' आदि में अत् में पूर्व संयोग विद्यमान है अतः इसकी प्रवृत्ति नहीं होती।

(ग) अङ्ग भी ऐसा होना चाहिये जिस के आदि में लिँट् को मान कर कोई आदेश न हुआ हो। 'ज+गद्+अतुस्=जगदतुः; च+खन्+अतुस्=चखनतुः' आदियों में अङ्ग के आदि में 'कुहोश्चुः' (४५४) द्वारा लिँट् को मान कर चवर्गादेश हुआ है[2] अतः इन स्थानों पर एत्व तथा अभ्यासलोप नहीं होता। 'न+नद्+अतुस्'

---

१. कई टीकाकार 'नद्+नद्+अतुस्' यहां अत् के स्थान पर एकारादेश तथा अभ्यास का लोप किया करते हैं जो अशुद्ध है। क्योंकि तब अत् से पूर्व 'द्न्' का संयोग रहता है। अतः प्रथम 'हलादिः शेषः' (३९६) की प्रवृत्ति करा कर बाद में इस सूत्र की निर्बाध प्रवृत्ति करानी चाहिये।

२. यद्यपि 'कुहोश्चुः' (४५४) सूत्र में यह नहीं कहा गया कि वह लिँट् परे होने पर प्रवृत्त होता है तथापि 'अङ्गस्य' (६.४.१) के अधिकार में पठित होने से वह अङ्गकार्य है। विना प्रत्यय के परे रहते अङ्गसञ्ज्ञा सम्भव नहीं। यहां लिँट् के परे रहते अङ्गसञ्ज्ञक में उसकी प्रवृत्ति हो रही है। इस प्रकार यहां लिँण्निमित्तक आदेश माना जाता है। इसी तरह 'अभ्यासे चर्च' (३९९) के जश्त्व चर्त्व आदेश भी लिँण्निमित्तक समझे जाते हैं। ध्यान रहे कि 'अभ्यासे चर्च' (८.४.५३) द्वारा किये गये जश्त्व और चर्त्व इस सूत्र (६.४.१२०) की दृष्टि में असिद्ध नहीं होते अत एव 'तॄ-फल-भज-त्रपश्च' (५४२) सूत्र में फल् और भज् धातुओं का ग्रहण किया गया है, अन्यथा उसकी आवश्यकता ही न थी, असिद्धत्वादेव एत्व-अभ्यासलोप हो सकता था।

में 'न+नद्' यह अङ्ग था। इस अङ्ग के आदि में यद्यपि 'णो नः' (४५८) सूत्र से ण् को न् आदेश हो चुका है तथापि वह लिँट् को मान कर नहीं हुआ, वह तो लिँट् के आने से पहले ही किया जा चुका था। इसी प्रकार षह् (सह्) धातु के 'स+सह्+ए =सेहे' आदि रूपों के विषय में भी जान लेना चाहिये[1]।

यहां इस बात का भी ध्यान कर लेना चाहिये कि अङ्ग के आदि में होने वाला आदेश यदि वैरूप्यसम्पादक नहीं अर्थात् स्थानी वर्ण के रूप में कोई परिवर्त्तन नहीं लाता तो वहां 'आदेश नहीं हुआ' ऐसा समझ कर एत्व तथा अभ्यासलोप हो जायेगा। यथा दह् (जलाना) धातु के लिँट् में 'द+दह्+अतुस्' यहां 'अभ्यासे चर्च' (३९९) सूत्र से अभ्यास के दकार को दकार ही आदेश होता है इस से दकार के रूप में कोई परिवर्त्तन नहीं आता अतः प्रकृतसूत्र से एत्व+अभ्यासलोप हो कर 'देहतुः' रूप बन जाता है। इसी प्रकार जप् धातु के 'जेपतुः जेपुः' आदि रूपों में भी समझ लेना चाहिये[2]।

लिँट् प्रथमपु० के बहुवचन में झि, उस आदेश, द्वित्व तथा हलादिशेष करने पर 'न+नद्+उस्' हुआ। अब 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से उस् कित् है अतः कित् लिँट् के परे होने पर प्रकृतसूत्र से एत्व तथा अभ्यासलोप हो कर नेद्+उस्='नेदुः' प्रयोग सिद्ध होता है।

मध्यमपु० के एकवचन में सिप्, उसे थल् आदेश, वलादिलक्षण इट् का आगम, द्वित्व तथा हलादिशेष करने पर 'न+नद्+इथ' हुआ। अब यहां 'अत एकहल्मध्ये०' (४६०) सूत्र की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उस की प्रवृत्ति कित् लिँट् में हुआ करती है। यहां पर सिप् के स्थान पर थल् आदेश हुआ है, सिप् पित था अतः स्थानिवद्भाव से थल् भी पित् हुआ। पुनः पित् लिँट् की 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२)

---

१. 'धात्वादेः षः सः' (२५५) द्वारा किया गया सकारादेश तथा 'णो नः' (४५८) द्वारा किया गया नकारादेश दोनों निर्निमित्तक होने से प्रत्यय के आने से पहले ही हो जाया करते हैं।

२. मुनिवर पाणिनि ने 'न शस-दद-वादि-गुणानाम्' (५४१) सूत्र में शस् और दद् धातुओं को एत्व+अभ्यासलोप का निषेध किया है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन धातुओं में 'अभ्यासे चर्च' (३९९) द्वारा अभ्यास के शकार के स्थान पर शकार तथा अभ्यास के दकार के स्थान पर दकार आदेश होने से अङ्ग अनादेशादि न था। इस प्रकार एत्व+अभ्यासलोप की प्राप्ति स्वतः ही रुक सकती थी पुनः आचार्य ने निषेध क्यों किया? इससे स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य उसे ही आदेश मानते हैं जो वैरूप्यसम्पादक हो। तात्पर्य यह है कि यदि स्थानी वर्ण वैसे का वैसा अपरिवर्त्तित रहता है तो आदेश होने पर भी आचार्य अङ्ग को अनादेशादि ही मानते हैं।

से कित्संज्ञा नहीं होती। इस प्रकार कित् लिँट् परे न होने से एत्व+अभ्यासलोप प्राप्त न होता था। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४६१) थलि च सेटि ।६।४।१२१।।

प्रागुक्तं स्यात्। नेदिथ, नेदथुः, नेद। ननाद-ननद, नेदिव, नेदिम। नदिता। नदिष्यति। नदतु। अनदत्। नदेत्। नद्यात्। अनादीत्-अनदीत्। अनदिष्यत्॥

अर्थः—सेट् थल् परे होने पर भी पूर्वोक्त कार्य हो।

व्याख्या—थलि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। सेटि ।७।१। अतः ।६।१। एकहलमध्ये ।७।१। अनादेशादेः ।६।१। लिँटि ।७।१। ('अत एकहल्मध्ये०' से)। अङ्गस्य ।६।१। (अधिकृत है)। एत् ।१।१। अभ्यासलोपः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। ('घ्वसोरेद्धावभ्यास-लोपश्च' से)। इटा सह वर्त्तत इति सेट्, तस्मिन्=सेटि। अर्थः—(लिँटि) लिँट् को मान कर (अनादेशादेः) जिस के आदि में कोई आदेश नहीं हुआ ऐसा जो (अङ्गस्य) अङ्ग, उस के अवयव (एकहलमध्ये) असंयुक्त हलों के मध्य में स्थित (अतः) अत् के स्थान पर (एत्) एकार आदेश (च) तथा (अभ्यासलोपः) अभ्यास का लोप हो जाता है (सेटि थलि) इट्सहित थल् परे होने पर (च) भी। थल् कित् नहीं अतः पूर्वसूत्र से एत्व तथा अभ्यासलोप प्राप्त न था इस लिये यह सूत्र बनाना पड़ा। ध्यान रहे कि यदि थल् को इट् का आगम न हुआ होगा तो यह सूत्र प्रवृत्त न होगा। यथा—पपक्थ।

'न+नद्+इथ' यहां पर सेट् थल् परे है अतः प्रकृतसूत्र से एत्व तथा अभ्यास का लोप हो कर 'नेदिथ' प्रयोग सिद्ध होता है। मध्यमपु० के द्विवचन और बहुवचन में पूर्वसूत्र की प्रवृत्ति होकर—नेदथुः, नेद।

लिँट् उत्तमपु० के एकवचन में मिप्, णल्, द्वित्व तथा हलादिशेष होकर—न+नद्+अ। 'णलुत्तमो वा' (४५६) से उत्तमपुरुष का णल् विकल्प से णित् माना गया है अतः णित्त्वपक्ष में 'अत उपधायाः' (४५५) से वृद्धि हो जाती है—न+नाद्+अ=ननाद। णित्व के अभाव में कित् लिँट् परे न होने के कारण एत्व तथा अभ्यासलोप नहीं होता—न+नद्+अ=ननद। द्विवचन और बहुवचन में वलादिलक्षण इट् का आगम विशेष है। कित् लिँट् परे होने से एत्व तथा अभ्यास का लोप 'अत एकहल्मध्ये०' सूत्र से हो जाता है—नेदिव, नेदिम।

लुँट् आदि में कोई विशेष कार्य नहीं होता। सम्पूर्ण सिद्धि पूर्ववत् होती है।

अनादीत्-अनदीत्—नद् धातु से लुँङ्, तिप्, इकार का लोप, च्लि, सिँच्, अट् का आगम, इट् तथा ईट् का आगम होकर 'अनद्+इस्+ईत्' हुआ। अब 'अतो हलादेर्लघोः' (४५७) सूत्र से नकारोत्तर लघु अकार को विकल्प से वृद्धि-आकार, 'इट

ईटि' (४४६) से सकार का लोप तथा उसे सिद्धवत् मान कर सवर्णदीर्घ करने से वृद्धिपक्ष में 'अनादीत्' तथा वृद्धि के अभाव में 'अनदीत्' इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं।

नद् धातु की रूपमाला यथा-(लँट्) नदति, नदतः, नदन्ति। (लिँट्) ननाद, नेदतुः, नेदुः। नेदिथ, नेदथुः, नेद। ननाद-ननद, नेदिव, नेदिम। (लुँट्) नदिता, नदितारौ, नदितारः। (लृँट्) नदिष्यति, नदिष्यतः, नदिष्यन्ति। (लोँट्) नदतु-नदतात्, नदताम्, नदन्तु। (लँङ्) अनदत्, अनदताम्, अनदन्। (विधिलिँङ्) नदेत्, नदेताम्, नदेयुः। (आ०लिँङ्) नद्यात्, नद्यास्ताम्, नद्यासुः। (लुँङ्) वृद्धिपक्षे—अनादीत्, अनादिष्टाम्, अनादिषुः। अनादीः, अनादिष्टम्, अनादिष्ट। अनादिषम्, अनादिष्व, अनादिष्म। वृद्ध्यभावे—अनदीत्, अनदिष्टाम्, अनदिषुः। अनदीः, अनदिष्टम्, अनदिष्ट। अनदिषम्, अनदिष्व, अनदिष्म। (लृँङ्) अनदिष्यत्, अनदिष्यताम्, अनदिष्यन्।

इसी प्रकार निम्न धातुओं के रूप चलते हैं—

(१) पठ व्यक्तायां वाचि (पढ़ना)। लँट्—पठति, पठतः, पठन्ति। लिँट्—पपाठ, पेठतुः, पेठुः। पेठिथ, पेठथुः, पेठ। पपाठ-पपठ, पेठिव, पेठिम। लुँट्—पठिता। लृँट्—पठिष्यति। लोँट्—पठतु-पठतात्। लँङ्—अपठत्। वि०लिँङ्—पठेत्। आ० लिँङ्—पठ्यात्। लुँङ्—अपाठीत्-अपठीत्। लृँङ्—अपठिष्यत्।

(२) जप व्यक्तायां वाचि मानसे च (जप करना)। लँट्—जपति। लिँट्—जजाप, जेपतुः, जेपुः। लुँट्—जपिता। लृँट्—जपिष्यति। लोँट्—जपतु-जपतात्। लँङ्—अजपत्। वि० लिँङ्—जपेत्। आ० लिँङ्—जप्यात्। लुँङ्—अजापीत्-अजपीत्। लृँङ्—अजपिष्यत्।

(३) रद विलेखने (भेदन करना)। लँट्—रदति। लिँट्—रराद, रेदतुः, रेदुः। लुँट्—रदिता। लृँट्—रदिष्यति। लोँट्—रदतु-रदतात्। लँङ्—अरदत्। वि० लिँङ्—रदेत्। आ० लिँङ्—रद्यात्। लुँङ्—अरादीत्-अरदीत्। लृँङ्—अरदिष्यत्।

(४) णट नृत्तौ (नाचना)। लँट्—नटति। लिँट्—ननाट, नेटतुः, नेटुः। लुँट्—नटिता। लृँट्—नटिष्यति। लोँट्—नटतु-नटतात्। लँङ्—अनटत्। वि० लिँङ्—नटेत्। आ० लिँङ्—नट्यात्। लुँङ्—अनाटीत्-अनटीत्। लृँङ्—अनटिष्यत्। प्रणटति।

(५) लप व्यक्तायां वाचि (बोलना)। लँट्—लपति। लिँट्—ललाप, लेपतुः, लेपुः। लुँट्—लपिता। लृँट्—लपिष्यति। लोँट्—लपतु-लपतात्। लँङ्—अलपत्। वि० लिँङ्—लपेत्। आ० लिँङ्—लप्यात्। लुँङ्—अलापीत्-अलपीत्।

लृँङ्—अलपिष्यत् । आलपति=आलाप करता है, प्रलपति=प्रलाप करता है, विलपति =विलाप करता है, सँल्लपति=संलाप करता है ।

(६) रट परिभाषणे (रटना) । लँट् –रटति । लिँट्—रराट, रेटतुः रेटुः । लुँट्—रटिता । लृँट्—रटिष्यति । लोँट्– रटतु-रटतात् । लँङ्—अरटत् । वि० लिँङ्—रटेत् । आ० लिँङ्—रट्यात् । लुँङ्—अराटीत्-अरटीत् । लृँङ्—अरटिष्यत् ।

(७) दल विशरणे (दलना) । लँट्– दलति । लिँट्—ददाल, देलतुः, देलुः । लुँट्—दलिता । लृँट्—दलिष्यति । लोँट्—दलतु-दलतात् । लँङ्—अदलत् । वि० लिँङ्—दलेत् । आ० लिँङ्—दल्यात् । लुँङ्—अदालीत्[1] । लृँङ्—अदलिष्यत् । विदलति=विदीर्ण होता है या फटता है ।

(८) चर गतौ भक्षणे च (जाना, भक्षण करना) । लँट्—चरति । लिँट्—चचार, चेरतुः, चेरुः । लुँट्—चरिता । लृँट्—चरिष्यति । लोँट्—चरतु-चरतात् । लँङ्—अचरत । वि० लिँङ् - चरेत् । आ० लिँङ्—चर्यात् । लुँङ्—अचारीत्[1] । लृँङ्-अचरिष्यत् । आचरति=आचरण करता है; विचरति=घूमता है; प्रचरति=फैलता है; अनुचरति=पीछे चलता है; सञ्चरति=घूमता है ।

[लघु०] टुनदिँ समृद्धौ ॥८॥

अर्थः—टुनदिँ (नन्द्) धातु 'समृद्ध होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—पशु प्रजा आदि से युक्त होना समृद्धि कहाता है। इस धातु के 'टु' की इत्सञ्ज्ञा करने के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(४६२) आदिर्ञिटुडवः ।१।३।५॥

उपदेशे धातोराद्या एते इतः स्युः ॥

अर्थः—उपदेश में धातु के आदि में स्थित ञि, टु और डु की इत्सञ्ज्ञा हो ।

व्याख्या—आदिः ।१।१। ञि-टु-डवः ।१।३। उपदेशे ।७।१। इत् ।१।१। ('उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से) । 'आदिः' शब्द 'ञि-टु-डवः' का विशेषण है । प्रत्येक के साथ सम्बन्ध अभीष्ट होने से इस में एकवचन का प्रयोग किया गया है । ञिश्च टुश्च डुश्च ञि-टु-डवः । इतरेतरद्वन्द्व । अर्थः—(उपदेशे) उपदेश में (आदिः=आदयः) आदि में स्थित (ञि-टु-डवः) ञि, टु और डु (इत्=इतः) इत्सञ्ज्ञक होते हैं । उपदेश में धातुओं के ही आदि में ञि, टु, डु आया करते हैं अतः ग्रन्थकार ने वृत्ति में 'धातोः' पद का ग्रहण किया है । अथवा 'भूवादयो धातवः' सूत्र से 'धातवः'

---

१. यहां पर 'अतो ल्रान्तस्य' (७.२.२) से नित्य वृद्धि हो जाती है ।

पद की अनुवृत्ति ला कर विभक्ति और वचन का विपरिणाम कर लेना चाहिये।

'ञि' का उदाहरण यथा—ञिमिदाँ स्नेहने (दिवा० परस्मै०), मिन्नः। ञिक्ष्विदाँ स्नेहनमोचनयोः (दिवा० आत्मने०), क्ष्विण्णः। ञिइन्धीँ दीप्तौ (रुधा० आत्मने०), इद्धः। इन सब में 'ञि' के इत् होने से 'ञीतः क्तः' (३.२.१८७) द्वारा वर्त्तमान काल में क्तप्रत्यय हो जाता है।

'टु' का उदाहरण यथा—टुओँश्वि गतिवृद्धयोः (भ्वा० परस्मै०), श्वयथुः। टुवेपृँ कम्पने (भ्वा० आत्मने०), वेपथुः। टुवम उद्गिरणे (भ्वा० परस्मै०), वमथुः। इन सब में 'टु' के इत् होने से 'ट्वितोऽथुच्' (८५६) द्वारा अथुच् प्रत्यय हो जाता है।

'डु' का उदाहरण यथा—डुकृञ् करणे (तना० उभय०), कृत्रिमम्। डुवपँ बीजसन्ताने (भ्वा० उभय०), उप्त्रिमम्। डुपचँष् पाके (भ्वा० उभय०), पवित्र-मम्। इन सब स्थानों पर 'डु' के इत् होने से 'ड्वितः क्त्रिः' (८५७) द्वारा क्त्रिप्रत्यय हो कर 'क्त्रेर्मम् नित्यम्' (८५८) से मप्प्रत्यय हो जाता है।

ध्यान रहे कि ञि, टु, डु की इत्सञ्ज्ञा होकर 'तस्य लोपः' (३) से सम्पूर्ण समुदाय का ही लोप होता है केवल अन्त्य अल् का नहीं। इस का कारण, 'तस्य लोपः' (३) सूत्र में 'तस्य' का ग्रहण है। यह सब उसी सूत्र पर सविस्तर लिख चुके हैं।

टुनदिँ धातु के आदि में 'टु' विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से उस की इत्सञ्ज्ञा तथा 'तस्य लोपः' (३) से उस का लोप हो जाता है। अन्त्य इकार की भी 'उपदेशे-ऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा होकर लोप हो जाता है। इस प्रकार 'नद्' ही शेष रहता है। इदित् करने का फल अग्रिमसूत्र में बतलाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४६३) इदितो नुम् धातोः ७।१।५८॥

नन्दति। ननन्द। नन्दिता। नन्दिष्यति। नन्दतु। अनन्दत्। नन्देत्। नन्द्यात्। अनन्दीत्। अनन्दिष्यत्॥

अर्थः—इदित् अर्थात् जिस के ह्रस्व इकार की इत्सञ्ज्ञा हुई हो उस धातु को नुम् का आगम हो।

व्याख्या—इदितः।६।१। नुम्।१।१। धातोः।६।१। इत् (ह्रस्व इकारः) इत् यस्यासौ इदित्, तस्य=इदितः, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(इदितः) जिस के ह्रस्व इकार की इत्सञ्ज्ञा होती है ऐसी (धातोः) धातु का अवयव (नुम्) नुम् हो जाता है। नुम् का आगम मित् है अतः 'मिदचोऽन्त्यात्परः' (२४०) के अनुसार धातु के अन्त्य अच् से परे होगा।

ध्यान रहे कि यदि ह्रस्व इकार की धातु के अन्त में इत्सञ्ज्ञा हुई होगी तभी नुम् का आगम होगा अन्यथा नहीं। अत एव चक्षिँङ् (चक्ष्) धातु में नुम् का आगम

नहीं होता। यह सब 'गोः पादान्ते' (७.१.५७) सूत्र से 'अन्ते' पद का अनुवर्त्तन कर के किया जाता है।

यद्यपि यह सूत्र अङ्गाधिकार में पठित होने से प्रत्ययोत्पत्ति के बाद अङ्ग-सञ्ज्ञा हो जाने पर ही प्रवृत्ति के योग्य है तथापि सूत्र में 'धातोः' ग्रहण के सामर्थ्य से धातुसञ्ज्ञा के काल में ही प्रवृत्त हो जाता है। अत एव 'कुडिँ दाहे' धातु से प्रथम नुम् का आगम होकर बाद में 'गुरोश्च हलः' (८६८) से 'अ' प्रत्यय करने से 'कुण्डा' प्रयोग सिद्ध होता है। यदि नुम् के आगम से पहले प्रत्यय लाते तो यहां पर गुरु न होने से 'अ' प्रत्यय न हो सकता अपितु 'स्त्रियां क्तिन्' (८६३) से क्तिन् ही होता।

प्रश्न—यदि प्रत्ययोत्पत्ति से पूर्व धातुसञ्ज्ञाकाल में ही नुम् का आगम करने की बात है तो इदित् धातुओं को धातुपाठ में नुम्सहित ही क्यों नहीं पढ़ देते, यथा 'कुडि' को 'कुण्ड्', 'टुनदि' को 'टुनन्द्' आदि ? इस से यह सूत्र बनाना ही न पड़ेगा।

उत्तर—मध्यात्, नन्द्यात् आदि प्रयोगों की सिद्धि के लिये मुनि ने ऐसा नहीं किया, इस का विवेचन अनुपद किया जायेगा। किञ्च सैकड़ों धातुओं में नुम् का पाठ करने की अपेक्षा एक सूत्र का निर्माण ही लघुतर उपाय है।

प्रकृत में नद् (टुनदिँ) धातु इदित् है अतः इसे नुम् का आगम होकर अप-दान्त नकार को 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' (७८) से अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (७९) से परसवर्ण-नकार करने से 'नन्द्' बन जाता है। अब इस से आगे लट्, तिप्, शप् आदियों की पूर्ववत् उत्पत्ति हो जाती है। रूपमाला यथा—नन्दति, नन्दतः, नन्दन्ति। नन्दसि, नन्दथः, नन्दथ। नन्दामि, नन्दावः, नन्दामः।

लिँट्—'न+नन्द्+अ' यहां उपधा में अत् के न रहने से 'अत उपधायाः' (४५५) द्वारा वृद्धि नहीं होती—ननन्द। 'न+नन्द्+अतुस्' यहां अकार के असं-युक्त हलों के मध्य न रहने से तथा संयोगान्तता होने से कित्त्वाभाव के कारण 'अत एकहल्मध्ये०' (४६०) द्वारा एत्व+अभ्यासलोप नहीं हो पाता—ननन्दतुः। रूपमाला यथा—ननन्द, ननन्दतुः, ननन्दुः। ननन्दिथ, ननन्दथुः, ननन्द। ननन्द, ननन्दिव, ननन्दिम।

लुँट्—नन्दिता, नन्दितारौ, नन्दितारः। लृँट्—नन्दिष्यति, नन्दिष्यतः, नन्दि-ष्यन्ति। लोँट्—नन्दतु-नन्दतात्, नन्दताम्, नन्दन्तु। लँङ्—अनन्दत्, अनन्दताम्, अनन्दन्। वि० लिँङ्—नन्देत्, नन्देताम्, नन्देयुः। आ० लिँङ्—नन्द्यात्[1], नन्द्या-स्ताम्, नन्द्यासुः।

---

१. यहां पर 'किदाशिषि' (४३२) से यासुट् के कित् होने पर भी 'अनिदितां हलः०' (३३४) द्वारा उपधा के नकार के लोप की आशङ्का नहीं करनी चाहिये;

लुँङ्—'अनन्द्+इस्+ईत्' इस स्थिति में 'संयोगे गुरु' (४४६) के कारण अकार गुरु हो जाता है लघु नहीं रहता अतः 'अतो हलादेर्लघोः' (४५७) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। अनन्दीत्, अनन्दिष्टाम्, अनन्दिषुः। लृँङ्—अनन्दिष्यत्, अनन्दिष्यताम्, अनन्दिष्यन्।

इसी प्रकार निम्न धातुओं के रूप बनते हैं—

(१) णिदिँ कुत्सायाम् (निन्दा करना)। लँट्—निन्दति। लिँट्—निनिन्द, निनिन्दतुः, निनिन्दुः। लुँट्-निन्दिता। लृँट्—निन्दिष्यति। लोँट्—निन्दतु-निन्दतात्। लँङ्—अनिन्दत्। वि० लिँङ्—निन्देत्। आ० लिँङ्—निन्द्यात्। लुँङ्—अनिन्दीत्। लृँङ्—अनिन्दिष्यत्।

(२) क्रदिँ आह्वाने रोदने च (बुलाना या रोना)। लँट्—क्रन्दति। लिँट्-चक्रन्द, चक्रन्दतुः, चक्रन्दुः। लुँट्—क्रन्दिता। लृँट्—क्रन्दिष्यति। लोँट्—क्रन्दतु-क्रन्दतात्। लँङ्—अक्रन्दत्। वि० लिँङ्-क्रन्देत्। आ० लिँङ्—क्रन्द्यात्। लुँङ्—अक्रन्दीत्। लृँङ्—अक्रन्दिष्यत्।

(३) वाछिँ इच्छायाम् (चाहना)। लँट्—वाञ्छति। लिँट्—ववाञ्छ, ववाञ्छतुः, ववाञ्छुः। लुँट्—वाञ्छिता। लृँट्—वाञ्छिष्यति। लोँट्—वाञ्छतु-वाञ्छतात्। लँङ्—अवाञ्छत्। वि० लिँङ्-वाञ्छेत्। आ० लिँङ्—वाञ्छ्यात्। लुँङ्—अवाञ्छीत्। लृँङ्—अवाञ्छिष्यत्।

(४) काक्षिँ काङ्क्षायाम् (चाहना)। लँट्—काङ्क्षति। लिँट्—चकाङ्क्ष, चकाङ्क्षतुः, चकाङ्क्षुः। लुँट्-काङ्क्षिता। लृँट्—काङ्क्षिष्यति। लोँट्—काङ्क्षतु-काङ्क्षतात्। लँङ्—अकाङ्क्षत्। वि० लिँङ्—काङ्क्षेत्। आ० लिँङ्—काङ्क्ष्यात्। लुँङ्—अकाङ्क्षीत्। लृँङ्—अकाङ्क्षिष्यत्।

(५) चुबिँ वक्त्रसंयोगे (चूमना)। लँट्—चुम्बति। लिँट्—चुचुम्ब, चुचुम्बतुः, चुचुम्बुः। लुँट्—चुम्बिता। लृँट्—चुम्बिष्यति। लोँट्—चुम्बतु-चुम्बतात्। लँङ्—अचुम्बत्। वि० लिँङ्—चुम्बेत्। आ० लिँङ्—चुम्ब्यात्। लुँङ्—अचुम्बीत्। लृँङ्—अचुम्बिष्यत्।

[लघु०]अर्च पूजायाम् ॥६॥ अर्चति ॥

अर्थः—अर्च (अर्च्) धातु 'पूजा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—अर्च् धातु से लँट् में तिप्, शप् आदि पूर्ववत् होते हैं—अर्चति,

---

क्योंकि उस में 'अनिदिताम्' कहा गया है अर्थात् इदित् धातुओं की उपधा के नकार का लोप नहीं होता। जहां धातु इदित् न होगी वहां पर लोप हो जायेगा। यथा (मन्थ्)—मथ्यात्।

अर्चतः, अर्चन्ति ।

लिँट्—प्रथमपु० के एकवचन की विवक्षा में तिप्, णल्, द्वित्व, हलादिशेष तथा 'अत आदेः' (४४३) से अभ्यास के अत् को दीर्घ करने पर—आ+अर्च्+अ । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४६४) तस्मान्नुड् द्विहलः ।७।४।७१।।

द्विहलो धातोर्दीर्घीभूतादकारात्परस्य नुट् स्यात् । आनर्च, आनर्चतुः । अर्चिता । अर्चिष्यति । अर्चतु । आर्चत् । अर्चेत् । अर्च्यात् । आर्चीत् । आर्चिष्यत् ।।

अर्थः—दो हल् वाली धातु के दीर्घीभूत अभ्यास के अकार से परे अङ्ग को नुट् का आगम हो ।

व्याख्या—तस्मात् ।५।१। नुट् ।१।१। द्विहलः ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। (अधिकृत है) । द्वौ हलौ यस्य तद् द्विहल् (अङ्गम्), तस्य द्विहलः । बहुव्रीहिः । 'तद्' शब्द से पूर्व का परामर्श (निर्देश) कराया जाता है अतः यहां पर भी 'तस्मात्' शब्द से पूर्वसूत्र 'अत आदेः' (४४३) द्वारा किये गये दीर्घीभूत अकार की ओर निर्देश समझना चाहिये । अर्थः—(तस्मात्) 'अत आदेः' द्वारा किये गये दीर्घ से परे (द्विहलः) दो हलों वाले (अङ्गस्य) अङ्ग का अवयव (नुट्) नुट् हो जाता है । नुट् में उकार उच्चारणार्थ तथा टकार इत् है । टित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) के अनुसार यह द्विहल् अङ्ग का आद्यवयव बनता है ।

'आ+अर्च्+अ' यहां पर 'अत आदेः' द्वारा किये गये दीर्घ अकार से परे 'अर्च्' इस द्विहल् अङ्ग के आदि में प्रकृतसूत्र से नुट् का आगम होकर—आ+नुट् अर्च्+अ=आ+नर्च्+अ='आनर्च' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार आगे—'आनर्चतुः' आदियों में समझना चाहिये । लिँट् में रूपमाला यथा—आनर्च, आनर्चतुः, आनर्चुः । आनर्चिथ, आनर्चथुः, आनर्च । आनर्च, आनर्चिव, आनर्चिम ।

लुँट्—अर्चिता, अर्चितारौ, अर्चितारः । लृँट्—अर्चिष्यति, अर्चिष्यतः, अर्चिष्यन्ति । लोँट्—अर्चतु-अर्चतात् अर्चताम्, अर्चन्तु ।

लँङ्—में 'आडजादीनाम्' (४४४) से आट् का आगम होकर 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि हो जाती है—आर्चत्, आर्चताम्, आर्चन् । आर्चः, आर्चतम्, आर्चत । आर्चम्, आर्चाव, आर्चाम । वि० लिँङ्—अर्चेत्, अर्चेताम्, अर्चेयुः । आ० लिँङ्—अर्च्यात्, अर्च्यास्ताम्, अर्च्यासुः । लुँङ्—आर्चीत्, आर्चिष्टाम्, आर्चिषुः । आर्चीः, आर्चिष्टम्, आर्चिष्ट । आर्चिषम्, आर्चिष्व, आर्चिष्म । लृँङ्—आर्चिष्यत्, आर्चिष्यताम्, आर्चिष्यन् ।

इसी प्रकार—अर्द गतौ याचने च (गमन करना, मांगना)। लँट्—अर्दति। लिँट्—आनर्द, आनर्दतुः, आनर्दुः। लुँट्—अर्दिता। लृँट्—अर्दिष्यति। लोँट्—अर्दतु-अर्दतात्। लँङ्—आर्दत्। वि० लिँङ्—अर्देत्। आ० लिँङ्—अर्द्यात्। लुँङ्—आर्दीत्। लृँङ्—आर्दिष्यत्। 'शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि'—रघु० ५.१७।

[लघु०] **व्रज गतौ** ॥१०॥ व्रजति। वव्राज। व्रजिता। व्रजिष्यति। व्रजतु। अव्रजत्। व्रजेत्। व्रज्यात्॥

अर्थः—व्रज (व्रज्) धातु 'जाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—इसी धातु से व्रज्या, परिव्रज्या, परिव्राजक, परिव्राट्, व्रज आदि शब्द सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

लँट्—**व्रजति, व्रजतः, व्रजन्ति**। लिँट्—**वव्राज, वव्रजतुः**[1], **वव्रजुः। वव्रजिथ, वव्रजथुः, वव्रज। वव्राज-वव्रज, वव्रजिव, वव्रजिम**। लुँट्—**व्रजिता, व्रजितारौ, व्रजितारः**। लृँट्—**व्रजिष्यति, व्रजिष्यतः, व्रजिष्यन्ति**। लोँट्—**व्रजतु-व्रजतात्, व्रजताम्, व्रजन्तु**। लँङ्—**अव्रजत्, अव्रजताम्, अव्रजन्**। वि० लिँङ्—**व्रजेत्, व्रजेताम्, व्रजेयुः**। आ० लिँङ्—**व्रज्यात्, व्रज्यास्ताम्, व्रज्यासुः**।

लुँङ्—में च्लि, सिँच्, इट्, ईट् तथा अट् का आगम होकर 'अव्रज्+इस्+ईत्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४६५) **वद-व्रज-हलन्तस्याचः** ।७।२।३॥

एषामचो वृद्धिः सिँचि परस्मैपदेषु। अव्राजीत्। अव्रजिष्यत्॥

अर्थः—परस्मैपदपरक सिँच् परे हो तो वद्, व्रज् तथा हलन्त अङ्गों के अच् के स्थान पर वृद्धि आदेश हो।

व्याख्या—वद-व्रज-हलन्तस्य ।६।१। अचः ।६।१। सिँचि ।७।१। वृद्धिः ।१।१। परस्मैपदेषु ।७।३। ('सिँचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' से)। अङ्गस्य ।६।१। (अधिकृत है)। वदश्च व्रजश्च हलन्तश्च वदव्रजहलन्तम्, समाहारद्वन्द्वः, तस्य=वदव्रजहलन्तस्य। वदव्रजयोरन्त्याकार उच्चारणार्थः। अर्थः—(वद-व्रज-हलन्तस्य) वद्, व्रज् तथा हलन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के (अचः) अच् के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि हो जाती है (सिँचि परस्मैपदेषु) परस्मैपद परे वाले सिँच् के परे होने पर।

---

१. 'व+व्रज्+अतुस्' यहां पर 'अत एकहल्मध्ये०' (४६०) सूत्र से एत्व तथा अभ्यासलोप नहीं होता कारण कि अत् असंयुक्त हलों के मध्य में स्थित नहीं उस से पूर्व 'व्र्' का संयोग है। यदि होता भी सही; तो फिर वकारादि होने से 'न शसदद०' (५४१) से निषेध हो जाता।

शङ्का— सूत्र में केवल हलन्त अङ्ग को ही वृद्धि कहनी चाहिये थी क्योंकि वद् और व्रज् के हलन्त होने से इन में सुतरां वृद्धि हो ही जायेगी; इन के लिये पृथक् उल्लेख की आवश्यकता नहीं।

समाधान—आगे 'नेटि' (४७७) सूत्र द्वारा इडादि सिँच् परे होने पर हलन्त-लक्षणा वृद्धि का निषेध किया जायेगा। उस निषेध से बचने के लिये यहां पर वद् और व्रज् का पृथक् उल्लेख किया गया है। विधानसामर्थ्य से इन में वह निषेध प्रवृत्त न होगा, नित्य वृद्धि हो जायेगी—अवादीत्, अव्राजीत्। यदि विशेष उल्लेख न करते तो 'नेटि' (४७७) से निषेध होकर 'अतो हलादेर्लघोः' (४५७) से वैकल्पिक वृद्धि हो जाती।

सूत्र में 'अचः' पद का निर्देश न करते तो 'इको गुणवृद्धी' (१.१.३) से 'इकः' पद उपस्थित हो जाता इस से 'अभैत्सीत्, अरौत्सीत्' आदि में तो वृद्धि हो जाती परन्तु 'अपाक्षीत्' आदि में वृद्धि न हो सकती। अब 'अचः' पद के ग्रहण से सब स्थानों पर निर्बाध वृद्धि हो जाती है कहीं कोई दोष नहीं आता।

'अव्रज्+इस्+ईत्' यहां पर परस्मैपदपरक सिँच् विद्यमान है अतः प्रकृत-सूत्र से व्रज् के अकार को वृद्धि होकर—अव्राज्+इस्+ईत्। अब 'इट ईटि' (४४६) से सकार का लोप तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर 'अव्राजीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे 'अव्राजिष्टाम्' आदियों की सिद्धि समझनी चाहिये। रूपमाला यथा—अव्राजीत्, अव्राजिष्टाम्, अव्राजिषुः। अव्राजीः, अव्राजिष्टम्, अव्राजिष्ट। अव्राजिषम्, अव्राजिष्व, अव्राजिष्म।

लृँङ्—अव्रजिष्यत्, अव्रजिष्यताम्, अव्रजिष्यन्।

उपसर्गयोग—परिव्रजति, प्रव्रजति=संन्यास लेता है। अनुव्रजति=पीछे चलता है ('मृगा मृगैः सङ्गमनुव्रजन्ति'—पञ्चतन्त्रे)।

[लघु०] **कटेँ वर्षाऽऽवरणयोः ॥११॥** कटति। चकाट, चकटतुः। कटिता। कटिष्यति। कटतु। अकटत्। कटेत्। कटयात्॥

अर्थः—कटेँ (कट्) धातु 'बरसना और ढांपना' अर्थों में प्रयुक्त होती है[1]।

---

१. कट, कटि, कटु आदि शब्द इसी धातु से निष्पन्न होते हैं। कुछ वैयाकरणों का कहना है कि प्रपूर्वक इस धातु के णिजन्त बनने पर 'प्रकट करना' अर्थ हो जाता है, प्रकटयति=प्रकट करता है। परन्तु हमारे विचार में यह सही नहीं है। क्योंकि तब उपधावृद्धि हो कर 'प्रकाटयति' रूप बनना चाहिये। यहां पाणिनिव्याकरण में 'घटयति, चलयति' की तरह इस में उपधाह्रस्व करने वाला कोई सूत्र नहीं है। पाणिनिजी ने 'संकट, प्रकट, उत्कट, विकट' शब्दों को 'सम्प्रोदश्च कटच्' (५.२.२९)

व्याख्या—वर्षञ्च आवरणञ्च वर्षाऽऽवरणे, तयोः—वर्षाऽऽवरणयोः। कटे॑ में एकार अनुनासिक है अतः 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्रद्वारा इत्सञ्ज्ञक है, 'कट्' ही अवशिष्ट रहता है। इसे एदित् करने का प्रयोजन लुँङ् में (४६६) सूत्र द्वारा वृद्धि का निषेध करना है।

लँट्—**कटति, कटतः, कटन्ति। कटसि, कटथः, कटथ। कटामि, कटावः, कटामः।**

लिँट्—में द्वित्व, हलादिशेष, '**कुहोश्चुः**' (४५४) से अभ्यास के ककार को चकार तथा '**अत उपधायाः**' (४५५) से उपधा के अत् को वृद्धि करने पर '**चकाट**' रूप सिद्ध होता है। 'चकट्+अतुस्' यहां लिँट् को मान कर अङ्ग के आदि में चकार आदेश हुआ है अतः 'अत एकहल्मध्ये०' (४६०) सूत्र द्वारा एत्व तथा अभ्यासलोप नहीं होगा—चकटतुः। रूपमाला यथा—**चकाट, चकटतुः, चकटुः। चकटिथ, चकटथुः, चकट। चकाट-चकट, चकटिव, चकटिम।**

लुँट्—**कटिता, कटितारौ, कटितारः।** लृँट्—**कटिष्यति, कटिष्यतः, कटिष्यन्ति।** लोँट्—**कटतु-कटतात्, कटताम्, कटन्तु।** लँङ्—**अकटत्, अकटताम्, अकटन्।** वि० लिँङ्—**कटेत्, कटेताम्, कटेयुः।** आ० लिँङ्—**कटयात्, कटयास्ताम्, कटयासुः।**

लुँङ्—प्रथमपुरुष के एकवचन में तिप्, '**इतश्च**' (४२४) से इकारलोप, सिँच्, इट्, ईट् तथा अट् का आगम हो कर '**अकट्+इस्+ईत्**' इस स्थिति में हलन्तलक्षणा वृद्धि (४६५) प्राप्त होती है परन्तु उसका '**नेटि**' (४७७) से निषेध हो जाता है। पुनः '**अतो हलादेर्लघोः**' (४५७) से वैकल्पिक वृद्धि प्राप्त होती है। इस का भी अग्रिमसूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेधसूत्रम्—(४६६) ह्म्यन्त-क्षण-श्वस-जागृ-णि-श्व्येदिताम् ।७।२।५॥

हमयान्तस्य क्षणादेर्ण्यन्तस्य श्वयतेरेदितश्च वृद्धिर्नेडादौ सिँचि। अकटीत्। अकटिष्यत्॥

सूत्रद्वारा सम्, प्र, उद् और वि से तद्धित कटच् प्रत्यय लगा कर सिद्ध किया है। अतः 'प्रकटयति, विकटयति' आदि रूपों को नामधातु बना कर सिद्ध करना चाहिये। प्रकटं करोतीति प्रकटयति, 'तत्करोति तदाचष्टे' (चुरादिगणसूत्रम्) इति णिच्। यहां णिच् के परे रहते 'अतो लोपः' (४७०) से हुए अकारलोप को स्थानिवत् मान कर उपधावृद्धि का वारण कर लिया जायेगा।

अर्थः—हकारान्त, मकारान्त, यकारान्त, क्षण्, श्वस्, जागृ, णिप्रत्ययान्त, श्वि तथा एदित् अङ्गों को वृद्धि नहीं होती परस्मैपदपरक इडादि सिँच् प्रत्यय परे हो तो ।

व्याख्या—ह्म्यन्त—णिश्व्येदिताम् ।६।३। अङ्गानाम् ।६।३। ('अङ्गस्य' इस अधिकृत का वचनविपरिणाम हो जाता है)।न इत्यव्ययपदम् । इटि ।७।१। ('नेटि' से)। सिँचि ।७।१। वृद्धिः ।१।१। परस्मैपदेषु ।७।३। ('सिँचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' से) । ह् च म् च य् च ह्म्यः, इतरेतरद्वन्द्वः । ह्म्योऽन्ता येषां ते ह्म्यन्ताः, बहुव्रीहिसमासः । ह्म्यन्ताश्च क्षण् च श्वस् च जागृ च णिश्च श्विश्च एदित् चेति ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदितः, तेषाम् । इतरेतरद्वन्द्वः । इनमें 'णि' प्रत्यय है अतः 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' इस परिभाषा के अनुसार उससे तदन्तविधि हो कर 'ण्यन्त' बन जायेगा । अर्थः—(ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम्) हकारान्त, मकारान्त, यकारान्त, क्षण्, श्वस्, जागृ, णिप्रत्ययान्त, श्वि तथा एदित् अर्थात् जिनका एकार इत् हो चुका है ऐसे (अङ्गानाम्) अङ्गों के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि (न) नहीं होती (परस्मैपदे सिँचि) परस्मैपदपरक सिँच् परे हो तो । इनके उदाहरण यथा—

(१) हकारान्त—ग्रह् (ग्रहण करना) । अग्रह् + इस् + ईत् = अग्रहीत् ।

(२) मकारान्त—वम् (उल्टी करना) । अवम् + इस् + ईत् = अवमीत् ।

(३) यकारान्त—व्यय् (खर्च करना) । अव्यय् + इस् + ईत् = अव्ययीत् ।

(४) क्षण् (हिंसा करना) । अक्षण् + इस् + ईत् = अक्षणीत् ।

(५) श्वस् (सांस लेना) । अश्वस् + इस् + ईत् = अश्वसीत् ।

(६) जागृ (जागना) । अजागृ + इस् + ईत् = अजागरीत् ।

(७) णि = ण्यन्त धातु—आ + ऊनि + इस् + ईत् = आ + ऊने + इस् + ईत् = औनयीत् (वैदिक प्रयोग[1]) ।

(८) श्वि (गमन, बढ़ना) । अश्वि + इस् + ईत् = अश्वे + इस् + ईत् = अश्वयीत् ।

(९) एदित्—हसेँ (हंसना) । अहस् + इस् + ईत् = अहसीत् ।

'कटेँ' धातु में एकार की इत्सञ्ज्ञा होती है अतः एदित् होने के कारण इसमें वृद्धि न होगी । 'अकट् + इस् + ईत्' इस अवस्था में 'इट ईटि' (४४६) से सकार का लोप तथा उस के सिद्धवत् होने से सवर्णदीर्घ करने पर 'अकटीत्' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार लुङ् में आगे भी वृद्धि का निषेध समझ लेना चाहिये । रूपमाला यथा—**अकटीत्, अकटिष्टाम्, अकटिषुः । अकटीः, अकटिष्टम्, अकटिष्ट । अकटिषम्, अकटिष्व, अकटिष्म ।**

---

१. ण्यन्त धातु के सामने लोक में इडादि सिँच् सम्भव न होने से वेद का ही उदाहरण देना पड़ेगा ।

लृँङ्—अकटिष्यत्, अकटिष्यताम्, अकटिष्यन् ।

इसी प्रकार 'हसे हसने' (हंसना) धातु के रूप चलते हैं। लँट्—हसति। लिँट्—जहास, जहसतुः, जहसुः। लुँट्—हसिता। लृँट्—हसिष्यति। लोँट्—हसतु-हसतात्। लँङ्—अहसत्। वि० लिँङ्—हसेत्। आ० लिँङ्—हस्यात्। लुँङ्—अहसीत्, अहसिष्टाम्, अहसिषुः। लृँङ्—अहसिष्यत्।

अब निम्न धातुओं के रूप चलाने में कोई कठिनाई नहीं होगी—

(१) जीव प्राणधारणे (जीना)। लँट्—जीवति। लिँट्—जिजीव, जिजीवतुः जिजीवुः। लुँट्—जीविता। लृँट्—जीविष्यति। लोँट्—जीवतु-जीवतात्। लँङ्—अजीवत्। वि० लिँङ्—जीवेत्। आ० लिँङ्—जीव्यात्। लुँङ्—अजीवीत्। लृँङ्—अजीविष्यत्।

(२) खेलृँ चलने (खेलना)। लँट्—खेलति। लिँट्—चिखेल, चिखेलतुः, चिखेलुः। लुँट्—खेलिता। लृँट्—खेलिष्यति। लोँट्—खेलतु-खेलतात्। लँङ्—अखेलत्। वि० लिँङ्—खेलेत्। आ० लिँङ्—खेल्यात्। लुँङ्—अखेलीत्। लृँङ्—अखेलिष्यत्।

(३) चूष पाने (चूसना)। लँट्—चूषति। लिँट्—चुचूष, चुचूषतुः, चुचूषुः। लुँट्—चूषिता। लृँट्—चूषिष्यति। लोँट्—चूषतु-चूषतात्। लँङ्—अचूषत्। वि० लिँङ्—चूषेत्। आ० लिँङ्—चूष्यात्। लुँङ्—अचूषीत्। लृँङ्—अचूषिष्यत्।

(४) रक्ष पालने (रक्षा करना)। लँट्—रक्षति। लिँट्—ररक्ष, ररक्षतुः, ररक्षुः। लुँट्—रक्षिता। लृँट्—रक्षिष्यति। लोँट्—रक्षतु-रक्षतात्। लँङ्—अरक्षत्। वि० लिँङ्—रक्षेत्। आ० लिँङ्—रक्ष्यात्। लुँङ्—अरक्षीत्। लृँङ्—अरक्षिष्यत्।

(५) गर्ज शब्दे (गरजना)। लँट्—गर्जति। लिँट्—जगर्ज, जगर्जतुः, जगर्जुः। लुँट्—गर्जिता। लृँट्—गर्जिष्यति। लोँट्—गर्जतु-गर्जतात्। लँङ्—अगर्जत्। वि०-लिँङ्—गर्जेत्। आ० लिँङ्—गर्ज्यात्। लुँङ्—अगर्जीत्। लृँङ्—अगर्जिष्यत्।

(६) खादृँ भक्षणे (खाना)। लँट्—खादति। लिँट्—चखाद, चखादतुः, चखादुः। लुँट् खादिता। लृँट्—खादिष्यति। लोँट्—खादतु-खादतात्। लँङ्—अखादत्। वि० लिँङ्—खादेत्। आ० लिँङ्—खाद्यात्। लुँङ्—अखादीत्। लृँङ्—अखादिष्यत्।

(७) कूज अव्यक्ते शब्दे (कूजना)। लँट्—कूजति। लिँट्—चुकूज, चुकूजतुः चुकूजुः। लुँट्—कूजिता। लृँट्—कूजिष्यति। लोँट्—कूजतु-कूजतात्। लँङ्—अकूजत्। वि० लिँङ्—कूजेत्। आ० लिँङ्—कूज्यात्। लुँङ्—अकूजीत्। लृँङ्—अकूजिष्यत्।

(८) मन्थ विलोडने (बिलोना)। लँट्—मन्थति। लिँट्—ममन्थ, ममन्थतुः,

ममन्थुः । लुँट्—मन्थिता । लृँट्—मन्थिष्यति । लोँट्—मन्थतु—मन्थतात् । लँङ्—अमन्थत् । वि० लिंङ्—मन्थेत् । आ० लिँङ्—मथ्यात्[1] । लुँङ्—अमन्थीत् । लृँङ्—अमन्थिष्यत् ।

अभ्यास (२)

(१) सोदाहरण स्पष्ट करें—

(क) धातुओं को षोपदेश और णोपदेश करने का प्रयोजन ।
(ख) धातुओं के आदि में ञि, टु, डु लगाने का प्रयोजन ।
(ग) धातुओं को ईदित्, एदित् और इदित् करने का प्रयोजन ।
(घ) उत्तमपु० के णल् को विकल्प से णित् करने का प्रयोजन ।
(ङ) 'असंयोगाल्लिँट् कित्' में 'असंयोगात्' ग्रहण का प्रयोजन ।
(च) 'वदव्रज०' सूत्र में वद् और व्रज् के पृथग्ग्रहण का प्रयोजन ।
(छ) 'अत एकहल्०' सूत्र में 'अनादेशादेः' के ग्रहण का प्रयोजन ।

(२) कुछ धातुओं को नोपध किया गया ह (यथा मन्थ्), और कुछ धातुओं को इदित् (यथा टुनदिँ), तो इस भेद का कारण क्या है ?

(३) 'पुगन्त०' सूत्र की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट करें कि 'भिनत्ति' में लघूपधगुण क्यों नहीं होता ?

(४) 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' के 'अस्ति' से प्राचीन और नवीन वैयाकरण क्या २ अभिप्राय समझते हैं ? उनके मतभेद के क्या कारण हैं ?

(५) संयोग परे होने पर एकमात्रिक वर्ण की गुरु और ह्रस्व दोनों सञ्ज्ञाएं कैसे स्वीकार की जाती हैं ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(६) इदित् होते हुए भी चक्षिँङ् धातु को नुमागम क्यों नहीं होता ?

(७) 'कुहोश्चुः' में आन्तरतम्य कैसे देखा जायेगा ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(८) ह्रस्व की लघुसञ्ज्ञा करने का क्या प्रयोजन है ? क्या ह्रस्वसञ्ज्ञा से ही कार्य नहीं किया जा सकता था ?

(९) अत्, गद्, कट्, नद्, टुनदिँ, अर्च्, व्रज्, सिध्—इन धातुओं के लुँङ् और लिँट् के प्र० पु० एक० में रूप सिद्ध करें ।

(१०) निम्न रूपों की सिद्धि करें—
सिषिधतुः, प्रणिगदति, आतिषुः, नेदतुः, प्रणदति, नेदिथ, आतोः, सिध्यात्, नन्दति, जगाद जगद ।

---

१. यह धातु इदित् नहीं अतः 'अनिदितां हल उपधायाः०' (३३४) से कित् परे रहते उपधा के नकार का लोप हो जाता है ।

(११) णोपदेश और णोपदेश धातु कौन २ से हैं ?

(१२) सूत्रों की व्याख्या करें—

अतो हलादेर्लघोः, तस्मान्नुड् द्विहलः, अत एकहल्०, थलि च सेटि, वदव्रज०, इदितो नुम्०, ह्यन्तक्षण०, सिज्लोप एकादेशे० ।

(१३) नद्, अत्, सिध्, गद्, अर्च्, व्रज् और टुनदि धातुओं की लँट्, लिँट् और लुँङ् में रूपमाला लिखें ।

(१४) क्या 'आतत्' में अट् से काम नहीं चल सकता था जो आट् विधान किया है ?

[लघु०] गुपूँ रक्षणे ।।१२।।

अर्थः—गुपूँ (गुप्) धातु 'रक्षा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—गुपूँ धातु का अन्त्य ऊकार अनुनासिक होने से 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इत्संज्ञक है अतः उसका 'तस्य लोपः' (३) से लोप हो कर 'गुप्' ही अवशिष्ट रहता है । इसे ऊदित् करने का फल आगे (४७८) सूत्र पर स्पष्ट होगा । अब गुप् धातु से अग्रिमसूत्रद्वारा स्वार्थ में आयप्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(४६७) गुपूँ-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः ।३।१।२८।।

एभ्य आयप्रत्ययः स्यात् स्वार्थे ।।

अर्थः—गुपूँ, धूप्, विच्छ्, पण् और पन् धातुओंसे स्वार्थ में 'आय' प्रत्यय हो ।

व्याख्या—गुपूँ-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्यः ।५।३। आयः ।१।१। 'प्रत्ययः' और 'परश्च' का अधिकार चला आ रहा है । 'धातोरेकाचो हलादेः०' (३.१.७) सूत्र से 'धातोः' पद का अनुवर्तन कर के वचनविपरिणाम से उसे 'धातुभ्यः' बना लेते हैं[1] । अर्थः—(गुपूँ-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्यः) गुपूँ, धूप्, विच्छ्, पण् और पन् (धातुभ्यः) धातुओं से (परः, आयः, प्रत्ययः) परे 'आय' प्रत्यय हो । आय प्रत्यय हलन्त नहीं अपितु अदन्त है । इसे अदन्त करने का प्रयोजन 'गोपायति' आदि में स्वरव्यवस्था करना है । 'अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति' (प०) अर्थात् जिन प्रत्ययों के अर्थ का निर्देश नहीं किया जाता वे प्रत्यय स्वार्थ में होते हैं । इस नियम के अनुसार आयप्रत्यय

---

१. यहां 'धातोः' की अनुवृत्ति आवश्यक है, अन्यथा 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' (३.१.५) में सन् प्रत्यय की तरह 'धातोः' से इसका विधान न होने से 'आर्धधातुकं शेषः' (४०४) द्वारा इसकी भी आर्धधातुकसञ्ज्ञा न होगी । तब 'गोपायति' में लघूपधगुण न हो सकेगा ।

स्वार्थ में किया जाता है । स्वार्थ में विधान किये प्रत्ययों के आ जाने से प्रकृति (जिस से प्रत्यय किया जाता है) के अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता । सूत्र के उदाहरण यथा—

(१) गुपू रक्षणे (रक्षा करना, भ्वा० परस्मै०) गोपायति ।

(२) धूप सन्तापे (तपाना, भ्वा० परस्मै०) धूपायति ।

(३) विच्छ गतौ (जाना, तुदा० परस्मै०) विच्छायति ।

(४) पण व्यवहारे स्तुतौ च (व्यापार करना, स्तुति करना भ्वा० आत्मने०) । 'पन' के साहचर्य से स्तुति अर्थ में ही पण से आय प्रत्यय अभीष्ट है व्यवहार अर्थ में नहीं । पणायति=स्तुति करता है, पणते=व्यवहार करता है ।

(५) पन च, स्तुत्यर्थक इत्यर्थः (स्तुति करना, भ्वा० आत्मने०) । पनायति ।

गुप् धातु से प्रकृतसूत्र द्वारा स्वार्थ में आय प्रत्यय हो कर 'गुप्+आय' । आय-प्रत्यय 'आर्धधातुकं शेषः' (४०४) के अनुसार आर्धधातुक है अतः इस के परे होने पर 'पुगन्तलघूपधस्य च' (४५१) सूत्र द्वारा लघूपधगुण करने से—गोप्+आय=गोपाय बना । अब अग्रिमसूत्रद्वारा पूरे के पूरे गोपाय की धातुसञ्ज्ञा की जाती है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(४६८) सनाद्यन्ता धातवः ।३।१।३२।।

सनादयः कर्मणिङन्ताः प्रत्यया अन्ते येषां ते धातुसञ्ज्ञकाः । धातुत्वाल्लँडादयः—गोपायति ।।

अर्थः—अष्टाध्यायी में सन् प्रत्यय से लेकर णिङ् प्रत्यय तक बारह प्रत्यय कहे गये हैं, वे प्रत्यय जिसके अन्त में हों उस समुदाय की धातुसञ्ज्ञा हो । धातुत्वात्—धातुसञ्ज्ञा होने से लँट् आदि आ जायेंगे ।

व्याख्या—सनाद्यन्ताः ।१।३। धातवः ।१।३। सन् आदिर्येषां ते सनादयः, सनादयोऽन्ते येषां ते सनाद्यन्ताः । तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः । अर्थः—(सनाद्यन्ताः) सन् आदि प्रत्यय जिन के अन्त में हों ऐसे समुदाय (धातवः) धातुसञ्ज्ञक होते हैं[1] ।

अष्टाध्यायी के तृतीयाध्याय के प्रथमपाद में 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' (३.१.५) से सन् प्रत्यय विधान किया गया है । उससे आगे क्यच्, काम्यच् आदि कई प्रत्यय विधान किये गये हैं । अन्त में 'कर्मणिङ्' (३.१.३०) सूत्र द्वारा णिङ् प्रत्यय कहा गया है । इस प्रकार बारह प्रत्ययों का विधान कर अब यहां तत्तत्प्रत्ययान्त शब्दों की धातु-

---

१. ध्यान रहे कि 'सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति' (४०) इस परिभाषा के कारण यहां संज्ञाविधि में प्रत्यय के ग्रहण से तदन्तों का ग्रहण निषिद्ध था अतः उसके लिये सूत्र में 'अन्त' शब्द का ग्रहण किया गया है। यह सब पूर्वार्ध में 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१४) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं ।

सञ्ज्ञा की जा रही है। धातुसञ्ज्ञा हो जाने से उन समुदायों से लँट् आदि उत्पन्न हो जायेंगे। इन बारह प्रत्ययों का श्लोकबद्ध संग्रह यथा—

सन्-क्यच्-काम्यच्-क्यङ्-क्यषोऽथाऽऽचारक्विब्-णिज्-यङ्स्तथा।
यगाय ईयङ् णिङ् चेति द्वादशाऽमी सनादयः ॥

(१) सन् ('गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' आदि)। यथा—जुगुप्सते।
(२) क्यच् ('सुप आत्मनः क्यच्' आदि)। यथा—पुत्रीयति।
(३) काम्यच् ('काम्यच्च' आदि)। यथा—पुत्रकाम्यति।
(४) क्यङ् ('कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' आदि)। यथा—श्येनायते।
(५) क्यष् ('लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्')। यथा—लोहितायते।
(६) आचार अर्थ वाला क्विप् ('सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः' वा०)। यथा—कृष्णति।
(७) णिच् ('सत्याप--णिच्')। यथा—चोरयति।
(८) यङ् ('धातोरेकाचो--यङ्')। यथा—बोभूयते।
(९) यक् ('कण्ड्वादिभ्यो यक्')। यथा—कण्डूयति।
(१०) आय ('गुपूधूप०')। यथा—गोपायति।
(११) ईयङ् ('ऋतेरीयङ्')। यथा—ऋतीयते।
(१२) णिङ् ('कमेर्णिङ्')। यथा—कामयते।

इन में से क्यष् और ईयङ् को छोड़ कर शेष दस प्रत्ययों का वर्णन लघुकौमुदी में आता है।

'गोपाय' इस समुदाय के अन्त में 'आय' प्रत्यय है अतः सम्पूर्ण 'गोपाय' की प्रकृतसूत्र से धातुसञ्ज्ञा हो जाती है। धातुसञ्ज्ञा हो कर 'धातोः' (७६६) के अधिकार में पूर्ववत् लँट् आदि प्रत्यय आ जाते हैं—गोपाय+लँट्। प्रथमपुरुष के एकवचन में लँट् को तिप् तथा 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप् प्रत्यय आ कर 'गोपाय+अ+ति' हुआ। अब 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने से 'गोपायति' रूप सिद्ध हुआ। लँट् में रूपमाला यथा—गोपायति, गोपायतः, गोपायन्ति। गोपायसि, गोपायथः, गोपायथ। गोपायामि, गोपायावः, गोपायामः।

अब अग्रिमसूत्र-द्वारा लिँट् आदि आर्धधातुक प्रत्ययों की विवक्षा में आय आदि प्रत्ययों का वैकल्पिक विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (४६९) आयादय आर्धधातुके वा ।३।१।३१॥

आर्धधातुकविवक्षायाम् आयादयो वा स्युः ॥

अर्थः—आर्धधातुक प्रत्यय कहने की इच्छा हो तो आय आदि प्रत्यय विकल्प से हों।

व्याख्या—आयादयः ।१।३। आर्धधातुके ।७।१। वा इत्यव्ययपदम् । आय आदिर्येषां ते आयादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः । आय आदि तीन प्रत्यय हैं । आय, ईयङ् और णिङ्[1] । 'आर्धधातुके' में परसप्तमी मानने से दोष उत्पन्न होते हैं अतः विषयसप्तमी मानी जाती है[2] । अर्थः—(आर्धधातुके) आर्धधातुक प्रत्ययों के विषय में (आयादयः) आय, ईयङ् और णिङ् प्रत्यय (वा) विकल्प से होते है। जब बुद्धि में आर्धधातुक प्रत्यय करने की इच्छा हो, तब अर्थात् आर्धधातुक प्रत्यय करने से पूर्व विवक्षामात्र में ही आय, ईयङ् और णिङ् प्रत्यय विकल्प से हो जाते हैं ।

हमें अब लिँडादेशों की विवक्षा है, 'लिँट् च' (४००) सूत्र से लिँडादेश आर्धधातुक माने गये हैं । अतः गुप् धातु से आयप्रत्यय विकल्प से होगा । जिस पक्ष में आयप्रत्यय किया वहां लघूपधगुण हो कर 'गोपाय' बना । धातुसञ्ज्ञा हो कर इस से आगे लिँट् आया तो 'गोपाय+लिँट्' बना । अब अग्रिमवार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(३४) कास्यनेकाच आम् वक्तव्यो लिँटि ।।

आस्कासोराम्विधानाद् मस्य नेत्त्वम् ।।

अर्थः—कास् धातु तथा अनेकाच् धातु से आम् प्रत्यय हो जाता है लिँट् परे हो तो । आस्कासोरिति—आस् और कास् धातु से आम् प्रत्यय का विधान किया गया है, इस से प्रतीत होता है कि 'आम्' के मकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती[3] ।

---

१. "आय ईयङ् च णिङ् चेति, त्रय आयादयः स्मृताः" ।

२. यदि परसप्तमी मानी जाये तो पहले आर्धधातुक प्रत्यय परे किया जायेगा बाद में आय आदि प्रत्यय विकल्प से होंगे । इस प्रकार 'गोपायिता' यहां लुँट् में तास् करने के बाद आय करना पड़ेगा । तब 'अतो लोपः' (४७०) से आय के अन्त्य अकार का लोप न हो सकेगा क्योंकि 'आर्धधातुकोपदेशे यदन्तं तस्यातो लोपः स्यात्' इस अर्थ के अनुसार आर्धधातुक के उपदेशकाल में अदन्त आय उत्पन्न ही न हुआ था वह तो बाद में आया है । इसी प्रकार 'गुप्तिः' और 'गोपाया' शब्दों की सिद्धि भी परसप्तमी मानने से नहीं हो सकती । इस के अधिक विवेचन के लिये इसी सूत्र पर न्यास और पदमञ्जरी देखें ।

३. कास् से आम् का विधान तो प्रकृतवार्त्तिक में है ही, आस् से आम् का विधान आगे 'दयायासश्च' (५३६) सूत्र में आयेगा ।

व्याख्या—कास्यनेकाच: ।५।१। आम् ।१।१। वक्तव्य: ।१।१। लिँटि ।७।१। अर्थः—(कास्यनेकाच:) कास् धातु तथा अनेक अचों वाली धातु से (आम्) आम् प्रत्यय हो जाता है (लिँटि) लिँट् परे हो तो। कास् (कासृँ शब्दकुत्सायाम्, भ्वा० आत्मने०) धातु अनेकाच् नहीं अत: उस का पृथक् उल्लेख किया गया है।

'आम्' प्रत्यय के मकार की 'हलन्त्यम्' (१) सूत्र द्वारा इत्सञ्ज्ञा होनी चाहिये थी परन्तु विधानसामर्थ्य से नहीं होती। क्योंकि यदि इस के मकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती तो आम् प्रत्यय मित् हो जाता, तब 'मिदचोऽन्त्यात् पर:' (२४०) के अनुसार यह अन्त्य अच् से परे होता। इस स्थिति में 'कास्' में आम् प्रत्यय 'का' के बाद होता। इस प्रकार आम् प्रत्यय करने से भी सवर्णदीर्घ हो जाने से 'कास्' वैसे का वैसा रहता। तब आम् करना ही व्यर्थ हो जाता। परन्तु आचार्य कोई भी व्यर्थ कार्य नहीं करते। अत: आम् प्रत्यय के विधान के सामर्थ्य से यह प्रतीत होता है कि इस में मकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती। तब मित् न होने से यह अन्त्य अच् से परे भी नहीं होता। अपितु 'परश्च' (१२१) सूत्र के अनुसार कास् आदियों से परे ही होता है[1]।

'गोपाय+लिँट्' यहां लिँट् परे है और 'गोपाय' यह अनेकाच् भी है अत: प्रकृतवार्तिक द्वारा इस से परे 'आम्' प्रत्यय हो कर 'गोपाय+आम्+लिँट्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४७०) अतो लोप: ।६।४।४८॥

आर्धधातुकोपदेशे यददन्तं तस्यातो लोप आर्धधातुके॥

अर्थ:—आर्धधातुक प्रत्यय के उपदेश के समय जो अदन्त अङ्ग उस के अन्त्य अत् का लोप हो जाता है आर्धधातुक प्रत्यय के परे होने पर।

व्याख्या—अत: ।६।१। लोप: ।१।१। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। 'अत:' पद 'अङ्गस्य' का विशेषण है इसलिये विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अदन्तस्य अङ्गस्य' बन जायेगा। अर्थ:—(अत:=अदन्तस्य) अदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग का (लोप:) लोप हो (आर्धधातुके) आर्धधातुक परे होने पर। अलोऽन्त्यपरि-

---

१ महाभाष्य में 'आम' इस प्रकार अदन्त प्रत्यय स्वीकार कर के भी समाधान प्रस्तुत किया गया है। तब 'आमँ' का अन्त्य अकार अनुनासिक होने से 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जायेगा इस तरह मकार उपदेश में अन्त्य न रहने से इत् न होगा। जैसा कि कहा गया है—

"आमोऽमित्त्वमदन्तत्वाद् अगुणत्वं विदेस्तथा।
आस्कासोराम्विधानाच्च पररूपं कतन्तवत्॥"

भाषा से यह लोप अदन्त अङ्ग के अन्त्य अल् अकार का ही होगा। यथा—चिकीर्ष+इतुम् = चिकीर्षितुम्। चिकीर्ष+इतव्य=चिकीर्षितव्यम्। यहां तुमुन् और तव्यत् इन आर्धधातुक प्रत्ययों के परे होने पर सन् प्रत्यय के अकार का लोप हो जाता है।

सूत्र में 'अत्' के ग्रहण से चेतुम्, चेतव्यम्, स्तोतुम्, स्तोतव्यम् आदि में इकार उकार का लोप न हो कर गुण हो जाता है। 'अत्' में तपरग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'याता, यातुम्, यातव्यम्' इत्यादियों में दीर्घ आकार का लोप नहीं होता। 'आर्धधातुक परे होने पर' इस कथन के कारण 'वृक्षत्वम्, वृक्षता' इत्यादियों में त्व और तल् प्रत्ययों के परे रहते अत् का लोप नहीं होता। त्व और तल् तद्धित प्रत्यय हैं धातु से विधान नहीं किये गये अतः इन की आर्धधातुक सञ्ज्ञा नहीं है।

सूत्र का यह उपर्युक्त अर्थ प्रायः सब प्राचीन वैयाकरण करते चले आ रहे थे। परन्तु इस अर्थ में कुछ त्रुटियां थीं। इस प्रकार अर्थ करने से 'अत्, पत्' आदि रूपों में अकार का लोप प्राप्त होता था जो अनिष्ट था। अतः दीक्षितजी ने सिद्धान्त-कौमुदी में इस का नवीन अर्थ प्रकाशित किया है और उसे ही श्रीवरदराज ने यहां वृत्ति में उद्धृत किया है। इस अर्थ की उपपत्ति इस प्रकार होती है—

'अनुदात्तोपदेशवनति०' सूत्र से 'उपदेश' की अनुवृत्ति ला कर उसे सप्तम्यन्त बना लिया जाता है। 'आर्धधातुके' इस अधिकृत की द्विरावृत्ति की जाती है। एक का सम्बन्ध 'उपदेशे' से और दूसरे में परसप्तमी मान ली जाती है। इस प्रकार यह अर्थ निष्पन्न होता है—(आर्धधातुके उपदेशे) आर्धधातुक के उपदेश के समय (अतः=अदन्तस्य) जो अदन्त उस (अङ्गस्य) अङ्ग का (लोपः) लोप हो (आर्धधातुके) आर्धधातुक प्रत्यय परे रहने पर। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह लोप भी अन्त्य अत् का ही होगा। इस अर्थ का तात्पर्य यह है कि आर्धधातुक करते समय जो अदन्त होगा उसी के अन्त्य अकार का आर्धधातुक परे होने पर लोप होगा। इस से अन्तर यह पड़ेगा कि आर्धधातुक कर चुकने के बाद यदि कोई अङ्ग अदन्त बनेगा तो उस के अत् का लोप नहीं होगा। उदाहरणार्थ—अय पय गतौ (भ्वा० आत्मने०)। यहां अय् पय् धातुओं से 'क्विप् च' (८०२) द्वारा क्विप् करने पर अनुबन्धों का लोप होकर 'अय्+व्, पय्+व्'। 'लोपो व्योर्वलि' (४२९) से यकार का लोप करने पर 'अ+व्, प+व्' बना। अब यदि 'आर्धधातुक परे होने पर अत् का लोप हो' ऐसा प्राचीन वैयाकरणों वाला अर्थ करते हैं तो यहां भी अत् का लोप करना पड़ेगा। परन्तु दीक्षितजी के अर्थ में यह दोष उत्पन्न नहीं होता क्योंकि आर्धधातुक क्विप् प्रत्यय के उपदेश के समय 'अय्, पय्' ये यकारान्त अङ्ग थे, अदन्त नहीं। इस प्रकार दोषनिवृत्ति होकर 'वेरपृक्तस्य' (३०३) से व् का लोप तथा 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (७७७)

से तुक् का आगम करने पर 'अत्' और 'पत्' रूप निर्बाध सिद्ध हो जाते हैं[1]।

'गोपाय+आम्+लिँट्' यहां आम् प्रत्यय 'आर्धधातुकं शेषः' (४०४) के अनुसार आर्धधातुक है। इस के उपदेशकाल में 'गोपाय' यह अदन्त अङ्ग था, अतः आम् आर्धधातुक के परे होने पर उस अदन्त अङ्ग के अन्त्य अकार का प्रकृत सूत्र से लोप हो कर - गोपाय्+आम्+लिँट्='गोपायाम्+लिँट्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है -

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४७१) आमः ।२।४।८१॥

आमः परस्य लुक् ॥

अर्थः—आम् से परे का लुक् हो।

व्याख्या—आमः ।५।१। लुक् ।१।१। ('ण्यक्षत्रियार्ष०' से)। अर्थः—(आमः) आम् से परे (लुक्) लुक् हो।

'गोपायाम्+लिँट्' यहां आम् से परे लिँट् स्थित है अतः उस का लुक् हो कर 'गोपायाम्' बना। लिँट् प्रत्यय की 'कृदतिङ्' (३०२) के अनुसार कृत्सञ्ज्ञा थी। अतः प्रत्ययलक्षण के द्वारा 'गोपायाम्' कृदन्त है। कृदन्त होने से 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (११७) द्वारा इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर सुँविभक्ति की उत्पत्ति हो जाती है—गोपायाम्+सुँ। 'आमः' सूत्र से पुनः सुँ का भी लुक् हो जाता है[2]। इस प्रकार

---

१. प्रायः बहुत से विद्वान् ऐसा समझते हैं कि यह नवीन अर्थ दीक्षितजी का खोजा हुआ है परन्तु ७.१.५८ के न्यास से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन वैयाकरणों को भी इस अर्थ का पता था। वे केवल जटिलता से छात्रों को बचाने के लिये ही उपर्युक्त सरल अर्थ किया करते थे। 'अत्, पत्' आदि शब्दों का खोजने पर भी हमें कहीं प्रयोग नहीं मिला। ओरम्भट्ट ने इसी लिये अपना नया उदाहरण 'अङ्गत्' बनाया है परन्तु यह भी साहित्य में कहीं प्रयुक्त नहीं देखा गया।

२. काशिकाकार आदि प्राचीन वैयाकरण 'आमः' सूत्र में 'मन्त्रे घस०' सूत्र से 'लेः' का अनुवर्तन कर 'आम से परे लिँ अर्थात् लिँट् का लुक् हो' ऐसा अर्थ करते हैं। इस अर्थ में यह दोष उत्पन्न होता है कि 'गोपायाम्+सुँ' यहां पर सुँ का लुक् नहीं हो सकता। यतः 'गोपायाम्' को अव्यय तो मान नहीं सकते क्योंकि 'कृन्मेजन्तः' (३६९) सूत्र का अर्थ है—कृत् जो मकारान्त और एजन्त, तदन्त की अव्ययसञ्ज्ञा हो। इस अर्थ के अनुसार यहां 'लिँट्' यह कृत्प्रत्यय न तो मकारान्त है और न ही एजन्त, तो पुनः यहां 'गोपायाम्' की अव्ययसञ्ज्ञा कैसे हो ? अव्यय न होने से 'अव्ययादाप्सुपः' (३७२) की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इन सब बातों का विचार कर कौमुदीकार ने

'गोपायाम्' यह पदसञ्ज्ञक हो जाता है । पदसञ्ज्ञा का फल 'गोपायांचकार, गोपायाञ्चकार' आदि में अनुस्वार तथा उसे वैकल्पिक परसवर्ण करना है ।

अब 'गोपायाम्' रूप में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४७२) कृञ्चानुप्रयुज्यते लिँटि ।३।१।४०॥

आमन्तात् लिँट्पराः कृभ्वस्तयोऽनुप्रयुज्यन्ते । तेषां द्वित्वादि ॥

अर्थः—आमन्त से परे लिँट्परक कृञ्, लिँट्परक भू तथा लिँट्परक अस् धातुओं का अनुप्रयोग होता है । तेषामिति—उन कृ आदि धातुओं को द्वित्व आदि कार्य होंगे ।

व्याख्या—आमः ।५।१। ('कास्प्रत्ययाद् आम् अमन्त्रे लिँटि' से विभक्ति-विपरिणाम कर के)। कृञ् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । अनुप्रयुज्यते इति तिङन्तपदम् । लिँटि ।७।१। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' इस परिभाषा के अनुसार 'आमः=आमन्तात्' बन जायेगा । 'कृञ्' से यहां प्रत्याहार का ग्रहण अभीष्ट है । अष्टाध्यायी के 'कृभ्वस्ति-योगे०' (५.४.५०) सूत्र के कृ से लेकर 'कृञो द्वितीयतृतीय०' (५.४.५८) सूत्र के ञकार तक 'कृञ्' प्रत्याहार बनता है । इस प्रत्याहार में कृञ्, भू और अस् इन तीन धातुओं का समावेश होता है[1] ।—अर्थः—(लिँटि) लिँट् परे रहते जो (कृञ्) कृ, भू और अस् धातु वह (आमः=आमन्तात्) आमन्त से परे (अनुप्रयुज्यते) अनुप्रयुक्त की जाती है । तात्पर्य यह है कि आमन्त से परे कृ, भू और अस् धातु का अनुप्रयोग

'आमः' सूत्र में 'लेः' का अनुवर्त्तन न कर इसे सामान्य सूत्र बना दिया है । 'आम् से परे लुक् हो' फिर चाहे वह लिँट् हो या सुँ अथवा कोई अन्य प्रत्यय किसी का भी लुक् हो जायेगा । [न्यासकार आदियों का कहना है कि 'आम्' का स्वरादिगण में पाठ किया गया है अतः 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (३६७) से उस की अव्ययसञ्ज्ञा हो जायेगी तब 'अव्ययादाप्सुपः' सूत्र से सुँ का लुक् हो जायेगा । परन्तु स्वरादिगण में 'अम्' के साहचर्य के कारण 'आम्' से तद्धित आम्प्रत्यय का ही ग्रहण होना चाहिये दूसरे का नहीं अतः उस से भी अव्ययसञ्ज्ञा न हो सकेगी । इस विषय का विस्तार १.१.३६ पर पदमञ्जरी में देखना चाहिये] ।

१. कृञ् प्रत्याहार के मध्य में 'अभिविधौ सम्पदा च' (५.४.५३) सूत्र द्वारा सम्पूर्वक पद् धातु भी पढ़ी गई है परन्तु उस का ग्रहण नहीं होता । कारण कि कृञ् आदि का विशेष अर्थ वाली 'गोपाय' आदि धातुओं के पीछे अनुप्रयोग करना है । कृ भू और अस् ये तीन धातुएं तो सामान्य अर्थ वाली हैं अतः इन का सम्बन्ध प्रत्येक विशेष अर्थ वाली धातु के साथ हो सकता है । सम्पूर्वक पद् धातु विशेष अर्थ वाली है अतः इस का अन्य विशेष अर्थ वाली धातु के पीछे प्रयोग नहीं हो सकता ।

किया जाता है और उन से परे लिँट् प्रत्यय किया जाता है[1]। ध्यान रहे कि आमन्त से परे अपने लिँट् का तो 'आमः' (४७१) सूत्र से लुक् हो चुकता है अब यहां उस से परे कृ, भू अथवा अस् धातु लाई जाती है और उस से परे नया लिँट्[2]।

'गोपायाम्' यह आमन्त है। इस से परे प्रकृतसूत्र से लिँट्परक कृञ् भू और अस् धातु का अनुप्रयोग होगा। प्रथम कृञ् का अनुप्रयोग किया तो—गोपायाम्+कृञ्+लिँट्। अब यहां प्रथमपु० के एकवचन की विवक्षा में लिँट् को तिप्,[3] उसे णल्, अनुबन्धलोप तथा 'लिँटि धातोरनभ्यासस्य' (३९४) से द्वित्व[4] हो कर—गोपायाम्+कृ+कृ+अ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४७३) उरत्।७।४।६६॥

अभ्यासऋवर्णस्य अत् प्रत्यये। रपरः। हलादिः शेषः (३९६)। वृद्धिः। गोपायाञ्चकार। द्वित्वात् परत्वाद् यणि प्राप्ते—

अर्थः—प्रत्यय परे होने पर अभ्यास के ऋवर्ण के स्थान पर अत् (ह्रस्व अकार) आदेश हो।

---

१. यह सब पीछे से 'लिँटि' की अनुवृत्ति आने पर भी सूत्र में दुबारा 'लिँटि' के ग्रहण से प्राप्त होता है। पहले लिँट् का लुक् कर के कृञ् आदियों के आगे लिँट् करने का लाभ यह होगा कि अब गुप् को द्वित्व न हो कर कृञ् आदियों को द्वित्व होगा।

२. 'अनुप्रयुज्यते' में 'अनु' और 'प्र' ये दो उपसर्ग लगे हुए हैं। 'अनु' का अर्थ है 'पीछे' तथा 'प्र' का अर्थ है 'प्रकर्ष' अर्थात् व्यवधानरहितता। इस प्रकार यहां दो बातों का निश्चय होता है। एक तो अनुप्रयोग आमन्त से परे होता है पूर्व में नहीं, दूसरा आमन्त से परे भी अव्यवहित अर्थात् विना व्यवधान के अनुप्रयोग होता है। इसीलिये तो महाभाष्य में यह वार्त्तिक पढ़ा गया है—**विपर्यासनिवृत्त्यर्थम्, व्यवहितनिवृत्त्यर्थं च**। इस से भट्टि आदियों के—'**उक्षां प्रचक्रे नगरस्य मार्गान्, बिभयां प्रचकारासौ**' इत्यादि प्रयोग चिन्त्य हैं।

३. कृञ् यद्यपि ञित् धातु है, '**स्वरितञितः०**' (३७९) के अनुसार ञित् धातु से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद होना चाहिए परन्तु यहां '**आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य**' (५१२) इस वक्ष्यमाण सूत्र के कारण आत्मनेपद न हो कर केवल परस्मैपद ही होता है। इस का स्पष्टीकरण उसी सूत्र पर देखें।

४. यहां '**द्विर्वचनेऽचि**' (४७४) के कारण द्वित्व से पहले वृद्धि व गुण नहीं हो सकते।

व्याख्या—उः ।६।१। (यह 'ऋ' शब्द के षष्ठी का एकवचन है)। अत् ।१।१। अभ्यासस्य ।६।१। ('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से)। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। विना प्रत्यय के परे रहते अङ्गसञ्ज्ञा हो नहीं सकती अतः 'प्रत्यये' पद उपलब्ध हो जाता है। **अर्थः**—(अभ्यासस्य) अभ्यास के (उः) ऋवर्ण के स्थान पर (अत्) ह्रस्व अकार आदेश हो जाता है (प्रत्यये) प्रत्यय परे हो तो[1]। ऋवर्ण के स्थान पर जब ह्रस्व अकार आदेश होगा तो 'उरण्रपरः' (२९) सूत्र से रपर हो कर 'अर्' आदेश बन जायेगा।

'गोपायाम्+कृ+कृ+अ' यहां अभ्यास के ऋवर्ण को प्रकृतसूत्र से अत्, रपर होकर—गोपायाम्+कर्+कृ+अ। 'हलादिः शेषः' (३९६) से अभ्यास के रेफ का लोप तथा 'कुहोश्चुः' (४५४) से अभ्यास के ककार को चकार करने से—गोपायाम्+च+कृ+अ। अब 'अचो ञ्णिति' (१८२) सूत्र से 'कृ' के ऋवर्ण को आर् वृद्धि करने पर[2]—गोपायाम्+च+कार्+अ = गोपायाम्+चकार। पीछे 'गोपायाम्' को पद बना चुके हैं अतः 'मोऽनुस्वारः' (७७) सूत्र से पदान्त मकार को अनुस्वार तथा 'वा पदान्तस्य' (८०) से उसे वैकल्पिक परसवर्ण ञकार करने से—'गोपायाञ्चकार, गोपायांचकार' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

प्रथमपु० के द्विवचन में 'गोपायाम्+कृ+अतुस्' इस अवस्था में 'लिँटि धातोः०' (३९४) से द्वित्व और 'इको यणचि' (१५) से यण् युगपत् प्राप्त होते हैं[3]। दोनों सावकाश हैं। द्वित्व का अवकाश है—वव्राज, वव्रजतुः, वव्रजुः आदि; यण् का अवकाश है—सुध्युपास्यः, मद्ध्वरिः, धात्त्रंशः आदि। द्वित्व (६.१.८) की अपेक्षा यण् (६.१.७४) पर है अतः 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) से परकार्य यण् होना चाहिये। परन्तु वह अनिष्ट है क्योंकि यदि यण् पहले हो जाता है तो फिर अच् न रहने से द्वित्व न हो सकेगा। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(४७४) द्विर्वचनेऽचि ।१।१।५८॥

---

१. यहां यदि 'प्रत्यये' नहीं कहेंगे तो 'वव्रश्च' आदि रूपों में दोष प्रसक्त होगा। इस के स्पष्टीकरण के लिये तुदादिगण में 'वव्रश्च' की सिद्धि देखें।

२. कुछ वैयाकरण वृद्धि और गुण के विप्रतिषेध में परत्वात् गुण को बलवान् मान कर प्रथम गुण कर बाद में 'अत उपधायाः' (४५५) से वृद्धि किया करते हैं।

३. स्मरण रहे कि यहां 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से अतुस् कित् है अतः 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (३८८) से प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' (४३३) सूत्र से निषेध हो जाता है।

द्वित्वनिमित्तेऽचि अच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्त्तव्ये । गोपायाञ्चक्रतुः ॥

अर्थः—द्वित्वनिमित्तक अच् को मान कर अच् के स्थान पर आदेश नहीं होता, द्वित्व करना हो तो ।

व्याख्या—द्विर्वचने ।७।१। अचि ।७।१। अचः ।६।१। ('अचः परस्मिन्०' से)। आदेशः ।१।१। ('स्थानिवदादेशः०' से)। न इत्यव्ययपदम्' ('न पदान्तद्विर्वचन०' से)। यहां पर द्विर्वचने' पद की आवृत्ति की जाती है [1]। एक 'द्विर्वचने' पद 'अचि' का विशेषण बनता है और उस में निमित्त-सप्तमी मानी जाती है। द्विरुच्यतेऽस्मिन् इति द्विर्वचनम्, अधिकरणे ल्युट्—इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'द्वित्व के निमित्त अच् को मान कर' ऐसा अर्थ हो जाता है। दूसरे 'द्विर्वचने' पद में विषयसप्तमी मान कर 'द्विर्वचने=द्वित्वविषये=द्वित्वे कर्त्तव्ये' (द्वित्व करने में) इस प्रकार अर्थ हो जाता है। अर्थः—(द्विर्वचने अचि) द्वित्व के निमित्त अच् को मान कर (अचः) अच् के स्थान पर (आदेशः) आदेश (न) नहीं होता (द्विर्वचने) द्वित्व के करने में। तात्पर्य यह है कि द्वित्व का निमित्त अच् विद्यमान हो तो उस का आश्रय कर के किसी अन्य अच् के स्थान पर तब तक कोई आदेश नहीं होता जब तक द्वित्व नहीं हो जाता। द्वित्व कर चुकने के बाद ही उस के स्थान पर कोई आदेश हो सकेगा पहले नहीं। उदाहरण यथा—

'गोपायाम्+कृ+अतुस्' यहां लिट् अर्थात् अतुस् को मान कर द्वित्व प्राप्त है, इस प्रकार अतुस् का अकार द्वित्वनिमित्तक अच् है [2]। इसे मान कर 'कृ' के अच् ऋकार के स्थान पर तब तक कोई आदेश नहीं होगा जब तक द्वित्व नहीं कर लेते। पहले द्वित्व और अभ्यासकार्य हो कर 'गोपायाम्+चकृ+अतुस्' बना। अब द्वित्व कर चुकने के वाद 'कृ' के ऋकार के स्थान पर 'इको यणचि' (१५) से यण् कर पदान्त में मकार को अनुस्वार तथा अनुस्वार को वैकल्पिक परसवर्ण करने पर

---

१. अथवा 'द्विर्वचनं च द्विर्वचनं च=द्विर्वचनम्, तस्मिन्=द्विर्वचने' इस प्रकार एकशेषसमास मान कर दोनों का ग्रहण कर लिया जाता है।

२. अच् को द्वित्व का निमित्त मानना अथवा उस अच् का आश्रय कर के दूसरे अच् के स्थान पर आदेश करना—इन दोनों में साक्षात् या परम्परा दोनों प्रकारों के निमित्तों का ग्रहण किया जा सकता है। यथा—'चक्रे' आदि में 'ए' यह द्वित्व का साक्षात् निमित्त है, परन्तु 'चक्रतुः' आदि में अतुस् का अकार परम्परासम्बन्ध से निमित्त है साक्षात् निमित्त तो 'अतुस्' है। इसी प्रकार 'चक्रे' में 'ए' यह यणप्राप्ति में साक्षात् निमित्त है, परन्तु 'जग्मतुः, जघ्नतुः' आदि में अतुस् का अकार उपधालोप में परम्परासम्बन्ध से निमित्त है।

'**गोपायाञ्चक्रतुः,गोपायांचक्रतुः**' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

पपतुः,पपुः। यहां 'पा+अतुस्, पा+उस्' में द्वित्व (६.१.८) की अपेक्षा परत्व के कारण '**आतो लोप इटि च**' (६.४.६४) सूत्र से आकार का लोप प्राप्त होता है परन्तु यदि आकार का लोप हो जाये तो अच् न रहने से द्वित्व न हो सकेगा। अतः '**द्विर्वचनेऽचि**' सूत्र से उस का निषेध हो जायेगा। तब प्रथम द्वित्व हो कर बाद में आकार का लोप हो जाने से 'पपतुः, पपुः' रूप सिद्ध हो जायेंगे।

जग्मतुः, जग्मुः। यहां 'गम्+अतुस्, गम्+उस्' में द्वित्व (६.१.८) की अपेक्षा परत्व के कारण '**गमहन०**' (६.४.९८) सूत्र से उपधालोप प्राप्त होता है। परन्तु यदि उपधालोप कर देते हैं तो धातु में अच् न रहने से द्वित्व न हो सकेगा। अतः '**द्विर्वचनेऽचि**' सूत्र से पहले द्वित्व होगा, और बाद में उपधालोप। इस प्रकार '**जग्मतुः, जग्मुः**' आदि सिद्ध हो जायेंगे।

निनाय, निनय। लिँट् उत्तमपु० के एकवचन णल् में 'नी+अ' इस स्थिति में णित्त्वपक्ष में वृद्धि तथा णित्त्वाभावपक्ष में गुण दोनों द्वित्व की अपेक्षा परत्व के कारण प्राप्त होते हैं, परन्तु '**द्विर्वचनेऽचि**' से उन का निषेध हो प्रथम द्वित्व हो कर तब वृद्धि और गुण की प्रवृत्ति होने से 'निनाय, निनय' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

इस सूत्र की प्रवृत्ति के समय दो बातों को ध्यान में रखना चाहिये—

(क) सर्वप्रथम उस अच् पर ध्यान देना चाहिये जो द्वित्व का निमित्त हो और साथ ही किसी अन्य अच् के स्थान पर होने वाले आदेश का भी निमित्त हो। यदि अच् दोनों कार्यों में निमित्त नहीं होगा तो '**द्विर्वचनेऽचि**' सूत्र नहीं लगेगा। यथा—दुद्यूषति। 'दिव्+सन्' यहां '**च्छ्वोः शूडनुनासिके च**' (८४३) सूत्र से वकार को ऊठ् आदेश हो कर 'दि+ऊ+स' इस स्थिति में एक तरफ तो दकारोत्तरवर्त्ती इकार को '**इको यणचि**' (१५) से यण् करना है और दूसरी तरफ '**सन्यङोः**' (७०६) से सन्नन्त को द्वित्व। अब यहां '**द्विर्वचनेऽचि**' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। कारण कि ऊठ् वाला ऊकार यण् में तो निमित्त है परन्तु द्वित्व में नहीं। द्वित्व का निमित्त तो सन् है। अतः प्रथम यण् हो कर 'द्यू+स' इस अवस्था में बाद में द्वित्व करने से 'दुद्यूषति' प्रयोग सिद्ध होता है।

(ख) '**द्विर्वचनेऽचि**' का निषेध सदा के लिये नहीं होता अपितु सीमित काल के लिये हुआ करता है। जब तक द्वित्व नहीं हो जाता तब तक निषेध रहता है, द्वित्व हो चुकने के बाद पुनः यथाप्राप्त कार्य हो जाते हैं[1]।

---

१. भट्टोजिदीक्षित से पूर्व सब वैयाकरण इस सूत्रद्वारा स्थानिवद्भाव का ही विधान करते चले आ रहे हैं। उन के मत में सूत्र का यह अर्थ है—'**द्वित्वनिमित्तक**

टिप्पणी—भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में इस सूत्र की वृत्ति 'द्वित्व-निमित्तेऽचि परेऽच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्त्तव्ये' इस प्रकार लिखी है। परन्तु लघु-कौमुदी के लेखक श्रीवरदराज ने उस में से 'परे' शब्द हटा दिया है। इस से वरदराज की बुद्धिमत्ता का स्पष्ट परिचय मिलता है। दीक्षितजी 'द्विर्वचनेऽचि' में परसप्तमी समझते हुए यह अर्थ करते हैं—'द्वित्वनिमित्तक अच् परे होने पर अजादेश नहीं होता द्वित्व करना हो तो'। परन्तु इस प्रकार के अर्थ से 'चक्रतुः, चक्रुः; पपतुः, पपुः' आदि तो सिद्ध हो जायेंगे क्योंकि 'कृ+अतुस्, कृ+उस्; पा+अतुस्, पा+उस्' इत्यादियों में द्वित्वनिमित्तक अच् परे होने पर उस से अव्यव-हितपूर्व अजादेश प्राप्त होता है जिस का इस सूत्र से निषेध हो जाता है। मगर 'जग्मतुः, जग्मुः; जघ्नतुः, जघ्नुः' आदि सिद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि इन में द्वित्व-निमित्तक अच् परे नहीं रहता। 'गम्+अतुस्, गम्+उस्; हन्+अतुस्, हन्+उस्' इत्यादियों में मकार नकार का व्यवधान पड़ता है। सूत्र को जब 'चक्रतुः, चक्रुः; पपतुः, पपुः' आदि सीधे अव्यवहितपूर्व अजादेश के उदाहरण मिल रहे हैं तो वह व्यवधान वाले 'जग्मतुः' आदियों में क्यों प्रवृत्त हो? श्रीवरदराज ने इस दोष से पिण्ड छुड़ाने के लिये 'परे' शब्द को वृत्ति में से निकाल दिया। उन के मतानुसार 'द्विर्व-चनेऽचि' में 'क्ङिति च' की तरह निमित्तसप्तमी है। तब सूत्र का यह अर्थ हुआ—द्वित्वनिमित्तक अच् को मान कर यदि अजादेश करना होगा तो वह न होगा जब तक द्वित्व नहीं हो जाता। इस से जैसे 'कृ+अतुस्' में द्वित्वनिमित्तक अच् को मान कर होने वाले अजादेश यण् का निषेध हो जायेगा वैसे 'गम्+अतुस् में भी द्वित्वनिमित्तक अच् को मान कर होने वाले अजादेश—उपधालोप का भी निषेध हो जायेगा। इसी-लिये तो श्रीभाण्डारीजी द्वारा सम्पादित व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि में दीक्षितजी का

अच् को निमित्त मान कर किसी अन्य अच् के स्थान पर किया गया आदेश स्थानिवत् अर्थात् स्थानी का रूप धारण कर लेता है यदि द्वित्व करना हो तो'। इस के अनुसार पहले अच् के स्थान पर आदेश हो जाता है पुनः द्वित्व करने में उसे स्थानिवद्भाव होकर पहला रूप प्राप्त हो जाता है; वह पहला रूप तब तक रहता है जब तक द्वित्व नहीं हो जाता। द्वित्व होते ही वह पहला रूप नष्ट हो कर पुनः आदिष्ट रूप हो जाता है। यथा—'पा+अतुस्' यहां प्रथम परत्व के कारण 'आतो लोप इटि च' (४८९) सूत्र से आकारलोप हो कर—'प्+अतुस्'। अब 'प्' को स्थानिवद्भाव से 'पा' समझ कर द्वित्व कर लिया जाता है। इस प्रकार 'पपतुः' निर्बाध सिद्ध हो जाता है। 'महाभाष्य' में यही पक्ष सिद्धान्तपक्ष के रूप में स्थापित किया गया है। कौमुदी वाला पक्ष भाष्य में एकदेशीयमत के रूप में निर्दिष्ट है। इन दोनों पक्षों का फल में कुछ अन्तर नहीं केवल प्रक्रिया में अन्तर है।

अर्थ पञ्चमपक्ष में दे कर "न पञ्चमः, जग्मतुरित्याद्यनुपपत्तेः। लोपप्रतियोग्य-पेक्षयाऽतुसादेरव्यवहितपरत्वाऽभावात्" इस प्रकार खण्डन किया गया है। श्रीहरदत्त-मिश्र ने अपनी पदमञ्जरी में भी इस अर्थ को पञ्चमपक्ष में रख कर उपर्युक्त हेतुओं से खण्डन किया है। बड़े आश्चर्य की बात है कि लघुकौमुदी के किसी हिन्दी वा संस्कृत व्याख्याकार को वरदराज की यह विशेषता आज तक नहीं सूझी।

लिँट् प्र० पु० के बहुवचन में भी पूर्ववत् सिद्धि हो कर 'गोपायाञ्चक्रुः, गोपा-यांचक्रुः' दो रूप सिद्ध होते हैं।

लिँट् मध्यमपु० के एकवचन में सिप् को थल् आदेश होकर 'गोपायाम्+कृ+थ' इस अवस्था में 'लिँट् च' (४००) के अनुसार 'थ' के आर्धधातुक होने के कारण 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (४०१) सूत्र से इट् का आगम प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम् (४७५) एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ।७।२।१०॥

उपदेशे यो धातुरेकाज् अनुदात्तश्च तत आर्धधातुकस्येड् न ॥

अर्थः—उपदेश अवस्था में जो धातु एक अच् वाली तथा साथ ही अनुदात्त भी हो तो उस धातु से परे आर्धधातुक प्रत्यय को इट् का आगम नहीं होता।

व्याख्या——एकाचः ।५।१। उपदेशे ।७।१। अनुदात्तात् ।५।१। धातोः ।५।१। ('ऋत इद्धातोः' से)। न इत्यव्ययपदम्। इट् ।१।१। ('नेड् वशि कृति' से)। एकोऽच् यस्य यस्मिन् वाऽसौ एकाच्, तस्माद्=एकाचः । बहुव्रीहि०। अनुदात्तोऽस्त्यस्येति अनुदात्तो धातुः, अर्शआद्यजन्तम्। अर्थः—(उपदेशे) उपदेश में (एकाचः) एक अच् वाली (अनुदात्तात्) अनुदात्त (धातोः) धातु से परे (इट्) इट् (न) नहीं होता। इट् का आगम 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (४०१) के अनुसार वलादि आर्धधातुक को हुआ करता है उस का प्रकृतसूत्र में निषेध किया जा रहा है। जो धातु उपदेश में एकाच् हो और साथ ही अनुदात्त भी, उस धातु से परे वलादि आर्धधातुक को इट् नहीं होता। उदाहरण यथा—

कृ+तुम् (तुमुन्), कृ+तव्य (तव्यत्)। यहां पर कृ धातु उपदेश में एकाच् है[1] और अनुदात्त भी, अतः इस से परे वलादि आर्धधातुक तुम् और तव्य प्रत्ययों को इट् का आगम नहीं होता। गुण हो कर 'कर्तुम्, कर्तव्यम्' सिद्ध हो जाते हैं।

---

१. ध्यान रहे कि अनुबन्धों से मुक्त कर के धातुओं का एकाच्त्व या अनेका-च्त्व देखना चाहिये यथा—'डुकृञ् करणे' (तनादि० उभय०) यहां अनुबन्धों को छोड़ कर 'कृ' ही अवशिष्ट रहता है अतः यह धातु एकाच् समझनी चाहिये। 'ऊर्णुञ् आच्छादने' (अदा० उभय०) धातु अनुबन्ध से मुक्त हो कर 'ऊर्णु' अवशिष्ट रहता है अतः इसे अनेकाच् समझना चाहिये।

सावधान रहिये कि 'उपदेशे' पद का 'एकाचः' और 'अनुदात्तात्' दोनों से सम्बन्ध है। मणिमध्यन्याय या देहलीदीपकन्याय के अनुसार जैसे मध्य में रखा हुआ मणि या दीपक दोनों ओर प्रकाश देता है वैसे यहां भी 'उपदेशे' पद की स्थिति समझनी चाहिये। यदि कोई धातु उपदेश में एकाच् हो पर अनुदात्त न हो तो यह निषेध प्रवृत्त न होगा; इसी प्रकार यदि उपदेश में कोई धातु अनुदात्त तो हो पर एकाच् न हो तो भी यह निषेध प्रवृत्त न होगा। इस निषेध की प्रवृत्ति के लिये धातु का उपदेश में एकाच् होना और साथ ही उपदेश में अनुदात्त होना दोनों आवश्यक हैं[1]।

अनुदात्त और अनुदात्तेत् धातुओं को एक समझने की भूल नहीं करनी चाहिये। अनुदात्तेत् धातुओं में अनुदात्त अनुबन्ध इत् होता है इस का फल आत्मनेपद का विधान है (देखो सूत्र ३७८) पर अनुदात्त होने से धातु से परे आर्धधातुक को इडागम का निषेध हुआ करता है। यह आवश्यक नहीं कि जो धातु अनुदात्तेत् हो वह अनुदात्त भी हो। यथा 'एधँ वृद्धौ' (भ्वा० आत्मने०) धातु अनुदात्तेत् तो है पर अनुदात्त नहीं। इसी प्रकार शक् आदियों में कई धातुएं अनुदात्त होती हुईं भी अनुदात्तेत् नहीं।

पाणिनिमुनिप्रणीत धातुपाठ ही धातुओं का उपदेशस्थान है। इसमें प्रत्येक धातु के विषय में पूरा पूरा विवरण दिया गया है। पर जिन को धातुपाठ कण्ठस्थ नहीं उन के सुखबोध के लिये यहां लघुकौमुदी में अनुदात्त धातुओं की संग्रहतालिका दी जा रही है। छात्रों के लिये यह तालिका अतीव उपयोगी है। हमारा विद्यार्थियों से सानुरोध निवेदन है कि यदि वे संस्कृतव्याकरणशास्त्र में निपुणता प्राप्त करना चाहते हैं तो यह तालिका अवश्य कण्ठस्थ कर लें।

धातु दो प्रकार के होते हैं अजन्त और हलन्त। अजन्त एकाच् धातुओं में अनुदात्त धातुओं की व्यवस्था इस प्रकार समझनी चाहिये—

[लघु०] ऊदॄदन्तैर्-यौति-रु-क्ष्णु-शीङ्-स्नु-नु-क्षु-श्वि-डीङ्-श्रिभिः।
वृङ्-वृञ्भ्यां च विनैकाचोऽजन्तेषु निहताः स्मृताः॥

अर्थः—ऊदन्त, ॠदन्त, यु, रु, क्ष्णु, शीङ्, स्नु, नु, क्षु, श्वि, डीङ्, श्रि, वृङ्

---

१. यदि 'उपदेशे' पद का सम्बन्ध केवल 'एकाचः' से करते हैं, 'अनुदात्तात्' से नहीं तो 'कृ+तुम्' यहां कृ धातु उपदेश में एकाच् तो है पर अब 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६.१.१९१) सूत्र से उदात्त हो गई है अनुदात्त नहीं रही अतः इस में इण्निषेध न हो सकेगा। इसी प्रकार 'उपदेशे' पद का सम्बन्ध यदि केवल 'अनुदात्तात्' से करते हैं, 'एकाचः' से नहीं तो 'चकृषे' यहां धातु के उपदेश में अनुदात्त होने पर भी अब द्वित्व के कारण अनेकाच् हो जाने से इण्निषेध सम्भव नहीं होगा। अतः 'उपदेशे' का सम्बन्ध 'एकाचः' और अनुदात्तात्' दोनों से करना उचित है।

और वृञ्—इन धातुओं को छोड़कर उपदेश में एक अच् वाले समस्त अजन्त धातु निहत अर्थात् अनुदात्त समझने चाहियें ।

व्याख्या—इस श्लोक में 'विना' के योग में तीन स्थानों पर तृतीयाविभक्ति लगी हुई है—ऊदॄदन्तैः, यौति—श्रिभिः, वृङ्वृञ्भ्याम् । ऊत् च ॠत् च ऊदॄतौ, ऊदॄतौ अन्तौ—अन्त्यावयवौ येषान्ते ऊदॄदन्ताः, तैः=ऊदॄदन्तैः । ऊकारान्तैर् ॠकारान्तैश्चेत्यर्थः ।

(१) ऊदन्त यथा—भू सत्तायाम् (होना, भ्वा० परस्मै०), लूञ् छेदने (काटना, क्र्या० उभय०), पूञ् पवने (पवित्र करना, क्र्या० उभय०) इत्यादि ।

(२) ॠदन्त यथा—कॄ विक्षेपे (बिखेरना, तुदा० परस्मै०), पॄ पालनपूरणयोः (पालना या भरना, जुहो० परस्मै०), गॄ निगरणे (निगलना, तुदा० परस्मै०) इत्यादि ।

(३) यौति—यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः (मिलाना या अलग करना, अदा० परस्मै०) ।

(४) रु शब्दे (शब्द करना, अदा० परस्मै०), रुङ् गतिरेषणयोः (गमन या हिंसा करना, भ्वा० आत्मने०) । 'रु' से रु और रुङ् दोनों का ग्रहण होता है (देखो तत्त्वबोधिनी) । कुछ वैयाकरण लुग्विकरणीय धातुओं के संग के कारण केवल अदादिगणीय 'रु शब्दे' का ही ग्रहण मानते हैं, उन के अनुसार रुङ् धातु अनुदात्त होगी ।

(५) क्ष्णु तेजने (तीक्ष्ण करना, अदा० परस्मै०) ।

(६) शीङ् स्वप्ने (सोना, अदा० आत्मने०) ।

(७) स्नु—ष्णु प्रस्रवणे (चूना वा टपकना, अदा० परस्मै०) ।

(८) नु—णु स्तुतौ (स्तुति करना, अदा० परस्मै०) ।

(९) क्षु—टुक्षु शब्दे (शब्द करना, अदा० परस्मै०) ।

(१०) श्वि—टुओँश्वि गतिवृद्ध्योः (गमन, बढ़ना, भ्वा० परस्मै०) ।

(११) डीङ् विहायसा गतौ (उड़ना, भ्वा० दिवा० आत्मने०) ।

(१२) श्रिञ् सेवायाम् (सेवा करना, आश्रय करना, भ्वा० उभय०) ।

(१३) वृङ् सम्भक्तौ (सेवा करना, क्र्या० आत्मने०) ।

(१४) वृञ् वरणे (स्वीकार करना, स्वा० उभय०), वृञ् आवरणे (ढांपना, चुरा० उभय० आधृषीय) ।

अजन्तों में उपर्युक्त चौदह एकाच् धातु उदात्त हैं[1] । इन को छोड़ कर अन्य

---

१. अतः इन में 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (४७५) से इण्निषेध न होगा । यथा —ऊदन्तों में (भू) भविता, भविष्यति; (लू) लविता, लविष्यति; ॠदन्तों में (कॄ) करिता, करिष्यति; यु—यविता, यविष्यति; रु—रविता, रविष्यति; क्ष्णु—क्ष्णविता,

सभी एकाच् अजन्त धातु अनुदात्त होती हैं[1]। यथा—या प्रापणे (जाना, अदा० परस्मै०), याता, यास्यति, यातुम्, यातव्यम् आदि। डुकृञ् (कृ) करणे (करना, तना० उभय०) कर्ता, कर्तुम्, कर्तव्यम्, कृत्वा आदि।

अजन्तों मे उदात्त धातु थोड़ी और अनुदात्त धातु बहुत हैं अतः उदात्त धातुओं को गिना कर शेष धातुओं को अनुदात्त कह दिया गया है। परन्तु हलन्तों में उदात्त धातु बहुत और अनुदात्त धातु थोड़ी है अतः सीधा अनुदात्तों का ही परिगणन करते हैं—

[लघु०] कान्तेषु शक्लेकः[2]। चान्तेषु पच्-मुच्-रिच्-वच्-विच्-सिचः षट्। छान्तेषु प्रच्छ्येकः। जान्तेषु त्यज्-निजिर्-भज्-भञ्ज्-भुज्-भ्रस्ज्-मस्ज्-यज्-युज्-रुज्-रञ्ज्-विजिर्-स्वञ्ज्-सञ्ज्-सृजः पञ्चदश। दान्तेषु अद्-क्षुद्-खिद्-छिद्-तुद्-नुद्-पद्य-भिद्-विद्य-विनद्-विन्द्-शद्-सद्-स्विद्य-स्कन्द्-हदः षोडश। धान्तेषु क्रुध्-क्षुध्-बुध्य-बन्ध्-युध्-रुध्-राध्-व्यध्-शुध्-साध्-सिध्या एकादश। नान्तेषु मन्यहनौ द्वौ। पान्तेषु आप्-क्षिप्-छुप्[3]-तप्-तिप्-तृप्य-दृप्य-लिप्-लुप्-वप्-शप्-स्वप्-सृपस्त्रयोदश। भान्तेषु यभ्-रभ्-लभस्त्रयः। मान्तेषु गम्-नम्-यम्-रमश्चत्वारः। शान्तेषु क्रुश्-दंश्-दिश्-दृश्-मृश्-रिश्-रुश्-विश्-स्पृशो दश। षान्तेषु कृष्-त्विष्-तुष्-द्विष्-दुष्-पुष्य-पिष्-विष्-शिष्-शुष्-श्लिष्या एकादश। सान्तेषु घस्-वसती द्वौ। हान्तेषु दह्-दिह्-दुह्-नह्-मिह्-रुह्-लिह्-वहोऽष्टौ।

अनुदात्ता हलन्तेषु धातवस्त्र्यधिकं शतम् (१०३)॥

व्याख्या—यहां ग्रन्थकार ने ककाराद्यन्त क्रम का आश्रय लिया है।

ककारान्त धातुओं में एक शक्लृँ शक्तौ (सकना, समर्थ होना, स्वा० परस्मै०) धातु ही अनुदात्त हैं। 'शक्लृँ' में लृकार जोड़ने का प्रयोजन यह है कि इस का 'शकि

क्ष्णविष्यति; शीङ्—शयिता, शयिष्यते; स्नु—स्नविता, स्नविष्यति; नु—नविता, नविष्यति; क्षु—क्षविता, क्षविष्यति; श्वि—श्वयिता, श्वयिष्यति; डीङ्—डयिता, डयिष्यते; श्रिञ्—श्रयिता, श्रयिष्यति; वृङ्—वरिता, वरिष्यति; वृञ्—वरिता, वरिष्यति आदि। इन में सर्वत्र 'आर्धधातुकस्येड्०' (४०१) द्वारा इट् हो जाता है।

१. यह परिगणन एकाच् धातुओं के विषय में है अतः जागृ, दरिद्रा आदि अनेकाच् धातुओं को यह लक्ष्य नहीं बनाता।

२. शक्लृ+एक इतिच्छेदः। यण्। अत्र अविभक्तिको निर्देशः। एवम् 'प्रच्छ्येकः' इत्यत्राप्यूह्यम्।

३ प्रायः लघुकौमुदी के संस्करणों में 'छुप्' के स्थान पर 'क्षुप्' पाठ मुद्रित मिलता है पर वह सर्वथा अशुद्ध है, क्योंकि पाणिनीयव्याकरण में 'क्षुप्' धातु कहीं उपलब्ध नहीं।

शङ्कायाम्' (भ्वा० आत्मने०) तथा 'शकं मर्षणे' (दिवा० उभय०) से भेद हो सके। वे दोनों धातु उदात्त हैं अतः उन में इट् का आगम हो जायेगा। परन्तु महाभाष्य के अनुसार दैवादिक शक् धातु भी अनुदात्त है (देखें लघुशब्देन्दुशेखर यही स्थल)।

चकारान्त धातुओं में छः धातु अनुदात्त हैं। (१) पच्—डुपचँष् पाके (पकाना, भ्वा० उभय०)[1]। (२) मुच्—मुचॢँ मोक्षणे (छोड़ना, तुदा० उभय०)। (३) रिच्—रिचिर् विरेचने (दस्त लगाना, खाली करना, रुधा० उभय०) तथा रिच वियोजन-सम्पर्चनयोः (अलग करना, मिलाना, चुरा० उभय० आधृषीय)। (४) वच्—वच परि-भाषणे (बोलना, अदा० परस्मै०) तथा 'ब्रुवो वचिः' (५९६) सूत्र द्वारा ब्रू के स्थान पर हुआ वच् आदेश। (५) विच्—विचिर् पृथग्भावे (अलग करना, रुधा० उभय०)। (६) सिच्—षिचँ क्षरणे (सींचना, तुदा० उभय०)।

छकारान्तों में केवल एक धातु प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् (पूछना, तुदा० परस्मै०) अनुदात्त है।

जकारान्तों में पन्द्रह धातु अनुदात्त हैं। (१) त्यज हानौ (छोड़ना, भ्वा० परस्मै०)। (२) निजिर्—णिजिर् शौचपोषणयोः (शुद्ध करना या पोषण करना, जुहो० उभय०)। (३) भजँ सेवायाम् (सेवा करना, भ्वा० उभय०)। (४) भञ्ज्—भञ्जोँ आमर्दने (तोड़ना, रुधा० परस्मै०)। (५) भुज्—भुज पालनाऽभ्यवहारयोः (पालन करना खाना, रुधा० परस्मै०) तथा भुजोँ कौटिल्ये (टेढ़ा करना, तुदा० परस्मै०)। (६) भ्रस्जँ पाके (पकाना-भूनना, तुदा० उभय०)। (७) मस्ज्—टुमस्जोँ शुद्धौ (शुद्ध होना, डुबकी लगाना, तुदा० परस्मै०)। (८) यजँ देवपूजा-सङ्गतिकरण-दानेषु (यज्ञ करना आदि, भ्वा० उभय०)। (९) युज्—युजिर् योगे (जोड़ना, रुधा० उभय०), युजँ समाधौ (समाहित होना, दिवा० आत्मने०) तथा युज संयमने (बान्धना, चुरा० उभय० आधृषीय)। (१०) रुज्—रुजोँ भङ्गे (तोड़ना तुदा० परस्मै०)। (११) रञ्जँ रागे (रंगना, अनुरक्त होना, भ्वा० उभय०, दिवा० उभय०)। (१२) विजिर् पृथग्भावे (अलग होना, जुहो० उभय०)। सानुबन्ध निर्देश के कारण 'ओँविजीँ भयचलनयोः' धातु का ग्रहण नहीं होता। (१३) स्वञ्ज्—ष्वञ्जँ परिष्वङ्गे (आलिङ्गन करना, भ्वा० आत्मने०)। (१४) सञ्ज्—षञ्ज सङ्गे (चिपटना, भ्वा० परस्मै०)। (१५) सृज विसर्गे (छोड़ना, पैदा करना, दिवा० आत्मने०, तुदा० परस्मै०)।

दकारान्तों में सोलह धातु अनुदात्त हैं। (१) अद भक्षणे (खाना, अदा० परस्मै०)। (२) क्षुद्—क्षुदिर् सम्पेषणे (कूटना-पीसना, रुधा० उभय०)। (३) खिद्—खिदँ दैन्ये (खिन्न होना, दिवा० आत्मने०, रुधा० आत्मने०) तथा खिद

---

१. प्रसिद्ध होने से यहां 'डुपचँष् पाके' का ही ग्रहण होता है।

परिघाते (मारना, तुदा० परस्मै०)। (४) छिद्—छिदिर् द्वैधीकरणे (काटना, रुधा० उभय०)। (५) तुदँ व्यथने (पीड़ा देना, तुदा० उभय०)। (६) नुद्—णुद प्रेरणे (प्रेरित करना, तुदा० उभय०, परस्मै०)। (७) पद्य[1]—पदँ गतौ (जाना या प्राप्त करना, दिवा० आत्मने०)। (८) भिद्—भिदिर् विदारणे (भेदन करना, रुधा० उभय०)। (९) विद्य—श्यन्‌विकरण वाली विद् धातु—विदँ सत्तायाम् (होना, दिवा० आत्मने०)। (१०) विनद्—श्नम्-विकरण वाली विद्—विदँ विचारणे (विचारना, रुधा० आत्मने०)। (११) विन्द्—नुमागम वाली विद् धातु—विद्‌लृँ लाभे (पाना, तुदा० उभय०), इस धातु में 'शे मुचादीनाम्' (६५४) सूत्र से नुम् का आगम होता है[2]। (१२) शद्—शद्‌लृँ शातने (नष्ट होना, भ्वा० तुदा० परस्मै०)। (१३) सद्—षद्‌लृँ विशरण-गत्यवसादनेषु (टूटना, जाना, थकना, भ्वा० तुदा० परस्मै०)। (१४) स्विद्य—श्यन्‌विकरण वाली स्विद् धातु[3]—ञिष्विदाँ गात्रप्रक्षरणे (पसीना आना, दिवा० परस्मै०)। (१५) स्कन्द्—स्कन्दिर् गतिशोषणयोः (जाना, सुखाना, भ्वा० परस्मै०)। (१६) हदँ पुरीषोत्सर्गे (मल त्याग करना, भ्वा० आत्मने०)।

धकारान्तों में ग्यारह धातु अनुदात्त हैं। (१) क्रुध क्रोधे (क्रोध करना, दिवा० परस्मै०)। (२) क्षुध बुभुक्षायाम् (भूखा होना, दिवा० परस्मै०)। (३) बुध्य—श्यन्‌विकरण वाली बुध् धातु[4]—बुधँ अवगमने (जानना, दिवा० आत्मने०)। (४) बन्ध बन्धने (बांधना, क्र्या० परस्मै०)। (५) युधँ सम्प्रहारे (युद्ध करना, दिवा० आत्मने०)। (६) रुध्—रुधिँर् आवरणे (रोकना, रुधा० आत्मने०) तथा अनो रुधँ कामे (चाहना, दिवा० आत्मने०)। (७) राध्—राध संसिद्धौ (सिद्ध करना, स्वा०

---

१. कुछ आचार्य भ्वादिगण के परस्मैपद में 'पद स्थैर्ये' धातु स्वीकार करते हैं, उस की निवृत्ति के लिये यहां 'पद्य' में श्यन् का निर्देश किया गया है।

२. विद् धातु अदादि, दिवादि, रुधादि, तुदादि तथा चुरादि पांच गणों में पढ़ी गई है (देखो पीछे पृष्ठ ९८)। इन में से केवल तीन अर्थात् दिवादि, रुधादि और तुदादि गणपठितों का ही ऊपर अनुदात्तों में 'विद्य, विनद्, विन्द्' से निर्देश किया गया है। अवशिष्ट दो में से चुरादिगणीय विद् में तो णिच के कारण इणिनषेध का कहीं प्रसङ्ग ही नहीं आता। अतः केवल अदादिगणीय 'विद ज्ञाने' धातु ही अनुदात्तबाह्य अर्थात् उदात्त या सेट् समझनी चाहिये। ध्यान रहे कि काशिका आदि में विन्द् (तुदादिगणीय विद्) धातु को भी सेट् माना गया है, परन्तु भाष्यकार ने इसे अनिट् माना है।

३. भ्वादिगण में श्यन् नहीं होता अतः भौवादिक 'ञिष्विदाँ स्नेहनमोचनयोः' तथा 'ञिष्विदाँ अव्यक्ते शब्दे' दोनों उदात्त (सेट्) हैं।

४. इस से भौवादिक 'बुध बोधने' तथा 'बुधिर् बोधने' का यहां ग्रहण न होने से वे दोनों उदात्त (सेट्) हैं।

परस्मै०) तथा राध वृद्धौ (बढ़ना, दिवा० परस्मै०)। (८) व्यध ताडने (बींधना-मारना, दिवा० परस्मै०)। (९) शुध शौचे (पवित्र होना, दिवा० परस्मै०)। (१०) साध संसिद्धौ (सिद्ध करना, स्वा० परस्मै०)। (११) सिध्य—श्यन्विकरण वाली सिध् धातु[1]—षिधुँ संराद्धौ (सिद्ध होना, दिवा० परस्मै०)।

नकारान्तों में दो धातु अनुदात्त हैं। (१) मन्य—श्यन्विकरण वाली मन् धातु[2]—मनँ ज्ञाने (जानना-मानना, दिवा० आत्मने०)। (२) हन हिंसागत्योः (हिंसा करना, गमन करना, अदा० परस्मै०)।

पकारान्तों में तेरह धातु अनुदात्त हैं (१) आप्—आप्लृँ व्याप्तौ (प्राप्त करना, स्वा० परस्मै०) तथा आप्लृँ लम्भने (हिंसा करना, चुरा० उभय० आधृषीय)। (२) क्षिप प्रेरणे (फेंकना, दिवा० परस्मै०; तुदा० उभय०)। (३) छुप स्पर्शे (छूना, तुदा० परस्मै०)। (४) तप्—तप सन्तापे (तपना, भ्वा० परस्मै०), तपँ ऐश्वर्ये (ऐश्वर्यवान् होना, दिवा० आत्म०) तथा तप दाहे (जलाना, चुरा० उभय० आधृषीय)। (५) तिप्—तिपृँ क्षरणे (टपकना-चूना, भ्वा० आत्मने०)। (६) तृप्य—श्यन्-विकरण वाली तृप् धातु—तृप प्रीणने (तृप्त होना वा करना, दिवा० परस्मै०)। (७) दृप्य—श्यन् विकरण वाली दृप् धातु—दृप हर्षमोहनयोः (खुश होना, घमण्ड करना, दिवा० परस्मै०)[3]। (८) लिपँ उपदेहे (लीपना, तुदा० उभय०)। (९) लुप्—यहां पिछले तौदादिक धातु के साहचर्य के कारण तौदादिक का ही ग्रहण अभीष्ट है[4]—लुप्लृँ छेदने (काटना, तुदा० उभय०)। (१०) वप्—डुवपँ बीज-सन्ताने (बीज बखेरना, भ्वा० उभय०)। (११) शप्—शपँ आक्रोशे (शाप देना, भ्वा० दिवा० उभय०)। (१२) स्वप्—ञिष्वप् शये (सोना, अदा० परस्मै०)। (१३) सृप्—सृप्लृँ गतौ (जाना, भ्वा० परस्मै०)।

भकारान्तों में तीन धातु अनुदात्त हैं। (१) यभ मैथुने (मैथुन करना, भ्वा० परस्मै०)। (२) रभँ राभस्ये (आरम्भ करना, भ्वा० आत्मने०)। (३) लभ्—डुलभँष् प्राप्तौ (पाना, भ्वा० आत्मने०)।

---

१ अत एव भौवादिक 'षिध गत्याम्' तथा 'षिधूँ शास्त्रे माङ्गल्ये च' का यहां ग्रहण नहीं, वे दोनों उदात्त (सेट्) हैं।

२. अत एव 'मनुँ अवबोधने' (तना० आत्मने०) धातु उदात्त (सेट्) है।

३. श्यन् विकरणीय (दिवादिगणीय) तृप् और दृप् धातु से परे वलादि आर्धधातुक को 'रधादिभ्यश्च' (६३५) सूत्र द्वारा विकल्प से इट् का आगम होता है अतः उन का यहां अनुदात्तों में पाठ, इण्निषेध के लिये नहीं अपितु 'अनुदात्तस्य चर्दुप०' (६५३) सूत्र द्वारा वैकल्पिक अमागम के लिये किया गया है। इडभावपक्ष में—त्रप्ता, तर्प्ता; द्रप्ता, दर्प्ता।

४. अतः 'लुप विमोहने' (दिवा० परस्मै०) धातु उदात्त (सेट्) है।

मकारान्तों में चार धातु अनुदात्त हैं। गम—गम्लृँ गतौ (जाना, भ्वा० परस्मै०)। (२) नम्— णम प्रह्वत्वे शब्दे च (झुकना, शब्द करना, भ्वा० परस्मै०)। (३) यम् —यमुँ उपरमे (शान्त होना, भ्वा० परस्मै०)। (४) रम्—रमुँ क्रीडायाम् (खेलना, भ्वा० आत्मने०)।

शकारान्तों में दस धातु अनुदात्त हैं। (१) क्रुश आह्वाने रोदने च (बुलाना, रोना, भ्वा० परस्मै०)। (२) दंश दशने (डंक मारना, भ्वा० परस्मै०)। (३) दिश अतिसर्जने (देना, तुदा० परस्मै०)। (४) दृश्—दृशिर् प्रेक्षणे (देखना, भ्वा० परस्मै०)। (५) मृश आमर्शने (छूना, तुदा० परस्मै०)। (६—७) रुश रिश हिंसायाम् (हिंसा करना, तुदा० परस्मै०)। (८) लिशँ अल्पीभावे (कम होना, दिवा० आत्मने०) तथा लिश गतौ (जाना, तुदा० परस्मै०)। (९) विश प्रवेशने (प्रवेश करना, तुदा० परस्मै०)। (१०) स्पृश संस्पर्शे (छूना, तुदा० परस्मै०)।

षकारान्तों में ग्यारह धातु अनुदात्त हैं। (१) कृष विलेखने (हल जोतना, भ्वा० परस्मै०, तुदा० उभय०)। (२) त्विषँ दीप्तौ (चमकना, भ्वा० उभय०)। (३) तुष प्रीतौ (प्रसन्न होना, दिवा० परस्मै०)। (४) द्विषँ अप्रीतौ (द्वेष करना, अदा० उभय०)। (५) दुष वैकृत्ये (दूषित होना, दिवा० परस्मै०)। (६) पुष्य —श्यन् विकरण वाली पुष् धातु—पुष पुष्टौ (पुष्ट करना, दिवा० परस्मै०)। (७) पिष्—पिष्लृँ सञ्चूर्णने (पीसना, रुधा० परस्मै०)। (८) विष्=विष्लृँ व्याप्तौ (व्याप्त करना, जुहो० उभय०), विषुँ सेचने (सींचना, भ्वा० परस्मै०) तथा विष विप्रयोगे (छोड़ना, क्र्या० परस्मै०)। (९) शिष्—शिष हिंसायाम् (हिंसा करना, भ्वा० परस्मै०), शिष्लृँ विशेषणे (विशिष्ट करना, रुधा० परस्मै०) तथा शिष असर्वोपयोगे (बच रहना, चुरा० उभय० आधृषीय)। (१०) शुष शोषणे (सूखना, दिवा० परस्मै०)। (११) श्लिष्य—श्यन् विकरण वाली श्लिष् धातु—श्लिष आलिङ्गने (आलिङ्गन करना दिवा० परस्मै०)।

सकारान्तों में दो धातु अनुदात्त हैं। घस्—घस्लृँ अदने (खाना, भ्वा० परस्मै०)[1]। वसति[2]—भौवादिक वस् धातु—वस निवासे (रहना, भ्वा० परस्मै०)।

हकारान्तों में आठ धातु अनुदात्त हैं। (१) दह भस्मीकरणे (भस्म करना,

---

१. अद् धातु के स्थान पर होने वाला 'घस्लृ' आदेश स्थानिवद्भाव से ही अनुदात्त है।

२. महाभाष्य में 'वसिः प्रसारणी' कहा गया है अर्थात् जिस के स्थान पर सम्प्रसारण होता है उस वस् का यहां ग्रहण अभीष्ट है। सम्प्रसारण भौवादिक वस् के स्थान पर ही होता है आदादिक 'वसँ आच्छादने' के स्थान पर नहीं अत: आदादिक वस् धातु अनुदात्त नहीं है।

जलाना, भ्वा० परस्मै०)। (२) दिहँ उपचये (बढ़ाना, अदा० उभय०)। (३) दुहँ प्रपूरणे (दोहना, अदा० उभय०)। (४) नह्—णहँ बन्धने (बान्धना, दिवा० उभय०)। (५) मिह सेचने (सींचना, भ्वा० परस्मै०)। (६) रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च (उगना, भ्वा० परस्मै०)। (७) लिहँ आस्वादने (चाटना, अदा० उभय०)। (८) वहँ प्रापणे (ले जाना, भ्वा० उभय०)।

इस प्रकार हलन्त धातुओं में अनुदात्तों की संख्या (१०३) होती है (१+६+१+१५+१६+११+२+१३+३+४+१०+११+२+८=१०३)।

'गोपायाम्+कृ+थ' यहां 'कृ' धातु 'ऊदृदन्तैः०' के अनुसार उदात्तों में परिगणित नहीं अतः पारिशेष्यात् अनुदात्त है। इसलिये 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (४७५) सूत्र से इट् का निषेध हो जायेगा। अब सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से ऋकार को गुण, रपर और बाद में द्वित्व[1] आदि करने पर 'गोपायाञ्चकर्थ, गोपायांचकर्थ' ये दो रूप सिद्ध होंगे।

मध्यम० के द्विवचन और बहुवचन में पूर्ववत् क्रमशः 'गोपायाञ्चक्रथुः-गोपायांचक्रथुः; गोपायाञ्चक्र-गोपायांचक्र' रूप बनेंगे।

उत्तम० के एकवचन णल् में—गोपायाम्+कृ+अ। यहां 'णलुत्तमो वा' (४५६) से णल् विकल्प से णित् है। णित्त्वपक्ष में 'अचो ञ्णिति' (१८२) से वृद्धि तथा णित्त्वाभावपक्ष में 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से गुण प्राप्त होता है। परन्तु 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) के कारण इन दोनों से पहले द्वित्व हो जाता है। तदनन्तर वृद्धि और गुण करने पर 'गोपायाञ्चकार-गोपायांचकार, गोपायाञ्चकर-गोपायांचकर' ये चार रूप सिद्ध होते हैं। द्विवचन और बहुवचन में 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) के अनुसार 'व' और 'म' कित् हैं अतः गुण का निषेध हो जाता है—गोपायाञ्चकृव-गोपायांचकृव, गोपायाञ्चकृम-गोपायांचकृम।

यहां तक 'कृ' के अनुप्रयोग की चर्चा हुई। 'भू' का अनुप्रयोग होने पर पूर्ववत 'बभूव' आदि रूप बनते हैं—गोपायाम्बभूव, गोपायाम्बभूवतुः, गोपायाम्बभूवुः आदि।

'अस्' का अनुप्रयोग होने पर 'अत्' धातु के लिँट् के समान प्रक्रिया होती है—गोपायामास, गोपायामासतुः, गोपायामासुः आदि। ध्यान रहे कि यहां अनुप्रयुज्यमान अस् के स्थान पर 'अस्तेर्भूः' (५७६) से भू आदेश नहीं होता क्योंकि वैसा करने पर अस् का अनुप्रयोग निष्फल हो जाता, भू का अनुप्रयोग तो किया ही था।

अब 'आयादयः०' (४६९) से जिस पक्ष में आयप्रत्यय नहीं होता वहां 'गुप्+अ' (णल्) इस अवस्था में गुण से पूर्व द्वित्वादि हो कर—जुगुप्+अ। अब लघूपधगुण

---

१. ध्यान रहे कि यहां अच् परे नहीं है अतः 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) निषेध नहीं करेगा, तब परत्व के कारण प्रथम गुण हो कर बाद में द्वित्व होगा।

करने से—जुगोप। द्विवचन और बहुवचन में 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से कित्त्व के कारण गुण नहीं होता—जुगुपतुः, जुगुपुः।

मध्यमपु० के एकवचन में सिप् को थल् हो कर 'गुप्+थ' इस स्थिति में गुप्-धातु के अनुदात्तबाह्य होने से इट् का आगम प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४७६) स्वरति-सूति-सूयति-धूञ्-ऊदितो वा ।७।२।४४॥

स्वरत्यादेरूदितश्च परस्य वलादेरार्धधातुकस्येड् वा। जुगोपिथ-जुगोप्थ। गोपायिता-गोपिता-गोप्ता। गोपायिष्यति-गोपिष्यति-गोप्स्यति। गोपायतु। अगोपायत्। गोपायेत्। गोपाय्यात्-गुप्यात्। अगोपायीत्॥

अर्थः—स्वरति, सूति, सूयति, धूञ् और ऊदित् धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् का आगम हो।

व्याख्या—स्वरति-सूति-सूयति-धूञ्-ऊदितः ।५।१। वा इत्यव्ययपदम्। 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' का अनुवर्त्तन होता है। ऊत् (दीर्घ ऊकारः) इत् यस्य स ऊदित् बहुव्रीहिः। स्वरतिश्च सूतिश्च सूयतिश्च धूञ् च ऊदित् च स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदित्, तस्मात्। समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितः) स्वरति, सूति, सूयति, धूञ् इन धातुओं से तथा दीर्घ ऊकार जिस का इत् हो उस धातु से परे (वलादेः) वलादि (आर्धधातुकस्य) आर्धधातुक का अवयव (इट्) इट् (वा) विकल्प से हो जाता है। 'स्वरति' से 'स्वृ शब्दोपतापयोः' (शब्द करना, दुःख देना, भ्वा० परस्मै०), 'सूति' से अदादिगणीय 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' (पैदा करना, अदा० आत्मने०), 'सूयति' से दिवादिगणीय 'षूङ् प्राणिप्रसवे' (पैदा करना, दिवा० आत्मने०), 'धूञ्' से 'धूञ् कम्पने' (कम्पाना-हिलाना, स्वा० क्र्या० उभय०) तथा ऊदित् से गुपूँ गाहूँ प्रभृति धातुओं का ग्रहण होता है। इन के उदाहरण यथा—

स्वरति—स्वरिता, स्वर्ता। सूति—सविता, सोता। सूयति—सविता, सोता। धूञ्—धविता, धोता। ऊदित्—गोपिता, गोप्ता इत्यादि।

गुपूँ धातु ऊदित् है अतः इस से परे वलादि आर्धधातुक को इट् का आगम विकल्प से होगा। 'गुप्+थ' यहां इट् का आगम हो कर द्वित्व तथा लघूपधगुण करने से—जुगोपिथ। इट् के अभाव में—जुगोप्थ। इसी प्रकार वस् और मस् में भी दो दो रूप बनेंगे—जुगुपिव-जुगुप्व; जुगुपिम-जुगुप्म[1]। लिँट् में समग्र रूपमाला यथा—

---

१. कई आचार्य यहां क्रादिनियम से नित्य इट् का विधान मानते हैं अतः उन के मत में 'जुगोप्थ, जुगुप्व, जुगुप्म' रूप नहीं बनते। एतद्विषयक विस्तृत विचार क्रादिनियम (४७९) पर देखें।

आयपक्षे—(कृञोऽनुप्रयोगे) गोपायाञ्चकार, गोपायाञ्चक्रतुः, गोपायाञ्चक्रुः। गोपायाञ्चकर्थ, गोपायाञ्चक्रथुः, गोपायाञ्चक्र। गोपायाञ्चकार-गोपायाञ्चकर, गोपायाञ्चकृव, गोपायाञ्चकृम। (भूधातोरनुप्रयोगे) गोपायाम्बभूव, गोपायाम्बभूवतुः, गोपायाम्बभूवुः। गोपायाम्बभूविथ, गोपायाम्बभूवथुः, गोपायाम्बभूव। गोपायाम्बभूव, गोपायाम्बभूविव, गोपायाम्बभूविम[1]। (अस्धातोरनुप्रयोगे) गोपायामास, गोपायामासतुः, गोपायामासुः। गोपायामासिथ, गोपायामासथुः, गोपायामास। गोपायामास, गोपायामासिव, गोपायामासिम। आयाऽभावे—जुगोप, जुगुपतुः, जुगुपुः। जुगोपिथ -जुगोप्थ, जुगुपथुः, जुगुप। जुगोप, जुगुपिव-जुगुप्व, जुगुपिम-जुगुप्म।

लुँट् में तास् प्रत्यय होता है वह 'आर्धधातुकं शेषः' (४०४) के अनुसार आर्धधातुक है। अतः उस की विवक्षा में आयप्रत्यय (४६९) सूत्र से विकल्प से होगा। आयपक्ष में 'गोपाय+इतास्+आ' यहां पर 'अतो लोपः' (४७०) से अकार का लोप करने से—गोपायिता। आय के अभाव में गुपूँ के ऊदित् होने से इट् का विकल्प हो जायेगा—गोपिता-गोप्ता। रूपमाला यथा—आयपक्षे—गोपायिता, गोपायितारौ, गोपायितारः। गोपायितासि, गोपायितास्थः, गोपायितास्थ। गोपायितास्मि, गोपायितास्वः, गोपायितास्मः। आयाऽभावे—(इट्पक्षे) गोपिता, गोपितारौ, गोपितारः। गोपितासि, गोपितास्थः, गोपितास्थ। गोपितास्मि, गोपितास्वः, गोपितास्मः। इटोऽभावे) गोप्ता, गोप्तारौ, गोप्तारः। गोप्तासि, गोप्तास्थः, गोप्तास्थ। गोप्तास्मि, गोप्तास्वः, गोप्तास्मः।

लृँट् में 'स्य' प्रत्यय आर्धधातुक है अतः उस की विवक्षा में आय का विकल्प होगा। आयपक्ष में 'गोपाय+इस्य+ति' में पूर्ववत् अकार का लोप होकर—गोपायिष्यति। आय के अभाव में इट् का विकल्प होने से इट्पक्ष में 'गोपिष्यति' और इट् के अभाव में 'गोप्स्यति'। रूपमाला यथा—आयपक्षे—गोपायिष्यति, गोपायिष्यतः, गोपायिष्यन्ति। आयाभावे—(इट्पक्षे) गोपिष्यति, गोपिष्यतः, गोपिष्यन्ति। (इटोऽभावे) गोप्स्यति, गोप्स्यतः, गोप्स्यन्ति आदि।

लोँट्, लँङ् और विधिलिँङ् में कोई आर्धधातुक प्रत्यय नहीं होता अतः लँट् की तरह नित्य आयप्रत्यय हो जाता है। लोँट्—गोपायतु-गोपायतात्, गोपायताम्, गोपायन्तु। लँङ्—अगोपायत्, अगोपायताम्, अगोपायन्। वि० लिँङ्—गोपायेत्, गोपायेताम्, गोपायेयुः।

आशीर्लिँङ् में 'लिङाशिषि' (४३१) के अनुसार यासुट् आर्धधातुक होता है अतः उस की विवक्षा में आयप्रत्यय का विकल्प होगा। 'गोपाय+यास् त्' यहां 'अतो

---

१. यहां अनुस्वारपक्षीय 'गोपायांचकार, गोपायांबभूव' आदि रूपों की भी स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिये।

लोपः' (४७०) से अकार का लोप करने से—गोपाय्यात्। आय के अभाव में यास् के वलादि न होने के कारण इट् का विकल्प न होगा अतः—गुप्यात्। रूपमाला यथा—(आयपक्षे) गोपाय्यात्, गोपाय्यास्ताम्, गोपाय्यासुः। (आयाऽभावे) गुप्यात्, गुप्यास्ताम्, गुप्यासुः।

लुङ् में सिच्प्रत्यय आर्धधातुक होता है अतः उस की विवक्षा में आयप्रत्यय का विकल्प हो जायेगा। 'अगोपाय+इस्+ईत्' इस स्थिति में 'अतो लोपः' से अकार का लोप हो कर—अगोपायीत्। आय के अभाव में 'स्वरतिसूति०' सूत्र से इट् का विकल्प हो जायेगा। इट्पक्ष में—'अगुप्+इस्+ईत्' इस अवस्था में हलन्त होने से 'वदव्रजहलन्तस्याचः' (४६५) सूत्र से गुप् के उकार को वृद्धि प्राप्त होती है। इस पर अग्रिमसूत्र निषेध करता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(४७७) नेटि ।७।२।४।।

इडादौ सिंचि हलन्तस्य वृद्धिर्न। अगोपीत्-अगोप्सीत्।।

अर्थः—इडादि सिंच् परे होने पर हलन्त धातु के स्थान पर वृद्धि नहीं होती।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। इटि ।७।१। हलन्तस्य ।६।१। ('वदव्रज०' से) 'सिंचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' सूत्र का अविकल अनुवर्त्तन होता है। 'इटि' यह 'सिचि' का विशेषण है। इट् का आगम टित्त्व के कारण आद्यवयव हुआ करता है अतः तदादि-विधि हो कर 'इडादौ सिंचि' बन जायेगा। अर्थः—(इटि=इडादौ) इडादि (सिंचि) सिंच् परे होने पर (हलन्तस्य) हलन्त अङ्ग के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि (न) नहीं होती (परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्ययों के परे रहते[1]।

'वदव्रजहलन्तस्याचः' (४६५) द्वारा वद्, व्रज् और हलन्त धातुओं को सिंच् परे होने पर वृद्धि कही गई है, उस का यहां इडादि सिंच् में निषेध किया गया है। वद् और व्रज् का विशेष विधान है अतः उन में निषेध प्रवृत्त नहीं होगा, निषेध केवल हलन्तों में ही होगा। तब 'वदव्रज०' सूत्र का हलन्तांश कहां प्रवृत्त होगा? इस का उत्तर यह है कि 'अगोप्सीत्' आदि में, जहां इट् का आगम नहीं होता वहां वह चरितार्थ हो जायेगा।

'अगुप्+इस्+ईत्' यहां इडादि सिंच् परे है अतः प्रकृतसूत्रद्वारा हलन्त-लक्षणा वृद्धि का निषेध हो कर लघूपधगुण करने से—अगोपीत्। इडागम के अभाव

---

१. वृत्ति में 'परस्मैपदेषु' नहीं लिखा। इस का कारण यह है कि यह निषेधसूत्र है। विहित का ही निषेध किया जाता है। जब परस्मैपदों के सिवाय अन्यत्र कहीं वृद्धि प्राप्त ही नहीं तो निषेध भी स्वतः परस्मैपदों में ही होगा, अतः उसे लिखने की आवश्यकता नहीं।

में 'अगुप्+स्+ईत्' इस स्थिति में 'वदव्रज०' द्वारा हलन्त गुप् के उकार को औकार वृद्धि हो कर—अगौप्सीत्। ध्यान रहे कि यहां इट् से परे सिँच् नहीं अतः 'इट ईटि' (४४६) से सकार का लोप नहीं होता।

लुङ् के आयपक्ष तथा इट्पक्ष में आगे कुछ विशेष नहीं। इट् के अभावपक्ष में कुछ विशेष कार्य है। प्रथमपु० के द्विवचन में 'अगुप्+स्+ताम्' इस स्थिति में हलन्तलक्षणा वृद्धि हो कर 'अगौप्+स्+ताम्' हुआ। अब यहाँ सकार का लोप करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् - (४७८) झलो झलि ।८।२।२६॥

झलः परस्य सस्य लोपो झलि । अगौप्ताम्, अगौप्सुः । अगौप्सीः, अगौप्तम्, अगौप्त । अगौप्सम्, अगौप्स्व, अगौप्स्म । अगोपायिष्यत्-अगोपिष्यत्-अगोप्स्यत् ॥

अर्थः—झल् से परे सकार का लोप हो झल् परे हो तो।

व्याख्या—झलः ।५।१। झलि ।७।१। सस्य ।६।१। ('रात्सस्य' से)। लोपः ।१।१। ('संयोगान्तस्य लोपः' से)।अर्थः—(झलः) झल् से परे (सस्य) स् का (लोपः) लोप हो (झलि) झल् परे हो तो। तात्पर्य यह है कि दो झलों के मध्य में आने वाले स् का लोप हो जाता है [1]।

'अगौप्+स्+ताम्' यहां पकार-झल् से परे स् विद्यमान है इस से परे ताम् का तकार-झल् है अतः दो झलों के मध्यगत सकार का लोप हो कर 'अगौप्ताम्' रूप सिद्ध होता है। बहुवचन उस् में—अगौप्सुः। यहां झल् से परे सकार तो है परन्तु उस से परे झल् नहीं अतः सकार का लोप नहीं होता। मध्यम पु० के एकवचन में—अगौप्सीः। द्विवचन और बहुवचन में—अगौप्तम्, अगौप्त। इन में झल् से परे सकार का लोप हो जाता है। उत्तम० में—अगौप्सम्, अगौप्स्व, अगौप्स्म। वस् और मस् में झल् परे नहीं अतः सकार का लोप नहीं होता। लुङ् में रूपमाला यथा—आयपक्षे—**अगोपायीत्, अगोपायिष्टाम्, अगोपायिषुः। अगोपायीः, अगोपायिष्टम्, अगोपायिष्ट। अगोपायिषम्, अगोपायिष्व, अगोपायिष्म।** आयाभावे—(इट्पक्षे) **अगोपीत्, अगो-**

---

१. 'सोमसुत्स्तोता, दृषत्स्थानम्' इत्यादियों में झलों के मध्यस्थित सकार का लोप क्यों नहीं होता? इस का उत्तर यह है कि यह सम्पूर्ण प्रकरण (धि च, झलो झलि, ह्रस्वादङ्गात्, इट ईटि) सिँच्सम्बन्धी सकार के लिये ही अभीष्ट है अतः इन स्थानों पर सकार का लोप नहीं होता। अथवा यहां 'पदस्य' का अधिकार आ रहा है। तीनों यदि एक ही पद के हों तभी लोप होता है अन्यथा नहीं। इन स्थानों पर प्रथम झल् अन्य पद में स्थित है अतः उस से परे सकार का लोप नहीं होता।

पिष्टाम्, अगोपिषुः । अगोपीः, अगोपिष्टम्, अगोपिष्ट । अगोपिषम्, अगोपिष्व, अगोपिष्म । (इटोऽभावे) अगौप्सीत्, अगौप्ताम्, अगौप्सुः । अगौप्सीः, अगौप्तम्, अगौप्त । अगौप्सम्, अगौप्स्व, अगौप्स्म ।

लृँङ् में 'स्य' प्रत्यय आर्धधातुक होता है अतः उस की विवक्षा में आय प्रत्यय का विकल्प हो जायेगा । आयपक्ष में 'अगोपाय+इस्य+त्' यहां पर 'अतो लोपः' (४७०) से अकार का लोप हो कर षत्व करने से 'अगोपायिष्यत्' । आय के अभाव में इट् करने पर 'अगोपिष्यत्' और इट् के अभाव में 'अगोप्स्यत्' । रूपमाला यथा—आयपक्षे—अगोपायिष्यत्, अगोपायिष्यताम्, अगोपायिष्यन् । आयाऽभावे (इट्पक्षे) अगोपिष्यत्, अगोपिष्यताम्, अगोपिष्यन् । (इटोऽभावे) अगोप्स्यत्, अगोप्स्यताम्, अगोप्स्यन् ।

अभ्यास (३)

(१) (क) स्वार्थ में प्रत्यय करने का क्या अभिप्राय होता है ?

(ख) आयप्रत्यय हलन्त है या अजन्त ? विवेचन करें ।

(ग) 'सनाद्यन्ताः०' सूत्र में 'अन्त' के ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

(घ) सन् आदि प्रत्यय कितने और कौन कौन से हैं ?

(ङ) 'आयादयः' में कौन कौन से प्रत्यय लिये जाते हैं ?

(च) 'सोमसुत्+स्तोता' यहां 'झलो झलि' से सकार का लोप क्यों नहीं होता ?

(२) निम्नलिखित रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

गोपायति, गोपायाञ्चकार, गोपायाचक्रतुः, गोपायाञ्चकर्थ, जुगुप्व, गोपाय्यात्, अगोपीत्-अगौप्सीत्, अगौप्ताम् ।

(३) अजन्त धातुओं में उदात्तों का तथा हलन्तों में अनुदात्तों का परिगणन क्यों किया गया है ?

(४) मन्य, पद्य, विन्द्, विनद्, विद्य, बुध्य, स्विद्य, सिध्य, श्लिष्य— इन में विकरणादि-निर्देश का क्या प्रयोजन है ?

(५) गुपूँ धातु की लिँट्, लुँङ्, लोँट् और आ० लिँङ् में रूपमाला लिखें ।

(६) 'अतो लोपः' सूत्र की व्याख्या करते हुए नवीन और प्राचीन दोनों अर्थों पर प्रकाश डालें ।

(७) 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र की सोदाहरण व्याख्या करते हुए भाष्यसम्मत प्राचीन अर्थ पर प्रकाश डालें ।

(८) वरदराज ने 'द्विर्वचनेऽचि' की वृत्ति में 'परे' शब्द को क्यों हटा दिया है ?

(९) 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' में 'उपदेशे' पद को दोनों ओर सम्बद्ध करने का क्या प्रयोजन है ?

(१०) अनुप्रयोग किन किन धातुओं का होता है ? सूत्र में उन सब का निर्देश कैसे किया गया है ?

(११) (क) अजन्तों में अनुदात्त धातु कौन २ सी हैं ?

(ख) हलन्तों में अनुदात्त धातु कौन २ सी हैं ?

(१२) (क) 'नेटि' सूत्र वद् व्रज् धातुओं में वृद्धि-निषेध क्यों नहीं करता ?

(ख) तृप् और दृप् धातुओं को अनुदात्त क्यों माना गया है ?

(ग) 'आम्' को मित् क्यों नहीं करते ?

(घ) 'आमः' सूत्र में 'लिः' का अनुवर्त्तन क्यों नहीं करते ?

(ङ) 'गोपायाम्' को पद कैसे माना जाता है ?

(च) 'वसिः प्रसारणी' का क्या अभिप्राय है ?

(१३) निम्न सूत्रों की व्याख्या करें—

स्वरति-सूति०, एकाच उपदेशे०, उरत्, झलो झलि, नेटि ।

[लघु०] क्षि क्षये ॥१३॥ क्षयति । चिक्षाय, चिक्षियतुः, चिक्षियुः । 'एकाचः०' (४७५) इति निषेधे प्राप्ते—

अर्थः—'क्षि' धातु 'क्षीण होना या नष्ट होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—यह धातु अकर्मक है । लँट् में शप्, 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से इकार को एकार गुण तथा 'एचोऽयवायावः' (२२) से एकार को अयादेश हो जाता है—क्षयति, क्षयतः, क्षयन्ति आदि ।

लिँट्—प्रथमपु० के एकवचन में तिप् को णल् हो कर 'क्षि+अ' इस स्थिति में द्वित्व, अभ्यास को चुत्व, हलादिशेष, 'अचो ञ्णिति' (१८२) से इकार को ऐकार वृद्धि तथा 'एचोऽयवायावः' से ऐकार को आयादेश करने से 'चिक्षाय' रूप सिद्ध होता है । द्विवचन में द्वित्व तथा अभ्यासकार्य हो कर 'चिक्षि+अतुस्' इस स्थिति में धातु के असंयोगान्त होने से 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) द्वारा अतुस् के कित्त्व के कारण 'क्ङिति च' (४३३) से गुण का निषेध हो जाता है । अब 'अचि श्नु०' (१९९) से इकार को इयङ् आदेश करने पर चिक्षियतुः' रूप सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि यहां 'क्ष्' इस संयोग के पूर्व रहने के कारण इकार को 'एरनेकाचः०' (२००) से यण् नहीं हुआ । बहुवचन में भी इसी प्रकार 'चिक्षियुः' रूप बनता है ।

मध्यमपु० के एकवचन में सिप् को थल् आदेश हो कर 'क्षि+थ' इस स्थिति में 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (४०१) से इट् का आगम प्राप्त होता है परन्तु 'ऊदॄदन्तैः०' के अनुसार 'क्षि' धातु के अनुदात्त होने के कारण 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (४७५) से उस का निषेध हो जाता है । इस पर अग्रिमसूत्रों से व्यवस्था करते हैं—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—(४७६) कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु-द्रु-स्रु-श्रुवो लिँटि ।७।२।१३।।

क्रादिभ्य एव लिँट इण्न स्याद् अन्यस्मादनिटोऽपि स्यात् ।।

अर्थः—कृ, सृ, भृ, वृ, स्तु, द्रु, स्रु, श्रु—इन आठ धातुओं से परे ही लिँट् को इट् न हो, अन्य अनिट् धातुओं से परे भी उसे इट् का आगम हो जाये।

व्याख्या—कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु-द्रु-स्रु-श्रुवः ।५।१। लिँटि ।७।१। न इत्यव्ययपदम्। इट् ।१।१। ('नेड् वशि कृति' से)। इट् का आगम धातु को नहीं अपितु प्रत्यय को हुआ करता है अतः 'लिँटि' का षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम हो कर 'लिँटः' बन जाता है। अर्थः—(कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु-द्रु-स्रु-श्रुवः) कृ, सृ, भृ, वृ, स्तु, द्रु, स्रु और श्रु—इन आठ धातुओं से परे (लिँटः) लिँट् को (इट्) इट् का आगम (न) नहीं होता। 'कृ' में कोई अनुबन्ध नहीं लगाया गया अतः 'डुकृञ् करणे' तथा 'कृञ् हिंसायाम्' दोनों का ग्रहण होता है। सृ—सृ गतौ। 'भृ' के निरनुबन्धपाठ से 'भृञ् भरणे' तथा 'डुभृञ् धारणपोषणयोः' दोनों का ग्रहण होता है। इसी प्रकार 'वृ' में भी कोई अनुबन्ध नहीं लगा अतः 'वृङ् सम्भक्तौ' तथा 'वृञ् वरणे' दोनों का ग्रहण होता है। स्तु—ष्टुञ् स्तुतौ। द्रु—द्रु गतौ। स्रु—स्रु गतौ। श्रु—श्रु श्रवणे। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इन आठों में से प्रथम तीन (कृ, सृ, भृ) धातुओं में 'एकाच उपदेशेऽनु०' (४७५) द्वारा तथा चौथे 'वृ' में 'श्र्युकः किति' (६५०) द्वारा लिँट् को स्वतः ही इट् का निषेध हो जाता है पुनः इस सूत्र से निषेध करने का क्या प्रयोजन? इसका उत्तर यह है कि 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' (सिद्ध होने पर यदि कोई बात दुहराई जाये तो वह नियमार्थ हो जाती है) इस न्यायानुसार यहां इनका ग्रहण नियम के लिये है। इस नियम का स्वरूप इस प्रकार होगा—"कृ आदि धातुओं से परे ही लिँट् को इट् का आगम न हो अर्थात् इन से अतिरिक्त अन्य अनिट् (अनुदात्त) धातुओं से परे लिँट् को इट् का आगम हो जाये"[1]। इसके अनुसार कृ आदियों से अतिरिक्त धातुओं में लिँट् परे रहते जहां इट् का निषेध प्रसक्त है वहां भी इट् हो जायेगा। यथा भिदिर् विदारणे, छिदिर् द्वैधीकरणे (रुधा० उभय०) ये दोनों धातु अनुदात्त हैं, इन से परे 'एकाच उपदेशेऽनु०' (४७५) द्वारा

---

१. 'यदि कृञ् आदियों से इण्निषेध करना पड़े तो वह केवल लिँट् में ही हो' ऐसा नियम क्यों नहीं समझ लेते? इस का उत्तर यह है कि 'कृते ग्रन्थे' (४.३.११६), 'तमधीष्टो भृतो भूतो०' (५.१.७६), 'परिवृतो रथः' (१०३५) इत्यादि सूत्रों में 'कृते, भृतः, परिवृतः' आदि पद स्पष्ट बता रहे हैं कि इस प्रकार का नियम नहीं किया जा सकता, अन्यथा ये उपपन्न न हो सकेंगे। अतः पूर्वोक्त नियम ही सही है।

लिँट् में इट् का निषेध प्राप्त था परन्तु अब इस नियम के कारण इट् होकर 'बिभिदिव, बिभिदिम; चिच्छिदिव, चिच्छिदिम' रूप सिद्ध हो जाते हैं ।

प्रश्न—कृ, सृ, भृ, वृ—इन चार को तो आप नियमार्थ मान रहे हैं परन्तु अवशिष्ट स्तु आदियों को नियमार्थ क्यों नहीं मानते ? वे भी तो अनुदात्त हैं और उन में भी '**एकाच उपदेशेऽनु०**' (४७५) से लिँट् में इण्निषेध सिद्ध था, '**सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः**' के अनुसार वे भी नियमार्थ क्यों नहीं ?

उत्तर—उनका ग्रहण तो सप्रयोजन है, क्योंकि जब '**ऋतो भारद्वाजस्य**' (४८२) नियम से थल् में पाक्षिक इट् प्राप्त होता है तब उसके निषेध के लिये उनका यहां ग्रहण आवश्यक है। कृ, सृ, भृ, वृ में तो ऋदन्त होने से '**ऋतो भारद्वाजस्य**' द्वारा वैकल्पिक इट् प्राप्त ही नहीं अतः वे ही नियमार्थ हो सकते हैं स्तु-द्रु आदि नहीं। स्तु-द्रु आदियों का यहां ग्रहण दो प्रयोजनों के लिये समझना चाहिये—

(१) थल् में भारद्वाजनियम से प्राप्त इट् के विकल्प का वारण करना। यथा—**तुष्टोथ, दुद्रोथ, सुस्रोथ, शुश्रोथ** ।

(२) व, म, से, ध्वे, वहि, महिङ् में क्रादिनियम से प्राप्त इट् का वारण करना। यथा—**तुष्टुव, तुष्टुम; तुष्टुषे, तुष्टुध्वे, तुष्टुवहे, तुष्टुमहे** आदि ।

तात्पर्य यह है कि लिँट् में स्तु आदियों को कहीं भी इट् न हो—इसलिये इन का यहां ग्रहण किया गया है ।

[क्रादिनियम[1] पर एक विशेष विचार]

यहां पर शंका उत्पन्न होती है कि क्या इट् का जहां स्पष्टतः 'न' कह कर निषेध किया गया हो उस अनिट् धातु में यह नियम प्रवृत्त होता है या जहां इट् का विकल्प होता है उस पाक्षिक अनिट् धातु में भी यह नियम प्रवृत्त होता है ? तत्त्वबोधिनीकार **श्रीज्ञानेन्द्रस्वामी** ने लिखा है कि यह नियम केवल उन अनिट् धातुओं के लिये ही है जिनमें 'न' कहकर इट् का बिल्कुल निषेध हो जाता है यथा—भिद्, छिद् आदियों में '**एकाच उपदेशे०**' (४७५) से इट् का बिल्कुल निषेध हो जाता है तब इस नियम से लिँट् में इट् का पुनर्विधान किया जाता है। ऊदित् धातुओं में जहां '**स्वरति०**' (४७६) सूत्र से इट् का विकल्प किया जाता है वहां इस नियम के द्वारा इट् नहीं करना चाहिये, क्योंकि '**अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा**' (अन्तरशून्य कार्य के लिये ही विधान वा निषेध किया जाता है)। यहां अन्तरशून्य कार्य '**नेड् वशि कृति**' (८००) द्वारा प्रक्रान्त 'न' ही है। '**स्वरति०**' (४०६) वाला 'वा' तो आगे चल कर बहुत दूर

---

१. क्रादिनियम को कई लोग भ्रान्तिवश 'क्र्यादिनियम' लिखते वा पढ़ते हैं, उन से सावधान रहना चाहिये ।

में कहा गया है अतः उसके विषय में यह नियम लागू नहीं होता, इसलिये 'जुगोपिथ-जुगोप्थ' यहां दो रूप बनेंगे। परन्तु महाभाष्य में कृतभूरिपरिश्रम नागेश आदि वैयाकरण इस पक्ष को भाष्यसम्मत नहीं मानते। उनका कथन है कि 'उपदेशेऽत्वतः' (४८१) के भाष्य से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि यह नियम उन सब धातुओं पर लागू होता है जिनमें इट् का निषेध चाहे 'न' कह कर किया गया हो या 'वा' कह कर। इस प्रकार वे लोग केवल 'जुगोपिथ' रूप को ही सही मानते हैं 'जुगोप्थ' को नहीं। विशेष-जिज्ञासु उनका पक्ष लघुशब्देन्दुशेखर में इसी सूत्र पर देख सकते हैं। (७.२.६२) सूत्र की काशिका में भी इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

'क्षि' धातु 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' के अनुसार अनिट् है। अतः क्रादिनियमानुसार इससे परे लिँट् के वलादि (थल्, व, म) प्रत्ययों में इट् की पुनः प्राप्ति हो जाती है। परन्तु थल् के विषय में कुछ विशेष है जिसे अगले तीन सूत्रों में स्पष्ट करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(४८०) **अचस्तास्वत् थल्यनिटो नित्यम्** ।७।२।६१॥

उपदेशेऽजन्तो यो धातुस्तासौ नित्याऽनिट्, ततस्थल इण्न ॥

अर्थः—उपदेश में अजन्त धातु, जो तास् में नित्य अनिट् हो, उससे परे थल् को इट् का आगम नहीं होता।

व्याख्या—अचः ।५।१। तास्वत् इत्यव्ययपदम्। थलि ।७।१। अनिटः ।५।१। नित्यम् इति क्रियाविशेषणम्[1]। उपदेशे ।७।१। ('उपदेशेऽत्वतः' सूत्र से इसका अपकर्षण होता है)। तासि ।७।१। ('तासि च क्लृपः' से)। इट् ।१।१। ('गमेरिट्०' से)। न इत्यव्ययपदम् ('न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' से)। यहां पर 'धातोः' पद का अध्याहार किया जाता है क्योंकि धातु से परे ही थल् का आना सम्भव है। 'अचः' पद 'धातोः' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि होकर 'अजन्ताद् धातोः' बन जाता है। 'तास्वत्' पद में सप्तम्यन्त से वतिँप्रत्यय किया गया है—तासौ इव तास्वत्, तास् में की तरह। अर्थः—(उपदेशे) उपदेश में ऐसी (अचः=अजन्ताद्धातोः) अजन्त धातु जो (तासौ नित्यम् अनिटः) तास् में नित्य अनिट् हो उस से परे (तास्वत् थलि इट् न) जैसे तास् में इट् नहीं होता वैसे थल् में भी नहीं होता। यह सूत्र क्रादिनियम से प्राप्त इट् आगम का आंशिक अपवाद है। उदाहरण यथा—'क्षि' धातु उपदेश में अजन्त है, तास् (क्षेता आदि) में 'एकाचः०' (४७५) के अनुसार नित्य अनिट् है। इस से क्रादिनियम के अनुसार लिँट् में इट् प्राप्त था परन्तु प्रकृतसूत्र से थल् में उसका निषेध हो जाता है (अभी आगे चल कर विकल्प होना है वहीं रूप लिखेंगे)।

---

१. नित्यं यथा भवति तथाऽनिटः।

इस सूत्र में यदि 'उपदेशे' पद न लाते तो 'जहर्थ' रूप न बन सकता । तथाहि— 'हृ' धातु से नित्यत्व तथा परत्व के कारण थल् में सर्वप्रथम गुण हो कर[1]—हर्+थ । अब यहां क्रादिनियम से प्राप्त इडागम को यह सूत्र रोक नहीं सकता, क्योंकि धातु तो अब अजन्त रही नहीं । परन्तु यदि सूत्र में 'उपदेशे' पद रखते हैं तो यह सूत्र निर्बाध प्रवृत्त हो जाता है क्योंकि चाहे अब धातु हलन्त हो गई है परन्तु उपदेश में तो अजन्त थी इसी बात को लेकर श्रीहरदत्त 'पदमञ्जरी' में लिखते हैं—

"उपदेशग्रहोऽप्यत्र वक्ष्यमाणोऽपकृष्यते ।
गुणे नित्ये कृतेऽप्येष ऋदन्ते प्राप्नुयात्कथम् ॥"

इस सूत्र में यदि 'अचः' अर्थात् अजन्त का उल्लेख न करते तो हलन्त धातुओं में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति हो कर अनिष्ट उत्पन्न हो जाता । यथा—(भिद्) बिभेदिथ, (छिद्) चिच्छेदिथ, यहां क्रादिनियम से प्राप्त इट् का निषेध हो जाता ।

'तास् में अनिट्' कहने से 'बभूविथ' में इट् का निषेध नहीं होता । भू धातु क्त्वा में (भूत्वा) 'श्रयुकः किति' (६५०) से कित् होने के कारण अनिट् है परन्तु तास् में अनिट् नहीं वहां (भविता) इट् होता है अतः थल् में निषेध नहीं होता ।

तास् में 'नित्य' अनिट् कहने से 'स्वृ' धातु के थल् में इस निषेध की प्रवृत्ति नहीं होती । स्वृ धातु 'स्वरतिसूति०' (४७६) के अनुसार तास् में विकल्प कर के अनिट् है, वहां इसके 'स्वरिता, स्वर्ता' दो रूप बनते हैं । अतः थल् में इस निषेध की प्रवृत्ति न हो कर 'सस्वरिथ, सस्वर्थ' दो रूप बनेंगे ।

तास्वत् अर्थात् तास् में की तरह थल् में इट् न हो । यहां 'तास्वत्' कथन का यह अभिप्राय है कि जैसे तास् में इट् नहीं होता वैसे थल् में भी न हो । यदि किसी धातु का तास् में प्रयोग ही न होगा तो उसके थल् में यह निषेध प्रवृत्त न होगा । यथा 'लिट्यन्यतरस्याम्' (५५३) द्वारा अद् धातु को लिँट् में घस्लृँ आदेश होता है, यह आदेश तास् में तो होता नहीं अतः तास् में प्रयोग के न होने से इस सूत्र द्वारा थल् में निषेध न होगा । वहां इसका 'जघसिथ' रूप निर्बाध बन जायेगा ।

यह सूत्र थल् में ही इट् का निषेध करता है अन्यत्र नहीं । अतः 'चिक्षियिव, चिक्षियिम' में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जायेगा ।

अब इसी प्रसङ्ग का अगला सूत्र दर्शाते हैं—

[लघु०] निषेधसूत्रम्—(४८१) उपदेशेऽत्वतः ।७।२।६२॥

उपदेशेऽकारवतस्तासौ नित्यानिटः परस्य थल इण्न स्यात् ॥

---

१. ध्यान रहे कि यहां 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) सूत्र गुण को नहीं रोक सकता क्योंकि अच् परे नहीं है ।

अर्थः—उपदेश में ह्रस्व अकार वाली धातु जो तास् में नित्य अनिट् हो उससे परे थल् को इट् न हो ।

व्याख्या—उपदेशे ।७।१। अत्वतः ।५।१। नित्यम् इति क्रियाविशेषणम् । अनिटः ।५।१। थलि ।७।१। तास्वत् इत्यव्ययपदम् ('अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम्' से)। तासि ।७।१। ('तासि च क्लृपः' से)।इट् ।१।१। ('गमेरिट्०' से) न इत्यव्ययपदम्('न वृद्भ्य-श्चतुर्भ्यः' से) । यहां पर भी पूर्ववत् 'धातोः' का अध्याहार किया जाता है। अत् (ह्रस्वोऽकारः) अस्त्यस्मिन्निति अत्वान्, तस्य=अत्वतः, 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इति मतुप्प्रत्ययः । अर्थः—(उपदेशे) उपदेश में (अत्वतः) ह्रस्व अकार वाली (धातोः) धातु जो (तासौ) तास् में (नित्यम्) नित्य (अनिटः) अनिट् हो उससे परे (तास्वत् थलि इट् न) जैसे तास् में इट् नहीं होता वैसे थल् में भी इट् न हो । पिछले सूत्र में अजन्त धातुओं के विषय में निषेध किया गया था अब इस सूत्र के द्वारा ह्रस्व अकार वाली धातुओं के विषय में भी निषेध किया जाता है । ह्रस्व अकार वाली धातु यथा—पच्, शक्, रञ्ज् आदि । ये सब तास् में नित्य अनिट् हैं, तास् में इनके 'पक्ता, शक्ता, रङ्क्ता' आदि रूप बनते हैं । अतः इन से परे थल् में भी इट् का निषेध हो जायेगा—पपक्थ, शशक्थ, ररङ्क्थ ।

इस सूत्र में यदि 'उपदेशे' पद का ग्रहण नहीं करेंगे तो 'कृष विलेखने' के थल् में 'चकर्षिथ' यह अभीष्ट रूप न बन सकेगा । तथाहि 'कृष्+थल्' यहां परत्व तथा नित्यत्व के कारण प्रथम लघूपधगुण हो कर—कर्ष्+थ । अब यदि 'उपदेशे' नहीं कहते तो यहां क्रादिनियम से प्राप्त इडागम को यह सूत्र रोक लेता है, क्योंकि अब धातु अत्-वाली बन चुकी है । परन्तु यदि सूत्र में 'उपदेशे' पद रखते हैं तो यह सूत्र बाधक नहीं बनता । चाहे धातु अब अत्-वाली बन चुकी है, उपदेश में तो वह अत्-वाली न थी ऋकारोपध थी । अतः क्रादिनियम निर्बाध प्रवृत्त हो जायेगा ।

यहां 'अत्वतः' (ह्रस्व अकार वाली धातु) कहने से 'रराधिथ, बिभेदिथ, चिच्छेदिथ' आदियों में निषेध न होगा, वहां क्रादिनियम से नित्य इट् हो जायेगा ।

'तास् में नित्य अनिट्' कहने से 'अञ्जूँ' धातु के थल् में यह निषेध प्रवृत्त नहीं होता, 'आनञ्जिथ' रूप बनता है । अञ्जूँ धातु तास् में नित्य अनिट् नहीं अपितु 'स्व-रतिसूतिसूयति०' (४०६) से वहां वैकल्पिक इट् का विधान है।

पूर्वोक्त दोनों सूत्रों के द्वारा तास् में नित्यानिट् अजन्त तथा अत्-वाली धातुओं से थल् में इट् का निषेध किया गया है । अब अग्रिमसूत्र द्वारा इस विषय में भारद्वाज-मुनि का मत दर्शाते हैं—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—(४८२) ऋतो भारद्वाजस्य ।७।२।६३।।

तासौ नित्यानिट ऋदन्तादेव थलो नेट्, भारद्वाजस्य मते । तेन अन्य-

स्य स्यादेव ॥

अर्थः—भारद्वाज ऋषि का मत है कि तास् में नित्यानिट् केवल ऋदन्त धातु से परे ही थल् को इट् न हो, अन्य धातुओं के थल् को इट् हो जाये ।

व्याख्या—ऋतः ।५।१। भारद्वाजस्य ।६।१। तासि ।७।१। ('तासि च क्लृपः' से) 'तास्वत्थल्यनिटो नित्यम् इट् न' इन पदों का पूर्ववत् अनुवर्त्तन होता है । अर्थः—(तासि) तास् में (नित्यम्) नित्य (अनिटः) अनिट् (ऋतः=ऋदन्ताद् धातोः) ऋदन्त धातु से परे (तास्वत् थलि इट् न) जैसे तास् में इट् नहीं होता वैसे थल् में भी इट् न हो(भारद्वाजस्य) भारद्वाज के मत में । ऋदन्त से थल् में इट् का निषेध 'अच-स्तास्वत्०' (४८०) सूत्र से सिद्ध था ही, पुनः उसके लिये भारद्वाज के मत का उल्लेख व्यर्थ है । अतः 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' के अनुसार यह सूत्र नियमार्थ है । 'तास् में नित्यानिट् केवल ऋदन्त धातु से परे ही थल् को इट् न हो, अन्य धातुओं से परे थल् को इट् हो जाये' इस प्रकार के नियम से भारद्वाज के मत में ऋदन्तभिन्न धातुओं के थल् में इट् का विधान सिद्ध हो जाता है । पाणिनि आदि आचार्य अजन्तधातु मात्र से निषेध करते हैं परन्तु भारद्वाज केवल ऋदन्तों से ही निषेध करता है अन्यों से नहीं । हमें तो सब ऋषि प्रमाण हैं अतः ऋदन्तभिन्न धातुओं से परे थल् को इट् का आगम होगा भी (भारद्वाज के मत में) और नहीं भी होगा (अन्य आचार्यों के मत में), इस प्रकार विकल्प सिद्ध हो जायेगा । उदाहरणार्थ—या प्रापणे (जाना, अदा० परस्मै०) धातु को लीजिये । यह तास् में नित्य अनिट् है – याता, यातारौ, यातारः । लिँट् में क्रादिनियम से इसे इट् प्राप्त है, किन्तु थल् में 'अचस्तास्वत्०' (४८०) से इण्निषेध होता है । परन्तु भारद्वाजमुनि ऋदन्तभिन्न होने के कारण इस से परे थल् में इट् का विधान करते हैं । इस प्रकार भारद्वाज के मत में 'ययिथ' तथा अन्य आचार्यों के मत में 'ययाथ' ये दो रूप सिद्ध हो जाते हैं ।

इसी प्रकार प्रकृत 'क्षि' धातु में क्रादिनियमानुसार लिँट् में सर्वत्र इट् प्राप्त होता है । 'अचस्तास्वत्०' (४८०) से थल् में उसका निषेध हो जाता है । परन्तु ऋद-न्तभिन्न होने के कारण भारद्वाज इस में इट् का विधान मानते हैं । इस प्रकार थल् में विकल्प से इट् हो कर इट्पक्ष में द्वित्वादि, गुण और 'एचोऽयवायावः' (२२) से अया-देश करने पर 'चिक्षयिथ' तथा इट् के अभाव में 'चिक्षेथ' दो रूप बन जाते हैं ।

अब पूर्वोक्त चारों सूत्रों का सार छात्रों की सुविधा के लिये एक कारिका में बद्ध करते हैं—

[लघु०] अजन्तोऽकारवान् वा यस्तास्यनिट् थलि वेडयम् ।
ऋदन्त ईदृङ् नित्याऽनिट् क्राद्यन्यो लिटि सेड् भवेत् ॥

चिक्षयिथ-चिक्षेथ; चिक्षियथुः, चिक्षिय । चिक्षाय-चिक्षय, चिक्षियिव-चिक्षियिम । क्षेता । क्षेष्यति । क्षयतु । अक्षयत् । क्षयेत् ॥

अर्थः—तास् में नित्यानिट् अजन्त तथा ह्रस्वाकारयुक्त धातु से परे थल् में इट् का विकल्प हो जाता है। इस प्रकार की ऋदन्त धातु थल् में नित्य अनिट् होती है। कृ, सृ, भृ आदि आठ धातुओं से अतिरिक्त सब धातु लिँट् में सेट् होते हैं।

व्याख्या—यह कारिका भट्टोजिदीक्षितनिर्मित है और पूर्वोक्त चारों सूत्रों के विषय को ध्यान में रख कर बनाई गई है। इस में निम्न तीन नियमों का प्रतिपादन किया गया है—

(१) तास् में नित्य अनिट् रहनेवाली धातु यदि अजन्त[1] या ह्रस्व अकार से युक्त होगी तो थल् में इट् का विकल्प हो जायेगा। कारण कि 'अचस्तास्वत्०' (४८०) तथा 'उपदेशेऽत्वतः' (४८१) सूत्रों द्वारा ऐसी धातुओं से परे थल् में इट् का निषेध होता है, परन्तु 'ऋतो भारद्वाजस्य' (४८२) के अनुसार भारद्वाजमुनि ऐसी धातुओं से परे थल् में इट् का विधान मानते हैं। इस प्रकार थल् में इट् का विकल्प फलित हो जाता है। अजन्त धातु यथा क्षि। इस के थल् में इट् का विकल्प हो कर 'चिक्षयिथ-चिक्षेथ' दो रूप बनते हैं। ह्रस्व अकार वाली धातु यथा—पच् शक् भञ्ज् आदि। इन के थल् में इट् का विकल्प हो कर 'पेचिथ-पपक्थ, शेकिथ-शशक्थ, बभञ्जिथ-बभङ्क्थ' आदि दो-दो रूप बनते हैं।

(२) तास् में नित्य अनिट् रहने वाली धातु यदि ऋदन्त है तो उस से परे थल् में इट् कदापि नहीं होगा। कारण कि ऐसी धातुओं में 'अचस्तास्वत्०' (४८०) सूत्र से पाणिनि आदि आचार्य तथा 'ऋतो भारद्वाजस्य' (४८२) से भारद्वाजमुनि सब एकस्वर से थल् में इट् का निषेध करते हैं। उदाहरणार्थ 'हृ' धातु ऋदन्त है। इस से परे थल् में इट् का सर्वथा निषेध हो कर 'जहर्थ' यह एक रूप बनेगा।

(३) कृ, सृ, भृ, वृ, स्तु, द्रु, स्रु, श्रु—इन आठ धातुओं को छोड़ कर शेष सब अनुदात्त धातु लिँट् में सेट् हो जाते हैं। यह सब क्रादिनियम (४७९) के कारण होता है। उदाहरणार्थ भिद्, छिद् धातु क्रादि आठ धातुओं से भिन्न हैं अतः अनुदात्त होने पर भी इन से परे लिँट् में नित्य इट् का आगम हो जायेगा—बिभेदिथ, बिभिदिव, बिभिदिम; चिच्छेदिथ, चिच्छिदिव, चिच्छिदिम। क्षि, पच् आदि धातुएं भी क्रादि धातुओं से भिन्न हैं अतः इन से परे भी लिँट् सेट् होगा। परन्तु इतना अन्तर है कि लिँट् के थल् में पूर्वोक्त दो नियमों के कारण इन से परे विकल्प कर के इट् होगा। थल् के अतिरिक्त अन्यत्र लिँट् में ये सेट् हैं ही—चिक्षियिव, चिक्षियिम; पेचिव, पेचिम आदि। इस तृतीय नियम से यह भी समझ लेना चाहिये कि इन कृ, सृ, भृ आदि आठ धातुओं को लिँट् में कहीं भी इट् नहीं होता। यथा—चकर्थ,

---

१. अजन्त से अभिप्राय ऋदन्तभिन्न अजन्त से है। ऋदन्तों के लिये दूसरा नियम है।

चक्रव, चक्रम; ससर्थ, ससृव, ससृम; बभर्थ, बभृव, बभृम आदि ।

लिँट् मध्यमपु० के द्विवचन में पूर्ववत् 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से कित्व के कारण गुण का निषेध होकर 'अचि श्नु०' (१६६) से इकार को इयङ् आदेश हो जाता है—चिक्षियथुः । इसी प्रकार बहुवचन में—चिक्षिय ।

उत्तमपु० के एकवचन णल् में 'णलुत्तमो वा' (४५६) से णित्व का विकल्प है । णित्वपक्ष में 'अचो ञ्णिति' (१८२) से वृद्धि ऐकार और 'एचोऽयवायावः' (२२) से ऐकार को आयादेश हो कर—चिक्षाय । णित्वाभाव में 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से गुण एकार और पुनः एकार को अयादेश करने से—चिक्षय । इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं । वस् और मस् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो कर धातु के इकार को इयङादेश हो जाता है—चिक्षियिव, चिक्षियिम । लिँट् में रूपमाला यथा—चिक्षाय, चिक्षियतुः, चिक्षियुः । चिक्षयिथ-चिक्षेथ, चिक्षियथुः, चिक्षिय । चिक्षाय-चिक्षय, चिक्षियिव, चिक्षियिम ।

लुँट्—में 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से सर्वत्र गुण हो जाता है—क्षेता, क्षेतारौ, क्षेतारः । क्षेतासि, क्षेतास्थः, क्षेतास्थ । क्षेतास्मि, क्षेतास्वः, क्षेतास्मः । लृँट्—क्षेष्यति, क्षेष्यतः, क्षेष्यन्ति । क्षेष्यसि, क्षेष्यथः, क्षेष्यथ । क्षेष्यामि, क्षेष्यावः, क्षेष्यामः । लोँट्—क्षयतु-क्षयतात्, क्षयताम्, क्षयन्तु । क्षय-क्षयतात्, क्षयतम्, क्षयत । क्षयाणि, क्षयाव, क्षयाम । लँङ्—अक्षयत्, अक्षयताम्, अक्षयन् । अक्षयः, अक्षयतम्, अक्षयत । अक्षयम्, अक्षयाव, अक्षयाम । वि० लिँङ्—क्षयेत्, क्षयेताम्, क्षयेयुः । क्षयेः, क्षयेतम्, क्षयेत । क्षयेयम्, क्षयेव, क्षयेम ।

आ० लिँङ्—में 'क्षि+यास् त्' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४८३) अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ।७।४।२।।

अजन्ताङ्गस्य दीर्घो यादौ प्रत्यये, न तु कृत्सार्वधातुकयोः । क्षीयात् ।।

अर्थः—यकार जिस के आदि में हो ऐसे प्रत्यय के परे होने पर अजन्त अङ्ग को दीर्घ हो जाता है परन्तु कृत् और सार्वधातुक प्रत्यय में नहीं होता ।

व्याख्या—अकृत्सार्वधातुकयोः ।७।२। दीर्घः ।१।१ यि ।१।१। ('अयङ् यि क्ङिति' से) 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है । प्रत्यय के विना अङ्गसञ्ज्ञा सम्भव नहीं अतः 'प्रत्यये' का अध्याहार कर तदादिविधि करने से 'यकारादौ प्रत्यये' बन जाता है । यहां दीर्घ का विधान होने से 'अचश्च' (१.२.२८) सूत्रद्वारा 'अचः' पद उपस्थित हो जाता है । इसे 'अङ्गस्य' का विशेषण बना कर तदन्तविधि करने से 'अजन्तस्य अङ्गस्य' उपलब्ध हो जाता है । कृत् च सार्वधातुकञ्च कृत्सार्वधातुके, न कृत्सार्वधातुके,—अकृत्सार्वधातुके, तयोः= अकृत्सार्वधातुकयोः । अर्थः—(अचः=अजन्तस्य) अजन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश हो जाता है (यि=यकारादौ प्रत्यये) यकारादि प्रत्यय परे हो

तो (अकृत्सार्वधातुकयोः) परन्तु कृत् या सार्वधातुक परे होने पर नहीं होता। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह दीर्घ अजन्त अङ्ग के अन्त्य अच् के स्थान पर ही होता है। उदाहरण यथा—

'क्षि+यास् त्' यहां पर 'यास्' यकारादि प्रत्यय है, यह कृत् वा सार्वधातुक नहीं किन्तु 'लिँङाशिषि' (४३१) से इस की आर्धधातुकसञ्ज्ञा है, अतः इस के परे रहते 'क्षि' इस अजन्त अङ्ग के अन्त्य अल्-इकार को दीर्घ हो कर संयोगादि सकार का लोप (३०६) करने पर 'क्षीयात्' प्रयोग सिद्ध होता है।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण—चीयते, जीयते, स्तूयते, जीयात्, स्तूयात्, चेचीयते, तोष्टूयते, भृशायते आदि हैं। कृत्प्रत्यय अथवा सार्वधातुकप्रत्यय परे होने पर इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। यथा—प्र+कृ+क्त्वा, प्र+कृ+ल्यप्—यहां ल्यप् (य) यकारादि प्रत्यय है परन्तु 'कृदतिङ्' (३०२) के अनुसार इस की कृत्सञ्ज्ञा है अतः इस के परे रहते दीर्घ नहीं होता तब 'ह्रस्वस्य पिति०' (७७७) से तुक् का आगम हो कर 'प्रकृत्य' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'चिनुयात्, शृणुयात्' आदि में विधिलिँङ् का यासुट् सार्वधातुक होता है अतः वहाँ पर भी इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती।

आ० लिँङ् में 'क्षि' की रूपमाला—क्षीयात्, क्षीयास्ताम्, क्षीयासुः। क्षीयाः, क्षीयास्तम्, क्षीयास्त। क्षीयासम्, क्षीयास्व, क्षीयास्म।

लुँङ्—में 'अक्षि+स्+ईत्' इस अवस्था में 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से गुण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से वृद्धि का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४८४) सिँचि वृद्धिः परस्मैपदेषु ।७।२।१॥

इगन्ताङ्गस्य वृद्धिः स्यात् परस्मैपदे सिँचि। अक्षैषीत्। अक्षेष्यत्॥

अर्थः—परस्मैपद प्रत्यय जिस से परे हो ऐसे सिँच् के परे रहते इगन्त अङ्ग के स्थान पर वृद्धि हो।

व्याख्या—सिँचि ।७।१। वृद्धिः ।१।१। परस्मैपदेषु ।७।३। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। यहां 'वृद्धिः' कह कर वृद्धि का विधान किया गया है अतः 'इको गुणवृद्धी' (१.१.३) परिभाषा से 'इकः' पद उपस्थित हो कर 'अङ्गस्य' का विशेषण बन जाता है। तब तदन्तविधि करने पर 'इगन्तस्य अङ्गस्य' प्राप्त होता है। अर्थः—(परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्ययों के परे होने पर (सिँचि) जो सिँच्, उस के परे रहते (इकः=इगन्तस्य) इगन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि हो जाती है। अलोऽन्त्यपरिभाषा के अनुसार यह वृद्धि इगन्त अङ्ग के अन्त्य अल्-इक् के स्थान पर होती है। यह वृद्धि यद्यपि बहिरङ्ग है और गुण अन्तरङ्ग तथापि वचनसामर्थ्य से यह वृद्धि उस गुण का बाध कर लेती है। अन्यथा इसे कहीं अवकाश ही न मिले।

'अक्षि+स्+ईत्' यहां पर क्षि' यह इगन्त अङ्ग है इस से परे परस्मैपद प्रत्यय (ईत्) विद्यमान है अतः इगन्त अङ्ग के अन्त्य इकार को ऐकार वृद्धि होकर 'आदेश-प्रत्यययोः (१५०) से षत्व करने पर 'अक्षैषीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। लुँङ् में रूपमाला यथा—अक्षैषीत्, अक्षैष्टाम्, अक्षैषुः। अक्षैषीः, अक्षैष्टम्, अक्षैष्ट। अक्षैषम्, अक्षैष्व, अक्षैष्म।

लृँङ्—में सर्वत्र गुण हो जाता है। अक्षेष्यत्, अक्षेष्यताम्, अक्षेष्यन्। अक्षेष्यः, अक्षेष्यतम्, अक्षेष्यत। अक्षेष्यम्, अक्षेष्याव, अक्षेष्याम।

इसी प्रकार 'जि जये' (जीतना, भ्वा० परस्मै०) के रूप बनते हैं। लँट्—जयति, जयतः, जयन्ति। लिँट्—जिगाय, जिग्यतुः, जिग्युः। जिगयिथ-जिगेथ, जिग्यथुः, जिग्य। जिगाय-जिगय, जिग्यिव, जिग्यिम[1]। लुँट्—जेता, जेतारौ, जेतारः। लृँट्—जेष्यति, जेष्यतः, जेष्यन्ति। लोँट्—जयतु-जयतात्, जयताम्, जयन्तु। लँङ्—अजयत्, अजयताम्, अजयन्। वि० लिँङ्—जयेत्, जयेताम्, जयेयुः। आ० लिँङ् जीयात्, जीयास्ताम्, जीयासुः। लुँङ्—अजैषीत्, अजैष्टाम्, अजैषुः। लृँङ्—अजेष्यत्, अजेष्यताम्, अजेष्यन्। उपसर्गयोग—विजयते=जीतता है। पराजयते=पराजित करता है। 'विपराभ्यां जेः' (७३५) से आत्मनेपद हो जाता है।

[लघु०] तप सन्तापे ॥१४॥ तपति। तताप, तेपतुः, तेपुः। तेपिथ-ततप्थ। तप्ता-तप्स्यति। तपतु। अतपत्। तपेत्। तप्यात्। अताप्सीत्। अतप्स्यत्॥

अर्थः—तप (तप्) धातु तपना-चमकना, दुःखी होना, तपस्या करना, तपाना-गरम करना अर्थों में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—तप् धातु की प्रयोगसिद्धि में कोई नया सूत्र नहीं लगता। पूर्वसूत्रों से ही सम्पूर्ण रूपसिद्धि हो जाती है।

लँट्—तपति, तपतः, तपन्ति।

लिँट्—प्रथमपु० के एकवचन में तिप्, णल्, द्वित्व, हलादिशेष तथा 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि हो कर—ततापं। द्विवचन और बहुवचन में हलादिशेष हो कर 'अत एकहल्०' (४६०) से एत्व-अभ्यासलोप हो जाता है—तेपतुः, तेपुः। मध्यम० के एकवचन में सिप् को थल् हो कर—तप्+थ। तप् धातु उपदेश में अनुदात्त परिगणित की गई है (देखो पृष्ठ १४६) अतः 'एकाच उपदेशेऽनु०' (४७५) से सर्वप्रथम इट् का निषेध हो जाता है, तब उसे बाध कर क्रादिनियम से लिँट् में

१. 'जि' धातु के लिँट् में अभ्यास से परे धातु के जकार को 'सन्लिँटोर्जेः' (७.३.५७) से कुत्व हो जाता है। किञ्च असंयोगपूर्व होने से अतुस् आदियों में 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' (२२) से यण् हो जाता है।

सर्वत्र इट् प्राप्त होता है। पुनः 'उपदेशेऽत्वतः' (४८१) से थल् में क्रादिनियम का भी निषेध हो जाता है। अन्त में 'ऋतो भारद्वाजस्य' (४८२) द्वारा इट् का विकल्प होता है। इट्पक्ष में द्वित्वादि हो कर 'थलि च सेटि' (४६१) से एत्व+अभ्यासलोप करने से 'तेपिथ' और इट् के अभाव में 'ततप्थ' दो रूप सिद्ध होते हैं। वस् और मस् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है। रूपमाला यथा—तताप, तेपतुः, तेपुः। तेपिथ-ततप्थ, तेपथुः, तेप। तताप-ततप, तेपिव, तेपिम।

लुँट्—धातु के अनुदात्त होने से इट् का निषेध हो जाता है—तप्ता, तप्तारौ, तप्तारः। तप्तासि, तप्तास्थः, तप्तास्थ। तप्तास्मि, तप्तास्वः, तप्तास्मः। लृँट्—तप्स्यति, तप्स्यतः, तप्स्यन्ति। लोँट्—तपतु-तपतात्, तपताम्, तपन्तु। लँङ्—अतपत्, अतपताम्, अतपन्। वि० लिँङ्—तपेत्, तपेताम्, तपेयुः। आ० लिँङ्—तप्यात्, तप्यास्ताम्, तप्यासुः।

लुँङ्—'अतप्+स्+ईत्' इस अवस्था में 'वदव्रज०' (४६५) से वृद्धि हो कर—अताप्सीत्। द्विवचन में—'अताप्+स्+ताम्' इस अवस्था में 'झलो झलि' (४७८) सूत्र से सकार का लोप हो कर—अताप्ताम्। रूपमाला यथा—अताप्सीत्, अताप्ताम्, अताप्सुः। अताप्सीः, अताप्तम्, अताप्त। अताप्सम्, अताप्स्व, अताप्स्म। लृँङ्—अतप्स्यत्, अतप्स्यताम्, अतप्स्यन्।

इसी प्रकार त्यज हानौ (छोड़ना) धातु के रूप बनते हैं। लँट्—त्यजति। लिँट्—तत्याज, तत्यजतुः, तत्यजुः। तत्यजिथ-तत्यक्थ, तत्यजथुः, तत्यज। तत्याज-तत्यज, तत्यजिव, तत्यजिम। लुँट्—त्यक्ता। लृँट्—त्यक्ष्यति। लोँट्—त्यजतु-त्यजतात्। लँङ्—अत्यजत्। वि० लिँङ्—त्यजेत्। आ० लिँङ्—त्यज्यात्। लुँङ्—अत्याक्षीत्, अत्याक्ताम्, अत्याक्षुः। लृँङ्—अत्यक्ष्यत्। ध्यान रहे कि 'तत्यक्थ' आदि में 'चोः कुः' (३०६) द्वारा कुत्व हो जाता है।

[लघु०] क्रमुँ पादविक्षेपे ॥१५॥

अर्थः—क्रमुँ (क्रम्) धातु 'कदम बढ़ाना, चलना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।[1]

व्याख्या—इस धातु में अन्त्य उकार उदात्त-अनुनासिक है अतः इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'क्रम्' ही अवशिष्ट रहता है। उदित् करने का फल 'उदितो वा' (८८२) सूत्र द्वारा क्त्वा में इट् का विकल्प करना है—क्रमित्वा, क्रान्त्वा-

---

१. क्रम, क्रमशः, क्रमेलक (ऊँट), नक्र, क्रिमि, आक्रमण आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं। हिन्दी में प्रयुक्त आक्रान्ता शब्द संस्कृतव्याकरणानुसार अपशब्द है, शुद्ध शब्द 'आक्रमिता' होना चाहिये।

क्रन्त्वा[1]। किञ्च इस प्रकार 'यस्य विभाषा' (७.२.१५) द्वारा निष्ठा में इट् का निषेध भी सिद्ध हो जाता है—क्रान्तः, क्रान्तवान्। इस धातु से शप् और श्यन् दोनों विकरणों की प्रवृत्ति के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४८५) वा भ्राश-भ्लाश-भ्रमुँ-क्रमुँ-क्लमुँ-त्रसि-त्रुटि-लषः ।३।१।७०॥

एभ्यः श्यन् वा कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे। पक्षे शप्॥

अर्थः—भ्राश्, भ्लाश्, भ्रमुँ, क्रमुँ, क्लमुँ, त्रस्, त्रुट् और लष्—इन धातुओं से विकल्प से श्यन् प्रत्यय होता है कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे हो तो।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम्। भ्राश—लषः ।५।१। श्यन् ।१।१। ('दिवादिभ्यः श्यन्' से) कर्तरि ।७।१। ('कर्तरि शप्' से)। सार्वधातुके ।७।१। ('सार्वधातुके यक्' से)। 'प्रत्ययः, परश्च' दोनों अधिकृत हैं। अर्थः—(भ्राश—लषः) भ्राश्, भ्लाश्, भ्रमुँ, क्रमुँ, क्लमुँ, त्रस्, त्रुट् और लष्—इन आठ धातुओं से परे (श्यन् प्रत्ययः) श्यन् प्रत्यय (वा) विकल्प से होता है (कर्तरि) कर्ता अर्थ में (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे हो तो। कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे होने पर सामान्यतया 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप् प्रत्यय हुआ करता है अतः श्यन् के अभाव में शप् प्रत्यय हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे होने पर इन आठ धातुओं से श्यन् और शप् दोनों प्रत्यय पर्याय से होते हैं। श्यन् में शकार की 'लशक्वतद्धिते' (१३६) से तथा नकार की 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञा हो कर दोनों का लोप करने से 'य' मात्र शेष रहता है। उदाहरण यथा—

(१) टुभ्राशृँ दीप्तौ (चमकना, भ्वा० आत्मने०)। भ्राश्यते, भ्राशते।
(२) टुभ्लाशृँ दीप्तौ (चमकना, भ्वा० आत्मने०)। भ्लाश्यते, भ्लाशते।
(३) भ्रमुँ अनवस्थाने (चलना, दिवा० परस्मै०)। भ्राम्यति, भ्रमति[2]।
भ्रमुँ चलने (घूमना, भ्वा० परस्मै०)। भ्रम्यति, भ्रमति।
(४) क्रमुँ पादविक्षेपे (चलना, भ्वा० परस्मै०)। क्राम्यति, क्रामति।
(५) क्लमुँ ग्लानौ (दुःखी होना, भ्वा० प०)। क्लाम्यति, क्लामति[3]।
(६) त्रसीँ उद्वेगे (डरना, दिवा० परस्मै०)। त्रस्यति, त्रसति।

---

१. 'क्रमश्च क्त्वि' (६.४.१८) इत्युपधादीर्घत्वं वा।

२. दैवादिक भ्रमुँ धातु से श्यन् करने पर 'शमामष्टानां दीर्घः श्यनि' (७.३.७४) से दीर्घ हो जाता है। भौवादिक का शमादि-अष्टक में पाठ न होने से श्यन् करने पर भी दीर्घ नहीं होता—भ्रम्यति।

३. श्यन् और शप् दोनों में 'ष्ठिवुँ-क्लमुँ-चमां शिति' (७.३.७५) से दीर्घ हो जाता है।

(७) त्रुट छेदने (टूटना, तुदा० परस्मै०)। त्रुट्यति, त्रुटति।

(८) लष कान्तौ (चाहना, भ्वा० उभय०)। लष्यति, लषति आदि।

क्रम् धातु से लँट् के स्थान पर तिप् आदेश हो कर—क्रम्+ति। अब यहां 'ति' प्रत्यय कर्ता अर्थ में हुए लँट् के स्थान पर आदिष्ट होने से कर्त्रर्थक है तथा 'तिङ्शित्०' (३८६) के द्वारा सार्वधातुक भी है। अतः प्रकृतसूत्र से श्यन् तथा पक्ष में 'कर्त्तरि शप्' (३८७) से शप् हो कर अनुबन्धलोप करने से 'क्रम्+य+ति' तथा 'क्रम्+अ+ति' बना। अब दोनों पक्षों में दीर्घ का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४८६) क्रमः परस्मैपदेषु।७।३।७६॥

क्रमो दीर्घः परस्मैपदे शिति। क्राम्यति-क्रामति। चक्राम। क्रमिता। क्रमिष्यति। क्राम्यतु-क्रामतु। अक्राम्यत्-अक्रामत्। क्राम्येत्-क्रामेत्। क्रम्यात्। अक्रमीत्। अक्रमिष्यत्॥

अर्थः—परस्मैपदपरक शित् के परे होने पर क्रम् को दीर्घ हो।

व्याख्या—क्रमः।६।१। परस्मैपदेषु।७।३। शिति।७।१। ('ष्ठिवुँक्लमुँचमां शिति' से) दीर्घः।१।१। ('शमामष्टानां दीर्घः श्यनि' से)। 'अङ्गस्य' अधिकृत है। श् इत् यस्य स शित्, तस्मिन्=शिति। अर्थः—(परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्ययों के परे होने पर (शिति) जो शित्, उस के परे रहते (क्रमः, अङ्गस्य) 'क्रम्' अङ्ग के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश होता है। 'अचश्च' (१.२.२८) के अनुसार यह दीर्घादेश अच् के स्थान अर्थात् क्रम् के रेफोत्तरवर्त्ती अकार के स्थान पर होता है।

'क्रम्+य+ति' तथा 'क्रम्+अ+ति' इन दोनों स्थानों में 'ति' यह परस्मैपद परे विद्यमान है। इसके परे रहते श्यन् और शप् दोनों शित् हैं। अतः शित् के परे होने पर प्रकृतसूत्र से क्रम् के अकार को दीर्घ करने से श्यन्पक्ष में 'क्राम्यति' तथा शप्पक्ष में 'क्रामति' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

'परस्मैपदेषु' कहा गया है अतः आत्मनेपद में दीर्घ नहीं होता—आक्रमते सूर्यः। यहां पर 'आङ उद्गमने' (१.३.४०) सूत्र द्वारा क्रम् से आत्मनेपद हुआ है।

लँट् में रूपमाला यथा—(श्यन्पक्षे) क्राम्यति, क्राम्यतः, क्राम्यन्ति। (शप्पक्षे) क्रामति, क्रामतः, क्रामन्ति।

लिँट्—प्रथमपु० के एकवचन में तिप्, णल्, द्वित्व, 'कुहोश्चुः' (४५४) से अभ्यास को चुत्व तथा 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि होकर—चक्राम, चक्रमतुः, चक्रमुः। चक्रमिथ, चक्रमथुः, चक्रम। चक्राम-चक्रम, चक्रमिव, चक्रमिम। लुँट्—क्रमिता, क्रमितारौ, क्रमितारः।

लृँट्—क्रमिष्यति, क्रमिष्यतः, क्रमिष्यन्ति। लोँट्—(श्यन्पक्षे) क्राम्यतु-क्राम्यतात्, क्राम्यताम्, क्राम्यन्तु। (शप्पक्षे) क्रामतु-क्रामतात्, क्रामताम्, क्रामन्तु। लँङ्—

(श्यन्पक्षे) अकाम्यत्, अकाम्यताम्, अकाम्यन् । (शप्पक्षे) अकामत्, अकामताम्, अकामन् । वि० लिङ्—(श्यन्पक्षे) काम्येत्, काम्येताम्, काम्येयुः । (शप्पक्षे) कामेत्, कामेताम् कामेयुः । आ० लिङ्—कम्यात्, कम्यास्ताम्, कम्यासुः ।

लुङ्—अक्रम्+इस्+ईत्' यहां पर 'वद-व्रज०' (४६५) से प्राप्त हलन्त-लक्षणा वृद्धि का 'नेटि' (४७७) से निषेध हो कर 'अतो हलादेः०' (४५७) से वैकल्पिक वृद्धि प्राप्त होती है । मकारान्त होने के कारण उसका भी 'ह्म्यन्तक्षण०' (४६६) सूत्र से निषेध हो जाता है । तब 'इट ईटि' (४४६) से सकार का लोप तथा उसे सिद्धवत् मान कर सवर्णदीर्घ करने से 'अक्रमीत्' प्रयोग सिद्ध होता है । रूपमाला यथा —अक्रमीत्, अक्रमिष्टाम्, अक्रमिषुः । अक्रमीः, अक्रमिष्टम्, अक्रमिष्ट । अक्रमिषम्, अक्रमिष्व, अक्रमिष्म ।

लृँङ्—अक्रमिष्यत्, अक्रमिष्यताम्, अक्रमिष्यन् ।

[लघु०] पा पाने ॥१६॥

अर्थः—पा धातु 'पीना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—लँट् में शप् हो कर 'पा+अ+ति' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४८७) पा-घ्रा-ध्मा-स्था-म्ना-दाण्-दृश्यर्ति[1]-सर्ति-शद-सदां पिब-जिघ्र-धम-तिष्ठ-मन-यच्छ-पश्यर्च्छ[2]-धौ-शीय-सीदाः ।७।३।७८॥

पादीनां पिबादयः स्युरित्सञ्ज्ञकशकारादौ प्रत्यये परे । पिबादेशोऽदन्तस्तेन न गुणः—पिबति ॥

अर्थः—इत्सञ्ज्ञक शकार जिस के आदि में हो ऐसे प्रत्यय के परे होने पर पा, घ्रा आदि ग्यारह धातुओं के स्थान पर क्रमशः पिब, जिघ्र आदि ग्यारह आदेश हों । पिबादेशः—पिब आदेश अदन्त है अतः लघूपधगुण नहीं होता ।

व्याख्या—पाघ्रा—सदाम् ।६।३। पिबजिघ्र—सीदाः ।१।३। शिति ।७।१। ('ष्ठिवुँक्लमुँचमां शिति' से) । 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है । श् चासौ इत् च शित्, तस्मिन्=शिति । कर्मधारयसमासः[3] । अङ्गाधिकार होने से 'प्रत्यये' पद उपलब्ध हो

---

१ दृशि+अर्ति' इतिच्छेदः । २. 'पश्य+ऋच्छ' इतिच्छेदः ।

३. बहुव्रीहिसमास मानने पर विग्रह होगा—श् इत् यस्य स शित्, तस्मिन् शिति । तब कर्मवाच्य के लिँट् में 'पपे' आदि रूपों की सिद्धि में 'पा+एश्' इस अवस्था में भी 'पिब' आदेश प्राप्त होगा क्योंकि बहुव्रीहि के अनुसार 'एश्' शित् है । अतः इस

जाता है क्योंकि विना प्रत्यय के अङ्गसंज्ञा सम्भव नहीं। 'शिति' के वर्णवाचक होने से 'यस्मिन्विधि०' परिभाषा द्वारा तदादिविधि हो जाती है—इत्सञ्ज्ञकशकारादौ प्रत्यये। अर्थः—(पाघ्रा—सदाम्) पा, घ्रा, ध्मा, स्था, म्ना, दाण्, दृशि (दृश्), अर्ति (ऋ), सर्ति (सृ), शद् और सद् इन ग्यारह धातुओं के स्थान पर (पिबजिघ्र—सीदाः) पिब, जिघ्र, धम, तिष्ठ, मन, यच्छ, पश्य, ऋच्छ, धौ, शीय और सीद ये ग्यारह आदेश हो जाते हैं (शिति=इत्सञ्ज्ञकशकारादौ प्रत्यये) इत्सञ्ज्ञक श् जिसके आदि में हो ऐसा प्रत्यय परे हो तो। यथासङ्ख्यपरिभाषा और अनेकाल्परिभाषा के अनुसार ये आदेश क्रमशः तथा सर्वादेश होते हैं—

धातु	आदेश	उदाहरण
(१) पा पाने (पीना, भ्वा० परस्मै०)	पिब	पिबति
(२) घ्रा गन्धोपादाने (सूंघना, भ्वा० प०)	जिघ्र	जिघ्रति
(३) ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः (फूंक कर बजाना, धौंकना, भ्वा० प०)	धम	धमति
(४) ष्ठा गतिनिवृत्तौ (ठहरना, भ्वा० प०)	तिष्ठ	तिष्ठति
(५) म्ना अभ्यासे (अभ्यास करना, भ्वा० प०)	मन	मनति
(६) दाण् दाने (देना, भ्वा० परस्मै०)	यच्छ	यच्छति
(७) दृशिर् प्रेक्षणे (देखना, भ्वा० परस्मै०)	पश्य	पश्यति
(८) ऋ गतिप्रापणयोः (जाना आदि, भ्वा० प०)	ऋच्छ	ऋच्छति
(९) सृ गतौ (तेज जाना, भ्वा० परस्मै०)[1]	धौ	धावति[2]
(१०) शद्लृँ शातने (नष्ट होना, भ्वा० तुदा० प०)	शीय	शीयते[3]
(११) षद्लृँ विशरणगत्यवसादनेषु (नष्ट होना, जाना, दुःखी होना, भ्वा० तुदा० प०)	सीद	सीदति

नोट—यहां पर तीन कारणों से 'पा रक्षणे' (अदा० परस्मै०) धातु का ग्रहण नहीं

दोष से बचने के लिये 'शिति' में कर्मधारय माना जाता है। कर्मधारय मानने से 'इत्सञ्ज्ञक शकार जिसके आदि में है ऐसे प्रत्यय के परे होने पर' यह अर्थ बन जाता है। इसके अनुसार 'एश्' शित् नहीं होता क्योंकि इसमें इत्सञ्ज्ञक शकार आदि में नही अपितु अन्त में है।

१. ऋ और सृ धातु जुहोत्यादिगण में भी पढ़े गये हैं परन्तु उनमें शप् का श्लु (लोप) हो जाता है अतः कहीं भी शित् परे न रहने से उनका ग्रहण नहीं होता।

२. 'सर्तेर्वेगितायां गतौ धावादेशमिच्छन्ति' इति काशिका (७.३.७८)। अन्यत्र तु सरतीत्यादिकमेव।

३. 'शदेः शितः' (६५९) इत्यात्मनेपदम्।

होता। (१) 'लुग्विकरणाऽलुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव ग्रहणम्' इस परिभाषा के अनुसार अलुग्विकरण भ्वादिगणीय 'पा पाने' का ही ग्रहण होता है। (२) घ्रा के साहचर्य से भ्वादिगणीय का ही ग्रहण होता है। (३) अदादिगणीय धातु से परे शप् का सर्वत्र लुक् हो जाने से कहीं भी शित् परे नहीं रहता अतः उसका ग्रहण नहीं होता।

'पा+अ+ति' यहां पर शप् के आदि में इत्सञ्ज्ञक शकार रहता है अतः इस के परे रहते 'पा' को 'पिब' आदेश हो कर 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने पर 'पिबति' प्रयोग सिद्ध होता है।

स्मरण रहे कि 'पिब' आदेश अदन्त है, 'पिब्' इस प्रकार हलन्त नहीं। इससे 'पिब+अ+ति' यहां उपधा में लघु न रहने से 'पुगन्त०' (४५१) से गुण नहीं होता। पररूप करने के बाद भी 'अन्तादिवच्च' (४१) से एकादेश को पूर्वान्तवत् मान लेने से लघूपधगुण की प्राप्ति नहीं होती। ध्यान रहे कि केवल 'पिब' आदेश को ही अदन्त माना गया है अन्य आदेश हलन्त हों या अदन्त उनमें कहीं दोष प्रसक्त नहीं होता। इसीलिये तो मूल में 'पिबादेशोऽदन्तः' ऐसा कहा गया है। लँट् में रूपमाला यथा—पिबति, पिबतः, पिबन्ति[1]। पिबसि, पिबथः, पिबथ। पिबामि, पिबावः, पिबामः।

लिँट्—प्रथमपु० के एकवचन में तिप् और उसे णल् आदेश हो कर 'पा+अ' इस स्थिति में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४८८) आत औ णलः ।७।१।३४।।

आदन्ताद् धातोर्णल औकारादेशः स्यात्। पपौ।।

अर्थः—आकारान्त धातु से परे णल् के स्थान पर औकार आदेश हो।

व्याख्या—आतः ।५।१। औ ।१।१। (छान्दसो विभक्तिलुक्)। णलः ।६।१। अङ्गात् ।५।१। ('अङ्गस्य' इस अधिकृत का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है)। 'आतः' यह 'अङ्गात्' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'आदन्ताद् अङ्गात्' बन जाता है। अर्थः—(आतः=आदन्ताद्) आदन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (णलः) णल् के स्थान पर (औ) औकार आदेश होता है। णल् परे होने पर आदन्त अङ्ग 'धातु' ही हो सकता है अतः मूलवृत्ति में 'आदन्ताद् धातोः' लिखा गया है।

'पा+अ' यहां अकारान्त धातु 'पा' से परे प्रकृतसूत्रद्वारा णल् को औकार आदेश होकर—पा+औ। अब द्वित्व (६.१.८) की अपेक्षा परत्वात् 'वृद्धिरेचि' (६.१.८५) से वृद्धि प्राप्त होती है। परन्तु 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) से उस का निषेध हो कर प्रथम द्वित्व हो जाता है—पा+पा+औ। तब अभ्यास को ह्रस्व कर पुनः

---

१. 'पिब+अ+अन्ति' यहां पर प्रथम शप् के अकार के साथ तथा बाद में 'अन्ति' के अकार के साथ पररूप होता है।

वृद्धि एकादेश करने से 'पपौ' रूप सिद्ध हो जाता है[1]।

द्विवचन में तस् को अतुस् हो कर 'पा+अतुस्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४८९) आतो लोप इटि च ।६।४।६४॥

अजाद्योरार्धधातुकयोः क्ङिदिटोः परयोरातो लोपः स्यात् । पपतुः, पपुः । पपिथ-पपाथ, पपथुः, पप । पपौ, पपिव, पपिम । पाता । पास्यति । पिबतु । अपिबत् । पिबेत् ॥

अर्थः—अजादि आर्धधातुक कित् ङित् परे हो अथवा अजादि आर्धधातुक इट् परे हो तो आकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—आतः ।६।१। लोपः ।१।१। इटि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । आर्धधातुके ।७।१। (अधिकृत है)। अचि ।७।१। क्ङिति ।७।१।('दीङो युडचि क्ङिति' से)। 'अचि' पद 'आर्धधातुके' का विशेषण है अतः तदादिविधि हो कर 'अजादौ आर्धधातुके' बन जाता है। इस का 'इटि' और 'क्ङिति' दोनों से सम्बन्ध है। अर्थः—(अचि=अजादौ) अजादि (आर्धधातुके) आर्धधातुक (क्ङिति) कित् ङित् परे हो या (च) वैसा (इटि) इट् परे हो तो (आतः) आकार का (लोपः) लोप हो जाता है।

(१) अजादि आर्धधातुक कित् में उदाहरण—पपतुः, पपुः । यहां 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से अतुस् और उस् कित् हैं। 'लिँट् च' (४००) से इन की आर्धधातुकसञ्ज्ञा भी है अतः इन के परे होने पर पा धातु के आकार का लोप हो जाता है (विस्तृत सिद्धि आगे देखें)।

(२) अजादि आर्धधातुक ङित् में उदाहरण—प्रदा, प्रधा । यहां प्रपूर्वक दा और धा धातु से परे 'आतश्चोपसर्गे' (३.३.१०१) सूत्र द्वारा अङ् प्रत्यय किया जाता है। यह अङ् ङित् भी है और 'आर्धधातुकं शेषः' (४०४) से आर्धधातुक भी, अतः इस के परे रहते धातु के आकार का लोप करने पर—प्रद, प्रध । अब टाप् ला कर विभक्तिकार्य करने से 'प्रदा, प्रधा' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

(३) अजादि आर्धधातुक इट् में उदाहरण—पपिथ, ययिथ । पपा+इथ, यया+इथ, यहां व्यपदेशिवद्भाव से इट् अजादि है। किञ्च आर्धधातुक का आगम

१. यदि 'आत औ णलः' की जगह 'आत ओ णल.' सूत्र बना कर णल् को औकार की बजाय ओकार आदेश करते तो भी वृद्धि हो कर 'पपौ' आदि रूप सिद्ध हो जाते। पुनः औकारादेश का विधान 'ददरिद्रौ' के लिये किया गया है। दरिद्रा धातु के आकार का लोप विधान किया गया है अतः वहां 'ददरिद्रो' इस प्रकार अनिष्ट रूप बन जाता।

हुआ है अतः उस का अङ्ग होने से आर्धधातुक भी है । इस लिये इस के परे रहते धातु के आकार का लोप हो जाता है—पपिथ, ययिथ ।

यदि 'अजादि' न कह कर केवल आर्धधातुक कित् ङित् और आर्धधातुक इट् में आकार के लोप का विधान करते तो 'ग्लायते (यक्), जाग्लायते (यङ्), दासीय' आदि में दोष प्राप्त होता । 'ग्लायते' में यक् प्रत्यय आर्धधातुक भी है और कित् भी, इसी प्रकार 'जाग्लायते' में यङ्प्रत्यय आर्धधातुक भी है और ङित् भी, परन्तु इन के अजादि न होने से धातु के आकार का लोप नहीं होता । इसी प्रकार दा धातु से आशीलिंङ् के उत्तमपु० के एकवचन इट् को 'इटोऽत्' (५२२) से अत् आदेश हो कर सीयुट् का आगम हो जाता है—दा+सीय् अ । यहां 'सीय' यह स्थानिवद्भाव से इट् भी है और 'लिंङाशिषि' (४३१) से आर्धधातुक भी, पर अजादि न होने से धातु के आकार का लोप नहीं होता—दासीय ।

यदि 'आर्धधातुक' न कह कर केवल अजादि कित् ङित् और अजादि इट् में आकार के लोप का विधान करते तो 'यान्ति, वान्ति, व्यत्यरे' आदि में दोष प्राप्त होता । 'या+अन्ति, वा+अन्ति' यहां **'सार्वधातुकमपित्'** (५००)से 'अन्ति' ङित् है और साथ ही अजादि भी है । परन्तु आर्धधातुक न होने से धातु के आकार का लोप नहीं होता । 'व्यत्यरे' में **'कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे'** (७३१) से आत्मनेपद हुआ है । वि+अति इन दो उपसर्गों के पूर्व रहते 'रा दाने' धातु से लँङ् के उत्तमपु० का एकवचन इट् प्रत्यय करने पर—वि+अति+अट्+रा+इट् । अब यहां अजादि इट् तो परे है पर वह आर्धधातुक नहीं अतः 'रा' धातु के आकार का लोप नहीं होता । गुण होकर 'व्यत्यरे' प्रयोग सिद्ध होता है ।

वक्तव्य—इस सूत्र में सारा झगड़ा इट् के कारण है । कुछ लोग 'इट्' से इट् का आगम तथा आत्मनेपद के उत्तमपु० का एकवचन इट् दोनों का ग्रहण करते हैं (कौमुदीकार इसी मत के अनुयायी हैं), अन्य लोग (**श्रीनागेशभट्ट** आदि) 'इट्' से केवल प्रसिद्ध इट् के आगम का ही ग्रहण मानते हैं इट् का आगममात्र मानने से कोई झगड़ा खड़ा नहीं होता, क्योंकि इस पक्ष में **'अजादि आर्धधातुक कित् ङित् परे हो या इट् का आगम परे हो तो आकार का लोप हो'** ऐसा सरल अर्थ हो जाता है । परन्तु 'इट्' से दोनों का ग्रहण मानने वालों को 'अजादि आर्धधातुक' यह विशेषण इट् के साथ भी सम्बद्ध करना पड़ता है अन्यथा उनके मत में 'दासीय, व्यत्यरे' आदियों में भी आकार का अनिष्ट लोप प्रसक्त होता है । कौमुदीकार ने वृत्ति में क्ङित् को एक मान कर उस का इट् के साथ इतरेतरद्वन्द्व समास करके 'अजाद्योरार्धधातुकयोः क्ङिदिटोः' इस प्रकार द्विवचन का प्रयोग किया है ।

'पा+अतुस्' यहां पर 'अतुस्' अजादि है और साथ ही **'लिंट् च'** (४००) से

आर्धधातुक भी, अतः प्रकृतसूत्र से आकार का लोप प्राप्त होता है। इधर यहां 'लिँटि धातोः०' (३९४) से द्वित्व भी युगपत् प्राप्त होता है। दोनों में परत्व के कारण आकार का लोप पहले होना चाहिये। इस पर 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) सूत्र से आकार के लोप का निषेध होकर प्रथम द्वित्व होकर अभ्यास को ह्रस्व करने से पपा+अतुस्। अब आकार का लोप करने पर—पप्+अतुस्='पपतुः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार बहुवचन में 'पपुः' रूप बनता है।

मध्यमपु० के एकवचन में सिप् को थल् हो कर—पा+थ। पा धातु 'ऊदृदन्तैः०' के अनुसार अनुदात्त है अतः इस से परे 'एकाच उपदेशे०' (४७५) से इट् का निषेध होना है। परन्तु 'कृसृभृवृ०' (४७९) इस क्रादिनियम के अनुसार लिँट् में इट् का विधान हो जाता है। लेकिन थल् में 'अचस्तास्वत्०' (४८०) सूत्र से पुनः उस का निषेध हो कर भारद्वाजनियम (४८२) से इट् का विकल्प हो जाता है। इट्पक्ष में द्वित्व, अभ्यासकार्य तथा आकार का लोप करने से 'पपिथ' प्रयोग सिद्ध होता है। इट् के अभाव में—पपाथ, यहां न तो इट् है और न ही अजादि कित् ङित्, अतः आकार का लोप नहीं होता।

वस् मस् में क्रादिनियम से नित्य इट् का आगम हो कर अजादि कित् आर्धधातुक के परे रहते आकारका लोप करने से 'पपिव, पपिम' सिद्ध होते हैं। लिँट् में रूपमाला यथा—पपौ, पपतुः, पपुः। पपिथ-पपाथ, पपथुः, पप। पपौ, पपिव, पपिम।

लुँट्—में 'एकाच उपदेशे०' (४७५) के अनुसार सर्वत्र इट् का निषेध हो जाता है—पाता, पातारौ, पातारः। पातासि, पातास्थः, पातास्थ। पातास्मि, पातास्वः, पातास्मः।

लृँट्—पास्यति, पास्यतः, पास्यन्ति। पास्यसि, पास्यथः, पास्यथ। पास्यामि, पास्यावः, पास्यामः।

लोँट्—में शित् प्रत्यय परे होने से सर्वत्र पिब आदेश हो जाता है—पिबतु-पिबतात्, पिबताम्, पिबन्तु। पिब-पिबतात्, पिबतम्, पिबत। पिबानि, पिबाव, पिबाम। लँङ्—अपिबत्, अपिबताम्, अपिबन्। अपिबः, अपिबतम्, अपिबत। अपिबम्, अपिबाव, अपिबाम। वि० लिँङ्—पिबेत्, पिबेताम्, पिबेयुः। पिबेः, पिबेतम्, पिबेत। पिबेयम्, पिबेव, पिबेम।

आशीर्लिँङ्—में 'पा+यास् त्' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४९०) एर्लिँङि ।६।४।६७॥

घुसञ्ज्ञकानां मास्थादीनां च एत्वं स्याद् आर्धधातुके किति लिँङि। पेयात्। गातिस्था० (४३९) इति सिँचो लुक्—अपात्, अपाताम्॥

अर्थः—घुसञ्ज्ञक धातुओं को तथा मा, स्था, गा, पा, जहाति (ओँहाक्)

और षो धातुओं को एकार आदेश हो जाता है आर्धधातुक कित् लिँङ् परे हो तो ।

व्याख्या—एः ।१।१। लिँङि ।७।१। घुमास्थागापाजहातिसाम् ।६।३। ('घुमास्था-गापाजहातिसां हलि' से)। आर्धधातुके ।७।१। (अधिकृत है)। किति ।७।१। ('दीङो युडचि क्ङिति' से)। अर्थः—(घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-साम्) घुसंज्ञकों तथा मा, स्था, गा, पा, जहाति [ओँहाक्] और षो इन धातुओं के स्थान पर (एः) एकार आदेश होता है (आर्धधातुके किति लिँङि) आर्धधातुक कित् लिँङ् परे हो तो। अलोऽन्त्यपरिभाषा के अनुसार यह आदेश अन्त्य अल् के स्थान पर होता है। यह सूत्र 'घुमास्था०' (५८८) सूत्र द्वारा प्रतिपादित ईकारादेश का अपवाद है। उदाहरण यथा—घुसञ्ज्ञक[1]—(डुदाञ्) देयात्, (डुधाञ्) धेयात् आदि। मा[2] (मा माने)—मेयात्। स्था (ष्ठा गतिनिवृत्तौ)—स्थेयात्। गा (गै शब्दे)—गेयात्। पा[3] (पा पाने)—पेयात्। जहाति (ओँहाक् त्यागे)—हेयात्। सा (षो अन्तकर्मणि)—सेयात्।

इस सूत्र में यदि 'किति' का अनुवर्त्तन न करते तो 'दासीष्ट, धासीष्ट' यहां आत्मनेपद में कित् परे न होने पर भी एत्व हो जाता जो अनिष्ट था।

'पा+यास् त्' यहाँ पर 'लिँङाशिषि' (४३१) से लिँङ् आर्धधातुक है, उसे हुआ यासुट् का आगम 'किदाशिषि' (४३२) से कित् है। अतः प्रकृतसूत्र से कित् लिँङ् परे रहते 'पा' धातु के आकार को एकार आदेश हो कर संयोगादि सकार का लोप (३०६) करने से 'पेयात्' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—पेयात्, पेयास्ताम्, पेयासुः। पेयाः, पेयास्तम्, पेयास्त। पेयासम्, पेयास्व, पेयास्म।

लुँङ्—प्रथमपु० के एकवचन में तिप्, इकारलोप, च्लि, सिँच् और अट् का आगम हो कर 'अपा+स्+त्' इस स्थिति में 'गातिस्थाघु०' (४३६) से सिँच् का लुक् करने पर 'अपात्' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार द्विवचन में तस् को ताम् आदेश हो कर—अपाताम्। प्र० पु० के बहुवचन में सिँच् का लुक् हो कर 'अपा+झि' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—(४६१) आतः ।३।४।११०॥

सिँज्लुकि आदन्तादेव झेर्जुस् ॥

---

१. घुसञ्ज्ञकों का वर्णन 'दाधाघ्वदाप्' (६२३) सूत्र पर देखें।

२. यहां पर 'मा' से 'मेङ्' और 'माङ्' धातुओं का ग्रहण नहीं होता क्योंकि ङित् होने से वे आत्मनेपदी हैं और आत्मनेपद में लिँङ् कित् नहीं होता। इसी प्रकार 'गा' से 'गाङ्' का ग्रहण भी नहीं होता।

३. 'लुग्विकरणाऽलुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव ग्रहणम्' इस परिभाषा के अनुसार लुग्विकरण अदादिगण की 'पा रक्षणे' धातु का ग्रहण नहीं होता।

अर्थः—सिँच् का लुक् होने पर आदन्त धातु से परे ही झि को जुस् आदेश हो (अन्य धातुओं से परे न हो)।

व्याख्या—आतः ।५।१। सिँचः ।५।१। ('सिँजभ्यस्त०' से)। झेः ।६।१। जुस् ।१।१। ('झेर्जुस्' से)। 'धातोः' यह अधिकृत है। 'आतः' पद 'धातोः' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'आदन्ताद् धातोः' बन जाता है। अर्थः—(आतः) आदन्त (धातोः) धातु से परे (सिँचः) सिँच् से परे (झेः) झि के स्थान पर (जुस्) जुस् आदेश हो। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि झि प्रत्यय किस प्रकार आकारान्त धातु तथा सिँच् दोनों से अव्यवहित परे स्थित हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि जब सिँच् का लुक् हो जाता है तब झिप्रत्यय श्रुत्या आकारान्त धातु से तथा प्रत्ययलक्षण के द्वारा सिँच् से परे विद्यमान रहता है। यथा—'अपा+झि' यहां झि प्रत्यय आकारान्त धातु से परे तो साक्षात् श्रूयमाण है ही, प्रत्ययलक्षण के द्वारा सिँच को मान कर सिँच् से परे भी विद्यमान है। अतः इस सूत्र से झि को जुस् आदेश हो जाता है। अब यहाँ दूसरा प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ऐसे स्थलों पर तो 'झि' को जुस् आदेश 'सिँजभ्यस्त०' (४४७) से ही सिद्ध था पुनः इस सूत्र की क्या आवश्यकता? इसका उत्तर यह है कि 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' अर्थात् कार्य के सिद्ध होने पर यदि उसका पुनर्विधान किया जाये तो वह नियमार्थ हो जाता है। यहां भी यह नियमार्थ ही जायेगा—सिँच् का लुक् होने पर यदि झि को जुस् आदेश करना हो तो वह केवल आकारान्त धातुओं से परे ही हो अन्य धातुओं से नहीं। यथा—'अभू+स्+झि' यहां 'गातिस्थाघु०' (४३९) से सिँच् का लुक् हो कर 'अभू+झि' इस अवस्था में प्रत्ययलक्षण का आश्रय कर के 'सिँजभ्यस्त०' (४४७) से प्राप्त होने वाला जुस् आदेश इस नियम से रुक जाता है क्योंकि यहां धातु आकारान्त नहीं है। नियमसूत्रों के उदाहरण वस्तुतः प्रत्युदाहरण ही हुआ करते हैं—यह हम पीछे बता चुके हैं।

'अपा+झि' यहां सिँच् का लुक् हो चुका है और धातु भी आकारान्त है अतः प्रकृतनियमानुसार झि को जुस् आदेश होकर अनुबन्ध जकार का लोप करने से—अपा+उस्। अब 'आद् गुणः' (२७) द्वारा प्राप्त गुण एकादेश का बाध कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४९२) उस्यपदान्तात् ।६।१।९३॥

अपदान्तादकारादुसि पररूपमेकादेशः। अपुः। अपास्यत्॥

अर्थः—अपदान्त अवर्ण से उस् का अच् परे हो तो पूर्व अवर्ण तथा पर अच् दोनों के स्थान पर पररूप एकादेश हो।

व्याख्या—उसि ।७।१। अपदान्तात् ।५।१। आत् ।५।१। ('आद् गुणः' से) अचि

।७।१। ('इको यणचि' से)। 'एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है। अर्थः—(अपदान्तात्) अपदान्त (आत्) अवर्ण से (उसि अचि) उस् का अच् परे हो तो (पूर्वपरयोः) पूर्व और पर दोनों के स्थान पर (पररूपम्) पररूप (एकः) एकादेश हो।

'अपा+उस्' यहां पकारोत्तर अपदान्त अवर्ण-आकार से परे उस् का उकार अच् विद्यमान है अतः पूर्व (आ) और पर (उ) दोनों के स्थान पर पररूप (उ) एकादेश हो कर—अप् उ स्=अपुस्='अपुः' प्रयोग सिद्ध होता है। लुँङ् में रूपमाला यथा—अपात्, अपाताम्, अपुः। अपाः, अपातम्, अपात। अपाम्, अपाव, अपाम।

लृँङ्—अपास्यत्, अपास्यताम्, अपास्यन्।

[लघु०] ग्लै हर्षक्षये ॥१७॥ ग्लायति॥

अर्थः—ग्लै धातु 'दुःखी होना-थकना-मुरझाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—ग्लै धातु से लँट्, तिप्, शप् तथा अनुबन्धलोप करने पर 'ग्लै+अ+ति' इस स्थिति में 'एचोऽयवायावः' (२२) से ऐकार को आय् आदेश हो कर 'ग्लायति' प्रयोग सिद्ध होता है। लँट्—ग्लायति, ग्लायतः, ग्लायन्ति। ग्लायसि, ग्लायथः, ग्लायथ। ग्लायामि, ग्लायावः, ग्लायामः।

लिँट्—की विवक्षा में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४९३) आदेच उपदेशेऽशिति ।६।१।४४॥

उपदेशे एजन्तस्य धातोरात्त्वं न तु शिति। जग्लौ। ग्लाता। ग्लास्यति। ग्लायतु। अग्लायत्। ग्लायेत्॥

अर्थः—उपदेश में एजन्त धातु के अन्त्य अल् के स्थान पर आकार आदेश होता है परन्तु शित्प्रत्यय का विषय हो तो नहीं होता।

व्याख्या—आत् ।५।१। एचः ।६।१। उपदेशे ।७।१। अशिति ।७।१। धातोः ।६।१। ('लिँटि धातोरन०' से)। 'एचः' पद 'धातोः' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'एजन्तस्य धातोः' बन जाता है। अर्थः—(उपदेशे) उपदेश में (एजन्तस्य धातोः) एजन्त जो धातु उसके स्थान पर (आत्) आकार आदेश हो जाता है परन्तु (अशिति) शित् का विषय हो तो नहीं होता। अलोऽन्त्यपरिभाषा के अनुसार यह आदेश एजन्त धातु के अन्त्य अल् के स्थान पर होता है।

न शिति—अशिति। यहां पर पर्युदासप्रतिषेध नहीं अपितु प्रसज्यप्रतिषेध है[1]।

---

१. इन द्विविध प्रतिषेधों का विवेचन इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के (१८) सूत्र पर कर चुके हैं। विशेषजिज्ञासु 'वैयाकरण-भूषण-सार' पर हमारे बनाये भैमीभाष्य के पृष्ठ १६४-१६७ का अवलोकन करें। यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है।

पर्युदासप्रतिषेध में तत्सदृश का ग्रहण किया जाता है; यदि यहां वह मानेंगे तो शित् से भिन्न शित्सदृशों अर्थात् प्रत्ययों में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति हो सकेगी। तब 'सुग्लः, सुम्नः' आदि सिद्ध न हो सकेंगे[1]। अतः यहां प्रसज्यप्रतिषेध मानना ही उचित है। इस प्रकार यह आत्व आदेश निर्निमित्त समझना चाहिये अर्थात् प्रत्ययोत्पत्ति से पूर्व ही हो जाता है।

'अशिति' के 'शिति' अंश में 'श् इत् यस्य स शित्, तस्मिन् शिति' इस प्रकार बहुव्रीहिसमास नहीं मानना चाहिये। इस तरह मानने से ग्लै म्लै धातुओं के भाववाच्य के लिँट् में 'जग्ले, मग्ले' रूप न बन सकेंगे[2]। अतः 'श् एव इत् शित्, तस्मिन् शिति' इस प्रकार कर्मधारयसमास मान कर 'धातोः' द्वारा आक्षिप्त प्रत्यय के साथ सम्बद्ध करते हुए तदादिविधि करने से 'इत्सञ्ज्ञकशकारादौ प्रत्यये न भवति' इस प्रकार अर्थ करना उचित है।

ग्लै धातु उपदेश में एजन्त है इससे परे हमें लिँट् में कोई शित् प्रत्यय भी नहीं लाना है अतः लिँट् करने से पूर्व ही प्रकृतसूत्र द्वारा इसके ऐकार को आकार आदेश हो कर 'ग्ला' बन जाता है। अब इसके आगे लिँट्, तिप्, णल्, 'आत औ णलः' (४८८) से णल् को औकार आदेश, द्वित्व, अभ्यास-ह्रस्व, 'कुहोश्चुः' (४५४) से चुत्व तथा 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश करने पर 'जग्लौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

सूत्र में 'अशिति' कहने से 'ग्लायति' आदि में यह आत्व प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि वहां शप् अर्थात् शित्प्रत्यय का विषय है। इसी प्रकार लोँट्, लँङ् और विधिलिँङ् के रूपों में भी समझना चाहिये।

---

१. क्योंकि सुपूर्वक ग्लै और म्लै धातुओं से 'आतश्चोपसर्गे' (७८८) द्वारा तब तक 'क' प्रत्यय नहीं हो सकता जब तक ये धातु आकारान्त नहीं हो जातीं, और ये तब तक आकारान्त नहीं हो सकतीं जब तक कोई प्रत्यय इनके आगे नहीं आ जाता। इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय-दोष प्रसक्त हो कर कुछ भी नहीं हो सकेगा। जैसा कि कहा गया है—**अन्योऽन्याश्रयाणि कार्याणि न प्रकल्प्यन्ते**।

२. भाववाच्य में ग्लै, म्लै (ग्ला, म्ला) के लिँट् में 'त' प्रत्यय के स्थान पर एश् आदेश, द्वित्वादि-कार्य तथा आकार का लोप करने पर 'जग्ले, मग्ले' रूप बनते हैं। यदि 'शित्' में बहुव्रीहि मानेंगे तो एश् भी शित् रहेगा और उसके विषय में आत्व न होगा, तब 'जिग्लाये, मिम्लाये' रूप बन जायेंगे जो अनिष्ट हैं। परन्तु कर्मधारय मानने से इत्सञ्ज्ञक शकार जिसके आदि में है ऐसे प्रत्यय के विषय में निषेध होने के कारण यहां आत्व का निषेध न होगा क्योंकि एश् में इत्संज्ञक शकार आदि में नहीं अपितु अन्त में अवस्थित है।

लिँट् में आत्व हो कर सम्पूर्ण प्रक्रिया तथा रूपमाला 'पा' धातु के समान चलती है—जग्लौ, जग्लतुः, जग्लुः । जग्लिथ-जग्लाथ, जग्लथुः, जग्ल । जग्लौ, जग्लिव, जग्लिम ।

लुँट्—में शित् का विषय न होने से सर्वत्र निर्बाध आत्व हो जाता है—ग्लाता, ग्लातारौ, ग्लातारः । लृँट्—ग्लास्यति, ग्लास्यतः, ग्लास्यन्ति । लोँट्—में शप् का विषय होने से आत्व नहीं होता—ग्लायतु-ग्लायतात्, ग्लायताम्, ग्लायन्तु । लँङ्—अग्लायत्, अग्लायताम्, अग्लायन् । वि० लिँङ्—ग्लायेत्, ग्लायेताम्, ग्लायेयुः ।

आ० लिँङ्— शित् का विषय न होने से आत्व, तिप्, इकारलोप तथा यासुट् का आगम करने पर—ग्ला+यास्+त् । अब आकार को वैकल्पिक एत्व करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४९४) वाऽन्यस्य संयोगादेः ।६।४। ६८।।

घुमास्थादेरन्यस्य संयोगादेर्धातोरात एत्वं वाऽऽर्धधातुके किति लिँङि । ग्लेयात्-ग्लायात् ।।

अर्थः—घु, मा, स्था आदि धातुओं से अतिरिक्त संयोगादि धातु के आकार को विकल्प से एकार आदेश हो जाता है आर्धधातुक कित् लिँङ् परे हो तो ।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम् । अन्यस्य ।६।१। संयोगादेः ।६।१। एः ।१।१। लिँङि ।७।१। ('एर्लिँङि' से)। आतः ।६।१। ('आतो लोप इटि च' से)। किति ।७।१। ('दीङो युडचि क्ङिति' से)। 'आर्धधातुके' और 'अङ्गस्य' दोनों अधिकृत हैं । 'आतः' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर 'आदन्तस्य अङ्गस्य' बन जाता है । कित् लिँङ् परे होने पर आदन्त अङ्ग धातु ही हो सकता है अतः वृत्ति में 'धातोः' कहा गया है । संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिस्तस्य संयोगादेः, तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसमासः । अन्यस्य—किस से अन्य ? पीछे अष्टाध्यायी में 'घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि' (५८८) सूत्र पढा गया है अतः 'उस में कहे घुमास्था आदियों से अन्य' यह अर्थ स्वतः प्रतीत होता है । अर्थः—(अन्यस्य) घु, मा, स्था, गा, पा, ओहाक् और षो इन धातुओं से अतिरिक्त (संयोगादेः) संयोगादि (आतः=आदन्तस्य) आदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (वा) विकल्प से (एः) एकार आदेश हो जाता है (आर्धधातुके किति लिँङि) आर्धधातुक कित् लिँङ् परे हो तो । अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह आकार आदेश आदन्त अङ्ग के अन्त्य अल् आकार के स्थान पर होता है ।

'ग्ला+यास्त्' यहां पर 'यास्त्' यह 'लिँङाशिषि' (४३१) से आर्धधातुक लिँङ् है, इस का अवयव यासुट् 'किदाशिषि' (४३२) से कित् भी है । इधर ग्ला धातु घु-मा-स्था आदियों से भिन्न है और इस के आदि में संयोग (ग्ल्) भी विद्यमान है । अतः प्रकृतसूत्र से आकार के स्थान पर विकल्प से एकारादेश हो कर संयोगादि

सकार का लोप (३०९) करने से 'ग्लेयात्, ग्लायात्' दो रूप सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—(एत्वपक्षे) ग्लेयात्, ग्लेयास्ताम्, ग्लेयासुः। ग्लेयाः, ग्लेयास्तम्, ग्लेयास्त। ग्लेयासम्, ग्लेयास्व, ग्लेयास्म। (एत्वाभावे) ग्लायात्, ग्लायास्ताम्, ग्लायासुः। आदि।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—(श्रै पाके) श्रेयात्-श्रायात्, (ध्यै चिन्तायाम्) ध्येयात्-ध्यायात्, (म्लै हर्षक्षये) म्लेयात्-म्लायात्, (ध्मा शब्दाग्नि-संयोगयोः) ध्मेयात्-ध्मायात्, (म्ना अभ्यासे) म्नेयात्-म्नायात्, (घ्रा गन्धोपादाने) घ्रेयात्-घ्रायात्। 'घु-मा-स्था आदियों से अन्य' इस कथन के कारण 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' में विकल्प न होगा अपितु 'एर्लिङि' (४९०) से नित्य एत्त्व हो जायेगा—स्थेयात्।

लुंङ्—में आत्व, तिप्, इकारलोप, च्लि, सिंच्, अनुबन्धलोप तथा अपृक्त तकार को ईट् का आगम होकर—अग्ला+स्+ईत्। ग्लै धातु 'ऊदृदन्तैः०' के अनुसार अनुदात्त है अतः इस से परे सिंच् को इडागम का 'एकाच उपदेशे०' (४७५) से निषेध हो जाता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४९५) यम-रम-नमातां सक् च ।७।२।७३।।

एषां सक् स्याद्, एभ्यः सिंच इट् स्यात् परस्मैपदेषु। अग्लासीत्। अग्लास्यत् ।।

अर्थः—परस्मैपदपरक सिंच् परे होने पर यम्, रम्, नम् तथा आकारान्त धातुओं को सक् का आगम हो जाता है तथा साथ ही सिंच् को भी इट् का आगम हो जाता है।

व्याख्या—यम-रम-नमाताम् ।६।३। सक् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। सिंचि ।७।१। ('अञ्जेः सिंचि' से)। परस्मैपदेषु ।७।३। ('स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु' से)। इट् ।१।१। ('इडत्यर्ति०' से)। यमश्च रमश्च नम् च आत् च यमरमनमातः, तेषाम्= यमरमनमाताम्, इतरेतरद्वन्द्वः। यमरमयोरकार उच्चारणार्थः। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। 'आत्' इस अंश से तदन्तविधि कर ली जाती है। अर्थः—(परस्मैपदेषु सिंचि) परस्मैपदपरक सिंच् परे हो तो (यम-रम-नमाताम्) यम्, रम्, नम् और आकारान्त (अङ्गानाम्) अङ्गों का अवयव (सक्) सक् हो जाता है (च) तथा सिंच् का भी अवयव (इट्) इट् हो जाता है। सक् में ककार इत् है तथा सकारोत्तर अकार उच्चारणार्थक है, कित्त्व के कारण सक् का आगम 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) के अनुसार धातु का अन्तावयव बनता है। इट् का आगम टित् होने से सिंच् का आद्यवयव होता है। उदाहरण यथा—

यम उपरमे (भ्वा० परस्मै०) अयंसीत्, अयंसिष्टाम्, अयंसिषुः।

रमुँ क्रीडायाम् (भ्वा० आ०) व्यरंसीत्, व्यरंसिष्टाम्, व्यरंसिषुः[1]।

णम प्रह्वत्वे शब्दे च (भ्वा० प०) अनंसीत्, अनंसिष्टाम्, अनंसिषुः।

आकारान्तों का उदाहरण प्रकृत है—'अग्ला+स्+ईत्' यहां पर 'ग्ला' यह आकारान्त अङ्ग है, इस से परे 'स्+ईत्' यह परस्मैपदपरक सिँच् विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से आकारान्त अङ्ग को सक् का आगम तथा सिँच् को इट् का आगम हो कर—अग्लास्+इस्+ईत्। अब 'इट ईटि' (४४६) से सिँच् का लोप और उसे सिद्धवत् मान कर सवर्णदीर्घ करने से—अग्लास्+ईत्='अग्लासीत्' प्रयोग सिद्ध होता है।

यद्यपि सक् और इट् के विना भी 'अग्लासीत्' रूप सिद्ध हो सकता था तथापि 'अग्लासिष्टाम्, अग्लासिषुः' आदि प्रयोगों की सिद्धि के लिये यह सूत्र आवश्यक था[2] अतः न्यायवशात् इसे यहां भी प्रवृत्त कर दिया गया है।

लुंङ् के प्रथमपु० के द्विवचन में तस् को ताम् तथा सिँच् प्रत्यय करने पर 'अग्ला+स्+ताम्' इस स्थिति में प्रकृतसूत्र से धातु के अन्त में सक् का आगम तथा सिँच् के आदि में इट् का आगम हो कर—अग्लास्+इस्+ताम्। अब 'आदेश-प्रत्यययोः' (१५०) से सिँच् के सकार को षत्व तथा 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से ताम् के तकार को ष्टुत्व टकार करने से 'अग्लासिष्टाम्' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये। रूपमाला यथा—अग्लासीत्, अग्लासिष्टाम्, अग्लासिषुः। अग्लासीः, अग्लासिष्टम्, अग्लासिष्ट। अग्लासिषम्, अग्लासिष्व, अग्लासिष्म।

लृँङ्—पूर्ववत् इट् का निषेध हो जायेगा—अग्लास्यत्, अग्लास्यताम्, अग्लास्यन्।

इसी प्रकार निम्न सात धातुओं के रूप चलते हैं—

(१) म्लै हर्षक्षये (मुरझाना)। लँट्—म्लायति। लिँट्—मम्लौ। लुँट्—म्लाता। लृँट्—म्लास्यति। लोँट्—म्लायतु-म्लायतात्। लँङ्—अम्लायत्। वि० लिँङ्—म्लायेत्। आ० लिँङ्—म्लेयात् म्लायात्। लुंङ्—अम्लासीत्, अम्लासिष्टाम्, अम्लासिषुः। लृँङ्—अम्लास्यत्।

(२) म्ना अभ्यासे (अभ्यास करना)। शित्प्रत्ययों में 'पाघ्राध्मा०' (४८७) सूत्र से म्ना को मन् आदेश हो जाता है। लँट्—मनति। लिँट्—मम्नौ। लुँट्—

---

१. यहां पर 'व्याङ्परिभ्यो रमः' (७४६) से परस्मैपद होता है। ध्यान रहे कि आत्मनेपद में सक् और इट् नहीं होता—अरंस्त।

२. इस सूत्र से दूसरा लाभ यह है कि सक् और इट् करने से 'अयंसीत्, व्यरंसीत्, अनंसीत्' आदि में प्राप्त हलन्तलक्षणा वृद्धि का 'नेटि' (४७७) से निषेध हो जाता है। अन्यथा 'अयांसीत्, व्यरांसीत्, अनांसीत्' आदि अनिष्ट रूप बनते।

म्नाता। लृट्—म्नास्यति। लोट्—मनतु-मनतात्। लङ्—अमनत्। वि० लिङ्—मनेत्। आ० लिङ्—म्नेयात्-म्नायात्। लुङ्—अम्नासीत्, अम्नासिष्टाम्, अम्नासिषुः। लृङ्—अम्नास्यत्।

(३) ध्यै चिन्तायाम् (ध्यान करना)। लट्—ध्यायति। लिट्—दध्यौ, दध्यतुः, दध्युः। लुट्—ध्याता। लृट्—ध्यास्यति। लोट्—ध्यायतु-ध्यायतात्। लङ्—अध्यायत्। वि० लिङ्—ध्यायेत्। आ० लिङ्—ध्येयात्-ध्यायात्। लुङ्—अध्यासीत्, अध्यासिष्टाम्, अध्यासिषुः। लृङ्—अध्यास्यत्।

(४) गै शब्दे (गाना)। लट्—गायति। लिट्—जगौ, जगतुः, जगुः। लुट्—गाता। लृट्—गास्यति। लोट्—गायतु-गायतात्। लङ्—अगायत्। वि० लिङ्—गायेत्। आ० लिङ्—गेयात्, 'एर्लिङि' (४६०)। लुङ्—अगासीत्, अगासिष्टाम्, अगासिषुः। लृङ्—अगास्यत्।

(५) ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः (फूंक कर बजाना, धौंकना)। शित्प्रत्ययों में 'पाघ्राध्मा०' (४८७) सूत्र से ध्मा को धम् आदेश हो जाता है। लट्—धमति। लिट्—दध्मौ, दध्मतुः, दध्मुः। लुट्—ध्माता। लृट्—ध्मास्यति। लोट्—धमतु-धमतात्। लङ्—अधमत्। वि० लिङ्—धमेत्। आ० लिङ्—ध्मेयात्-ध्मायात्। लुङ्—अध्मासीत्। लृङ्—अध्मास्यत्।

(६) ष्ठा गतिनिवृत्तौ (ठहरना)। शित्प्रत्ययों में 'पाघ्राध्मा०' (४८७) सूत्र से स्था को तिष्ठ् आदेश हो जाता है। लट्—तिष्ठति। लिट्—तस्थौ, तस्थतुः, तस्थुः[1]। लुट्—स्थाता। लृट्—स्थास्यति। लोट्—तिष्ठतु-तिष्ठतात्। लङ्—अतिष्ठत्। वि० लिङ्—तिष्ठेत्। आ० लिङ्—स्थेयात्, (एर्लिङि)। लुङ्—अस्थात्, अस्थाताम्, अस्थुः ('गातिस्था०' से सिच् का लुक् हो जाता है)। लृङ्—अस्थास्यत्।

(७) दाण् दाने (देना)। शित्प्रत्ययों में 'पाघ्राध्मा०' सूत्र से दाण् को यच्छ् आदेश हो जाता है। लट्—यच्छति। लिट्—ददौ, ददतुः, ददुः। लुट्—दाता। लृट्—दास्यति। लोट्—यच्छतु-यच्छतात्। लङ्—अयच्छत्। वि० लिङ्—यच्छेत्। आ० लिङ्—देयात् (घुत्वाद् 'एर्लिङि')। लुङ्—अदात्, अदाताम्, अदुः (गातिस्थाघु०)। लृङ्—अदास्यत्।

[लघु०] ह्वृ कौटिल्ये ॥१८॥ ह्वरति ॥

---

१. यहां 'शर्पूर्वाः खयः' (६४८) सूत्र से अभ्यास का थकार शेष रहता है पुनः उसे चर्त्व से तकार आदेश हो जाता है।

अर्थः—ह्वृ धातु 'कुटिल आचरण करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—कुछ वैदिक प्रयोगों के सिवाय इस धातु का प्रायः लोक में प्रयोग देखा नहीं जाता। ग्रन्थकार यदि यहां 'स्मृ चिन्तायाम्' धातु पढ़ देते तो विद्यार्थियों को अधिक लाभ होता। ह्वृ धातु से लँट् में तिप्, शप् तथा 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से गुण, रपर करने से 'ह्वरति' प्रयोग सिद्ध होता है— ह्वरति, ह्वरतः, ह्वरन्ति। लिँट् के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४९६) ऋतश्च संयोगादेर्गुणः।७।४।१०॥

ऋदन्तस्य संयोगादेरङ्गस्य गुणो लिँटि। उपधाया वृद्धिः—जह्वार, जह्वरतुः, जह्वरुः। जह्वर्थ, जह्वरथुः, जह्वर। जह्वार-जह्वर, जह्वरिव, जह्वरिम। ह्वर्ता॥

अर्थः—संयोग जिस के आदि में हो ऐसे ऋदन्त अङ्ग को गुण हो जाता है लिँट् परे हो तो।

व्याख्या—ऋतः।६।१। च इत्यव्ययपदम्। संयोगादेः।६।१। गुणः।१।१। लिँटि।७।१। ('दयतेर्दिगि लिँटि' से)। 'अङ्गस्य' इस अधिकृत का 'ऋतः' विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'ऋदन्तस्य अङ्गस्य' बन जाता है। संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिः, तस्य=संयोगादेः, बहुव्रीहिः। अर्थः—(लिँटि) लिँट् परे होने पर (संयोगादेः) संयोगादि (ऋतः) ऋदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (गुणः) गुण आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह गुण अङ्ग के अन्त्य अल्-ऋत् के स्थान पर होता है। उदाहरण यथा—

ह्वृधातु से लिँट्० प्रथम पु० के एकवचन में तिप्, णल् हो कर 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) के अनुसार सर्वप्रथम द्वित्व हो जाता है—ह्वृ+ह्वृ+अ। तब 'उरत्' (४७३) सूत्र से अभ्यास के ऋवर्ण को अत्, रपर, हलादिशेष, 'कुहोश्चुः' (४५४) से अभ्यास के हकार को झकार तथा 'अभ्यासे चर्च' (३९९) से झकार को जकार करने पर—जह्वृ+अ। अब यहां 'अचो ञ्णिति' (१८२) से प्राप्त वृद्धि का परत्व के कारण बाध कर के प्रकृतसूत्र से गुण कर दिया जाता है—जह्वर्+अ। पुनः 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधा के अत् को वृद्धि करने पर 'जह्वार' प्रयोग सिद्ध होता है।

नोट—प्रकृतसूत्र का लाभ यद्यपि 'जह्वार' में कुछ नहीं दीखता क्योंकि आरम्भ में ही ऋकार को आर् वृद्धि कर देने से यह रूप सिद्ध हो सकता था तथापि 'जह्वरतुः' आदि में जहां 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से अतुस् आदि के कित्त्व के कारण गुण का निषेध होता था—इस सूत्र की आवश्यकता थी अतः यहां भी न्याय-वशात् इसे प्रवृत्त कर दिया गया है।

द्विवचन में 'जह्वृ+अतुस्' इस स्थिति में 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से प्राप्त गुण का 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) द्वारा अतुस् के कित्त्व के कारण 'क्विङति च' (४३३) से निषेध हो जाता है। इस पर प्रकृतसूत्र से पुनः गुण हो कर 'जह्वरतुः' प्रयोग सिद्ध होता है[1]। इसी प्रकार उस् में 'जह्वरुः' रूप की सिद्धि होती है।

'ऊद्दन्तैः०' के अनुसार ह्वृ धातु अनुदात्त है, अतः थल् में 'एकाच उपदेशे०' (४७५) द्वारा इण्निषेध हो जायेगा। तब क्रादिनियम से लिँट्मात्र में इट् की प्राप्ति होगी। इस पर 'अचस्तास्वत्०' (४८०) से थल् में पुनः इट् का निषेध हो जायेगा। ऋदन्त होने के कारण भारद्वाज के मत में भी इट् न होगा—ह्वृ+थ। अब अच् परे न रहने से 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) की सहायता से द्वित्व को प्राथमिकता न मिलेगी; परत्व के कारण 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' से प्रथम गुण हो जायेगा—ह्वर्+थ। अन्त में द्वित्व और अभ्यासकार्य करने से 'जह्वर्थ' रूप सिद्ध होगा।

'णलुत्तमो वा' (४५६) से उत्तम पु० का णल् विकल्प से णित् होता है। अतः गुण हो कर णित्त्वपक्ष में उपधावृद्धि करने से 'जह्वार' और णित्त्वाभाव में 'जह्वर' दो रूप बनेंगे। वस् और मस् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो कर द्वित्व तथा गुण करने पर—जह्वरिव, जह्वरिम। लिँट् में रूपमाला—जह्वार, जह्वरतुः, जह्वरुः। जह्वर्थ, जह्वरथुः, जह्वर। जह्वार-जह्वर, जह्वरिव, जह्वरिम।

लुँट्—में 'एकाच उपदेशे०' (४७५) से इण्निषेध हो कर 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से सर्वत्र गुण हो जाता है—ह्वर्ता, ह्वर्तारौ, ह्वर्तारः। लृँट्—'ह्वृ+स्य+ति' इस स्थिति में 'एकाच उपदेशे०' (४७५) द्वारा इट् का निषेध प्राप्त है। इस पर अग्रिमसूत्र से इट् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४९७) ऋद्धनोः स्ये ।७।२।७०॥

ऋतो हन्तेश्च स्यस्य इट्। ह्वरिष्यति। ह्वरतु। अह्वरत्। ह्वरेत्॥

अर्थः—ऋदन्त तथा हन् धातु से परे स्य को इट् का आगम हो।

व्याख्या—ऋद्धनोः ।६।२। (पञ्चम्यर्थे षष्ठी)। स्ये ।७।१। (षष्ठ्यर्थे सप्तमी) इट् ।१।१। ('आर्धधातुकस्येड्०' से)। 'अङ्गस्य' इस अधिकृत का पञ्चम्यन्ततया

---

१. अजी 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' तो संयोगादि अङ्ग को ही गुण करता है परन्तु 'जह्वृ+अतुस्' में 'जह्वृ' अङ्ग तो संयोगादि नहीं फिर कैसे गुण हो जायेगा? इस का उत्तर यह है कि यदि ऐसा समझने लगें तो अङ्ग कहीं भी संयोगादि नहीं मिल सकेगा, अतः यहां भूतपूर्वगति का आश्रय लिया जाता है। जब अतुस् प्रत्यय किया गया था तब 'ह्वृ+अतुस्' में 'ह्वृ' अङ्ग संयोगादि था इसलिये यहां भी उसी से काम चल जायेगा।

विपरिणाम हो जाता है—अङ्गात्। ऋत् च हन् च ऋद्धनी, तयोः। 'झयो होऽन्य०'(७५) इति हस्य पूर्वसवर्णत्वम्। इतरेतरद्वन्द्वः। 'अङ्गात्' का विशेषण होने से 'ऋतः' अंश से तदन्तविधि हो कर 'ऋदन्तादङ्गात्' बन जाता है। अर्थः—(ऋद्धनोः) ऋदन्त अङ्ग से या हन् धातु से परे (स्ये=स्यस्य) स्य प्रत्यय का अवयव (इट्) इट् हो जाता है। 'ऊदॄदन्तैः०' के अनुसार सब ऋदन्त धातु अनुदात्त हैं एवं हन् धातु भी नकारान्त अनुदात्तों में परिगणित होने से अनुदात्त है। अतः इन से परे आर्धधातुकप्रत्ययों को इडागम का 'एकाच उपदेशे०' (४७५) द्वारा निषेध प्राप्त है, परन्तु अब इस सूत्र से केवल स्यप्रत्यय को पुनः इडागम विधान किया जाता है। हन् धातु से उदाहरण यथा—हनिष्यति। इस की सिद्धि आगे अदादिगण में देखें।

ऋदन्त का उदाहरण यहां प्रकृत है। 'ह्वृ+स्य+ति' यहां ऋदन्त ह्वृ धातु से परे 'स्य' विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से स्य को इट् का आगम हो कर आर्धधातुकगुण करने पर 'ह्वरिष्यति' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—ह्वरिष्यति, ह्वरिष्यतः, ह्वरिष्यन्ति।

लोँट्—ह्वरतु-ह्वरतात्, ह्वरताम्, ह्वरन्तु। लँङ्—अह्वरत्, अह्वरताम्, अह्वरन्। वि० लिँङ्—ह्वरेत्, ह्वरेताम्, ह्वरेयुः। आ० लिँङ्—'ह्वृ+यास्+त्' यहाँ पर 'किदाशिषि' (४३२) के अनुसार यासुट् कित् है अतः 'क्क्ङिति च' (४३३) से गुण का निषेध प्राप्त होता है, इस पर अग्रिमसूत्र द्वारा पुनः गुण का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४६८) गुणोऽर्ति-संयोगाद्योः ।७।४।२९।।

अर्त्तेः संयोगादेर्ऋदन्तस्य च गुणः स्याद् यकि यादावार्धधातुके लिँङि च। ह्वर्यात्। अह्वार्षीत्। अह्वरिष्यत्॥

अर्थः—ऋ धातु तथा संयोगादि ऋदन्त धातु को गुण हो यक् अथवा यकारादि आर्धधातुक लिँङ् परे हो तो।

व्याख्या—गुणः ।१।१। अर्ति-संयोगाद्योः ।६।२। ऋतः ।६।१। ('रीङ् ऋतः' से)। अङ्गस्य ।६।१। (अधिकृत है)। असार्वधातुके ।७।१। ('अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' से) यग्लिँङोः ।७।२। ('रिङ् शयग्लिँङ्क्षु' से)। यि ।७।१। ('अयङ् यि०' से)। संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिः, बहुव्रीहिः। अर्तिश्च संयोगादिश्च अर्तिसयोगादी, तयोः= अर्तिसंयोगाद्योः, इतरेतरद्वन्द्वः। 'ऋतः' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'ऋदन्तस्य अङ्गस्य' बन जायेगा। 'अर्तिसंयोगाद्योः' में 'संयोगादि' अंश 'ऋदन्तस्य अङ्गस्य' के साथ ही सम्बद्ध हो सकता है 'अर्ति' के साथ नहीं। 'असार्वधातुके' यह 'लिँङि' का विशेषण है। असार्वधातुक लिँङ् का अभिप्राय 'आर्धधातुक लिँङ्' से ही हो सकता है। इस का विशेषण 'यि' है अतः 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' से तदादिविधि हो कर 'यादौ आर्धधातुके लिँङि' उपपन्न होता है।

अर्थः—(ऋतः=ऋदन्तस्य, अर्तिसंयोगाद्योः, अङ्गस्य) 'ऋ' धातु के तथा संयोगादि ऋदन्त अङ्ग के स्थान पर (गुणः) गुण आदेश हो जाता है (यादौ, आर्धधातुके यग्लिँङोः) यक् परे होने पर अथवा यकारादि आर्धधातुक लिँङ् परे होने पर। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह गुण अन्त्य अल्—ऋकार के स्थान पर ही होता है। 'अर्ति' से अभिप्राय यहां 'ऋ' धातु से है। यह धातु भ्वादि और जुहोत्यादि दो गणों में पढ़ी गई है, यहां दोनों का ग्रहण अभीष्ट है। ऋ धातु के यक् में 'अर्यते' तथा आर्धधातुक यकारादि लिँङ् में 'अर्यात्' आदि उदाहरण हैं।

'ह्वृ+यास्+त्' यहां पर 'ह्वृ' धातु संयोगादि भी है और ऋदन्त भी, इस से परे 'यास्' यह यकारादि आर्धधातुक लिँङ् विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से ऋकार को अर् गुण हो कर 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (३०९) से संयोगादि सकार का लोप करते 'ह्वर्यात्' प्रयोग सिद्ध होता है।

संयोगादि ऋदन्त का यक् में उदाहरण 'ह्वर्यते, स्मर्यते' आदि है। 'संयोगादि' कहने से 'क्रियात्' आदि में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। 'यादौ' कहने से 'संस्वृषीष्ट' ('विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसङ्ख्यानम्' इत्यात्मनेपदम्) आदि में गुण नहीं होता। 'आर्धधातुके' के कथन से 'इयृयात्' यहां विधिलिँङ् में गुण नहीं होता।

आ० लिँङ् में रूपमाला—ह्वर्यात्, ह्वर्यास्ताम्, ह्वर्यासुः।

लुँङ्—में तिप्, इकारलोप, च्लि, सिँच्, ईट् का आगम तथा अङ्ग को अट् का आगम हो कर 'अ ह्वृ+स्+ईत्' इस स्थिति में 'सिँचि वृद्धिः०'(४८४) से इगन्त अङ्ग को वृद्धि करने से—अह्वार्षीत्, अह्वार्ष्टाम्, अह्वार्षुः। अह्वार्षीः, अह्वार्ष्टम्, अह्वार्ष्ट। अह्वार्षम्, अह्वार्ष्व, अह्वार्ष्म।

लृँङ्—में 'ऋद्धनोः स्ये' (४९७) से इट् का आगम हो जाता है—अह्वरिष्यत्, अह्वरिष्यताम्, अह्वरिष्यन्।

इसी प्रकार स्मृ चिन्तायाम् (स्मरण करना) धातु के रूप चलते हैं। लँट्—स्मरति। लिँट्—सस्मार, सस्मरतुः, सस्मरुः। लुँट्—स्मर्ता। लृँट्—स्मरिष्यति। लोँट्—स्मरतु-स्मरतात्। लँङ्—अस्मरत्। वि० लिँङ्—स्मरेत्। आ० लिँङ्—स्मर्यात्। लुँङ्—अस्मार्षीत्, अस्मार्ष्टाम्, अस्मार्षुः। लृँङ्—अस्मरिष्यत्। विस्मरति=भूलता है।

[लघु०] श्रु श्रवणे ॥१९॥

अर्थः—श्रु धातु 'सुनना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४९९) श्रुवः शृ च ।३।१।७४॥

श्रुवः 'शृ' इत्यादेशः स्यात्, श्नुप्रत्ययश्च । शृणोति[1] ॥

अर्थः—कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे होने पर श्रु धातु के स्थान पर 'शृ' आदेश हो और साथ ही उस से परे श्नुप्रत्यय भी हो ।

व्याख्या—श्रुवः ।५।१। शृ ।१।१। (लुप्तप्रथमान्तम्)। च इत्यव्ययपदम् । श्नुः ।१।१। ('स्वादिभ्यः श्नुः' से)। कर्तरि ।७।१। ('कर्तरि शप्' से)। सार्वधातुके ।७।१। ('सार्वधातुके यक्' से)। 'प्रत्ययः' और 'परश्च' दोनों अधिकृत हैं । अर्थः—(श्रुवः) श्रु धातु से परे (श्नुः) श्नु प्रत्यय होता है (च) और साथ ही (श्रुवः ।६।१।) श्रु के स्थान पर (शृ) शृ आदेश भी होता है (कर्तरि सार्वधातुके) कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे हो तो । अनेकाल् होने के कारण शृ आदेश सम्पूर्ण श्रु के स्थान पर होगा । श्रु धातु भ्वादिगण में पठित है अतः कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे होने पर इस से परे 'कर्तरि शप्' (३८७) द्वारा शप् प्राप्त था । यह सूत्र उसका अपवाद है । इस प्रकार लँट्, लोँट्, लँङ् और विधिलिँङ् इन चार लकारों में शप् न हो कर श्नुविकरण होगा । श्नुविकरण के साथ श्रु को शृ आदेश भी हो जायेगा । श्नु प्रत्यय के शकार की 'लशक्वतद्धिते' (१३६) से इत्सञ्ज्ञा हो कर लोप हो जाता है 'नु' मात्र अवशिष्ट रहता है । इसे शित् करने का प्रयोजन सार्वधातुकसञ्ज्ञा करना है । इसका उपयोग 'सार्वधातुकमपित्' (५००) में ङिद्वद् करना होगा ।

श्रु धातु से लँट्, प्र० पु० के एकवचन में तिप् हो कर प्रकृत सूत्र द्वारा श्नुविकरण तथा श्रु को शृ आदेश करने पर 'शृ+नु+ति' हुआ । शप् की तरह श्नु भी शित् होने से सार्वधातुक है, अतः श्नु को मान कर 'शृ' को 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से गुण प्राप्त होता है । इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(५००) सार्वधातुकमपित् ।१।२।४।।

अपित् सार्वधातुकं ङिद्वत् । शृणुतः ॥

अर्थः—पित् से भिन्न सार्वधातुक ङिद्वत् हो ।

व्याख्या—सार्वधातुकम् ।१।१। अपित् ।१।१। ङित् ।१।१। ('गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' से)। न पित्—अपित् । अर्थः—(अपित्) पित् से भिन्न (सार्वधातुकम्) सार्वधातुक (ङित्) ङित् हो । 'सिंहो माणवकः' (बच्चा शेर है) की तरह यह अतिदेश है । अतिदेश का पर्यवसान तुल्यता में हुआ करता है । 'बालक शेर है' का अन्ततोगत्वा

---

१. लघुकौमुदी के सब संस्करणों में यहां 'शृणोति' पाठ उपलब्ध होता है । परन्तु हमारे विचार में इस पाठ का सही स्थान 'सार्वधातुकमपित्' (५००) की वृत्ति के बाद होना चाहिये क्योंकि विना उस सूत्र की प्रवृत्ति के यह रूप बन नहीं सकता ।

यही अर्थ पर्यवसित होता है कि बालक शेर की तरह है। अङित् को भी प्रयोजनवशात् ङित् कह दिया जाता है, इस से वह ङिद्वत् हो जाता है। अर्थात् ङित् परे होने पर जो कार्य हुआ करते हैं वे ङिद्वत् के परे होने पर भी हो जाते हैं। ङित् को मान कर प्राप्त गुण और वृद्धि का 'क्क्ङिति च' (४३३) से निषेध हो जाता है, वह निषेध ङिद्वत् प्रत्ययों में भी हो जायेगा।

'शृ+नु+ति' यहां श्नुप्रत्यय पित् से भिन्न है और सार्वधातुक भी है अतः प्रकृतसूत्र से वह ङित् अर्थात् ङिद्वत् हो गया। इस से उसको मान कर प्राप्त होने वाले गुण का 'क्क्ङिति च' (४३३) से निषेध हो जाता है। इधर 'ति' प्रत्यय भी तो तिङ् होने से 'तिङ्शित्०' (३८६) से सार्वधातुक है परन्तु पित् होने से वह ङिद्वत् नहीं होता। अतः उसे मान कर 'शृनु' के उकार को निर्बाध गुण हो जाता है—शृनो+ति। अब 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' (२१) वार्तिक से नकार को णकार करने पर 'शृणोति' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्विवचन में तस्, श्नुविकरण तथा श्रु को शृ आदेश करने पर 'शृ+नु+तस्' हुआ। अब यहां नु को मान कर 'शृ' में, तथा तस् को मान कर 'नु' में गुण प्राप्त होता है। परन्तु पिद्भिन्न होने के कारण दोनों ङिद्वत् हो जाते हैं अतः दोनों स्थानों पर 'क्क्ङिति च' (४३३) से गुण का निषेध हो जाता है—शृनुतस्=शृणुतः।

बहुवचन में लँट् को झि, श्नुविकरण और श्रु को शृ आदेश, तथा 'झोऽन्तः' (३८९) से झि के झकार को अन्त् आदेश करने पर—शृ+नु+अन्ति। अब नु और अन्ति दोनों 'सार्वधातुकमपित्' से ङित् हैं अतः नु को मान कर 'शृ' को तथा 'अन्ति' को मान कर 'नु' को गुण नहीं होता। तब 'अन्ति' इस अजादि प्रत्यय के परे होने पर 'अचि श्नु०' (१९९) से नु के उकार को उवङ् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से यण् विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५०१) हुश्नुवोः सार्वधातुके ।६।४।८७॥

हुश्नुवोरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्योवर्णस्य यण् स्यादचि सार्वधातुके[1]। शृण्वन्ति। शृणोषि, शृणुथः, शृणुथ। शृणोमि॥

अर्थः—हु धातु तथा श्नुप्रत्यायन्त जो अनेकाच् अङ्ग, उन के असंयोगपूर्व उकार के स्थान पर यण् आदेश हो अजादि सार्वधातुक परे हो तो।

---

१. लघुकौमुदी का यह अर्थ भ्रामक, अस्पष्ट तथा अशुद्ध भी है जैसा कि आगे व्याख्या में स्पष्ट है। इसके स्थान पर सिद्धान्तकौमुदी की शुद्ध वृत्ति कण्ठस्थ करनी चाहिये—"जुहोतेः श्नुप्रत्ययान्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य चासंयोगपूर्वोवर्णस्य यण् स्यादजादौ सार्वधातुके"।

व्याख्या—हुश्नुवोः ।६।२। सार्वधातुके ।७।१। अचि ।७।१। ('अचि श्नु०' से) यण् ।१।१। ('इणो यण्' से)।अनेकाचः ।६।१। असंयोगपूर्वस्य ।६।१। ('एरनेकाचोऽसंयोग-पूर्वस्य' से) ओः ।६।१। ('ओः सुँपि' से)।'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। 'अचि' यह 'सार्व-धातुके' का विशेषण है अतः 'यस्मिन्विधिः०' परिभाषा से तदादिविधि हो कर 'अजादौ सार्वधातुके' बन जाता है। 'श्नु' प्रत्यय है अतः 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' के अनुसार श्नुप्रत्ययान्त का ग्रहण होता है। 'अनेकाचः' पद श्नुप्रत्ययान्त अङ्ग के साथ सम्बद्ध है। नास्ति संयोगः पूर्वो यस्मादसौ असंयोगपूर्वः, तस्य। बहुव्रीहिः। 'असंयोगपूर्वस्य' विशेषण 'ओः' का ही समझना चाहिये 'श्नु' का नहीं[1]। **अर्थः**—(अचि=अजादौ सार्वधातुके) अजादि सार्वधातुक परे होने पर (हुश्नुवोः, अनेकाचः, अङ्गस्य) हु धातु के तथा श्नु-प्रत्ययान्त अनेकाच् अङ्ग के (असंयोगपूर्वस्य) जिसके पूर्व संयोग नहीं ऐसे (ओः) उकार के स्थान पर (यण्) यण् आदेश हो जाता है। 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) के अनुसार उकार को यण् वकार ही होता है। यह सूत्र 'अचि श्नु०' (१६६) से प्राप्त उवङ् का अपवाद है।

संक्षेप में यह सूत्र दो कार्य करता है—

(१) अजादि सार्वधातुक परे होने पर 'हु दानाऽदनयोः' (जुहो० परस्मै०) धातु के उवर्ण को यण् अर्थात् उकार आदेश हो जाता है। यथा—जुहु+अति= जुह्वति। सार्वधातुक के विना यण् नहीं होता। यथा लिँट् में – जुहु+अतुस्=जुहुवतुः, जुहुवुः। उवङ् हो जाता है।

(२) अजादि सार्वधातुक परे होने पर श्नुप्रत्ययान्त अनेकाच् अङ्ग के ऐसे उवर्ण के स्थान पर यण् हो जिस उवर्ण से पूर्व संयोग न हो। यथा—सुनु+अन्ति=सुन्वन्ति, चिनु+अन्ति=चिन्वन्ति। असंयोगपूर्व कहने से 'अश्नु+अन्ति=अश्नुवन्ति, आप्नु+अन्ति=आप्नुवन्ति' इत्यादियों में यण् नहीं होता, 'अचि श्नु०' (१६६) से उवङ् हो जाता है।

प्रकृत में 'शृनु+अन्ति' यहां पर 'अन्ति' यह अजादि सार्वधातुक परे है; 'शृनु' यह अनेकाच् अङ्ग है; उकार से पूर्व कोई संयोग भी नहीं है, अतः उकार को यण् वकार हो कर णत्व करने से 'शृण्वन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है।

सिप् और मिप् पित् हैं अतः 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से वे ङिद्वत् नहीं होते। इस लिये उन को मान कर गुण निर्बाध हो जाता है—शृणोषि, शृणोमि।

---

१. यदि श्नु का विशेषण मानेंगे तो 'आप्नुवन्ति, राध्नुवन्ति' आदि में भी यण् प्रसक्त होगा। क्योंकि 'आप्नु+अन्ति' आदि में उकार से पूर्व संयोग है श्नु से पूर्व नहीं।

वस् और मस् में 'शृनु+वस्, शृनु+मस्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्रद्वारा उकार का वैकल्पिक लोप प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५०२) लोपश्चाऽस्याऽन्यतरस्यां म्वोः ।६।४।१०७।।

असंयोगपूर्वस्य प्रत्ययोकारस्य[1] लोपो वा म्वोः परयोः। शृण्वः-शृणुवः। शृण्मः-शृणुमः। शुश्राव, शुश्रुवतुः, शुश्रुवुः। शुश्रोथ, शुश्रुवथुः, शुश्रुव। शुश्राव-शुश्रव, शुश्रुव, शुश्रुम। श्रोता। श्रोष्यति। शृणोतु-शृणुतात्, शृणुताम्, शृण्वन्तु ।।

अर्थः—जिस के पूर्व संयोग नहीं ऐसा जो प्रत्यय का अवयव उकार, तदन्त का विकल्प कर के लोप हो जाता है म् अथवा व् परे हो तो।

व्याख्या—लोपः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। अस्य ।६।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। म्वोः ।७।२। असंयोगपूर्वस्य ।६।१। प्रत्ययस्य ।६।१। उतः ।६।१। ('उतश्च प्रत्ययाद-संयोगपूर्वात्' से विभक्तिविपरिणाम करके)। 'अङ्गस्य' अधिकृत है। 'उतः' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो जायेगी। 'अस्य' से पूर्वसूत्र 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' का प्रत्यवमर्श होता है। अर्थः—(असंयोगपूर्वस्य) जिस के पूर्व संयोग नहीं ऐसा जो (प्रत्ययस्य) प्रत्यय का अवयवभूत (उतः) उकार, तदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग का (म्वोः) मकार अथवा वकार परे होने पर (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में (लोपः) लोप हो जाता है। दूसरी अवस्था में लोप न होने से विकल्प फलित होता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह लोप उदन्त अङ्ग के अन्त्य अल्—उकार का ही होता है। उदाहरण यथा—सुनु+वस्=सुन्वः-सुनुवः। सुनु+मस्=सुन्मः-सुनुमः। सुनु+वहे=सुन्वहे-सुनुवहे। सुनु+महे=सुन्महे-सुनुमहे। इसी प्रकार—चिन्वः-चिनुवः, चिन्मः-चिनुमः आदि।

उकार को 'असंयोगपूर्व' कहा गया है अतः 'अक्ष्णु+वस्=अक्ष्णुवः, अक्ष्णु+मस्=अक्ष्णुमः' इत्यादि में यह लोप प्रवृत्त नहीं होता। यदि 'असंयोगपूर्व' को प्रत्यय का विशेषण बनाते तो 'आप्नु+वस्=आप्नुवः, आप्नु+मस्=आप्नुमः' इत्यादि स्थानों पर प्रत्यय से पूर्व संयोग न होने से इन में भी लोप प्रवृत्त हो जाता जो सर्वथा अनिष्ट था।

इस सूत्र से पीछे अष्टाध्यायी में लुक् का प्रकरण चला आ रहा था, उसे छोड़ कर यहां 'लोपः' कहा गया है। इस का कारण यह है कि लुक् तो समग्र प्रत्यय का

---

१. प्रत्ययसम्बन्धिन उकारस्येत्यर्थः। प्रत्ययभूतोकारस्येत्यर्थत्वे तु 'तन्वः-तनुवः' इत्यादिषु सिद्धेष्वपि 'चिन्वः-चिनुवः' इत्यादयो न सिध्यन्ति।

हुआ करता है प्रत्ययांश का नहीं (देखो—'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' १८९) । लुक् कहने से यद्यपि 'तन्वः-तनुवः, तन्मः-तनुमः' आदियों में समग्र प्रत्यय का लुक् हो जाने से कोई दोष नहीं आता तथापि 'चिन्वः-चिनुवः, चिन्मः-चिनुमः' आदियों में सम्पूर्ण 'नु' का लोप प्रसक्त होने से दोष आयेगा । अब 'लोपः' के ग्रहण से अलोऽन्त्यपरिभाषा की प्रवृत्ति हो कर केवल उकार का ही लोप हो जाने से कहीं दोष प्रसक्त नहीं होता ।

इस सूत्र में 'प्रत्ययस्य' और 'उतः' की अनुवृत्ति तो आ ही रही है पुनः उसके लिये 'अस्य' पद के ग्रहण का क्या प्रयोजन ? इस का उत्तर यह है कि पीछे से 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' इन पञ्चम्यन्त पदों की अनुवृत्ति आ रही थी अब यदि कोई 'म्वोः' को सप्तम्यन्त समझने की बजाय षष्ठ्यन्त समझ लेता तो 'उकारान्त प्रत्यय से परे मकार वकार का लोप हो' ऐसा अनर्थ होने लगता । परन्तु अब 'अस्य' कथन के कारण 'उतः' 'प्रत्ययात्' आदि पदों की षष्ठ्यन्ततया विपरिणति निश्चित हो जाने से कोई सन्देह उत्पन्न नहीं होता—यह है 'अस्य' पद के ग्रहण का प्रयोजन ।

'शृनु+वस्, शृनु+मस्' यहां पर श्नुप्रत्यय का अवयव उकार मौजूद है, इस से पूर्व कोई संयोग भी नहीं, और इस से परे वकार मकार भी विद्यमान हैं अतः प्रकृतसूत्र से तदन्त अङ्ग 'शृनु' का वैकल्पिक लोप प्राप्त होने पर अलोऽन्त्यपरिभाषा से केवल अन्त्य अल्-उकार का ही लोप हो जाने से 'शृण्वः-शृणुवः, शृण्मः, शृणुमः' दो-दो रूप बनते हैं । लँट् में रूपमाला यथा—शृणोति, शृणुतः, शृण्वन्ति । शृणोषि, शृणुथः, शृणुथ । शृणोमि[1], शृण्वः-शृणुवः, शृण्मः-शृणुमः ।

लिँट्—प्र०पु० के एकवचन में तिप्, णल् तथा द्वित्वादि कार्य हो कर—शुश्रु+अ । अब 'अचो ञ्णिति' (१८२) से उकार को औकार वृद्धि और 'एचोऽयवायावः' (२२) से औकार को आवादेश करने से 'शुश्राव' प्रयोग सिद्ध होता है ।

द्विवचन में अतुस् आदेश हो कर 'श्रु+अतुस्' । यहां 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से अतुस् कित् है अतः इसे मान कर आर्धधातुकगुण का निषेध हो जाता है । अब 'अचि श्नु०' (१९९) से उवङ् प्राप्त होता है परन्तु 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) सूत्र से द्वित्वनिमित्तक अच् के परे रहते अन्य अच् के स्थान पर तब तक कोई आदेश नहीं

---

१. 'शृनु+मि' यहां 'लोपश्चास्यान्यतरस्याम्०' (५०२) से उकारलोप तथा 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से गुण युगपत् प्राप्त होते हैं । दोनों सावकाश हैं । लोप, 'शृण्वः-शृणुवः, शृण्मः-शृणुमः' में जहां गुण का विषय नहीं चरितार्थ है ; और गुण 'शृणोति, शृणोषि' आदियों में जहां इस लोप का विषय नहीं, चरितार्थ है । इस पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) से लोप का बाध कर परकार्य गुण हो कर 'शृणोमि' रूप सिद्ध होता है ।

हो सकता जब तक द्वित्व न हो ले। अतः प्रथम द्वित्व और अभ्यासकार्य हो कर तब उवङ् आदेश करने पर 'शुश्रुवतुः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार उस् में 'शुश्रुवुः' रूप सिद्ध होता है।

मध्यमपु० के एकवचन में सिप् को थल् आदेश हो कर—श्रु+थ। श्रुधातु 'ऊदृदन्तैः०' के अनुसार अनुदात्त है अतः 'एकाचः०' (४७५) से इण्निषेध हो जायेगा। इस में क्रादिनियम से भी इट् प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि क्रादियों में श्रु का साक्षात् उल्लेख किया गया है। जब लिट् में इट् प्राप्त ही नहीं तो 'अचस्तास्वत्०' (४८०) आदि सूत्रों की प्रवृत्ति अपने आप ही नहीं होगी। थल् में इट् के न आने से अच् परे न होने के कारण 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) की प्रवृत्ति भी नहीं होगी। तब द्वित्व से परत्व के कारण प्रथम गुण हो जायेगा—श्रो+थ। अब द्वित्व तथा हलादिशेष करने से 'शुश्रोथ' रूप सिद्ध हो जायेगा। द्विवचन और बहुवचन में पूर्ववत्—शुश्रुवथुः, शुश्रुव।

उत्तम पु० के एकवचन में 'णलुत्तमो वा' (४५६) से णल् विकल्प से णित् होता है। णित्त्वपक्ष में 'अचो ञ्णिति' (१८२) से वृद्धि और णित्त्वाभाव में 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से गुण हो कर 'शुश्राव-शुश्रव' दो रूप सिद्ध होते हैं। वस् और मस् में क्रादिनियम से नित्य इण्निषेध होता है। कित्त्व के कारण गुण हो नहीं सकता। अतः द्वित्व हो कर अभ्यासकार्य करने से 'शुश्रुव, शुश्रुम' रूप सिद्ध होते हैं। लिट् में रूपमाला—**शुश्राव, शुश्रुवतुः, शुश्रुवुः। शुश्रोथ, शुश्रुवथुः, शुश्रुव। शुश्राव-शुश्रव, शुश्रुव, शुश्रुम।**

लुँट्—में 'एकाचः०' (४७५) से सर्वत्र इण्निषेध हो कर आर्धधातुकगुण हो जाता है—**श्रोता, श्रोतारौ, श्रोतारः। श्रोतासि, श्रोतास्थः, श्रोतास्थ। श्रोतास्मि, श्रोतास्वः, श्रोतास्मः।**

लृँट्—**श्रोष्यति, श्रोष्यतः, श्रोष्यन्ति।**

लोँट्—में श्नुप्रत्यय तथा श्रु को शृ आदेश हो जाता है—शृणोतु। तातङ् के ङित्त्व के कारण गुण का निषेध हो जायेगा—शृणुतात्। शृणुताम्—में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा ङित्त्व के कारण गुण नहीं होता। शृण्वन्तु—में 'हुश्नुवोः०' (५०१) से यण् हो जाता है। मध्यमपु० के एकवचन में सिप् को हि आदेश, श्नुविकरण तथा श्रु को शृ आदेश होकर 'शृनु+हि' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५०३) उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् ।६।४।१०६॥

असंयोगपूर्वात् प्रत्ययोतो हेलु॑क् । शृणु-शृणुतात्, शृणुतम्, शृणुत । गुणावादेशौ – शृणवानि, शृणवाव, शृणवाम । अशृणोत्, अशृणुताम्, अशृण्वन् । अशृणोः, अशृणुतम्, अशृणुत । अशृणवम्, अशृण्व-अशृणुव, अशृण्म-अशृणुम । शृणुयात्, शृणुयाताम्, शृणुयुः । शृणुयाः, शृणुयातम्, शृणुयात । शृणुयाम्, शृणुयाव, शृणुयाम । श्रूयात् । अश्रौषीत् । अश्रोष्यत् ।।

अर्थः—जिसके पूर्व संयोग नहीं, ऐसा प्रत्यय का अवयव जो उकार, उस से परे 'हि' का लुक् हो ।

व्याख्या—उतः ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । प्रत्ययात् ।५।१। असंयोगपूर्वात् ।५।१। हेः ।६।१। ('अतो हेः' से)। लुक् ।१।१। ('चिणो लुक्' से) । नास्ति संयोगः पूर्वो यस्मादसौ असंयोगपूर्वः, तस्मात् । अर्थः—(असंयोगपूर्वात्) जिसके पूर्व संयोग नहीं ऐसा (प्रत्ययात् =प्रत्ययावयवात्) प्रत्यय का अवयव (उतः) जो उकार, उस से परे (हेः) 'हि' का (लुक्) लुक् हो जाता है। 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' (१८६) के अनुसार प्रत्यय के अदर्शन का नाम लुक् है अतः सम्पूर्ण 'हि' का अदर्शन होगा ।

'शृनु+हि' यहां प्रत्यय के उकार से पूर्व कोई संयोग नहीं अतः इस से परे प्रकृत सूत्र द्वारा 'हि' का लुक् हो कर णत्व करने से 'शृणु' प्रयोग सिद्ध होता है ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण—सुनु+हि=सुनु । चिनु+हि=चिनु । तनु +हि=तनु । कुरु+हि=कुरु । 'उतः' (उकार से परे) के कहने से—'लुनी+हि= लुनीहि, पुनी+हि=पुनीहि' इत्यादियों में 'हि' का लुक् नहीं होता । 'प्रत्ययात्' कथन से 'यु+हि=युहि, रु+हि=रुहि' इत्यादि स्थानों पर धातु के उकार से परे 'हि' का लुक् नहीं होता। 'असंयोगपूर्वात्' यह 'उतः' का ही विशेषण है प्रत्यय का नहीं, यदि प्रत्यय का विशेषण होता तो 'प्राप्नुहि' में भी 'हि' का लुक् हो जाता । अब उकार के संयोगपूर्व होने से नहीं होता ।

उत्तमपु० के एकवचन में मिप्, नि आदेश तथा आट् का आगम हो कर 'शृनु +आनि' । 'आनि' यह पित् सार्वधातुक है अतः इस के परे होने पर 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से गुण करने से—शृनो+आनि । अब 'एचोऽयवायावः' (२२) से ओकार को अवादेश तथा 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' (वा० २१) से नकार को णकार करने पर 'शृणवानि' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार—शृणवाव, शृणवाम । लो॑ट् में रूपमाला यथा—शृणोतु-शृणुतात्, शृणुताम्, शृण्वन्तु । शृणु-शृणुतात्, शृणुतम्, शृणुत । शृणवानि, शृणवाव, शृणवाम ।

लँङ्—तिप्, सिप् और मिप् में गुण हो जाता है अन्यत्र 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङिद्वद्भाव के कारण गुण का निषेध हो जाता है । अशृण्वन्—में 'हुश्नुवोः'

(५०१) से यण् हो जाता है। वस्, मस् में 'लोपश्चास्यान्य०' (५०२) से उकार का वैकल्पिक लोप हो जाता है। रूपमाला यथा—अशृणोत्, अशृणुताम्, अशृण्वन्। अशृणोः, अशृणुतम्, अशृणुत। अशृणवम्, अशृण्व-अशृणुव, अशृण्म-अशृणुम।

वि० लिँङ्—में सर्वत्र श्नुविकरण तथा श्रु को शृ आदेश हो जाता है। ध्यान रहे कि यहां यासुट् के ङित् होने से गुण का निषेध हो जायेगा—शृणुयात्, शृणुयाताम्, शृणुयुः। शृणुयाः, शृणुयातम्, शृणुयात। शृणुयाम्, शृणुयाव, शृणुयाम।

आ० लिँङ्—में आर्धधातुकसञ्ज्ञा के कारण 'श्रुवः शृ च' (४९९) की प्रवृत्ति नहीं होती। यासुट् के कित्त्व के कारण गुण का भी निषेध हो जाता है। 'अकृत्सार्व०' (४८३) से सर्वत्र दीर्घ हो जाता है—श्रूयात्, श्रूयास्ताम्, श्रूयासुः। श्रूयाः, श्रूयास्तम्, श्रूयास्त। श्रूयासम्, श्रूयास्व, श्रूयास्म।

लुँङ्—में इण्निषेध हो कर 'अश्रु+स्+ईत्' इस स्थिति में 'सिँचि वृद्धिः०' (४८४) से उकार को औकार वृद्धि तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से सकार को षकार करने से—अश्रौषीत्। इसी प्रकार आगे भी। रूपमाला यथा—अश्रौषीत्, अश्रौष्टाम्, अश्रौषुः। अश्रौषीः, अश्रौष्टम्, अश्रौष्ट। अश्रौषम्, अश्रौष्व, अश्रौष्म।

लृँङ्—अश्रोष्यत्, अश्रोष्यताम्, अश्रोष्यन्।

[लघु०] गम्लृँ गतौ ॥२०॥

अर्थः—गम्लृँ (गम्) धातु 'गति-गमन-जाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—गम्लृँ धातु का अन्त्य लृँकार अनुनासिक होने से 'उपदेशेऽजनु०' (२८) से इत्सञ्ज्ञक है अतः उस का लोप हो कर 'गम्' ही अवशिष्ट रहता है। इसे लृदित् करने का प्रयोजन वक्ष्यमाण (५०७) सूत्र से लुँङ् में च्लि को अङ् आदेश करना है।

लँट्—तिप्, शप् हो कर 'गम्+अ+ति' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५०४) इषु-गमि-यमां छः ।७।३।७७॥

एषां छः स्याच्छिति। गच्छति। जगाम॥

अर्थः—इषुँ (चाहना), गम् (जाना) और यम् (रोकना) इन तीन धातुओं को शित् परे होने पर छकार आदेश होता है।

व्याख्या—इषुँ-गमि-यमाम् ।६।३। छः ।१।१। छकारादकार उच्चारणार्थः। शिति ।७।१। ('ष्ठिवुँक्लमुँचमां शिति' से)। अर्थः—(शिति) शित् परे होने पर (इषुँ-गमि-यमाम्) इषुँ, गम् और यम् धातुओं के स्थान पर (छः) छ् आदेश होता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह छकारादेश अन्त्य अल् के स्थान पर किया जायेगा। उदाहरण

यथा—इषुँ इच्छायाम् (तुदा० परस्मै०)—इच्छति, इच्छतः, इच्छन्ति । गम्—गम्लृँ गतौ—गच्छति, गच्छतः, गच्छन्ति । यम्—यम उपरमे (भ्वा० परस्मै०) यच्छति, यच्छतः, यच्छन्ति ।

'गम्+अ+ति' यहां शप् का अकार शित् परे है अतः प्रकृतसूत्र से गम् के अन्त्य अल् मकार को छकार आदेश हो कर 'गछ्+अ+ति' हुआ । अब 'छे च' (१०१) सूत्र से छकार परे रहते ह्रस्व को तुक् का आगम कर श्चुत्व करने से 'गच्छति' प्रयोग सिद्ध होता है । लँट् में रूपमाला यथा—गच्छति, गच्छतः, गच्छन्ति । गच्छसि, गच्छथः, गच्छथ । गच्छामि, गच्छावः, गच्छामः ।

लिँट्—तिप्, णल्, द्वित्व, चुत्व और 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि करने से 'जगाम' रूप सिद्ध होता है । द्विवचन में 'गम्+अतुस्' इस स्थिति में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५०५) गम-हन-जन-खन-घसां लोपः क्ङि-त्यनङि ।६।४।९८॥

एषामुपधाया लोपोऽजादौ क्ङिति न त्वङि । जग्मतुः । जग्मुः । जग-मिथ-जगन्थ, जग्मथुः, जग्म । जगाम-जगम, जग्मिव, जग्मिम । गन्ता ॥

अर्थः—गम्, हन्, जन्, खन् और घस् इन पांच धातुओं की उपधा का लोप हो जाता है, अङ् से भिन्न अजादि कित् ङित् प्रत्यय परे हो तो ।

व्याख्या—गम—घसाम् ।६।३। लोपः ।१।१। क्ङिति ।७।१। अनङि ।७।१। अचि ।७।१। ('अचि श्नु०' से)। उपधायाः ।६।१। ('ऊदुपधाया गोहः' से) । यह सूत्र अङ्गा-धिकार में पढ़ा गया है । अङ्गसञ्ज्ञा बिना प्रत्यय के हो नहीं सकती अतः 'प्रत्यये' पद आक्षिप्त कर लिया जाता है । 'अचि' को 'प्रत्यये' का विशेषण बना कर तदादिविधि करने से 'अजादौ प्रत्यये' उपलब्ध हो जाता है । क् च ङ् च क्ङौ, क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित्, तस्मिन्=क्ङिति, बहुव्रीहिः । गम-हनेत्यत्र इतरेतरद्वन्द्वः । गमादिष्वकार उच्चा-रणार्थः । अर्थः—(गम-हन-जन-खन-घसाम्) गम्, हन्, जन्, खन् और घस् इन पाञ्च धातुओं की (उपधायाः) उपधा का (लोपः) लोप हो जाता है (अनङि) अङ् से भिन्न (अचि=अजादौ) अजादि (क्ङिति) कित् ङित् प्रत्यय परे हो तो । 'अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा' (१७६) के अनुसार अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण उपधासञ्ज्ञक होता है ।

'गम्+अतुस्' यहां 'असंयोगाल्लिँट्०' (४५२) से अतुस् कित् है, किञ्च यह अजादि भी है अतः प्रकृतसूत्र से गम् की उपधा गकारोत्तर अकार का लोप प्राप्त होता है । परन्तु 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) के अनुसार जब तक द्वित्व न हो ले तब तक अच् के स्थान पर कोई आदेश नहीं हो सकता, इसलिये सर्वप्रथम द्वित्व हो जायेगा—गम्+

गम्+अतुस्। हलादिशेष तथा अभ्यास के गकार को 'कुहोश्चुः' (४५४) से चुत्व-जकार करने पर—जगम्+अतुस्। अब द्वित्व हो चुकने पर उपधालोप हो कर—जग्म्+अतुस्=जग्मतुस्='जग्मतुः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार बहुवचन में—जग्मुः।

अन्य धातुओं के उदाहरण यथा—हन हिंसागत्योः (अदा० परस्मै०)—जघ्नतुः, जघ्नुः। जन्—जनीँ प्रादुर्भावे (दिवा० आत्मने०), जन जनने (जुहो० परस्मै०)—जज्ञे, जज्ञाते, जज्ञिरे। खन्—खनुँ अवदारणे (खोदना, भ्वा० उभय०)—चख्नतुः, चख्नुः। घस्—अद् धातु के स्थान पर 'लिटयन्यतरस्याम्' (५५३) से घस् (घस्लृँ) आदेश होता है—जक्षतुः, जक्षुः। इन की सिद्धि आगे यथास्थान देखें। ये सब कित् के उदाहरण हैं। ङित् के 'अक्षन्' आदि कुछ उदाहरण वेद में ही उपलब्ध होते हैं, लोक में कोई उदाहरण नहीं मिलता।

इस सूत्र में यदि 'अचि' (अजादौ) न लाते तो 'गम्यते, हन्यते' आदि में यक् के कित् होने से उपधालोप प्रसक्त होता। यदि 'क्ङिति' न कहते तो 'जगाम, जघान' आदि में भी उपधालोप हो जाता। यह लोप अङ् परे होने पर नहीं होता—अगमत्। इसकी सिद्धि आगे लुँङ् में देखें।

लिँट् मध्यमपु० के एकवचन में सिप् को थल् आदेश हो कर—गम्+थ। गम् धातु मकारान्त अनुदात्तों में पढ़ी गई है (पृष्ठ १४६) अतः 'एकाच उपदेशे०' (४७५) से इट् का निषेध हो जाता है। क्रादिनियम से पुनः इसे लिँट् मात्र में इट् प्राप्त होने लगता है इस पर 'उपदेशेऽत्वतः' (४८१) से थल् में पुनः निषेध हो जाता है। तब 'ऋतो भारद्वाजस्य' (४८२) से भारद्वाज के मत में थल् को इट् हो कर द्वित्वादि करने पर 'जगमिथ' प्रयोग सिद्ध होता है। अन्य आचार्यों के मत में इट् का थल् में निषेध ही रहता है, तब 'गम्+थ' इस स्थिति में द्वित्वादि हो कर अपदान्त मकार को अनुस्वार (७८) तथा उसे परसवर्ण (७९) नकार करने से 'जगन्थ' प्रयोग बनता है। इस प्रकार थल् में 'जगमिथ-जगन्थ' ये दो रूप बनते हैं। ध्यान रहे कि सिप्स्थानीय थल् के पित् होने के कारण 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से कित्त्व नहीं होता अतः इट्पक्ष में उपधालोप का प्रश्न ही नहीं उठता।

उत्तमपु० का णल् विकल्प से णित् होता है अतः णित्त्वपक्ष में उपधावृद्धि हो कर—जगाम। णित्त्वाभाव में—जगम। कित्त्वाभाव के कारण उपधालोप नहीं होता। वस् और मस् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो कर पहले द्वित्व और बाद में उपधालोप करने से—जग्मिव, जग्मिम। रूपमाला यथा—जगाम, जग्मतुः, जग्मुः। जगमिथ-जगन्थ, जग्मथुः, जग्म। जगाम-जगम, जग्मिव, जग्मिम।

लुँट्—में 'एकाच उपदेशे०' (४७५) से सर्वत्र इट् का निषेध हो कर मकार

को अनुस्वार और परसवर्ण हो जाता है—गन्ता, गन्तारौ, गन्तारः । गन्तासि, गन्तास्थः, गन्तास्थ । गन्तास्मि, गन्तास्वः, गन्तास्मः ।

लृँट् —में भी 'एकाच उपदेशे०' से इण्निषेध प्राप्त है । इस पर अग्रिमसूत्र द्वारा पुनः इट् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५०६) गमेरिट् परस्मैपदेषु ।७।२।५८।।

गमेः परस्य सादेरार्धधातुकस्येट् स्यात् परस्मैपदेषु । गमिष्यति । गच्छतु । अगच्छत् । गच्छेत् । गम्यात् ।।

अर्थः—गम् धातु से परे सकारादि आर्धधातुक को इट् का आगम हो जाता है परस्मैपद परे हो तो ।

व्याख्या—गमेः ।५।१। इट् ।१।१। परस्मैपदेषु ।७।३। से ।७।१। ('सेऽसिचि०' से)। आर्धधातुके ।७।१। ('आर्धधातुकस्येड्०' से विभक्तिविपरिणाम द्वारा) । 'से' यह 'आर्धधातुके' का विशेषण है अतः 'यस्मिन्विधिः०' से तदादिविधि हो कर 'सादौ' आर्धधातुके बन जाता है । अर्थः—(गमेः) गम् धातु से (से=सकारादौ) सकारादि (आर्धधातुके) आर्धधातुक परे हो तो उसे (इट्) इट् का आगम हो जाता है (परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्यय परे हों तो ।

'गम्+स्य+ति' यहां गम् से परे 'स्य' यह सकारादि आर्धधातुक विद्यमान है इस से परे 'ति' यह परस्मैपद प्रत्यय भी मौजूद है अतः प्रकृतसूत्र से 'स्य' को इट् का आगम हो कर अनुबन्धलोप तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से सकार को षकार करने पर 'गमिष्यति' प्रयोग सिद्ध होता है । रूपमाला यथा—गमिष्यति, गमिष्यतः, गमिष्यन्ति । गमिष्यसि, गमिष्यथः, गमिष्यथ । गमिष्यामि, गमिष्यावः, गमिष्यामः ।

यहां 'परस्मैपदेषु' कहने का यह अभिप्राय नहीं कि परस्मैपद प्रत्यय अवश्य परे हों इस का केवल इतना ही तात्पर्य है कि आत्मनेपद प्रत्यय परे न हों । अत एव 'जिगमिषितुम्, जिगमिषा, जिगमिषिता' आदि कृदन्तों में भी सन् को इट् का आगम हो जाता है । 'गंस्यते' (कर्म०) में आत्मनेपद के कारण इट् का आगम नहीं होता ।

यह इड्विधान केवल सकारादि प्रत्ययों के लिये ही है अतः अन्यत्र निषेध रहेगा ही । यथा—गन्ता, गन्तुम्, गन्तव्यम् आदि में इट् न होगा ।

लोँट्—में शप् परे रहने के कारण 'इषुगमियमां छः' (५०४) से सर्वत्र मकार को छकार हो कर तुक् तथा श्चुत्व हो जाता है—गच्छतु-गच्छतात्, गच्छताम्, गच्छन्तु । गच्छ-गच्छतात्, गच्छतम्, गच्छत । गच्छानि, गच्छाव, गच्छाम । इसी प्रकार लँङ् में भी समझना चाहिये—(लँङ्) अगच्छत्, अगच्छताम्, अगच्छन् । अगच्छः, अगच्छतम्, अगच्छत । अगच्छम्, अगच्छाव, अगच्छाम । (वि० लिँङ्) गच्छेत्, गच्छेताम्, गच्छेयुः । गच्छेः, गच्छेतम्, गच्छेत । गच्छेयम्, गच्छेव, गच्छेम ।

आ० लिङ्—में शित् परे न होने से छत्व नहीं होता । किञ्च यासुट् के कित् होने पर भी अजादि न होने के कारण उपधालोप भी नहीं होता—गम्यात्, गम्यास्ताम्, गम्यासुः । गम्याः, गम्यास्तम्, गम्यास्त । गम्यासम्, गम्यास्व, गम्यास्म ।

लुँङ्—प्रथमपु० के एकवचन में तिप्, इकारलोप, च्लि और अट् का आगम करने पर—अगम्+च्लि+त् । अब 'च्लेः सिँच्' (४३८) से च्लि को सिँच् प्राप्त होता है । इस पर इस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५०७) पुषादि-द्युताद्य्लृदितः परस्मैपदेषु । ३।१।५५ ॥

श्यन्विकरणपुषादेर्द्युतादेर्लृदितश्च परस्य च्लेरङ् परस्मैपदेषु । अगमत् । अगमिष्यत् ॥

अर्थः—श्यन्विकरण वाले पुष् आदि धातु किञ्च द्युत् आदि तथा लृदित् धातुओं से परे च्लि के स्थान पर अङ् आदेश हो जाता है परस्मैपद प्रत्ययों के परे होने पर ।

व्याख्या—पुषादि-द्युतादि-लृदितः ।५।१। परस्मैपदेषु ।७।३। च्लेः ।६।१। ('च्लेः सिँच्' से)। अङ् ।१।१। ('अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' से) । पुष आदिर्येषान्ते पुषादयः, द्युत आदिर्येषां ते द्युतादयः, लृत् (ह्रस्व लृकारः) इत् यस्य स लृदित् । पुषादयश्च द्युतादयश्च लृदित् च एषां समाहारः पुषादि-द्युताद्य्लृदित्, तस्मात् । बहुव्रीहिगर्भसमाहारद्वन्द्वः । अर्थः—(पुषादि—लृदितः) पुषादि, द्युतादि तथा लृदित् धातुओं से परे (च्लेः) च्लि के स्थान पर (अङ्) अङ् आदेश हो जाता है (परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्यय परे हों तो । च्लि का अनुबन्ध-लोप करने पर 'ल्' मात्र अवशिष्ट रहता है उस के स्थान पर यह अङ् आदेश किया जा रहा है। अङ् में ङकारानुबन्ध 'ऋदृशोऽङि गुणः' (७.४.१६) आदियों में अकार को विशिष्ट करने के लिये, 'अख्यत्' आदि में 'आतो लोप इटि च' (४८९) द्वारा आकारलोप आदि कार्यों के लिये तथा 'अपुषत्, अद्युतत्' आदियों में लघूपधगुण के निषेध के लिये जोड़ा गया है ।

पुष्-आदि धातु भ्वादि, दिवादि, क्र्यादि और चुरादि चार गणों में धातुपाठ के अन्तर्गत पढ़े गये हैं । परन्तु यहां पर व्याख्यानवश केवल श्यन्विकरण वाले दैवादिक धातुओं का ही ग्रहण अभिमत है अन्यों का नहीं ।

प्रश्न—इस सूत्र में पुषादियों और द्युतादियों के पृथग्ग्रहण की क्या आवश्यकता है ? इन धातुओं को भी लृदित् क्यों नहीं कर देते जिस से इन से परे च्लि को निर्बाध अङ् होता जायेगा ?

उत्तर—पुषादियों और द्युतादियों में सब धातुओं को लृदित् करने से अत्यन्त गौरवदोष प्रसक्त होगा। इस के अतिरिक्त उन में प्रयोजनवशात् कहीं 'आ' अनुबन्ध (यथा—ञिमिदाँ स्नेहने, ञिक्ष्विदाँ स्नेहनमोचनयोः), कहीं उकार अनुबन्ध (यथा—शमुँ उपशमे, भ्रमुँ अनवस्थाने), कहीं ईकार अनुबन्ध (यथा—मदीँ हर्षे) पहले से ही जुड़ा हुआ है। अब यदि लृकार अनुबन्ध और जोड़ देंगे तो अनुबन्धों का बाहुल्य हो जाने से बड़ी असुविधा उत्पन्न हो जायेगी अतः इन का पृथक् उल्लेख ही उचित है।

यहां प्रकृत में गम्लृँ धातु लृदित् है, च्लि से परे 'त्' (ति) यह परस्मैपद प्रत्यय भी विद्यमान है अतः च्लि को अङ् आदेश हो कर—अगम्+अङ्+त्='अगमत्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि 'गमहनजन०' (५०५) सूत्र में 'अनङि' कहा गया है अतः यहां अङ् परे होने पर उपधालोप नहीं होता।

पुषादियों और द्युतादियों से परे च्लि को अङ् आदेश करने के उदाहरण आगे मूल में ही आयेंगे।

'परस्मैपदेषु' कहने से आत्मनेपद में च्लि को अङ् नहीं होता—अद्योतिष्ट। 'द्युद्भ्यो लुङि' (५३८) से द्युत् धातु के लुङ् में दोनों पद होते हैं।

गम् की लुङ् में रूपमाला यथा—अगमत्, अगमताम्, अगमन्। अगमः, अगमतम्, अगमत। अगमम्, अगमाव, अगमाम।

लृँङ्—में 'स्य' को 'गमेरिट्०' (५०६) से इट् का आगम हो जाता है—अगमिष्यत्, अगमिष्यताम्, अगमिष्यन्।

उपसर्गयोग—आ√गम्=आना, आगच्छति=आता है (आजगाम ततः पम्पां लक्ष्मणेन सह प्रभुः—(रामा० अरण्य० ७५.११)।

अधि√गम्=प्राप्त करना, पाना (यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति। तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति—मनु० २.२१८; गुरोरनुज्ञामधिगम्य मातः—रघु० २.६६)।

अनु√गम्=पीछे जाना, अनुसरण करना (छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्—रघु० २.६; ओदकान्तात् स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्यः—शाकुन्तल)। धारण करना (विपत्तौ च महाल्ँ लोके धीरतामनुगच्छति—हितो० ३.४७); अनुकरण करना (धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति—किरात० ४.३६)।

अव√गम्=जानना-मानना-समझना (कथं शान्तमित्यभिहिते श्रान्त इत्यवगच्छति मूर्खः—मृच्छ० १; तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्—गीता १०.४१); निकट जाना, नीचे जाना (अब्जः समुद्रमवजग्मुरापः—ऋग्वेद १.३२.२)।

अति√गम्=गुजरना-व्यतीत होना (ततो दशाहेऽतिगते कृतशौचो नृपात्मजः—रामा० अयो० ७७.१)।

वि√गम्=दूर भागना, पृथक् होना (सलज्जाया लज्जा व्यगमदिव दूरं मृगदृशः—गीतगोविन्द ; युध्यस्व विगतज्वरः—गीता ३.३०)।

अप√गम्=दूर भागना, छोड़ना, मुँह मोड़ना (सम्पदो नाऽपगच्छन्ति—पञ्च० ३.८ ; समागमाः सापगमाः—हितो० ४.६५)।

उप√गम्=प्राप्त करना, निकट जाना (अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा—नीतिशतक ६ ; शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तम्—रघु० ६.८५)।

निर्√गम्=निकलना (निर्जगाम गृहाच्छुभ्राद्रावणस्याज्ञया बली—रामा० युद्ध० ७८.५)।

उप+आ√गम्=निकट आना (तपोनिधिं वेत्सि न मामुपागतम्—शाकुन्तल ४.१ ; उपाजग्मुर्मुदा युक्ता वचनं चेदमब्रुवन्—रामा० उत्तर० ५१.१६) ; प्राप्त करना (पञ्चत्वमुपागतः—पञ्च० ; परां तुष्टिमुपागमत्—महाभारत)।

प्रति+उद्√गम्=सम्मानार्थ आगे जाना (प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या—रघु० २.२० ; प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः—रघु० ५.२)।

उद्√गम्=ऊपर उठना (असह्यवातोद्गतरेणुमण्डला—ऋतु सं० १.१० ; उद्गतशृङ्गो वत्सः) ; निकलना (इत्युद्गताः पौरवधूमुखेभ्यः शृण्वन् कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः—रघु० ७.१६)।

परि√गम्=चारों ओर घूमना (यथा हि मेरुः सूर्येण नित्यशः परिगम्यते—महाभारत वन० अ० २०४) ; जानना (प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः सन्निवृत्तम्—रघु० ७.७१) ; घेरना-व्याप्त करना (सेनापरिगतः, क्षुधया परिगतः)।

अभि√गम्=पास आना (मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः—मनु० १.१); व्यभिचार करना (अभिगन्तास्मि भगिनीं मातरं वा तवेति ह—याज्ञ० २.२०५)।

प्रति√गम्=लौटना (भवतु प्रतिगमिष्यामस्तावत्—शाकुन्तल)।

सम्√गम्=मिलना-इकट्ठा होना [अकर्मक, 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' १.३.२९. इत्यात्मनेपदम्। यत्र देवा समगच्छन्त विश्वे—ऋग्वेद १०.८२.६]।

अब निम्न धातुओं की रूपसिद्धि में कोई कठिनाई नहीं आयेगी—

(१) यम उपरमे (रोकना)। लँट्—यच्छति। लिँट्—ययाम, येमतुः, येमुः। येमिथ-ययन्थ, येमथुः, येम। ययाम-ययम, येमिव, येमिम। लुँट्—यन्ता। लृँट्—यंस्यति। लोँट्—यच्छतु-यच्छतात्। लँङ्—अयच्छत्। वि० लिँङ्—यच्छेत्। आ० लिँङ्—यम्यात्। लुँङ्—अयंसीत् ('यमरमनमातां सक् च')। लृँङ्—अयंस्यत्।

(२) णम प्रह्वत्वे शब्दे च (नमस्कार करना, शब्द करना)। लँट्—नमति। लिँट्—ननाम, नेमतुः, नेमुः। नेमिथ-ननन्थ, नेमथुः, नेम। ननाम-ननम, नेमिव, नेमिम। लुँट्—नन्ता। लृँट्—नंस्यति। लोँट्—नमतु-नमतात्। लँङ्—अनमत्। वि० लिँङ्—नमेत्। आ० लिँङ्—नम्यात्। लुँङ्—अनंसीत्। लृँङ्—अनंस्यत्। प्रणमति। 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (४५९) इति णत्वम्।

अभ्यास (४)

(१) क्रादिनियम का विवेचन करते हुए इस का लाभ बताइये।

(२) क्रादिसूत्र में 'स्तु' आदियों को नियमार्थ क्यों नहीं मानते?

(३) 'स्वरतिसूति०' के विकल्प में भी क्या क्रादिनियम प्रवृत्त होता है?

(४) भारद्वाजनियम का स्वरूप बतलाते हुए इस का रूपसिद्धि पर प्रभाव स्पष्ट करें।

(५) अजन्तोऽकारवान्० कारिका की सप्रमाण सोदाहरण व्याख्या प्रस्तुत करें।

(६) 'पिबादेशोऽदन्तः' कहने का क्या प्रयोजन है? अन्य आदेश अदन्त क्यों नहीं?

(७) 'आत औ णलः' को 'आत ओ णलः' क्यों नहीं पढ़ देते जिस से कुछ लाघव हो जाये?

(८) 'शिति' का अर्थ 'इत्संज्ञकशकारादौ प्रत्यये' कैसे और क्यों किया जाता है?

(९) 'आतो लोप इटि च' में 'इटि' का विशेषण 'अजादि आर्धधातुक' क्यों लगाया जाता है?

(१०) 'आतः' सूत्र कैसे नियमार्थ है और इस नियम का लाभ क्या है?

(११) 'आदेच उपदेशेऽशिति' के 'अशिति' में कौन सा प्रतिषेध मानना चाहिये?

(१२) 'जग्ले-मम्ले' में 'आदेच उपदेशेऽशिति' की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती?

(१३) 'जहृ्+अतुस्' में संयोगादि अङ्ग न होते हुए भी गुण कैसे होगा?

(१४) 'शृणोमि' में 'लोपश्चास्यान्य०' से उकारलोप क्यों नहीं होता?

(१५) 'हुश्नुवोः०' में 'असंयोगपूर्व' को किस का विशेषण मानना चाहिये उकार का या श्नु का? सोपपत्तिक विवेचन करें।

(१६) 'शृणोति' में ति और श्नु दोनों सार्वधातुक हैं पर ति को मान कर गुण हो जाता है और 'नु' को मान कर नहीं—इस भेद का क्या कारण है?

(१७) निम्न सूत्रों की व्याख्या करें—

ऋतो भारद्वाजस्य, अकृत्सार्व०, नातो लोप इटि च, यमरमनमातां०, ऋतश्च संयो०, गुणोर्ति०, आदेच उप०, हुश्नुवोः०, लोपश्चास्या०, गमहन०, पुषादिद्युता० ।

(१८) निम्न रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

गमिष्यति, जग्मतुः, गच्छति, शृणु, शृण्वः, शृणोति, जह्वरतुः, ह्वर्यात्, शृण्वन्ति, ग्लेयात्, जग्लौ, अपुः, पेयात्, पपतुः, पपौ, पिबति, क्राम्यति, क्षीयात्, चिक्षियिव ।

(१९) क्षि, तप्, पा, ह्वृ, श्रु, गम्—इन की थल् में सिद्धि करें ।

(२०) श्रु, ह्वृ, पा, ग्लै, तप्, क्रम्, गम्—इन की लुँङ् प्र०पु० एकवचन में सिद्धि करें ।

(२१) निम्न धातुओं की लुँङ् और लिँट् में रूपमाला लिखें—

गम्, श्रु, क्षि, ह्वृ, पा, ग्लै, क्रम्, तप् ।

(२२) 'गमेरिट्०' में 'परस्मैपदेषु' के ग्रहण का क्या तात्पर्य है ?

इति परस्मैपदिनः

यहां भ्वादिगण के परस्मैपदी धातुओं का विवेचन समाप्त होता है ।

अथाऽऽत्मनेपदिनः

अब भ्वादिगण के आत्मनेपदी धातुओं का वर्णन प्रारम्भ होता है—

[लघु०] एधँ वृद्धौ ॥१॥

अर्थः—एधँ (एध्) धातु 'बढ़ना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—एधँ धातु में धकारोत्तर अकार अनुनासिक भी है और अनुदात्त भी । 'उपदेशेऽजनु०' (२८) सूत्र से इस की इत्सञ्ज्ञा और 'तस्य लोपः' (३) से लोप हो कर 'एध्' मात्र अवशिष्ट रहता है । अनुदात्तेत् होने से इस से परे लकार के स्थान पर 'अनुदात्तङितः०' (३७८) के अनुसार 'त, आताम्, झ' आदि नौ आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं ।

लँट्—प्र०पु० के एकवचन में 'त' आदेश होकर—एध्+त । अब 'तिङ्शित्०' (३८६) से 'त' की सार्वधातुकसञ्ज्ञा हो कर 'कर्त्तरि शप्' (३८७) से शप् विकरण करने से 'एध्+अ+त' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्--(५०८) टित आत्मनेपदानां टेरे ।३।४।७९।।

टितो लस्यात्मनेपदानां टेरेत्वम् । एधते ।।

अर्थः--टित् लकार के स्थान पर आदेश होने वाले आत्मनेपद प्रत्ययों की टि को एकार आदेश हो।

व्याख्या—टितः ।६।१। आत्मनेपदानाम् ।६।३। टेः ।६।१। ए ।१।१। (लुप्त-प्रथमाकं पदम्)। 'लस्य' यह अधिकृत है। अर्थः—(टितः, लस्य) टित् लकार के स्थान पर होने वाले (आत्मनेपदानाम्) आत्मनेपद प्रत्ययों की (टेः) टि के स्थान पर (ए) एकार आदेश हो जाता है। 'अचोऽन्त्यादि टि' (३९) सूत्र से अन्त्य अच् सहित अग्रिम सारे भाग की टिसञ्ज्ञा का विधान कर चुके हैं। यथा—'त' में 'अ' टि है, 'आताम्' मे 'आम्' टि है, और 'झ' में 'अ' टि है इत्यादि। जिस के टकार की इत्संज्ञा हो वह टित् लकार कहाता है। टित् लकार छः हैं—लँट्, लिँट्, लुँट्, लृँट्, लेँट् और लोँट।

'एध्+अ+त' यहां लँट् टित् लकार था उस के स्थान पर 'त' यह आत्मनेपद प्रत्यय किया गया है। अतः प्रकृतसूत्र से इस की टि अर्थात् अकार को एकार आदेश हो कर 'एधते' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रश्न—पचमानः, यजमानः, वर्धमानः इत्यादियों में लँट् के स्थान पर 'लँटः शतृशानचावप्रथमा०' (८३१) सूत्र से आन (शानच्) आदेश किया जाता है और इस 'आन' की 'तङानावात्मनेपदम्' (३७७) से आत्मनेपदसंज्ञा भी विधान की गई है। तो इस की टि को भी प्रकृतसूत्र से एत्व क्यों नहीं कर देते ?

उत्तर—इस सूत्र में पिछले 'तिप्तस्झि०' (३७५) सूत्र की अनुवृत्ति आ कर 'तिप् आदियों में जो आत्मनेपद उस की टि को एत्व हो' इस प्रकार अर्थ करने से कोई दोष नहीं आता। 'पचमानः' आदि में लँट्स्थानीय 'आन' तिप्-तस् आदियों के अन्तर्गत नहीं आता अतः उस की टि को एत्व नहीं होता।

प्र०पु० के द्विवचन में लँट् को आताम् आदेश हो कर शप् विकरण लाने से—एध्+अ+आताम्। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५०९) आतो ङितः ।७।२।८१।।

अतः परस्य ङिताम् आकारस्य इय् स्यात्। एधेते। एधन्ते।।

अर्थः—अदन्त अङ्ग से परे ङितों के आकार के स्थान पर इय् आदेश हो।

व्याख्या—आतः ।६।१। ङितः ।६।१। अतः ।५।१। इयः ।१।१। ('अतो येयः' से) यकारादकार उच्चारणार्थः। 'अङ्गस्य' इस अधिकृत का पञ्चम्यन्ततया विपरिणाम हो कर 'अङ्गात्' बन जाता है। 'अतः' यह 'अङ्गात्' का विशेषण है इसलिये तदन्तविधि करने से 'अदन्ताद् अङ्गात्' बन जाता है। अर्थः—(अतः=अदन्तात्) अदन्त (अङ्गात्)

अङ्ग से परे (ङितः) ङित् के (आतः) आकार के स्थान पर (इयः=इय्) इय् आदेश हो।

'एध+आताम्' यहां 'एध' यह अदन्त अङ्ग है, इस से परे आताम् 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित् है अतः प्रकृतसूत्र से आताम् के आकार को इय् आदेश हो कर—एध+इय्ताम्। 'लोपो व्योर्वलि' (४२९) से य् का लोप तथा 'आद् गुणः' (२७) से गुण एकादेश करने पर—एधेताम्। अब 'टित आत्मनेपदानां टेरे' (५०८) से आताम् की टि=आम् को एत्व करने पर 'एधेते' प्रयोग सिद्ध होता है।

नोट—'टित आत्मनेपदानां टेरे' (५०८) सूत्र में यदि 'टेः' का ग्रहण न करते तो यह एत्व अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य अल् के स्थान पर होता। इस से 'एधते, एधन्ते' आदि में तो कोई दोष न आता परन्तु 'एधेते' में आताम् के आम् को एत्व न हो कर केवल मकार को एत्व प्राप्त होता जो अनिष्ट था।

प्र० पु० के बहुवचन में लँट् को झ, तथा शप् विकरण करने पर—एध्+अ+झ। अब 'झोऽन्तः'(३८९)सूत्र से झ् के स्थान पर अन्त् आदेश, टि को एत्व तथा 'अतो गुणे' (२७४) से शप् और अन्त् के अकारों को पररूप करने से 'एधन्ते' प्रयोग सिद्ध होता है।

मध्यमपु० के एकवचन में थास् और शप् करने पर 'एध्+अ+थास्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५१०) थासः से ।३।४।८०।।

टितो लस्य थासः से स्यात्। एधसे, एधेथे, एधध्वे। अतो गुणे (२७४)—एधे, एधावहे, एधामहे ।।

अर्थः—टित् लकार के स्थान पर हुए थास् को 'से' आदेश हो।

व्याख्या—थासः ।६।१। से ।१।१। (लुप्तप्रथमान्तम्)। टितः ।६।१। ('टित आत्मनेपदानां टेरे' से)। 'लस्य' यह अधिकृत है। अर्थः—(टितः, लस्य) टित् लकार के स्थान पर आदेश हुआ जो (थासः) थास्, उस के स्थान पर (से) 'से' आदेश हो। 'से' आदेश अनेकाल् होने से सम्पूर्ण थास् के स्थान पर आदिष्ट होता है।

'एध्+अ+थास्' यहां पर टित् लकार-लँट् के स्थान पर थास् आदेश हुआ है अतः प्रकृतसूत्र से थास् को भी 'से' आदेश करने से 'एधसे' प्रयोग सिद्ध होता है।

मध्यमपु० के द्विवचन में आथाम् तथा शप् विकरण हो कर 'एध्+अ+आथाम्' इस स्थिति में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा आथाम् के ङित् होने से 'आतो ङितः' (५०९) से आथाम् के आकार को इय् आदेश, यकारलोप, गुण तथा टि को एत्व करने पर 'एधेथे' प्रयोग सिद्ध होता है। बहुवचन में 'एध्+अ+ध्वम्' इस स्थिति में ध्वम्

की टि=अम् को एत्व ही कर 'एधध्वे' प्रयोग सिद्ध होता है।

उत्तमपु० के एकवचन में लँट् के स्थान पर इट् प्रत्यय तथा शप् विकरण हो कर—एध्+अ+इ। अब यहां व्यपदेशिवद्भाव से 'इ' ही अपनी टि है। अतः 'टित आत्मने०' (५०८) से उसे एकार आदेश तथा वृद्धि को बाध कर 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने से 'एधे' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन और बहुवचन में 'अतो दीर्घो यञि' (३९०) से अदन्त अङ्ग को दीर्घ हो कर टि को एत्व हो जाता है—एधावहे, एधामहे। लँट् में रूपमाला यथा—एधते, एधेते, एधन्ते। एधसे, एधेथे, एधध्वे। एधे, एधावहे, एधामहे।

एध् धातु से लिँट् लकार लाने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५११) इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः ।३।१।३६॥

इजादिर्यो धातुर्गुरुमान् ऋच्छत्यन्यस्तत आम् स्याल्लिँटि ॥

अर्थः—ऋच्छ् से भिन्न ऐसी इजादि धातु जो गुरुवर्ण से युक्त हो, उस से परे आम् प्रत्यय हो जाता है लिँट् परे हो तो।

व्याख्या—इजादेः ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। गुरुमतः ।५।१। अनृच्छः ।५।१। धातोः ।५।१। ('धातोरेकाचः०' से)। आम् ।१।१। लिँटि ।७।१। ('कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिँटि' से)। 'प्रत्ययः, परश्च' का अधिकार आ रहा है। इच् (इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ) आदिर्यस्य स इजादिस्तस्माद् इजादेः, बहुव्रीहिसमासः। गुरुरस्त्यस्मिन् इति गुरुमान्, तस्माद् गुरुमतः। न ऋच्छ् अनृच्छ्, तस्माद् अनृच्छः। अर्थः—(अनृच्छः) ऋच्छ् धातु को छोड़ कर (इजादेः) इच् प्रत्याहार जिस के आदि में हो (च) और साथ ही (गुरुमतः) गुरुवर्ण से भी जो युक्त हो उस (धातोः) धातु से (परः, आम् प्रत्ययः) परे आम् प्रत्यय हो जाता है (लिँटि) लिँट् परे हो तो। तात्पर्य यह है कि लिँट् परे होने पर ऐसी धातु से आम् प्रत्यय होता है जिस में दो बातें पाई जाएं। एक तो आदि में इच् प्रत्याहार हो और दूसरा उस में गुरु वर्ण पाया जाये। परन्तु ऋच्छ् धातु से आम् नहीं होता।

ईह्, ईक्ष्, एज्, एध्, ऊह् आदि धातु इजादि हैं और इन में गुरु वर्ण भी विद्यमान है अतः ये धातु इस सूत्र का विषय हैं। ऋच्छ् धातु भी इजादि है और 'संयोगे गुरु' (४४९) के अनुसार इस में ऋकार गुरु भी है परन्तु सूत्र में 'अनृच्छः' कहने के कारण इस से परे आम् नहीं होगा—आनर्च्छ, आनर्च्छतुः, आनर्च्छुः।

इस सूत्र में इजादि न कह कर यदि केवल 'गुरुमतः' ही कहते तो तक्ष्, रक्ष् आदि धातुओं से भी आम् प्रत्यय होने लगता जो अनिष्ट था—ततक्ष, ररक्ष आदि।

एध् धातु के आदि में एकार इच् विद्यमान है। 'दीर्घञ्च' (४५०) के अनुसार

इस की गुरुसंज्ञा भी है अतः प्रकृतसूत्र से लिँट् परे रहते एध् धातु से परे आम् प्रत्यय हो जाता है—एधाम्+लिँट् । अब 'गोपायाम्' की तरह 'आमः' (४७१) सूत्र से लिँट् का लुक्, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँ की उत्पत्ति और 'आमः' से उस का भी लुक् हो कर 'एधाम्' पदसंज्ञक बन जाता है । पुनः 'कृञ्चानुप्रयुज्यते०' (४७२) द्वारा 'एधाम्' पद से परे लिँट्परक कृ, भू और अस् धातुओं का अनुप्रयोग किया जाता है । सर्वप्रथम कृञ् का अनुप्रयोग करने पर 'एधाम्+कृञ्+लिँट्' बना । अब यहां कृञ् के ञित् होने के कारण 'स्वरितञितः०' (३७९) सूत्र से कर्तृगामी क्रियाफल में आत्मनेपद तथा अन्यत्र परस्मैपद प्रत्यय प्राप्त होते हैं । इस पर अग्रिमसूत्र से व्यवस्था करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५१२) आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य ।१।३।६३॥

आम्प्रत्ययो यस्माद् इत्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । आम्प्रकृत्या तुल्यमनुप्रयुज्यमानात् कृञोऽप्यात्मनेपदम् ॥

अर्थः—जिस से आम् प्रत्यय का विधान किया जाता है आम् की उस प्रकृति को 'आम्प्रत्यय' कहते हैं । आम्प्रत्यय अर्थात् आम् की प्रकृति के समान अनुप्रयुज्यमान कृञ् धातु से भी आत्मनेपद हुआ करता है ।

व्याख्या—आम्प्रत्ययवत् इत्यव्ययपदम् । कृञः ।६।१। अनुप्रयोगस्य ६।१। आत्मनेपदम् ।१।१। ('अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से)। आम् प्रत्ययो यस्मात् स आम्प्रत्ययः । आम् प्रत्यय जिस से विधान किया गया हो उसे 'आम्प्रत्यय' कहते हैं । आम् प्रत्यय लिँट् में एध् आदि धातुओं से विधान किया जाता है अतः आम् के प्रकृतिभूत एध् आदि धातुओं का नाम 'आम्प्रत्यय' हुआ । यहां 'आम्प्रत्यय' शब्द में 'आम् चासौ प्रत्यय आम्प्रत्ययः' इस प्रकार कर्मधारय समास नहीं है अपितु उपर्युक्त प्रकार से अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसमास है । अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि० में केवल अन्यपदार्थ का ही ग्रहण होता है समस्यमानपदों के अर्थ का अन्वय नहीं होता । यथा—'दृष्टमथुरम् आनय' (जिस ने मथुरा देखी है उसे लाओ) यहां आनयन—क्रिया में मथुरा का अन्वय नहीं होता केवल पुरुष को ही लाया जाता है । इसी प्रकार 'आम्प्रत्यय' में भी जिस से आम् प्रत्यय किया जाता है केवल उसी का ही यहां ग्रहण होता है । तद्गुणसंविज्ञान और अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग (सूत्र १३३) में हम विस्तार से लिख चुके हैं वहीं देखें । आम्प्रत्ययेन तुल्यम्—आम्प्रत्ययवत्, 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (११४८) इति वति-प्रत्ययः । अनुप्रयुज्यत इत्यनुप्रयोगः, कर्मणि घञ् । 'कृञः' और 'अनुप्रयोगस्य' इन दोनों में षष्ठीविभक्ति को प्रसंगानुसार पञ्चमीविभक्ति में परिणत कर लेना चाहिये, अथवा सम्बन्धसामान्य में षष्ठी समझनी चाहिये । अर्थः—(आम्प्रत्ययवत्) जिस धातु से

आम् प्रत्यय किया जाता है उस धातु के समान (अनुप्रयोगात् कृञः) अनुप्रयुज्यमान कृञ् धातु से भी (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद हो जाता है। यथा—यहां आम् प्रत्यय किया गया है 'एध्' धातु से। फल चाहे कर्तृगामी हो या अकर्तृ(पर)गामी दोनों अवस्थाओं में उस से 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'(३७८) द्वारा जैसे आत्मनेपद का विधान है वैसे यहां अनुप्रयुज्यमान कृञ् से भी दोनों अवस्थाओं में (फल चाहे कर्तृगामी हो या अकर्तृगामी) आत्मनेपद का ही प्रयोग होगा, परस्मैपद का नहीं।

शङ्का—आम् जिस से किया जाये ऐसी धातु यदि आत्मनेपदी हो तो अनुप्रयुज्यमान कृञ् से परगामी क्रियाफल में परस्मैपद न हो आत्मनेपद ही हो—यह तो उपर्युक्त सूत्र से सिद्ध हो गया। परन्तु यदि आम्प्रकृतिक धातु परस्मैपदी हो (जैसा कि 'गोपायांचकार' आदि में है) तो फिर इस सूत्र की प्रवृत्ति न हो सकेगी। वहां पर तो अनुप्रयुज्यमान कृञ् से क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद तथा अकर्तृगामी होने पर परस्मैपद दोनों प्राप्त होंगे। किन्तु हमें वहां केवल परस्मैपद करना ही अभीष्ट होता है, तो वहां कर्तृगामी क्रियाफल में कृञ् से आत्मनेपद को रोकने के लिये क्या व्यवस्था की जायेगी ?

समाधान—इस के लिये यहां पिछले 'पूर्ववत्सनः' (१.३.६२) सूत्र से 'पूर्ववत्' की अनुवृत्ति ला कर—'अनुप्रयुज्यमान कृञ् से पूर्ववत् आत्मनेपद हो' यह नया अर्थ कर लिया जाता है। यह अर्थ 'आम्प्रत्ययवत्' से भी सिद्ध था अतः 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' के अनुसार नियम उपलब्ध हो जाता है—अनुप्रयुज्यमान कृञ् से यदि आत्मनेपद करना हो तो पहली धातु की तरह ही आत्मनेपद हो, अन्यथा नहीं। 'गोपायाञ्चकार' में पहली धातु गुप् में आत्मनेपद का विधान ही नहीं अतः अनुप्रयुज्यमान कृञ् से भी आत्मनेपद न होगा, केवल परस्मैपद ही किया जायेगा।

सार यह है कि अनुप्रयुज्यमान कृञ् से वही पद किया जायेगा जो आम्प्रकृतिक (आम् की प्रकृतिभूत) धातु का होगा। यदि आम्प्रकृतिक धातु आत्मनेपदी हो तो कृञ् से आत्मनेपद, परस्मैपदी हो तो परस्मैपद और यदि वह उभयपदी हो तो उभयपद होगा। यथा—'एधाञ्चक्रे' यहां आम्प्रकृतिक एध् धातु आत्मनेपदी थी अतः कृञ् से भी आत्मनेपद हुआ है। 'गोपायाञ्चकार' यहां आम्प्रकृतिक गुप् धातु परस्मैपदी थी अतः कृञ् से भी परस्मैपद हुआ है। 'चोरयाञ्चकार, चोरयाञ्चक्रे' यहां आम्प्रकृतिक 'चोरि' धातु 'णिचश्च' (६९५) के अनुसार उभयपदी थी अतः कृञ् से भी उभयपद हुआ है।

प्रकृत में 'एधाम्+कृ+लिँट्' में आम्प्रकृतिक एध् धातु के आत्मनेपदी होने के कारण लिँट् के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय 'त' आदेश हो गया तो 'एधाम्+कृ+त' हुआ। अब यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५१३) लिँटस्तझयोरेशिरेच् ।३।४।८१॥

लिँडादेशयोस्तझयोर् 'एश्-इरेच्' एतौ स्तः। एधाञ्चक्रे, एधाञ्चक्राते, एधाञ्चक्रिरे। एधाञ्चकृषे, एधाञ्चक्राथे ॥

अर्थः—लिँट् के स्थान पर आदेश हुए 'त' और 'झ' प्रत्ययों को क्रमशः एश् और इरेच् आदेश हों।

व्याख्या—लिँटः ।६।१। तझयोः ।६।२। एशिरेच् ।१।१। तश्च झश्च तझौ, तयोः=तझयोः, इतरेतरद्वन्द्वः। एश् च इरेच् च एशिरेच्, समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(लिँटः) लिँट् के स्थान पर आदेश हुए (तझयोः) त और झ प्रत्ययों के स्थान पर (एशिरेच्) एश् और इरेच् आदेश हो जाते हैं। यहां यथासंख्यपरिभाषा से 'त' के स्थान पर 'एश्' तथा 'झ' के स्थान पर 'इरेच्' आदेश होता है। एश् में शकार की तथा इरेच् में चकार की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्संज्ञा होती है। शित् होने से एश् आदेश तथा अनेकाल् होने से इरेच् आदेश सम्पूर्ण त, झ के स्थान पर होंगे। इरेच् में चकार 'चितः' (६.१.१५७) आदि स्वरकार्य के लिये जोड़ा गया है।

'एधाम्+कृ+त' यहां प्रकृतसूत्र से 'त' के स्थान पर एश् सर्वादेश हो कर द्वित्व, अभ्यासकार्य (उरत्, हलादिः शेषः, कुहोश्चुः) तथा 'इको यणचि' (१५) से यण् करने पर—एधाम्+चक्रे। अब 'मोऽनुस्वारः' (७७) से पदान्त मकार को अनुस्वार तथा 'वा पदान्तस्य' (८०) से उसे विकल्प कर के परसवर्ण ञकार करने से 'एधाञ्चक्रे-एधांचक्रे' रूप सिद्ध होते हैं। ध्यान रहे कि 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) सूत्र से लिँट् के स्थान पर आदेश होने वाले 'त' आदि कित् हैं अतः 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से प्राप्त गुण का 'क्क्ङिति च' (४३३) से निषेध हो जाता है। द्विवचन में 'एधाम्+चकृ+आताम्' में यण् हो कर टि को एत्व करने से—एधाञ्चक्राते। बहुवचन में झ को इरेच् आदेश हो कर द्वित्व और यण् हो जाता है—एधाञ्चक्रिरे।

मध्यमपु० के एकवचन में थास्, और 'थासः से' (५१०) द्वारा उसे 'से' आदेश हो कर—एधाम्+कृ+से। यहां पर 'से' यद्यपि वलादि आर्धधातुक है तथापि 'एकाच उपदेशे०' (४७५) से इट् का निषेध हो जाता है। स्मरण रहे कि क्रादि-नियम से भी यहां लिँट् में इट् का आगम नहीं हो सकता क्योंकि क्रादिधातुओं में सब से पहले 'कृ' धातु पढ़ी गई है। अब द्वित्वादि कार्य तथा सकार को षकार करने पर 'एधाञ्चकृषे' प्रयोग सिद्ध होता है। पर[illegible]द के सिप्स्थानीय 'थल्' और आत्मने-पद के थास्स्थानीय 'से' में यहां एक अ[illegible] समझ लेना चाहिये। सिप् प्रत्यय पित् है अतः 'थल्' कित् नहीं होता परन्तु [illegible] पित् नहीं अतः 'से' कित् हो जाता है (देखो—'असंयोगाल्लिँट् कित्' ४५२)।

द्विवचन आथाम् में पूर्ववत् टि को एत्व हो जाता है—एधाञ्चक्राथे ।

बहुवचन में द्वित्वादिकार्य तथा ध्वम् की टि (अम्) को एत्व करने पर 'एधाम्+चकृ+ध्वे' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५१४) इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात् ।८।३।७८।।

इणन्ताद् अङ्गात् परेषां षीध्वंलुङ्लिटां धस्य ढः स्यात् । एधाञ्चकृढ्वे । एधाञ्चक्रे, एधाञ्चकृवहे, एधाञ्चकृमहे । एधाम्बभूव । एधामास । एधिता, एधितारौ, एधितारः । एधितासे एधितासाथे ।।

अर्थः—इणन्त अङ्ग से परे षीध्वम् (आ० लिङ्) शब्द के तथा लुङ् और लिट् के धकार को मूर्धन्य (ढकार) आदेश हो ।

व्याख्या—इणः ।५।१। षीध्वम्-लुङ्-लिटाम् ।६।३। धः ।६।१। 'अङ्गात्' ।५।१। मूर्धन्यः ।१।१। ('अपदान्तस्य मूर्धन्यः' से) । 'इणः' यह 'अङ्गात्' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'इणन्ताद् अङ्गात्' बन जाता है । अर्थः—(इणः=इणन्तात्) इणन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (षीध्वम्-लुङ्-लिटाम्) षीध्वम्, लुङ् और लिट् के (धः) ध् के स्थान पर (मूर्धन्यः) मूर्धस्थानोत्पन्न वर्ण हो जाता है । ('ऋटुरषाणां मूर्धा' के अनुसार मूर्धन्यवर्ण आठ हैं—ऋ, टवर्ग, र् और ष् । स्थानी धकार का संवार, नाद, घोष और महाप्राण यत्न है, इधर मूर्धन्य वर्णों में इस प्रकार के यत्न वाला केवल ढकार ही है अतः आन्तरतम्य के कारण धकार को ढकार आदेश ही होगा) । मूलवृत्ति में ग्रन्थकार ने विद्यार्थियों की सुविधा के लिये सीधा 'ढः स्यात्' लिख दिया है । इण् प्रत्याहार सर्वत्र परले णकार से ही लिया जाता है—यह नहीं भूलना चाहिये । उदाहरण यथा—

षीध्वम्—भृ+षीध्वम्=भृषीढ्वम् । हृ+षीध्वम्=हृषीढ्वम् । (नी) ने+षीध्वम्=नेषीढ्वम् । (च्यु) च्यो+षीध्वम्=च्योषीढ्वम् । (प्लु) प्लो+षीध्वम्=प्लोषीढ्वम् । लुङ्—(कृ) अकृ+ध्वम्=अकृढ्वम् । (भृ) अभृ+ध्वम्=अभृढ्वम् । (नी) अने+ध्वम्=अनेढ्वम् । (च्यु) अच्यो+ध्वम्=अच्योढ्वम् । (प्लु) अप्लो+ध्वम्=अप्लोढ्वम् । लिट्—(कृ) चकृ+ध्वे=चकृढ्वे । (भृ) बभृ+ध्वे=बभृढ्वे । (हृ) जहृ+ध्वे=जहृढ्वे ।

इस सूत्र में 'इणः' इस लिये कहा है कि (पच्) पक्+षीध्वम्=पक्षीध्वम्, (यज्) यक्+षीध्वम्=यक्षीध्वम्, (भज्) भक्+षीध्वम्=भक्षीध्वम् इत्यादियों में कवर्ग से परे ढत्व न हो । यहां पीछे से 'इण्कोः' का अधिकार आ रहा था परन्तु कवर्ग से परे यह विधि अभीष्ट न थी अतः यहां नये सिरे से 'इणः' पद का ग्रहण किया गया है ।

'षीध्वंलुंङ्लिँटाम्' इस लिये कहा है कि—ब्रूध्वे (लँट्, मध्यम० बहु०), ब्रूध्वम् (लोँट्, मध्यम० बहु०), अब्रूध्वम् (लँङ्, मध्यम० बहु०) इत्यादियों में ढत्व न हो। 'अङ्गात्' इस लिये कहा है कि 'परिवेविषीध्वम्' (परिपूर्वक विष्लृँ जुहो० वि० लिँङ् मध्यम० बहु०) यहां 'षीध्वम्' को ढत्व न हो जाये। यहां षीध्वम् में धातु का षकार सम्मिलित है परन्तु अङ्ग 'वेवि' नहीं, वेविष् है।

'एधाम्+चकृ+ध्वे' में इणन्त अङ्ग है चकृ, इस से परे 'ध्वे' यह लिँट् विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से इस के धकार के स्थान पर मूर्धन्य ढकार हो कर अनुस्वार और परसवर्ण करने से 'एधाञ्चकृढ्वे' प्रयोग सिद्ध होता है।

उत्तमपु० के एकवचन इट् में टि को एत्व करने पर 'एधाञ्चक्रे' प्रयोग बनता है। इसी प्रकार द्विवचन और बहुवचन में भी टि को एत्व हो जाता है—एधाञ्चकृवहे, एधाञ्चकृमहे।

भू का अनुप्रयोग करने पर भू धातु के लिँट् लकार की तरह समग्र प्रक्रिया होती है। अस् के अनुप्रयोग की प्रक्रिया 'गोपायामास' पर लिख चुके हैं। भू और अस् के अनुप्रयोगों में 'आम्प्रत्ययवत्०' (५१२) द्वारा आत्मनेपद की आशंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह नियम केवल अनुप्रयुज्यमान कृञ् के लिये ही है। लिँट् में एध् धातु की रूपमाला यथा—(कृपक्षे) एधाञ्चक्रे, एधाञ्चक्राते, एधाञ्चक्रिरे। एधाञ्चकृषे, एधाञ्चक्राथे, एधाञ्चकृढ्वे। एधाञ्चक्रे, एधाञ्चकृवहे, एधाञ्चकृमहे। (भूपक्षे) एधाम्बभूव, एधाम्बभूवतुः, एधाम्बभूवुः। एधाम्बभूविथ, एधाम्बभूवथुः, एधाम्बभूव। एधाम्बभूव, एधाम्बभूविव, एधाम्बभूविम। (अस्पक्षे) एधामास, एधामासतुः, एधामासुः। एधामासिथ, एधामासथुः, एधामास। एधामास, एधामासिव, एधामासिम।

लुँट्—प्रथमपु० के एकवचन में त प्रत्यय, 'लुटः प्रथमस्य०' (४०५) से उसे डा सर्वादेश, तास् विकरण तथा उसे इट् का आगम हो कर—एध्+इतास्+आ। अब डित्व के कारण भसञ्ज्ञा न होने पर भी टि का लोप करने से—एध्+इत्+आ='एधिता' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां 'टित आत्मनेपदानां टेरे' (५०८) से टि को एत्व नहीं होता। इस का कारण यह है कि पाणिनि के अनेक सूत्रों से यह सूचित होता है कि जब तिङ् के स्थान पर कोई आदेश हो जाये तो टि को एत्व नहीं होता[1]। 'एधिता' में त के स्थान पर डा आदेश हुआ है अतः टि को

---

१ पाणिनिजी 'थासः से' की जगह 'थासः सि' सूत्र भी बना सकते थे, 'सि' की टि को एत्व कर देने पर 'से' अपने आप बन जाता। इसी प्रकार लिँट् के त और झ के स्थान पर एश्-इरेच् न कर के इश्-इरिच् भी कर सकते थे, उन की टि को एत्व हो कर एश्-इरेच् अपने आप बन जाता। परन्तु आचार्य का ऐसा न करना यह

एत्व नहीं होता ।

प्र०पु० के द्विवचन में आताम्, उसे रौ आदेश, तास्, इट् तथा 'रि च' से तास् के सकार का लोप करने पर 'एधितारौ' प्रयोग सिद्ध होता है। बहुवचन में झ, उसे रस् आदेश तथा पूर्ववत् सकार का लोप करने से—एधितारः ।

म०पु० के एकवचन में थास्, थासः से, तास् और इट् का आगम हो कर 'एधितास् + से' इस स्थिति में 'तासस्त्योर्लोपः' (४०६) से सकार का लोप करने पर 'एधितासे' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में टि को एत्व हो कर—एधितासाथे। बहुवचन में 'एधितास् + ध्वम्' इस स्थिति में सकार का लोप करने के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५१५) धि च ।८।२।२५।।

धादौ प्रत्यये परे सस्य लोपः । एधिताध्वे ।।

अर्थः—धकारादि प्रत्यय परे होने पर सकार का लोप हो ।

व्याख्या—धि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । सस्य ।६।१। ('रात्सस्य' से) लोपः ।१।१। ('संयोगान्तस्य लोपः' से)[1] । यहां 'प्रत्यये' का अध्याहार कर 'धि' को उस का विशेषण बना कर तदादिविधि करने पर 'धकारादौ प्रत्यये' उपलब्ध हो जाता है[2] ।

सूचित करता है कि तिङ् के आदेशों की टि को एत्व नहीं होता । [वस्तुतस्तु परत्वाद् एत्वे पुनःप्रसङ्गविज्ञानेन डादिषु कृतेषु 'लक्ष्ये लक्षणस्य०' इति न्यायेन नैत्वम् इति 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' सूत्रभाष्ये स्पष्टम्] ।

१. यहां पर अनुवृत्तिप्रदर्शन में बालमनोरमाकार श्रीवासुदेवदीक्षित को महती भ्रान्ति हुई है। वे इसे भूल से अङ्गाधिकार का सूत्र समझ कर 'सः' की अनुवृत्ति 'सः स्यार्धधातुके' (७.४.४९) से तथा 'लोपः' की अनुवृत्ति 'तासस्त्योर्लोपः' (७.४.५०) से लाते हैं। कोई भी व्यक्ति अष्टाध्यायी को खोल कर उन की भ्रान्ति को सुतरां समझ सकता है। श्रीकुमुदरञ्जनराय भिषगाचार्य ने सि० कौ० की अंग्रेजी टीका में बालमनोरमा का अन्धानुकरण कर अपनी अज्ञता ही प्रकट की है। विना अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किये कौमुदीक्रम में आने वालों को प्रायः इस प्रकार के स्खलन प्रतिपद प्राप्त हुआ ही करते हैं।

२. पयस् + धावति = पयो धावति, पयस् + धर = पयोधरः, पयस् + धि = पयोधिः—इत्यादियों में 'ससजुषो रुः' (८.२.६६) के असिद्ध होने से 'धि च' (८.२.५५) द्वारा सकार का लोप प्राप्त होता है। इस के वारण के लिये काशिकाकार ने यहां 'प्रत्यये' का अध्याहार कर 'धकारादौ प्रत्यये' अर्थ किया है। इस से उपर्युक्त

अर्थः--(धि=धकारादौ) धकारादि (प्रत्यये) प्रत्यय परे होने पर (सस्य) सकार का (लोपः) लोप हो जाता है।

'एधितास्+ध्वम्' यहां पर 'ध्वम्' यह धकारादि प्रत्यय परे है अतः प्रकृत-सूत्र से सकार का लोप हो कर टि को एत्व करने से 'एधिताध्वे' प्रयोग सिद्ध होता है।

उत्तमपु० के एकवचन में टि को एत्व करने पर 'एधितास्+ए' इस स्थिति में सकार को हकार करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५१६) ह एति ।७।४।५२॥

तासस्त्योः सस्य हः स्यादेति परे। एधिताहे, एधितास्वहे, एधितास्महे। एधिष्यते, एधिष्येते, एधिष्यन्ते। एधिष्यसे, एधिष्येथे, एधिष्यध्वे। एधिष्ये, एधिष्यावहे, एधिष्यामहे॥

अर्थः—तास् और अस् के सकार को हकार आदेश हो जाता है एकार परे हो तो।

व्याख्या—हः ।१।१। हकारादकार उच्चारणार्थः। एति ।७।१। तासस्त्योः ।६।२। ('तासस्त्योर्लोपः' से)। सः ।६।१। ('सः स्यार्धधातुके' से)। अर्थः—(एति) एकार परे होने पर (तासस्त्योः) तास् और अस् के (सः) स् के स्थान पर (हः) ह् आदेश हो जाता है। अस् का उदाहरण है—व्यतिहे। तास् का उदाहरण यथा—

'एधितास्+ए' यहां एकार परे है अतः प्रकृतसूत्र से तास् के सकार को हकार आदेश हो कर 'एधिताहे' प्रयोग सिद्ध होता है। लुंट् में रूपमाला यथा—एधिता, एधितारौ, एधितारः। एधितासे, एधितासाथे, एधिताध्वे। एधिताहे, एधितास्वहे, एधितास्महे।

लृट्—प्र०पु० के एकवचन में त प्रत्यय, 'स्यतासी लृलुंटोः' (४०३) से स्य-विकरण, इट् का आगम, टि को एत्व तथा प्रत्यय के अवयव सकार को षकार करने पर 'एधिष्यते' प्रयोग सिद्ध होता है। आताम् और आथाम् में 'आतो ङितः' (५०६) से आकार को इय्, यलोप तथा गुण विशेष कार्य हैं—एधिष्येते, एधिष्येथे। थास् को 'से' आदेश हो कर—एधिष्यसे। वहि और महिङ् में 'अतो दीर्घो यञि' (३६०) से दीर्घ हो जाता है। रूपमाला यथा—एधिष्यते, एधिष्येते, एधिष्यन्ते। एधिष्यसे, एधिष्येथे, एधिष्यध्वे। एधिष्ये, एधिष्यावहे, एधिष्यामहे।

स्थलों पर कहीं दोष नहीं आता। कैयट आदि अन्य वैयाकरण यहां 'प्रत्यये' का अध्याहार नहीं मानते। वे यहां 'पदस्य' का अधिकार होने से उस में एकवचन के कारण अखण्डपद में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति स्वीकार करते हैं। इस से उपर्युक्त रूपों में कहीं दोष प्राप्त नहीं होता।

लोँट्—प्र०पु० के एकवचन में लँट् की तरह 'एधते' बन कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५१७) आमेतः ।३।४।९०।।

लोट एकारस्य आम् स्यात् । एधताम्, एधेताम्, एधन्ताम् ॥

अर्थः—लोँट् के एकार के स्थान पर आम् आदेश हो।

व्याख्या—आम् ।१।१। एतः ।६।१। लोँटः ।६।१। ('लोँटो लँङ्वत्' से)। अर्थः—(लोँटः) लोँट् के (एतः) एकार के स्थान पर (आम्) आम् आदेश हो जाता है। 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) द्वारा आम् के मकार की इत्संज्ञा नहीं होती।

'एधते' यहां लोँट् के एकार को आम् आदेश हो कर 'एधताम्' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन और बहुवचन में लँट् की तरह 'एधेते' और 'एधन्ते' बना कर एकार को आम् करने से 'एधेताम्' और 'एधन्ताम्' रूप सिद्ध होते हैं।

म०पु० के एकवचन में लँट् की तरह 'एधसे' बनाने पर 'आमेतः' (५१७) द्वारा एकार को आम् आदेश प्राप्त होता है। इस पर इस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५१८) सवाभ्यां वाऽमौ ।३।४।९१।।

सवाभ्यां परस्य लोँडेतः क्रमाद् वाऽमौ स्तः। एधस्व, एधेथाम्, एधध्वम् ॥

अर्थः—स् और व् से परे लोँट् के एकार को क्रमशः 'व' और 'अम्' आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—सवाभ्याम् ।५।२। वाऽमौ ।१।२। लोँटः ।६।१। ('लोँटो लँङ्वत्' से)। एतः ।६।१। ('आमेतः' से)। वश्च अम् च वाऽमौ, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(सवाभ्याम्) सकार और वकार से परे (लोटः) लोँट् के (एतः) एकार के स्थान पर (वाऽमौ) 'व' और 'अम्' आदेश होते हैं। यह सूत्र 'आमेतः' (५१७) का अपवाद है। यथा-सङ्ख्यपरिभाषा द्वारा सकार से परे एकार को 'व' तथा वकार से परे एकार को 'अम्' आदेश होता है। 'व' आदेश सस्वर तथा 'अम्' आदेश हलन्त है। उदाहरण यथा—

'एधसे' यहां सकार से परे लोँट् के एकार को 'व' आदेश हो कर 'एधस्व' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार म०पु० के बहुवचन में लँट् की तरह 'एधध्वे' बना कर वकार से परे एकार को अम् आदेश करने पर 'एधध्वम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

उत्तमपु० के एकवचन में इट् प्रत्यय, शप् और टि को एत्व करने पर—'एध+ए' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५१९) एत ऐ ।३।४।९३॥

लोँडुत्तमस्य एत ऐ स्यात्। एधै, एधावहै, एधामहै । आटश्च (१९७)—ऐधत, ऐधेताम्, ऐधन्त। ऐधथाः, ऐधेथाम्, ऐधध्वम्। ऐधे, ऐधावहि, ऐधामहि ॥

अर्थः—लोँट् के उत्तमपुरुष के एकार को ऐकार आदेश हो।

व्याख्या—एतः ।६।१। ऐ इति लुप्तप्रथमाकं पदम्। लोँटः ।६।१। ('लोँटो लँङ्वत्' से)। उत्तमस्य ।६।१। ('आडुत्तमस्य०' से)। अर्थः—(लोँटः) लोँट् के (उत्तमस्य) उत्तमपुरुष के (एतः) एकार के स्थान पर (ऐ) ऐकार आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

'एध+ए' यहां लोँट् के उत्तमपु० के एकार को ऐकार होकर 'आडुत्तमस्य पिच्च' (४१८) से उसे आट् का आगम करने से—एध+आ+ऐ। अब 'आटश्च' (१९७) सूत्र से 'आ+ऐ' के स्थान पर ऐकार वृद्धि एकादेश तथा 'वृद्धिरेचि' (३३) से शप् के अकार और उस ऐकार में पुनः ऐकार वृद्धि एकादेश करने पर 'एधै' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि 'एत ऐ' सूत्र का फल 'आमेतः' (५१७) को बाधना है। वहि और महिङ् में शप्, टि को एत्व, एकार को ऐकार, आट् का आगम तथा सवर्णदीर्घ करने से—एधावहै, एधामहै। लोँट् में रूपमाला यथा—एधताम्, एधेताम्, एधन्ताम्। एधस्व, एधेथाम्, एधध्वम्। एधै, एधावहै, एधामहै।

लँङ्—प्र०पु० के एकवचन में त प्रत्यय, शप् तथा 'आडजादीनाम्' (४४४) से आट् का आगम हो कर—आ+एध्+अ+त। अब 'आटश्च' (१९७) सूत्र से आ+ए में ऐकार वृद्धि एकादेश करने से 'ऐधत' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि टित् लकार समाप्त हो चुके हैं अतः 'टित आत्मने०' (५०८) से टि को एत्व नहीं होगा।

प्र०पु० के द्विवचन में आताम्, शप् तथा आट् का आगम हो कर—आ+एध्+अ+आताम्। अब 'आतो ङितः' (५०९) से आताम् के आकार को इय्, यलोप, गुण तथा 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि एकादेश करने पर 'ऐधेताम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्र०पु० के बहुवचन में 'आ+एध्+अ+झ' इस स्थिति में 'झोऽन्तः' (३८९) से झकार को अन्त् आदेश, 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप तथा 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि एकादेश करने पर 'ऐधन्त' प्रयोग सिद्ध होता है।

म०पु० के एकवचन में थास् (टित् लकार न होने से इसे 'से' आदेश न होगा), शप्, आट् का आगम, 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि एकादेश तथा सकार को रुँत्व-विसर्ग

करने पर 'ऐधथाः' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन और बहुवचन में कुछ विशेष नहीं—ऐधेथाम्, ऐधध्वम्।

उत्तमपु० के एकवचन में इट् प्रत्यय, शप् तथा आट् का आगम हो कर 'आ+एध्+अ+इ' इस स्थिति में 'अ+इ' में गुण तथा 'आ+ए' में पूर्ववत् वृद्धि एकादेश करने पर 'ऐधे' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन और बहुवचन में 'अतो दीर्घो यञि' (३९०) से दीर्घ विशेष है। लँङ् में रूपमाला यथा—ऐधत, ऐधेताम्, ऐधन्त। ऐधथाः, ऐधेथाम्, ऐधध्वम्। ऐधे, ऐधावहि, ऐधामहि।

विधिलिँङ्—प्र०पु० के एकवचन में त प्रत्यय हो कर 'एध्+त' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५२०) लिँङः सीयुट् ३।४।१०२॥

सलोपः—एधेत, एधेयाताम्॥

अर्थः—लिँङ् को सीयुट् का आगम हो।

व्याख्या—लिँङः।६।१। सीयुट्।१।१। अर्थः—(लिँङः) लिँङ् का अवयव (सीयुट्) सीयुट् हो जाता है। सीयुट् में उकार उच्चारणार्थक तथा टकार इत्सञ्ज्ञक है। टित् होने के कारण सीयुट् का आगम लिँङ् का आद्यवयव बनता है। ध्यान रहे कि यह सामान्यसूत्र है। परस्मैपदों में इस के अपवाद यासुट् आगम का विधान कर चुके हैं अतः पारिशेष्यात् यह आत्मनेपदों में ही प्रवृत्त होता है।

'एध्+त' यहां प्रकृतसूत्र से लिँङ् को सीयुट् का आगम हो कर शप् विकरण करने से—एध्+अ+सीय् त। अब 'लिँङः सलोपोऽनन्त्यस्य' (४२७) से सार्वधातुक लिँङ् के अनन्त्य सकार का लोप तथा 'लोपो व्योर्वलि' (४२९) से यकार का भी लोप कर गुण करने से 'एधेत' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार द्विवचन में 'एध्+अ+सीय् आताम्' इस स्थिति में अनन्त्य सकार का लोप कर गुण हो जाता है=एधेयाताम्। स्मरण रहे कि यहां पर वल् परे न रहने से 'लोपो व्योर्वलि' (४२९) द्वारा यकार का लोप नहीं होता।

प्र०पु० के बहुवचन में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५२१) झस्य रन्।३।४।१०५॥

लिँङो झस्य रन् स्यात्। एधेरन्। एधेथाः, एधेयाथाम्, एधेध्वम्॥

अर्थः—लिँङ् के 'झ' के स्थान पर 'रन्' आदेश हो।

व्याख्या—झस्य।६।१। रन्।१।१। लिँङः।६।१। ('लिँङः सीयुट्' से)। अर्थः—(लिँङः) लिँङ् के (झस्य) 'झ' के स्थान पर (रन्) रन् आदेश हो। अनेकाल् होने से रन् आदेश सम्पूर्ण 'झ' के स्थान पर होता है। रन् के नकार की इत्सञ्ज्ञा का

'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) द्वारा निषेध हो जाता है।

लिँङ् के प्र०पु० के बहुवचन में 'झ' को 'रन्' आदेश, सीयुट् का आगम तथा शप् विकरण हो कर 'एध्+अ+सीय् रन्' इस अवस्था में अनन्त्य सकार का और यकार का लोप कर गुण करने से 'एधेरन्' प्रयोग सिद्ध होता है।

म० पु० के एकवचन में थास् सीयुट् और शप् हो कर 'एध्+अ+सीय् थास्' इस स्थिति में पूर्ववत् सकार और यकार का लोप कर गुण करने से एधेथास् = 'एधेथाः' प्रयोग सिद्ध होता है। म०पु० के द्विवचन और बहुवचन में भी इसी प्रकार 'एधेयाथाम्, एधेध्वम्' रूप बनते हैं।

उत्तमपु० के एकवचन में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५२२) इटोऽत् ।३।४।१०६।।

लिँङादेशस्य इटोऽत् स्यात्। एधेय, एधेवहि, एधेमहि ।।

अर्थः—लिँङ् के स्थान पर आदेश हुए इट् के स्थान पर 'अ' आदेश हो।

व्याख्या—इटः ।६।१। अत् ।१।१। लिँङः ।६।१। ('लिँङः सीयुट्' से) अत् में तकार मुखसुखार्थ है, आदेश केवल 'अ' ही होता है। यदि 'अत्' आदेश होता तो 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) के निषेध के कारण तकार की इत्सञ्ज्ञा न हो कर अनिष्ट रूप बन जाता। विधीयमान होने से स्वतः सवर्णग्राहकता के अभाव के कारण व्यावर्तनार्थ तपर मानना भी उचित नहीं है। अर्थः—(लिँङः) लिँङ् के स्थान पर आदेश होने वाले (इटः) इट् प्रत्यय के स्थान पर (अत्) 'अ' आदेश हो।

लिँङ् उत्तमपु० के एकवचन में प्रकृतसूत्र से इट् प्रत्यय को 'अ' आदेश हो कर सीयुट् तथा शप् करने से 'एध्+अ+सीय् अ' इस स्थिति में अनन्त्य सकार का लोप तथा अ+ई में गुण एकादेश करने पर 'एधेय' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन और बहुवचन में कुछ विशेष नहीं। वि० लिँङ् में रूपमाला यथा—एधेत, एधेयाताम्, एधेरन्। एधेथाः, एधेयाथाम्, एधेध्वम्। एधेय, एधेवहि, एधेमहि।

आ० लिँङ्—में त आदि प्रत्यय 'लिँङाशिषि' (४३१) से आर्धधातुक होते हैं अतः यहां शप् नहीं होता। सीयुट् का आगम पूर्ववत् होता है परन्तु सार्वधातुक का अवयव न होने से अनन्त्य सकार का लोप नहीं होता। प्र०पु० के एकवचन में 'एध्+सीय् त' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५२३) सुट् तिथोः ।३।४।१०७।।

लिँङस्तथोः सुट्। यलोपः। आर्धधातुकत्वात् सलोपो न। एधिषीष्ट, एधिषीयास्ताम्, एधिषीरन्। एधिषीष्ठाः, एधिषीयास्थाम्, एधिषीध्वम्। एधिषीय, एधिषीवहि, एधिषीमहि। ऐधिष्ट, ऐधिषाताम् ।।

अर्थः—लिँङ् के तकार वा थकार को सुट् का आगम हो ।

व्याख्या—लिँङः ।६।१। ('लिँङः सीयुट्' से)। सुट् ।१।१। तिथोः ।६।२। 'ति' में इकार उच्चारणार्थ है । तिश्च थ् च तिथौ, तयोः=तिथोः । तकारथकारयोरित्यर्थः । अर्थः—(लिँङः) लिँङ् के अवयव (तिथोः) जो तकार और थकार उन का अवयव (सुट्) सुट् हो जाता है । सुट् में उकार उच्चारणार्थ तथा टकार 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञक है अतः 'स्' ही अवशिष्ट रहता है । टित् होने से सुट् का आगम तकार और थकार का आद्यवयव बनता है । सुट् के आने से तप्रत्यय स्त, आताम् प्रत्यय आस्ताम्, थास् प्रत्यय स्थास् तथा आथाम् प्रत्यय आस्थाम् बन जाता है ।

'एध्+सीय् त' यहां प्रकृतसूत्र से तकार को सुट् का आगम हो कर—एध्+सीय् स्त । अब 'सीय्स्त' यह समूचा 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' के अनुसार वलादि आर्धधातुक है । अतः 'आर्धधातुकस्येड्०' (४०१) से इसे इट् का आगम, 'लोपो व्योर्वलि' (४२९) से वल् परे रहते यकार का लोप, सीयुट् और सुट् के सकार को प्रत्ययावयव होने से षत्व तथा 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से तकार को ष्टुत्व-टकार करने पर 'एधिषीष्ट' प्रयोग सिद्ध होता है ।

नोट—सुट् के आगम को सीयुट् का अपवाद नहीं समझना चाहिये ; क्योंकि लिँङ् को सीयुट् होता है और लिँङ् के तकार थकार को सुट्, इस प्रकार दोनों में विषयभेद है । अपवाद तभी अपवाद होता है जब वह उत्सर्ग के साथ समान विषय में प्रवृत्त हो । विषय का भेद होने पर उत्सर्गापवादभाव नहीं हुआ करता । इस प्रकार लिँङ् में सीयुट् और सुट् दोनों आगमों का समावेश हो जाता है ।

ध्यातव्य—यह सुट् का आगम परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों के विधिलिँङ् में भी किया जा सकता है । परन्तु वहां 'लिँङः सलोपो०' (४२७) द्वारा इस का लोप हो जाने से कोई अन्तर नहीं पड़ता । लघुकौमुदी में इसीलिये यह सब बखेड़ा वि०लिँङ् में नहीं उठाया गया । यहां आ० लिँङ् में आर्धधातुक का अवयव होने से सकार का लोप न होने से वह श्रूयमाण रहता है ।

आ० लिँङ् प्र०पु० के द्विवचन में आताम्, सीयुट् तथा सुट् का आगम हो कर—एध्+सीय् आस्ताम् । अब 'सीयास्ताम्' यह समूचा वलादि आर्धधातुक है, इसे इट् का आगम कर सकार को मूर्धन्य षकार करने पर 'एधिषीयास्ताम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

बहुवचन में झप्रत्यय, 'झस्य रन्' (५२१) से उसे रन् आदेश, सीयुट् का आगम, इट् का आगम तथा सकार को षकार करने पर 'एधिषीरन्' प्रयोग सिद्ध होता है । यहां तकार थकार न होने से सुट् नहीं होता ।

मध्यमपु० के एकवचन में थास्, सीयुट्, थकार को सुट् का आगम, इट्, षत्व तथा ष्टुत्व करने पर—एधिषीष्ठाः । द्विवचन में भी इसी तरह—एधिषीयास्थाम् ।

मध्यमपु० के बहुवचन में ध्वम्, सीयुट्, इट्, यकारलोप तथा षत्व करने पर—एधिषीध्वम् । ध्यान रहे कि यहां 'इणः षीध्वम्०' (५१४) से षीध्वम् के धकार को ढकार नहीं होता, कारण कि वह इणन्त अङ्ग से परे नहीं है । 'एध्+इषीध्वम्' यहां पर इट् का आगम प्रत्यय का अवयव परादि होने से अङ्ग इकारान्त नहीं अपितु धकारान्त रहता है ।

उत्तमपु० के एकवचन में इट् प्रत्यय, 'इटोऽत्' (५२२) से उसे अकार आदेश, सीयुट् का आगम, वलादि आर्धधातुक को इट् का आगम तथा सकार को षकार करने पर 'एधिषीय' प्रयोग सिद्ध होता है । द्विवचन और बहुवचन में यकार का लोप हो जाता है । रूपमाला यथा—एधिषीष्ट, एधिषीयास्ताम्, एधिषीरन् । एधिषीष्ठाः, एधिषीयास्थाम्, एधिषीध्वम् । एधिषीय, एधिषीवहि, एधिषीमहि ।

लुँङ्—प्र०पु० के एकवचन में तप्रत्यय, च्लि, उसे सिँच् आदेश, सिँच् के आर्धधातुक होने से इट् का आगम तथा 'आडजादीनाम्' (४४४) से अङ्ग को आट् का आगम हो कर 'आ+एध्+इस्+त' हुआ । अब 'आटश्च' (१९७) से 'आ+ए' में ऐकार वृद्धि, सकार को षकार और ष्टुत्व से तकार को टकार करने पर 'ऐधिष्ट' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार द्विवचन आताम् में 'ऐधिषाताम्' बनता है । प्र०पु० के बहुवचन में 'एध् + इस् + झ' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५२४) आत्मनेपदेष्वनतः ।७।१।५।।

अनकारात् परस्य आत्मनेपदेषु झस्य 'अत्' इत्यादेशः स्यात् । ऐधिषत । ऐधिष्ठाः, ऐधिषाथाम्, ऐधिढ्वम् । ऐधिषि, ऐधिष्वहि, ऐधिष्महि । ऐधिष्यत, ऐधिष्येताम्, ऐधिष्यन्त । ऐधिष्यथाः, ऐधिष्येथाम्, ऐधिष्यध्वम् । ऐधिष्ये, ऐधिष्यावहि, ऐधिष्यामहि ।।

अर्थः—अत् (ह्रस्व अकार) से भिन्न वर्ण से परे आत्मनेपद प्रत्यय के अवयव झ् को 'अत्' आदेश हो ।

व्याख्या—आत्मनेपदेषु ।७।३। अनतः ।५।१। झः ।६।१। ('झोऽन्तः' से)। अत् ।१।१। ('अदभ्यस्तात्' से)। न अत् अनत् तस्माद् अनतः । अर्थः—(अनतः) अत् से भिन्न वर्ण से परे (आत्मनेपदेषु) आत्मनेपद प्रत्ययों में स्थित (झः) झ् के स्थान पर (अत्) अत् आदेश हो । 'अत्' आदेश में तकार की इत्संज्ञा नहीं होती, 'न विभक्तौ०' (१३१) से निषेध हो जाता है । यह सूत्र 'झोऽन्तः' (३८९) का अपवाद है । ध्यान रहे कि यह 'अत्' आदेश 'झ' प्रत्यय के केवल आदि झकार के स्थान पर ही विधान किया जाता है उस के अन्त्य अकार के स्थान पर नहीं । अतः 'अत्' में वह 'अ' जोड़ने पर 'अत' इस प्रकार स्वरान्त हो जाता है ।

'एध्+इस्+झ' यहां पर अत्-भिन्न वर्ण सकार से परे आत्मनेपद प्रत्यय में

स्थित झ् के स्थान पर अत् आदेश हो कर 'एध्+इस्+अत् अ' बना। अब अङ्ग को आट् का आगम, 'आटश्च' (१६७) से वृद्धि तथा सकार को षकार करने पर 'ऐधिषत' प्रयोग सिद्ध होता है।

सूत्र में 'अनतः' (अत् से भिन्न) इस लिये कहा है कि लँट् में 'एधन्ते' आदि में शप् के अकार से परे अत् आदेश न हो जाये[1]। 'आत्मनेपदेषु' कहने से परस्मैपद में झ् को अत् आदेश नहीं होता। यथा— शृनु+अन्ति=शृण्वन्ति। चिन्वन्ति। सुन्वन्ति।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—चिन्वते, चिन्वताम्, अचिन्वत। पुनते, लुनते आदि। इन सब की सिद्धि आगे यथास्थान देखें।

लुँङ् म० पु० के बहुवचन ध्वम् के आने पर सिँच्, इट् का आगम, आट् और वृद्धि करने पर 'ऐध्+इस्+ध्वम्' बना। अब 'धि च' (५१५) सूत्र से सकार का लोप होकर—ऐधि+ध्वम्। यहां 'ऐधि' यह इणन्त अङ्ग है अतः इस से परे लुँङ् (ध्वम्) के धकार को 'इणः षीध्वम्०' (५१४) से ढकार करने पर 'ऐधिढ्वम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

नोट— ध्वम् प्रत्यय किया गया था 'एध्' से। बाद में सिँच् और इट् बीच में आ गये; 'यस्मात्प्रत्ययविधिः०' (१३३) सूत्र में तदादिग्रहण के कारण ध्वम् के परे रहते 'ऐधिस्' यह सम्पूर्ण समुदाय अङ्ग था। अब इस अङ्ग के सकार का लोप हो चुकने पर एकदेशविकृतन्याय से 'ऐधि' भी अङ्ग है और यह इणन्त भी है इस लिये इस से परे लुँङ् के धकार को ढकार हो जाता है[2]।

---

१. यदि कोई यह कहे कि लँट् में शप् करने से पहले 'एध्+झ' इस अवस्था में धकार से परे झकार को 'अत्' आदेश कर लेंगे तो यह ठीक नहीं। क्योंकि 'कृताऽकृतप्रसङ्गी यो विधिः स नित्यः' (३६३ सूत्र की व्याख्या देखें) के अनुसार शप् नित्य और अत् आदेश अनित्य है [अत् आदेश करें या न करें दोनों अवस्थाओं में शप् प्राप्त होता है, परन्तु यदि शप् कर दें तो अत् आदेश प्राप्त नहीं होता] अतः प्रथम नित्य कार्य हो कर बाद में ह्रस्व अकार के उत्पन्न हो जाने से उस से परे झकार को अत् आदेश नहीं होता।

२. कई वैयाकरण यहां 'इणः' से इट्भिन्न इण् का ही ग्रहण करते है क्योंकि इस से अगले सूत्र ['विभाषेटः' ८.३.७९] में अनुवर्त्यमान इस 'इणः' पद का इट्-भिन्न इण् अर्थ ही सम्भव है। इस तरह उन के मत में 'ऐधि+ध्वम्' यहां अङ्गसंज्ञा होने पर भी इणन्त न होने से ढकार नहीं होगा—'ऐधिध्वम्' प्रयोग ही बनेगा। पाणिनीयव्याकरण के प्राचीन व्याख्याकारों में न्यासकार श्रीजिनेन्द्रबुद्धि इस मत के पोषक हैं। वे ८.३.७९ सूत्र की व्याख्या में 'अलवि+ध्वम्' में स्पष्टतया 'इणः

शङ्का — व्याकरणशास्त्र में एक परिभाषा प्रसिद्ध है—'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' (देखें सूत्र २५५ की व्याख्या) अर्थात् जब निमित्त नष्ट हो जाता है तब उस निमित्त से उत्पन्न कार्य भी स्वतः नष्ट हो जाता है। जैसे 'ष्ठा' (ठहरना) धातु के आदि षकार को जब 'धात्वादेः षः सः' (२५५) से सकार आदेश कर देते हैं तब उस के कारण उत्पन्न हुआ ष्टुत्व भी अपने आप नष्ट हो कर 'स्था' धातु बन जाती है. इस प्रकार स्थाता, स्थास्यति, अस्थात् आदि रूप सिद्ध हो जाते हैं। तो इस परिभाषा के अनुसार 'ऐधि+ध्वम्' में 'धि च' (५१५) द्वारा सिँच् का लोप हो जाने पर जब वलादि आर्धधातुक ही नहीं रहता तो इट् का भी लोप हो जाना चाहिये ?

समाधान—यह परिभाषा लोकव्यवहार पर आश्रित है। लोक में दोनों प्रकार का व्यवहार देखा जाता है। कभी तो निमित्त के हट जाने पर तज्जन्य कार्य हट जाया करता है और कभी नहीं भी हटता। यथा - दर्पण के सामने पुष्प को लाने पर दर्पण में प्रतीत होने वाला राग (रंग) पुष्प को हटाते ही हट जाता है परन्तु इस के विपरीत महल बनाने वाले बढ़ई और कारीगरों के चले जाने या मर जाने पर भी उन के कार्य (महल) की सत्ता बनी रहती है, घट के कारण दण्ड-कुलाल आदि के नष्ट हो जाने पर भी घट की सत्ता बनी रहती है। इस प्रकार लौकिकन्यायलब्ध यह परिभाषा सार्वत्रिक नहीं समझनी चाहिये। जहां जैसी प्रयोगसिद्धि अभीष्ट हो उसे वैसा प्रयुक्त करना चाहिये। अत एव 'अस्य अपत्यम् इः' ('अ' का लड़का 'इ') यहां 'अत इञ्' (१०११) द्वारा अदन्त प्रकृति से उत्पन्न इञ् प्रत्यय 'यस्येति च' (२३६) द्वारा सम्पूर्ण प्रकृति के लुप्त हो जाने पर भी बना रहता है, लुप्त नहीं होता। इसी प्रकार यहां 'ऐधि+ध्वम्' में भी समझ लेना चाहिये।

लुँङ् के उत्तमपु० के एकवचन में इट्प्रत्यय, सिँच्, इट् का आगम, आट् और 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि करने पर 'ऐधिषि' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार

षीध्वम्०' की प्राप्ति भी स्वीकार नहीं करते। कलापकव्याकरण के रचयिता आचार्य शर्ववर्मन्, चान्द्रव्याकरण के रचयिता आचार्य चन्द्रगोमी, सरस्वतीकण्ठाभरण के रचयिता महाराज भोज आदि अनेक वैयाकरणों ने यहां इणन्त धातु से परे ही ढत्व का विधान किया है। यथा—(१) नाम्यन्ताद् धातोराशीरद्यतनीपरोक्षासु धो ढः (नाम्यन्ताद् =इणन्तात्। कलापकव्या० आख्यातवृत्ति सूत्र ४२६)। (२) धातोः सीलुङ्लोश्च धो ढः (चान्द्रव्या० ६.४.९९)। (३) धातोरिणः षीध्वंलुङ्लिटां धो ढः (सरस्वतीकण्ठा० ७.४.१०५)। अतः इन वैयाकरणों के मतानुसार 'ऐधि+ध्वम्' में इणन्त धातु न होने से ढकार नहीं होता। परन्तु श्रीहरदत्त ढत्व वाले पक्ष के पोषक हैं। उन का मत पदमञ्जरी (८.३.७९) सूत्र पर देखा जा सकता है।

द्विवचन और बहुवचन में—ऐधिष्वहि, ऐधिष्महि। ध्यान रहे कि यहां सिँच् तो आर्धधातुक है पर वहि और महिङ् आर्धधातुक नहीं अतः उन को इट् का आगम नहीं होता। लुँङ् में रूपमाला यथा—ऐधिष्ट, ऐधिषाताम्, ऐधिषत। ऐधिष्ठाः, ऐधिषाथाम्, ऐधिढ्वम्। ऐधिषि, ऐधिष्वहि, ऐधिष्महि। माङ् के योग में—मा भवान् एधिष्ट, मा त्वम् एधिष्ठाः आदि।

लृँङ्—में कोई विशेष कार्य नहीं होता। सर्वत्र स्य, इट् और षत्व करने पर रूप सिद्ध होते हैं—ऐधिष्यत, ऐधिष्येताम्, ऐधिष्यन्त। ऐधिष्यथाः, ऐधिष्येथाम्, ऐधिष्यध्वम्। ऐधिष्ये, ऐधिष्यावहि, ऐधिष्यामहि।

अब निम्नलिखित अनुदात्तेत् धातुओं के रूप उपर्युक्त सूत्रों की सहायता से बड़ी आसानी से चलाए जा सकते हैं—

(१) लोकृँ दर्शने (देखना)। लँट्—लोकते। लिँट्—लुलोके, लुलोकाते, लुलोकिरे। लुँट्—लोकिता। लृँट्—लोकिष्यते। लोँट्—लोकताम्। लँङ्—अलोकत। वि० लिँङ्—लोकेत। आ० लिँङ्—लोकिषीष्ट। लुँङ्—अलोकिष्ट, अलोकिषाताम्, अलोकिषत। अलोकिष्ठाः, अलोकिषाथाम्, अलोकिढ्वम्। अलोकिषि, अलोकिष्वहि, अलोकिष्महि। लृँङ्—अलोकिष्यत। विलोकते=देखता है।

(२) लोचृँ दर्शने (देखना)। लँट्—लोचते। लिँट्—लुलोचे। लुँट्—लोचिता। लृँट्—लोचिष्यते। लोँट्—लोचताम्। लँङ्—अलोचत। वि० लिँङ्—लोचेत। आ० लिँङ्—लोचिषीष्ट। लुँङ्—अलोचिष्ट। लृँङ्—अलोचिष्यत।

(३) चेष्टँ चेष्टायाम् (चेष्टा करना)। लँट्—चेष्टते। लिँट्—चिचेष्टे। लुँट्—चेष्टिता। लृँट्—चेष्टिष्यते। लोँट्—चेष्टताम्। लँङ्—अचेष्टत। वि० लिँङ्—चेष्टेत। आ० लिँङ्—चेष्टिषीष्ट। लुँङ्—अचेष्टिष्ट। लृँङ्—अचेष्टिष्यत।

(४) वेष्टँ वेष्टने (लपेटना)। लँट्—वेष्टते। लिँट्—विवेष्टे। लुँट्—वेष्टिता। लृँट्—वेष्टिष्यते। लोँट्—वेष्टताम्। लँङ्—अवेष्टत। वि० लिँङ्—वेष्टेत। आ० लिँङ्—वेष्टिषीष्ट। लुँङ्—अवेष्टिष्ट। लृँङ्—अवेष्टिष्यत।

(५) टुवेपृँ कम्पने (कांपना)। लँट्—वेपते। लिँट्—विवेपे। लुँट्—वेपिता। लृँट्—वेपिष्यते। लोँट्—वेपताम्। लँङ्—अवेपत। वि० लिँङ्—वेपेत। आ० लिँङ्—वेपिषीष्ट। लुँङ्—अवेपिष्ट। लृँङ्—अवेपिष्यत।

(६) भाषँ व्यक्तायां वाचि (बोलना)। लँट्—भाषते। लिँट्—बभाषे। लुँट्—भाषिता। लृँट्—भाषिष्यते। लोँट्—भाषताम्। लँङ्—अभाषत। वि० लिँङ्—भाषेत। आ० लिँङ्—भाषिषीष्ट। लुँङ्—अभाषिष्ट। लृँङ्—अभाषिष्यत।

(७) भासृँ दीप्तौ (चमकना)। लँट्—भासते। लिँट्—बभासे। लुँट्—भासिता। लृँट्—भासिष्यते। लोँट्—भासताम्। लँङ्—अभासत। वि० लिँङ्—

भासेत । आ० लिँङ्—भासिषीष्ट । लुँङ्—अभासिष्ट । लृँङ्—अभासिष्यत ।

(८) काशृँ दीप्तौ (चमकना) । लँट्—काशते । लिँट्—चकाशे । लुँट्—काशिता । लृँट्—काशिष्यते । लोँट्—काशताम् । लँङ्—अकाशत । वि० लिँङ्—काशेत । आ० लिँङ्—काशिषीष्ट । लुँङ्—अकाशिष्ट । लृँङ्—अकाशिष्यत । प्रकाशते ।

(९) ग्रसुँ अदने (खाना) । लँट्—ग्रसते । लिँट्—जग्रसे । लुँट्—ग्रसिता । लृँट्—ग्रसिष्यते । लोँट्—ग्रसताम् । लँङ्—अग्रसत । वि० लिँङ्—ग्रसेत । आ० लिँङ्—ग्रसिषीष्ट । लुँङ्—अग्रसिष्ट । लृँङ्—अग्रसिष्यत ।

(१०) गर्हुँ कुत्सायाम् (निन्दा करना) । लँट्—गर्हते । लिँट्—जगर्हे । लुँट्—गर्हिता । लृँट्—गर्हिष्यते । लोँट्—गर्हताम् । लँङ्—अगर्हत । वि० लिँङ्—गर्हेत । आ० लिँङ्—गर्हिषीष्ट । लुँङ्—अगर्हिष्ट । लृँङ्—अगर्हिष्यत ।

(११) भिक्षँ याच्ञायाम् (मांगना, भीख मांगना) । लँट्—भिक्षते । लिँट्—बिभिक्षे । लुँट्—भिक्षिता । लृँट्—भिक्षिष्यते । लोँट्—भिक्षताम् । लँङ्—अभिक्षत । वि० लिँङ्—भिक्षेत । आ० लिँङ्—भिक्षिषीष्ट । लुँङ्—अभिक्षिष्ट । लृँङ्—अभिक्षिष्यत ।

(१२) शिक्षँ विद्योपादाने (सीखना) । लँट्—शिक्षते । लिँट्—शिशिक्षे । लुँट्—शिक्षिता । लृँट्—शिक्षिष्यते । लोँट्—शिक्षताम् । लँङ्—अशिक्षत । वि० लिँङ्—शिक्षेत । आ० लिँङ्—शिक्षिषीष्ट । लुँङ्—अशिक्षिष्ट । लृँङ्—अशिक्षिष्यत ।

(१३) श्लाघृँ कत्थने (श्लाघा करना) । लँट्—श्लाघते । लिँट्—शश्लाघे । लुँट्—श्लाघिता । लृँट्—श्लाघिष्यते । लोँट्—श्लाघताम् । लँङ्—अश्लाघत । वि० लिँङ्—श्लाघेत । आ० लिँङ्—श्लाघिषीष्ट । लुँङ्—अश्लाघिष्ट । लृँङ्—अश्लाघिष्यत ।

(१४) यतीँ प्रयत्ने (यत्न करना) । लँट्—यतते । लिँट्—येते, येताते, येतिरे (अत एकहल्मध्ये० ४६०) । लुँट्—यतिता । लृँट्—यतिष्यते । लोँट्—यतताम् । लँङ्—अयतत । वि० लिँङ्—यतेत । आ० लिँङ्—यतिषीष्ट । लुँङ्—अयतिष्ट । लृँङ्—अयतिष्यत । प्रयतते ।

(१५) मुदँ हर्षे (प्रसन्न होना) । लँट्—मोदते । लिँट्—मुमुदे । लुँट्—मोदिता । लृँट्—मोदिष्यते । लोँट्—मोदताम् । लँङ्—अमोदत । वि० लिँङ्—मोदेत । आ० लिँङ्—मोदिषीष्ट । लुँङ्—अमोदिष्ट । लृँङ्—अमोदिष्यत ।

(१६) शकिँ शङ्कायाम् (शङ्का करना) । लँट्—शङ्कते (इदितो नुम् धातोः; ४६३) । लिँट्—शशङ्के । लुँट्—शङ्किता । लृँट्—शङ्किष्यते । लोँट्—शङ्कताम् । लँङ्—अशङ्कत । वि० लिँङ्—शङ्केत । आ० लिँङ्—शङ्किषीष्ट । लुँङ्—अशङ्किष्ट । लृँङ्—अशङ्किष्यत ।

(१७) कपिँ चलने (कांपना) । लँट्—कम्पते । लिँट्—चकम्पे । लुँट्—कम्पिता । लृँट्—कम्पिष्यते । लोँट्—कम्पताम् । लँङ्—अकम्पत । वि० लिँङ्—

कम्पेत । आ० लिँङ्—कम्पिषीष्ट । लुँङ्—अकम्पिष्ट । लृँङ्—अकम्पिष्यत ।

(१८) लघिँ गतौ (लांघना) । लँट्—लङ्घते । लिँट्—ललङ्घे । लुँट्—लङ्घिता । लृँट्—लङ्घिष्यते । लोँट्—लङ्घताम् । लँङ्—अलङ्घत । वि० लिँङ्—लङ्घेत । आ० लिँङ्—लङ्घिषीष्ट । लुँङ्—अलङ्घिष्ट । लृँङ्—अलङ्घिष्यत ।

(१९) ईक्षँ दर्शने (देखना) । लँट्—ईक्षते । लिँट्—ईक्षाञ्चक्रे, ईक्षाम्बभूव, ईक्षामास । लुँट्—ईक्षिता । लृँट्—ईक्षिष्यते । लोँट्—ईक्षताम् । लँङ्—ऐक्षत । वि० लिँङ्—ईक्षेत । आ० लिँङ्—ईक्षिषीष्ट । लुँङ्—ऐक्षिष्ट । लृँङ्—ऐक्षिष्यत । निरीक्षते—निरीक्षण करता है ।

(२०) ईहँ चेष्टायाम् (चेष्टा करना) । लँट्—ईहते । लिँट्—ईहाञ्चक्रे, ईहाम्बभूव, ईहामास । लुँट्—ईहिता । लृँट्—ईहिष्यते । लोँट्—ईहताम् । लँङ्—ऐहत । वि० लिँङ्—ईहेत । आ० लिँङ्—ईहिषीष्ट । लुँङ्—ऐहिष्ट । लृँङ्—ऐहिष्यत ।

(२१) वदिँ अभिवादनस्तुत्योः (नमस्कार करना, स्तुति करना) । लँट्—वन्दते । लिँट्—ववन्दे । लुँट्—वन्दिता । लृँट्—वन्दिष्यते । लोँट्—वन्दताम् । लँङ्—अवन्दत । वि० लिँङ्—वन्देत । आ० लिँङ्—वन्दिषीष्ट । लुँङ्—अवन्दिष्ट । लृँङ्—अवन्दिष्यत । ['वन्दे मातरम्'; वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ (तुलसी०)]

[लघु०] कमुँ कान्तौ ॥२॥

अर्थः—कमुँ (कम्) धातु 'चाहना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—यहां पर कान्ति' का अर्थ 'दीप्ति=चमकना' नहीं अपितु 'इच्छा करना या चाहना' है । 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यों में कम् धातु 'चाहना' अर्थ में ही प्रयुक्त देखी जाती है । दीप्त्यर्थक 'कान्ति' शब्द 'कन्' (चमकना) धातु से निष्पन्न होता है । कमुँ धातु में उकार अनुनासिक होने से इत्सञ्ज्ञक है[1] । इसे उदित् करने का फल 'उदितो वा' (८८२) द्वारा क्त्वा में इट् का विकल्प करना है—कमित्वा, कान्त्वा । किञ्च इस से 'यस्य विभाषा' (७.२.१५) द्वारा निष्ठा में इट् का निषेध भी सिद्ध हो जाता है—कान्तः, कान्तवान् । इस धातु में सर्वप्रथम अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५२५) कमेर्णिङ् ।३।१।३०॥

स्वार्थे । ङित्वात् तङ् । कामयते ॥

अर्थः—कम् धातु से स्वार्थ में णिङ् प्रत्यय हो ।

---

१. यह अनुनासिक उकार अनुदात्त भी है । अत एव णिङ् के अभाव में लिँट् आदि में अनुदात्तेत् होने से कम् से आत्मनेपद सिद्ध हो जाता है ।

व्याख्या—कमेः ।५।१। णिङ् ।१।१। 'प्रत्ययः, परश्च' का अधिकार आ रहा है। अर्थः—(कमेः) कम् धातु से परे (णिङ्) णिङ् प्रत्यय हो। किस अर्थ में हो ? यह नहीं बताया गया अतः 'अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति' के अनुसार णिङ् प्रत्यय स्वार्थ में होगा; अर्थात् णिङ् के आने से कम् के अर्थ में किसी प्रकार का परिवर्त्तन न होगा। णिङ् के णकार की 'चुटू' (१२९) से तथा ङकार की 'हलन्त्यम्' (१) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है, केवल 'इ' ही शेष रहता है। णकार अनुबन्ध उपधावृद्धि के लिये तथा ङकार अनुबन्ध आत्मनेपद के लिये जोड़ा गया है। कम्+णिङ्=कम्+इ, 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि हो कर 'कामि' बन जाता है। स्मरण रहे कि णिङ् के ङित् होने पर भी यहां 'क्क्ङिति च' (४३३) सूत्र से वृद्धि का निषेध नहीं होता। इस का कारण यह है कि वह इग्लक्षणा गुण-वृद्धि का ही निषेध करता है अन्य का नहीं। अब 'कामि' की 'सनाद्यन्ता धातवः' (४६८) से धातुसंज्ञा हो जाती है। 'कामि' के ङित् होने के कारण 'अनुदात्तङित०' (३७८) के अनुसार इस से परे लकार के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं।

लँट्—कामि धातु से प्र० पु० के एकवचन में 'त' प्रत्यय, शप्, अनुबन्धलोप तथा 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से इकार को एकार गुण करने से—कामे+अ+त। अब एकार को अय् आदेश तथा 'टित आत्मने०' (५०८) से टि को एत्व करने पर 'कामयते' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी लँट् में एध् धातु की तरह प्रक्रिया होती है। रूपमाला यथा—**कामयते, कामयेते, कामयन्ते। कामयसे, कामयेथे, कामयध्वे। कामये, कामयावहे, कामयामहे।**

लिँट्—की विवक्षा में 'आयादय आर्धधातुके वा' (४६९) द्वारा कम् धातु से णिङ् प्रत्यय का विकल्प हो जाता है। णिङ्पक्ष में 'कामि+लिँट्' इस अवस्था में कामि के अनेकाच् होने से 'कास्यनेकाच आम्वक्तव्यो लिँटि' (वा० ३४) से आम् प्रत्यय हो कर 'कामि+आम्+लिँट्' बना। अब यहां आम् परे रहते 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से प्राप्त गुण को बाध कर 'णेरनिटि' (५२९) से णि का लोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५२६) अयामन्तालवाय्येत्न्विष्णुषु ।६।४।५५।।

आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु, इष्णु—एषु णेरयादेशः स्यात्। कामयाञ्चक्रे। आयादय (४६९) इति णिङ् वा। चकमे, चकमाते, चकमिरे। चकमिषे, चकमाथे, चकमिध्वे। चकमे, चकमिवहे, चकमिमहे। कामयिता, कमिता। कामयितासे। कामयिष्यते, कमिष्यते। कामयताम्। अकामयत। कामयेत। कामयिषीष्ट।।

अर्थः—आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु और इष्णु इन के परे होने पर णि को अय् आदेश हो।

व्याख्या—अय् ।१।१। आम्-अन्त-आलु-आय्य-इत्नु-इष्णुषु ।७।३। णेः ६।१। ('णेरनिटि' से)।**अर्थः**—(आम्-अन्त-आलु-आय्य-इत्नु-इष्णुषु) आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु और इष्णु इन के परे होने पर (णेः) णि के स्थान पर (अय्) अय् आदेश हो। उदाहरण यथा—

(१) आम्—कारि+आम्+लिँट्=कारयाञ्चकार।

(२) अन्त—गण्डि+अन्त=गण्डयन्तः, मण्डि+अन्त=मण्डयन्तः। 'तॄ-भू-वहि०' (उणा० ४०८) इति झच्प्रत्ययः, झस्य च 'झोऽन्तः' (३८९) इत्यन्तादेशः।

(३) आलु—गृहि+आलु=गृहयालुः, स्पृहि+आलु=स्पृहयालुः। 'स्पृहि-गृहि-पति०' (३.२.१५८) इति आलुच्प्रत्ययः।

(४) आय्य—गृहि+आय्य=गृहयाय्यः, स्पृहि+आय्य=स्पृहयाय्यः। 'श्रु-दक्षि-स्पृहि०' (उणा० ३७६) इति आय्यप्रत्ययः।

(५) इत्नु—स्तनि+इत्नु=स्तनयित्नुः। 'स्तनि-हृषि०' (उणा० ३०९) इति इत्नुच् प्रत्ययः।

(६) इष्णु—पारि+इष्णु=पारयिष्णु=पारयिष्णवः (प्र० बहु०)। 'णेश्छन्दसि' (३.२.१३७) इति इष्णुच् प्रत्ययः।

'कामि+आम्+लिँट्' यहां पर प्रकृतसूत्र से णि (इ) को अय् आदेश हो कर—कामयाम्+लिँट्। अब 'एधाञ्चक्रे' की तरह 'आमः' (४७१) से लिँट् का लुक्, 'कृञ्चानु०' (४७२) से लिँट्परक कृञ्, भू और अस् धातुओं का अनुप्रयोग, 'आम्प्रत्ययवत्०' (५१२) से कृञ् से परे लिँट् के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय हो कर 'कामयाञ्चक्रे'। भू का अनुप्रयोग हो कर—कामयाम्बभूव। अस् का अनुप्रयोग करने पर 'कामयामास' आदि रूप बनते हैं। जिस पक्ष में णिङ् नहीं होता वहाँ 'कम्+त' इस स्थिति में 'लिटस्तझयो०' (५१३) से त को एश् आदेश हो कर द्वित्वादिकार्य करने पर 'चकमे' प्रयोग सिद्ध होता है। लिँट् में कम् की रूपमाला यथा—(कृञोऽनुप्रयोगे) कामयाञ्चक्रे, कामयाञ्चक्राते, कामयाञ्चक्रिरे। कामयाञ्चकृषे, कामयाञ्चक्राथे, कामयाञ्चकृढ्वे। कामयाञ्चक्रे, कामयाञ्चकृवहे, कामयाञ्चकृमहे। (भूधातोरनुप्रयोगे) कामयाम्बभूव, कामयाम्बभूवतुः, कामयाम्बभूवुः आदि। (अस्-धातोरनुप्रयोगे) कामयामास, कामयामासतुः, कामयामासुः आदि। (णिङोऽभावे) चकमे, चकमाते, चकमिरे। चकमिषे, चकमाथे, चकमिध्वे। चकमे, चकमिवहे, चकमिमहे।

लुँट्—की विवक्षा में 'आयादय०' (४६९) से णिङ् का विकल्प होता है। णिङ्पक्ष में 'कामि+इता' इस स्थिति में इट् परे रहते 'णेरनिटि' (५२९) से लोप

प्राप्त नहीं होता अतः इकार को आर्धधातुकगुण एकार तथा उसे अयादेश हो कर—कामयिता। णिङ् के अभाव में—कमिता। रूपमाला यथा—(णिङ्पक्षे) कामयिता, कामयितारौ, कामयितारः। कामयितासे, कामयितासाथे, कामयिताध्वे। कामयिताहे, कामयितास्वहे, कामयितास्महे। (णिङोऽभावे) कमिता, कमितारौ, कमितारः। कमितासे आदि।

लृट्—में णिङ् और णिङ्-अभाव दोनों पक्षों में साधारण आत्मनेपदप्रक्रिया के कार्य होते हैं। रूपमाला यथा—(णिङ्पक्षे) कामयिष्यते, कामयिष्येते, कामयिष्यन्ते आदि। (णिङोऽभावे) कमिष्यते, कमिष्येते, कमिष्यन्ते आदि।

लोट्—लोडादेश के आर्धधातुक न होने से नित्य णिङ् हो कर साधारण कार्य होते हैं। रूपमाला यथा—कामयताम्, कामयेताम्, कामयन्ताम्। कामयस्व, कामयेथाम्, कामयध्वम्। कामयै, कामयावहै, कामयामहै।

लङ्—में नित्य णिङ् हो कर आत्मनेपद के साधारण कार्य होते हैं। रूपमाला यथा—अकामयत, अकामयेताम्, अकामयन्त। अकामयथाः, अकामयेथाम्, अकामयध्वम्। अकामये, अकामयावहि, अकामयामहि।

वि० लिङ्—में भी नित्य णिङ् हो कर एध् धातु की तरह साधारण कार्य होते हैं—कामयेत, कामयेयाताम्, कामयेरन्। कामयेथाः, कामयेयाथाम्, कामयेध्वम्। कामयेय, कामयेवहि, कामयेमहि।

आ० लिङ्—के आर्धधातुक होने से णिङ् का विकल्प होगा। णिङ्पक्ष में 'कामि+इट् सीयुट् त' इस स्थिति में अनुबन्धलोप, यकारलोप, आर्धधातुकगुण, एकार को अयादेश तथा षत्व और ष्टुत्व करने पर 'कामयिषीष्ट' रूप सिद्ध होता है। णिङ् के अभाव में—कमिषीष्ट। इसी प्रकार म० पु० के बहुवचन में 'कामय्+इषीध्वम्' इस स्थिति में इट् के षीध्वम् का अवयव होने के कारण 'इणः षीध्वम्०' (५१४) से धकार को नित्य ढत्व प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से विकल्प का विधान करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५२७) विभाषेटः ८।३।७९॥

इणः परो य इट् ततः परेषां षीध्वम्-लुङ्-लिटां धस्य वा ढः। कामयिषीढ्वम्-कामयिषीध्वम्। कमिषीष्ट। कमिषीध्वम्॥

अर्थः—इण् प्रत्याहार से परे जो इट् उस से परे षीध्वम्, लुङ् और लिट् के धकार के स्थान पर विकल्प से मूर्धन्य (ढकार) आदेश हो।

व्याख्या—विभाषा।१।१। इटः।५।१। मूर्धन्यः।१।१। ('अपदान्तस्य मूर्धन्यः' से)। 'इणः षीध्वंलुङ्लिटाम्' पदों की पिछले सूत्र से अनुवृत्ति आती है। अर्थः—(इणः) इण् प्रत्याहार से परे (इटः) जो इट्, उस से परे (षीध्वम्-लुङ्-लिटाम्)

षीध्वम्, लुङ् वा लिट् के (धः) ध् के स्थान पर (विभाषा) विकल्प से (मूर्धन्यः) मूर्धन्य आदेश हो। धकार के स्थान पर मूर्धन्य ढकार ही हो सकता है अन्य नहीं—यह पीछे (५१४) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं। 'इणः षीध्वम्०' (५१४) द्वारा ढत्व के नित्य प्राप्त होने पर इस सूत्र से विकल्प का विधान किया गया है।

'कामय्+इ षीध्वम्' यहां पर कामय् का यकार इण् है, इस से परे इट् विद्यमान है अतः इस इट् से परे प्रकृतसूत्र द्वारा षीध्वम् के धकार को विकल्प से ढकार आदेश हो कर 'कामयिषीढ्वम्-कामयिषीध्वम्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

लुङ् के 'अलविढ्वम्-अलविध्वम्' तथा लिट् के 'दुदुहिढ्वे-दुदुहिध्वे' आदि उदाहरण आगे यथास्थान आयेंगे।

इस सूत्र में 'अङ्गात्' की अनुवृत्ति नहीं लाई गई। इस से 'दिदीयिढ्वे-दिदीयिध्वे' में ढत्व का विकल्प सिद्ध हो जाता है। अन्यथा 'दीङो युडचि क्ङिति' (६३७) द्वारा विहित युट् के लिट् का अवयव होने से इणन्त अङ्ग 'दिदी' से परे अव्यवहित इट् न रहने से ढत्व का विकल्प न हो सकता।

आ० लिङ् में कम् धातु की रूपमाला यथा—(णिङ्पक्षे) कामयिषीष्ट, कामयिषीयास्ताम्, कामयिषीरन्। कामयिषीष्ठाः, कामयिषीयास्थाम्, कामयिषीढ्वम्-कामयिषीध्वम्। कामयिषीय, कामयिषीवहि, कामयिषीमहि। (णिङोऽभावे) कमिषीष्ट, कमिषीयास्ताम्, कमिषीरन्। कमिषीष्ठाः, कमिषीयास्थाम्, कमिषीध्वम्[1]। कमिषीय, कमिषीवहि, कमिषीमहि।

लुङ्—के णिङ्पक्ष में प्र० पु० के एकवचन में च्लि ला कर कामि+च्लि+त इस स्थिति में 'च्लेः सिच्' (४३८) द्वारा च्लि को सिच् आदेश प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५२८) णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः कर्त्तरि चङ् ।३।१।४८।।

ण्यन्तात् श्र्यादिभ्यश्च च्लेश्चङ् स्यात् कर्त्रर्थे लुङि परे। 'कामि+अ+त' इति स्थिते--

अर्थः—ण्यन्त धातुओं तथा श्रि, द्रु और स्रु धातुओं से परे च्लि को चङ् आदेश हो कर्त्रर्थक लुङ् परे हो तो।

व्याख्या—णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः ।५।३। कर्त्तरि ।७।१। चङ् ।१।१। लुङि ।७।१। ('च्लि लुङि' से)। च्लेः ।६।१। ('च्लेः सिच्' से)। णिश्च श्रिश्च द्रुश्च स्रुश्च तेभ्यः—णिश्रिद्रुस्रुभ्यः। 'णि' प्रत्यय है अतः 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' के अनुसार ण्यन्तों का ग्रहण होता है। श्रि आदि तीन धातु हैं—श्रिञ् सेवायाम् (सेवा करना, आश्रय करना,

---

१. 'कम्+इ षीध्वम्' यहां पर इण् न होने से ढत्व का विकल्प नहीं होता।

भ्वा० उभय०), द्रु गतौ (बहना, भ्वा० परस्मै०), स्रु गतौ (गमन-बहना, भ्वा० परस्मै०)। अर्थः—(णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः) ण्यन्त तथा श्रि, द्रु, स्रु धातुओं से परे (च्लेः) च्लि के स्थान पर (चङ्) चङ् आदेश हो (कर्तरि लुँङि) कर्त्ता अर्थ में लुँङ् परे हो तो। 'णि' यह सामान्यनिर्देश है अतः णिच् णिङ् दोनों का ग्रहण होता है। यह सूत्र 'च्लेः सिँच्' (४३८) का अपवाद है। चङ् के ङकार की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा तथा चकार की 'चुटू' (१२९) द्वारा इत्सञ्ज्ञा हो कर 'अ' शेष रहता है। ङकारानुबन्ध गुणवृद्धि के निषेध के लिये तथा चकारानुबन्ध 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (५९७) आदि द्वारा प्रतिपादित अङ् से भेद दर्शाने के लिये जोड़ा गया है इस से 'चङि' (५३१) सूत्र में अङ् का ग्रहण नहीं होता। ण्यन्त का उदाहरण यहां प्रकृत में दिया गया है। 'श्रि' के उदाहरण 'अशिश्रियत्-अशिश्रियत' आदि आगे उभयपद में आयेंगे। द्रु और स्रु के उदाहरण 'अदुद्रुवत्, असुस्रुवत्' आदि समझने चाहियें। सूत्र में 'कर्तरि' के कथन से कर्मवाच्य में च्लि को चङ् नहीं होता। यथा 'अकारिषाताम्' यहां ण्यन्त 'कारि' से कर्मवाच्य में च्लि को चङ् न हो कर सिँच् ही होता है।

'कामि+च्लि+त' यहां 'कामि' यह ण्यन्त है। कर्त्ता अर्थ में यहां लुँङ् किया गया है। अतः प्रकृतसूत्र से 'कामि' से परे च्लि को चङ् आदेश हो कर अनुबन्धलोप करने पर 'कामि+अ+त' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५२९) णेरनिटि।६।४।५१॥

अनिडादावार्धधातुके परे णेर्लोपः स्यात्॥

अर्थः—जिस के आदि में इट् न हो ऐसे आर्धधातुक के परे होने पर णि का लोप हो जाता है।

व्याख्या—णेः।६।१। अनिटि।७।१। आर्धधातुके।७।१। (अधिकृत है)। लोपः ।१।१। ('अतो लोपः' से)। 'अनिटि' यह 'आर्धधातुके' का विशेषण है अतः तदादिविधि हो कर 'अनिडादौ आर्धधातुके' बन जाता है। अर्थः—(अनिटि=अनिडादौ) जिस के आदि में इट् नहीं ऐसे (आर्धधातुके) आर्धधातुक के परे होने पर (णेः) णि का (लोपः) लोप हो जाता है। 'णि' में किसी अनुबन्ध का ग्रहण नहीं अतः णिच् णिङ् दोनों का ही यहां ग्रहण होता है। इस सूत्र को हृदयंगम कराने के लिये हम यहां मूल के अतिरिक्त इस के छः अन्य उदाहरण दे रहे हैं। विद्यार्थी यदि यहां इसे अच्छी तरह समझ लेंगे तो आगे चल कर सिद्धान्तकौमुदी आदि में उन को कुछ भी कठिनाई नहीं आयेगी।

(१) पाक्तिः। पच् धातु से 'हेतुमति च' (७००) द्वारा णिच् प्रत्यय हो कर उपधावृद्धि करने से 'पाचि' बना। इस 'पाचि' धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' (८६३) से क्तिन् प्रत्यय हो कर—पाचि+ति। यहां 'ति-तु-त्र-त-थ०' (८६५) से इट् का निषेध हो जाता है। इस प्रकार अनिडादि आर्धधातुक 'ति' के परे होने पर प्रकतसूत्र से णि

(णिच्) का लोप तथा 'चोः कुः' (३०६) से चकार को ककार करने पर 'पाक्तिः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

(२) **अररक्षत्** । णिजन्त रक्ष् धातु से लुँङ् के प्र० पु० के एकवचन में 'रक्षि+च्लि+त्' इस स्थिति में च्लि को चङ्, 'चङि' (५३१) से द्वित्व, अभ्यासकार्य और अट् का आगम हो कर—अररक्षि+अ+त् । अब संयोगपूर्व होने के कारण 'अचि श्नु०' (१९९) द्वारा इकार को इयङ् प्राप्त होता है, परन्तु प्रकृतसूत्र से उसका बाध हो कर णि (णिच्) का लोप हो जाता है—अररक्ष्+अ+त्=अररक्षत् ।

(३) **आटिटत्** । अट् धातु से हेतुमण्णिच् हो कर उपधावृद्धि करने से 'आटि' बना । इस से लुँङ् के प्र० पु० के एकवचन में 'आटि+च्लि+त्' इस स्थिति में च्लि को चङ्, '**णौ चङ्युपधाया०**' (५३०) से उपधाह्रस्व, तथा 'चङि' (५३१) से 'टि' अंश को द्वित्व हो कर—आटिटि+अ+त् । अब पूर्व में संयोग न होने से '**एरनेकाचः०**' (२००) द्वारा यण् प्राप्त होता है, परन्तु उस का बाध कर प्रकृतसूत्र से णि (णिच्) का लोप, आट् का आगम और वृद्धि करने पर 'आटिटत्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

(४) **कारणा** । कृ धातु से हेतुमण्णिच् ला कर वृद्धि करने से 'कारि' बना । इस से '**स्त्रियाम्**' के अधिकार में '**ण्यासश्रन्थो युच्**' (८६९) से युच् प्रत्यय तथा '**युवोरनाकौ**' (७८५) से यु को अन आदेश हो कर 'कारि+अन' हुआ । अब '**सार्वधातुकार्ध०**' (३८८) से प्राप्त गुण का बाध कर प्रकृतसूत्र से णि का लोप करने पर टाप् लाने से 'कारणा' प्रयोग सिद्ध होता है ।

(५) **कारकः** । पूर्ववत् 'कारि' धातु से '**ण्वुल्तृचौ**' (७८४) द्वारा ण्वुल्, तथा वु को अक आदेश करने पर—कारि+अक । अब यहां '**अचो ञ्णिति**' (१८२) द्वारा प्राप्त वृद्धि का बाध कर प्रकृतसूत्र से णि का लोप करने पर कार्+अक='कारकः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

(६) **कार्यते** । पूर्ववत् णिजन्त 'कारि' धातु से कर्मवाच्य के लँट् में यक् करने पर 'कारि+य+ते' इस स्थिति में '**अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः**' (४८३) से प्राप्त दीर्घ का बाध कर प्रकृतसूत्र से णि का लोप हो कर 'कार्यते' प्रयोग सिद्ध होता है ।

णि का लोप 'पाक्तिः' आदि में सावकाश है । इयङ्, यण्, गुण, वृद्धि और दीर्घ सब के सब **अष्टाध्यायी** में णिलोप से परे स्थित हैं अतः परत्वात् यद्यपि उपर्युक्त उदाहरणों में इयङ् आदि ही करने उचित हैं तथापि '**ण्यल्लोपौ इयङ्-यण्-गुण-वृद्धि-दीर्घेभ्यः पूर्वविप्रतिषेधेन**' (वा० सि० कौ०) इस वार्त्तिक से पूर्वविप्रतिषेध के कारण णि का लोप ही प्रवृत्त हो जाता है ।

सूत्र में 'अनिडादौ' कहा गया है, इस से 'कारि' धातु के तृच् में इट् का आगम होने पर 'कारि+इतृ' यहां पर णि का लोप न हो कर आर्धधातुकगुण तथा अयादेश करने पर 'कारयिता' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'कामि+अ+त' यहां भी 'एरनेकाचः०' (२००) सूत्र से मकारोत्तर इकार को यण् प्राप्त था, इस का बाध कर 'णेरनिटि' (५२६) प्रवृत्त हो जाता है। यहां 'अ' (चङ्) यह 'आर्धधातुकं शेषः' (४०४) के अनुसार आर्धधातुक है। वलादि न होने से इसे इट् का आगम नहीं हुआ अतः यह अनिट् भी है। इस प्रकार सूत्र के घट जाने से णि का लोप हो जाने पर 'काम्+अ+त' यह स्थिति बनी। अब इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५३०) णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः ।७।४।१॥

चङ्परे णौ यदङ्गं तस्योपधाया ह्रस्वः स्यात् ॥

अर्थः—चङ् परे होने पर जो णि, उस के परे रहते अङ्ग की उपधा को ह्रस्व हो।

व्याख्या—णौ ।७।१। चङि ।७।१। उपधायाः ।६।१। ह्रस्वः ।१।१। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। अर्थः—(चङि) चङ् परे होने पर जो (णौ) णि, उस के परे रहते (अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश हो जाता है।

'काम्+अ+त' यहां पर लोप हुए णि को 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१८९) द्वारा मान कर चङ्परक णि के परे होने से 'काम्' इस अङ्ग की उपधा अकार को ह्रस्व हो कर 'कम्+अ+त' हुआ।

यह सूत्र केवल णि के परे होने पर उपधा को ह्रस्व नहीं करता किन्तु जब णि से परे चङ् हो तभी उपधा को ह्रस्व करता है। अत एव पाठयति, कारयति, चोरयति आदियों में उपधा को ह्रस्व नहीं होता। उपधाग्रहण इसलिये किया है कि 'अचकाङ्क्षत्' आदियों में ह्रस्व न हो जाये। यहां 'काङ्क्ष्+इ+अ+त्' इस स्थिति में ककारोत्तर आकार उपधासञ्ज्ञक नहीं, उपधा तो अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण ही हुआ करती है—देखो 'अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा' (१७६)।

नोट—ध्यान रहे कि यह उपधाह्रस्व हमेशा 'चङि' (५३१) द्वारा द्वित्व करने से पहले ही हुआ करता है पीछे नहीं, इस में 'ओणृ अपनयने' धातु को ऋदित् करना ज्ञापक है। इस के स्पष्टीकरण के लिये सिद्धान्तकौमुदी णिजन्तप्रक्रिया का 'मा भवान् इदिधत्' वाला अंश अथवा काशिका में इसी स्थल को देखना चाहिये।

अब द्वित्वविधान करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५३१) चङि ।६।१।११॥

चङि परेऽनभ्यासस्य धात्ववयवस्यैकाचः प्रथमस्य द्वे स्तः, अजादेर्द्वितीयस्य ॥

अर्थः—चङ् परे होने पर अनभ्यास (अभ्यासहीन अर्थात् जिसे पहले द्वित्व नहीं

हुआ) धातु के अवयव प्रथम एकाच् को द्वित्व हो जाता है परन्तु यदि धातु अजादि हो तो द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है।

व्याख्या—चङि ।७।१। यहां 'लिँटि धातोरनभ्यासस्य' के 'लिँटि' पद को छोड़ कर सर्वांश का तथा 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' और 'अजादेर्द्वितीयस्य' इन दो अधिकारों का अनुवर्त्तन होता है। अर्थः—(चङि) चङ् परे होने पर (अनभ्यासस्य) अभ्यासभिन्न (धातोः) धातु के (प्रथमस्य) प्रथम (एकाचः) एकाच् भाग के (द्वे) दो उच्चारण हो जाते हैं परन्तु यदि (अजादेः) धातु अजादि हो तो उसके (द्वितीयस्य) द्वितीय एकाच् भाग के दो उच्चारण होते हैं। 'अनभ्यासस्य' का अभिप्राय यह है कि धातु को पहले-द्वित्व न हुआ हो—यह सब पीछे (३९४) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं।

'कम्+अ+त' यहाँ चङ् परे है अतः धातु के प्रथम एकाच् 'कम्' भाग को द्वित्व होकर 'कम् कम्+अ+त' हुआ। अब अभ्यासंसञ्ज्ञा, हलादिशेष तथा 'कुहोश्चुः' (४५४) से ककार को चकार करने पर 'चकम्+अ+त' बना। अब यहां सन्वद्भाव करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०]　विधि-सूत्रम्—(५३२)　सन्वल्लघुनि　चङ्परेऽनग्लोपे ।७।४।९३।।

चङ्परे णौ यदङ्गं तस्य योऽभ्यासो लघुपरः, तस्य सनीव कार्यं स्याण्णावग्लोपेऽसति ।।

अर्थः—चङ् जिस से परे है ऐसे णि के परे रहते जो अङ्ग, उस के लघुपरक (लघु है परे जिस के) अभ्यास के स्थान पर वैसे कार्य हो जाते हैं जैसे सन् परे होने पर हुआ करते हैं। परन्तु यह सब तब होता है जब णि को मान कर किसी अक् (अ इ उ ऋ लृ) वर्ण का लोप न हुआ हो।

व्याख्या—सन्वत् इत्यव्ययपदम्। लघुनि ।७।१। चङ्परे ।७।१। अनग्लोपे ।७।१। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। अभ्यासस्य ।६।१। ('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से)। सनि इव सन्वत्, 'तत्र तस्येव' (११४९) इति वतिप्रत्ययः। चङ्परो यस्माद् असौ चङ्परः, तस्मिन् चङ्परे। बहुव्रीहिसमासः। यहां अन्यपदार्थ 'णि' ही सम्भव है अतः णि का ही ग्रहण किया जाता है। अको लोपः—अग्लोपः, नास्ति अग्लोपो यस्मिन् सोऽनग्लोपः, तस्मिन् अनग्लोपे। यह 'चङ्परे' का अर्थात् चङ्परक णि का विशेषण है। अर्थः—(अनग्लोपे) जिस के परे होने पर अक् का लोप नहीं हुआ ऐसे (चङ्परे) चङ्परक णि के परे रहते (अङ्गस्य) अङ्ग के अवयव (लघुनि अभ्यासस्य) लघुपरक अभ्यास के स्थान पर (सन्वत्) सन् में की तरह कार्य हो जाते हैं।

इस सूत्र की प्रवृत्ति में हमें सब से पहले चङ् ढूंढना है, फिर चङ् से पूर्व 'णि'

ढूंढना है, पुनः णि से पूर्व अङ्ग ढूंढना है। तब उस अङ्ग के अवयव ऐसे अभ्यास को सन्वत्कार्य करना है जिस से परे लघु अक्षर है। उदाहरण यथा—'चकम्+अ+त' यहां 'अ' यह चङ् परे है, इस से पूर्व **'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्'** (१८६) के अनुसार 'णि' मौजूद है। इस णि से पूर्व 'चकम्' अङ्ग है। इस अङ्ग का अवयव अभ्यास है—'च'। इस अभ्यास से परे ककारोत्तरवर्त्ती अकार लघु अक्षर विद्यमान है। अतः अभ्यास के स्थान पर वे सब कार्य हो जायेंगे जो सन् परे होने पर सम्भव होते हैं। सन् परे होने पर **'सन्यतः'** (५३३) सूत्र से अभ्यास के अत् को इकार आदेश होता है वह यहां भी हो जायेगा—चिकम्+अ+त।

परन्तु इस सूत्र में एक शर्त है कि 'णि' ऐसा होना चाहिये जिसे निमित्त मान कर अक् का लोप न हुआ हो। उदाहरणार्थ **'कथ वाक्यप्रबन्धे'** इस चुरादिगणीय अदन्त धातु से णिच् प्रत्यय करने पर णि को मान कर **'अतो लोपः'** (४७०) से थकारोत्तरवर्त्ती अकार का लोप हो कर 'कथि' बन जाता है। अब लुँङ् में च्लि, चङ् और द्वित्वादि करने पर 'अचकथ्+इ+अ+त्' इस स्थिति में अभ्यास 'च' के स्थान पर सन्वत्कार्य नहीं होता कारण कि यहां पर णि को मान कर अक् (अ) का लोप हुआ है। अतः इस का 'अचकथत्' रूप ही बनेगा, 'अचीकथत्' नहीं।

ध्यान रहे कि यदि णि को मान कर ही अक् का लोप हुआ होगा तभी सन्वद्भाव नहीं होगा वरना वह हो जायेगा। यथा इसी कमुँ धातु को ही लीजिये। यहां उकार-अक् का लोप **'उपदेशेऽजनुनासिक इत्'** (२८) सूत्र से इत्सञ्ज्ञक होने के कारण हुआ है। 'णि' लाने से पहले ही उस का लोप हो गया था, इस प्रकार के लोप में णि को निमित्त नहीं माना जा सकता। अतः 'चकम्+अ+त' में सन्वद्भाव हो जाता है।

सूत्र में लघुपरक अभ्यास को सन्वद्भाव करने के लिये कहा गया है। इस से णिजन्त रक्ष् धातु के लुँङ् में 'अररक्षत्' में अभ्यास को सन्वद्भाव नहीं होता। कारण कि 'क्ष्' इस संयुक्त अक्षर के परे होने पर **'संयोगे गुरु'** (४४६) से पूर्व वर्ण गुरु हो गया है लघु नहीं रहा। अतः अभ्यास दीर्घपरक है लघुपरक नहीं।

नोट—सूत्र के उपर्युक्त अर्थ में एक दोष आता है। तथाहि—ण्यन्त उन्दि धातु के लुँङ् में **'न न्द्राः संयोगादयः'** (६००) के कारण 'दि' भाग को द्वित्व हो कर 'उन् दि दि+अ+त्' हुआ। अब **'णेरनिटि'** (५२६) द्वारा णि का लोप करने से 'उन् दि द्+अ+त्' बना। यहां चङ्परक णि के परे रहते अङ्ग है—उन्दिद्। इस का अभ्यास है—दि। इस से परे केवल 'द्' विद्यमान है। परन्तु यदि लुप्त हुए णि को स्थानिवत् मान लें अथवा चङ् को ही लघु समझ लें तो लघुपरक होने से यहां भी अभ्यास को सन्वद्भाव प्राप्त होगा। सन्वद्भाव हो जाने से **'दीर्घो लघोः'** (५३४) से अभ्यास के लघु को दीर्घ हो कर आट् का आगम और वृद्धि करने पर 'औन्दीदत्' प्रयोग बन जायेगा जो

अनिष्ट है क्योंकि बनना चाहिये – औन्दिदत् । इस का समाधान यह है कि इस सूत्र का अर्थ करते समय 'अङ्गस्य' का सम्बन्ध अभ्यास के साथ न कर के 'लघुनि' के साथ करना चाहिये । तब 'चङ्परक णि के परे होने पर अङ्ग का जो लघु, उस के परे रहते जो अभ्यास उस को सन्वद्भाव हो' इस प्रकार का अर्थ हो जायेगा । इस से 'औन्दिदत्' में कोई दोष नहीं आयेगा । क्योंकि 'उन् दि द्+अ+त्' इस स्थिति में चङ्परक णि के परे होने पर अङ्ग का ऐसा कोई लघु नहीं जिस के परे रहते अभ्यास को सन्वद्भाव हो सके ।

अब सन् परे रहते कार्यों का प्रकरणोपयोगी विवेचन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५३३) सन्यतः ।७।४।७९।।

अभ्यासस्य अत इत् स्यात् सनि ।।

अर्थः—सन् परे होने पर अभ्यास के अत् को इकार आदेश हो ।

व्याख्या—सनि ।७।१। अतः ।६।१। अभ्यासस्य ।६।१। ('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से)। इत् ।१।१। ('भृञामित्' से)। अर्थः—(सनि) सन् परे होने पर (अभ्यासस्य) अभ्यास के (अतः) अत् के स्थान पर (इत्) ह्रस्व इकार आदेश हो । उदाहरण यथा—पिपठिषति, जिगमिषति आदि । इन की सिद्धि सन्नन्तप्रक्रिया में देखें ।

यहां प्रकृत में 'चकम्+अ+त' यहां सन्वद्भाव के कारण प्रकृतसूत्र से अभ्यास (च) के अकार को इकार आदेश हो कर 'चिकम्+अ+त' हुआ । अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५३४) दीर्घो लघोः ।७।४।९४।।

लघोरभ्यासस्य दीर्घः स्यात् सन्वद्भावविषये । अचीकमत । णिङभाव-पक्षे—

अर्थः—सन्वद्भाव के विषय में अभ्यास के लघु को दीर्घ हो ।

व्याख्या—दीर्घः ।१।१। लघोः ।६।१। अभ्यासस्य ।६।१। ('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से)। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है । (५३२) सूत्र से 'लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' अंश की अनुवृत्ति आती है । अर्थः—(अनग्लोपे) जिस के परे होने पर अक् का लोप नहीं हुआ ऐसे (चङ्परे) चङ्परक णि के परे होने पर (अङ्गस्य) अङ्ग के (लघुनि अभ्यासस्य) लघुपरक अभ्यास के (लघोः) लघु वर्ण के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश होता है ।

'चिकम्+अ+त' यहां 'अ' यह चङ् परे है, इस से पूर्व प्रत्ययलक्षण द्वारा णि मौजूद है, इस णि से पूर्व अङ्ग है—चिकम् । इस अङ्ग का अभ्यास है—चि । इस अभ्यास से परे 'कम्' का ककारोत्तरवर्त्ती अकार लघु अक्षर विद्यमान है । इस प्रकार प्रकृतसूत्र के पूर्णरीत्या घटित हो जाने से अभ्यास के अपने लघु वर्ण इकार को दीर्घ हो

कर 'चीकम्+अ+त' बना । अब अन्त में अट् का आगम करने से 'अचीकमत' प्रयोग सिद्ध होता है ।

वक्तव्य—इस सूत्र की वृत्ति से विद्यार्थी प्रायः भ्रम में पड़ जाते हैं । वे सोचने लगते हैं कि क्या कारण है कि सन्वद्भाव के विषय में तो इस सूत्र से अभ्यास के लघु को दीर्घ हो जाता है पर 'जिगमिषति' आदि में साक्षात् सन् परे होने पर नहीं होता । उन का यह भ्रम हमारी व्याख्या के अन्तर्गत सूत्र का पदार्थ देख कर सुतरां दूर हो जायेगा [सार यह है कि '**प्रकृतिग्रहणे विकृतेर्ग्रहणं भवति, विकृतिग्रहणे प्रकृतेर्ग्रहणं न भवति**' । सन् प्रकृतिग्रहण है सो 'सन्यतः' सूत्र सन् तथा सन्वत् दोनों में लगता है पर 'सन्वत्' विकृति है, सो यह सन्वद्भाव में होगा, सन् में नहीं] ।

लुँङ् के जिस पक्ष में '**आयादय:०**' (४६९) द्वारा णिङ् प्रत्यय नहीं होता उस पक्ष में 'कम्+च्लि+त' इस अवस्था में अग्रिमवार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(३५) कमेश्च्लेश्चङ् वक्तव्यः ।।

अचकमत । अकामयिष्यत-अकमिष्यत ।।

अर्थः—कम् धातु से परे च्लि को चङ् कहना चाहिये ।

व्याख्या—(कमेः) कम् धातु से परे (च्लेः) च्लि के स्थान पर (चङ्) चङ् आदेश (वाच्यः) कहना चाहिये । इस प्रकार णिङ् के अभावपक्ष में भी च्लि को चङ् हो जाता है । तब 'चङि' (५३१) सूत्र से द्वित्व तथा अभ्यासकार्य करने पर 'अचकमत' रूप सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि यहां चङ्परक णि न होने से सन्वद्भाव आदि कार्य नहीं होते । लुँङ् में कम् की रूपमाला यथा—(**णिङ्पक्षे**) **अचीकमत, अचीकमेताम्, अचीकमन्त । अचीकमथाः, अचीकमेथाम्, अचीकमध्वम् । अचीकमे, अचीकमावहि, अचीकमामहि** । (णिङोऽभावे) **अचकमत, अचकमेताम्, अचकमन्त । अचकमथाः, अचकमेथाम्, अचकमध्वम् । अचकमे, अचकमावहि, अचकमामहि** ।

लृँङ्—में भी पूर्ववत् णिङ् का विकल्प हो जाता है—(**णिङ्पक्षे**) **अकामयिष्यत, अकामयिष्येताम्, अकामयिष्यन्त । अकामयिष्यथाः, अकामयिष्येथाम्, अकामयिष्यध्वम् । अकामयिष्ये, अकामयिष्यावहि, अकामयिष्यामहि** । (णिङोऽभावे) **अकमिष्यत, अकमिष्येताम्, अकमिष्यन्त** ।

नोट—महाभाष्य (३.१.४८) में 'अचकमत' प्रयोग पर एक प्राचीन श्लोक (सुभाषित) उद्धृत किया गया है—

> "नाकमिष्टसुखं यान्ति सयुक्तैर्वडवारथैः ।
> अथ पत्काषिणो यान्ति येऽचीकमतभाषिणः ।।"

कम् धातु का लुँङ् में क्या रूप बनता है ? इस प्रश्न को सुन कर जो लोग 'अचकमत' यह उत्तर देते हैं वे लोग वडवायुक्त रथों से अर्थात् द्रुतगति से अभीष्ट

सुखदायक स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। परन्तु जो लोग 'अचीकमत' यह उत्तर देते हैं वे लोग (शुद्ध शब्द उच्चारण करने के कारण) स्वर्ग को तो प्राप्त करते हैं किन्तु पैदल अर्थात् धीमी गति से। कहने का अभिप्राय यह है कि सामान्यशास्त्र से सिद्ध होने वाले प्रयोगों की अपेक्षा विशेषशास्त्र से सिद्ध होने वाले प्रयोग अधिक अभ्युदयकारी हैं। 'अचीकमत' यह प्रयोग तो 'अचूचुरत्' आदि की तरह सामान्यनियमों द्वारा सिद्ध हो जाता है पर 'अचकमत' प्रयोग 'कमेश्च्लेश्चङ् वक्तव्यः' इस विशिष्ट वार्त्तिक को लगा कर बनता है अतः इस के प्रयोग में ही अधिक अभ्युदय प्राप्त होता है [विशिष्ट प्रयोगों की रक्षा के लिये आर्य लोगों की यह Technique (पद्धति) द्रष्टव्य है]।

[लघु०] अयँ गतौ ॥३॥ अयते ॥

अर्थः—अयँ (अय्) धातु 'गति-गमन-जाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—अयँ धातु अनुदात्तेत् है अतः एध् धातु की तरह इस से आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं। साहित्य में कहीं कहीं उद् उपसर्ग के योग में इस का परस्मैपद में भी प्रयोग देखा जाता है[1]। वहां 'अनुदात्तेत्त्वलक्षणम् आत्मनेपदमनित्यम्' (अनुदात्तेत्त्व के कारण सब जगह आत्मनेपद नहीं होता; कहीं कहीं इस का व्यभिचार=उल्लङ्घन भी देखा जाता है[2]) इस परिभाषा के अनुसार अनुदात्तेत् के चिह्न को अनित्य मान कर परस्मैपद के प्रयोगों का समर्थन करना चाहिये।

लँट्—अयते, अयेते, अयन्ते। अयसे, अयेथे, अयध्वे। अये, अयावहे, अयामहे। प्र+अयते, परा+अयते' यहां उपसर्गयोग में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५३५) उपसर्गस्याऽयतौ ।८।२।१९॥

---

१. यथा—अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीनाम्—साहित्यदर्पण नवमपरिच्छेद; उदयति यदि सूर्यः पश्चिमे दिग्विभागे—सुभाषित; उदयति (शत्रन्तात्सप्तमी) विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ—माघ ४.२०. इत्यादि। कई लोग इन सब प्रयोगों को 'इट किट कटी गतौ' यहां पर प्रश्लिष्ट 'इ' धातु से निष्पन्न मान कर परस्मैपद का समाधान करते हैं।

२. इस में ज्ञापक है 'चक्षिँङ् व्यक्तायां वाचि' (अदा० उभय०) धातु। इस में अनुदात्त इकार के इत् होने पर भी ङकार अनुबन्ध के जोड़ने से यह प्रतीत होता है कि आचार्य अनुदात्तेत्त्व द्वारा आत्मनेपद करने में अधिक भरोसा नहीं करते। परन्तु श्रीनागेशभट्ट इसे इस बात का ज्ञापक नहीं मानते। उन का कथन है कि यदि केवल 'चक्षिँ' धातु पढ़ते तो 'इदितो नुम् धातोः' (४६३) से नुम् की प्राप्ति होने लगती जो अनिष्ट थी अतः नुम् से बचने के लिये ङकार अनुबन्ध की चरितार्थता है। इस के अतिरिक्त महाभाष्य में इस परिभाषा का कहीं उल्लेख भी नहीं है।

अयतिपरस्य उपसर्गस्य यो रेफस्तस्य लत्वं स्यात्। प्लायते। पलायते ॥

अर्थः—अय् धातु जिस से परे हो ऐसे उपसर्ग के रेफ को लकार आदेश हो।

व्याख्या—उपसर्गस्य ।६।१। अयतौ ।७।१। रः ।६।१। लः ।१।१। ('कृपो रो लः' से) लकारादकार उच्चारणार्थः। अर्थः—(अयतौ) अय् धातु परे होने पर (उपसर्गस्य) उपसर्ग के (रः) र् के स्थान पर (लः) ल् आदेश हो। यथा—'प्र+अयते' यहां अय् धातु परे है अतः 'प्र' उपसर्ग के रेफ को लकार हो कर सवर्णदीर्घ करने से 'प्लायते' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार परा+अयते=पलायते (भागता है)। मृगात्सिहः पलायते। यहां 'मृगमत्तीति मृगात्' यह अर्थ है। 'अदोऽनन्ने' (३.२.६८) इति विट्। 'प्रत्यय' शब्द प्रतिपूर्वक अय् धातु से नहीं बना अपितु 'इण् गतौ' धातु से बना है अतः यहां पर 'प्रति' के रेफ को लत्व नहीं होता।

पाणिनीयव्याकरण में निस्-निर् और दुस्-दुर् दो-दो प्रकार के उपसर्ग माने गये हैं। यदि निर्-दुर् इन रेफान्त उपसर्गों का योग होगा तो रेफ को लत्व हो कर 'निलयते, दुलयते' प्रयोग बन जायेंगे। परन्तु निस्-दुस् इन सकारान्त उपसर्गों का योग होने पर प्रथम 'ससजुषो रुँः' (१०५) सूत्र द्वारा रुँत्व हो जायेगा तब प्रकृतसूत्र (८.२.१९) की दृष्टि में उस रुँत्व (८.२.६६) के असिद्ध होने से लत्व न होगा—निरयते, दुरयते। इस ग्रन्थ के प्रथमभाग में (३५) सूत्र पर एतद्विषयक हमारी टिप्पण द्रष्टव्य है।

लिँट्—में अय् धातु से आम् अभीष्ट है। परन्तु वह न तो 'इजादेश्च०' (५११) सूत्र से और न ही 'कास्यनेकाचः०' (वा० ३४) वार्त्तिक से प्राप्त हो सकता है अतः इस के लिये अग्रिम विशेषसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५३६) दयाऽयाऽऽसश्च ।३।१।३७॥

दय्, अय्, आस्—एभ्य आम् स्याल्लिँटि। अयाञ्चक्रे। अयिता। अयिष्यते। अयताम्। आयत। अयेत। अयिषीष्ट। विभाषेटः (५२७)—अयिषीढ्वम्-अयिषीध्वम्। आयिष्ट। आयिढ्वम्-आयिध्वम्। आयिष्यत॥

अर्थः—लिँट् परे हो तो दय् अय् और आस् धातुओं से आम् प्रत्यय हो।

व्याख्या—दयायासः ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। आम् ।१।१। लिँटि ।७।१। ('कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिँटि' से)।'प्रत्ययः, परश्च' दोनों अधिकृत हैं। दयश्च अयश्च आस् च तस्मात्=दयायासः, समाहारद्वन्द्वः। दयँ दानगतिरक्षणेषु (भ्वा० आत्मने०), अयँ गतौ, आसँ उपवेशने (अदा० आत्मने०) इन तीन अनुदात्तेत् धातुओं का यहां ग्रहण है। अर्थः—(दयायासः) दय्, अय् और आस् धातुओं से (च) भी (आम्,

प्रत्ययः) आम् प्रत्यय हो जाता है (लिँटि) लिँट् परे हो तो। उदाहरण यथा—दयाञ्चक्रे, अयाञ्चक्रे, आसाञ्चक्रे ।

यहां प्रकृत में अय् धातु से लिँट् परे रहते आम् प्रत्यय हो कर 'आमः' (४७१) से लिँट् का लुक् तथा 'कृञ्चानु०' (४७२) से लिँट्परक कृञ् भू और अस् का अनुप्रयोग हो जाता है। अब 'एधाञ्चक्रे' की तरह सम्पूर्ण प्रक्रिया हो कर 'अयाञ्चक्रे' प्रयोग सिद्ध होता है। भू के अनुप्रयोग में 'अयाम्बभूव' तथा अस् के अनुप्रयोग में 'अयामास' रूप बनते हैं। रूपमाला यथा—(कृञ्पक्षे) अयाञ्चक्रे, अयाञ्चक्राते, अयाञ्चक्रिरे आदि। (भूपक्षे) अयाम्बभूव, अयाम्बभूवतुः, अयाम्बभूवुः आदि। (अस्पक्षे) अयामास, अयामासतुः, अयामासुः आदि। लुँट्—अयिता, अयितारौ, अयितारः। अयितासे आदि। लृँट्—अयिष्यते, अयिष्येते, अयिष्यन्ते। लोँट्—अयताम्, अयेताम्, अयन्ताम्। लँङ्— में 'आडजादीनाम्' (४४४) से आट् का आगम हो कर वृद्धि एकादेश हो जाता है—आयत, आयेताम्, आयन्त। वि० लिँङ्—अयेत, अयेयाताम्, अयेरन्। आ० लिँङ्—अयिषीष्ट, अयिषीयास्ताम्, अयिषीरन्। अयिषीष्ठाः, अयिषीयास्थाम् अयिषीढ्वम्-अयिषीध्वम्[1]। अयिषीय, अयिषीवहि, अयिषीमहि। लुँङ्—आयिष्ट, आयिषाताम्, आयिषत। आयिष्ठाः, आयिषाथाम्, आयिढ्वम्-आयिध्वम्[2]। आयिषि, आयिष्वहि, आयिष्महि। लृँङ्—आयिष्यत, आयिष्येताम्, आयिष्यन्त।

[लघु०] द्युतँ दीप्तौ ॥४॥ द्योतते ॥

अर्थः—द्युतँ (द्युत्) धातु 'चमकना-प्रकाशित होना-प्रकट होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु अनुदात्तेत् होने से पूर्ववत् आत्मनेपदी है। इस धातु का प्रयोग प्रायः 'वि' उपसर्ग के साथ देखा जाता है—विद्योतते विद्युत्। द्योतक, द्योत्य, द्योतन, विद्युत्, ज्योति आदि शब्द इसी धातु से निष्पन्न होते हैं।

लँट्—में शप्, लघूपधगुण तथा टि को एत्व करने पर 'द्योतते' रूप सिद्ध होता है। द्योतते, द्योतेते, द्योतन्ते। द्योतसे, द्योतेथे, द्योतध्वे। द्योते, द्योतावहे, द्योतामहे।

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन में 'त' को एश् हो कर द्वित्व करने से—द्युत्+

---

१. 'अय्+इषीध्वम्' यहां पर इणन्त अङ्ग (अय्) से परे इट् और उस से परे षीध्वम् है। अतः 'विभाषेटः' (५२७) सूत्र से षीध्वम् के धकार को विकल्प से ढकार हो जाता है। ध्यान रहे कि इण् प्रत्याहार सर्वत्र 'लँण्' के णकार तक ही लिया जाता है।

२. यहां लुँङ् में भी 'विभाषेटः' (५२७) से वैकल्पिक ढत्व हो जाता है।

द्युत्+ए। अब 'हलादिः शेषः' (३९६) के प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५३७) द्युति-स्वाप्योः सम्प्रसारणम् ।७।४।६७।।

अभ्यासस्य । दिद्युते ।।

अर्थः—द्युत् धातु तथा स्वापि (ण्यन्त स्वप्) धातु के अभ्यास को सम्प्रसारण हो जाता है।

व्याख्या—द्युति-स्वाप्योः ।६।२। सम्प्रसारणम् ।१।१। अभ्यासस्य ।६।१। ('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से) । द्युतिश्च स्वापिश्च द्युतिस्वापी, तयोः=द्युतिस्वाप्योः । 'द्युति' इति इका निर्देशः । अर्थः—(द्युति-स्वाप्योः) द्युत् तथा ण्यन्त स्वप् धातु के (अभ्यासस्य) अभ्यास के स्थान पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण हो जाता है । 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' (२५६) के अनुसार यण् के स्थान पर होने वाले इक् की सम्प्रसारणसञ्ज्ञा की जाती है । अतः द्युत् और स्वापि के अभ्यासस्थ यण् को इक् हो जायेगा । तात्पर्य यह हुआ कि द्युत् के अभ्यास के यकार को तथा स्वापि के अभ्यास के वकार को क्रमशः इकार उकार हो जायेंगे । उदाहरण यथा—

'द्युत्+द्युत्+ए' यहां पर द्युत् के अभ्यासगत यकार को प्रकृतसूत्र से इकार सम्प्रसारण हो कर—दि उत्+द्युत्+ए । 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से सम्प्रसारण इकार और पर उकार के मध्य पूर्वरूप एकादेश हो कर—दित्+द्युत्+ए । अब 'हलादिः शेषः' (३९६) से अभ्यास के तकार का लोप करने पर 'दिद्युते' प्रयोग सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि यहां लिँट् के कित् (४५२) होने से लघूपधगुण का 'क्क्ङिति च' (४३३) से निषेध हो जाता है । रूपमाला यथा—दिद्युते, दिद्युताते, दिद्युतिरे । दिद्युतिषे, दिद्युताथे, दिद्युतिध्वे । दिद्युते, दिद्युतिवहे, दिद्युतिमहे ।

'स्वापि' का उदाहरण 'सुष्वापयिषति' आदि है ।

लुँट्—लघूपधगुण हो जाता है । द्योतिता, द्योतितारौ, द्योतितारः । द्योतितासे—। लृँट्—द्योतिष्यते, द्योतिष्येते, द्योतिष्यन्ते । लोँट्—द्योतताम्, द्योतेताम्, द्योतन्ताम् । लँङ्—अद्योतत, अद्योतेताम्, अद्योतन्त । वि० लिँङ्—द्योतेत, द्योतेयाताम्, द्योतेरन् । आ०लिँङ्—द्योतिषीष्ट, द्योतिषीयास्ताम्, द्योतिषीरन् । लुँङ् की प्रक्रिया में अग्रिमसूत्र द्वारा विशेष कार्य विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५३८) द्युद्भ्यो लुँङि ।१।३।९१।।

द्युतादिभ्यो लुँङः परस्मैपदं वा स्यात् । पुषादि० (५०७) इत्यङ्—अद्युतत्, अद्योतिष्ट । अद्योतिष्यत ।।

अर्थः—द्युत् आदि धातुओं से परे लुँङ् के स्थान पर विकल्प से परस्मैपद प्रत्यय हों।

व्याख्या—द्युद्भ्यः ।५।३। लुँङि ।७।१। वा इत्यव्ययपदम् ('वा क्यषः' से)। परस्मैपदम् ।१।१। ('शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' से)। 'द्युद्भ्यः' में बहुवचन का निर्देश होने से केवल द्युत् का नहीं अपितु द्युतादियों का ग्रहण किया जाता है। धातुपाठ के भ्वादि-गण में द्युतादि बाईस धातु पढ़ी गई हैं उन सब का यहां ग्रहण अभीष्ट है[1]। लकार के स्थान पर ही परस्मैपद प्रत्यय हुआ करते हैं अतः 'लुँङि' का षष्ठ्यन्ततया विपरि-णाम कर 'लुँङः' बना लिया जाता है। अर्थः—(द्युद्भ्यः) द्युत् आदि धातुओं से परे (लुँङि=लुँङः) लुँङ् के स्थान पर (वा) विकल्प से (परस्मैपदम्) परस्मैपद प्रत्यय हो जाते हैं। द्युतादि सब धातु अनुदात्तेत् हैं अतः जिस पक्ष में परस्मैपद नहीं होगा वहाँ 'अनुदात्तङितः०' (३७८) से आत्मनेपद हो जायेगा।

द्युत् धातु से परस्मैपद करने पर प्र० पु० के एकवचन में 'द्युत्+ति' इस स्थिति में 'इतश्च' (४२४) से इकार का लोप, 'च्लि लुँङि' (४३७) से च्लिप्रत्यय, 'पुषादिद्युतादि०' (५०७) से च्लि को अङ् आदेश, अङ् के ङित् होने के कारण लघूपधगुण का निषेध तथा अन्त में अट् का आगम करने पर 'अद्युतत्' प्रयोग सिद्ध होता है। आत्मनेपद में च्लि को अङ् नहीं होता अतः च्लि को सिँच्, इट्, लघूपध-गुण, सकार को षकार तथा ष्टुत्व से तकार को टकार करने से 'अद्योतिष्ट' रूप निष्पन्न होता है। लुँङ् में द्युत् की रूपमाला यथा—(परस्मैपदे) अद्युतत्, अद्युत-ताम्, अद्युतन्। अद्युतः, अद्युततम्, अद्युतत। अद्युतम्, अद्युताव, अद्युताम। (आत्मने-पदे) अद्योतिष्ट, अद्योतिषाताम्, अद्योतिषत। अद्योतिष्ठाः, अद्योतिषाथाम्, अद्योति-ढ्वम्। अद्योतिषि, अद्योतिष्वहि, अद्योतिष्महि।

लृँङ्—अद्योतिष्यत, अद्योतिष्येताम्, अद्योतिष्यन्त।

[लघु०] **एवं श्विताँ वर्णे ॥५॥**

अर्थः—श्विताँ (श्वित्) धातु 'सुफेद होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है। इस की प्रक्रिया द्युत् धातु की तरह होती है।

---

१. द्युतादि धातु यथा—(१) द्युतँ दीप्तौ। (२) श्विताँ वर्णे। (३) ञिमिदाँ स्नेहने। (४) ञिष्विदाँ स्नेहनमोचनयोः। ञिक्ष्विदाँ चेत्येके। (५) रुचँ दीप्तावभिप्रीतौ च। (६) घुटँ परिवर्त्तने। (७—९) रुटँ लुटँ लुठँ प्रतिघाते। (१०) शुभँ दीप्तौ। (११) क्षुभँ सञ्चलने। (१२—१३) णभँ तुभँ हिंसायाम्। (१४—१६) स्रंसुँ ध्वंसुँ भ्रंसुँ अवस्रंसने। ध्वंसुँ गतौ च। भ्रंशुँ इत्यपि केचित्। (१७) स्रम्भुँ विश्वासे। (१८) वृतुँ वर्त्तने। (१९) वृधुँ वृद्धौ। (२०) शृधुँ शब्दकुत्सायाम्। (२१) स्यन्दूँ प्रस्रवणे। (२२) कृपूँ सामर्थ्ये। अन्तिम पाञ्च धातु वृतादि कहलाती हैं।

व्याख्या—श्विता धातु का अन्त्य आकार अनुदात्त अनुनासिक है अतः इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'श्वित्' ही शेष रहता है। धातु में आकार अनुबन्ध का फल 'आदितश्च' (७.२.१६) सूत्र द्वारा निष्ठा में इट् का निषेध करना है—श्वित्तम्, श्वित्तवान्। श्वेत, श्वित्र (एक प्रकार का त्वग्रोग) आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं। ध्यान रहे कि इस धातु का अर्थ 'श्वेत होना' (To become white) है न कि 'श्वेत करना' (To whiten)। 'श्वेत करना' अर्थ में इसे णिजन्त बनाना पड़ता है—श्वेतयति वस्त्रम्, श्वेतयति भवनम्[1]। संस्कृतसाहित्य में इस का क्वाचित्क प्रयोग पाया जाता है। यथा—व्यतिकरितदिगन्ताः श्वेतमानैर्यशोभिः (मालती० २.६); सदस्तदश्वेति हसैः सदःसदाम् (नैषध० १२.२२. सदःसदाम्=सभ्यानां हसैः=हसितैः तत् सदः=सभा अश्वेति=श्वेतीकृतम्, णिजन्तात् कर्मणि लुङ्)।

श्वित् धातु में कोई नया कार्य नहीं होता। द्युत् धातु की तरह सब कार्य होते हैं। लँट्—श्वेतते, श्वेतेते, श्वेतन्ते। लिँट्—शिश्विते, शिश्विताते, शिश्वितिरे। लुँट्—श्वेतिता, श्वेतितारौ, श्वेतितारः। श्वेतितासे—। लृँट्—श्वेतिष्यते, श्वेतिष्येते, श्वेतिष्यन्ते। लोँट्—श्वेतताम्, श्वेतेताम्, श्वेतन्ताम्। लँङ्—अश्वेतत, अश्वेतेताम्, अश्वेतन्त। वि० लिँङ्—श्वेतेत, श्वेतेयाताम्, श्वेतेरन्। आ० लिँङ्—श्वेतिषीष्ट, श्वेतिषीयास्ताम्, श्वेतिषीरन्। लुँङ्—में पूर्ववत् (५३८) सूत्र से पाक्षिक परस्मैपद हो जायेगा। परस्मैपदपक्ष में 'पुषादि०' (५०७) से च्लि को अङ् आदेश हो जाता है। (परस्मैपदे) अश्वितत्, अश्वितताम्, अश्वितन्। (आत्मनेपदे) अश्वेतिष्ट, अश्वेतिषाताम्, अश्वेतिषत। लृँङ्—अश्वेतिष्यत, अश्वेतिष्येताम्, अश्वेतिष्यन्त।

[लघु०] ञिमिदाँ स्नेहने ॥६॥

अर्थः—ञिमिदाँ (मिद्) धातु 'चिकना होना, गीला होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—इस धातु के आदि में स्थित 'ञि' की 'आदिर्ञिटुडवः' (४६२) से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है, अन्त्य आकार भी पूर्ववत् इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, इस प्रकार 'मिद्' ही अवशिष्ट रहता है। 'ञि' को इत् करने का फल 'ञीतः क्तः' (३.२.१८७) द्वारा वर्तमान काल में क्तप्रत्यय करना है—मिन्नः। मेदिनी, मित्र, मेदुरा, मेदस् आदि शब्दों की उत्पत्ति इसी धातु से होती है। इस की प्रक्रिया भी द्युत् धातु की तरह समझनी चाहिये। लँट्—मेदते, मेदेते, मेदन्ते। लिँट्—मिमिदे, मिमिदाते,

---

१. सि० कौ० की बालमनोरमा टीका में 'श्वेतवर्णकरणे श्वेतीभवने वेत्यर्थः' इस प्रकार इसे सकर्मक भी माना गया है। पता नहीं उस लेख का क्या आधार है।

मिमिदिरे । लुँट्—मेदिता, मेदितारौ, मेदितारः । मेदितासे—। लृँट्—मेदिष्यते, मेदिष्येते, मेदिष्यन्ते । लोँट्—मेदताम्, मेदेताम्, मेदन्ताम् । लँङ्—अमेदत, अमेदेताम्, अमेदन्त । वि० लिँङ्—मेदेत, मेदेयाताम्, मेदेरन् । आ० लिँङ्—मेदिषीष्ट, मेदिषीयास्ताम्, मेदिषीरन् । लुँङ्—में पूर्ववत् पाक्षिक परस्मैपद हो कर अङ् आदेश हो जाता है—(परस्मै०) अमिदत्, अमिदताम्, अमिदन् । (आत्मने०) अमेदिष्ट, अमेदिषाताम्, अमेदिषत । लृँङ्—अमेदिष्यत, अमेदिष्येताम्, अमेदिष्यन्त ।

[लघु०] ञिष्विदाँ स्नेहन-मोचनयोः ॥७॥ मोहनयोरित्येके । ञिक्ष्विदाँ चेत्येके ॥

अर्थः—ञिष्विदाँ (स्विद्) धातु 'स्निग्ध होना-पसीना बहाना-पसीने से तर होना तथा छोड़ना' अर्थ में प्रयुक्त होती है । कई लोग 'स्नेहन-मोहनयोः' इस प्रकार पाठ मानते हैं अर्थात् उन के मत में 'छोड़ना' अर्थ नहीं अपितु 'मोहित होना' अर्थ है । कई लोग यहां 'ञिक्ष्विदाँ' (क्ष्विद्) धातु का भी पाठ मानते हैं ।

व्याख्या—ञिष्विदाँ में पूर्ववत् ञि और अनुदात्त आकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है । 'धात्वादेः षः सः' (२५५) से षकार को सकार आदेश हो कर 'स्विद्' बन जाता है । इस की प्रक्रिया भी द्युत् धातु की तरह होती है । रूपमाला यथा—

लँट्—स्वेदते, स्वेदेते, स्वेदन्ते । लिँट्—सिष्विदे, सिष्विदाते, सिष्विदिरे । लुँट्—स्वेदिता, स्वेदितारौ, स्वेदितारः । स्वेदितासे—। लृँट्—स्वेदिष्यते, स्वेदिष्येते, स्वेदिष्यन्ते । लोँट्—स्वेदताम्, स्वेदेताम्, स्वेदन्ताम् । लँङ्—अस्वेदत, अस्वेदेताम्, अस्वेदन्त । वि० लिँङ्—स्वेदेत, स्वेदेयाताम्, स्वेदेरन् । आ० लिँङ्—स्वेदिषीष्ट, स्वेदिषीयास्ताम्, स्वेदिषीरन् । लुँङ्—(परस्मै०) अस्विदत्, अस्विदताम्, अस्विदन् । (आत्मने०) अस्वेदिष्ट, अस्वेदिषाताम्, अस्वेदिषत । लृँङ्—अस्वेदिष्यत, अस्वेदिष्येताम्, अस्वेदिष्यन्त ।

ञिक्ष्विदाँ (क्ष्विद्) पाठ मानने पर रूपमाला यथा—

लँट्—क्ष्वेदते । लिँट्—चिक्ष्विदे । लुँट्—क्ष्वेदिता । लृँट्—क्ष्वेदिष्यते । लोँट्—क्ष्वेदताम् । लँङ्—अक्ष्वेदत । वि० लिँङ्—क्ष्वेदेत । आ० लिँङ्—क्ष्वेदिषीष्ट । लुँङ्—(परस्मै०) अक्ष्विदत् । (आत्मने०) अक्ष्वेदिष्ट । लृँङ्—अक्ष्वेदिष्यत ।

[लघु०] रुचँ दीप्तावभिप्रीतौ च ॥८॥

अर्थः—रुचँ (रुच्) धातु 'चमकना और प्रीति का विषय होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—रुचँ धातु अनुदात्तेत् है । प्रीति का विषय होना-भाना-पसन्द आना अर्थ में प्रीयमाण (प्रसन्न होने वाले) की 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' (१.४.३३) से सम्प्रदान

सञ्ज्ञा हो कर 'चतुर्थी सम्प्रदाने' (२.३.१३) से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है। यथा—मह्यं मोदकं रोचते। देवदत्ताय अपूपा रोचन्ते। इसी धातु से रोचक, रुचि, रुच् (स्त्री०, शोभा), रुक्म (नपुं०, सुवर्ण), विरोचन (सूर्य) आदि शब्द बनते हैं। इस की भी सम्पूर्ण प्रक्रिया द्युत् धातु की तरह होती है। रूपमाला यथा—

लँट्—रोचते, रोचेते, रोचन्ते। लिँट्—रुरुचे, रुरुचाते, रुरुचिरे। लुँट्—रोचिता, रोचितारौ, रोचितारः। रोचितासे –। लृँट्—रोचिष्यते, रोचिष्येते, रोचिष्यन्ते। लोँट्–रोचताम्, रोचेताम्, रोचन्ताम्। लँङ्–अरोचत, अरोचेताम्, अरोचन्त। वि० लिँङ्—रोचेत, रोचेयाताम्, रोचेरन्। आ० लिँङ्—रोचिषीष्ट, रोचिषीयास्ताम्, रोचिषीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अरुचत्, अरुचताम्, अरुचन्। (आत्मने०) अरोचिष्ट, अरोचिषाताम्, अरोचिषत। लृँङ्—अरोचिष्यत, अरोचिष्येताम्, अरोचिष्यन्त।

[लघु०] घुटँ परिवर्त्तने ॥९॥

अर्थः—घुटँ (घुट्) धातु 'परिवर्त्तन' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् अनुदात्तेत् है। इस का अर्थ 'परिवर्त्तन' लिखा है। इस की व्याख्या विविध टीकाकार विविध प्रकार से करते हैं। कई टीकाकार 'परितो वर्त्तनं भ्रमणं परिवर्त्तनम्' अर्थात् चारों ओर घूमने को परिवर्त्तन कहते हैं। घोटः, घोटकः (घोड़ा) शब्दों में यही भाव पाया जाता है। श्रीदुर्गादास विद्यावागीश 'गतवतः प्रत्यावर्त्तनं परिवर्त्तनम्' अर्थात् वापस लौटने को परिवर्त्तन मानते हैं, उन्होंने एक उदाहरण भी यहां दिया है—नदी घोटते (नदी उतार पर है)। उन के मत में इस का एक अर्थ विनिमय भी है। कुछ लोग इस का अर्थ 'घोटना' (औषध आदि का) मानते हैं। सम्भव है हिन्दी के 'घोटना' शब्द का मूल इसी में निहित हो। काशकृत्स्न-धातुपाठ की चन्नवीरकविकृत व्याख्या में इस धातु का अर्थ 'नाचना' लिखा है। इस धातु की प्रक्रिया भी द्युत् धातु की तरह होती है।

लँट्—घोटते, घोटेते, घोटन्ते। लिँट्—जुघुटे, जुघुटाते, जुघुटिरे। लुँट्—घोटिता, घोटितारौ, घोटितारः। घोटितासे—। लृँट्—घोटिष्यते, घोटिष्येते, घोटिष्यन्ते। लोँट्–घोटताम्, घोटेताम्, घोटन्ताम्। लँङ्—अघोटत, अघोटेताम्, अघोटन्त। वि० लिँङ्–घोटेत, घोटेयाताम्, घोटेरन्। आ० लिँङ्–घोटिषीष्ट, घोटिषीयास्ताम्, घोटिषीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अघुटत्, अघुटताम्, अघुटन्। (आत्मने०) अघोटिष्ट, अघोटिषाताम्, अघोटिषत। लृँङ्—अघोटिष्यत, अघोटिष्येताम्, अघोटिष्यन्त।

[लघु०] शुभँ दीप्तौ ॥१०॥

अर्थः—शुभँ (शुभ्) धातु 'चमकना या शोभा पाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी है। शोभा, शुभ्र,

शुक्ल, शुक्र, शुक आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं। इस धातु की प्रक्रिया भी द्युत् धातु की तरह होती है।

लँट्—शोभते, शोभेते, शोभन्ते। विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः (हितो०)। लिँट्—शुशुभे, शुशुभाते, शुशुभिरे। लुँट्—शोभिता, शोभितारौ, शोभितारः। शोभितासे—। लृँट्—शोभिष्यते, शोभिष्येते, शोभिष्यन्ते। लोँट्—शोभताम्, शोभेताम्, शोभन्ताम्। लँङ्—अशोभत, अशोभेताम्, अशोभन्त। वि० लिँङ्—शोभेत, शोभेयाताम्, शोभेरन्। आ० लिँङ्—शोभिषीष्ट, शोभिषीयास्ताम्, शोभिषीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अशुभत्, अशुभताम्, अशुभन्। (आत्मने०) अशोभिष्ट, अशोभिषाताम्, अशोभिषत। लृँङ्—अशोभिष्यत, अशोभिष्येताम्, अशोभिष्यन्त।

[लघु०] क्षुभँ सञ्चलने ॥११॥

अर्थः—क्षुभँ (क्षुभ्) धातु 'व्याकुल व विचलित होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु दिवादि और क्र्यादि के परस्मैपद में भी पढ़ी गई है। क्षुब्ध आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं। यहां यह धातु अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी है। सञ्चलनं प्रकृतिविपर्यासो मन्थनं चेति तत्त्वबोधिनी। सञ्चलनं रूपान्यथात्वम् इति क्षीरतरङ्गिणी। इस धातु की प्रक्रिया भी द्युत् धातुवत् होती है। रूपमाला यथा—

लँट्—क्षोभते, क्षोभेते, क्षोभन्ते। लिँट्—चुक्षुभे, चुक्षुभाते, चुक्षुभिरे। लुँट्—क्षोभिता, क्षोभितारौ, क्षोभितारः। क्षोभितासे—। लृँट्—क्षोभिष्यते, क्षोभिष्येते, क्षोभिष्यन्ते। लोँट्—क्षोभताम्, क्षोभेताम्, क्षोभन्ताम्। लँङ्—अक्षोभत अक्षोभेताम्, अक्षोभन्त। वि० लिँङ्—क्षोभेत, क्षोभेयाताम्, क्षोभेरन्। आ० लिँङ्—क्षोभिषीष्ट, क्षोभिषीयास्ताम्, क्षोभिषीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अक्षुभत्, अक्षुभताम्, अक्षुभन्। (आत्मने०) अक्षोभिष्ट, अक्षोभिषाताम्, अक्षोभिषत। लृँङ्—अक्षोभिष्यत, अक्षोभिष्येताम्, अक्षोभिष्यन्त।

[लघु०] णभँ हिंसायाम् ॥१२॥

अर्थः—णभँ (नभ्) धातु 'हिंसा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—णभँ धातु अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी है। 'णो नः' (४५८) सूत्र से इस के णकार को नकार हो कर 'नभ्' बन जाता है। इस धातु के तिङन्त प्रयोग लोक में बहुत ही कम देखे जाते हैं, पर वेद में इन का प्रयोग कई स्थानों पर उपलब्ध होता है। लौकिक अदन्त पुं० नभस (आकाशे नभसो भवेत्—महादेववेदान्तिन् उणा० ३.११७) शब्द इसी धातु से निष्पन्न माना गया है। सकारान्त नपुं० नभस् (आकाश, बादल, श्रावणमास, वर्षा ऋतु आदि) शब्द को पाणिनीयनिकाय में 'नह्' (बन्धने) धातु से निष्पन्न माना जाता है (देखें उणा० ४.२१०), परन्तु श्री भोजराज ने सरस्वती-

कण्ठाभरण में इसे भी नभ् धातु से निष्पन्न माना है। इस धातु की प्रक्रिया लुँङ् में द्युत् की तरह तथा अन्यत्र साधारण होती है।

लँट्—नभते, नभेते, नभन्ते। लिँट्—नेभे, नेभाते, नेभिरे। नेभिषे, नेभाथे, नेभिध्वे। नेभे, नेभिवहे, नेभिमहे। (अत एकहल्मध्ये० इत्येत्वाभ्यासलोपौ)। लुँट्—नभिता, नभितारौ, नभितारः। नभितासे—। लृँट्—नभिष्यते, नभिष्येते, नभिष्यन्ते। लोँट्—नभताम्, नभेताम्, नभन्ताम्। लँङ्—अनभत, अनभेताम्, अनभन्त। वि० लिँङ्—नभेत, नभेयाताम्, नभेरन्। आ० लिँङ्—नभिषीष्ट, नभिषीयास्ताम्, नभिषीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अनभत्, अनभताम्, अनभन्। (आत्मने०) अनभिष्ट, अनभिषाताम्, अनभिषत। लृँङ्—अनभिष्यत, अनभिष्येताम्, अनभिष्यन्त।

[लघु०] तुभँ हिंसायाम् ॥१३॥

अर्थः—तुभँ (तुभ्) धातु 'हिंसा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—प्रयत्न करने पर भी हमें तुभ् धातु के प्रयोग का कहीं पता नहीं चला। लक्षणैकचक्षुष् भट्टि आदियों की बात जुदा है। अरबी भाषा के 'तोबः' (गुनाह न करने का दृढ निश्चय) शब्द का शायद इस के साथ कुछ सम्बन्ध स्थापित हो सके। यह धातु भी अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी है। इस की प्रक्रिया द्युत् धातु की तरह होती है। रूपमाला यथा—

लँट्—तोभते, तोभेते, तोभन्ते। लिँट्—तुतुभे, तुतुभाते, तुतुभिरे। लुँट्—तोभिता, तोभितारौ, तोभितारः। तोभितासे—। लृँट्—तोभिष्यते, तोभिष्येते, तोभिष्यन्ते। लोँट्—तोभताम्, तोभेताम्, तोभन्ताम्। लँङ्—अतोभत, अतोभेताम्, अतोभन्त। वि० लिँङ्—तोभेत, तोभेयाताम्, तोभेरन्। आ० लिँङ्—तोभिषीष्ट, तोभिषीयास्ताम्, तोभिषीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अतुभत्, अतुभताम्, अतुभन्। (आत्मने०) अतोभिष्ट, अतोभिषाताम्, अतोभिषत। लृँङ्—अतोभिष्यत, अतोभिष्येताम् अतोभिष्यन्त।

[लघु०] स्रंसुँ भ्रंसुँ ध्वंसुँ अवस्रंसने। ध्वंसुँ गतौ च ॥१४—१६॥

अर्थः—स्रंसुँ भ्रंसुँ ध्वंसुँ (स्रंस्, भ्रंस्, ध्वंस्) धातु 'नीचे गिरना' अर्थ में प्रयुक्त होती हैं। इन में से ध्वंसुँ (ध्वंस्) धातु 'गमन=नष्ट होना' अर्थ में भी प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—अवस्रंसनम् अधःपतनम्, नीचे गिरने को अवस्रंसन कहते हैं। ध्वंसुँ धातु गति-गमन अर्थ में भी प्रयुक्त होती है यहां गमन का अर्थ विनाश है (गतौ=दूरीभावे, ध्वंसते=दूरीभवति=विनश्यति—चन्नवीरकविः)। ये तीनों धातुएं उदित् हैं इन का उकार अनुदात्त है अतः आत्मनेपद सिद्ध हो जाता है। उकार को इत् करने का फल 'उदितो वा' (८८२) से क्त्वा में इट् का विकल्प करना है—स्रस्त्वा-

स्रंसित्वा, भ्रस्त्वा-भ्रंसित्वा ध्वस्त्वा-ध्वंसित्वा । किञ्च क्त्वा में इट् का विकल्प होने से 'यस्य विभाषा' (७.२.१५) द्वारा निष्ठा में इट् नहीं होता—स्रस्तः, स्रस्तवान्, भ्रस्तः, भ्रस्तवान् ; ध्वस्तः, ध्वस्तवान् । कई वैयाकरण 'भ्रंसुँ' के स्थान पर 'भ्रंशुँ' पाठ पढ़ते हैं । भ्रंशुँ का ही निष्ठा में 'भ्रष्टः, भ्रष्टवान्' बनता है । ध्यान रहे कि ये सब धातुएं तथा इन से अगली 'स्रम्भुँ विश्वासे' धातु नोपध है । 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) से इन में नकार को अनुस्वार हो गया है । स्रम्भुँ में अनुस्वार को 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (७९) द्वारा परसवर्ण-मकार हुआ है[1] ।

स्रंसुँ धातु की रूपमाला यथा—लँट्—स्रंसते, स्रंसेते, स्रंसन्ते । गाण्डीवं

---

१. धातुओं के विषय में यह श्लोक कण्ठस्थ कर लेना चाहिये—

नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु ।
सकारजः शकारश्चे षाट्टवर्गस्तवर्गजः ॥

इस श्लोक में धातुविषयक तीन नियम बताये गये हैं । (१) झलि परे अनुस्वारपञ्चमौ नकारजौ मन्तव्यौ । अर्थात् धातुओं में झल् परे होने पर यदि अनुस्वार या पञ्चमवर्ण (ञ्, म्, ङ्, ण्, न्) दिखाई दे तो उसे नकार से उत्पन्न हुआ समझना चाहिये । यथा—स्रंसुँ ध्वंसुँ भ्रंसुँ इन में सकार-झल् परे होने पर अनुस्वार उपलब्ध होता है तो इस की उत्पत्ति नकार से ही समझनी चाहिये । अत एव लुँङ् के परस्मैपद पक्ष में अङ् परे होने पर 'अनिदितां हलः०' (३३४) द्वारा उपधाभूत नकार का लोप हो जाता है—अस्रसत्, अध्वसत्, अभ्रसत् आदि । इसी प्रकार अञ्च्, गुम्फ् आदि धातुओं में ञकार मकार आदि पञ्चमवर्ण भी नकार से उत्पन्न हुए हैं, अतएव आ० लिँङ् में 'अनिदितां हलः०' द्वारा उपधा के नकार का लोप हो जाता है—अच्यात्, गुफ्यात् आदि । (२) धातुषु चे = चकारे शकारः सकारजो मन्तव्यः । अर्थात् धातुओं में चकार परे होने पर यदि शकार दृष्टिगोचर हो तो उसे सकार से उत्पन्न हुआ समझना चाहिये । यथा—'ओँव्रश्चूँ छेदने' यहां चकार परे होने पर शकार उपलब्ध होता है तो इस की उत्पत्ति सकार से समझनी चाहिये (स्तोः श्चुना श्चुः) । अतएव 'वव्रष्ठ' में 'स्कोः०' (३०९) से संयोगादि सकार का लोप हो जाता है । (३) षात् टवर्गः तवर्गजः । अर्थात् धातुओं में रेफ या षकार से परे यदि कहीं टवर्ग दिखाई दे तो उसे तवर्ग से उत्पन्न हुआ समझना चाहिये । यथा—ऊर्णुञ् आच्छादने, ष्ठा गतिनिवृत्तौ । प्रथम में रेफ से परे णकार की उत्पत्ति नकार से हुई है अतएव द्वित्व करते समय 'नु' को द्वित्व होता है 'णु' को नहीं । दूसरे में षकार से परे ठकार की उत्पत्ति थकार से हुई है अतएव 'धात्वादेः षः सः' (२५५) से आदि षकार को सकार करते ही 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' से ठकार को तुरन्त थकार हो जाता है—स्थास्यति ।

स्रंसते हस्तात्—गीता १.३०। लिँट्—स्रन्स् धातु संयोगान्त है अतः इस से परे 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) द्वारा लिँट् को कित् नहीं माना जाता। कित् न होने से 'अनिदितां हलः०' (३३४) से उपधा के नकार का लोप नहीं होता। सस्रंसे, सस्रंसाते, सस्रंसिरे। लुँट्—स्रंसिता, स्रंसितारौ, स्रंसितारः। स्रंसितासे—। लृँट्—स्रंसिष्यते, स्रंसिष्येते, स्रंसिष्यन्ते। लोँट्—स्रंसताम्, स्रंसेताम् स्रंसन्ताम्। लँङ्—अस्रंसत, अस्रंसेताम्, अस्रंसन्त। वि० लिँङ्—स्रंसेत, स्रंसेयाताम्, स्रंसेरन्। आ० लिँङ्—स्रंसिषीष्ट, स्रंसिषीयास्ताम्, स्रंसिषीरन्। लुँङ्—में पूर्ववत् 'द्युद्भ्यो लुँङि' (५३८) से पाक्षिक परस्मैपद हो जाता है। परस्मैपद पक्ष में च्लि को 'पुषादिद्युताद्ि०' (५०७) से अङ् हो कर 'अनिदितां हलः०' (३३४) से उपधा के नकार का लोप हो जाता है। (परस्मै०) अस्रसत्, अस्रसताम्, अस्रसन्। (आत्मने०) आत्मनेपद में कि व ङित् न होने से नकार का लोप नहीं होता। अस्रंसिष्ट, अस्रंसिषाताम्, अस्रंसिषत। लृँङ्—अस्रंसिष्यत, अस्रंसिष्येताम्, अस्रंसिष्यन्त।

इसी प्रकार भ्रंसुँ की रूपमाला चलती है। लँट्—भ्रंसते। लिँट्—बभ्रंसे। लुँट्—भ्रंसिता। लृँट्—भ्रंसिष्यते। लोँट्—भ्रंसताम्। लँङ्—अभ्रंसत। वि० लिँङ्—भ्रंसेत। आ० लिँङ्—भ्रंसिषीष्ट। लुँङ्-(परस्मै०) अभ्रसत्। (आत्मने०) अभ्रंसिष्ट। लृँङ्—अभ्रंसिष्यत।

ध्वंसुँ धातु के रूप भी इसी प्रकार चलते हैं। लँट्—ध्वंसते। लिँट्—दध्वंसे। लुँट्—ध्वंसिता। लृँट्—ध्वंसिष्यते। लोँट्—ध्वंसताम्। लँङ्—अध्वंसत। वि० लिँङ्—ध्वंसेत। आ० लिँङ्—ध्वंसिषीष्ट। लुँङ्—(परस्मै०) अध्वसत्। (आत्मने०) अध्वंसिष्ट। लृँङ्—अध्वंसिष्यत।

[लघु०] स्रम्भुँ विश्वासे ॥१७॥

अर्थः—स्रम्भुँ (स्रम्भ्) धातु 'विश्वास करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् उदित् और आत्मनेपदी है। उदित्करण का फल भी पूर्ववत् जानना चाहिये। इस धातु का प्रायः 'वि' पूर्वक प्रयोग देखा जाता है—विस्रब्धं हरिणाश्चरन्त्यचकिताः (भासकृतस्वप्न० १.१२)। रूपमाला यथा—

लँट्—स्रम्भते, स्रम्भेते, स्रम्भन्ते। लिँट्—सस्रम्भे, सस्रम्भाते, सस्रम्भिरे। लुँट्—स्रम्भिता, स्रम्भितारौ, स्रम्भितारः। स्रम्भितासे—। लृँट्—स्रम्भिष्यते, स्रम्भिष्येते, स्रम्भिष्यन्ते। लोँट्—स्रम्भताम्, स्रम्भेताम्, स्रम्भन्ताम्। लँङ्—अस्रम्भत, अस्रम्भेताम्, अस्रम्भन्त। वि० लिँङ्—स्रम्भेत, स्रम्भेयाताम्, स्रम्भेरन्। आ० लिँङ्—स्रम्भिषीष्ट, स्रम्भिषीयास्ताम्, स्रम्भिषीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अस्रभत्, अस्रभताम्, अस्रभन्। (आत्मने०) अस्रम्भिष्ट, अस्रम्भिषाताम्, अस्रम्भिषत। लृँङ्—अस्रम्भिष्यत, अस्रम्भिष्येताम्, अस्रम्भिष्यन्त।

[लघु०] वृतुँ वर्त्तने ॥१८॥ वर्त्तते । ववृते । वर्तिता ॥

अर्थः—वृतुँ (वृत्) धातु 'होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—वृतुँ में उकार अनुदात्त और अनुनासिक है इस की इत्सञ्ज्ञा हो कर 'वृत्' शेष रहता है । अनुदात्तेत् होने से यह आत्मनेपदी है । इसे उदित् करने का फल **'उदितो वा'** (८८२) द्वारा क्त्वा में इट् का विकल्प करना है—वृत्त्वा, वर्तित्वा । किञ्च इस विकल्प के कारण **'यस्य विभाषा'** (७.२.१५) द्वारा निष्ठा में इट् का निषेध हो जाता है—वृत्तः, वृत्तवान् । प्रवृत्ति, निवृत्ति, आवृत्ति, वर्त्मन् (मार्ग) प्रभृति शब्द इसी धातु से बनते हैं ।

लँट्—में सर्वत्र लघूपधगुण हो जाता है । **वर्तते, वर्तेते, वर्तन्ते । वर्तसे, वर्तेथे, वर्तध्वे । वर्ते, वर्तावहे, वर्तामहे ।** ध्यान रहे कि 'अचो रहाभ्यां द्वे (६०) से तकार को पाक्षिक द्वित्व हो कर 'वर्त्तते' प्रभृति रूप भी बनेंगे ।

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन में द्वित्व तथा अभ्यासकार्य करने पर 'ववृत्+ए' इस स्थिति में **'असंयोगाल्लिँट् कित्'** (४५२) से कित्त्व तथा **'पुगन्तलघूपधस्य च'** (४५१) से लघूपधगुण युगपत् प्राप्त होते हैं । इन दोनों के पहले-पीछे होने पर रूप-सिद्धि पर प्रभाव पड़ता है । यदि कित्त्व पहले कर दें तो **'क्ङिति च'** (४३३) से गुण का निषेध हो कर 'ववृते' रूप बन जायेगा; और यदि गुण पहले कर दें तो धातु के संयोगान्त हो जाने से कित्त्व नहीं हो सकता तब 'ववर्ते' रूप बनेगा । कित्त्व और गुण दोनों अन्यत्रान्यत्र लब्धावकाश हैं । कित्त्व को 'ईजतुः, ईजुः' में अवकाश है । यहां कित्त्व के कारण यज् धातु को सम्प्रसारण हो जाता है । लघूपधगुण को 'भेत्ता, छेत्ता' आदि में अवकाश प्राप्त है । इन दोनों के विप्रतिषेध में परत्व के कारण गुण होना चाहिये परन्तु **'ऋदुपधेभ्यो लिँटः कित्वं गुणात् पूर्वविप्रतिषेधेन'** [ऋदुपध धातुओं से परे गुण और कित्त्व के विप्रतिषेध में पूर्वविप्रतिषेध से कित्त्व हो जाता है] इस वार्तिक से प्रथम कित्त्व हो जाता है, तब कित्त्व के कारण **'क्ङिति च'** (४३३) से लघूपधगुण का निषेध हो कर 'ववृते' प्रयोग सिद्ध होता है ।

शङ्का—सिध्, शुच् आदि धातु ऋदुपध नहीं अतः 'सिषिधतुः, शुशुचतुः' आदि प्रयोगों में परत्व के कारण पहले गुण क्यों नहीं हो जाता ?

समाधान—वहां नित्य होने से कित्त्व पहले हो जाता है इसलिये गुण नहीं हो सकता । तथाहि—चाहे गुण पहले करें या बाद में कित्त्व की प्राप्ति दोनों अवस्थाओं में बनी रहती है अतः **'कृताऽकृतप्रसङ्गी यो विधिः स नित्यः'** के अनुसार कित्त्व नित्य है । परन्तु 'ववृत्+ए' में कित्त्व नित्य नहीं क्योंकि दोनों अवस्थाओं में उस की प्राप्ति नहीं होती । यदि गुण पहले कर दें तो धातु संयोगान्त हो जाती है तब 'असं-

योगाल्लिँट् कित्' (४५२) से कित्त्व की प्राप्ति ही नहीं होती। बस इसी भेद के कारण ऋदुपधों के लिये वार्त्तिक बनाना पड़ा है। 'सिषिधतुः' आदियों में स्वतः कोई दोष नहीं आता।

लिँट् में वृत् की रूपमाला यथा—ववृते, ववृताते, ववृतिरे। ववृतिषे, ववृताथे, ववृतिध्वे। ववृते, ववृतिवहे, ववृतिमहे। लुँट्—वर्तिता, वर्तितारौ, वर्तितारः। वर्तितासे—। अब लृँट् में परस्मैपद का वैकल्पिक विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५३९) वृद्भ्यः स्यसनोः।१।३।९२॥

वृतादिभ्यः पञ्चभ्यो वा परस्मैपदं स्यात् स्ये सनि च॥

अर्थः—स्य और सन् के विषय में वृत् आदि पांच धातुओं से विकल्प से परस्मैपद हो।

व्याख्या—वृद्भ्यः।५।३। स्यसनोः।७।२। वा इत्यव्ययपदम् ('वा क्यषः' से)। परस्मैपदम्।१।१। (शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम्' से)। 'वृद्भ्यः' में बहुवचन के निर्देश के कारण केवल वृत् धातु का नहीं अपितु वृतादि धातुओं का ग्रहण किया जाता है। द्युतादियों के अन्तर्गत वृत् आदि पाञ्च धातु वृतादि कहलाते हैं (देखें पृष्ठ २४४ पर टिप्पण)। वृतुँ-वृधुँ-शृधुँ-स्यन्दूँ-कृपूँ ये पाञ्च धातु वृतादियों के अन्तर्गत आते हैं। अर्थः—(स्यसनोः) स्य या सन् के विषय में (वृद्भ्यः) वृत् आदि धातुओं से परे लकार के स्थान पर (वा) विकल्प से (परस्मैपदम्) परस्मैपद हो। वृत् आदि पांचों धातु अनुदात्तेत् हैं अतः स्य में इन से परे 'अनुदात्तङित:०' (३७८) द्वारा तथा सन् में 'पूर्ववत्सनः' (७४२) द्वारा आत्मनेपद प्राप्त था परन्तु इस विशेष सूत्र से स्य और सन् में परस्मैपद का वैकल्पिक विधान किया गया है, पक्ष में आत्मनेपद भी होगा। सन् में उदाहरण—विवृत्सति, विवर्तिषते; शिशृत्सति, शिशृत्सते आदि। 'स्य' का उदाहरण प्रकृत में है—

'वृत्+स्य+लृँट्' इस स्थिति में प्रकृतसूत्र से लकार के स्थान पर पाक्षिक परस्मैपद हो कर 'वृत्+स्य+ति' हुआ। अब 'स्य' के आर्धधातुक होने के कारण 'आर्धधातुकस्येड्०' (४०१) से इट् का आगम प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(५४०) न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः।७।२.५९॥

वृतुँ-वृधुँ-शृधुँ-स्यन्दूँभ्यः सकारादेरार्धधातुकस्येड् न स्यात् तङानयोरभावे। वर्त्स्यति-वर्तिष्यते। वर्तताम्। अवर्तत। वर्तेत। वर्तिषीष्ट। (अवृतत्-) अवर्तिष्ट। अवर्त्स्यत्-अवर्तिष्यत॥

अर्थः—तङ् और श्रान का विषय न हो तो वृत् आदि चार धातुओं (वृत्, वृध्, शृध् और स्यन्द्) से परे सकारादि आर्धधातुक को इट् का आगम न हो।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम् । वृद्भ्यः ।५।३। चतुर्भ्यः ।५।३। सः ।६।१। ('सेऽसिचि०' से विभक्तिविपरिणाम कर के)।आर्धधातुकस्य ।६।१। ('आर्धधातुकस्येड्०' से)।इट् ।१।१। परस्मैपदेषु ।७।३। ('गमेरिट् परस्मैपदेषु' से) । 'सः' यह 'आर्धधातुकस्य' का विशेषण है अतः 'सकारादेः आर्धधातुकस्य' बन जाता है । अर्थः—(वृद्भ्यः) वृत् आदि (चतुर्भ्यः) चार धातुओं से परे (सः=सकारादेः) सकारादि (आर्धधातुकस्य) आर्धधातुक का अवयव (इट्) इट् (न) नहीं होता (परस्मैपदेषु) परस्मैपद-प्रत्यय परे हो तो । वृत् आदि चार धातु द्युतादिगण के अन्तर्गत आ चुके हैं—वृतुँ, वृधुँ, शृधुँ और स्यन्दूँ । परस्मैपद का अभिप्राय यहां 'आत्मनेपद के अभाव' से है, इसी लिये तो वृत्ति में 'तङानयोरभावे' कहा गया है अत एव 'विवृत्सिता (तृच्), विवृत्सितुम्' आदि में परस्मैपद परे न होने पर भी इण्निषेध सिद्ध हो जाता है ।

'वृत्+स्य+ति' यहां पर आत्मनेपद प्रत्यय नहीं है अतः प्रकृतसूत्र से सकारादि आर्धधातुक 'स्य' को इट् आगम का निषेध हो कर लघूपधगुण करने से 'वर्त्स्यति' प्रयोग सिद्ध होता है । जिस पक्ष में आत्मनेपद होगा वहां इट् का निषेध न होगा—वर्तिष्यते । लृँट् में रूपमाला यथा—(परस्मै०) वर्त्स्यति, वर्त्स्यतः, वर्त्स्यन्ति । (आत्मने०) वर्तिष्यते, वर्तिष्येते, वर्तिष्यन्ते ।

लोँट्—वर्तताम्, वर्तेताम्, वर्तन्ताम् । वर्तस्व, वर्तेथाम्, वर्तध्वम् । वर्तै, वर्तावहै, वर्तामहै । लँङ्—अवर्तत, अवर्तेताम्, अवर्तन्त । अवर्तथाः, अवर्तेथाम्, अवर्तध्वम् । अवर्ते, अवर्तावहि, अवर्तामहि । वि० लिँङ्—वर्तेत, वर्तेयाताम्, वर्तेरन् । वर्तेथाः, वर्तेयाथाम्, वर्तेध्वम् । वर्तेय, वर्तेवहि, वर्तेमहि । आ० लिँङ्—वर्तिषीष्ट, वर्तिषीयास्ताम्, वर्तिषीरन् । वर्तिषीष्ठाः, वर्तिषीयास्थाम्, वर्तिषीध्वम् । वर्तिषीय, वर्तिषीवहि, वर्तिषीमहि ।

लुँङ्—में 'द्युद्भ्यो लुँङि' (५३८) से पाक्षिक परस्मैपद हो जाता है । परस्मैपद में 'पुषादि०' (५०७) से च्लि को अङ् आदेश हो जाता है—अवृतत्, अवृतताम्, अवृतन् । अवृतः, अवृततम्, अवृतत । अवृतम्, अवृताव, अवृताम । आत्मनेपद में इट् का आगम हो जायेगा—अवर्तिष्ट, अवर्तिषाताम्, अवर्तिषत । अवर्तिष्ठाः, अवर्तिषाथाम्, अवर्तिढ्वम् । अवर्तिषि, अवर्तिष्वहि, अवर्तिष्महि ।

लृँङ्—में 'वृद्भ्यः स्यसनोः' (५३९) से विकल्प कर के परस्मैपद हो जायेगा । परस्मैपदपक्ष में 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' (५४०) से स्य को इडागम का निषेध हो जायेगा । (परस्मै०) अवर्त्स्यत्, अवर्त्स्यताम्, अवर्त्स्यन् । (आत्मने०) अवर्तिष्यत, अवर्तिष्येताम्, अवर्तिष्यन्त ।

नोट—यहां तीन बातें ध्यान में रखनी चाहियें—

(१) द्युतादियों से केवल लुँङ् में परस्मैपद का विकल्प होता है ।

(२) परन्तु द्युतादियों के अन्तर्गत वृत्-वृध्-शृध् और स्यन्द् से लुँङ् के अतिरिक्त लृँट्, लृँङ् तथा सन् में भी परस्मैपद का विकल्प होता है ।

(३) वृत् आदि चार धातुओं के परस्मैपद में सकारादि आर्धधातुक को इट् का आगम नहीं हुआ करता ।

उपसर्गयोग—अनु√वृत्=अनुसरण करना, पीछे लगना (प्रभुचित्तमेव हि जनोऽनुवर्त्तते—माघ १५.४१; प्रजास्तमनुवर्त्तन्ते समुद्रमिव सिन्धवः—मनु० ८.१७५)। प्र√वृत्=प्रवृत्त होना, जारी होना, चलना (स्वामिसेवकयोरेवं वृत्तिचक्रं प्रवर्त्तते—पञ्च० १.८१; हन्त प्रवृत्तं सङ्गीतकम्—मालविका०), फैलना (राजन् ! प्रजासु ते कश्चिदपचारः प्रवर्त्तते—रघु० १५.४७), लगना (प्रवर्त्तताम् प्रकृतिहिताय पार्थिवः—शाकुन्तल ७.३४)। नि√वृत्=लौटना (स त्वं निवर्त्तस्व विहाय लज्जाम्—रघु० २.४०), विमुख होना (प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्—मनु० ५.४६)। अति√वृत्=उल्लंघन करना (अपत्यलोभाद् या तु स्त्री भर्त्तारमतिवर्त्तते—मनु० ५.१६१)। आ√वृत्=वापस आना (धेनुराववृते वनात्—रघु० १.८२), णिजन्त=माला फेरना (अक्षयवलयमावर्त्तयन्तं तापसमदर्शम्—कादम्बरी)। अभि√वृत्=सम्मुख होना, उपस्थित होना (जगामास्तं दिनकरो रजनी चाऽभ्यवर्त्तत—रामा० अयो० ४८.३३)। परि√वृत्=घूमना (चक्रवत् परिवर्त्तन्ते दुःखानि च सुखानि च—सुभाषित०)। निर्√वृत्=पूरा होना, सम्पन्न होना (निर्वर्तेतास्य यावद्भिरिति कर्त्तव्यता नृभिः—मनु० ७.६१)। बन्द होना, न होना—(निर्वर्त्स्यति ऋतुसंघातः—भट्टि १६.६)। णिजन्त=पूरा करना, सम्पन्न करना (स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद—रघु० २.४५)। ध्यान रहे कि 'सुखी होना, आनन्दित होना' अर्थ में निर् पूर्वक 'वृ' धातु का प्रयोग होता है वृत् का नहीं—व्रजति निर्वृतिमेकपदे मनः—विक्रमो० २.२६ ; पानीयं वा निरायासं स्वाद्वन्नं वा भयोत्तरम्। विचार्य खलु पश्यामि तत्सुखं यत्र निर्वृतिः—महाभा० ।

वृतुँ धातु की तरह 'वृधुँ वृद्धौ' (बढ़ना) धातु के रूप चलते हैं। लँट्—वर्धते। लिँट्—ववृधे, ववृधाते, ववृधिरे । लुँट्—वर्धिता । लृँट्—वर्त्स्यति-वर्धिष्यते । लोँट्—वर्धताम् । लँङ्—अवर्धत । वि० लिँङ्—वर्धेत । आ० लिँङ्—वर्धिषीष्ट । लुँङ्—अवृधत् अवर्धिष्ट । लृँङ्—अवर्त्स्यत्-अवर्धिष्यत ।

(द्युतादियों और वृतादियों की चर्चा यहां समाप्त होती है)

[लघु०] ददँ दाने ॥१६॥ ददते ॥

अर्थः—ददँ (दद्) धातु 'देना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—ददँ धातु पूर्ववत् अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी है। लँट्—ददते, ददेते, ददन्ते। लिँट्—में द्वित्व और हलादिशेष करने पर 'द+दद्+ए'। अब यहां **'असंयोगाल्लिँट् कित्'** (४५२) से लिँट् के कित् होने के कारण **'अत एकहल्०'** (४६०) से अकार को एकार तथा अभ्यास का लोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से निषेध होता है—

[लघु०] निषेधसूत्रम्—(५४१) न शस-दद-वादि-गुणानाम् ।६।४।१२६।।

शसेर्ददेर्वकारादीनां, गुणशब्देन विहितस्य च योऽकारः, तस्य एत्वाऽभ्यासलोपौ न[1]। ददद, दददाते, दददिरे। ददिता। ददिष्यते। ददताम्। अददत। ददेत। ददिषीष्ट। अददिष्ट। अददिष्यत ।।

अर्थः—शस्, दद् तथा वकारादि धातुओं के अत् को तथा गुणविधानद्वारा उत्पन्न शब्द के अत् को एत्व नहीं होता किञ्च अभ्यास का लोप भी नहीं होता।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। शस-दद-वादि-गुणानाम् ।६।३। अतः ।६।१। (**'अत एकहल्०'** से)। एत् ।१।१। अभ्यासलोपः ।१।१। च इत्यव्ययपदम् (**'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च'** से)। व्—वकार आदिर्यस्य स वादिः, बहुव्रीहिः। वकारादिरित्यर्थः। शसश्च ददश्च वादिश्च गुणश्च शसददवादिगुणाः, तेषाम्=शस-दद-वादि-गुणानाम्। शस और दद में अन्त्य अकार उच्चारणार्थ है। अर्थः—(शस-दद-वादि-गुणानाम्) शस्, दद्, वकारादि तथा गुण के अवयव (अतः) अत् के स्थान पर (एत्) एकार आदेश (च) तथा (अभ्यासलोपः) अभ्यास का लोप (न) नहीं होता। यह सूत्र **'अत एकहल्०'** (४६०) तथा **'थलि च सेटि'** (४६१) का अपवाद है। उदाहरण यथा—

शस्—शसुँ हिंसायाम् (भ्वा० परस्मै०)। लिँट् के अतुस् में द्वित्व और हलादिशेष हो कर 'श+शस्+अतुस्' इस स्थिति में **'अत एकहल्०'** (४६०) से एत्व तथा अभ्यासलोप प्राप्त होता था, उस का प्रकृतसूत्र से निषेध करने पर 'शशसतुः' रूप बना। इसी प्रकार 'शशसिथ' में **'थलि च सेटि'** (४६१) का निषेध समझना चाहिये।

दद्—'द+दद्+ए' यहां प्रकृतसूत्र से एत्व तथा अभ्यासलोप का निषेध हो कर 'ददद' रूप बनता है।

वकारादि धातु यथा—वम् (टुवमँ उद्गिरणे=वमन करना) के लिँट् में 'व+वम्+अतुस्' इस स्थिति में 'अत एकहल्०' (४६०) से प्राप्त एत्व तथा अभ्यास

---

१. प्रायः लघुकौमुदी के सब संस्करणों में यहां वृत्ति अशुद्ध तथा असंगत दी गई है। हमने यह वृत्ति महा० श्री गिरिधरशर्म चतुर्वेद जी के संस्करण से ली है।

के लोप का प्रकृतसूत्र से निषेध हो कर 'ववमतुः' रूप बनता है। इसी प्रकार वन् धातु के 'ववनतुः, ववनुः' आदि।

गुण— 'पॄ पालनपूरणयोः' (जुहो० परस्मै०) के लिँट् प्र० पु० के द्विवचन में द्वित्व तथा अभ्यासकार्य करने पर—प+पॄ+अतुस्। अब 'शॄ-दॄ-प्रां ह्रस्वो वा' (६१३) के अभाव में 'ऋच्छत्यॄताम्' (६१४) से गुण हो कर 'प+पर्+अतुस्' इस स्थिति में गुण-अर् के अवयव[1] अत् को 'अत एकहल्०' (४६०) से एत्वाभ्यासलोप प्राप्त होता है परन्तु प्रकृतसूत्र से उस का निषेध हो कर 'पपरतुः' रूप बनता है। दूसरा उदाहरण यथा—लूञ् छेदने (क्र्या० उभय०) के थल् में इट्, द्वित्व तथा अभ्यासह्रस्व करने पर—लु+लू+इथ। गुण हो कर—लु+लो+इथ। अवादेश हो कर—लु+लव्+इथ। अब यहां 'थलि च सेटि' (४६१) से एत्वाभ्यासलोप प्राप्त होता है परन्तु यहां पर अकार, गुण (ओकार) का अवयव है अतः प्रकृतसूत्र से निषेध हो जाता है—लुलविथ। ध्यान रहे कि इस सूत्र में 'गुण' शब्द से गुणविधायकसूत्रद्वारा उत्पन्न गुण का ही ग्रहण अभीष्ट है, 'अ, ए, ओ' वाले अकार का नहीं, अन्यथा शस् और दद् का ग्रहण व्यर्थ हो जायेगा। अत एव 'प+पच्+अतुस्' में गुणसञ्ज्ञक के विद्यमान होने पर भी इस निषेध की प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि यहां गुण का विधान नहीं किया गया वह तो स्वाभाविकरूप से उपस्थित है। इसीलिये तो सूत्र की वृत्ति में 'गुणशब्देन विहितस्य' कहा गया है। गुणशब्दः—गुणविधायकसूत्रम्, तेन विहितस्येति भावः।

दद् की लिँट् में रूपमाला यथा—ददवे, दददाते, ददविरे। ददविषे, दददाथे, ददविध्वे। ददवे, ददविवहे, ददविमहे। लुँट्—ददिता, ददितारौ, ददितारः। ददितासे—। लृँट्—ददिष्यते, ददिष्येते, ददिष्यन्ते। लोँट्—ददताम्, ददेताम्, ददन्ताम्। लँङ्—अददत, अददेताम्, अददन्त। वि० लिँङ्—ददेत, ददेयाताम्, ददेरन्। आ० लिँङ्—ददिषीष्ट, ददिषीयास्ताम्, ददिषीरन्। लुँङ्—अददिष्ट, अददिषाताम्, अददिषत। लृँङ्—अददिष्यत, अददिष्येताम्, अददिष्यन्त।

[लघु०] त्रपूँष् लज्जायाम् ॥२०॥ त्रपते ॥

अर्थः—त्रपूँष् (त्रप्) धातु 'लज्जा करना—शरमाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—त्रपूँष् के षकार की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा तथा अनुनासिक ऊकार की 'उपदेशेऽजनु०' (२८) से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है। त्रप् ही अवशिष्ट रहता है। अनुदात्तेत् होने के कारण इस से आत्मनेपद होता है। ऊकार के इत् करने का फल

---

१. 'उरण्रपरः' (२९) द्वारा विहित रपर भी गुण का अवयव समझा जाता है। अतः ऐसे स्थलों पर सम्पूर्ण 'अर्' ही गुणसञ्ज्ञक होता है केवल 'अ' नहीं। इसीलिये तो महाभाष्य में कहा है—वृद्धिर्भवति गुणो भवतीति रेफशिरा गुणवृद्धिसञ्ज्ञकोऽभिनिर्वर्तते (महाभाष्य ८.२.४२)।

'स्वरतिसूति०' (४७६) द्वारा इट् का विकल्प करना है तथा षकार के इत् करने का फल 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' (३.३.१०४) से अङ् प्रत्यय करना है—त्रप्+अङ्=त्रप, 'स्त्रियां क्तिन्' (८६३) के अधिकार में होने से स्त्रीत्व में टाप् हो कर—त्रपा (लज्जा)।

लँट्—त्रपते, त्रपेते, त्रपन्ते। लिँट्—प्र० पु० एकवचन में त को एश्, द्वित्व तथा हलादिशेष करने पर 'त+त्रप्+ए' इस स्थिति में 'असंयोगाल्लिँट्०' (४५२) से लिँट् के कित् होने पर भी 'अत एकहल्मध्ये०' (४६०) से एत्वाभ्यासलोप प्राप्त नहीं होता कारण कि यहां पर अत् असंयुक्त हलों के मध्य स्थित नहीं। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५४२) तॄ-फल-भज-त्रपश्च ।६।४।१२२।।

एषामत एत्वमभ्यासलोपश्च स्यात् किति लिँटि, सेटि थलि च। त्रेपे। त्रपिता-त्रप्ता। त्रपिष्यते-त्रप्स्यते। त्रपताम्। अत्रपत। त्रपेत। त्रपिषीष्ट-त्रप्सीष्ट। अत्रपिष्ट-अत्रप्त। अत्रपिष्यत-अत्रप्स्यत।।

अर्थः—तॄ, फल्, भज् और त्रप् धातुओं के अत् को एकार आदेश तथा अभ्यास का लोप हो कित् लिँट् या सेट् थल् परे हो तो।

व्याख्या—तॄ-फल-भज-त्रपः ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। अतः ।६।१। ('अत एकहल्मध्ये०' से)। एत् ।१।१। अभ्यासलोपः ।१।१। ('घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' से)। किति ।७।१। ('गमहन०' से)। लिँटि ।७।१। ('अत एकहल्मध्ये०' से)। 'थलि च सेटि' सूत्र की भी अनुवृत्ति आती है। अर्थः—(तॄ-फल-भज-त्रपः) तॄ, फल्, भज् और त्रप् धातुओं के (अतः) अत् के स्थान पर (एत्) एकार आदेश (च) तथा (अभ्यासलोपः) अभ्यास का लोप हो जाता है (किति लिँटि) कित् लिँट् (च) अथवा (सेटि थलि) सेट् थल् परे हो तो। उदाहरण यथा—

तॄ—**तॄ प्लवनसन्तरणयोः** (भ्वा० परस्मै० तैरना) के लिँट् प्र० पु० के द्विवचन में द्वित्व तथा अभ्यासकार्य करने पर—त+तॄ+अतुस्। '**ऋच्छत्यॄताम्**' (६१४) से गुण करने पर—त+तर्+अतुस्। अब यहां गुण शब्द से उत्पन्न 'अर्' का अवयव होने से अत् के स्थान पर एत्व तथा अभ्यासलोप का 'न शस-दद-वादि-गुणानाम्' (५४१) सूत्र से निषेध प्राप्त होता था परन्तु इस सूत्र द्वारा विशेष विधान के कारण एत्वाभ्यासलोप हो जाने से 'तेरतुः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार थल् में—तेरिथ।

फल्—**फल निष्पत्तौ** (फलना, भ्वा० परस्मै०)। लिँट् प्र० पु० के द्विवचन में द्वित्व, हलादिशेष तथा अभ्यास को चर्त्व करने पर—प+फल्+अतुस्। यहां लिँट् को मान कर चर्त्व आदेश हुआ है, अतः 'अत एकहल्मध्ये०' (४६०) की प्रवृत्ति नहीं हो सकती थी। अब प्रकृतसूत्र से एत्व तथा अभ्यासलोप करने पर 'फेलतुः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार थल् में—फेलिथ।

भज्—भजँ सेवायाम् (सेवा करना, भ्वा० उभय०)। लिँट् प्र० पु० के द्विवचन में द्वित्व, हलादिशेष तथा अभ्यास को जश्त्व करने पर—ब+भज्+अतुस्। यहां पर भी लिँट् को मान कर भकार को बकार आदेश हुआ है अतः 'अत एकहल्मध्ये०' (४६०) सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता। अब प्रकृतसूत्र से एत्व तथा अभ्यास का लोप करने पर 'भेजतुः' प्रयोग सिद्ध होता है।

त्रप्—'त+त्रप्+ए' यहां प्रकृतसूत्र से अत् को एकार आदेश तथा अभ्यास का लोप करने पर 'त्रेपे' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—त्रेपाते, त्रेपिरे।

लिँट् म० पु० के एकवचन में थास् को से आदेश हो कर—त्रप्+से। यहां वलादि आर्धधातुक को 'आर्धधातुकस्येड्०' (४०१) से नित्य इट् प्राप्त था। परन्तु धातु के ऊदित् होने से 'स्वरसूति०' (४७६) द्वारा विकल्प से इट् हो कर—त्रप्+इसे। अब द्वित्व, हलादिशेष तथा 'तॄफलभजत्रपश्च' से एत्वाभ्यासलोप करने पर—त्रेपिषे। इट् के अभाव में—त्रेप्से। इसी प्रकार ध्वम् में इट्पक्ष में—त्रेपिध्वे, इट् के अभाव में—'झलां जश्झशि' (१६) से पकार को बकार हो कर—त्रेब्ध्वे। वस् मस् में—त्रेपिवहे-त्रेप्वहे, त्रेपिमहे-त्रेप्महे। 'त्रेप्महे' में पदान्त यर् न होने से 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' (वा० ११) द्वारा अनुनासिक नहीं होता। रूपमाला यथा- त्रेपे, त्रेपाते, त्रेपिरे। त्रेपिषे-त्रेप्से, त्रेपाथे, त्रेपिध्वे-त्रेब्ध्वे। त्रेपे, त्रेपिवहे-त्रेप्वहे, त्रेपिमहे-त्रेप्महे। ध्यान रहे कि जो लोग 'स्वरतिसूति०' (४७६) वाले विकल्प में भी क्रादि-नियम को प्रवृत्त किया करते हैं उन के मत में लिँट् में इट् के अभाव वाले रूप नहीं बनते।

लुँट्—में 'स्वरतिसूति०' (४७६) से इट् का विकल्प हो जाता है। (इट्पक्षे) त्रपिता, त्रपितारौ, त्रपितारः। त्रपितासे—। (इट् के अभाव में) त्रप्ता, त्रप्तारौ, त्रप्तारः। त्रप्तासे—। लृँट्—(इट्पक्षे) त्रपिष्यते, त्रपिष्येते, त्रपिष्यन्ते। (इटोऽभावे) त्रप्स्यते, त्रप्स्येते त्रप्स्यन्ते। लोँट्—त्रपताम्, त्रपेताम्, त्रपन्ताम्। लँङ्—अत्रपत, अत्रपेताम्, अत्रपन्त। वि० लिँङ्—त्रपेत, त्रपेयाताम्, त्रपेरन्। आ० लिँङ्—(इट्पक्षे) त्रपिषीष्ट, त्रपिषीयास्ताम्, त्रपिषीरन्। (इटोऽभावे) त्रप्सीष्ट, त्रप्सीयास्ताम्, त्रप्सीरन्।

लुँङ्—(इट्पक्षे) अत्रपिष्ट, अत्रपिषाताम्, अत्रपिषत। अत्रपिष्ठाः, अत्रपिषाथाम्, अत्रपिड्ढ्वम्। अत्रपिषि, अत्रपिष्वहि, अत्रपिष्महि। इट् के अभाव मे—'अत्रप्+स्+त' इस स्थिति में 'झलो झलि' (४७८) से सकार का लोप हो कर—अत्रप्त। आताम् में 'अत्रप्+स्+आताम्' यहां झल् परे न होने से सकार का लोप नहीं होता—अत्रप्साताम्। झ में 'आत्मनेपदेष्वनतः' (५२४) द्वारा अत् आदेश हो कर—अत्रप्सत। थास् में 'झलो झलि' से सकार का लोप हो कर—अत्रप्थाः। ध्वम् में भी सकार का लोप हो कर 'झलां जश्झशि' (१६) से पकार को जश्त्व-बकार करने

पर—अत्रब्ध्वम् । रूपमाला—अत्रप्त, अत्रप्साताम्, अत्रप्सत । अत्रप्थाः, अत्रप्साथाम्, अत्रब्ध्वम् । अत्रप्सि, अत्रप्स्वहि, अत्रप्स्महि ।

लृङ्—(इट्पक्षे) अत्रपिष्यत, अत्रपिष्येताम्, अत्रपिष्यन्त । (इटोऽभावे) अत्रप्स्यत, अत्रप्स्येताम्, अत्रप्स्यन्त ।

अभ्यास (५)

(१) निम्न प्रश्नों का उत्तर दीजिये—

(क) 'पयस्+धावति' में 'धि च' द्वारा सकारलोप क्यों नहीं होता ?

(ख) लुँट् के 'एधिता' में टि को एत्व क्यों नहीं होता ?

(ग) सुट् का आगम सीयुट् का अपवाद क्यों नहीं होता ?

(घ) 'विभाषेट:' में 'अङ्गात्' की अनुवृत्ति क्यों नहीं लाते ?

(ङ) 'पचमान' में टि को एत्व क्यों नहीं होता ?

(च) 'ववृते' में परत्व के कारण गुण क्यों नहीं होता ?

(छ) 'त्रेप्महे' में पकार को जश्त्व तथा अनुनासिक क्यों नहीं होता ?

(ज) लुँङ् के परस्मैपद में द्युत् को लघूपधगुण क्यों नहीं होता ?

(२) प्रयोजन बतलाएं—

(क) 'आत्मनेपदेष्वनतः' में 'अनतः' के ग्रहण का;

(ख) 'टित आत्मनेपदानां टेरे' में 'टेः' के ग्रहण का,

(ग) त्रपूँष् को ऊदित् और षित् करने का;

(घ) 'णिश्रि०' में 'कर्त्तरि' के ग्रहण का;

(ङ) 'इणः षीध्वम्०' में 'अङ्गात्' के ग्रहण का;

(च) निस्-निर्, दुस्-दुर् दो दो प्रकार के उपसर्ग पढ़ने का ।

(३) 'न शसदद०' सूत्र की व्याख्या करते हुए 'गुण' शब्द का विवेचन करें ।

(४) 'उदयति' प्रयोग के साधुत्व असाधुत्व पर प्रकाश डालें ।

(५) 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' की वृत्ति में 'तङानयोरभावे' का भाव स्पष्ट करें ।

(६) 'अयामन्ता०' सूत्र की उपयोगिता पर एक नोट लिखें ।

(७) 'ऐधिढ्वम्' में ढत्व न चाहने वाले वैयाकरण क्या युक्ति देते हैं ?

(८) कम्+णिङ् में उपधावृद्धि का 'क्ङिति च' से निषेध क्यों नहीं होता ?

(९) वृतादि चार और पांच धातु कौन कौन से हैं ?

(१०) 'प+पच्+अतुस्' में गुण के विद्यमान रहते 'न शसदद०' से एत्वाभ्यासलोप का निषेध क्यों नहीं होता ?

(११) 'जिगमिषति' में सन् परे होने पर भी 'दीर्घो लघोः' क्यों प्रवृत्त नहीं होता ?

(१२) 'त्रदब्ध' में पदान्त न होते हुए भी जश्त्व कैसे हो जाता है ?

(१३) निम्न सूत्रों की व्याख्या करें—

आम्प्रत्यय०, णेरनिटि, सन्वल्लघुनि०, इणः षीध्वम्, द्युतिस्वाप्योः०, इजादेश्च०, णौ चङ्युप०, वृद्भ्यः स्यसनोः, विभाषेटः ।

(१४) वैकल्पिक रूपों का निर्देश करते हुए ससूत्र सिद्धि करें—

अस्रसत्, वर्त्स्यति, अत्रप्त, पलायते, अचीकमत, ऐधिढ्वम्, दिद्युते, अरुचत्, कामयाञ्चक्रे, एधेय, त्रपे, एधस्व, एधेते, एधेरन्, अयामास, ददद्दे, कामयिषीढ्वम्, एधिताहे, ऐधिषत, ववृते, कामयते ।

(१५) रूपमाला लिखें—

(क) रुच्, कम्, वृत्, अय् और त्रप् की—लुङ् में ।

(ख) एध्, द्युत्, दद्, त्रप्, कम् और अय् की—लिट् में ।

(ग) अय्, त्रप्, कम् और एध् की—आ० लिङ् में ।

इत्यात्मनेपदिनः

[यहां पर भ्वादिगण के आत्मनेपदी धातुओं का विवेचन समाप्त होता है ।]

अथोभयपदिनः

अब भ्वादिगण के उभयपदी धातुओं का वर्णन प्रारम्भ होता है—

[लघु०] श्रिञ् सेवायाम् ।।१।। श्रयति, श्रयते । शिश्राय, शिश्रिये । श्रयिता । श्रयिष्यति, श्रयिष्यते । श्रयतु, श्रयताम् । अश्रयत्, अश्रयत । श्रयेत्, श्रयेत । श्रीयात्, श्रयिषीष्ट । चङ्—अशिश्रियत्, अशिश्रियत । अश्रयिष्यत्, अश्रयिष्यत ।।

अर्थः—श्रिञ् (श्रि) धातु 'सेवन करना, आश्रय करना, सेवा करना' 'अर्थों में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—श्रिञ् धातु से ही आश्रय, प्रश्रय (नम्रता), उच्छ्राय-उच्छ्रय (ऊँचाई), श्री, श्रेणी, श्मश्रु आदि शब्द निष्पन्न होते हैं । इस में अकार की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा हो जाती है । ञित् होने के कारण 'स्वरितञितः०' (३७९) सूत्र से क्रियाफल के कर्त्रभिप्राय होने पर आत्मनेपद अन्यथा परस्मैपद होगा ।

लँट्—'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से गुण तथा 'एचोऽयवायावः' (२२) से एकार को अयादेश हो जाता है । रूपमाला यथा—(परस्मै०) श्रयति, श्रयतः, श्रयन्ति । (आत्मने०) श्रयते, श्रयेते, श्रयन्ते ।

लिँट्—परस्मैपद में द्वित्व तथा हलादिशेष करने पर—शि+श्रि+अ। अब 'अचो ञ्णिति' (१८२) से वृद्धि-ऐकार हो कर आयादेश हो जाता है—शिश्राय। 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से अतुस् कित् है अतः गुण का निषेध हो कर 'अचि श्नु०' (१९९) से इयँङ् हो जाता है—शिश्रियतुः। ध्यान रहे कि संयोगपूर्व होने के कारण 'एरनेकाचः०' (२००) से यण् नहीं होता। 'ऊदृदन्तै०' में परिगणित होने के कारण यह धातु उदात्त है अतः थल् में निर्बाध इट् हो जाता है शिश्रयिथ। रूपमाला यथा—शिश्राय, शिश्रियतुः, शिश्रियुः। शिश्रयिथ, शिश्रियथुः, शिश्रिय। शिश्राय-शिश्रय, शिश्रियिव, शिश्रियिम। (आत्मने०) में सर्वत्र इयँङ् हो जाता है। ध्वम् में 'विभाषेटः' (५२७) से वैकल्पिक ढत्व होता है। रूपमाला यथा—शिश्रिये, शिश्रियाते, शिश्रियिरे। शिश्रियिषे, शिश्रियाथे, शिश्रियिढ्वे-शिश्रियिध्वे। शिश्रिये, शिश्रियिवहे, शिश्रियिमहे।

लुँट्—दोनों पदों में गुण हो कर अयादेश हो जाता है। (परस्मै०) श्रयिता, श्रयितारौ, श्रयितारः। श्रयितासि—। (आत्मने०) श्रयिता, श्रयितारौ, श्रयितारः। श्रयितासे—। लृँट्—(परस्मै०) श्रयिष्यति, श्रयिष्यतः, श्रयिष्यन्ति। (आत्मने०) श्रयिष्यते, श्रयिष्येते, श्रयिष्यन्ते। लोँट्—(परस्मै०) श्रयतु-श्रयतात्, श्रयताम्, श्रयन्तु। (आत्मने०) श्रयताम्, श्रयेताम्, श्रयन्ताम्। लँङ्—(परस्मै०) अश्रयत्, अश्रयताम्, अश्रयन्। (आत्मने०) अश्रयत, अश्रयेताम्, अश्रयन्त। वि० लिँङ्—(परस्मै०) श्रयेत्, श्रयेताम्, श्रयेयुः। (आत्मने०) श्रयेत, श्रयेयाताम्, श्रयेरन्। आ० लिँङ्—परस्मैपद में 'अकृत्सार्व०' (४८३) से सर्वत्र दीर्घ हो जाता है—श्रीयात्, श्रीयास्ताम्, श्रीयासुः। (आत्मने०) श्रयिषीष्ट, श्रयिषीयास्ताम्, श्रयिषीरन्। श्रयिषीष्ठाः, श्रयिषीयास्थाम्, श्रयिषीढ्वम्-श्रयिषीध्वम्। श्रयिषीय, श्रयिषीवहि, श्रयिषीमहि।

लुँङ्—में 'णिश्रिद्रु०' (५२८) से च्लि को चङ्, 'चङि' (५३१) से द्वित्व, अभ्यासकार्य तथा 'अचि श्नु०' (१९९) से इयँङ् हो जाता है। (परस्मै०) अशिश्रियत्, अशिश्रियताम्, अशिश्रियन्। अशिश्रियः, अशिश्रियतम्, अशिश्रियत। अशिश्रियम्, अशिश्रियाव, अशिश्रियाम। (आत्मने०) अशिश्रियत, अशिश्रियेताम्, अशिश्रियन्त। अशिश्रियथाः, अशिश्रियेथाम्, अशिश्रियध्वम्। अशिश्रिये, अशिश्रियावहि, अशि-श्रियामहि।

लृँङ्—(परस्मै०) अश्रयिष्यत्, अश्रयिष्यताम्, अश्रयिष्यन्। (आत्मने०) अश्रयिष्यत, अश्रयिष्येताम्, अश्रयिष्यन्त।

उपसर्गयोग—आश्रयति=आश्रय करता है (सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते—सुभाषित)। समाश्रयति=आश्रय करता है, आलम्बन करता है।

[लघु०] भृञ् भरणे ॥२॥ भरति, भरते। बभार, बभ्रतुः, बभ्रुः। बभर्थ। बभृव। बभृम। बभ्रे। बभृषे। भर्तासि, भर्तासे। भरिष्यति, भरिष्यते। भरतु, भरताम्। अभरत्, अभरत। भरेत्, भरेत॥

अर्थः—भृञ् (भृ) धातु 'पालन करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—ञित होने से यह धातु भी उभयपदी है।

लँट्—में 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से गुण हो जाता है। (परस्मै०) भरति, भरतः, भरन्ति। (आत्मने०) भरते, भरेते, भरन्ते।

लिँट्—(परस्मै०) णल् में वृद्धि—बभार। अतुस् आदि अपित् 'असयोगाल्लिँट्०' (४५२) से कित् हैं अतः इन में गुण का निषेध हो कर यण् हो जाता है—बभ्रतुः, बभ्रुः। क्रादियों में 'भृ' को भी परिगणित किया गया है अतः 'कृसभृ०' (४१६) सूत्र से लिँट्मात्र में इट् का निषेध हो जाता है। थल् में गुण हो कर—बभर्थ। वस् मस् में—बभृव, बभृम। रूपमाला यथा—बभार, बभ्रतुः, बभ्रुः। बभर्थ, बभ्रथुः, बभ्र। बभार-बभर, बभृव, बभृम। (आत्मनेपद) में कित्त्व के कारण सर्वत्र गुण-निषेध हो जाता है—बभ्रे, बभ्राते, बभ्रिरे। बभृषे, बभ्राथे, बभृढ्वे। बभ्रे, बभृवहे, बभृमहे।

लुँट्—दोनों पदों में इट् का निषेध हो कर गुण हो जाता है। (परस्मै०) भर्ता, भर्तारौ, भर्तारः। भर्तासि—। (आत्मने०) भर्ता, भर्तारौ, भर्तारः। भर्तासे—। लृँट्—दोनों पदों में 'ऋद्धनोः स्ये' (४९७) से इट् का आगम हो जाता है। (परस्मै०) भरिष्यति, भरिष्यतः, भरिष्यन्ति। (आत्मने०) भरिष्यते, भरिष्येते, भरिष्यन्ते। लोँट्—(परस्मै०) भरतु-भरतात्, भरताम्, भरन्तु। (आत्मने०) भरताम्, भरेताम्, भरन्ताम्। लँङ्—(परस्मै०) अभरत्, अभरताम्, अभरन्। (आत्मने०) अभरत, अभरेताम्, अभरन्त। वि० लिँङ्—(परस्मै०) भरेत्, भरेताम्, भरेयुः। (आत्मने०) भरेत, भरेयाताम्, भरेरन्।

आ० लिँङ्—(परस्मै०) में यासुट् का आगम होकर 'भृ + यास् त्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५४३) रिङ् शयग्लिँङ्क्षु ।७।४।२८॥

शे यकि यादावार्धधातुके लिँङि च ऋतो रिङ् आदेशः स्यात्। रीङि प्रकृते रिङ्विधानसामर्थ्याद् दीर्घो न। भ्रियात्॥

अर्थः—श, यक् अथवा यकारादि आर्धधातुक लिँङ् परे हो तो ऋत् (ह्रस्व ऋकार) को रिङ् आदेश हो। रीङि प्रकृते—रीङ् का अनुवर्त्तन हो रहा था पुनः रिङ् विधान के सामर्थ्य से 'अकृत्सार्व०' (४८३) से दीर्घ नहीं होता।

व्याख्या—रिङ् ।१।१। श-यग्-लिँङ्क्षु ।७।३। यि ।७।१। ('अयङ् यि क्ङिति' से)। असार्वधातुके ।७।१। ('अकृत्सार्वधातुक०' से)। ऋतः ।६।१। ('रीङ् ऋतः' से)। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। शश्च यक् च लिँङ् च तेषु शयग्लिँङ्क्षु। विशेषण होने से 'यि' पद के साथ तदादिविधि हो कर 'यकारादौ' बन जाता है 'यकारादौ' विशेषण केवल लिँङ् के साथ ही सम्बद्ध होता है क्योंकि 'श' के साथ असम्भव होने से तथा यक् के साथ व्यर्थ होने से इसका सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। इसी प्रकार 'असार्वधातुके' (आर्धधातुके) विशेषण भी 'लिँङि' के साथ ही समन्वित होता है अन्यों के साथ नहीं। अर्थः—(यि=यकारादौ) यकार जिस के आदि में हो ऐसे (असार्वधातुके) आर्धधातुक (श-यग्-लिँङ्क्षु) लिँङ् के परे होने पर अथवा 'श' व 'यक्' प्रत्यय के परे होने पर (ऋतः=ऋदन्तस्य) ऋदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (रिङ्) रिङ् आदेश हो। ङित् होने से यह रिङ् आदेश 'ङिच्च' (४६) सूत्र द्वारा अन्त्य अल् ऋकार के स्थान पर होता है। उदाहरण यथा—

'श' परे होने पर—आङ्पूर्वक 'दृङ् आदरे' (तुदा० आत्मने०) धातु से लँट् प्र० पु० के एकवचन में 'तुदादिभ्यः शः' (६५१) से शप्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा टि को एत्व करने पर 'आदृ+अ+ते' इस स्थिति में 'श' के परे होने पर ऋकार को रिङ् आदेश हो कर—आद्रि+अ+ते। अब 'अचि श्नु०' (१९९) से इकार को इयँङ् आदेश करने से 'आद्रियते' प्रयोग सिद्ध होता है।

'यक्' परे होने पर—'डुकृञ् करणे' (तना० उभय०) धातु के कर्मवाच्य के लँट् के एकवचन में 'सार्वधातुके यक्' (७५२) द्वारा यक् विकरण करने पर—कृ+य+ते। यहां यक् परे है अतः प्रकृतसूत्र से ऋकार को रिङ् आदेश हो कर 'क्रियते' प्रयोग सिद्ध होता है। यक् का उदाहरण कर्मणि 'आद्रियते' भी हो सकता है।

यकारादि आर्धधातुक लिँङ् परे होने पर—'भृ+यास्त्' यहां 'यास्त्' की 'लिँङाशिषि' (४३१) से आर्धधातुकसञ्ज्ञा है और यह यकारादि भी है अतः इस के परे होने पर प्रकृतसूत्र से ऋकार को रिङ् आदेश हो कर संयोगादि सकार का लोप करने से 'भ्रियात्' प्रयोग सिद्ध होता है।

शङ्का—'भ्रियात्, क्रियते' आदि में यकारादि आर्धधातुक परे होने से 'अकृत्सार्व०' (४८३) से दीर्घ क्यों नहीं होता ?

समाधान—अष्टाध्यायी में इस सूत्र से पूर्व 'रीङ् ऋतः' (७.४.२७) सूत्र पढ़ा गया है। उस में रीङ् का विधान किया गया है। यदि भ्रियात् आदि में रिङ् को दीर्घ कर के रीङ् करना ही अभीष्ट होता तो प्रकृतसूत्र में रिङ् का विधान ही न करते पिछले अनुवर्त्यमान रीङ् से ही काम चल सकता था। अतः इस से प्रतीत होता है कि आचार्य यहां रिङ् को दीर्घ कर के रीङ् बनाना नहीं चाहते। [यदि

कोई यह कहे कि रिङ् आदेश तो 'श' (अ) के लिये जरूरी था क्योंकि वहां यकारादि आर्धधातुक परे न रहने से दीर्घ करना अभीष्ट न था तो यह कथन भी युक्त नहीं; कारण कि रीङ् की अनुवृत्ति लाने पर भी 'श' के परे होने पर इयँङ् आदेश हो कर 'आद्रियते' आदि सिद्ध हो सकते थे।]

लिँङ् के साथ 'यकारादि' विशेषण लगाने से 'भृषीष्ट' आदि में तथा 'आर्धधातुक' विशेषण लगाने से 'बिभृयात्' (वि० लिँङ्) आदि में रिङ् आदेश नहीं होता।

'भृ' की आ० लिँङ् में रूपमाला यथा—भ्रियात्, भ्रियास्ताम्, भ्रियासुः।

आ० लिँङ् के आत्मनेपद में सीयुट् और सुट् का आगम करने पर 'भृ+सीय् स् त' इस अवस्था में आर्धधातुक परे होने पर 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से गुण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५४४) उश्च ।१।२।१२।।

ऋवर्णात्परौ झलादी लिँङ्सिँचौ कितौ स्तस्तङि। भृषीष्ट, भृषीयास्ताम्। अभार्षीत् ।।

अर्थः—ऋवर्ण से परे आत्मनेपदविषयक झलादि लिँङ् और सिँच् कित् हों।

व्याख्या—उः (यह 'ऋ' शब्द के षष्ठी का एकवचन है)। च इत्यव्ययपदम्। झलौ ।१।२। ('इको झल्' से वचनविपरिणाम कर के)। लिँङ्सिँचौ ।१।२। आत्मनेपदेषु ।७।३। ('लिँङ्सिँचावात्मनेपदेषु' से)। कितौ ।१।२। ('असंयोगाल्लिँट् कित्' से वचनविपरिणाम कर के)। 'झलौ' यह 'लिँङ्सिँचौ' का विशेषण है अतः तदादिविधि हो कर 'झलादी लिँङ्सिँचौ' बन जाता है। अर्थः—(उः) ऋवर्ण से परे (आत्मनेपदेषु) आत्मनेपद के विषय में (झलौ=झलादी) झलादि (लिँङ्सिँचौ) लिँङ् और सिँच् प्रत्यय (कितौ) कित् अर्थात् किद्वत् होते हैं। किद्वत् होने से ऋवर्ण को गुण नहीं होता। उदाहरण यथा—

'भृ+सीय् स् त' यहां पर ऋवर्ण से परे 'सीय्स्त' यह झलादि लिँङ् कित् हो गया तो ऋकार को प्राप्त गुण का 'क्क्ङिति च' (४३३) द्वारा निषेध हो कर यकार का लोप तथा षत्व और ष्टुत्व करने से 'भृषीष्ट' प्रयोग सिद्ध होता है। सिँच् का उदाहरण आगे लुँङ् में देखें।

यहां 'आत्मनेपदेषु' इसलिये कहा है कि 'अकार्षीत्' आदि परस्मैपद में सिँच् कित् न हो जाये वरना 'सिँचि वृद्धिः०' (४८४) से वृद्धि न हो सकती। 'झलादि' के कथन से 'वरिषीष्ट, अवरिष्ट' आदियों में लिँङ् और सिँच् कित् नहीं होते।

आ० लिँङ् आत्मनेपद में भृ की रूपमाला यथा—भृषीष्ट, भृषीयास्ताम्, भृषीरन्। भृषीष्ठाः, भृषीयास्थाम्, भृषीढ्वम् (इणः षीध्वं०)। भृषीय, भृषीवहि, भृषीमहि।

लुँङ्—परस्मैपद में 'सिँचि वृद्धिः०' (४८४) से सर्वत्र ॠवर्ण को आर् वृद्धि हो जाती है—अभार्षीत्, अभार्ष्टाम्, अभार्षुः। अभार्षीः, अभार्ष्टम्, अभार्ष्ट। अभार्षम्, अभार्ष्व, अभार्ष्म। आत्मनेपद प्र० पु० के एकवचन में 'अभृ+स्+त' इस स्थिति में 'उश्च' (५४४) सूत्र से झलादि सिँच् के कित् हो जाने से 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से गुण नहीं होता। अब अग्रिमसूत्र द्वारा सकार का लोप विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५४५) ह्रस्वादङ्गात् ।८।२।२७॥

सिँचो लोपो झलि। अभृत। अभृषाताम्। अभरिष्यत्, अभरिष्यत।

अर्थः—ह्रस्वान्त अङ्ग से परे सिँच् का लोप हो झल् परे हो तो।

व्याख्या—ह्रस्वात् ।५।१। अङ्गात् ।५।१। सस्य ।६।१। ('रात्सस्य' से)। लोपः ।१।१। ('संयोगान्तस्य लोपः' से)। झलि ।७।१। ('झलो झलि' से)। 'ह्रस्वात्' यह 'अङ्गात्' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'ह्रस्वान्तादङ्गात्' बन जाता है। अर्थः—(ह्रस्वात्) ह्रस्वान्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (सस्य) सकार का (लोपः) लोप हो जाता है (झलि) झल् परे हो तो। यहां महाभाष्यकार ने सकार से सिँच् का ग्रहण माना है इस से द्विष्टराम्, द्विष्टमाम् आदि में सुच् के सकार का लोप नहीं होता[1]।

'अ भृ+स्+त' यहां पर तकार-झल् परे है अतः ह्रस्वान्त अङ्ग 'भृ' से परे प्रकृतसूत्र से सकार का लोप हो कर—अभृत। द्विवचन में—अभृषाताम्, यहां झल् परे न होने से सकार का लोप नहीं होता। इसी प्रकार बहुवचन में—अभृषत ('आत्मनेपदेष्वनतः' ५२४)। रूपमाला यथा—अभृत, अभृषाताम्, अभृषत। अभृथाः (ह्रस्वादङ्गात्), अभृषाथाम्, अभृढ्वम् (इणः षीध्वं०)। अभृषि, अभृष्वहि, अभृष्महि [वकार मकार झल् में नहीं आते अतः वहि, महिङ् में सिँच् का लोप नहीं होता]।

सूत्र में 'ह्रस्वात्' के कथन से 'अनेष्ट' आदि में तथा 'अङ्गात्' कहने से 'आतिष्टाम्' आदि में इट् से परे सकार का लोप नहीं होता।

लृँङ्—दोनों पदों में 'ऋद्धनोः स्ये' (४९७) से इट् का आगम हो जाता है। (परस्मै०) अभरिष्यत्, अभरिष्यताम्, अभरिष्यन्। (आत्मने०) अभरिष्यत, अभरिष्येताम्, अभरिष्यन्त।

[लघु०] हृञ् हरणे ॥३॥ हरति, हरते। जहार, जहर्थ, जह्रिव, जह्रिम।

---

१. द्विशब्द से 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' (५.४.१८) से सुच् प्रत्यय हो कर सुजन्त से तरप्-तमप् प्रत्यय हो जाते हैं।

जह्रे, जह्रिषे। हर्ता। हरिष्यति, हरिष्यते। हरतु, हरताम्। अहरत्। हरेत्, हरेत। ह्रियात्। हृषीष्ट, हृषीयास्ताम्। अहार्षीत्, अहृत। अहरिष्यत्, अहरिष्यत॥

अर्थः—हृञ् (हृ) धातु 'हरण करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—हृञ् धातु भी ञित् होने से उभयपदी है। हरण के चार अर्थ हैं—(१) प्रापण=ले जाना (यथा—भारं हरति भार को ले जाता है)। (२) स्वीकार=स्वीकार करना (यथा — अंशं हरति — अपने भाग को स्वीकार करता है)। (३) स्तेय=चुराना (यथा—धनं हरति—धन को चुराता है)। (४) (नाशन)=नाश करना (यथा—वैद्यो रोगं हरति—वैद्य रोग का नाश करता है)। लिँट् को छोड़कर हृञ् धातु की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'भृञ्' धातु की तरह होती है।

लँट्—(परस्मै०) हरति, हरतः, हरन्ति। (आत्मने०) हरते, हरेते, हरन्ते।

लिँट्—'ऊद्दृदन्तैः०' के अनुसार हृञ् धातु अनुदात्त है। क्रादियों में इस का परिगणन नहीं किया गया अतः क्रादिनियम से लिँट् में वह सेट् हो जायेगी। थल् में 'अचस्तास्वत्०' (४८०) द्वारा इट् का निषेध होगा। ऋदन्त होने से भारद्वाजनियम की प्रवृत्ति न होगी। इस प्रकार थल् के अतिरिक्त लिँट् में अन्यत्र इट् हो जायेगा। (परस्मै०) जहार, जह्रतुः,जह्रुः। जहर्थ, जह्रथुः, जह्र। जहार-जहर, जह्रिव, जह्रिम। (आत्मने०) जह्रे, जह्राते, जह्रिरे। जह्रिषे, जह्राथे, जह्रिढ्वे-जह्रिध्वे (विभाषेटः ५२७)। जह्रे, जह्रिवहे, जह्रिमहे।

लुँट्—(परस्मै०) हर्ता, हर्तारौ, हर्तारः। हर्तासि—। (आत्मने०) हर्ता, हर्तारौ, हर्तारः। हर्तासे—। लृँट्—(परस्मै०) हरिष्यति, हरिष्यतः, हरिष्यन्ति। (आत्मने०) हरिष्यते हरिष्येते, हरिष्यन्ते। लोँट्—(परस्मै०) हरतु-हरतात्, हरताम्, हरन्तु। (आत्मने०) हरताम्, हरेताम्, हरन्ताम्। लँङ्—(परस्मै०) अहरत्, अहरताम्, अहरन्। (आत्मने०) अहरत, अहरेताम्, अहरन्त। वि० लिँङ्—(परस्मै०) हरेत्, हरेताम्, हरेयुः। (आत्मने०) हरेत, हरेयाताम्, हरेरन्। आ० लिँङ्—(परस्मै०) ह्रियात्, ह्रियास्ताम्, ह्रियासुः। (आत्मने०) हृषीष्ट, हृषीयास्ताम्, हृषीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अहार्षीत्, अहार्ष्टाम्, अहार्षुः। (आत्मने०) अहृत, अहृषाताम्, अहृषत। लृँङ्—(परस्मै०) अहरिष्यत्, अहरिष्यताम्, अहरिष्यन्। (आत्मने०) अहरिष्यत, अहरिष्येताम्, अहरिष्यन्त।

उपसर्गयोग—प्र+हरति=प्रहार करता है। अनु+हरति=अनुकरण करता है। अप+हरति=अपहरण करता है। सम्+हरति=संहरति=संहार करता है। वि+हरति=विहार वा क्रीडा करता है। आ+हरति=लाता है। परि+हरति=छोड़ता है। उद्+हरति=उद्धरति=उद्धार करता है (झयो होऽन्य-

तरस्याम् ७५) । प्रति+हरति=पहरा देता है । उप+हरति=भेंट देता है । अभि+अव+हरति=अभ्यवहरति=खाता है ।

[लघु०] धृञ् धारणे ॥४। धरति, धरते ॥

अर्थः—धृञ् (धृ) धातु 'धारण करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—धृञ् धातु की समग्र प्रक्रिया हृञ् धातु की तरह होती है । रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) धरति, धरतः, धरन्ति । (आत्मने०) धरते, धरेते, धरन्ते । लिँट्—(परस्मै०) दधार, दध्रतुः दध्रुः । दधर्थ, दध्रथुः, दध्र । दधार-दधर, दध्रिव, दध्रिम । (आत्मने०) दध्रे, दध्राते, दध्रिरे । दध्रिषे, दध्राथे, दध्रिढ्वे-दध्रिध्वे । दध्रे, दध्रिवहे, दध्रिमहे ।

लुँट्—(परस्मै०) धर्ता, धर्तारौ, धर्तारः । धर्तासि—। (आत्मने०) धर्ता, धर्तारौ, धर्तारः । धर्तासे— । लृँट्—(परस्मै०) धरिष्यति, धरिष्यतः, धरिष्यन्ति । (आत्मने०) धरिष्यते, धरिष्येते, धरिष्यन्ते । लोँट्—(परस्मै०) धरतु-धरतात्, धरताम्, धरन्तु । (आत्मने०) धरताम्, धरेताम्, धरन्ताम् । लँङ्—(परस्मै०) अधरत्, अधरताम्, अधरन् । (आत्मने०) अधरत, अधरेताम्, अधरन्त । वि० लिँङ्—(परस्मै०) धरेत्, धरेताम्, धरेयुः । (आत्मने०) धरेत, धरेयाताम्, धरेरन् । आ० लिँङ्—(परस्मै०) ध्रियात्, ध्रियास्ताम्, ध्रियासुः । (आत्मने०) धृषीष्ट, धृषीयास्ताम्, धृषीरन् । लुँङ्—(परस्मै०) अधार्षीत्, अधार्ष्टाम्, अधार्षुः । (आत्मने०) अधृत, अधृषाताम्, अधृषत । लृँङ्—(परस्मै०) अधरिष्यत्, अधरिष्यताम्, अधरिष्यन् । (आत्मने०) अधरिष्यत, अधरिष्येताम्, अधरिष्यन्त ।

[लघु०] णीञ् प्रापणे ॥५॥ नयति, नयते ॥

अर्थः—णीञ् (नी) धातु 'ले जाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1] ।

व्याख्या—ञित् होने से यह धातु उभयपदी है । 'णो नः' (४५८) द्वारा इस के आदि णकार को नकार आदेश हो कर 'नी' धातु बन जाती है । णोपदेश का फल

---

१. यहां पर प्रापण (ले जाना) अर्थ का व्यापक अर्थों में प्रयोग समझना चाहिये । यथा—(समय आदि को गुजारना) संविष्टः कुशशयने निशां निनाय—रघु० १.९५; येनामन्दमरन्दे दलदरविन्दे दिनान्यनायिषत—भामिनीविलास १.१० । (प्रेरणा करना—सञ्चालन करना) मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः—मालविकाग्नि० १.२ । (पहुँचाना) ग्राममजां नयति—सि० कौ० । (निश्चय करना) एतैर्लिङ्गैर्नयेत् सीमाम्—मनु० ८.२५२ । (किसी अवस्थाविशेष आदि को ले जाना) वशमनयत्—रघु० ८.१९ ! इत्यादि ।

'प्र+नयति=प्रणयति' आदि में 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (४५६) द्वारा णत्व करना है ।

लँट्—'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से ईकार को एकार गुण हो कर अयादेश हो जाता है । (परस्मै०) नयति, नयतः, नयन्ति । (आत्मने०) नयते, नयेते, नयन्ते ।

लिँट्—एकाच् अनुदात्त होने के कारण 'नी' धातु अनिट् है । क्रादिनियम से लिँट्मात्र में इसे इट् प्राप्त होता है । परन्तु थल् में 'अचस्तास्वत्०' (४८०) से पुनः निषेध हो जाता है । इस पर ऋदन्त भिन्न होने से भारद्वाजनियम से थल् में इट् का विकल्प हो जाता है । इस प्रकार यह धातु थल् में वेट् तथा अन्यत्र लिँट् में सेट् है । (परस्मै०) निनाय, निन्यतुः[1], निन्युः । निनयिथ-निनेथ, निन्यथुः, निन्य । निनाय-निनय, निन्यिव, निन्यिम । (आत्मने०) निन्ये, निन्याते, निन्यिरे । निन्यिषे, निन्याथे, निन्यिढ्वे-निन्यिध्वे । निन्ये, निन्यिवहे, निन्यिमहे ।

लुँट्—दोनों पदों में गुण हो जाता है । (परस्मै०) नेता, नेतारौ, नेतारः । नेतासि—। (आत्मने०) नेता, नेतारौ, नेतारः । नेतासे—। लृँट्—(परस्मै०) नेष्यति, नेष्यतः, नेष्यन्ति । (आत्मने०) नेष्यते, नेष्येते, नेष्यन्ते । लोँट्—(परस्मै०) नयतु-नयतात्, नयताम्, नयन्तु । (आत्मने०) नयताम्, नयेताम्, नयन्ताम् । लँङ्—(परस्मै०) अनयत्, अनयताम्, अनयन् । (आत्मने०) अनयत, अनयेताम्, अनयन्त । वि० लिँङ्—(परस्मै०) नयेत्, नयेताम्, नयेयुः । (आत्मने०) नयेत, नयेयाताम्, नयेरन् । आ० लिँङ्—परस्मैपद में सर्वत्र 'अकृत्सार्व०' (४८३) से पर्जन्यवल्लक्षण-प्रवृत्तिन्याय से दीर्घ हो जाता है—नीयात्, नीयास्ताम्, नीयासुः । (आत्मने०) नेषीष्ट, नेषीयास्ताम्, नेषीरन् । लुँङ्—परस्मैपद में 'सिचि वृद्धिः०' (४८४) से वृद्धि हो जाती है—अनैषीत्, अनैष्टाम्, अनैषुः । (आत्मने०) अनेष्ट, अनेषाताम्, अनेषत । लृँङ्—(परस्मै०) अनेष्यत्, अनेष्यताम्, अनेष्यन् । (आत्मने०) अनेष्यत, अनेष्येताम्, अनेष्यन्त ।

उपसर्गयोग—प्र√नी (प्रणी)=बनाना—रचना करना—उत्पन्न करना आदि (सर्गशेषप्रणयनात्—कुमार० ६.६; काकप्रणीतेन हुताशनेन—पञ्चतन्त्र ३.१) ।

अप√नी=दूर हटाना—भगाना (शत्रूनपनेष्यामि—भट्टि० १६ ३०) ।

अभि√नी=निकट लाना (तटाभिनीतेनाम्भसा—किरात० ८.३२); अभिनय करना (संकोचेनैव दोष्णां मुहुरभिनयतः सर्वलोकातिगानाम्—मुद्रा० १.२) ।

---

१. 'नी+अतुस्' में 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) के अनुसार पहले द्वित्व हो जायेगा—नि+नी+अतुस् । अब 'अचि श्नु०' (१६६) से प्राप्त उवँङ् का बाध कर 'एरनेकाच०:' (२००) से यण् हो जाता है ।

निर्√नी (निर्णी)=निर्णय करना (भव हृदय साभिलाषं सम्प्रति सन्देह-निर्णयो जातः—शाकुन्तल १.३०; कथं निर्णीयते परः—हितोप०)।

परि√नी (परिणी)=विवाह करना (परिणेष्यति पार्वतीं यदा—कुमार० ४.४२)।

आ√नी=निकट लाना (मत्पार्श्वमानीयते शाकुन्तल ७.८)।

प्रति+आ√नी (प्रत्यानी)=वापस लौटाना प्रत्यानेष्यामि शत्रुभ्यो बन्दीमिव जयश्रियम्—कुमार० २.५२)।

उद्√नी (उन्नी)=ऊपर उठाना—उछालना (दण्डमुन्नयते—सि० कौ०, 'सम्माननोत्सञ्जन०' १.३.३६ इत्यात्मनेपदम्); पहचानना (कथमपि स इत्युन्नेतव्यस्तथापि दृशोः प्रियः—उत्तर० ३.२२)।

सम्+उद्+नी (समुन्नी)=उन्नत करना—बढ़ाना—उत्कर्ष को ले जाना (समुन्नयन् भूतिमनार्यसङ्गमाद् वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः—किराता० १.८)।

उप√नी=पास ले जाना (आर्यस्यासनमुपनय—मृच्छकटिक); प्राप्त होना—निकट आना (मत्सम्भोगः कथमुपनयेत् मेघ० २.२८); उपनयनद्वारा अपने समीप लाना (माणवकमुपनयते—सि० कौ०, १.३.३६ इत्यात्मनेपदम्)।

वि√नि=शिक्षित करना—सिखाना (विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम्—रघु० ३.२९; विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान्—रघु० २.८); व्यय करना (शतं विनयते—सि० कौ०, १.३.३६ इत्यात्मनेपदम्); ऋण आदि का चुकाना (करं विनयते—सि० कौ०, १.३.३६ इत्यात्मनेपदम्); दूर करना (क्रोधं विनयते—सि० कौ०, 'कर्तृस्थे चाऽशरीरे कर्मणि' १.३.३७ इत्यात्मनेपदम्)।

[लघु०] डुपचँष् पाके॥६॥ पचति, पचते। पपाच। पेचिथ-पपक्थ। पेचे। पक्ता॥

अर्थः—डुपचँष् (पच्) धातु 'पकाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—'आदिर्ञिटुडवः' (४६२) से 'डु' की, 'हलन्त्यम्' (१) से षकार की, तथा 'उपदेशेऽजनु०' (२८) से स्वरित अनुनासिक अकार की इत्सञ्ज्ञा हो कर 'पच्' अवशिष्ट रहता है। स्वरितेत् होने से यह धातु उभयपदी है। डु के इत् का फल 'ड्वितः क्त्रिः' (८५७) से क्त्रिप्रत्यय करना है—पक्त्रिमम्। षकार के इत् का फल 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' (३.३.१०४) द्वारा अङ्प्रत्यय करना है—पचा। यह धातु द्विकर्मक है इस का विवेचन कारकप्रकरण में देखें—तण्डुलान् ओदनं पचति।

लँट्—(परस्मै०) पचति, पचतः, पचन्ति। (आत्मने०) पचते, पचेते, पचन्ते।

लिँट्—(परस्मै०) णल् में 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि हो कर—पपाच। अतुस् के कित् होने से 'प+पच्+अतुस्' इस स्थिति में 'अत एकहल्०' (४६०) द्वारा अत् को एकार तथा अभ्यास का लोप हो कर—पेचतुः। इसी प्रकार

उस् में —पेचुः । चकारान्त अनुदात्तों में परिगणित होने से यह धातु अनुदात्त है अतः अनिट् है । लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र इट् प्राप्त होता है परन्तु थल् में 'उपदेशेऽत्वतः' (४८१) से इण्निषेध हो कर भारद्वाजनियम से विकल्प हो जाता है । थल् में इट् के अभाव में 'चोः कुः' (३०६) से चकार को ककार हो कर 'पपक्थ' बनता है । इट्पक्ष में 'थलि च सेटि' (४६१) से एत्वाभ्यासलोप हो कर—पेचिथ । रूपमाला—पपाच, पेचतुः, पेचुः । पेचिथ-पपक्थ, पेचथुः, पेच । पपाच-पपच, पेचिव, पेचिम । (आत्मने०) में लिँट् कित् होता है अतः सर्वत्र एत्वाभ्यासलोप हो जाता है । रूपमाला यथा —पेचे, पेचाते, पेचिरे । पेचिषे, पेचाथे, पेचिध्वे । पेचे, पेचिवहे, पेचिमहे ।

लुँट्—अनुदात्त होने से सर्वत्र इट् का अभाव तथा झल् परे रहने से कुत्व हो जाता है । (परस्मै०) पक्ता, पक्तारौ, पक्तारः । पक्तासि — । (आत्मने०) पक्ता, पक्तारौ, पक्तारः । पक्तासे — । लृँट्— में 'चोः कुः' (३०६) से कुत्व तथा 'आदेश-प्रत्यययोः' (१५०) से सकार को षकार हो कर क्+ष् का योग क्ष् हो जाता है । (परस्मै०) पक्ष्यति, पक्ष्यतः, पक्ष्यन्ति । (आत्मने०) पक्ष्यते, पक्ष्येते, पक्ष्यन्ते । लोँट्—(परस्मै०) पचतु-पचतात्, पचताम्, पचन्तु । (आत्मने०) पचताम्, पचेताम्, पचन्ताम् । लँङ् –(परस्मै०) अपचत्, अपचताम्, अपचन् । (आत्मने०) अपचत, अपचेताम्, अपचन्त । वि० लिँङ् –(परस्मै०) पचेत्, पचेताम्, पचेयुः । (आत्मने०) पचेत, पचेयाताम्, पचेरन् । आ० लिँङ्—(परस्मै०) में झल् परे न होने से कुत्व नहीं होता—पच्यात्, पच्यास्ताम्, पच्यासुः । (आत्मने०) में कुत्व हो कर षत्व हो जाता है—पक्षीष्ट, पक्षीयास्ताम्, पक्षीरन् ।

लुँङ् –प्र० पु० के एकवचन में च्लि, सिँच्, अपृक्त को ईट् का आगम तथा अङ्ग को अट् का आगम हो कर 'अपच्+स्+ईत्' इस स्थिति में 'वदव्रज०' (४६५) से वृद्धि, 'चोः कुः' (३०६) से कुत्व तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व हो कर—अपाक्षीत् । द्विवचन में वृद्धि हो कर 'अपाच्+स्+ताम्' इस स्थिति में 'झलो झलि' (४७८) से सकार का लोप तथा 'चोः कुः' से कुत्व हो कर –अपाक्ताम् । बहुवचन में 'सिँजभ्यस्त०' (४४३) से झि को जुस् हो कर वृद्धि कुत्व-षत्व करने पर—अपाक्षुः । परस्मै० में रूपमाला यथा—अपाक्षीत्, अपाक्ताम्, अपाक्षुः । अपाक्षीः, अपाक्तम्, अपाक्त । अपाक्षम्, अपाक्ष्व, अपाक्ष्म । आत्मने० में वृद्धि नहीं होती झलो-झलिलोप हो कर कुत्व हो जाता है—अपक्त । आताम् में कुत्व-षत्व हो कर - अपक्षाताम् । रूपमाला यथा—अपक्त, अपक्षाताम्, अपक्षत । अपक्थाः, अपक्षाथाम्, अपग्ध्वम् ('झलां जश्झशि' १९) । अपक्षि, अपक्ष्वहि, अपक्ष्महि ।

लृँङ्—(परस्मै०) अपक्ष्यत्, अपक्ष्यताम्, अपक्ष्यन् । (आत्मने०) अपक्ष्यत, अपक्ष्येताम्, अपक्ष्यन्त ।

[लघु०] **भजँ सेवायाम्** ॥७॥ **भजति, भजते । बभाज, भेजे । भक्ता । भक्ष्यति, भक्ष्यते । अभाक्षीत् । अभक्त, अभक्षाताम् ॥**

अर्थः—भजँ (भज्) धातु 'सेवा करना, सेवन करना, आश्रय करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—स्वरितेत् होने से इस धातु से उभयपद होते हैं ।

लँट्—(परस्मै०) **भजति, भजतः, भजन्ति** । (आत्मने०) **भजते, भजेते, भजन्ते** ।

लिँट्—(परस्मै०) णल् में द्वित्व, अभ्यास को जश्त्व तथा उपधावृद्धि करने पर **बभाज** । कित् लिँट् में 'तृफलभज०' (५४२) से एत्वाभ्यासलोप हो कर—**भेजतुः, भेजुः** । भज् धातु जकारान्त अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है । क्रादिनियम से यह लिँट्मात्र में सेट् हो जाती है, परन्तु थल् में 'उपदेशेऽत्वतः' (४८१) से इट् का निषेध हो कर भारद्वाजनियम से विकल्प हो जाता है। इट्पक्ष में 'तृ-फल-भज०' (५४२) से एत्वाभ्यासलोप हो कर—**भेजिथ** । इट् के अभाव में 'बभज्+थ' इस स्थिति में 'चोः कुः' (३०६) से कुत्व तथा 'खरि च' (७४) से चर्त्व हो कर—**बभक्थ** । रूपमाला यथा—**बभाज, भेजतुः, भेजुः । भेजिथ-बभक्थ, भेजथुः, भेज । बभाज-बभज, भेजिव, भेजिम** । (आत्मने०) **भेजे, भेजाते, भेजिरे । भेजिषे, भेजाथे, भेजिध्वे । भेजे, भेजिवहे, भेजिमहे** ।

लुँट्—में सर्वत्र कुत्व और चर्त्व हो जाता है। (परस्मै०) **भक्ता, भक्तारौ, भक्तारः । भक्तास्मि**—। (आत्मने०) **भक्ता, भक्तारौ, भक्तारः । भक्तासे**—। लृँट्—में सर्वत्र क्रमशः कुत्व, षत्व और चर्त्व हो जाता है। (परस्मै०) **भक्ष्यति, भक्ष्यतः, भक्ष्यन्ति** । (आत्मने०) **भक्ष्यते, भक्ष्येते, भक्ष्यन्ते** । लोँट्—(परस्मै०) **भजतु-भजतात्, भजताम्, भजन्तु** । (आत्मने०) **भजताम्, भजेताम्, भजन्ताम्** । लँङ्—(परस्मै०) **अभजत्, अभजताम्, अभजन्** । (आत्मने०) **अभजत, अभजेताम्, अभजन्त** । वि० लिँङ्—(परस्मै०) **भजेत्, भजेताम्, भजेयुः** । (आत्मने०) **भजेत, भजेयाताम्, भजेरन्** । आ० लिँङ्—(परस्मै०) **भज्यात्, भज्यास्ताम्, भज्यासुः** । (आत्मने०) में कुत्व-षत्व-चर्त्व हो जाता है—**भक्षीष्ट, भक्षीयास्ताम्, भक्षीरन्** । लुँङ्—में समग्र प्रक्रिया पच् धातु की तरह होती है चर्त्व ही विशेष है। (परस्मै०) **अभाक्षीत्, अभाक्ताम्, अभाक्षुः । अभाक्षीः, अभाक्तम्, अभाक्त । अभाक्षम्, अभाक्ष्व, अभाक्ष्म** । (आत्मने०) **अभक्त, अभक्षाताम्, अभक्षत । अभक्थाः, अभक्षाथाम्, अभग्ध्वम् । अभक्षि, अभक्ष्वहि, अभक्ष्महि** । लृँङ्—(परस्मै०) **अभक्ष्यत्, अभक्ष्यताम्, अभक्ष्यन्** । (आत्मने०) **अभक्ष्यत, अभक्ष्येताम्, अभक्ष्यन्त** । उपसर्गयोग—**विभजति**=बांटता है, विभाग करता है ।

[लघु०] **यजँ देवपूजा-सङ्गतिकरण-दानेषु ॥८॥ यजति, यजते ॥**

अर्थः—यजँ (यज्) धातु 'देवताओं की पूजा करना, संगति करना तथा देना' इन तीन अर्थों में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—यजँ (यज्) धातु भी स्वरितेत् होने से उभयपदी है।

लँट्—(परस्मै०) **यजति, यजतः, यजन्ति।** (आत्मने०) **यजते, यजेते, यजन्ते।**

लिँट् - (परस्मै०) में तिप्, णल् तथा द्वित्व करने पर 'यज्+यज्+अ' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५४६) **लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्** ।६।१।१७॥

वच्यादीनां ग्रह्यादीनां चाऽभ्यासस्य सम्प्रसारणं लिँटि । इयाज ॥

अर्थः—लिँट् परे होने पर वच् आदियों तथा ग्रह् आदियों के अभ्यास के स्थान पर सम्प्रसारण हो।

व्याख्या—लिँटि ।७।१। अभ्यासस्य ।६।१। उभयेषाम् ।६।३। सम्प्रसारणम् ।१।१। ('ष्यङः सम्प्रसारणम्' से)। इस सूत्र से पूर्व दो सूत्रों में दो प्रकार के धातुसमूहों का निर्देश किया गया है। (१) 'वचिस्वपि०' (५४७) में वच्यादियों का तथा (२) 'ग्रहिज्या०' (६३४) में ग्रह्यादियों का। इस सूत्र में 'उभयेषाम्' द्वारा उन दोनों समूहों की ओर संकेत किया गया है। अर्थः—(लिँटि) लिँट् परे होने पर (उभयेषाम्) वच्यादि तथा ग्रह्यादि दोनों धातुसमूहों के (अभ्यासस्य) अभ्यास के स्थान पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण हो। वच्यादिसमूह में—वच्, स्वप्, यज्, वप्, वह्, वस्, वेञ्, व्येञ्, ह्वेञ्, वद् और श्वि ये ग्यारह धातु आती हैं। ग्रह्यादि समूह में—ग्रह्, ज्या, वय्, व्यध्, वश्, व्यच्, व्रश्च्, प्रच्छ् और भ्रस्ज् ये नौ धातु आती हैं। दोनों समूहों के कुल मिला कर बीस धातुओं के अभ्यास को सम्प्रसारण हो जाता है लिँट् परे हो तो। 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' (२५६) के अनुसार यण् के स्थान पर होने वाले इक् को सम्प्रसारण कहा जाता है। इस प्रकार इन बीस धातुओं के अभ्यास के यण् के स्थान पर इक् आदेश हो जाता है।

'यज्+यज्+अ' यहां पर यज् धातु वच्यादि समूह में पढ़ा गया है अतः इस के अभ्यास 'यज्' के यकार को सम्प्रसारण इकार हो कर 'इ अज्+यज्+अ' इस स्थिति में 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) सूत्र से सम्प्रसारण और उस से परले अकार के

---

१. हमारे विचार में यहां पर 'देव' शब्द का सम्बन्ध केवल 'पूजा' के साथ न मान कर सब के साथ मानना उचित है। इस के अनुसार यज् धातु के अर्थ होंगे—देवों की पूजा, देवों की (यज्ञस्थान पर) संगति, देवों को हवि आदि देना। इसी धातु से यज्ञ, यजमान, यज्वन्, यजुष्, यज्ञिय, याजक, यायजूक, इज्या आदि शब्द निष्पन्न होते हैं।

स्थान पर पूर्वरूप एकादेश करने पर 'इज्+यज्+अ' हुआ। अब हलादिशेष तथा उपधावृद्धि करने पर 'इयाज' प्रयोग सिद्ध होता है।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण—'सुष्वाप, उवाच, उवास, उवाह, विव्याध' आदि हैं।

लिँट् प्र० पु० के द्विवचन में 'यज्+अतुस्' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५४७) वचि-स्वपि-यजादीनां किति ।६।१।१५॥

वचिस्वप्योर्यजादीनां च सम्प्रसारणं स्यात् किति। ईजतुः। ईजुः। इयजिथ-इयष्ठ। ईजे। यष्टा॥

अर्थः—कित् परे होने पर वच्, स्वप् तथा यजादि धातुओं को सम्प्रसारण हो।

व्याख्या—वचि-स्वपि-यजादीनाम् ।६।३। किति ।७।१। सम्प्रसारणम् ।१।१। ('ष्यङः सम्प्रसारणम्' से)। यज् आदिर्येषान्ते यजादयः[1]। बहुव्रीहि०। वचिश्च स्वपिश्च यजादयश्च वचिस्वपियजादयः, तेषाम्। अर्थः—(किति) कित् परे होने पर (वचिस्वपियजादीनाम्) वच्, स्वप् तथा यजादि धातुओं के स्थान पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण हो जाता है। 'सम्प्रसारणं तदाश्रयञ्च कार्यं बलवत्' (सम्प्रसारण तथा सम्प्रसारण के आश्रित पूर्वरूप आदि कार्य बलवान् होते हैं) इस परिभाषा के अनुसार सम्प्रसारण सब से पहले हुआ करता है, द्वित्वादि इस के बाद।

'यज्+अतुस्' यहां 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से 'अतुस्' कित् है अतः इस के परे होने पर यज् के यकार को सम्प्रसारण इकार तथा 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप हो कर 'इज्+अतुस्' बना। अब 'इज्' को द्वित्व, अभ्यास के जकार का लोप तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर 'ईजतुः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—ईजुः।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण—यज्+क्त=इष्टः, यज्+क्तवतुँ=इष्टवान्। वप्—उप्तः, उप्तवान्। वद्—उदितः, उदितवान्। वस्—उषितः, उषितवान्।

थल् में 'यज्+थ'। यज् धातु जकारान्त अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट्

---

१. धातुपाठ में यज् धातु से ले कर भ्वादिगण की अन्तिम धातु 'टुओँश्वि गतिवृद्ध्योः' तक नौ धातु यजादि कहे जाते हैं—

"यजिर्वपिर्वहिश्चैव वसिर्वेञ् व्येञ् इत्यपि।
ह्वेञ्वदी श्वयतिश्चैव यजाद्याः स्युरिमे नव॥"

यज्, वप्, वह्, वस्, वेञ्, व्येञ्, ह्वेञ्, वद् और श्वि ये नौ धातु यजादि कहाते हैं।

है। लिँट् में क्रादिनियम से इट् प्राप्त है परन्तु 'उपदेशेऽत्वतः' (४८१) से थल् में इट् का निषेध हो जाता है। तब 'ऋतो भारद्वाजस्य' (४८२) से भारद्वाज के मत में ऋदन्तभिन्न होने के कारण थल् में इट् हो जायेगा। इस प्रकार यह धातु थल् में वेट् तथा लिँट् में अन्यत्र सेट् हो जाती है। थल् के इट्पक्ष में द्वित्व हो कर 'यज्+यज्+इथ' इस स्थिति में 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' (५४६) से अभ्यास को सम्प्रसारण, पूर्वरूप तथा अभ्यासकार्य करने पर 'इयजिथ' सिद्ध होता है। इट् के अभाव में 'इयज्+थ' इस दशा में 'व्रश्चभ्रस्ज०' (३०७) से जकार को षकार तथा 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से थकार को ठकार करने से 'इयष्ठ' प्रयोग निष्पन्न होता है। रूपमाला यथा—इयाज, ईजतुः, ईजुः। इयजिथ-इयष्ठ, ईजथुः, ईज। इयाज-इयज, ईजिव, ईजिम।

लिँट् आत्मनेपद के सब प्रत्यय 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से कित् हैं अतः प्रथम सम्प्रसारण हो कर बाद में द्वित्वादि कार्य होते हैं। रूपमाला यथा—ईजे, ईजाते, ईजिरे। ईजिषे, ईजाथे, ईजिध्वे। ईजे, ईजिवहे, ईजिमहे।

लुँट्—दोनों पदों में 'व्रश्चभ्रस्ज०' (३०७) से जकार को षकार हो कर ष्टुत्व हो जाता है—(परस्मै०) यष्टा, यष्टारौ, यष्टारः। यष्टासि—। (आत्मने०) यष्टा, यष्टारौ, यष्टारः। यष्टासे—।

लृँट्—परस्मैपद में 'यज्+स्य+ति' इस स्थिति में 'व्रश्चभ्रस्ज०' से जकार को षकार हो कर—यष्+स्य+ति। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५४८) षढोः कः सि ।८।२।४१॥

यक्ष्यति, यक्ष्यते। इज्यात्, यक्षीष्ट। अयाक्षीत्, अयष्ट॥

अर्थः—सकार परे हो तो षकार और ढकार को ककार आदेश हो।

व्याख्या—षढोः ।६।२। कः ।१।१। सि ।७।१। षश्च ढ् च=षढौ, तयोः = षढोः। षकारादकार उच्चारणार्थः। एवं ककारादपि। अर्थः—(सि) सकार परे हो तो (षढोः) ष् और ढ् के स्थान पर (कः) क् आदेश हो। ढकार का उदाहरण (वह्) वक्ष्यति, वक्ष्यते आदि आगे आयेंगे। षकार का उदाहरण प्रकृत में है—

'यष्+स्य+ति' यहां स्य प्रत्यय का सकार परे है अतः प्रकृतसूत्र से षकार को ककार हो कर 'यक्+स्य+ति' हुआ। अब 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से सकार को षकार करने पर क्+ष्=क्ष् हो कर 'यक्ष्यति' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आत्मनेपद में 'यक्ष्यते' बनता है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) यक्ष्यति, यक्ष्यतः, यक्ष्यन्ति। (आत्मने०) यक्ष्यते, यक्ष्येते, यक्ष्यन्ते।

लोँट्—(परस्मै०) यजतु-यजतात्, यजताम्, यजन्तु। (आत्मने०) यजताम्, यजेताम्, यजन्ताम्। लँङ्—(परस्मै०) अयजत्, अयजताम्, अयजन्। (आत्मने०)

अयजत, अयजेताम् अयजन्त । वि० लिँङ्—(परस्मै०) **यजेत्, यजेताम्, यजेयुः ।** (आत्मने०) **यजेत, यजेयाताम्, यजेरन् ।**

आ० लिँङ्—परस्मैपद में **'किदाशिषि'** (४३२) से यासुट् कित् है अतः **'वचिस्वपि०'** (५४७) से सम्प्रसारण हो जाता है—**इज्यात्, इज्यास्ताम्, इज्यासुः । इज्याः, इज्यास्तम्, इज्यास्त । इज्यासम्, इज्यास्व, इज्यास्म ।** आत्मनेपद में कित् न होने से सम्प्रसारण नहीं होता । 'यज्+सीष्ट' इस दशा में **'व्रश्चभ्रस्ज०'** (३०७) से जकार को षकार, **'षढोः कः सि'** (५४८) से कत्व तथा **'आदेशप्रत्यययोः'** (१५०) से सीयुट् के सकार को षकार करने पर 'यक्षीष्ट' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—**यक्षीष्ट, यक्षीयास्ताम्, यक्षीरन् । यक्षीष्ठाः, यक्षीयास्थाम्, यक्षीध्वम् । यक्षीय, यक्षीवहि, यक्षीमहि ।**

लुँङ्—परस्मैपद में च्लि को सिँच् हो कर 'अयज्+स्+त्' इस स्थिति में **'वदव्रज०'** (४६५) द्वारा हलन्तलक्षणा वृद्धि होकर षत्व-कत्व तथा **'आदेशप्रत्यययोः'** (१५०) से सिँच् के सकार को षकार करने पर 'अयाक्षीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में 'अयाज्+स्+ताम्' इस दशा में **'झलो झलि'** (४७८) से सकार का लोप हो कर षत्व और ष्टुत्व करने पर—अयाष्टाम्। रूपमाला यथा—**अयाक्षीत्, अयाष्टाम्, अयाक्षुः । अयाक्षीः, अयाष्टम्, अयाष्ट । अयाक्षम्, अयाक्ष्व, अयाक्ष्म ।** आत्मनेपद में 'अयज्+स्+त' इस स्थिति में झलोझलिलोप हो कर **'व्रश्चभ्रस्ज०'** (३०७) से षत्व तथा ष्टुत्व से तकार को टकार करने पर 'अयष्ट' सिद्ध होता है। ध्वम् में 'अयज्+स्+ध्वम्' इस दशा में **'धि च'** (५१५) से सकार का लोप, **'व्रश्चभ्रस्ज०'** (३०७) से जकार को षकार, **'ष्टुना ष्टुः'** (६४) से ष्टुत्व तथा **'झलां जश्झशि'** (१९) से षकार को जश्त्व-डकार करने पर 'अयड्ढ्वम्' बनता है। आत्मनेपद में रूपमाला यथा—**अयष्ट, अयक्षाताम्, अयक्षत । अयष्ठाः, अयक्षाथाम्, अयड्ढ्वम् । अयक्षि, अयक्ष्वहि, अयक्ष्महि ।**

लृँङ्—(परस्मै०) **अयक्ष्यत्, अयक्ष्यताम्, अयक्ष्यन् ।** (आत्मने०) **अयक्ष्यत, अयक्ष्येताम्, अयक्ष्यन्त ।**

[लघु०] **वहँ प्रापणे** ॥६॥ वहति, वहते । उवाह, ऊहतुः, ऊहुः । उवहिथ ॥

अर्थः—वहँ (वह्) धातु 'ले जाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—वह् धातु स्वरितेत् होने से उभयपदी है। ले जाना, उठा ले जाना, ढोना आदि अर्थ में यह द्विकर्मक है, यथा—**अजां ग्रामं वहति; वहति विधिहुतं या हविः** (शाकुन्तले)। इस के लिये कारकप्रकरण सूत्र (८९२) की व्याख्या देखें।

लँट्—(परस्मै०) **वहति, वहतः, वहन्ति ।** (आत्मने) वहते, **वहेते, वहन्ते ।**

लिँट्—(परस्मै०) तिप्, णल् और द्वित्व करने पर—वह्+वह्+अ। अब 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' (५४६) से अभ्यास को सम्प्रसारण, पूर्वरूप, हलादिशेष तथा उपधावृद्धि करने पर—उवाह। द्विवचन में 'वह्+अतुस्' इस स्थिति में लिँट् के कित् होने से द्वित्व से पूर्व 'वचिस्वपि०' (५४७) से सम्प्रसारण हो कर पूर्वरूप किया तो 'उह्+अतुस्' हुआ। अब 'उह्' को द्वित्व, हलादिशेष और सवर्णदीर्घ करने पर 'ऊहतुः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसीप्रकार बहुवचन में—'ऊहुः' बनेगा। वह् धातु हकारान्त अनुदात्तों में परिगणित है अतः अनिट् है। क्रादिनियम से लिँट् सेट् है परन्तु 'उपदेशेऽत्वतः' (४८१) से थल् अनिट् है किन्तु भारद्वाज के मत में वह सेट् है। इस प्रकार थल् वेट् तथा लिँट् के अन्य प्रत्यय सेट् हैं। थल् के इट्पक्ष में 'वह्+वह्+इथ' इस अवस्था में अभ्यास को सम्प्रसारण (५४६) तथा पूर्वरूपादि होकर—उवहिथ। इट् के अभाव में 'उवह्+थ' इस स्थिति में झल् परे होने के कारण 'हो ढः' (२५१) सूत्र से हकार को ढकार हो जाता है—उवढ्+थ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५४९) झषस्तथोर्धोऽधः ।८।२।४०॥

झषः परयोस्तथोर्धः स्याद् न तु दधातेः ॥

अर्थः—झष् (वर्गों के चतुर्थ वर्ण) से परे तकार थकार को धकार आदेश हो परन्तु 'धा' धातु से परे न हो।

व्याख्या—झषः ।५।१। तथोः ।६।२। धः ।१।१। (धकारादकार उच्चारणार्थः)। अधः ।५।१। न धाः—अधाः तस्माद् अधः ('विश्वपः' की तरह पञ्चम्यन्त)। अर्थः—(झषः) झष् प्रत्याहार से परे (तथोः) त् थ् के स्थान पर (धः) ध् आदेश हो जाता है (अधः) परन्तु धा धातु से परे नहीं होता। उदाहरण यथा—लभ्+ता=लभ्+धा, 'झलां जश् झशि' (१९) से जश्त्व हो कर—लब्धा। अबुध्+त=अबुद्ध। अलभ्+थास्=अलभ्+धास्=अलब्धाः। धा (डुधाञ् धारणपोषणयोः—जुहो० उभय०) धातु से परे नहीं होता—धत्तः, धत्थः। इन की सिद्धि आगे जुहोत्यादिगण में देखें।

'उवढ्+थ' यहां पर झष्—ढकार से परे थकार को प्रकृतसूत्र से धकार आदेश हो कर 'उवढ्+ध' हुआ। अब 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से धकार को ष्टुत्व—ढकार करने पर 'उवढ्+ढ' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५५०) ढो ढे लोपः ।८।३।१३॥

(ढस्य ढकारे परे लोपः स्यात् ॥)

अर्थः—ढकार परे होने पर ढकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—ढः ।६।१। ढे ।७।१। (ढकारादकार उच्चारणार्थः)। लोपः ।१।१।

अर्थः—(ढे) ढ् परे होने पर (ढः) ढ् का (लोपः) लोप हो जाता है।

'उवढ्+ढ' यहां ढकार परे है अतः प्रकृत-सूत्र से प्रथम ढकार का लोप हो कर 'उव+ढ' हुआ[1]। अब यहां 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (११२) से वकारोत्तर अकार को दीर्घ प्राप्त होता है। इस पर उस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५५१) सहिवहोरोदवर्णस्य ।६।३।१११।।

अनयोरवर्णस्य ओत् स्याड् ढलोपे। उवोढ। ऊहे। वोढा। वक्ष्यति। अवाक्षीत्, अवोढाम्, अवाक्षुः। अवाक्षीः, अवोढम्, अवोढ। अवाक्षम्, अवाक्ष्व, अवाक्ष्म। अवोढ, अवक्षाताम्, अवक्षत। अवोढाः, अवक्षाथाम्, अवोढ्वम्। अवक्षि, अवक्ष्वहि, अवक्ष्महि। अवक्ष्यत्, अवक्ष्यत।।

अर्थः—ढकार का लोप हुआ हो तो सह् और वह् धातु के अकार के स्थान पर ओकार आदेश हो।

व्याख्या--सहिवहोः ।६।२। ओत् ।१।१। अवर्णस्य ।६।१। ढलोपे ।७।१। ('ढ्लोपे पूर्वस्य०' से उपयोगी अंश)। ढस्य लोपः—ढलोपस्तस्मिन् ढलोपे, तत्पुरुषसमासः। अर्थः—(ढलोपे) ढकार का लोप होने पर (सहिवहोः) सह् और वह् धातु के (अवर्णस्य) अवर्ण के स्थान पर (ओत्) ओकार आदेश होता है। यह सूत्र 'ढ्लोपे पूर्वस्य०' (११२) सूत्र का अपवाद है। सह् का उदाहरण—सह्+क्त=सह्+त=सढ्+त (हो ढः)=सढ्+ध (झषस्तथोर्धोऽधः)=सढ्+ढ (ष्टुना ष्टुः)=स+ढ (ढो ढे लोपः)=सोढः। इसी प्रकार सोढवान् आदि। वह् का उदाहरण प्रकृत है—

'उव+ढ' यहां ढकार का लोप हो चुका है अतः वह धातु के वकारोत्तर अकार को प्रकृतसूत्र से ओकार हो कर 'उवोढ' रूप सिद्ध होता है।

सूत्र में 'अवर्णस्य' इसलिये कहा है कि दीर्घ आकार को भी ओकार हो जाये[2]—अवोढाम् (इस की सिद्धि लुंङ् में देखें)।

---

१. यहां 'ढो ढे लोपः' (८.३.१३) की दृष्टि में 'ष्टुना ष्टुः' (८.४.४०) से हुआ ष्टुत्व त्रिपादी में पर होने के कारण यद्यपि असिद्ध है तथापि वचनसामर्थ्य से उसे असिद्ध नहीं मानना चाहिये। क्योंकि यदि उसे असिद्ध मानने लगें तो कहीं भी ढकार से परे ढकार नहीं मिलेगा, सूत्र बनाना ही व्यर्थ हो जायेगा।

२. यदि यहां 'सहिवहोरोदस्य' सूत्र बना देते तो 'ओत्+अस्य' में 'तादपि परस्तपरः' के अनुसार केवल ह्रस्व अकार का ही ग्रहण हो सकता दीर्घ का नहीं। अतः अस्य' न कह कर सूत्र में 'अवर्णस्य' कहा गया है। अश्चासौ वर्णः—अवर्णः, तस्य=अवर्णस्य।

लिँट् परस्मैपद में वह् की रूपमाला यथा—उवाह, ऊहतुः, ऊहुः । उवहिथ-उवोढ, ऊहथुः, ऊह । उवाह-उवह, ऊहिव, ऊहिम । आत्मने० में—ऊहे, ऊहाते, ऊहिरे । ऊहिषे, ऊहाथे, ऊहिढ्वे-ऊहिध्वे (विभाषेटः) । ऊहे, ऊहिवहे, ऊहिमहे ।

लुँट्—'वह्+ता' इस स्थिति में हकार को ढकार, 'झषस्तथोर्धोऽधः' (५४६) से तकार को धकार, 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से धकार को ढकार तथा 'ढो ढे लोपः' (५५०) से ढकार का लोप हो कर—व+ढा । अब 'सहिवहोरोदवर्णस्य' (५५१) से अवर्ण को ओकार करने पर 'वोढा' प्रयोग सिद्ध होता है । रूपमाला यथा—(परस्मै०) वोढा, वोढारौ, वोढारः । वोढासि—। (आत्मने०) वोढा, वोढारौ, वोढारः । वोढासे—।

लृँट्—'वह्+स्य+ति' यहां 'हो ढः' (२५१) से हकार को ढकार, 'षढोः कः सि' (५४८) से ढकार को ककार तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से 'स्य' के सकार को मूर्धन्य षकार करने पर 'वक्ष्यति' सिद्ध होता है । रूपमाला यथा—(परस्मै०) वक्ष्यति, वक्ष्यतः, वक्ष्यन्ति । (आत्मने०) वक्ष्यते, वक्ष्येते, वक्ष्यन्ते ।

लोँट्—(परस्मै०) वहतु-वहतात्, वहताम्, वहन्तु । (आत्मने०) वहताम्, वहेताम्, वहन्ताम् । लँङ्—(परस्मै०) अवहत्, अवहताम्, अवहन् । (आत्मने०) अवहत, अवहेताम्, अवहन्त । वि० लिँङ्—(परस्मै०) वहेत्, वहेताम्, वहेयुः । (आत्मने०) वहेत, वहेयाताम्, वहेरन् ।

आ० लिँङ्—(परस्मै०) यासुट् के कित् होने से 'वचिस्वपि०' (५४७) द्वारा सर्वत्र सम्प्रसारण हो जाता है—उह्यात् उह्यास्ताम्, उह्यासुः । (आत्मने०) सर्वत्र ढत्व-कत्व-षत्व हो जाता है—वक्षीष्ट, वक्षीयास्ताम्, वक्षीरन् ।

लुँङ्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में च्लि, सिँच्, अपृक्त को ईट् का आगम तथा अङ्ग को अट् का आगम हो कर—अवह्+स्+ईत् । 'वदव्रज०' (४६५) से हलन्तलक्षणा वृद्धि करने पर—अवाह्+स्+ईत् । अब 'हो ढः' (२५१) से हकार को ढकार, 'षढोः कः सि' (५४८) से ढकार को ककार तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से सिँच् के सकार को षकार करने से 'अवाक्षीत्' प्रयोग सिद्ध होता है । द्विवचन में वृद्धि करने पर 'अवाह्+स्+ताम्' इस स्थिति में 'झलो झलि' (४७८) से सकार का लोप, 'हो ढः' (२५१) से हकार को ढकार, 'झषस्तथोर्धोऽधः' (५४६) से ताम् के तकार को धकार, ष्टुत्व से धकार को ढकार, 'ढो ढे लोपः' (५५०) से ढकार का लोप तथा 'सहिवहोरोदवर्णस्य' (५५१) से आकार को ओकार करने से 'अवोढाम्' प्रयोग सिद्ध होता है (ध्यान रहे कि 'सहिवहोरोदवर्णस्य' में 'अवर्ण' ग्रहण का यही प्रयोजन था कि यहां आकार को भी ओकार हो सके) । बहुवचन में 'सिजभ्यस्त०' (४४७) से झि को जुस्, वृद्धि, ढत्व, कत्व तथा सिँच् के सकार को षत्व करने पर 'अवाक्षुः' प्रयोग बनता है । इसीप्रकार सिप् में—अवाक्षीः । 'अवोढाम्'

की तरह थस् और थ में—अवोढम्, अवोढ। उत्तमपु० में ढत्व, कत्व और षत्व हो कर—अवाक्षम्, अवाक्ष्व, अवाक्ष्म। रूपमाला यथा—अवाक्षीत्, अवोढाम्, अवाक्षुः। अवाक्षीः, अवोढम्, अवोढ। अवाक्षम्, अवाक्ष्व, अवाक्ष्म।

लुंङ् के आत्मनेपद में—अवह्+स्+त। वृद्धि न होगी क्योंकि वह परस्मैपद में हुआ करती है आत्मनेपद में नहीं। अब 'झलो झलि' (४७८) से सकार का लोप हो कर 'हो ढः' (२५१) से हकार को ढकार, 'झषस्तथोर्धोऽधः' (५४६) से तकार को धकार, ष्टुत्व से धकार को ढकार, 'ढो ढे लोपः' (५५०) से ढकार का लोप तथा 'सहिवहोरोदवर्णस्य' (५५१) से अवर्ण को ओकार करने पर 'अवोढ' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार थास् में—अवोढाः। ध्वम् में 'धि च' (५१५) से सकार का लोप हो कर ढत्व, धत्व, ष्टुत्व, ढलोप और अकार को ओकार करने पर—अवोढ्वम्। रूपमाला यथा—अवोढ, अवक्षाताम्, अवक्षत। अवोढाः, अवक्षाथाम्, अवोढ्वम्। अवक्षि, अवक्ष्वहि, अवक्ष्महि।

लृँङ्—(परस्मै०) अवक्ष्यत्, अवक्ष्यताम्, अवक्ष्यन्। (आत्मने०) अवक्ष्यत, अवक्ष्येताम्, अवक्ष्यन्त।

उपसर्गयोग तथा विना उपसर्ग के योग में भी इस धातु के विविध अर्थ देखे जाते हैं। निदर्शनार्थ यथा—

(१) बहना—'आस्वाद्यतोयाः प्रवहन्ति नद्यः' (हितोप०), 'परोपकाराय वहन्ति नद्यः' (सुभाषित)।

(२) उठाना, बोझा धारण करना—'ताते चापद्वितीये वहति रणधुरां को भयस्यावकाशः' (वेणी० ३.५), 'वहति भुवनश्रेणीं शेषः फणाफलकस्थिताम्' (नीति० ३५)। 'भगवति वसुधे कथं वहसि' (हितोप० १.७६)।

(३) दूर हर ले जाना (हृञ् के अर्थ में)—'अद्रेः किस्विद् वहति पवनः' (मेघ० १४ पाठ-भेद)।

(४) पास रखना—'वहति हि धनहार्यं पण्यभूतं शरीरम्' (मृच्छकटिक० १.३१); 'वहति विषधरान् पटीरजन्मा' (भामिनी० १.७४)।

(५) (हवा) का चलना—'धीरा वहन्ति रतिखेदहराः समीराः' ( )।

(६) विवाह करना—'यदूढया वारणराजहार्यया' (कुमार० ५.७०)। उद्√वह्—'पार्थिवीम् उदवहद् रघूद्वहः' (रघु० ११.५४)। 'नोद्वहेत् कपिलां कन्याम्' (मनु० ३.८)।

(७) थामना—'वेदानुद्धरते जगन्निवहते' (गीतगो०)।

(८) पैदा करना—(आ√वह्) 'व्रीडमावहति मे स सम्प्रति' (रघु० ११.७३); 'महदपि राज्यं न सौख्यमावहति' (पञ्च०)।

(९) पांव आदि दबाना—सम्√वह् [णिजन्त]। 'अङ्के निधाय चरणावुत पद्मताम्रौ संवाहयामि करभोरु यथा सुखं ते'—(शाकुन्तल ३.१५)।

(१०) निभाना, निर्वाह करना, गुजारा करना—निर्√वह्=निर्वहति। 'तत्र नगाधिराजत्वं निर्वोढुमाह' (कुमार० मल्लिनाथ १.२)। 'सर्वथा सत्यवचने देहो न निर्वहेत्' (भागवतटीका ८.१६.३२)।

(११) ऊपर उठाना—उद्√वह्=उद्वहति। निभाना, पूर्ण करना—'प्रारब्धमुत्तमजनास्त्वमिवोद्वहन्ति' (मुद्रा० २.१७)।

अब निम्न उभयपदी धातुओं के रूप चलाने में विद्यार्थियों को कोई कठिनाई नहीं रहेगी।

(१) डुवपँ बीजसन्ताने (खेत में बीज डालना, गर्भाधान करना, काटना)। लँट्—वपति ; वपते। लिँट्—(परस्मै०) उवाप, ऊपतुः, ऊपुः। उवपिथ-उवप्थ, ऊपथुः, ऊप। उवाप-उवप, ऊपिव, ऊपिम। (आत्मने०) ऊपे, ऊपाते, ऊपिरे। लुँट्—वप्ता ; वप्ता। लृँट्—वप्स्यति ; वप्स्यते। लोँट्—वपतु-वपतात् ; वपताम्। लँङ्—अवपत् ; अवपत। वि० लिँङ्—वपेत् ; वपेत। आ० लिँङ्—उप्यात् ; वप्सीष्ट। लुँङ्—(परस्मै०) अवाप्सीत्, अवाप्ताम्, अवाप्सुः। (आत्मने०) अवप्त, अवप्साताम्, अवप्सत। लृँङ्—अवप्स्यत्, अवप्स्यत।

(२) धावुँ गतिशुद्ध्योः (भागना, शुद्ध होना)। लँट्—धावति ; धावते। लिँट्—(परस्मै०) दधाव, दधावतुः, दधावुः। (आत्मने०) दधावे, दधावाते, दधाविरे। लुँट्—धाविता, धाविता। लृँट्—धाविष्यति; धाविष्यते। लोँट्—धावतु-धावतात्; धावताम्। लँङ्—अधावत्; अधावत। वि० लिँङ्—धावेत् ; धावेत। आ० लिँङ्—धाव्यात् ; धाविषीष्ट। लुँङ्—अधावीत् ; अधाविष्ट। लृँङ्—अधाविष्यत् ; अधाविष्यत।

(३) राजृँ दीप्तौ (चमकना)। लँट्—राजति ; राजते। लिँट्—(परस्मै०) रराज, रेजतुः-रराजतुः, रेजुः-रराजुः। (आत्मने०) रेजे-रराजे, रेजाते-रराजाते, रेजिरे-रराजिरे। 'फणाञ्च सप्तानाम्' (६.४.१२५) इति वा एत्वाभ्यासलोपौ। लुँट्—राजिता ; राजिता। लृँट्—राजिष्यति ; राजिष्यते। लोँट्—राजतु-राजतात् ; राजताम्। लँङ्—अराजत् ; अराजत। वि० लिँङ्—राजेत्, राजेत। आ० लिँङ्—राज्यात् ; राजिषीष्ट। लुँङ्—अराजीत् ; अराजिष्ट। लृँङ्—अराजिष्यत् ; अराजिष्यत।

(४) टुयाचृँ याच्ञायाम् (मांगना)। लँट्—याचति; याचते। लिँट्—(परस्मै०) ययाच, ययाचतुः, ययाचुः। (आत्मने०) ययाचे, ययाचाते, ययाचिरे। लुँट्—याचिता; याचिता। लृँट्—याचिष्यति; याचिष्यते। लोँट्—याचतु-याचतात्; याचताम्। लँङ्—अयाचत्; अयाचत। वि०लिँङ्—याचेत्; याचेत। आ० लिँङ्—याच्यात्; याचिषीष्ट। लुँङ्—अयाचीत्; अयाचिष्ट। लृँङ्—अयाचिष्यत्; अयाचिष्यत।

(५) खनँ अवदारणे (खोदना)। लँट्—खनति; खनते। लिँट्—(परस्मै०) चखान, चख्नतुः, चख्नुः। (आत्मने०) चख्ने, चख्नाते, चख्निरे। 'गमहनजन०' (५०५) इत्यजादौ क्ङित्युपधालोपः। लुँट्—खनिता; खनिता। लृँट्—खनिष्यति; खनिष्यते। लोँट्—खनतु-खनतात्; खनताम्। लँङ्—अखनत्; अखनत। वि० लिँङ्—खनेत्; खनेत। आ० लिँङ्— (परस्मै०) खायात्-खन्यात् ['ये विभाषा' (६७५) इति वाऽऽत्वम्]; (आत्मने०) खनिषीष्ट। लुँङ्—अखानीत्-अखनीत् ['अतो हलादेर्लघोः, (४५७) इति वा वृद्धिः]; अखनिष्ट। लृँङ्—अखनिष्यत्; अखनिष्यत।

(६) शपँ आक्रोशे (शाप देना)। लँट्—शपति; शपते। लिँट्—(परस्मै०) शशाप, शेपतुः, शेपुः। शेपिथ-शशप्थ आदि। (आत्मने०) शेपे, शेपाते, शेपिरे। लुँट्—शप्ता; शप्ता। लृँट्—शप्स्यति; शप्स्यते। लोँट्—शपतु-शपतात्; शपताम्। लँङ्—अशपत्; अशपत। वि० लिँङ्—शपेत्; शपेत। आ० लिँङ्—शप्यात्; शप्सीष्ट। लुँङ्—(परस्मै०) अशाप्सीत्, अशाप्ताम्, अशाप्सुः। (आत्मने०) अशप्त, अशप्साताम्, अशप्सत। लृँङ्—अशप्स्यत्; अशप्स्यत।

अभ्यास (६)

(१) सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि करें—

शिश्रिये, अशिश्रिये, अशिश्रियत, श्रीयात्, बभर्थ, भ्रियात्, भृषीष्ट, अभृत, हरिष्यति, अभक्त, अयष्ट, इयाज, ईजतुः, इयष्ठ, उह्यात्, उवोढ, अवाक्षीत्, अवोढ्वम्, अभाक्षीत्।

(२) निम्न धातुओं का थल् में रूप सिद्ध करें—

वह्, यज्, हृञ्, डुपचँष्, णीञ्, श्रिञ्।

(३) निम्न धातुओं के दोनों पदों में लुँङ् की रूपमाला लिखें—

वह्, यज्, भज्, हृञ्, श्रिञ्।

(४) निम्न सूत्रों की व्याख्या करें—

रिङ्शयग्लिँङ्क्षु, उश्च, झषस्तथोर्धोऽधः, ह्रस्वादङ्गात्, लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्, सहिवहोरोदवर्णस्य।

(५) निम्न प्रश्नों का समाधान कीजिये—

(क) 'भ्रियात्' में 'अकृत्सार्व०' से दीर्घ क्यों नहीं होता?

(ख) 'ह्रस्वादङ्गात्' में 'अङ्गात्' ग्रहण का क्या प्रयोजन है?

(ग) 'पच्यात्' में 'चोः कुः' द्वारा कुत्व क्यों नहीं होता?

(घ) 'भेजिथ' में एत्वाभ्यासलोप कैसे हो जाता है?

(ङ) 'डुपचँष्' में षकार और डु को इत् करने का क्या प्रयोजन है?

(च) श्री, नी, हृ और धृ धातुओं के लिँट् के ध्वम् में कितने रूप बनते हैं?

(६) 'अवोढ' और 'हरताम्' प्रयोग दोनों पदों में बनाने हैं, बताइये कहां कहां बनेंगे ?
(७) 'सहिवहोरोद०' सूत्र न होता तो 'उवोढ' की बजाय क्या रूप बनता ?
(८) वच् और स्वप् को भी यजादियों में डाल कर 'यजादीनां किति' इतना मात्र सूत्र क्यों नहीं बना लेते ?
(९) 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' में 'उभयेषाम्' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?
(१०) 'द्वि+सुच्+तराम्=द्विष्टराम्' यहां 'ह्रस्वादङ्गात्' से सकार का लोप क्यों नहीं होता ?
(११) यजादि धातु कौन-कौन से हैं ? कित् परे होने पर उन में क्या परिवर्तन होता है ?

इति तिङन्ते भ्वादयः

(यहां पर भ्वादिगण की धातुओं का विवेचन समाप्त होता है)

अथ तिङन्तेऽदादयः

अब तिङन्तप्रकरण में अदादिगण की धातुओं का निरूपण किया जाता है—

[लघु०] **अद भक्षणे ॥१॥**

अर्थः—अद (अद्) धातु 'खाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—उदात्तेत् होने से अथवा आत्मनेपद के निमित्तों से हीन होने के कारण अद् धातु परस्मैपदी है। इस धातु का अनेक भारोपीय भाषाओं के साथ अद्भुत साम्य पाया जाता है। यथा—लेटिन edo; ग्रीक edo; जर्मन्; essen; इंग्लिश eat; गोथिक् at; जन्द् ad आदि। वेद और लोक दोनों में इस धातु के प्रचुर प्रयोग पाये जाते हैं—'अत्ति' (ऋग्वेद १.१६४.२०); 'मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाऽद्म्यहम्' (मनु० ५.५५)। श्रीमद्भागवत (३.२०.५१) में इस का भौवादिक आत्मनेपद के रूप में प्रयोग हुआ है—साकमन्नमदामहे।

लँट्—अद् धातु से लँट्, तिप् और 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप् करने पर 'अद्+शप्+ति' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५५२) **अदिप्रभृतिभ्यः शपः ।२।४।७२॥**

लुक् स्यात्। अत्ति, अत्तः, अदन्ति। अत्सि, अत्थः, अत्थ। अद्मि, अद्वः, अद्मः॥

अर्थः—अदादिगण की धातुओं से परे शप् का लुक् हो।

व्याख्या—अदिप्रभृतिभ्यः ।५।३। शपः ।६।१। लुक् ।१।१। ('ण्यक्षत्रियार्ष०' से) । अदिः प्रभृतिर् (आदिर्)[1] येषां ते—अदिप्रभृतयः, तेभ्यः—अदिप्रभृतिभ्यः । तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः । अदादिभ्य इत्यर्थः । अर्थः—(अदिप्रभृतिभ्यः) अद् आदि धातुओं से परे (शपः) शप् का (लुक्) लुक् हो जाता है । शप् का लोप न कह कर लुक् कहा गया है इस से 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१८९) द्वारा प्रत्ययलक्षण न हो सकेगा 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) रोक देगा । अतः 'इतः, वित्तः, विदन्ति' आदि में शब्निमित्तक गुण न होगा ।

'अद्+शप्+ति' यहां पर प्रकृतसूत्र से शप् का लुक् हो कर 'खरि च' (७४) से दकार को चर्त्व-तकार करने पर 'अत्ति' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार—अत्तः । बहुवचन में 'झोऽन्तः' (३८९) सूत्र से झि के झकार को अन्त् आदेश हो कर—अदन्ति (ध्यान रहे कि 'अन्त्' आदेश के आदि में 'अ' जोड़ने का फल भी 'अदन्ति' आदि में प्रकट होता है, भ्वादिगण में तो प्रायः 'अतो गुणे' से पररूप करना पड़ता था) । सिप्, थस् और थ में चर्त्व हो जाता है । उत्तम पु० में झल् परे न रहने से चर्त्व नहीं होता । लँट् में रूपमाला यथा—अत्ति, अत्तः, अदन्ति । अत्सि, अत्थः, अत्थ । अद्मि, अद्वः, अद्मः ।

लिँट्—'अद्+लिँट्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५५३) **लिँट्यन्यतरस्याम्** ।२।४।४०।।

अदो घस्लृँ वा स्याल्लिँटि । जघास । उपधालोपः ।।

अर्थः—लिँट् परे होने पर अद् के स्थान पर घस्लृँ आदेश हो विकल्प से ।

व्याख्या—लिँटि ।७।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। अदः ।६।१। ('अदो जग्धिर्ल्यप्ति०' से)। घस्लृँ ।१।१। ('लुँङ्सनोर्घस्लृँ' से ; लुप्तविभक्तिक निर्देश) । अर्थः—(लिँटि) लिँट् परे होने पर (अदः) अद् के स्थान पर (घस्लृँ) घस्लृँ आदेश हो (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में । दूसरी अवस्था में न होगा अतः विकल्प सिद्ध हो जायेगा । घस्लृँ आदेश अनेकाल् होने से सर्वादेश होता है । इस में लृँकार अनुनासिक है अतः इत्सञ्ज्ञा हो कर उसका लोप हो जाता है, 'घस्' मात्र अवशिष्ट रहता है । इसे लृदित् करने

---

१. 'प्रभृति' शब्द का संस्कृतसाहित्य में प्रायः दो प्रकार का प्रयोग उपलब्ध होता है । (१) अव्यय के रूप में । इस का अर्थ होता है—आरम्भ कर के, से लेकर आदि । तब इस के योग में पञ्चमी या तसिल् प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है—'शैशवात् प्रभृति पोषितां प्रियाम्' (उत्तर० १.४५); ततः प्रभृति, अतः प्रभृति, अद्य प्रभृति आदि । (२) आदि (Beginning) का वाचक । इस का प्रयोग बहुव्रीहि-समास के अन्तिम पद के रूप में प्रायः देखा जाया है । यथा—इन्द्रप्रभृतयो देवाः, पारस्करप्रभृतीनि च, अदिप्रभृतिभ्यः शपः इत्यादि ।

का प्रयोजन लुङ् में 'पुषादि०' (५०७) द्वारा च्लि को अङ् आदेश करना है।

अद् को लिँट् में घस्लृ आदेश हो कर प्र० पु० के एकवचन में तिप् और णल् करने पर—घस्+अ। अब द्वित्व, अभ्यासकार्य तथा 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि करने से 'जघास' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्र० पु० के द्विवचन में घस्लृ आदेश हो कर—घस्+अतुस्। अब 'लिँटि धातोरनभ्यासस्य' (३९४) से द्वित्व तथा 'गमहनजन०' (५०५) से उपधालोप युगपत् प्राप्त होते हैं। परत्व के कारण उपधालोप प्रथम होना चाहिये, परन्तु 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) के निषेध के कारण पहले द्वित्व हो कर 'कुहोश्चुः' (४५४) से अभ्यास के घकार को झकार, जश्त्व से झकार को जकार तथा हलादिशेष करने से 'जघस्+अतुस्' इस स्थिति में उपधालोप हो जायेगा—जघ्स्+अतुस्। अब हमें सकार को षकार करना है परन्तु वह 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि यहां का सकार न तो प्रत्यय का अवयव है और न ही आदेशरूप। अतः इस के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् - (५५४) शासि-वसि-घसीनां च ।८।३।६०॥

इण्कुभ्यां परस्य एषां सस्य षः स्यात्। घस्य चर्त्वम्—जक्षतुः, जक्षुः। जघसिथ, जक्षथुः, जक्ष। जघास-जघस, जक्षिव, जक्षिम। आद, आदतुः, आदुः॥

अर्थः—इण्प्रत्याहार या कवर्ग से परे शास्, वस् और घस् के सकार को षकार आदेश हो।

व्याख्या—शासि-वसि-घसीनाम् ।६।३। च इत्यव्ययपदम्। इण्कोः ।५।१। (यह अधिकृत है)। सः ।६।१। ('सहेः साडः सः' से)। मूर्धन्यः ।१।१। ('अपदान्तस्य मूर्धन्यः' से)। अर्थः—(इण्कोः) इण्प्रत्याहार अथवा कवर्ग से परे (शासि-वसि-घसीनाम्) शास्, वस् और घस् के (सः) सकार के स्थान पर (मूर्धन्यः) मूर्धा स्थान वाला वर्ण आदेश हो जाता है। इण् प्रत्याहार सदा 'लँण्' वाले णकार से ही लिया जाता है। ईषद्विवृत यत्न वाले सकार के स्थान पर वैसे यत्न वाला षकार ही मूर्धन्य आदेश होगा। शास् और वस् तो आदेश ही नहीं तथा घस् का सकार आदेशरूप नहीं अतः 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) द्वारा सकार को मूर्धन्य प्राप्त न होने पर यह नया सूत्र बनाया गया है। उदाहरण यथा—

शास्—अशिषत्, अशिषताम्, अशिषन्। [**शासुँ अनुशिष्टौ** (अदा० परस्मै०), लुङ्, '**सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च**' (३.१.५६) इति च्लेरङ्, '**शास इदङ्हलोः**' (६.४.३४) इतीत्त्वम्।]

वस् - उषितः, उषितवान्, उषित्वा। ['**वसति-क्षुधोरिट्**' (७.२.५२) इति क्त्वानिष्ठयोरिडागमः। '**वचिस्वपि०**' (५४७) इति सम्प्रसारणम्।]

घस्—'जघ्स्+अतुस्' यहां घस् के सकार को प्रकृतसूत्र से मूर्धन्य षकार हो कर 'खरि च' (७४) से घकार को चर्त्व-ककार करने से 'जक्षतुः' प्रयोग सिद्ध होता है[1]। इसी प्रकार 'जक्षुः'।

म० पु० के एकवचन में 'घस्+थल्' इस अवस्था में 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (४०१) से प्राप्त इट् के आगम का 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (४७५) से निषेध हो जाता है। परन्तु क्रादिनियम से पुनः इट् हो कर द्वित्वादि करने पर 'जघसिथ' प्रयोग सिद्ध होता है। [ध्यान रहे कि घस् आदेश केवल लिँट् और लुङ् में ही हुआ करता है अतः तास् में प्रयोग न होने से यह तास् में नित्य अनिट् नहीं रहता, इस से 'उपदेशेऽत्वतः' (४८१) द्वारा क्रादिनियम से प्राप्त इट् का थल् में निषेध नहीं होता।] इसी प्रकार व और म में नित्य इट् होकर द्वित्व, उपधालोप, षत्व तथा चर्त्व करने से 'जक्षिव, जक्षिम' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

जहां घस्लृँ आदेश नहीं होता वहां लिँट् में 'अत आदेः' (४४३) से अभ्यास के अत् को दीर्घ हो कर सवर्णदीर्घ करने से—'आद, आदतुः, आदुः' रूप बनते हैं। थल् में 'अद्+थ' इस अवस्था में सर्वप्रथम अद् का दकारान्त अनुदात्तों में पाठ होने के कारण इट् का निषेध हो जाता है। क्रादिनियम से लिँट् में पुनः इट् की प्राप्ति होती है। इस पर 'उपदेशेऽत्वतः' (४८१) से थल् में इट् का निषेध हो कर 'ऋतो भारद्वाजस्य' (४८२) के नियम से इट् का विकल्प प्राप्त होता है। परन्तु हमें थल् में नित्य इट् करना अभीष्ट है। इस के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५५५) इडत्त्यर्ति-व्ययतीनाम् ।७।२।६६॥

अद्, ऋ, व्येञ्—एभ्यस्थलो नित्यमिट् स्यात्। आदिथ। अत्ता। अत्स्यति। अत्तु-अत्तात्, अत्ताम्, अदन्तु॥

अर्थः—अद् (खाना), ऋ (जाना) और व्येञ् (आच्छादन करना)—इन तीन धातुओं से परे थल् को नित्य इट् का आगम हो।

व्याख्या—इट् ।१।१। अत्ति-अर्ति-व्ययतीनाम् ।६।३। (इस का पञ्चम्यन्ततया विपरिणाम कर लिया जाता है)।थलः ।६।१। ('अचस्तास्वत्थल्यनिटः०' से विभक्ति-विपरिणाम कर के)। अद्, ऋ, व्येञ् धातुओं का निर्देश यहां 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' द्वारा श्तिप् प्रत्यय लगा कर किया गया है। अत्तिश्च अर्तिश्च व्ययतिश्च तेषाम्—

---

१. यदि 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' (६६६) से उपधा अकार के लोप को स्थानिवत् मान लें तो खर् परे न रहने से 'खरि च' (७४) द्वारा चर्त्व नहीं हो सकता। इस दोष के निवारणार्थ 'न पदान्त-द्विर्वचन-वरे-यलोप-स्वर-सवर्णानुस्वार-दीर्घ-जश्-चर्विधिषु' (१.१.५७) सूत्र में चर्त्व करने में स्थानिवद्भाव के निषेध की व्यवस्था की गई है। इसी सूत्र पर काशिका द्रष्टव्य है।

अर्त्यातिव्ययतीनाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(अत्ति-अर्ति-व्ययतिभ्यः) अद्, ऋ तथा व्येञ् धातु से परे (थलः) थल् का अवयव (इट्) इट् हो जाता है। इन धातुओं से परे थल् को इट् का आगम नित्य ही समझना चाहिये अन्यथा यह सूत्र व्यर्थ हो जायेगा[1]।

'ऋ' धातु का उदाहरण—'आरिथ' तथा 'व्येञ्' धातु का उदाहरण—'विव्यथिथ' है। लघुकौमुदी में इन धातुओं का वर्णन नहीं है अतः इनकी सिद्धि सिद्धान्तकौमुदी में देखनी चाहिये।

'अद्' धातु का उदाहरण—'अद्+थ' यहां प्रकृतसूत्र से नित्य इडागम हो कर द्वित्व, हलादिशेष, 'अत आदेः' (४४३) से अभ्यास को दीर्घ तथा सवर्णदीर्घ करने पर 'आदिथ' प्रयोग सिद्ध होता है। लिँट् में रूपमाला यथा—(घस्लृँपक्षे) जघास, जक्षतुः, जक्षुः। जघसिथ, जक्षथुः, जक्ष। जघास-जघस, जक्षिव, जक्षिम। (आदेशाभावे)—आद, आदतुः, आदुः। आदिथ, आदथुः, आद। आद, आदिव, आदिम।

लुँट्—में सर्वत्र 'एकाच उपदेशेऽनु०' (४७५) से इट् का निषेध हो कर 'खरि च' (७४) से चर्त्व हो जाता है—अत्ता, अत्तारौ, अत्तारः। अत्तासि, अत्तास्थः, अत्तास्थ। अत्तास्मि, अत्तास्वः, अत्तास्मः।

लृँट्—में भी पूर्ववत् इण्निषेध हो कर चर्त्व हो जाता है—अत्स्यति, अत्स्यतः, अत्स्यन्ति। अत्स्यसि, अत्स्यथः, अत्स्यथ। अत्स्यामि, अत्स्यावः, अत्स्यामः।

लोँट्—शप् का लुक् हो कर खर् परे रहते चर्त्व हो जाता है—अत्तु-अत्तात्, अत्ताम्। झि के झकार को अन्त् आदेश हो कर—अदन्तु।

म० पु० के एकवचन में 'सेर्ह्यपिच्च' (४१५) से सिप् को 'हि' आदेश हो कर शप् का लुक् हो जाता है—अद्+हि। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५५६) हु-झल्भ्यो हेर्धिः।६।४।१०१॥

होर्झलन्तेभ्यश्च हेर्धिः स्यात्। आद्धि-अत्तात्, अत्तम्, अत्त। अदानि, अदाव, अदाम॥

---

१. इस सूत्र से पूर्व अष्टाध्यायी में निषेध और विकल्प दोनों का प्रकरण चल रहा था परन्तु यहां उन दोनों में से किसी का भी उपयोग नहीं किया जा सकता। कारण कि यदि निषेध को लाते हैं तो 'ऋ' धातु का ग्रहण व्यर्थ हो जाता है यतः उस के थल् में 'अचस्तास्वत्०' (४८०) तथा 'ऋतो भारद्वाजस्य' (४८२) के अनुसार निषेध तो स्वतः प्राप्त था ही, पुनः उस के लिये यत्न कैसा? और यदि विकल्प को लाते हैं तो अद् और व्येञ् धातुओं का ग्रहण व्यर्थ हो जाता है यतः इन में 'उपदेशेऽत्वतः' (४८१), 'अचस्तास्वत्०' (४८०) तथा 'ऋतो भारद्वाजस्य' (४८२) के अनुसार इट् का विकल्प पहले से ही प्राप्त था। अतः यहां इट् का विधान नित्य ही समझा जाता है। विस्तार के लिये काशिका का अवलोकन करें।

अर्थः—हु (हवन करना, खाना) तथा झलन्त धातुओं से परे हि को धि आदेश हो ।

व्याख्या—हु-झल्भ्यः ।५।३। हेः ।६।१। धिः ।१।१। हुश्च झलश्च हुझलः, तेभ्यः—हुझल्भ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः । 'अङ्गस्य' के अधिकृत होने से झल् से तदन्तविधि करने पर 'झलन्तेभ्यः' बन जाता है । अर्थः—(हु-झल्भ्यः) हु तथा झलन्तों से परे (हेः) हि के स्थान पर (धिः) धि आदेश हो । 'धि' आदेश अनेकाल् होने से हि के स्थान पर सर्वादेश होता है । 'हु' धातु जुहोत्यादिगण की प्रथम धातु है, इस का उदाहरण 'जुहुधि' है । इस की सिद्धि जुहोत्यादिगण में देखें ।

झलन्त का उदाहरण—'अद्+हि' यहां अद् धातु झलन्त है अतः प्रकृतसूत्र से इस से परे हि को धि आदेश हो कर—अद्+धि='अद्धि' प्रयोग सिद्ध होता है[1] ।

इस सूत्र में 'हु-झल्भ्यः' इसलिये कहा है कि 'क्रीणीहि, प्रीणीहि, जानीहि' आदि में हि को धि न हो जाये ।

शङ्का—'रुदिहि, स्वपिहि, श्वसिहि' आदि में रुद्, स्वप्, श्वस् आदि झलन्त धातु हैं । इन से परे 'हि' को यद्यपि 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' (७.२.७६) से इट् का आगम हो जाता है तो भी 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' (प०) के अनुसार वह 'हि' का अङ्ग है अतः 'हि' को 'धि' आदेश क्यों नहीं होता ?

समाधान—इस शङ्का का समाधान महाभाष्य में तीन प्रकार से किया गया है—

(१) इस सूत्र में पिछले 'घसिभसोर्हलि च' (६.४.१००) सूत्र से 'हलि' की अनुवृत्ति आती है । उसे षष्ठ्यन्ततया विपरिणत कर 'हु और झलन्त से परे हलादि हि को धि आदेश हो ऐसा अर्थ कर लिया जाता है । 'रुदिहि' आदि में 'हि' तो है पर हलादि नहीं इट् का आगम हो कर वह अजादि बन चुका है । अतः धि आदेश नहीं होता ।

(२) 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' (प०) इस परिभाषा के अनुसार सूत्र में साक्षात् निर्दिष्ट को ही कार्य हुआ करते हैं अन्य को नहीं । सूत्र में 'हि' का ही निर्देश है और वह 'रुदिहि' आदि में इट् से व्यवहित है अतः यहां 'हि' को 'धि' नहीं होता ।

(३) कई वैयाकरणों का यह विचार है कि 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' सूत्र में 'हि' और

---

१. अजी 'हु' से परे 'हि' को 'धि' करना तो ठीक प्रतीत होता है पर झल् से परे उस की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि 'अद्धि' आदि प्रयोग 'झयो होऽन्यतरस्याम्' (७५) से भी सिद्ध हो सकते हैं । इस का उत्तर यह है कि 'झयो होऽन्यतरस्याम्' सूत्र विकल्प करता है तब पक्ष में 'अद्हि' रूप भी मानना पड़ेगा जो सर्वथा अनिष्ट है । किञ्च झय्प्रत्याहार में श्, ष्, स् के न आने से तब शास्, शिष्, पिष् आदि धातुओं के 'शाधि, शिण्ढि, पिण्ढि' आदि रूप भी न बन सकेंगे ।

'धि' दोनों स्थानों पर इकार उच्चारणार्थक है। सूत्र का अर्थ है—हु और झलन्त से परे हकार को धकार हो। 'रुदिहि' आदि में झल् से परे हकार के न होने से धकार आदेश नहीं होता। इन सब का संग्रह यथा—

"हलोऽनुवर्त्तनाद्वापि निर्दिश्यमानतोऽथवा।
हुस्य धत्वं भवेच्चेति रुदिहीति न दोषभाक्[1]॥"

आशीर्लोट् म० पु० के एकवचन में सिप् को 'हि' आदेश तथा शप् का लुक् हो कर—अद्+हि। अब 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (५५६) से धित्व तथा 'तुह्योः०' (४१२) से तातङ् युगपत् प्राप्त होते हैं। दोनों स्वस्वस्थानों में सावकाश हैं। धित्व का अवकाश है विधिलोट् तथा तातङ् का अवकाश 'भवतात्' आदि है। इस पर 'विप्रतिषेधे०' (११३) से परत्व के कारण तातङ् आदेश हो कर चर्त्व करने से 'अत्तात्' प्रयोग सिद्ध होता है। तातङ् कर चुकने पर स्थानिवद्भाव के कारण उसे 'हि' मान कर पुनः धित्व क्यों न हो? इस शङ्का का समाधान यह है कि 'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव'। अर्थात् विप्रतिषेध की एक बार गति-प्रवृत्ति होती है उस में जो बाधित हो जाता है वह सदा के लिये बाधित हो जाता है, दुबारा उस की प्रवृत्ति नहीं हुआ करती।

लोट् के उ० पु० के एकवचन में 'मेर्निः' (४१७) से मि को नि आदेश, 'आडुत्तमस्य०' (४१८) से उसे आट् का आगम, शप् तथा शप् का लुक् हो कर 'अदानि' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि आट् के आगम का फल 'अदानि' आदि में ही प्रकट होता है, भ्वादिगण में तो शप् के अकार के साथ इस का सवर्णदीर्घ करना पड़ता था। लोट् में रूपमाला यथा—अत्तु-अत्तात्, अत्ताम्, अदन्तु। अद्धि-अत्तात्, अत्तम्, अत्त। अदानि, अदाव, अदाम।

लँङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, 'इतश्च' (४२४) से इकारलोप, शब्लुक् तथा 'आडजादीनाम्' (४४४) से आट् का आगम हो कर 'आ+अद्+त्' हुआ। अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (५५७) अदः सर्वेषाम् ।७।३।१००॥

---

१. यहां पर चौथा समाधान यह भी हो सकता है कि 'रुद्+हि' इस अवस्था में धित्व और इट् युगपत् प्राप्त होते हैं। दोनों अपने अपने स्थानों पर सावकाश हैं (धित्व 'अद्धि' आदि में तथा इट् 'रोदिति' आदि में सावकाश है)। तब 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) के अनुसार परत्व के कारण इट् हो जाता है। अब यदि धित्व प्राप्त भी हो तो 'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव' (प०) के अनुसार वह दुबारा प्रवृत्त नहीं हो सकता। सिद्धान्तकौमुदी में श्रीभट्टोजिदीक्षित ने 'परत्वाद् इटि धित्वं न' लिख कर इसी समाधान की ओर संकेत किया है।

अदः परस्य अपृक्तसार्वधातुकस्य अट् स्यात् सर्वमतेन । आदत्, आत्ताम्, आदन् । आदः, आत्तम्, आत्त । आदम्, आद्व, आद्म । अद्यात्, अद्याताम्, अद्युः । अद्यात्, अद्यास्ताम्, अद्यासुः ॥

अर्थः—अद् धातु से परे अपृक्त सार्वधातुक को अट् का आगम हो सब आचार्यों के मत से ।

व्याख्या—अदः ।५।१। सर्वेषाम् ।६।३। अपृक्तस्य ।६।१। ('अस्तिसिचोऽपृक्ते' से विभक्तिविपरिणाम कर के[1]) । सार्वधातुकस्य ।६।१। ('तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके' से विभक्तिविपरिणाम कर के)।अट् ।१।१। ('अड् गार्ग्यगालवयोः' से)।अर्थः—(अदः) अद् धातु से परे (अपृक्तस्य सार्वधातुकस्य) अपृक्त सार्वधातुक का अवयव (अट्) अट् हो जाता है (सर्वेषाम्) सब आचार्यों के मत में । इस सूत्र से पीछे अष्टाध्यायी में गार्ग्य और गालव आचार्यों के मत की चर्चा चल रही थी, कहीं यहां भी विद्यार्थी उन के मत में ही अट् का आगम समझ कर विकल्प न कर दें अतः 'सर्वेषाम्' कहा गया है । टित् होने से अट् का आगम अपृक्त-सार्वधातुक का आद्यवयव बनता है ।

'आ+अद्+त्' यहां पर 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' (१७८) से 'त्' अपृक्त है, किञ्च 'तिङ्शित्सार्व०' (३८६) द्वारा सार्वधातुक भी है अतः प्रकृतसूत्र से इसे अट् का आगम हो कर—आ+अद्+अट् त् । अब अनुबन्धलोप हो कर 'आटश्च' (१६७) द्वारा वृद्धि करने से 'आदत्' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार म० पु० के एकवचन में जब सिप् का 'स्' रह जाता है तब उसे अट् का आगम हो कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग करने पर 'आदः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ताम्, तम्, त में चर्त्व हो जाता है । लँङ् में रूपमाला यथा—आदत्, आत्ताम्, आदन् । आदः, आत्तम्, आत्त । आदम्, आद्व, आद्म ।

वि० लिँङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, 'इतश्च' (४२४) से इकारलोप, यासुट्, शप् तथा शप् का लुक् हो कर—अद्+यास्+त् । यहां लिँङ् के सार्वधातुक होने के कारण 'लिँङः सलोपः०' (४२७) से अनन्त्य सकार का लोप करने पर 'अद्यात्' प्रयोग सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि यहां शप् का अकार न मिलने से 'अतो येयः' (४२८) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता । रूपमाला यथा—अद्यात्, अद्याताम्, अद्युः ('उस्यपदान्तात्') । अद्याः, अद्यातम्, अद्यात । अद्याम्, अद्याव, अद्याम ।

आ०लिँङ् में 'अद्+यास्+त्' इस स्थिति में लिँङाशिषि' (४३१) से आ० लिँङ् के आर्धधातुक होने के कारण 'लिँङः सलोपः०' (४२७) से सकार का लोप नहीं होता । 'स्कोः०' (३०६) से संयोगादि सकार का लोप हो कर 'अद्यात्' रूप सिद्ध हो

---

१. 'गुणोऽपृक्ते' इत्यतोऽपृक्तग्रहणमनुवर्त्तत इत्युद्घुष्यन्तो बालमनोरमाकाराः श्रीवासुदेवदीक्षिता अत्र भ्रान्ताः ।

जाता है। इसी प्रकार सिप् में 'अद्याः' रूप बनता है [वि० लिँङ् और आ० लिँङ् दोनों के तिप् और सिप् प्रत्ययों में 'अद्यात्' और 'अद्याः' रूप बनते हैं परन्तु प्रक्रिया में बड़ा अन्तर है—इसे ध्यान में रखना चाहिये]। रूपमाला यथा—अद्यात्, अद्यास्ताम्, अद्यासुः। अद्याः, अद्यास्तम्, अद्यास्त। अद्यासम्, अद्यास्व, अद्यास्म।

लुँङ् में घस्लृँ आदेश करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५५८) लुँङ्-सनोर्घस्लृँ ।२।४।३७।।

अदो घस्लृँ स्याल्लुँङि सनि च। लृदित्त्वादङ्—अघसत्। आत्स्यत्।।

अर्थः—लुँङ् या सन् प्रत्यय परे होने पर अद् के स्थान पर घस्लृँ आदेश हो।

व्याख्या—लुँङ्-सनोः ।७।२। घस्लृँ ।१।१। (अविभक्तिको निर्देशः) अदः ।६।१। ('अदो जग्धिर्ल्यप्ति०' से)।अर्थः—(लुँङ्-सनोः) लुँङ् या सन् परे हो तो (अदः) अद् के स्थान पर (घस्लृँ) घस्लृँ आदेश हो। 'घस्लृँ' में अनुनासिक लृकार इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'घस्' मात्र अवशिष्ट रहता है। अनेकाल् होने से यह आदेश अद् के स्थान पर सर्वादेश होता है। इसे लृदित् करने का फल 'पुषादि०' (५०७) द्वारा च्लि को अङ् करना है।

लुँङ्—अद् धातु से लुँङ्, प्र० पु० के एकवचन में तिप्, इकारलोप तथा प्रकृत-सूत्र से अद् को घस्लृँ आदेश हो कर—घस्+त्। अब 'च्लि लुँङि' (४३७) से च्लि, 'पुषादि०' (५०७) से च्लि को अङ् तथा 'लुँङ्लँङ्लृँङ्क्ष्वडुदात्तः' (४२३) से अङ्ग को अट् का आगम करने पर 'अघसत् प्रयोग सिद्ध होता है[1]। ध्यान रहे कि 'गम-हनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' (५०५) में 'अनङि' कहा गया है अतः यहां अङ् परे रहते उपधालोप नहीं होता। लुँङ् में रूपमाला यथा—अघसत्, अघसताम्, अघसन्। अघसः, अघसतम्, अघसत। अघसम्, अघसाव, अघसाम।

सन् का उदाहरण—अत्तुमिच्छति जिघत्सति। यहां 'सः स्यार्धधातुके' (७०७) से घस् के सकार को तकार हो जाता है। विशेष सिद्धि सन्नन्त-प्रक्रिया में देखें।

शङ्का—धातुपाठ के भ्वादिगण में 'घस्लृँ अदने' धातु पढ़ी गई है, उस का लुँङ् में 'अघसत्' तथा सन् में 'जिघत्सति' रूप स्वतः बन जाता है। अतः इन रूपों के लिये 'लुँङ्सनोर्घस्लृँ' सूत्र बनाना व्यर्थ है।

समाधान—यदि सूत्र निर्माण न करते तो अद् का लुँङ् आदि में 'आत्सीत्' आदि अनिष्ट रूप बन जाता। अतः उस की निवृत्ति के लिये सूत्रनिर्माण आवश्यक है।

---

१. अट् या आट् का आगम बाद में ही करना विद्यार्थियों के लिये उचित है। यदि यहां इस आगम को पहले करते तो अद् धातु के अजादि होने के कारण 'आडजादीनाम्' (४४४) से आट् का आगम करना पड़ता तब 'आघसत्' यह अनिष्ट रूप बन जाता।

लृङ्—आत्स्यत्, आत्स्यताम्, आत्स्यन् । आत्स्यः, आत्स्यतम्, आत्स्यत । आत्स्यम्, आत्स्याव, आत्स्याम ।

[लघु०] हन हिंसा-गत्योः ॥२॥ हन्ति ॥

अर्थः—हन् धातु 'हिंसा करना-मारना तथा गमन करना' अर्थों में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—'हिंसा करना' अर्थ में यह धातु अत्यन्त प्रसिद्ध है । 'गमन करना' अर्थ में इस का प्रयोग प्राचीन साहित्य में अनेक स्थानों पर उपलब्ध होता है[1] परन्तु आलङ्कारिक लोग गमन अर्थ में इस के प्रयोग को दोषावह मानते हैं[2] । गणितशास्त्र में इस धातु का 'गुणा करना' अर्थ बहुत प्रचलित है । गुण्यान्तमङ्कं गुणकेन हन्यात्—लीलावती । गुणन भी एक प्रकार का गमन ही है ।

लँट्—हन् धातु से लँट्, तिप्, शप् तथा 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (५५२) से शप् का लुक् करने पर—हन्+ति । अब 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' (७८) से अपदान्त नकार को अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (७९) से अनुस्वार को पर-सवर्ण-नकार करने पर 'हन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है । प्र० पु० के द्विवचन तस् में शप् का लुक् हो कर 'हन्+तस्' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५५९) अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनामनुनासिक लोपो झलि क्ङिति ।६।४।३७॥

अनुनासिकान्तानामेषां[3] वनतेश्च लोपः स्यात्, झलादौ किति ङिति च परे । यमि-रमि-नमि-गमि-हनि-मन्यतयोऽनुदात्तोपदेशाः । तनुँ, क्षणुँ, क्षिणुँ, ऋणुँ, तृणुँ, घृणुँ, वनुँ, मनुँ—तनोत्यादयः । हतः, घ्नन्ति । हंसि, हथः, हथ । हन्मि, हन्वः, हन्मः । जघान, जघ्नतुः, जघ्नुः ॥

अर्थः—वन् धातु का तथा अनुनासिकान्त अनुदात्तोपदेश धातुओं और अनुनासिकान्त तनोत्यादि धातुओं का लोप हो झलादि कित् ङित् परे हो तो ।

---

१. यथा रामायण में—'किं नु कार्यं हतस्येह' (अयोध्या० ७.३.२) हतस्य—दुःख प्रापितस्य (तिलकटीका); महाभारत में—'ब्राह्मणो हन्तुमर्हति' (उद्योग० ४२.३५) हन्तुम्—गन्तुम् (नीलकण्ठीटीका) । 'तुरगखुरहतस्तथा हि रेणुः' (शाकुन्तल १.३४) यहां पर हन् धातु गमनार्थक है ।

२. 'कुञ्जं हन्ति कृशोदरी' (साहित्यदर्पण सप्तमपरिच्छेद) 'सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति सम्प्रति सादरम्' (काव्यप्रकाश सप्तमोल्लास) इन स्थानों पर आलङ्कारिकों ने असमर्थत्वदोष माना है ।

३. एषाम्—अनुदात्तोपदेशानां तनोत्यादीनाञ्चेत्यर्थः ।

व्याख्या — अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनाम् ।६।३। अनुनासिक ।६।३। (लुप्तविभक्तिको निर्देशः)। लोपः ।१।१। झलि ।७।१। क्ङिति ।७।१। अनुदात्त उपदेशे येषां ते — अनुदात्तोपदेशाः, बहुव्रीहि० । तनोतिरादिर्येषान्ते — तनोत्यादयः, बहुव्रीहि० । अनुदात्तोपदेशाश्च वनतिश्च तनोत्यादयश्च तेषाम् — अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्, इतरेतरद्वन्द्व० । 'अनुनासिक' यह लुप्तषष्ठ्यन्त पद अनुदात्तोपदेशों तथा तनोत्यादियों का विश्लेषण है[1], विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अनुनासिकान्तानाम्' बन जाता है। क् च ङ् च क्ङौ, क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित्, तस्मिन् क्ङिति, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहि० । 'झलि' पद 'क्ङिति' का विशेषण है। 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' (प०) से तदादि-विधि हो कर 'झलादौ क्ङिति' बन जाता है। अर्थः—(अनुनासिक = अनुनासिका-न्तानाम्) अनुनासिक वर्ण जिन के अन्त में है ऐसे (अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनाम्) अनुदात्तोपदेशों तथा तनोत्यादि धातुओं का किञ्च वन् धातु का (लोपः) लोप हो जाता है (झलि = झलादौ) झलादि (क्ङिति) कित् ङित् परे हो तो। षष्ठी होने से यह लोप अलोऽन्त्यपरिभाषा द्वारा अन्त्य अल् अर्थात् अनुनासिक वर्ण का ही होता है। अनुदात्तोपदेश धातु पीछे (४७५ पर) गिना चुके हैं, उन में अनुनासिकान्त अनुदात्तो-पदेश धातु छः हैं - (१) यम्, (२) रम्, (३) नम्, (४) गम्, (५) हन्, (६) मन्य अर्थात् दिवादिगणीय मन् धातु। वन् धातु भ्वादिगण में 'शब्द करना, सेवा करना, हिंसा करना' आदि अर्थों में पढ़ी गई है, उसी का यहां ग्रहण अभीष्ट है[2]। अनुना-सिकान्त तनोत्यादि (तनादिगणपठित) धातु आठ हैं[3]—(१) तनुँ, (२) क्षणुँ, (३) क्षिणुँ, (४) ऋणुँ, (५) तृणुँ, (६) घृणु, (७) वनुँ, (८) मनुँ। इस प्रकार कुल मिला कर पन्द्रह धातुओं के अन्त्य अनुनासिक वर्ण का झलादि कित् ङित् परे होने पर लोप हो जाता है। उदाहरण यथा—

(१) यम् (रोकना)—यतः (क्त), यतवान् (क्तवतुँ), यत्वा (क्त्वा)।
(२) रम् (खेलना)—रतः (क्त), रतवान् (क्तवतुँ), रत्वा (क्त्वा)।
(३) नम् (झुकना)—नतः, नतवान्, नत्वा।
(४) गम् (जाना) — गतः, गतवान्, गत्वा।

---

१. वन् धातु स्वतः अनुनासिकान्त है अतः व्यावर्त्य न होने से इसे उस का विशेषण बनाने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि अव्यभिचार में विशेषण नहीं होता— 'सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत्'।

२. 'वनुँ याचने' धातु तनोत्यादियों में भी पठित है, यहां पर 'वन्' से उस का ग्रहण अभीष्ट नहीं, क्योंकि वह तो तनोत्यादित्वेन गृहीत है ही।

३. तनोत्यादिगण में 'षणुँ' धातु भी अनुनासिकान्त पढ़ी गई है परन्तु 'जन-सनखनां सञ्झलोः' (६७६) द्वारा उस में आत्व का विशेष विधान किया है अतः उस का यहां ग्रहण नहीं किया गया।

(५) हन् (मारना)—हतः, हतवान्, हत्वा ।
(६) मन्य (मानना-जानना)—मतः, मतवान्, मत्वा ।
(७) वन् (शब्द करना, सेवा करना, हिंसा करना)—वतिः (क्तिन्)[1] ।
(८) तनुँ (विस्तार करना)—ततः, ततवान्, तत्वा[2] । अतत, अतथाः[3] ।
(९) क्षणुँ (हिंसा करना)—क्षतः, क्षतवान्, क्षत्वा । अक्षत, अक्षथाः ।
(१०) क्षिणुँ (हिंसा करना)—क्षितः, क्षितवान्, क्षित्वा । अक्षित, अक्षिथाः ।
(११) ऋणुँ (जाना)—ऋतः, ऋतवान्, ऋत्वा । आर्त, आर्थाः ।
(१२) तृणुँ (खाना)—तृतः, तृतवान्, तृत्वा । अतृत, अतृथाः ।
(१३) घृणुँ (चमकना)—घृतः, घृतवान्, घृत्वा । अघृत, अघृथाः ।
(१४) वनुँ (मांगना)—वतः, वतवान्, वत्वा । अवत, अवथाः ।
(१५) मनुँ (जानना)—मतः, मतवान्, मत्वा । अमत, अमथाः ।

अनुदात्तोपदेश धातुओं के साथ 'अनुनासिकान्त' विशेषण इस लिये लगाया गया है कि 'मुक्तः, मुक्तवान्' इत्यादियों में मकार का लोप न हो जाये, क्योंकि मुच् धातु भी उपदेश में अनुदात्त है । तनोत्यादियों के साथ यह विशेषण 'डुकृञ् करणे' धातु की निवृत्ति के लिये है ।

'झलादि' कहने से 'गम्यते, नम्यते, हन्यते' आदि में यक् के परे होने पर लोप नहीं होता । 'कित् ङित्' कहने से 'हन्ति' आदि में लोप नहीं होता ।

'हन् + तस्' यहां हन् धातु अनुनासिकान्त अनुदात्तोपदेश है । 'सार्वधातुकमपित्' (५००) के अनुसार तस् प्रत्यय ङित् है और यह झलादि भी है अतः प्रकृतसूत्र से हन् के अन्त्य अल्-नकार का लोप हो कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग करने से 'हतः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

प्र० पु० के बहुवचन में शब्लुक् तथा 'झोऽन्तः' (३८९) से झ् को अन्त् आदेश हो कर—हन् + अन्ति । यहां झलादि न होने के कारण अनुनासिकलोप नहीं होता । अब 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' (५०५) से उपधालोप हो कर नकार परे

---

१. 'ति-तु-त्र०' (८४५) से इट् का निषेध हो जाता है । क्तिच् प्रत्यय में—वन्तिः, यहां पर 'न क्तिचि दीर्घश्च' (६.४.३९) से अनुनासिकलोप का निषेध हो जाता है । अन्यत्र झलादिप्रत्ययों में धातु के सेट् होने से सर्वत्र इट् हो जाता है अतः इट् का व्यवधान हो जाने से अनुनासिकलोप का उदाहरण नहीं मिलता ।

२. 'उदितो वा' (८८२) से क्त्वा में इट् का विकल्प होता है । इट् के अभाव में अनुनासिकलोप समझना चाहिये । निष्ठा में 'यस्य विभाषा' (७.२.१५) से इट् का निषेध हो जायेगा ।

३. ये लुङ् के रूप हैं और झलादि ङित् के उदाहरण हैं । इन की सिद्धि तनादिगण में देखें । इसी प्रकार आगे भी समझ लें ।

रहने के कारण 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' (२८७) से हकार को घकार आदेश करने से 'घ्नन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है।

म० पु० के एकवचन में नकार को केवल अनुस्वार हो जाता है। यय् परे न होने से परसवर्ण नहीं होता—हंसि। उत्तमपु० में झल् परे न होने से अनुस्वार भी नहीं होता। लँट् में रूपमाला यथा—हन्ति, हतः, घ्नन्ति। हंसि, हथः, हथ। हन्मि, हन्वः, हन्मः।

लिंट्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, णल्, द्वित्व, हलादिशेष, 'कुहोश्चुः' (४५४) से अभ्यास के हकार को झकार तथा 'अभ्यासे चर्च' (३९९) से झकार को जकार हो कर—जहन्+अ। यहां पर णल् णित् है अतः उस के परे होने पर 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' (२८७) से हकार को घकार तथा 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधा-वृद्धि करने पर 'जघान' रूप सिद्ध होता है। द्विवचन में 'जहन्+अतुस्' इस स्थिति में 'असंयोगाल्लिंट् कित्' (४५२) से अतुस् कित् है, अतः 'गमहनजनखन०' (५०५) से उपधालोप, तथा नकार परे होने के कारण 'हो हन्तेः०' (२८७) से हकार को कुत्व-घकार आदेश करने पर—जघ्नतुः। इसी प्रकार बहुवचन में—जघ्नुः।

म० पु० एकवचन थल्—हन् धातु पीछे अनुदात्तों में पढ़ी गई है अतः अनिट् है। लिंट्मात्र में क्रादिनियम से इट् प्राप्त होता है। 'उपदेशेऽत्वतः' (४८१) से थल् में उस का निषेध हो जाता है, परन्तु भारद्वाजनियम से पुनः विकल्प हो जाता है। इस प्रकार थल् में यह धातु वेट् तथा अन्यत्र लिंट् में सेट् हो जाती है। थल् में इट् करने पर 'जहन्+इथ' तथा इट् के अभाव में जहन्+थ'। अब इन दोनों स्थानों पर हकार को घकार करना है परन्तु ञित् णित् या नकार इन में से किसी के भी परे न रहने से वह 'हो हन्तेः०' (२८७) से सिद्ध नहीं हो सकता। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५६०) अभ्यासाच्च ।७।३।५५।।

अभ्यासात् परस्य हन्तेर्हस्य कुत्वं स्यात्। जघनिथ-जघन्थ, जघ्नथुः, जघ्न। जघान-जघन, जघ्निव, जघ्निम। हन्ता। हनिष्यति। हन्तु-हतात्, हताम्, घ्नन्तु ।।

अर्थः—अभ्यास से परे भी हन् धातु के हकार के स्थान पर कवर्ग आदेश हो।

व्याख्या—अष्टाध्यायी में इस से पिछले 'हो हन्तेः०' (७.३.५४) सूत्र में ञित् णित् या नकार परे होने पर हन् के हकार को कवर्गादेश कहा गया है। अब इस सूत्र द्वारा अभ्यास से परे भी कवर्गादेश विधान किया जाता है। यहां पर 'च' का ग्रहण पूर्वविषय के संग्रह के लिये है। अभ्यासात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। हन्तेः ।६।१। हः ।६।१। ('हो हन्तेः०' से)। कु ।१।१। ('चजोः कु०' से)। अर्थः—(अभ्यासात्) अभ्यास

से परे (च) भी (हन्तेः) हन् धातु के (हः) हकार के स्थान पर (कु) कवर्ग आदेश हो जाता है। हकार के स्थान पर आन्तरतम्य से घकार ही कवर्गादेश होता है—यह पीछे (२८७) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं।

'जहन्+इथ, जहन्+थ' इन दोनों स्थानों पर प्रकृतसूत्र द्वारा अभ्यास से परे हन् के हकार को कुत्व-घकार आदेश हो कर इट्पक्ष में 'जघनिथ' तथा इट् के अभाव में अनुस्वार और परसवर्ण करने पर 'जघन्थ' रूप सिद्ध होता है।

लिँट् उत्तमपु० का एकवचन णल् 'णलुत्तमो वा' (४५६) सूत्र से विकल्प कर के णित् होता है। णित्वपक्ष में 'हो हन्तेः०' (२८७) से तथा णित्वाभाव में 'अभ्यासाच्च' (५६०) से कुत्व घकार हो कर 'जघान-जघन' दो रूप बनते हैं। लिँट् में रूपमाला यथा—जघान, जघ्नतुः, जघ्नुः। जघनिथ-जघन्थ, जघ्नथुः, जघ्न। जघान-जघन, जघ्निव, जघ्निम।

लुँट्—में 'एकाच उपदेशे०' (४७५) से सर्वत्र इट् का निषेध हो कर अनुस्वार और परसवर्ण हो जाता है—हन्ता, हन्तारौ, हन्तारः। हन्तासि, हन्तास्थः, हन्तास्थ। हन्तास्मि, हन्तास्वः, हन्तास्मः।

लृँट्—में 'ऋद्धनोः स्ये' (४६७) से सर्वत्र इट् का आगम हो जाता है—हनिष्यति, हनिष्यतः, हनिष्यन्ति। हनिष्यसि, हनिष्यथः, हनिष्यथ। हनिष्यामि, हनिष्यावः, हनिष्यामः।

लोँट्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, शब्लुक्, एरुः, पूर्ववत् अनुस्वार तथा परसवर्ण करने पर—हन्तु। आशीर्लोँट् में तु को तातङ् आदेश हो कर उस के ङित् होने के कारण 'अनुदात्तोपदेशवनति०' (५५९) द्वारा अनुनासिक-नकार का लोप हो जाता है—हतात्।

मध्यमपु० के एकवचन में सिप्, उसे हि आदेश, शप् तथा शब्लुक् हो कर 'हन्+हि' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५६१) हन्तेर्जः ।६।४।३६॥

हौ परे॥

अर्थः—'हि' परे होने पर हन् के स्थान पर 'ज' आदेश हो।

व्याख्या—हन्तेः ।६।१। जः ।१।१ हौ ।७।१। ('शा हौ' से)। अर्थः—(हौ) 'हि' परे होने पर (हन्तेः) हन् धातु के स्थान पर (जः) 'ज' आदेश हो जाता है। 'ज' आदेश सस्वर है अतः अनेकाल् होने के कारण हन् के स्थान पर सर्वादेश होता है।

'हन्+हि' यहां 'हि' परे है अतः प्रकृतसूत्र से हन् को 'ज' आदेश हो कर—ज+हि। अब यहां 'अतो हेः' (४१६) से 'हि' का लुक् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—(५६२) असिद्धवदत्राऽऽभात् ।६।४।२२॥

इत ऊर्ध्वम् आपादसमाप्तेराभीयम् । समानाश्रये तस्मिन्[1] कर्त्तव्ये तद्[2] असिद्धम् । इति जस्याऽसिद्धत्वान्न हेर्लुक् । जहि-हतात्, हतम्, हत । हनानि, हनाव, हनाम । अहन्, अहताम्, अघ्नन् । अहन्, अहतम्, अहत । अहनम्, अहन्व, अहन्म । हन्यात्, हन्याताम्, हन्युः ॥

अर्थः—यहां से लेकर 'भस्य' (६.४.१२९) अधिकार की समाप्ति तक होने वाले कार्यों को 'आभीय' कार्य कहते हैं । किसी आश्रय को ले कर यदि कोई आभीय कार्य हो चुका हो तो पुनः उसी आश्रय को ले कर होने वाले दूसरे आभीय कार्य की दृष्टि में वह पहला आभीय कार्य असिद्ध हो जाता है ।

व्याख्या—असिद्धवत् इत्यव्ययपदम् । अत्र इत्यव्ययपदम् । आ इत्यव्ययपदम् । भात् ।५।१। यह अधिकारसूत्र है । इस की अवधि 'आभात्' बताई गई है अर्थात् भाऽधिकार की समाप्ति तक[3] । इसी पाद में आगे 'भस्य' (६.४.१२९) का अधिकार प्रारम्भ किया गया है जो पाद की समाप्ति तक जाता है । इस प्रकार इस सूत्र का अधिकार भी षष्ठाध्याय के चतुर्थपाद की समाप्ति तक समझना चाहिये । 'अत्र' में निमित्तसप्तम्यन्त से त्रल् हुआ है, इस तरह समानाश्रयत्व प्राप्त हो जाता है । अर्थः—(आभात्) यहां से आगे 'भस्य' (६.४.१२९) अधिकार की समाप्ति अर्थात् पाद की समाप्ति तक जो कार्य कहेंगे वह (अत्र) समानाश्रय वाले दूसरे आभीय कार्य के करने में (असिद्धवत्) असिद्धवत् अर्थात् निष्पन्न हुआ भी न किये गये के समान होता है । तात्पर्य यह है कि दो आभीय कार्यों में से यदि किसी निमित्त को लेकर एक आभीय कार्य प्रवृत्त हो चुका होगा तो पुनः उसी निमित्त को लेकर प्राप्त होने वाला दूसरा आभीय कार्य उस प्रथम कार्य को असिद्ध समझेगा । उदाहरण यथा—

'ज+हि' यहां पर 'हन्तेर्जः' (५६१) से 'हि' का आश्रय कर के हन् के स्थान पर 'ज' आदेश किया गया है । इधर इसी 'हि' का आश्रय कर के 'अतो हेः' (४१६) से 'हि' का लुक् प्राप्त होता है । ये दोनों आभीय कार्य हैं । इस पर प्रकृतसूत्र से 'अतो हेः' (४१६) की दृष्टि में पहले किया गया 'हन्तेर्जः' (५६१) सूत्र का कार्य असिद्ध हो जाता है । उस के असिद्ध होने से 'अतो हेः' (४१६) सूत्र को 'ज' की जगह

---

१. तस्मिन्=आभीये ।

२. तद्=आभीयम् ।

३. 'आभात्' में 'आङ्' का अभिविधि अर्थ में प्रयोग किया गया है । भाऽधिकारम् अभिव्याप्येत्यर्थः । इसी 'आभ' शब्द से 'तत्र भवः' (१०८९) के अर्थ में छप्रत्यय करने पर 'आभीय' शब्द निष्पन्न होता है । आभीय अर्थात् भाऽधिकार की समाप्ति तक पाया जाने वाला कार्य व सूत्रादि ।

'हन्' दिखाई देता है। तब अदन्त न होने से उसकी प्रवृत्ति नहीं होती—'जहि' रूप अक्षुण्ण रहता है।

दूसरा उदाहरण—अस् धातु के लोँट् के मध्यमपु० के एकवचन में सिप्, शप्, शब्लुक् तथा सि को हि आदेश हो कर 'अस्+हि' इस स्थिति में 'श्नसोरल्लोपः' (५७४) से अस् के अकार का लोप हो जाता है। तब 'स्+हि' इस दशा में 'हि' का आश्रय कर के 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' (५७७) सूत्र से सकार को एकार आदेश करने पर 'ए+हि' हुआ। अब यहां 'हि' का पुनः आश्रय कर के दूसरा आभीयकार्य 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (५५६) द्वारा 'हि' को 'धि' आदेश करना है, परन्तु झल् के न रहने से वह हो नहीं सकता। इस पर प्रकृतसूत्र से पहले किया गया एत्वरूप आभीयकार्य असिद्ध हो जाता है। इस से 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (५५६) को यहां झल् दिखाई देता है एकार नहीं, तो वह प्रवृत्त हो कर 'हि' को 'धि' कर देता है। इस प्रकार 'एधि' रूप सिद्ध हो जाता है। इत्थम्—शास् के लोँट् में 'शाधि' की सिद्धि में इस सूत्र का उपयोग होता है। इस के लिये सिद्धान्तकौमुदी में 'शासुँ अनुशिष्टौ' धातु देखें।

इस असिद्ध प्रकरण में दो बातें आवश्यक हैं—(१) दोनों कार्य (असिद्ध होने वाला प्रथम कार्य तथा जिसकी दृष्टि में असिद्ध होना है—वह दूसरा कार्य) आभीय होने चाहियें। (२) दोनों आभीय कार्यों का एक ही निमित्त को आश्रय करना चाहिये।

नोट—विद्यार्थियों को यह सूत्र यहां परिश्रमपूर्वक समझ लेना चाहिये। परीक्षक प्रायः इसे प्रष्टव्य सूत्र समझते हैं।

आशीर्वाद में सिप् को हि आदेश हो कर 'हन्+हि' इस अवस्था में नित्य होने से प्रथम तातङ् आदेश हो जाता है—हन्+तात्। अब स्थानिवद्भाव से यद्यपि तातङ् को हि मान कर 'हन्तेर्जः' (५६१) की प्राप्ति होती है तथापि परत्व के कारण 'अनुदात्तोपदेश०' (५५९) से नकार का लोप हो कर 'हतात्' प्रयोग सिद्ध होता है।

उत्तमपु० में आट् का आगम विशेष है। लोँट् की रूपमाला यथा—हन्तु, हतात्, हताम्, घ्नन्तु। जहि-हतात्, हतम्, हत। हनानि, हनाव, हनाम।

लँङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, शप् का लुक्, 'इतश्च' (४२४) से इकारलोप तथा 'लुंङ्लँङ्०' (४२३) से अट् का आगम हो कर 'अहन्+त्' इस स्थिति में 'हल्ङ्याब्भ्यः०' (१७९) से अपृक्त तकार का लोप करने पर 'अहन्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि 'अहन्' की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा नहीं अतः 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) से नकार का लोप नहीं होता। द्विवचन में तस् को ताम् आदेश हो कर नकार का लोप करने से 'अहताम्' प्रयोग सिद्ध होता है। बहुवचन में झि को अन्त् आदेश, 'गमहनजन०' (५०५) से उपधालोप तथा 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' (२८७) से कुत्व हो कर 'अघ्नन्' रूप सिद्ध होता है। मध्यमपु० के एकवचन में सिप्, शप्, शब्लुक्, इकारलोप तथा अट् का आगम हो कर—अहन्+स्। अब 'हल्ङ्याब्भ्यः०'

(१७९) से अपृक्त सकार का लोप करने पर 'अहन्' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—अहन्, अहताम्, अघ्नन्, । अहन्, अहतम्, अहत । अहनम्, अहन्व, अहन्म ।

विधिलिङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, इतश्च, यासुट्, शप्, शप् का लुक् तथा सार्वधातुक के अवयव सकार का लोप हो कर—हन्यात् । रूपमाला यथा—हन्यात्, हन्याताम्, हन्युः । हन्याः, हन्यातम्, हन्यात । हन्याम्, हन्याव, हन्याम ।

आ० लिङ् की विवक्षा में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—(५६३) आर्धधातुके ।२।४।३५।।

इत्यधिकृत्य ।।

अर्थः—यह अधिकारसूत्र है। यहां से आगे (अष्टाध्यायी में) जो कार्य कहें वह आर्धधातुक की विवक्षा में हो।

व्याख्या—आर्धधातुके ।७।१। यहां 'आर्धधातुके' में विषयसप्तमी समझी जाती है। परसप्तमी नहीं[1] । यह अधिकारसूत्र है। इस का अधिकार 'ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः' (२.४.५८) सूत्र तक जाता है। अर्थः—(आर्धधातुके) यहां से आगे 'ण्यक्षत्रियार्ष०' सूत्र तक जो कार्य कहेंगे वे आर्धधातुक के विषय में अर्थात् आर्धधातुक प्रत्यय की विवक्षा में हों। तात्पर्य यह है कि ज्योंहि आर्धधातुक प्रत्यय लाने की इच्छा होगी तभी इस अधिकार के कार्य हो जायेंगे, प्रत्यय की उत्पत्ति बाद में होगी। यथा—'अस्तेर्भूः' (५७६) ; आर्धधातुक की विवक्षा में अस् को भू आदेश हो। बभूव, बभूवतुः, बभूवुः। 'ब्रुवो वचिः' (५९६) ; आर्धधातुक की विवक्षा में ब्रू को वच् आदेश हो। उवाच, ऊचतुः, ऊचुः। इन सब की सिद्धि आगे इसी गण में यथास्थान देखें।

---

१. यदि यहां परसप्तमी मानेंगे तो अनेक दोष उपस्थित हो जायेंगे। निदर्शनार्थ अस् (होना) धातु का 'भव्यम्' तथा ब्रू (बोलना) धातु का 'वाच्यम्' रूप न बन सकेगा। क्योंकि तब धातु से परे पहले आर्धधातुक प्रत्यय लाना पड़ेगा और तदनन्तर 'अस्तेर्भूः' और 'ब्रुवो वचिः' से भू और वच् आदेश होंगे। यदि पहले प्रत्यय करेंगे तो अस् धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' (७८०) से ण्यत् तथा ब्रू धातु से 'अचो यत्' (७७३) से यत् लाना पड़ेगा तब भू और वच् आदेश हो कर 'भाव्यम्' और 'वच्यम्' ये अनिष्ट रूप बन जायेंगे। परन्तु विषयसप्तमी मानने से कुछ दोष नहीं आता। आर्धधातुक की विवक्षा में पहले अस् को भू तथा ब्रू को वच् आदेश हो जायेगा। तब अजन्त होने के कारण भू से यत्, तथा हलन्त होने के कारण वच् से ण्यत् प्रत्यय होकर 'भव्यम्' और 'वाच्यम्' रूप बन जायेंगे। 'वध्यात्' में अतो लोपः' (४७०) द्वारा अकार का लोप भी तभी सम्भव हो सकता है यदि यहां विषयसप्तमी मानी जाये—यह सब आगे स्पष्ट है।

इस प्रकार 'आर्धधातुके' का अधिकार चला कर इस के अन्तर्गत प्रकृतोपयोगी सूत्रों का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५६४) हनो वध लिँङि ।२।४।४२।।
,, ,, (५६५) लुँङि च ।२।४।४३।।

वधादेशोऽदन्तः । आर्धधातुक इति विषयसप्तमी । तेन आर्धधातुकोपदेशेऽदन्तत्वाद् 'अतो लोपः' (४७०)—वध्यात् वध्यास्ताम् । अवधीत् । अहनिष्यत् ।।

अर्थः—आर्धधातुक लिँङ् की विवक्षा हो तो हन् के स्थान पर 'वध' आदेश होता है । लुँङ् की विवक्षा में भी हन् के स्थान पर वध आदेश होता है । 'वध' आदेश अदन्त है । इसलिये आर्धधातुक के उपदेश में 'अतो लोपः' (४७०) के द्वारा इस के अकार का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—हनः ।६।१। वध ।१।१। (लुप्तविभक्तिको निर्देशः)। लिँङि ।७।१। आर्धधातुके ।७।१। (अधिकृत है) । लुँङि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । 'हनो वध' इत्यनुवर्त्तते । अर्थः—(आर्धधातुके लिँङि) आर्धधातुक लिँङ् के विषय में (हनः) हन् के स्थान पर (वध) वध आदेश होता है । (लुँङि) लुँङ् के विषय में (च) भी हन् के स्थान पर वध आदेश हो जाता हैं । 'वध' आदेश अदन्त है हलन्त नहीं[1] । इसे अदन्त करने का फल लिँङ् में कुछ नहीं, क्योंकि वहां 'अतो लोपः' (४७०) से अन्त्य अकार का लोप हो जाता है । इस का फल लुँङ् में वृद्धि को रोकना है जो आगे सिद्धि में स्पष्ट है । अनेकाल् होने से वध आदेश सम्पूर्ण हन् के स्थान पर होता है ।

आशीर्लिँङ् की विवक्षा में प्रकृतसूत्र से हन् को वध आदेश हो कर बाद में लिँङ् की उत्पत्ति, तिप्, इकारलोप और यासुट् का आगम करने पर 'वध+यास् त्' हुआ । यहां 'लिङाशिषि' (४३१) से लिँङ् आर्धधातुक है अतः उस का अवयव होने से यासुट् का आगम भी आर्धधातुक है । आर्धधातुक के उपदेशकाल में 'वध' आदेश अदन्त था । इस से 'अतो लोपः' (४७०) द्वारा वध के अन्त्य अत् का लोप करने पर

१, न्यासकार श्रीजिनेन्द्रबुद्धि का कहना है कि आचार्य पाणिनि जहां आदेश को हलन्त करना चाहते हैं वहां उस का निर्देश उच्चारणार्थक इकार लगा कर किया करते हैं । यथा—ब्रुवो वचिः (५९६); वेञो वयिः (२.४.४१); णौ गमिरबोधने (२.४.४६) आदि । 'हनो वध लिँङि' में उन्होंने ऐसा नहीं किया, इस से स्पष्ट है कि वे इस आदेश को हलन्त करना नहीं चाहते अपितु अदन्त रखना चाहते हैं । 'वध' आदेश को अदन्त मानने के प्रायः दो लाभ प्रसिद्ध हैं—(१) इण्निषेध का न होना, (२) 'अतो हलादेर्लघोः' (४५७) द्वारा प्राप्त वृद्धि का वारण । इन दोनों का स्पष्टीकरण 'अवधीत्' की सिद्धि में देखें ।

संयोगादि सकार का लोप हो कर 'वध्यात्' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—वध्यात्, वध्यास्ताम्, वध्यासुः। वध्याः, वध्यास्तम्, वध्यास्त। वध्यासम्, वध्यास्व, वध्यास्म।

लुँङ्—की विवक्षा में 'लुँङि च' (५६५) सूत्र से हन् को वध आदेश हो जाता है। आदेश होने के बाद लुँङ् की उत्पत्ति होती है। प्र० पु० के एकवचन में तिप्, इकारलोप, च्लि तथा 'च्लेः सिँच्' (४३८) आदि कार्य हो कर—अवध+स्+त्। वध आदेश उपदेश में अनेकाच् है अतः इस से परे 'एकाच उपदेशे०' (४७५) से इट् का निषेध नहीं होता। अब सिँच् को इट् का आगम और उधर अपृक्त को ईट् का आगम करने पर—अवध+इस्+ईत्। पुनः 'अतो लोपः' (४७०) से वध आदेश के अन्त्य अकार का लोप तथा 'इट ईटि' (४४६) से सकारलोप और उसे सिद्ध मान कर सवर्णदीर्घ करने से 'अवधीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—अवधीत्, अवधिष्टाम्, अवधिषुः। अवधीः, अवधिष्टम्, अवधिष्ट। अवधिषम्, अवधिष्व, अवधिष्म।

नोट—ध्यान रहे कि 'अतो लोपः' (४७०) से अकार का लोप हो कर 'अवध्+इस्+ईत्' इस स्थिति में 'अगादीत्-अगदीत्' की तरह 'अतो हलादेर्लघोः' (४५७) से वैकल्पिक वृद्धि प्राप्त होती है। परन्तु 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' (६६६) सूत्र से अकारलोप को स्थानिवत् मान लेने से बीच में अकार आ जाता है इडादि सिँच् परे नहीं रहता अतः वृद्धि नहीं होती।

लृँङ्—में 'ऋद्धनोः स्ये' (४६७) से सर्वत्र इट् का आगम हो जाता है—अहनिष्यत्, अहनिष्यताम्, अहनिष्यन्। अहनिष्यः, अहनिष्यतम्, अहनिष्यत। अहनिष्यम्, अहनिष्याव, अहनिष्याम।

[लघु०] **यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः** ॥३॥

अर्थः—यु धातु 'मिलाना या अलग करना' अर्थों में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—आत्मनेपद के निमित्तों से हीन होने के कारण 'यु' धातु कर्तृवाच्य में परस्मैपदी है। यह धातु 'ऊदृदन्तैः०' कारिका में उदात्तों में परिगणित की गई है अतः इस से परे सर्वत्र इट् का आगम निर्बाध हो जाता है।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप् और उस का 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (५५२) से लुक् हो कर—यु+ति। अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५६६) **उतो वृद्धिर्लुकि हलि** ।७।३।८९॥

लुग्विषये उतो वृद्धिः पिति हलादौ सार्वधातुके, न त्वभ्यस्तस्य। यौति, युतः, युवन्ति। यौषि, युथः, युथ। यौमि, युवः, युमः। युयाव। यविता। यविष्यति। यौतु-युतात्। अयौत्, अयुताम्, अयुवन्। युयात्। इह

उतो वृद्धिर्न, भाष्ये—'पिच्च ङिन्न, ङिच्च पिन्न' इति व्याख्यानात् । युयाताम्, युयुः । यूयात्, यूयास्ताम्, यूयासुः । अयावीत् । अयविष्यत् ॥

अर्थः—लुक् के विषय में उदन्त अङ्ग को वृद्धि हो हलादि पित् सार्वधातुक परे हो तो । परन्तु अभ्यस्त को वृद्धि नहीं होती ।

व्याख्या—उतः ।६।१। वृद्धिः ।१।१। लुकि ।७।१। हलि ।७।१। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। अभ्यस्तस्य ।६।१। पिति ।७।१। सार्वधातुके ।७।१। न इत्यव्ययपदम् ('नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' से) । 'उतः' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'उदन्तस्याङ्गस्य' बन जाता है । 'हलि' पद 'सार्वधातुके' का विशेषण है अतः तदादिविधि हो कर 'हलादौ सार्वधातुके' बन जाता है । 'लुकि' में विषयसप्तमी है । अर्थः—(लुकि) लुक् के विषय में (उतः=उदन्तस्य) उदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि हो जाती है (हलि=हलादौ) हलादि (पिति) पित् (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे हो तो परन्तु (अभ्यस्तस्य) अभ्यस्त के स्थान पर यह वृद्धि (न) नहीं होती[1] । अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह वृद्धि उदन्त अङ्ग के अन्त्य अल्-उकार के स्थान पर ही होती है । तिप्, सिप् और मिप् ये तीन ही सार्वधातुकों में पित् हैं ।

'यु+ति' यहां शप् का लुक् हो चुका है अतः लुक् का विषय है । 'यु' यह उकारान्त अङ्ग है । इस से परे 'ति' यह हलादि पित् सार्वधातुक विद्यमान है । अतः प्रकृतसूत्र से उकार के स्थान पर औकार वृद्धि हो कर 'यौति' प्रयोग सिद्ध होता है । द्विवचन में 'यु+तस्=युतः' । यहां पित् न होने के कारण वृद्धि नहीं होती । 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा ङिद्वत् होने से इगन्तलक्षण गुण का भी निषेध हो जाता है । बहुवचन में झकार को अन्त् आदेश हो कर 'अचि श्नु०' (१९९) से धातु के उकार को उवँङ् हो जाता है—युवन्ति । मध्यमपु० के एकवचन सिप् में पित् होने के कारण वृद्धि तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व हो कर—यौषि । इसी प्रकार उत्तमपु० के एकवचन मिप् में—यौमि । लँट् में रूपमाला यथा—यौति, युतः, युवन्ति । यौषि, युथः, युथ । यौमि, युवः, युमः ।

लिँट्—तिप्, णल्, द्वित्व, 'अचो ञ्णिति' (१८२) से उकार को औकार वृद्धि तथा आवादेश करने पर—युयाव । अतुस् में 'असंयोगाल्लिँट्०' (४५२) से कित्व के कारण गुण का निषेध हो कर 'अचि श्नु०' (१८२) से उवँङ् आदेश हो जाता है—युयुवतुः । इसी प्रकार—युयुवुः । थल् में धातु के सेट् होने से निर्बाध इट् का आगम हो कर द्वित्व करने पर 'युयु+इथ' इस स्थिति में आर्धधातुकगुण तथा अवादेश हो

---

१. योयोति, नोनोति आदि में यङ्लुँक्प्रक्रिया में जब धातु अभ्यस्त हो जाती है तब वृद्धि नहीं होती ।

जाता है—युयविथ। रूपमाला यथा—युयाव, युयुवतुः, युयुवुः। युयविथ, युयुवथुः, युयुव। युयाव-युयव, युयुविव, युयुविम।

लुँट्—में सर्वत्र इट्, गुण और अवादेश हो जाता है—यविता, यवितारौ, यवितारः। लृँट्—यविष्यति, यविष्यतः, यविष्यन्ति।

लोँट्—प्र० पु० एकवचन में पूर्ववत् वृद्धि हो जाती है—यौतु। आ० लोँट् में 'तु' को 'तातङ्' आदेश हो जाता है—युतात्। यहां पर स्थानिवत्त्व के कारण यद्यपि तातङ् में पित्त्व विद्यमान है तथापि 'ङिच्च पिन्न' इस भाष्यवचन के कारण साक्षात् विहित ङित्त्व से पित्त्व बाधित हो जाता है अतः वृद्धि नहीं होती। म० पु० के एकवचन में सिप् के स्थान पर होने वाला 'हि' आदेश अपित् माना गया है अतः वृद्धि नहीं होती—युहि। उत्तमपु० में आट् का आगम पित् होते हुए भी हलादि नहीं अतः वृद्धि नहीं होती। गुण और अवादेश हो जाता है—यवानि। रूपमाला यथा—यौतु-युतात्, युताम्, युवन्तु। युहि-युतात्, युतम्, युत। यवानि, यवाव, यवाम।

लँङ्—में तिप् और सिप् में वृद्धि हो जाती है—अयौत्, अयौः। मिप् को अमादेश हो जाता है वह हलादि नहीं रहता अतः वृद्धि नहीं होती। गुण और अवादेश हो कर—अयवम्। रूपमाला यथा—अयौत्, अयुताम्, अयुवन्। अयौः, अयुतम्, अयुत। अयवम्, अयुव, अयुम।

विधिलिँङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, यासुट् और 'इतश्च' (४२४) से इकार का लोप हो कर—यु+यास् त्। अब इस स्थिति में तिप् का अवयव होने के कारण यासुट् भी पित् ठहरता है अतः हलादि पित् सार्वधातुक के परे रहने से 'उतो वृद्धिः०' (५६६) से वृद्धि प्राप्त होती है। परन्तु महाभाष्य में 'हलः श्नः शानज्झौ' (३.१.८३) सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'पिच्च, ङिन्न, ङिच्च पिन्न' अर्थात् पित् को ङित् नहीं मानना चाहिये और ङित् को पित् नहीं मानना चाहिये। यहां यासुट् का ङित् विधान विशेष कर के किया गया है, इस तरह ङित् होने से वह पित् नहीं होगा अतः वृद्धि नहीं होगी। सार्वधातुक सकार का लोप (४२७) हो कर 'युयात्' रूप बनेगा। ध्यान रहे कि यासुट् के ङित्त्व के कारण गुण का भी निषेध हो जायेगा[1]। रूपमाला यथा—युयात्, युयाताम्, युयुः। युयाः, युयातम्, युयात। युयाम्, युयाव, युयाम।

---

१. अजी जैसे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (३८८) द्वारा प्राप्त गुण का 'क्क्ङिति च' (४३३) से निषेध हो जाता है वैसे 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (५६६) से प्राप्त वृद्धि का भी उस से निषेध क्यों नहीं मान लेते, 'पिच्च ङिन्न, ङिच्च पिन्न' इस पचड़े में क्यों पड़ते हो? इस का उत्तर यह है कि 'क्क्ङिति च' (४३३) सूत्र इग्लक्षण गुण वृद्धि का ही निषेध करता है अन्य का नहीं। यहां 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' में 'उतः' कहा गया है अतः इग्लक्षण न होने से इस का निषेध सम्भव नहीं, इसलिये 'पिच्च ङिन्न ङिच्च पिन्न' वचन का आश्रय किया गया है।

आ० लिङ्—में यासुट् के सार्वधातुक न होने से 'उतो वृद्धिः०' (५५६) से वृद्धि नहीं होती। यासुट् के कित् होने के कारण गुण भी नहीं होता। सर्वत्र 'अकृत्सार्व०' (४८३) से दीर्घ हो जाता है—यूयात्, यूयास्ताम्, यूयासुः। यूयाः, यूयास्तम्, यूयास्त। यूयासम्, यूयास्व, यूयास्म।

लुँङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, सिँच्, इट्, ईट् तथा अङ्ग को अट् का आगम हो कर 'अयु+इस् +ईत्' इस स्थिति में 'सिँचि वृद्धिः०' (४८४) से इगन्त अङ्ग को वृद्धि, 'इट ईटि' (४४६) से सकारलोप, 'अकः सवर्णे दीर्घः (४२) से सवर्णदीर्घ तथा 'एचोऽयवायावः' (२२) से आवादेश करने पर 'अयावीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—अयावीत्, अयाविष्टाम्, अयाविषुः। अयावीः, अयाविष्टम्, अयाविष्ट। अयाविषम्, अयाविष्व, अयाविष्म।

लृँङ्—में इट्, गुण और अवादेश हो जाता है—अयविष्यत्, अयविष्यताम्, अयविष्यन्।

[लघु०] या प्रापणे ॥४॥ याति, यातः, यान्ति। ययौ। याता। यास्यति। यातु। अयात्, अयाताम् ॥

अर्थः—या धातु 'प्रापण अर्थात् जाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—'प्रापण' में णिच् का प्रयोग स्वार्थ में किया गया है अतः 'प्रापण' का अर्थ 'पहुँचाना' नहीं अपितु पहुँचना या जाना मात्र है। यह धातु संस्कृत-साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्ध है। वेद और लोक दोनों में इस का प्रचुर प्रयोग पाया जाता है। अकेले ऋग्वेद में इस का कई सौ बार प्रयोग हुआ है। यायावर (खानाबदोश), शुभंयु (आनन्दवर्धक), ययाति, मृगयु (व्याध), यान, प्रयाण, यियासु (गमन का इच्छुक), यातु (राक्षस), याम (प्रहर), यात्रा आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं।

लँट्—में सर्वत्र शप् का लुक् हो जाता है—याति, यातः, यान्ति। यासि, याथः, याथ। यामि, यावः, यामः।

लिँट्—में इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया भौवादिक 'पा पाने' धातु की तरह होती है। 'ऊदृदन्तैः०' के अनुसार यह धातु अनिट् है। क्रादिनियम से लिँट् में नित्य इट् प्राप्त होता है परन्पु अजन्त होने से थल् में 'अचस्तास्वत्०' (४८०) से इट् का निषेध हो जाता है, पुनः भारद्वाजनियम से उस में विकल्प से इट् हो जाता है। रूपमाला यथा—ययौ, ययतुः, ययुः। ययिथ-ययाथ, ययथुः, यय। ययौ, ययिव, ययिम।

लुँट्—में सर्वत्र इट् का निषेध हो जाता है—याता, यातारौ, यातारः। यातासि, यातास्थः, यातास्थ। यातास्मि, यातास्वः, यातास्मः। लृँट्—में भी सर्वत्र इट् का निषेध हो जाता है—यास्यति, यास्यतः, यास्यन्ति। यास्यसि, यास्यथः, यास्यथ। यास्यामि, यास्यावः, यास्यामः। लोँट्—यातु-यातात्, याताम्, यान्तु। याहि-यातात्, यातम्, यात। यानि, याव, याम।

लँङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, इतश्च, तथा शप् का लुक् हो कर—अयात् । इसी प्रकार द्विवचन में—अयाताम् । बहुवचन में शप् का लुक् हो कर 'अया + झि' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५६७) लँङः शाकटायनस्यैव ।३।४।१११॥

आदन्तात् परस्य लँङो झेर्जुस् वा स्यात् । अयुः । अयान् । यायात्, यायाताम्, यायुः । यायात्, यायास्ताम्, यायासुः । अयासीत् । अयास्यत् ॥

अर्थः—आदन्त धातु से परे लँङ् के झि को विकल्प से जुस् आदेश हो ।

व्याख्या—लँङः ।६।१। शाकटायनस्य ।६।१। एव इत्यव्ययपदम् । आतः ।५।१। ('आतः' से)। झेः ।६।१। जुस् ।१।१। ('झेर्जुस्' से)। धातोः ।५।१। (यह अधिकृत है)। 'आतः' पद 'धातोः का विशेषण है अतः तदन्तविधि हो कर 'आदन्ताद् धातोः' बन जाता है । अर्थः—(आतः=आदन्तात्) आदन्त (धातोः) धातु से परे (लँङः) लँङ् के (झेः) झि के स्थान पर (जुस्) जुस् आदेश होता है (शाकटायनस्य एव[1]) परन्तु यह आदेश शाकटायन आचार्य के मत में ही होता है, अन्य आचार्यों के मत में नहीं । हमें सब आचार्य प्रमाण हैं अतः विकल्प सिद्ध हो जायेगा । अनेकाल् होने से यह जुस् आदेश सम्पूर्ण झि के स्थान पर होता है ।

'अया + झि' यहां आदन्त 'या' धातु से परे लँङ् का झि विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से उसे जुस् सर्वादेश हो कर अनुबन्ध-जकार का लोप करने से 'अया + उस्' हुआ । अब 'उस्यपदान्तात्' (४६२) से पररूप कर सकार को रुँत्व-विसर्ग करने पर 'अयुः' प्रयोग सिद्ध होता है । जुस् के अभाव में 'झोऽन्तः' (३८९) से झकार को अन्त् आदेश हो कर सवर्णदीर्घ और संयोगान्तलोप करने से 'अयान्' प्रयोग सिद्ध होता है । लँङ् में रूपमाला यथा—अयात्, अयाताम्, अयुः-अयान् । अयाः, अयातम्, अयात । अयाम्, अयाव, अयाम ।

शङ्का—'लोँटो लँङ्वत्' (४१३) से लोँट् लँङ्वत् होता है तो पुनः 'यान्तु' में 'लँङः शाकटायनस्यैव' द्वारा झि को जुस् आदेश क्यों नहीं होता ?

समाधान—'लोँटो लँङ्वत्' सूत्र में 'विदो लँटो वा' (३.४.८३) सूत्र से 'वा' पद की अनुवृत्ति आती है और उसे व्यवस्थित-विभाषा मान लेते हैं । इस से जुस् करने में लँङ्वत् का सदा अभाव तथा तामादि और सलोप करने में लँङ्वत् का नित्य होना स्वीकार कर लिया जाता है । इस प्रकार कोई दोष नहीं आता । इस का अन्य प्रकार से समाधान भी (३.४.१११) सूत्र पर काशिका में देखें ।

---

१. 'एव' पद के ग्रहण का यहां कुछ उपयोग नहीं । अगले 'लिँट् च' (४००) आदि सूत्रों में इस की अनुवृत्ति आवश्यक थी अतः यहां ग्रहण किया गया है ।

विधिलिङ्—यायात्, यायाताम्, यायुः। यायाः, यायातम्, यायात। यायाम्, यायाव, यायाम। यायुरित्यस्यानभिधानादप्रयोग इति केचिद् इत्यात्रेयः (दृश्यतामत्रत्या धातुवृत्तिः)। आ० लिङ्—यायात्, यायास्ताम्, यायासुः। यायाः, यायास्तम्, यायास्त। यायासम्, यायास्व, यायास्म।

लुङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, इतश्च, च्लि, सिँच्, अपृक्त को ईट् का आगम तथा अङ्ग को अट् का आगम हो कर 'अया+स्+ईत्' इस स्थिति में 'यम-रमनमातां सक् च' (४९५) सूत्र से धातु को सक् का आगम तथा सिँच् को इट् का आगम करने पर 'अयास्+इस्+ईत्' हुआ। अब 'इट ईटि' (४४६) से सिँच् का लोप तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर 'अयासीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—अयासीत्, अयासिष्टाम्, अयासिषुः। अयासीः, अया-सिष्टम्, अयासिष्ट। अयासिषम्, अयासिष्व, अयासिष्म।

लृँङ्—अयास्यत्, अयास्यताम्, अयास्यन्।

उपसर्गयोग—आ√या=आना, उपस्थित होना (आततायिनमायान्तं हन्या-देवाविचारयन्—मनु० ८.३५०; क्षणात् प्रबोधमायाति—शाकुन्तल ५.२)। सम्+आ√या=आना, प्राप्त होना (किं स लुब्धकः समायाति—पञ्च०; समायाति यदा लक्ष्मीर्नारिकेलफलाम्बुवत्—सुभाषित)। अप√या=दूर होना (अपयाहि जनस्थानात्त्वरितः सहबान्धवः। (रामा० ३.२१.२०) प्र√या=जाना—प्रस्थान करना (त्रस्तादमुतं नगरदैवतवत् प्रयाति—मृच्छ० १.२७)। निर्√या=बाहर निकलना निर्ययावथ पौलस्त्यः पुनर्युद्धाय मन्दिरात्—रघु० १२ ८३)। उद्√या=उत्पन्न होना (इति मतिरुदयासीत् पक्षिणः प्रेक्ष्य भैमीम्—नैषध० २.१०९); ऊपर उठना—निकलना (क्रमशस्ते पुनस्तस्य चापात् सममिवोद्ययुः—रघु० १२.४७)। अनु√या=अनुसरण करना—पीछे जाना (एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः—मनु० ८.१७)। उप√या=प्राप्त होना, पास जाना (दुर्मन्त्रिणं कमुपयान्ति न नीति-दोषाः—हितोप० ३.११७)। सम्√या=जाना—भली भांति जाना (अन्यानि संयाति नवानि देही—गीता २.२२)। अभि√या=आक्रमण करना (कुबेरादभियास्यमा-नात्—रघु० ५.३०, कर्मणि शानच्)। अति√या=उल्लङ्घन करना (धनुः सबाणं कुरु माऽतियासीः—भट्टि० २.५१)।

[लघु०] वा गति-गन्धनयोः ॥५॥

अर्थः—वा धातु 'गति और गन्धन' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—'गति' का अर्थ यहां 'हवा का चलना' ही माना जाता है, साधारण गमन अर्थ यहां अभिप्रेत नहीं। गन्धन के कई अर्थ हैं—सूचित करना, हिंसा करना, उत्साहित करना (उत्साहने च हिंसायां सूचने चापि गन्धनम् इत्यमरः)। वात, वायु

प्रभृति शब्द इसी धातु से निष्पन्न होते हैं। इस धातु की तुलना करें—(लेटिन) ventus; (स्लैविक) vegati; (गोथिक) waian, winds; (जर्मन) wajan, wajen; (इंग्लिश) wind आदि। इस धातु की समग्र प्रक्रिया 'या' धातु की तरह होती है। रूपमाला यथा—

लँट्—वाति, वातः, वान्ति। लिँट्—ववौ, ववतुः ववुः। लुँट्—वाता, वातारौ, वातारः। लृँट्—वास्यति, वास्यतः, वास्यन्ति। लोँट्—वातु-वातात्, वाताम्, वान्तु। लँङ्—अवात्, अवाताम्, अवुः-अवान् (लँङः शाकटायनस्यैव)। वि० लिँङ्—वायात्, वायाताम्, वायुः। आ० लिँङ्—वायात्, वायास्ताम्, वायासुः। लुँङ्—अवासीत्, अवासिष्टाम्, अवासिषुः। लृँङ्—अवास्यत्, अवास्यताम्, अवास्यन्।

उपसर्गयोग—निर्वाति=बुझता है, शान्त होता है (निर्वास्यतः प्रदीपस्य शिखेव जरतो मतिः—शाकुन्तल ५.२)।

[लघु०] भा दीप्तौ ॥६॥

अर्थः—भा धातु 'चमकना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—इस धातु की प्रक्रिया भी 'या' धातु की तरह होती है—

लँट्—भाति, भातः, भान्ति। लिँट्—बभौ, बभतुः, बभुः। लुँट्—भाता, भातारौ, भातारः। लृँट्—भास्यति, भास्यतः, भास्यन्ति। लोँट्—भातु-भातात्, भाताम्, भान्तु। लँङ्—अभात्, अभाताम्, अभुः-अभान् (५६७)। वि० लिँङ्—भायात्, भायाताम्, भायुः। आ० लिँङ्—भायात्, भायास्ताम्, भायासुः। लुँङ्—अभासीत्, अभासिष्टाम्, अभासिषुः। लृँङ्—अभास्यत्, अभास्यताम्, अभास्यन्।

उपसर्गयोग—आ√भा=शोभा पाना (नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुदं दक्षसुता इवाबभुः—रघु० ३.३३); प्रतीत होना (स्वप्ने निधिवदाभाति तव सन्दर्शनं हि नः—भट्टि० ७.६६)। वि√भा=चमकना—शोभा पाना (पयसा कमलेन विभाति सरः—सुभाषित; तस्य भासा सर्वमिदं विभाति—मुण्डकोप० २.२.१०)। प्रति√भा=प्रतीत होना (अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्—रघु० २.४७); फुरना—अच्छा लगना (बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्=सि० कौ०)।

[लघु०] ष्णा शौचे ॥७॥

अर्थः—ष्णा (स्ना) धातु 'शौच अर्थात् स्नान करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—ष्णा धातु के आदि षकार को 'धात्वादेः षः सः' (२५५) से सकार आदेश हो कर 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' से णकार को भी नकार हो जाता है—

स्ना । षोपदेश का फल 'सिष्णासति' आदि में षत्व करना है । स्ना धातु की प्रक्रिया आ० लिङ् को छोड़ कर अन्य लकारों में 'या' धातु की तरह चलती है । संयोगादि होने के कारण आ० लिङ् में 'वाऽन्यस्य संयोगादेः' (४६४) से आकार को वैकल्पिक एत्व हो जाता है—स्नेयात्-स्नायात् ।

लँट्—स्नाति, स्नातः, स्नान्ति । लिँट्—सस्नौ, सस्नतुः, सस्नुः । लुँट्—स्नाता, स्नातारौ, स्नातारः । लृँट्—स्नास्यति, स्नास्यतः, स्नास्यन्ति । लोँट्—स्नातु-स्नातात्, स्नाताम्, स्नान्तु । लँङ्—अस्नात्, अस्नाताम्, अस्नुः-अस्नान् (५६७) । वि० लिँङ्—स्नायात्, स्नायाताम्, स्नायुः । आ० लिँङ्—(एत्वपक्षे) स्नेयात्, स्नेयास्ताम्, स्नेयासुः । (एत्वाभावे) स्नायात्, स्नायास्ताम्, स्नायासुः । लुँङ्—अस्नासीत्, अस्नासिष्टाम्, अस्नासिषुः । लृँङ्—अस्नास्यत्, अस्नास्यताम्, अस्नास्यन् ।

[लघु०] श्रा पाके ॥८॥

अर्थः—श्रा धातु 'पकना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—यहां 'पाक' का अर्थ 'पकाना' नहीं अपितु 'पकना' है अत एव यह धातु अकर्मक है । 'पकाना' अर्थ के लिये इसे णिजन्त बनाना पड़ेगा (श्रपयति) । इस के अर्थ के स्पष्टीकरण के लिये 'शृतं पाके' (६.१.२७) सूत्र पर भाष्य, काशिका तथा शेखर आदि द्रष्टव्य हैं । इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया और रूपमाला 'ष्णा शौचे' धातुवत् समझनी चाहिये । आ० लिँङ् में 'वाऽन्यस्य संयोगादेः' (४६४) द्वारा वैकल्पिक एत्व हो जाता है ।

लँट्—श्राति, श्रातः, श्रान्ति । लिँट्—शश्रौ, शश्रतुः, शश्रुः । लुँट्—श्राता, श्रातारौ, श्रातारः । लृँट्—श्रास्यति, श्रास्यतः, श्रास्यन्ति । लोँट्—श्रातु-श्रातात्, श्राताम्, श्रान्तु । लँङ्—अश्रात्, अश्राताम्, अश्रुः-अश्रान् (५६७) । वि० लिँङ्—श्रायात्, श्रायाताम्, श्रायुः । आ० लिँङ् (एत्त्वपक्षे) श्रेयात्, श्रेयास्ताम्, श्रेयासुः । (एत्त्वाभावे) श्रायात्, श्रायास्ताम्, श्रायासुः । लुँङ्—अश्रासीत्, अश्रासिष्टाम्, अश्रासिषुः । लृँङ्—अश्रास्यत्, अश्रास्यताम्, अश्रास्यन् ।

[लघु०] द्रा कुत्सायां गतौ ॥९॥

अर्थः—द्रा धातु 'कुत्सित गमन' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—क्षीरतरङ्गिणी में 'कुत्सित गति' के दो अर्थ दिये गये हैं—(१) पलायन—भागना (२) शयन—सोना । शयन अर्थ में प्रायः इस धातु का निपूर्वक प्रयोग देखा जाता है—तदा निदद्रावुपपल्वलं खगः (नैषध० १.१२१) । इस की रूपमाला भी 'ष्णा' धातु की तरह चलती है ।

लँट्—द्राति, द्रातः, द्रान्ति । लिँट्—दद्रौ, दद्रतुः, दद्रुः । लुँट्—द्राता, द्रातारौ, द्रातारः । लृँट्—द्रास्यति, द्रास्यतः, द्रास्यन्ति । लोँट्—द्रातु-द्रातात्, द्राताम्,

द्रान्तु । लँङ्—अद्रात्, अद्राताम्, अद्रुः-अद्रान् (५६७) । वि० लिँङ्—द्रायात्, द्रायाताम्, द्रायुः । आ० लिँङ्—(एत्त्वपक्षे) द्रेयात्, द्रेयास्ताम्, द्रेयासुः । (एत्त्वाभावे) द्रायात्, द्रायास्ताम्, द्रायासुः (४६४) । लुँङ्—अद्रासीत्, अद्रासिष्टाम्, अद्रासिषुः । लृँङ्—अद्रास्यत्, अद्रास्यताम्, अद्रास्यन् । निद्राति=निद्रा करता है ।

[लघु०] प्सा भक्षणे॥ १०॥

अर्थः—प्सा धातु 'भक्षण-खाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—संयोगादि होने से यह धातु भी 'ष्णा' धातु की तरह समझनी चाहिये । लँट्—प्साति, प्सातः, प्सान्ति । लिँट्—पप्सौ, पप्सतुः, पप्सुः । लुँट्—प्साता, प्सातारौ, प्सातारः । लृँट्—प्सास्यति, प्सास्यतः, प्सास्यन्ति । लोँट्—प्सातु-प्सातात्, प्साताम्, प्सान्तु । लँङ्—अप्सात्, अप्साताम्, अप्सुः-अप्सान् (५६७) । वि० लिँङ्—प्सायात्, प्सायाताम्, प्सायुः । आ० लिँङ्—(एत्त्वपक्षे) प्सेयात्, प्सेयास्ताम्, प्सेयासुः । (एत्त्वाऽभावे) प्सायात्, प्सायास्ताम्, प्सायासुः (४६४) । लुँङ्—अप्सासीत्, अप्सासिष्टाम्, अप्सासिषुः । लृँङ्—अप्सास्यत्, अप्सास्यताम्, अप्सास्यन् ।

[लघु०] रा दाने ॥११॥

अर्थः—रा धातु 'देना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—संयोगादि न होने से 'वाऽन्यस्य संयोगादेः' (४६४) सूत्र द्वारा आशीर्लिँङ् में एत्व न होगा । सम्पूर्ण प्रक्रिया तथा रूपमाला 'या' धातु की तरह होती है ।

लँट्—राति, रातः, रान्ति । लिँट्—ररौ, ररतुः, ररुः । लुँट्—राता, रातारौ, रातारः । लृँट्—रास्यति, रास्यतः, रास्यन्ति । लोँट्—रातु-रातात्, राताम्, रान्तु । लँङ्—अरात्, अराताम्, अरुः-अरान् (५६७) । वि० लिँङ्—रायात्, रायाताम्, रायुः । आ० लिँङ्—रायात्, रायास्ताम्, रायासुः । लुँङ्—अरासीत्, अरासिष्टाम्, अरासिषुः । लृँङ्—अरास्यत्, अरास्यताम्, अरास्यन् ।

[लघु०] ला आदाने ॥१२॥

अर्थः—'ला' धातु 'ग्रहण करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—ला धातु की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'या' धातु की तरह होती है—

लँट्—लाति, लातः, लान्ति । लिँट्—ललौ, ललतुः, ललुः । लुँट्—लाता, लातारौ, लातारः । लृँट्—लास्यति, लास्यतः, लास्यन्ति । लोँट्—लातु-लातात्, लाताम्, लान्तु । लँङ्—अलात्, अलाताम्, अलुः-अलान् (५६७) । वि० लिँङ्—लायात्, लायाताम्, लायुः । आ० लिँङ्—लायात्, लायास्ताम्, लायासुः । लुँङ्—

अलासीत्, अलासिष्टाम्, अलासिषुः । लृङ्—अलास्यत्, अलास्यताम्, अलास्यन् ।

[लघु०] दाप् लवने ॥१३॥

अर्थः—दाप् (दा) धातु 'काटना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—दाप् का पकार 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'दा' मात्र अवशिष्ट रहता है । इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'या' धातु की तरह चलती है—

लट्—दाति, दातः, दान्ति । लिट्—ददौ, ददतुः, ददुः । लुट्—दाता, दातारौ, दातारः । लृट्—दास्यति, दास्यतः, दास्यन्ति । लोट्—दातु-दातात्, दाताम्, दान्तु । लङ्—अदात्, अदाताम् अदुः-अदान् (५६७) । वि० लिङ्—दायात्, दायाताम्, दायुः । आ० लिङ्—दायात्, दायास्ताम्, दायासुः । ध्यान रहे कि 'दाधाघ्वदाप्' (६२३) सूत्र में दाप् और दैप् को छोड़ कर घुसञ्ज्ञा का विधान किया गया है । अतः यहां घुसञ्ज्ञा न होने के कारण 'एर्लिङि' (४९०) द्वारा एत्व नहीं होता । लुङ्—अदासीत्,अदासिष्टाम्, अदासिषुः । घुसंज्ञा न होने से 'गातिस्थाघुपा०' (४३९) से सिँच् का लुक् नहीं होता, 'यमरमनमातां सक् च' (४९५) सूत्र से सक् और इट् हो जाते हैं । लृङ्— अदास्यत्, अदास्यताम्, अदास्यन् ।

[लघु०] पा रक्षणे ॥१४॥

अर्थः—पा धातु 'रक्षा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—पीछे भ्वादिगण में 'पा पाने' धातु आ चुकी है । यह 'पा' धातु उस से भिन्न है । 'गातिस्थाघु०' (४३९) तथा 'एर्लिङि' (४९०) सूत्रों में भौवादिक 'पा पाने' का ही ग्रहण अभीष्ट है अतः इस धातु के लुङ् में सिँच् का लुक् तथा आ० लिङ् में एत्व नहीं होता । सम्पूर्ण प्रक्रिया 'या प्रापणे' धातु की तरह ही होती है ।

लट्—पाति, पातः, पान्ति । लिट्—पपौ, पपतुः, पपुः । लुट्—पाता, पातारौ, पातारः । लृट्—पास्यति, पास्यतः, पास्यन्ति । लोट्—पातु-पातात्, पाताम्, पान्तु । लङ्—अपात्, अपाताम्, अपुः-अपान् (५६७) । वि० लिङ्—पायात्, पायाताम्, पायुः । आ० लिङ्—पायात्, पायास्ताम्, पायासुः । लुङ्—अपासीत्, अपासिष्टाम्, अपासिषुः । लृङ्—अपास्यत्, अपास्यताम्, अपास्यन् ।

[लघु०] ख्या प्रकथने ॥१५॥ अयं सार्वधातुक एव प्रयोक्तव्यः ॥

अर्थः—ख्या धातु 'कहना' अर्थ में प्रयुक्त होती है । इस धातु का केवल सार्वधातुक प्रत्ययों में ही प्रयोग होता है ।

व्याख्या—इस धातु का आर्धधातुकप्रत्ययों में प्रयोग नहीं होता, केवल सार्वधातुक प्रत्ययों में ही प्रयोग होता है । इस में २.४.५४ सूत्र पर 'सस्थानत्वं नमः

ख्यात्रे' यह वार्त्तिक तथा वहां का भाष्य प्रमाण है। वहां यह निर्णय किया गया है कि आर्धधातुक प्रत्यय के परे होने पर जहां 'ख्या' दिखाई दे वहां 'चक्षिङः ख्याञ्' (२.४.५४) द्वारा चक्षिङ् धातु के स्थान पर ख्याञ् आदेश समझना चाहिये। इस से इस 'ख्या' धातु का आर्धधातुक प्रत्ययों में प्रयोग वर्जित है—यह सुतरां सिद्ध हो जाता है। लँट्, लोँट्, लँङ् और विधिलिँङ् ये चार सार्वधातुक लकार हैं अतः इन में ही ख्या धातु का प्रयोग होता है। इस की समग्र प्रक्रिया 'या प्रापणे' धातु की तरह होती है।

लँट्—ख्याति, ख्यातः, ख्यान्ति। लोँट्—ख्यातु-ख्यातात्, ख्याताम्, ख्यान्तु। लँङ्—अख्यात्, अख्याताम्, अख्युः-अख्यान् (५६७)। वि०लिँङ्—ख्यायात्, ख्यायाताम्, ख्यायुः।

उपसर्गयोग—वि+आ√ख्या=व्याख्या करना (इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया—रघु० मल्लि०); कहना (व्याचख्युरुच्चैश्च हतं प्रहस्तम्—भट्टि० १४.११३); नाम धरना (विद्वद्वृन्दैर्वीणावाणि! व्याख्याता सा विद्युन्माला—श्रुतबोध)। प्र√ख्या=कहना (प्रख्याय नर्मदां चाथ गङ्गेयमिति रावणः—रामा० उत्तर० ३१.२६); कर्मणि—प्रसिद्ध होना (प्रख्यातस्त्रिषु लोकेषु—रामा० सु० १.११८)। प्रति+आ√ख्या=मना करना, निषेध करना, खण्डन करना (प्रत्याख्यातो वसिष्ठेन स ययौ दक्षिणां दिशम्—रामा० बाल० ५७.१३)। आ√ख्या=कहना (आख्याहि भद्रे प्रियदर्शनस्य - पञ्च० ४.३२)। सम्+आ√ख्या=कहना, गिनना, नाम धरना (विपुलामिति समाख्याति—वृत्तरत्ना० २.४)। सम्√ख्या=गिनना (न्यासकार के मत में सम्पूर्वक ख्या का प्रयोग नहीं होता, देखें—३.२.७ का न्यास)।

[लघु०] विद ज्ञाने ॥१६॥

अर्थः—विद् धातु 'जानना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—उदात्तेत् होने से अथवा आत्मनेपद के लक्षणों से रहित होने के कारण यह धातु परस्मैपदी है। विद्या, विद्वान्, विदुषी, वेद, कोविद (पण्डित) आदि शब्द इसी धातु से निष्पन्न होते हैं।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में शप् का लुक् हो कर 'विद्+ति' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५६८) विदो लँटो वा ।३।४।८३॥

वेत्तेर् लँटः परस्मैपदानां णलादयो वा स्युः। वेद, विदतुः, विदुः। वेत्थ, विदथुः, विद। वेद, विद्व, विद्म। पक्षे—वेत्ति, वित्तः, विदन्ति॥

अर्थः—विद् धातु से परे जो लँट्, उस के स्थान पर हुए परस्मैपद प्रत्ययों को णल् आदि नौ प्रत्यय विकल्प से हों।

व्याख्या—विदः ।५।१।[1] लटः ।६।१। वा इत्यव्ययपदम् । 'परस्मैपदानां णलतुस्०' इस सूत्र की पीछे से अनुवृत्ति आती है । अर्थः—(विदः) विद् धातु से परे (लटः) जो लट् उस के स्थान पर हुए (परस्मैपदानाम्) परस्मैपद प्रत्ययों के स्थान पर (णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः) णल्, अतुस्, उस्, थल्, अथुस्, अ, णल्, व, म—ये नौ प्रत्यय (वा) विकल्प से हो जाते हैं । परस्मैपदसंज्ञक तिप् आदि प्रत्यय नौ हैं और इधर णल् आदि भी नौ हैं अतः यथासङ्ख्यपरिभाषा से ये आदेश क्रमशः होते हैं । ध्यान रहे कि ये णल् आदि आदेश लट् के स्थान पर हो रहे हैं लिट् के स्थान पर नहीं, अतः न तो 'लिट् च' (४००) से इन की आर्धधातुकसञ्ज्ञा होगी और न ही इन के परे रहते 'लिटि धातोः०' (३९४) से द्वित्व । 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' (३८८) से इन की सार्वधातुकसञ्ज्ञा ही रहेगी ।

'विद्+ति' यहां लट् के स्थान पर 'तिप्' यह परस्मैपद आदेश हुआ है अतः प्रकृतसूत्र से इसे णल् आदेश हो कर अनुबन्धलोप और लघूपधगुण करने से 'वेद' प्रयोग सिद्ध होता है ।

द्विवचन में तस् के स्थान पर अतुस् आदेश हो कर 'विदतुः' प्रयोग सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि यहां 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित्व के कारण लघूपधगुण का निषेध हो गया है । इसी प्रकार बहुवचन में झि को उस् आदेश हो कर—विदुः । म० पु० के एकवचन में सिप् को थल् आदेश हो कर 'खरि च' (७४) से चर्त्व किया तो—वेत्थ । यहां पर आर्धधातुकसञ्ज्ञा न होने से थल् को इट् का आगम नहीं हुआ । द्विवचन और बहुवचन में क्रमशः 'अथुस्' और 'अ' आदेश हो जाते हैं, लघूपधगुण का पूर्ववत् निषेध हो जाता है—विदथुः, विद ।

उत्तम० के एकवचन में मिप् को णल् आदेश हो कर लघूपधगुण हो जाता है—वेद । ध्यान रहे कि यहां 'णलुत्तमो वा' (४५६) सूत्र का कुछ भी उपयोग नहीं हो सकता, क्योंकि उस का उपयोग केवल अजन्त या अकारोपध धातुओं में ही सम्भव होता है । यहां का लघूपधगुण णित्व का आश्रय नहीं करता । द्विवचन और बहुवचन

---

१. 'विदः' में पञ्चमी माननी ही युक्त है षष्ठी नहीं । अन्यथा तुदादिगणीय विद् का भी ग्रहण हो कर अनिष्ट हो जायेगा । अब पञ्चमी मान कर विद् से अव्यवहित पर परस्मैपदों को ही णलादि करने पड़ते हैं । इस से तौदादिक विद् का स्वतः परित्याग हो जाता है क्योंकि वहां 'श' विकरण का व्यवधान पड़ता है । दैवादिक और रौधादिक विद् की चिन्ता नहीं करनी चाहिये क्योंकि वे दोनों आत्मनेपदी हैं अतः वहां परस्मैपद सुलभ नहीं । दैवादिक विद् में दोष न आ जाये इस के लिये पञ्चमी मानने वाले तत्त्वबोधिनीकार श्रीज्ञानेन्द्रस्वामी तथा बृहच्छब्देन्दुशेखरकार श्रीनागेशभट्ट चिन्त्य हैं ।

में वस् और मस् को क्रमशः व और म आदेश हो जाते हैं अतः विसर्ग नहीं रहते— विद्व, विद्म। 'विद्म' में यर् पदान्त नहीं अतः 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' (वा० ११) द्वारा दकार को अनुनासिक नहीं होता।

णल् आदि आदेश जिस पक्ष में नहीं होते वहां यथासम्भव खर् परे होने पर 'खरि च' (७४) से चर्त्व हो जाता है। लँट् में रूपमाला यथा—(णलादिपक्षे) वेद, विदतुः, विदुः। वेत्थ, विदथुः, विद। वेद, विद्व, विद्म। (णलाद्यभावे) वेत्ति, वित्तः, विदन्ति। वेत्सि, वित्थः, वित्थ। वेद्मि, विद्वः, विद्मः।

लिँट्—में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५६९) उष-विद-जागृभ्योऽन्यतरस्याम् ।३।१।३८।।

एभ्यो लिँट्याम् वा स्यात्। विदेरदन्तत्वप्रतिज्ञानाद् आमि न गुणः—विदाञ्चकार, विवेद। वेदिता। वेदिष्यति।।

अर्थः– उष् (भ्वा० परस्मै० जलाना), विद् (अदा० परस्मै० जानना) और जागृ (अदा० परस्मै० जागना) धातुओं से परे विकल्प कर के आम् प्रत्यय होता है लिँट् परे हो तो। विदेरदन्त०—आम् के सन्नियोग में विद् धातु को अदन्त निपातन किया गया है अतः आम् के परे होने पर इसे लघूपधगुण नहीं होता।

व्याख्या—उष-विद-जागृभ्यः ।५।३। अन्यतरस्याम् ।७।१। आम् ।१।१। ('कास्प्रत्ययादाम्०' से)। लिँटि ।७।१। ('कृञ्चानुप्रयुज्यते लिँटि' से)। 'प्रत्ययः, परश्च' का अधिकार आ रहा है। अर्थः—(उष-विद-जागृभ्यः) उष्, विद् और जागृ धातुओं से परे (आम्, प्रत्ययः) आम् प्रत्यय होता है (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में, (लिँटि) लिँट् परे हो तो। दूसरी अवस्था में नहीं होता अतः विकल्प सिद्ध हो जाता है। विद् के दोनों ओर उष् और जागृ परस्मैपदी धातुएं पढ़ी गई हैं अतः विद् भी परस्मैपदी गृहीत होगी। परस्मैपदी विद् केवल अदादिगण में ही पठित है अतः यहां अदादिगणीय विद् का ही ग्रहण होगा अन्य का नहीं। 'उष' में अकार उच्चारणार्थक है, परन्तु 'विद्' में अकार निपातन के लिये है। अर्थात् आम् करते समय 'विद्' को अदन्त 'विद' बना लेना चाहिये। इस से लघूपधगुण का प्रतिषेध हो जाता है जैसा कि आगे प्रक्रिया में स्पष्ट है। उष् के उदाहरण 'ओषाञ्चकार, ओषाम्बभूव, ओषामास' आदि तथा जागृ के उदाहरण 'जागराञ्चकार, जागराम्बभूव, जागरामास' आदि हैं।

'विद्+लिँट्' यहां लिँट् परे है अतः प्रकृतसूत्र से विद् से परे आम् प्रत्यय विकल्प से हो गया। आम्पक्ष में 'विद्+आम्+लिँट्' इस स्थिति में 'आर्धधातुकं शेषः' (४०४)

से आम् के आर्धधातुक होने के कारण 'पुगन्तलघूप०' (४५१) द्वारा लघूपधगुण प्राप्त होता है। परन्तु प्रकृतसूत्र में आम् का विधान करते समय विद् को अदन्त करने को भी कहा गया है। इस प्रकार 'विद्' को अदन्त बना कर 'अतो लोपः' (४७०) से पुनः उस के अन्त्य अकार का लोप कर दिया जाता है। अब उस लुप्त हुए अकार को 'अचः परस्मिन्०' (६९६) से स्थानिवत् मान कर लघूपधगुण की प्राप्ति ही नहीं होती क्योंकि तब उपधा में इक् नहीं रहता दकार आ जाता है। 'विदाम्+लिँट्' इस दशा में आमः' (४७१) से लकार का लुक्, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते०' (४७२) से लिँट्परक कृ भू और अस् का अनुप्रयोग, कृपक्ष में प्र० पु० के एकवचन की विवक्षा में तिप्, णल्, द्वित्व, अभ्यासकार्य तथा वृद्धि और रपर करने पर 'गोपायाञ्चकार' की तरह 'विदाञ्चकार' रूप सिद्ध होता है। भूपक्ष में 'विदाम्बभूव' तथा अस्पक्ष में 'विदामास' रूप बनेंगे। आम् के अभाव में तिप्, णल्, द्वित्व, अभ्यासकार्य तथा लघूपधगुण हो कर 'विवेद' रूप बनता है। धातु के सेट् होने से थल् में—विवेदिथ। लिँट् में रूपमाला यथा—आम्पक्षे—(कृधातोरनुप्रयोगे) विदाञ्चकार, विदाञ्चक्रतुः, विदाञ्चक्रुः। विदाञ्चकर्थ, विदाञ्चक्रथुः, विदाञ्चक्र। विदाञ्चकार-विदाञ्चकर, विदाञ्चकृव, विदाञ्चकृम। (भूधातोरनुप्रयोगे) विदाम्बभूव, विदाम्बभूवतुः, विदाम्बभूवुः आदि। (अस्धातोरनुप्रयोगे) विदामास, विदामासतुः, विदामासुः आदि। आमोऽभावे—विवेद, विविदतुः, विविदुः। विवेदिथ, विविदथुः, विविद। विवेद, विविदिव, विविदिम।

लुँट्—में सर्वत्र इट् का आगम हो कर लघूपधगुण हो जाता है। ध्यान रहे कि अनुदात्तों में श्यन् विकरण वाली विद् धातु निर्दिष्ट है अतः यह धातु सेट् है। वेदिता, वेदितारौ, वेदितारः। लृँट्—वेदिष्यति, वेदिष्यतः, वेदिष्यन्ति।

लोँट्—में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५७०) **विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्** ।३।१।४१॥

वेत्तेर्लोँटि आम्, गुणाभावो लोँटो लुक्, लोँडन्तकरोत्यनुप्रयोगश्च वा निपात्यते। पुरुषवचने न विवक्षिते॥

अर्थः—लोँट् परे होने पर विद् धातु से आम् प्रत्यय, उस के परे रहते लघूपधगुण का अभाव, लोँट् का लुक् तथा लोँडन्त कृ धातु का अनुप्रयोग ये सब कार्य विकल्प से होते हैं। पुरुषवचने—इस सूत्र की प्रवृत्ति में पुरुष और वचन विवक्षित नहीं अर्थात् यह सूत्र लोँट् के प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक वचन में प्रवृत्त होता है।

व्याख्या—विदाङ्कुर्वन्तु इति क्रियापदम्। इति इत्यव्ययपदम्। अन्यतरस्याम् ।७।१। इतिशब्दः प्रकारे वर्तते। अर्थः—(विदाङ्कुर्वन्तु) विदाङ्कुर्वन्तु (इति) इस प्रकार के

लोकप्रसिद्ध प्रयोग (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हुआ करते हैं। दूसरी अवस्था में यथाप्राप्त कार्य होते हैं अतः विकल्प सिद्ध हो जाता है। 'विदाङ्कुर्वन्तु' यह बना-बनाया शब्द लोट् में निपातन किया गया है। इस में चार कार्य किये गये हैं जो शास्त्रानुसार प्राप्त नहीं होते थे—(१) लोट् के परे होने पर विद् से आम् प्रत्यय, (२) आम् के परे रहते गुण का अभाव, (३) आम् से परे लोट् का लुक्, (४) लोडन्त कृ का अनुप्रयोग। यहां सूत्र में 'विदाङ्कुर्वन्तु' यह लोट् के प्र० पु० के बहुवचन का रूप अतिप्रसिद्ध होने से उदाहरण के रूप में दिया गया हैं वैसे ये सब कार्य लोट् के प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक वचन में हुआ करते हैं। इसीलिये तो सूत्र में 'इति' शब्द लगाया गया है वरन् उस के जोड़ने की आवश्यकता ही क्या थी ?[1]

'विद्+लोट्' यहां पर प्रकृतसूत्र से विद् से परे आम्, उस के परे रहते लघूपधगुण का अभाव, आम् से परे लोट् का लुक्, पुनः लोडन्त कृञ् का अनुप्रयोग हो कर प्र० पु० के एकवचन की विवक्षा में लकार को तिप् आदेश करने पर 'विदाम्+कृ+ति' बना। अब 'कर्त्तरि शप्' (३८७) से शप् विकरण प्राप्त होता है। इस पर उस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५७१) तनादिकृञ्भ्य उः ।३।१।७६॥

तनादेः कृञश्च उः प्रत्ययः स्यात् । शपोऽपवादः । गुणौ[2] । विदाङ्करोतु ॥

अर्थः—कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे हो तो तनादिगण में परिगणित धातुओं से तथा कृञ् धातु से परे 'उ' प्रत्यय हो। यह सूत्र शप् का अपवाद है।

व्याख्या—तनादि-कृञ्भ्यः ।५।३। उः ।१।१। कर्तरि ।७।१। ('कर्तरि शप्' से)। सार्वधातुके ।७।१। ('सार्वधातुके यक्' से)। 'प्रत्ययः, परश्च' का अधिकार आ रहा

---

१. 'पुरुषवचने न विवक्षिते' वाला पक्ष महाभाष्य में यद्यपि कहीं उपलब्ध नहीं होता, परन्तु फिर भी सब वृत्तिग्रन्थों तथा चान्द्र आदि पाणिनीयभिन्नव्याकरणों में आदृत होने से मान्य है। कुछ वैयाकरण आरम्भ से ही इस के विरोधी रहे हैं। उन का कहना है कि केवल प्रथमपु० के बहुवचन में ही 'विदाङ्कुर्वन्तु' रूप का निपातन किया गया है अन्य पुरुषों या वचनों में नहीं। पदमञ्जरीकार श्रीहरदत्त ने ऐसे लोगों का कड़े शब्दों में खण्डन किया है। वर्त्तमानकाल में आर्यसमाज के प्रवर्त्तक श्रीस्वा० दयानन्दसरस्वती विरोधिमत के पोषकों में अग्रणी रहे हैं। उन का मत 'आख्यातिक' तथा 'अष्टाध्यायीभाष्य' में इसी सूत्र पर देखा जा सकता है।

२. आर्धधातुकम् उप्रत्ययं निमित्तीकृत्य ऋकारस्य गुणः सार्वधातुकं तिप्प्रत्ययं निमित्तीकृत्य उकारस्य च गुणः। तदेवं गुणश्च गुणश्च गुणौ।

है। अर्थः—(तनादिकृञ्भ्यः) तनादिगणीय धातुओं से तथा कृञ् धातु से (परः) परे (उः प्रत्ययः) उ प्रत्यय हो जाता है (कर्तरि) कर्त्ता अर्थ में (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे हो तो। तनादिगण का वर्णन आगे आयेगा। यह सूत्र 'कर्त्तरि शप्' (३८७) से प्राप्त शप् का अपवाद है।[1]

'विदाम्+कृ+ति' इस अवस्था में प्रकृतसूत्र द्वारा 'कृ' से परे उ प्रत्यय हो कर 'विदाम्+कृ+उ+ति' बना। अब 'उ' प्रत्यय की 'आर्धधातुकं शेषः'

---

१. इस सूत्र पर भाष्यकार का कहना है कि तनादिगण के अन्तर्गत कृञ् धातु पढ़ी ही है अतः इस के पृथक् उल्लेख की आवश्यकता नहीं, तनादित्वेनैव इस से उप्रत्यय सिद्ध हो जायेगा। परन्तु श्रीभट्टोजिदीक्षित का कहना है कि कृञ् के पृथक् उल्लेख से आचार्य यह ज्ञापन कराना चाहते हैं कि 'गणकार्यमनित्यम्' अर्थात् गणों का कार्य अनित्य होता है। अतः कहीं कहीं शिष्ट-प्रयोगों में गणकार्य (विकरण) में हेर-फेर भी हो जाता है। यथा—'न विश्वसेदविश्वस्ते' (पञ्च ४.१४); 'न विश्वसेत्पूर्वविरोधितस्य' (पञ्च० ३.१)। विपूर्वक श्वस् धातु अदादिगण में पठित है अतः (५५२) नियमानुसार इस से परे शप् का लुक् होना चाहिये, परन्तु यहां विधिलिङ् में उस का लुक् नहीं किया गया। इसी प्रकार 'स चापि गदया दैत्यः सर्वा एवाहनत् पृथक्' (परिभाषेन्दु० भैरवी) इत्यादि में समझना चाहिये।

श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक का यह मत है कि पाणिनिमुनि ने 'डुकृञ् करणे' धातु भ्वादिगण में ही पढ़ी थी, तनादिगण में इस का पाठ प्रक्षिप्त है। तनादि न होने के कारण इस से परे 'उ' प्रत्यय प्राप्त नहीं था अतः मुनि ने 'तनादिकृञ्भ्य उः' सूत्र में तनादियों के साथ इस का भी पृथक् उल्लेख कर दिया है। भ्वादिपाठसामर्थ्य से इस से शप् हो कर 'करति, करतः, करन्ति' आदि रूप भी बनेंगे (जो अब लोक में प्रचलित नहीं रहे परन्तु वेद और प्राकृत में अब भी उपलब्ध हैं)। किञ्च उन का यह भी कथन है कि कृञ् का भ्वादिगण से निष्कासन सायण (चतुर्दशशताब्दी) ने किया है जो उन के ऋग्वेदभाष्य (१.१८७.१) तथा धातुवृत्ति में स्पष्ट है। परन्तु मीमांसकजी के मत में इस असंगति का क्या समाधान होगा कि भाष्यकार पतञ्जलि ने क्यों इस का पाठ तनादिगण में स्वीकार कर सूत्रगत कृञ् का प्रत्याख्यान किया है? पतञ्जलि के काल को तो स्वयं मीमांसक-जी सायण से सहस्रों वर्ष पूर्व स्वीकार करते हैं। क्या भाष्यगत इस सूत्र में कृञ्ग्रहण का खण्डन प्रक्षिप्त है? भाष्यकार ने तो इसके खण्डन में एक प्राचीन श्लोक भी उद्धृत किया है—"तनादित्वात् कृञः सिद्धं सिज्लोपे च न दुष्यति। चिण्वद्भावे न दोषः स्यात्, सोऽपि प्रोक्तो विभाषया"। अतः इस विषय में सुधीजनों को अभी और अधिक अन्वेषण करने की आवश्यकता है।

(४०४) से आर्धधातुकसञ्ज्ञा हो जाने से उसे मान कर 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से ऋकार को अर् गुण तथा 'तिप्' इस सार्वधातुक को मान कर उप्रत्यय को ओकार गुण हो कर 'एरुः' (४११) से इकार को उकार आदेश करने पर 'विदांकरोतु' प्रयोग सिद्ध होता है।

आशीर्लोट् प्र० पु० के एकवचन में 'तु' को तातङ् करने पर 'विदाम्+कृ+उ+तात्' इस स्थिति में 'उ' आर्धधातुक को मान कर ऋकार को तो गुण हो जाता है परन्तु तातङ् के ङित् होने के कारण उसे मान कर उकार को गुण नहीं होता— विदांकरु+तात्। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५७२) अत उत्सार्वधातुके ।६।४।११०।।

उप्रत्ययान्तस्य कृञोऽत उत् सार्वधातुके क्ङिति । विदांकुरुतात्। विदांकुरुताम्। विदांकुर्वन्तु। विदांकुरु। विदांकरवाणि। अवेत्, अविताम्, अविदुः।

अर्थः—सार्वधातुक कित् ङित् परे होने पर उप्रत्ययान्त कृञ् के ह्रस्व अकार के स्थान पर ह्रस्व उकार आदेश हो।

व्याख्या—अतः ।६।१। उत् ।१।१। सार्वधातुके ।७।१। उतः ।५।१। प्रत्ययात् ।५।१। ('उतश्च प्रत्ययाद्०' से)। करोतेः ।६।१। ('नित्यं करोतेः' से)। क्ङिति ।७।१। ('गमहनजन०' से)। 'उतः' और 'प्रत्ययात्' पदों का षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है। तब 'करोतेः' के विशेषण होने से 'उप्रत्ययान्तस्य करोतेः' बन जाता है। अर्थः—(उतः प्रत्ययात्—उप्रत्ययान्यस्य) 'उ' प्रत्यय जिस के अन्त में है ऐसी (करोतेः) कृ धातु के (अतः) अत् के स्थान पर (उत्) उत् आदेश होता है (सार्वधातुके क्ङिति) सार्वधातुक कित् ङित् परे हो तो।

'विदाम्+करु+तात्' यहां 'तातङ्' यह ङित् सार्वधातुक परे है अतः 'करु' इस उप्रत्ययान्त 'कृ' के ककारोत्तर अकार को उकार आदेश हो कर 'विदांकुरुतात्' प्रयोग सिद्ध होता है।

कित् ङित् परे होने पर ही उत्व होता है। करोति, करोषि, करोमि, करोतु आदियों में कित् ङित् परे नहीं अतः उत्व नहीं होता। सार्वधातुक का ग्रहण स्पष्ट-प्रतिपत्ति के लिये हैं (देखें—इसी सूत्र पर पदमञ्जरी या शेखर)।

शङ्का—'विदाङ्कुरुतात्' में 'उ' प्रत्यय आर्धधातुक है, इसे मान कर 'विदांकुर्+उ+तात्' यहां 'पुगन्तलघूप०' (४५१) से लघूपधगुण क्यों नहीं होता?

समाधान—'अत उत्सार्वधातुके' सूत्र में 'उत्' में तपर किया गया है। अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उप्रत्ययान्त कृधातु में स्थानी अकार सर्वत्र ह्रस्व उपलब्ध होता है अतः आन्तरतम्य से उसके स्थान पर ह्रस्व उकार ही सम्भव था पुनः तपर

करने का क्या प्रयोजन ? तपरकरण का यही प्रयोजन प्रतीत होता है कि आचार्य 'उ' आदेश को सदा ह्रस्व ही रखना चाहते हैं कुछ अन्य करना नहीं चाहते। इसी लिये यहां लघूपधगुण न होगा।

प्र० पु० के द्विवचन में तस् को ताम् आदेश हो कर पूर्ववत् 'विदाम्+करु+ताम्' बना। यहां 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ताम् ङित् है अतः इस के परे रहते 'अत उत्सार्वधातुके' (५७२) से 'करु' के अकार को उकार हो कर 'विदांकुरुताम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्र० पु० के बहुवचन में झि के झकार को 'झोऽन्तः' (३८९) से अन्त् आदेश तथा 'एरुः' (४११) से इकार को उकार करने पर—विदाम्+करु+अन्तु। अब 'अत उत्सार्व०' (५७२) से 'करु' के अकार को उकार आदेश तथा 'इको यणचि' (१५) से उकार को यण्-वकार करने पर 'विदांकुर्वन्तु' प्रयोग सिद्ध होता है। ['विदाम्+कुर्व्+अन्तु' यहां पर 'हलि च' (६१२) से प्राप्त दीर्घ का 'न भकुर्छुराम्' (६७८) से निषेध हो जाता है। आगे तनादिगण में इस का विवेचन करेंगे।]

म० पु० के एकवचन में सिप् को हि आदेश हो कर 'विदाम्+करु+हि' बना। अब यहां नित्य होने के कारण 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' (५०३) से पर भी उत्व का बाध कर प्रथम हि का लुक् हो जाता है। अब लुक् से लुप्त होने के कारण 'हि'को मान कर प्रत्ययलक्षण द्वारा उत्त्व नहीं किया जा सकता। परन्तु हि का लुक् तथा 'अत उत्सार्व०' (५७२) वाला उत्त्व दोनों आभीय कार्य हैं अतः 'असिद्धवदत्राऽऽभात्' (५६२) से हि के लुक् को असिद्ध मान कर दूसरा आभीय कार्य उत्व हो कर 'विदाङ्कुरु' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। द्विवचन और बहुवचन में—विदाङ्कुरुतम्, विदाङ्कुरुत। उ० पु० में 'आडुत्तमस्य पिच्च' (४१८) से आट् पित् है अतः 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा वह ङिद्वत् नहीं होता। इसलिये वहां कहीं भी उत्व नहीं होता—विदाङ्करवाणि, विदाङ्करवाव, विदाङ्करवाम।

'विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्' (५७०) सूत्र में निपातित आम् आदि कार्य विकल्प से होते हैं अतः जिस पक्ष में वे न होंगे वहां साधारणप्रक्रिया हो कर 'वेत्तु' आदि रूप भी बनेंगे। लोट् में विद् की रूपमाला यथा—(आम्पक्षे) विदाङ्करोतु-विदाङ्कुरुतात्, विदाङ्कुरुताम्, विदाङ्कुर्वन्तु। विदाङ्कुरु- विदाङ्कुरुतात्, विदाङ्कुरुतम्, विदाङ्कुरुत। विदाङ्करवाणि, विदाङ्करवाव, विदाङ्करवाम। (आमोऽभावे) वेत्तु-वित्तात्, वित्ताम्, विदन्तु। विद्धि ('हुझल्भ्यो हेर्धिः' ५५६)— वित्तात्, वित्तम्, वित्त। वेदानि, वेदाव, वेदाम।

लँङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, शप् का लुक्, इतश्च, लघूपधगुण तथा अट् का आगम हो कर 'अवेद्+त्' इस स्थिति में 'हल्ङ्याब्भ्यः०' (१७९) सूत्र से अपृक्त तकार का लोप तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से अवसान में वैकल्पिक चर्त्व करने

पर 'अवेत्-अवेद्' दो रूप सिद्ध होते हैं। द्विवचन में—अवित्ताम्। यहां 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा आम् के ङित् हो जाने से लघूपधगुण का निषेध हो कर 'खरि च' (७४) से दकार को चर्त्व-तकार हो जाता है। बहुवचन में 'अवेद्+झि' इस अवस्था में 'सिजभ्यस्त०' (४४७) से झि को जुस् आदेश हो कर—अविदुः।

म० पु० के एकवचन में सिप्, शप्, शब्लुक्, इतश्च, लघूपधगुण और अट् का आगम करने पर—अवेद्+स्। अब हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० से सुतिस्यपृक्तं हल्‌लोप करने से 'अवेद्' बना। इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५७३) दश्च ।८।२।७५॥

धातोर्दस्य पदान्तस्य सिपि रुर्वा। अवेः—अवेत्। विद्यात्, विद्याताम्, विद्युः। विद्यात्, विद्यास्ताम्। अवेदीत्। अवेदिष्यत्॥

अर्थः—सिप् परे होने पर धातु के पदान्त दकार के स्थान पर विकल्प से रुँ आदेश हो।

व्याख्या—दः ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। सिपि ।७।१। धातोः ।६।१। रुँः ।१।१। वा इत्यव्ययपदम्। ('सिपि धातो रुँर्वा' से)। पदस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। 'दः' यह 'धातोः' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'दकारान्तस्य धातोः' बन जाता है। अर्थः—(दः=दकारान्तस्य) दकारान्त (पदस्य) पदसञ्ज्ञक (धातोः) धातु के स्थान पर (वा) विकल्प से (रुँः) रुँ आदेश होता है (सिपि) सिप् परे हो तो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह आदेश दकारान्त धातु के अन्त्य अल्—दकार के स्थान पर होता है इसी लिये तो वृत्ति में 'दस्य पदान्तस्य' लिखा है।

'अवेद्' यहां प्रत्ययलक्षण से सिप् परे है अतः दकारान्त पदसञ्ज्ञक 'अवेद्' के दकार को प्रकृतसूत्र द्वारा विकल्प से रुँत्व हो जाता है। रुँत्वपक्ष में अनुबन्ध उकार का लोप हो कर अवसान में रेफ को विसर्ग करने पर 'अवेः' प्रयोग सिद्ध होता है। रुँत्वाभाव में 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने से 'अवेत्-अवेद्' दो रूप बनते हैं। लँङ् में रूपमाला यथा—अवेत्-अवेद्, अवित्ताम्, अविदुः। अवेः-अवेत्-अवेद्, अवित्तम्, अवित्त। अवेदम्, अविद्व, अविद्म।

विधिलिँङ्—में साधारण प्रक्रिया होती है। रूपमाला यथा—विद्यात्, विद्याताम्, विद्युः। विद्याः, विद्यातम्, विद्यात। विद्याम्, विद्याव, विद्याम। आ० लिँङ्—विद्यात्, विद्यास्ताम्, विद्यासुः। विद्याः, विद्यास्तम्, विद्यास्त। विद्यासम्, विद्यास्व, विद्यास्म।

लुँङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, इतश्च, सिँच्, इट्, ईट्, लघूपधगुण तथा अट् का आगम हो कर 'अवेद्+इस्+ईत्' हुआ। अब 'इट ईटि' (४४६) से सकार का लोप तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ किया तो 'अवेदीत्' रूप सिद्ध

हुआ। रूपमाला यथा—अवेदीत्, अवेदिष्टाम्, अवेदिषुः। अवेदीः, अवेदिष्टम्, अवेदिष्ट। अवेदिषम्, अवेदिष्व, अवेदिष्म।

लृङ्—अवेदिष्यत्, अवेदिष्यताम्, अवेदिष्यन् आदि।

उपसर्गयोग—सम्√विद्=भली भांति जानकार होना (अकर्मक होने पर 'विदि-प्रच्छि-स्वरतीनामुपसङ्ख्यानम्' वार्त्तिक से आत्मनेपद हो जाता है। के न संविव्रते वायोर्मैनाकाद्रिर्यथा सखा—भट्टि० ८.१७)। आ√विद् (णिजन्त)=आवेदन करना जनाना, जानकारी देना (आत्मनः सुमहत्कर्म व्रणैरावेद्य संस्थितः—रघु० १२.५५; इत्थं द्विजेन द्विजराजकान्तिरावेदितो वेदविदां वरेण—रघु० ५.२३)। नि√विद् (णिजन्त)=निवेदन करना—बतलाना (उपस्थितां होमवेलां गुरवे निवेदयामि—शाकुन्तल ४; गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य—रघु० २.६८); प्रकट करना—सूचित करना (दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु—कुमार० ५.७२), समर्पण करना (स्वराज्यं चन्द्रापीडाय न्यवेदयत्—कादम्बरी)।

[लघु०] अस भुवि ॥१७॥ अस्ति ॥

अर्थः—अस् धातु 'होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—उदात्तेत् होने अथवा आत्मनेपद के लक्षणों से रहित होने के कारण यह धातु परस्मैपदी है।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप् और शप् का लुक् (५५२) हो कर 'अस्ति' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में शप् का लुक् हो कर 'अस्+तस्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५७४) श्नसोरल्लोपः ।६।४।१११॥

श्नस्य अस्तेश्चाऽतो लोपः सार्वधातुके क्ङिति। स्तः, सन्ति। असि, स्थः, स्थ। अस्मि, स्वः, स्मः॥

अर्थः—श्न तथा अस् के अकार का लोप हो जाता है सार्वधातुक कित् ङित् परे हो तो।

व्याख्या—श्नसोः ।६।२। अत् ।६।१। (लुप्तविभक्तिको निर्देशः)। लोपः ।१।१। सार्वधातुके ।७।१। ('अत उत्सार्वधातुके' से)। क्ङिति ।७।१। ('गमहन—लोपः क्ङित्यनङि' से)। श्नश्च अस् च श्नसौ, तयोः=श्नसोः, शकन्ध्वादित्वात् पररूपम्[1]।

---

१. प्राचीन आचार्य 'अस्' धातु को 'स्' धातु मान कर 'स्तः, सन्ति' आदि रूप बना लेते थे। 'अस्ति, आसीत्' आदि की सिद्धि के लिये वे 'स्' धातु को अट् और आट् का आगम करते थे (देखें १.२.२२ सूत्र पर न्यास तथा उस पर श्रीशचन्द्रचक्रवर्ती का टिप्पण)। मुनिवर पाणिनि ने सम्भवतः पूर्वाचार्यों के संस्कारवश यहां 'अस्'

अर्थः—(सार्वधातुके) सार्वधातुक (क्ङिति) कित् ङित् परे होने पर (श्नसोः) श्न और अस् के (अतः) अत् का (लोपः) लोप हो जाता है। 'श्न' यह 'श्नम्' प्रत्यय के एक-देश का ग्रहण किया गया है। इस के उदाहरण 'रुन्धः, भिन्तः' आदि आगे रुधादिगण में आयेंगे।

'अस्+तस्' यहां **'सार्वधातुकमपित्'** (५००) से तस् ङित् है। अतः इस के परे होने पर प्रकृतसूत्र द्वारा अस् के आदि अकार का लोप हो कर तस् के सकार को रुँत्व-विसर्ग करने पर 'स्तः' प्रयोग सिद्ध होता है। प्र० पु० के बहुवचन में झि के झकार को अन्त् आदेश हो कर 'अस्+अन्ति' इस स्थिति में अस् के अकार का लोप करने पर—सन्ति। म० पु० के एकवचन में 'अस्+सि' इस दशा में सिप् के पित् होने के कारण ङित् न होने से अस् के अकार का लोप नहीं होता। अब **'तासस्त्योर्लोपः'** (४०६) सूत्र से सकार का लोप करने पर 'असि' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन और बहुवचन में ङित्त्व के कारण अकार का लोप हो जाता है—स्थः, स्थ। उ० पु० के एकवचन में—अस्मि। द्विवचन और बहुवचन में ङित्त्व के कारण अकार का लोप होता है—स्वः, स्मः। लँट् में रूपमाला यथा—**अस्ति, स्तः, सन्ति। असि, स्थः, स्थ। अस्मि, स्वः, स्मः।**

अब उपसर्ग आदि के योग में विशेषकार्य का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(५७५) उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः ।८।३।८७।**

उपसर्गेणः प्रादुसश्च अस्तेः सस्य षो यकारेऽचि च परे। निष्यात्। प्रनिषन्ति। प्रादुःषन्ति। यच्परः किम्? अभिस्तः॥

अर्थः—उपसर्गस्थ इण् प्रत्याहार से परे अथवा प्रादुस् (प्रकट होना) अव्यय से परे अस् धातु के सकार के स्थान पर षकार आदेश हो जाता है यकार या अच् परे हो तो।

व्याख्या—उपसर्ग-प्रादुर्भ्याम् ।५।२। अस्तिः ।१।१। यच्परः ।१।१। सः ।६।१। (**'सहेः साडः सः'** से)। मूर्धन्यः ।१।१। (**'अपदान्तस्य मूर्धन्यः'** से)। **'इण्कोः'** का अधिकार आ रहा है परन्तु इस के 'कोः' अंश का यहां उपयोग नहीं हो सकता। 'इणः' अंश का भी केवल 'उपसर्ग' में उपयोग होता है 'प्रादुस्' में असम्भव होने से नहीं। य् च अच् च यचौ, तौ परौ यस्मात् स यच्परः, बहुव्रीहि०। **'यच्परः'** तथा **'अस्तिः'** दोनों का षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है। अर्थः—(उपसर्ग-प्रादुर्भ्याम्, इणः) उपसर्गस्थ इण् प्रत्याहार से अथवा प्रादुस् अव्यय से परे (यच्परस्य) यकार या अच्

के स्थान पर 'स्' का प्रयोग किया है अतः हमारे विचार में शकन्ध्वादित्वात् पररूप की कल्पना करना युक्त नहीं।

परे वाले, (अस्तेः) अस् धातु के (सः) सकार के स्थान पर (मूर्धन्यः) मूर्धन्य आदेश हो जाता है। तात्पर्य यह है कि उपसर्गस्थ इण् या प्रादुस् अव्यय से परे यदि अस् का ऐसा सकार आये जिस से परे यकार या अच् विद्यमान हो तो उस सकार के स्थान पर मूर्धन्य (ष्) आदेश हो जाता है।

उदाहरण यथा—नि + स्यात् = निष्यात्। 'स्यात्' यह 'अस्' धातु के विधिलिङ् का रूप है। यहां सकार से परे यकार विद्यमान है। अतः उपसर्गस्थ इण् से परे उस सकार को मूर्धन्य (ष्) हो जाता है। प्र + नि + सन्ति = प्रनिषन्ति। यहां 'सन्ति' यह अस् धातु के लँट् का रूप है। इस के सकार से परे अच् (अ) विद्यमान है। अतः उपसर्गस्थ इण् से परे ऐसे सकार को षकार हो जाता है। प्रादुस् + सन्ति = प्रादुःषन्ति। यहां 'सन्ति' में भी पूर्ववत् सकार से परे अच् विद्यमान है। अतः प्रादुस् अव्यय से परे ऐसे सकार को षकार हो जाता है। ध्यान रहे कि यहां प्रादुस् के पदान्त सकार को रुँत्व तथा खर् परे होने के कारण रेफ को विसर्ग कर लिया जाता है।

यदि अस् के सकार से परे यकार वा अच् न होगा तो सकार को मूर्धन्य आदेश न होगा। यथा—अभि + स्तः = अभिस्तः। यहां पर सकार से परे तकार विद्यमान है अतः मूर्धन्य नहीं हुआ। स्मरण रहे कि उपसर्गस्थ इण् अथवा प्रादुस् से परे साक्षात् अव्यवहित सकार होने पर ही षत्व होता है अन्यथा नहीं। अभि + असि = अभ्यसि, प्रादुस् + असि = प्रादुरसि, इत्यादियों में साक्षात् सकार परे नहीं अतः षत्व नहीं होता।

अब लिँट् की विवक्षा में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(५७६) अस्तेर्भूः ।२।४।५२॥**

आर्धधातुके। बभूव। भविता। भविष्यति। अस्तु-स्तात्, स्ताम्, सन्तु॥

अर्थः—आर्धधातुक की विवक्षा में अस् के स्थान पर भू आदेश हो।

व्याख्या—आर्धधातुके ।७।१। [यह अधिकृत है और इस में विषयसप्तमी है यह पीछे (५६३) स्पष्ट कर चुके हैं]। अस्तेः ।६।१। भूः ।१।१। अर्थः—(आर्धधातुके) आर्धधातुक कहने की इच्छा हो तो (**अस्तेः**) अस् के स्थान पर (भूः) भू आदेश हो। अनेकाल् होने से भू आदेश सम्पूर्ण अस् के स्थान पर किया जायेगा।

हमें यहां अस् धातु से लिँट् लकार करने की विवक्षा है। **'लिँट् च'** (४००) सूत्र से लिँडादेश आर्धधातुकसञ्ज्ञक हुआ करते हैं। अतः आर्धधातुकविवक्षामात्र में ही प्रकृतसूत्र से अस् को भू आदेश हो जाता है। अब भू से ही लिँट् की उत्पत्ति हो कर पूर्ववत् वुक्, द्वित्व आदि कार्य करने पर 'बभूव' आदि रूपों की सिद्धि होती है—**बभूव, बभूवतुः, बभूवुः। बभूविथ, बभूवथुः, बभूव। बभूव, बभूविव, बभूविम।**

लुँट्—में 'तास्' प्रत्यय आर्धधातुकसञ्ज्ञक होता है। अतः आर्धधातुक की विवक्षामात्र में प्रकृतसूत्र से अस् को भू आदेश हो कर पूर्ववत् 'भविता' आदि रूप बनते हैं—**भविता, भवितारौ, भवितारः। भवितासि, भवितास्थः, भवितास्थ। भवितास्मि, भवितास्वः, भवितास्मः।**

लृँट्—में 'स्य' प्रत्यय आर्धधातुकसञ्ज्ञक होता है अतः आर्धधातुक की विवक्षा में अस् को भू आदेश हो कर पूर्ववत् 'भविष्यति' आदि रूप सिद्ध होते हैं—**भविष्यति, भविष्यतः, भविष्यन्ति** आदि।

लोँट्—आर्धधातुक नहीं होता अतः उस की विवक्षा में अस् को भू आदेश नहीं होता। प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, शब्लुक् तथा '**एरुः**' (४११) से इकार को उकार आदेश होकर 'अस्तु' प्रयोग सिद्ध होता है। आशीर्लोँट् में 'तु' को तातङ् आदेश हो कर तातङ् के ङित् सार्वधातुक होने के कारण '**श्नसोरल्लोपः**' (५७४) से अस् के अकार का लोप हो जाता है—स्तात्। द्विवचन में तस् को ताम् हो कर '**सार्वधातुकमपित्**' (५००) से ङित्त्व के कारण अस् के अकार का लोप हो जाता है—स्ताम्। बहुवचन में झि के झकार को अन्त् आदेश हो कर पूर्ववत् अकार का लोप करने से—सन्तु।

म० पु० के एकवचन में सिप् को 'हि' आदेश हो कर 'अस्+हि' इस दशा में '**हुझल्भ्यो हेर्धिः**' (५५६) द्वारा प्राप्त धित्व का परत्व के कारण अग्रिमसूत्र बाध कर लेता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(५७७) घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च ।६।४।११९।।**

घोरस्तेश्च एत्वं स्याद् हौ परे, अभ्यासलोपश्च। एत्वस्यासिद्धत्वाद् हेर्धिः। **श्नसोर०** (५७४) इत्यल्लोपः—एधि। तातङ्पक्षे एत्वं न, परेण तातङा बाधात्—स्तात्। स्तम्, स्त। असानि, असाव, असाम। आसीत्, आस्ताम्, आसन्। स्यात्, स्याताम्, स्युः। भूयात्। अभूत्। अभविष्यत्।।

अर्थः—'हि' परे होने पर घुसञ्ज्ञक और अस् धातु के स्थान पर एकार आदेश हो जाता है तथा अभ्यास (यदि हो तो) का भी लोप हो जाता है। **एत्वस्य**—एत्व के असिद्ध होने से 'हि' के स्थान पर 'धि' आदेश हो जायेगा।

व्याख्या—घ्वसोः।६।२। एत्।१।१। हौ।७।१। अभ्यासलोपः।१।१। च इत्यव्ययपदम्। अभ्यासस्य लोपः—अभ्यासलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः। घु च अस् च घ्वसौ, तयोः—घ्वसोः, इतरेतरद्वन्द्वः। घुसञ्ज्ञक धातुओं का वर्णन आगे (६२३) सूत्र पर आयेगा। अर्थः—(हौ) 'हि' परे होने पर (घ्वसोः) घुसञ्ज्ञक धातुओं तथा अस् धातु के स्थान पर (एत्) एकार आदेश हो जाता है (च) और साथ ही (अभ्यासलोपः)

अभ्यास का लोप भी हो जाता है। अभ्यास सब जगह नहीं होता वह केवल घुसञ्ज्ञक दा धा में ही सम्भव है अतः जहां अभ्यास होगा वहां एकार आदेश के साथ उस का लोप भी हो जायेगा। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह एकार आदेश अन्त्य अल् के स्थान पर होता है। परन्तु लोप सम्पूर्ण अभ्यास का ही होता है क्योंकि पीछे से 'लोपः' की अनुवृत्ति आने पर भी इस सूत्र में दुबारा 'लोपः' कहा गया है अतः प्रतीत होता है कि आचार्य पूरे अभ्यास का ही लोप चाहते हैं उस के केवल अन्त्य अल् का नहीं। उदाहरण यथा—

घुसञ्ज्ञक—दा+दा+हि=देहि। धा+धा+हि=धेहि। इन की विस्तृत सिद्धि आगे जुहोत्यादिगण में देखें।

अस्—'अस्+हि' यहां 'हि' परे विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से अस् के अन्त्य अल् सकार को एकार आदेश हो जाता है—अ+ए+हि। अब यह एत्त्व आभीयकार्य होने के कारण दूसरे समानाश्रय आभीयकार्य की दृष्टि में असिद्ध है [देखें—**असिद्धवदत्राऽऽभात्** (५६२)], अतः **'हुझल्भ्यो हेर्धिः'** (५५६) सूत्र को यहां एत्व दिखाई नहीं देता किन्तु सकार ही दीखता है। इस प्रकार झल्-सकार से परे उस सूत्र द्वारा 'हि' को 'धि' आदेश हो जाता है—अ+ए+धि। अब 'हि' के अपित् होने के कारण **'सार्वधातुकमपित्'** (५००) से उसे ङिद्वत् मान कर **'श्नसोरल्लोपः'** (५७४) से अकार का लोप करने पर 'एधि' प्रयोग सिद्ध होता है। आ० लोँट् में 'अस्+हि' इस स्थिति में एत्त्व और तातङ् युगपत् प्राप्त होते हैं। दोनों सावकाश हैं। एत्त्व को शुद्ध लोँट् के 'एधि' में तथा तातङ् को 'भवतात्' आदि में अवकाश प्राप्त हो चुका है। इस प्रकार विप्रतिषेध होने पर **'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'** (११३) से परकार्य तातङ् हो कर—अस्+तात्। अब तातङ् के ङित् सार्वधातुक होने के कारण अकार का लोप करने से 'स्तात्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि तातङ् कर चुकने के बाद तातङ् को स्थानिवद्भाव से 'हि' मान कर पुनः एत्त्व नहीं होता, क्योंकि विप्रतिषेध में जो एक बार पिट चुकता है उस की पुनः प्राप्ति नहीं हुआ करती—**'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव'** (प०)। किञ्च तातङ् को आभीयत्वेन असिद्ध भी नहीं मान सकते। क्योंकि वह आभीयाधिकार से बहिर्भूत सप्तमाध्याय के प्रथमपाद में स्थित है।

लँङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, इतश्च, शप् और उस का लुक् हो कर—अस्+त्। अब **'अस्तिसिचोऽपृक्ते'** (४४५) से अपृक्त तकार को ईट् का आगम, **'आडजादीनाम्'** (४४४) से अङ्ग को आट् का आगम तथा **'आटश्च'** (१९७) से वृद्धि एकादेश करने पर 'आसीत्' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्र० पु० के द्विवचन में तस् को ताम् आदेश, शप्, शब्लुक् तथा **'श्नसोरल्लोपः'** (५७४) से अस् के अकार का लोप हो कर—स्+ताम्। अब अङ्ग (स्) यद्यपि

अजादि नहीं रहा तथापि **'असिद्धवदत्राऽऽभात्'** (५६२) से अल्लोप के असिद्ध होने से, **'आडजादीनाम्'** (४४४) को वह अजादि ही दीखता है। अतः आट् का आगम हो कर **'आटश्च'** (१९७) से वृद्धि न हो सकने से **'आस्ताम्'** प्रयोग सिद्ध होता है। [ध्यान रहे कि **'श्नसोरल्लोपः'** (५७४) तथा **'आडजादीनाम्'** (४४४) दोनों आभीयकार्य हैं। दोनों समानाश्रय हैं। अतः एक का किया कार्य दूसरे की दृष्टि में असिद्ध हो जाता है।]

प्र० पु० के बहुवचन में **'झोऽन्तः'** (३८९) से झि के झकार को अन्तादेश, शप्, शब्लुक् तथा **'श्नसोरल्लोपः'** (५७४) से अस् के अकार का लोप होकर—स्+अन्ति। अब अल्लोप को असिद्ध मानकर आट् का आगम, **'इतश्च'** (४२४) से इकार का लोप तथा **'संयोगान्तस्य लोपः'** (२०) से संयोगान्त नकार का भी लोप करने पर **'आसन्'** प्रयोग सिद्ध होता है।

म० पु० के एकवचन सिप् में भी 'आसीत्' की तरह अपृक्त सकार को ईट् का आगम (४४५), अङ्ग को आट् का आगम, **'आटश्च'** (१९७) से वृद्धि तथा अन्त में सकार को रुँत्व-विसर्ग करने पर—'आसीः' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन और बहुवचन में पूर्ववत् क्रमशः 'आस्तम्, आस्त' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

उ० पु० के एकवचन में मिप् को अम्, शब्लुक्, आट् का आगम तथा वृद्धि करने पर—आसम्। द्विवचन और बहुवचन में पूर्ववत् अकार का लोप होकर उस के असिद्ध होने से आट् का आगम हो जाता है। लंङ् में रूपमाला यथा—**आसीत्, आस्ताम्, आसन्। आसीः, आस्तम्, आस्त। आसम्, आस्व, आस्म।**

वि० लिँङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, इतश्च, तथा यासुट् का आगम होकर—अस्+यास्त्। अब यासुट् के ङित् होने से उस के परे होने पर **'श्नसोरल्लोपः'** (५७४) से अस् के अकार का लोप तथा **'लिँङः सलोपः०'** (४२७) से अनन्त्य सकार का भी लोप करने पर 'स्यात्' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार तस् आदियों में भी समझना चाहिये। रूपमाला यथा—**स्यात्, स्याताम्, स्युः। स्याः, स्यातम्, स्यात। स्याम्, स्याव, स्याम।**

आ० लिँङ्— में यासुट् की **'लिँङाशिषि'** (४३१) से आर्धधातुकसञ्ज्ञा होती है अतः उसकी विवक्षा में **'अस्तेर्भूः'** (५७६) द्वारा अस् को भू आदेश होकर सम्पूर्ण प्रक्रिया भू धातु की तरह होती है। रूपमाला यथा—**भूयात्, भूयास्ताम्, भूयासुः। भूयाः, भूयास्तम्, भूयास्त। भूयासम्, भूयास्व, भूयास्म।**

लुँङ्—में सिँच् की आर्धधातुकसञ्ज्ञा होती है। अतः आर्धधातुक की विवक्षा में पूर्ववत् अस् को भू आदेश हो जाता है। अब शुद्ध भू धातु की तरह सिँच् का लुक् आदि होने लगते हैं। रूपमाला यथा—**अभूत्, अभूताम्, अभूवन्। अभूः, अभूतम्, अभूत। अभूवम्, अभूव, अभूम।**

लृँङ्— में **'स्य'** प्रत्यय आर्धधातुकसंज्ञक होता है अतः उस की विवक्षा में पूर्ववत् अस् को भू आदेश हो जाता है—**अभविष्यत्, अभविष्यताम्, अभविष्यन्** आदि ।

[लघु०] इण् गतौ ॥१८॥ एति । इतः ॥

अर्थः—इण् (इ) धातु 'गति-जाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—इण् धातु के अन्त्य णकार की **'हलन्त्यम्'** (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा हो जाती है । अतः उस का लोप होकर 'इ' मात्र अवशिष्ट रहता है । धातु में णकार जोड़ने का प्रयोजन यह है कि **'इणो यण्'** (५७८) **'इणो गा लुङि'** (५८२) आदि सूत्रों में केवल इसी धातु का ग्रहण हो सके, अन्यथा 'इ' मात्र कहने से **'इङ् अध्ययने'**, **'इक् स्मरणे'** आदि का भी ग्रहण होकर अनिष्ट हो जाता । आत्मनेपद के लक्षणों से रहित होने के कारण यह धातु परस्मैपदी है ।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, तथा शप् का लुक् होकर—इ + ति । अब **'सार्वधातुकार्ध०'** (३८८) से इकार को एकार गुण होकर 'एति' प्रयोग सिद्ध होता है । द्विवचन में **'सार्वधातुकमपित्'** (५००) द्वारा तस्प्रत्यय ङित् है अतः गुण का निषेध हो जाता है—इतः । बहुवचन में झि के झकार को अन्त् आदेश होकर 'इ+अन्ति' इस स्थिति में **'अचि श्नु०'** (१९९) से धातु के इकार को इयँङ् आदेश प्राप्त होता है । इस पर इस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(५७८) इणो यण् ।६।४।८१॥**

अजादौ प्रत्यये परे । यन्ति ॥

अर्थः—अजादि प्रत्यय परे होने पर इण् धातु को यण् आदेश हो ।

व्याख्या—इणः ।६।१। यण् ।१।१। अचि ।७।१। (**'अचि श्नु०'** से) । यह सूत्र **'अङ्गस्य'** के अधिकार में पढ़ा गया है । विना प्रत्यय के अङ्गसञ्ज्ञा हो नहीं सकती अतः 'प्रत्यये' पद उपलब्ध हो जाता है । 'अचि' को 'प्रत्यये' का विशेषण मानकर तदादिविधि करने से 'अजादौ प्रत्यये' बन जाता है । 'इणः' में व्याख्यान द्वारा इण् धातु का ही ग्रहण होता है इण् प्रत्याहार का नहीं । अर्थः—(अचि=अजादौ) अजादि (प्रत्यये) प्रत्यय परे होने पर (इणः) इण् धातु के स्थान पर (यण्) यण् आदेश हो जाता है । आन्तरतम्य से इकार के स्थान पर यकार आदेश होता है । यह सूत्र **'अचि श्नु०'** (१९९) के बाद पढ़ा गया है । गुण और वृद्धि के विधायक सूत्र इस के आगे (सातवें अध्याय में) पढ़े गये हैं । अतः **मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्'** (मध्य में कहे अपवाद अपने से पूर्व विधियों के बाधक हुआ करते हैं, अपने से आगे की विधियों के नहीं, इस परिभाषा से यह सूत्र केवल इयँङ् विधि का ही अपवाद है उत्तरवर्ती गुण और वृद्धि का नहीं । अत एव अयनम् (इ + ल्युट्=इ+

अन=ए+अन=अयनम्) में गुण तथा आयकः (इ+ण्वुल्=इ+वु=इ+अक=ऐ+अक=आयकः) में वृद्धि हो जाती है ।

'इ + अन्ति' यहां पर 'अन्ति' यह अजादि प्रत्यय परे विद्यमान है । **'सार्वधातुकमपित्'** (५००) द्वारा ङिद्वद्भाव के कारण गुण निषिद्ध है । अतः प्रकृतसूत्र से इकार को यण् यकार हो कर 'यन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है । [यहां यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि यह सूत्र न होता तो **'अचि श्नु०'** (१९९) से इकार को इयँङ् हो कर **'इयन्ति'** इस प्रकार अनिष्ट रूप बन जाता । अनेकाच् न होने से **'एरनेकाचः०'** (२००) का विषय न था]। तिप्, सिप् और मिप् इन तीन पित् प्रत्ययों को छोड़ कर अन्यत्र लँट् में इण् को कहीं गुण नहीं होता । रूपमाला यथा—**एति, इतः, यन्ति । एषि, इथः, इथ । एमि, इवः, इमः ।**

लिंट्—प्र० पु० के एकवचन में तिप् को णल् आदेश होकर—इ+अ । अब पर वृद्धि का बाध कर **'द्विर्वचनेऽचि'** (४७४) की सहायता से प्रथम द्वित्व हो जाता है—इ + इ + अ । तब अभ्यास से अग्रिम इकार को **'अचो ञ्णिति'** (१८२) से ऐकार वृद्धि हो जाती है—इ + ऐ+अ । अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् (५७९) अभ्यासस्याऽसवर्णे ।६।४।७८।।

अभ्यासस्य इवर्णोवर्णयोर् इयँङुवँङौ स्तोऽसवर्णेऽचि । इयाय ।।

अर्थः—असवर्ण अच् परे होने पर अभ्यास के इवर्ण और उवर्ण को क्रमशः इयँङ् और उवँङ् आदेश हों ।

व्याख्या—अभ्यासस्य ।६।१। असवर्णे ।७।१। अचि ।७।१। य्वोः ।६।२। इयँङुवँङौ ।१।२। (**'अचि श्नुधातु०' से**) । इश्च उश्च यू, तयोः=य्वोः । इतरेतरद्वन्द्वः । 'य्वोः' यह 'अभ्यासस्य' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'इकारान्तस्य उकारान्तस्य चाभ्यासस्य' बन जाता है । अर्थः—(असवर्णे अचि) असवर्ण अच् परे हो तो (इकारान्तस्य उकारान्तस्य चाऽभ्यासस्य) इकारान्त और उकारान्त अभ्यास के स्थान पर (इयँङुवँङौ) इयँङ् और उवँङ् आदेश हो जाते हैं । अलोऽन्त्यपरिभाषा तथा यथासंख्यपरिभाषा के अनुसार इकार को इयँङ् और उकार को उवँङ् आदेश किया जाता है। इयँङ् और उवँङ् में अकार और ङकार इत् हैं अतः इय् और उव् ही शेष रहते हैं ।

'इ+ऐ+अ' यहां पर अभ्यास के इकार से परे असवर्ण अच् ऐकार विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से इकार के स्थान पर इयँङ् आदेश होकर[1]—इयँङ्+ऐ+अ=

---

१. कई व्याख्याकार 'इ+ऐ+अ' यहां पहले **'एचोऽयवायावः'** (२२) से आय् आदेश कर बाद में इयँङ् आदेश किया करते हैं । परन्तु यह प्रक्रिया अशुद्ध

'इय्+ऐ+अ' हुआ। अब **'एचोऽयवायावः'** (२२) से ऐकार को आय् आदेश करने पर 'इयाय' प्रयोग सिद्ध होता है।[1]

उकार के उदाहरण 'उवोख, उवोष' आदि **सिद्धान्तकौमुदी** में देखें। 'अचि' इस लिये कहा है कि 'इयाज' (यज्) आदि में इकार को इयँङ् न हो जाये। 'असवर्णे' के कथन से 'ईषतुः, ईषुः' (**इष इच्छायाम्**) आदि में सवर्ण अच् परे रहते इयँङ् आदेश नहीं होता। अतुस् में द्वित्व करने पर 'इ+इ+अतुस्' इस स्थिति में **'असंयोगाल्लिँट् कित्'** (४५२) द्वारा अतुस् के कित् होने से आर्धधातुकगुण का निषेध हो जाता है। तब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(५८०) दीर्घ इणः किति ।७।४।६९॥**

इणोऽभ्यासस्य दीर्घः स्यात् किति लिँटि। ईयतुः। ईयुः। इययिथ-इयेथ। एता। एष्यति। एतु। ऐत्, ऐताम्, आयन्। इयात्। ईयात्॥

अर्थः—कित् लिँट् परे होने पर इण् धातु के अभ्यास को दीर्घ हो।

व्याख्या—दीर्घः ।१।१। इणः ।६।१। किति ।७।१। अभ्यासस्य ।६।१। (**'अत्र लोपोऽभ्यासस्य'** से)। लिँटि ।७।१। (**'व्यथो लिँटि'** से)। अर्थः—(किति लिँटि) कित् लिँट् परे होने पर (इणः) इण् धातु के (अभ्यासस्य) अभ्यास के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश होता है।

'इ+इ+अतुस्' यहां पर 'अतुस्' प्रत्यय कित् लिँट् है अतः इस के परे होने पर प्रकृतसूत्र द्वारा इण् के अभ्यास इकार को दीर्घ होकर **'वार्णादाङ्गं बलीयः'** के अनुसार सवर्णदीर्घ का बाध कर उत्तरवर्त्ती इकार को **'इणो यण्'** (५७८) से यकार करने पर 'ईयतुः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार बहुवचन में—ईयुः।

म० पु० के एकवचन में सिप् को थल् होकर—इ+थ। इण् धातु एकाच् होने से अनिट् है। क्रादिनियम से लिँट् मात्र में इट् की प्राप्ति होती है परन्तु **'अचस्ता-स्वत्०'** (४८०) से थल् में निषेध हो जाता है। पुनः **'ऋतो भारद्वाजस्य'** (४८२) से विकल्प से इट् हो जाता है। इट्पक्ष में 'इ+इथ' इस स्थिति में द्वित्व हो कर—

है। **वार्णादाङ्गं बलीयः'** (वर्णसम्बन्धी कार्य की अपेक्षा अङ्गाधिकारप्रोक्त कार्य बलवान् होता है) परिभाषा के अनुसार पहले अङ्गाधिकार का कार्य होना चाहिये।

१. यहां यद्यपि 'अचः परस्मिन्०' (६९६) से ऐकार को स्थानिवत् अर्थात् इकार मान लेने से सवर्ण परे रहने के कारण इयँङ् नहीं हो सकता तथापि 'असवर्णे' कथन के सामर्थ्य से ऐसे स्थलों पर स्थानिवद् नहीं होता—ऐसा समझना चाहिये। अन्यथा इस सूत्र को कहीं अवकाश ही न मिलेगा और इस का निर्माण व्यर्थ हो जायेगा (देखो—'उवोख' की सिद्धि पर **लघुशब्देन्दुशेखर**)।

इ+इ+इथ। आर्धधातुकगुण हो कर—इ+ए+इथ। अब **'अभ्यासस्याऽसवर्णे'** (५७९) से अभ्यास के इकार को इयँङ् आदेश तथा **'एचोऽयवायावः'** (२२) से एकार को अय् आदेश करने पर—इय्+अय्+इथ='इययिथ' रूप सिद्ध होता है। इट् के अभाव में—इयेथ। द्विवचन और बहुवचन में 'ईयतुः' की तरह सिद्धि होती है—ईयथुः, ईय। उ० पु० में णल् विकल्प से णित् होता है (४५६) अतः णित्त्वपक्ष में वृद्धि तथा णित्त्वाभाव में गुण हो जाता है। शेष प्रक्रिया प्र० पु० के णल् की तरह होती है—इयाय-इयय। द्विवचन और बहुवचन में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है—ईयिव, ईयिम। लिँट् में रूपमाला यथा—**इयाय, ईयतुः, ईयुः। इययिथ-इयेथ, ईयथुः, ईय। इयाय-इयय, ईयिव, ईयिम।**

लुँट्—धातु के अनिट् होने से इट् का आगम कहीं नहीं होता, सर्वत्र गुण हो जाता है। रूपमाला यथा—**एता, एतारौ, एतारः।** लृँट्—**एष्यति, एष्यतः, एष्यन्ति।**

लोँट्—में लँट् की तरह प्रक्रिया हो कर लोँट् के विशेष कार्य हो जाते हैं। रूपमाला यथा—**एतु-इतात्**[1], **इताम्, यन्तु**[2]। **इहि**[3]**-इतात्, इतम्, इत। अयानि**[4], **अयाव, अयाम।**

लँङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, शब्लुक्, **'इतश्च'** (४२४) से इकारलोप तथा **'सार्वधातुकार्ध०'** (३८८) से गुण हो कर 'ए+त्' इस स्थिति में **'आडजादीनाम्'** (४४४) से आट् का आगम और **'आटश्च'** (१९७) से वृद्धि करने पर 'ऐत्' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में ङित्त्व के कारण गुण नहीं होता, आट् का आगम और वृद्धि करने पर—ऐताम्। बहुवचन में झि के झकार को अन्त् आदेश हो कर 'इ+अन्ति' इस स्थिति में इयँङ् का बाध कर **'इणो यण्'** (५७८) से यण् आदेश हो जाता है—य्+अन्ति। अब अङ्ग के अजादि न रहने से आट् का आगम प्राप्त नहीं होता। परन्तु 'असिद्धवदत्राऽऽभात्' (५६२) से यणादेश के असिद्ध होने से **आडजादीनाम्'** की दृष्टि में 'इ' ही रहता है। इस प्रकार अङ्ग के अजादि हो जाने से आट् का आगम निर्बाध हो जाता है—आ+य्+अन्ति। अब **'इतश्च'** (४२४) से इकार का लोप तथा **'संयोगान्तस्य लोपः'** (२०) से संयोगान्त तकार का लोप करने पर 'आयन्' प्रयोग सिद्ध होता है। म० पु० के एकवचन में सिप्, इकारलोप, गुण तथा आट् का आगम हो कर—आ+ए+स=ऐस्='ऐः' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन और बहुवचन में पूर्ववत्—ऐतम्, ऐत। उ० पु० के एकवचन में मिप् को अम् आदेश

---

१. तातङ् के ङित्त्व के कारण गुण का निषेध हो जाता है।

२. 'इणो यण्' (५७८)।

३. 'हि' अपित् है अतः ङित् हो जाने से गुण नहीं होता।

४. 'इ+आनि' यहां **'आडुत्तमस्य पिच्च'** (४१८) से आट् पित् है अतः ङिद्वत् नहीं होता। गुण और अयादेश होकर रूप सिद्ध हो जाता है।

तथा सार्वधातुकगुण हो कर—ए + अम् । अब आट् का आगम, वृद्धि और आयादेश करने पर 'आयम्' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन और बहुवचन में ङित्त्व के कारण गुण नहीं होता । रूपमाला यथा—**ऐत्, ऐताम्, आयन् । ऐः**[1], **ऐतम्, ऐत । आयम्, ऐव, ऐम** ।

वि० लिँङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, यासुट्, शप् तथा शब्लुक् हो कर—इ + यास् + त् । अब यासुट् के ङित् होने के कारण गुण नहीं होता । 'लिँङः सलोपः०' (४२७) से अनन्त्य सकार का लोप करने पर 'इयात्' प्रयोग सिद्ध होता है । रूपमाला यथा—**इयात्, इयाताम्, इयुः । इयाः, इयातम्, इयात । इयाम्, इयाव, इयाम** ।

आ० लिँङ्—में यासुट् कित् होता है अतः गुण का निषेध हो कर 'अकृत्सार्व०' (४८३) से सर्वत्र दीर्घ होता है—**ईयात्, ईयास्ताम्, ईयासुः** ।

अब उपसर्गयोग में 'ईयात्' के ईकार को ह्रस्वविधान करने के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(५८१) एतेर्लिँङि ।७।४।२४।।**

उपसर्गात् परस्य इणोऽणो ह्रस्व आर्धधातुके किति लिँङि । निरियात् । उभयत आश्रयणे नान्तादिवत् (प०)—अभीयात् । अणः किम् ? समेयात् ।।

अर्थः—उपसर्ग से परे इण् धातु के अण् को ह्रस्व आदेश होता है आर्धधातुक कित् लिँङ् परे हो तो[2] ।

व्याख्या—एतेः ।६।१। लिँङि ।७।१। अणः ।६।१। ('केऽणः' से) । 'उपसर्गात् ।५।१। ह्रस्वः ।१।१। (**'उपसर्गाद् ह्रस्व ऊहतेः'** से) । किति ।७।१। (**'अयङ् यि क्ङिति'** से उपयुक्त अंश) । अर्थः—(उपसर्गात्) उपसर्ग से परे (एतेः) इण् धातु के (अणः) अण् के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश हो जाता है (किति लिँङि) कित् लिँङ् परे हो तो । उदाहरण यथा—निर् + ईयात् = निर् + इयात् = निरियात् । सम् + ईयात् = सम् + इयात् = समियात् । उद् + ईयात् = उद् + इयात् = उदियात् ।

'अभि + ईयात्' यहां सवर्णदीर्घ हो कर 'अभीयात्' बन जाता है । अब यहां सवर्णदीर्घ से बने 'ई' को **'अन्तादिवच्च'** (४१) सूत्र से पर का आदि भाग मान कर

---

१. **सन्ध्यावन्दनवेलायां तन्तडागं द्विजोत्तमैः ।**
अत्र क्रियापदं गुप्तं यो जानाति स पण्डितः ।। (**द्विजोत्तम + ऐः**)

२. 'आर्धधातुके' पद की अनुवृत्ति कहीं से नहीं आती । 'किति लिँङि' इतना कहना ही पर्याप्त है । ग्रन्थकार ने बात को अधिक स्पष्ट करने के लिये ऊपर से इस का आक्षेप कर लिया है ।

'ईयात्' बन जाने से इण् धातु का अण् उपपन्न हो जाता है और इधर इसी ईकार को पूर्व का अन्तभाग मान कर 'अभि' यह उपसर्ग भी उपपन्न हो जाता है। इस प्रकार उपसर्ग से परे इण् के ईकार को प्रकृतसूत्र से ह्रस्व होना चाहिये परन्तु यह लोकविरुद्ध है। इस का समाधान करने के लिये यहां यह कहा गया है कि **'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्'**। अर्थात् एक ही काल में दोनों ओर का आश्रय करने पर **'अन्ता-दिवच्च'** (४१) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। **महाभाष्य** का यह वचन न्यायसिद्ध है। जैसे दो तुल्यबल व्यक्तियों का एक ही नौकर भिन्न-भिन्न दिशाओं में एक ही समय उन दोनों के द्वारा पृथक्-पृथक् कार्य कहने पर किसी का भी कार्य नहीं करता वैसे यहां भी एक ही समय एक ही वर्ण में पूर्वान्तवद्भाव और परादिवद्भाव युगपत् नहीं हो सकते। जब बुद्धि में पूर्वान्तवद्भाव उपस्थित होता है तब परादिवद्भाव नहीं रह सकता; इसी प्रकार जब बुद्धि में परादिवद्भाव उपस्थित होता है तब पूर्वान्तवद्भाव नहीं रह सकता। एक साथ दो परस्परविरुद्ध पदार्थ धूप छाया की तरह इकट्ठे नहीं रहते। अतः ऐसे स्थलों पर यदि 'ई' को उपसर्ग का अन्तिम भाग 'इ' मानते हैं तो 'अभि' उपसर्ग तो उपपन्न हो जाता है परन्तु उस के आगे 'यात्' रहता है इण् धातु का अण् नहीं। इसी प्रकार यदि 'ई' को इण् का आदि ईकार स्वीकार करते हैं तो 'ईयात्' तो उपपन्न हो जाता है परन्तु इधर 'अभ्' रहता है जो उपसर्ग नहीं, अतः **'एतेर्लिङि'** (५८१) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता।[1]

इस सूत्र में 'अणः' की अनुवृत्ति लाई गई है। अण् प्रत्याहार **'अणुदित्सवर्णस्य०'** (११) सूत्र के सिवाय सब जगह 'अ इ उ ण्' वाले णकार से ही ग्रहण किया जाता है। इस से—आ + ईयात् = एयात्, सम् + एयात् = समेयात्, इत्यादि रूपों में एकार को ह्रस्व न होगा, क्योंकि 'ए' अण् नहीं[2]।'

---

१. यदि हम केवल परादिवद्भाव मान कर 'ई' को इण् धातु का भाग मान लें और इधर 'अभ्' को **'एकदेशविकृतमनन्यवत्'** से उपसर्ग मान लें तो तब दोनों ओर का आश्रयण नहीं रहेगा, अतः **'एतेर्लिङि'** (५८१) की प्रवृत्ति में कोई अड़चन नहीं पड़ेगी—यहां यह शङ्का व्युत्पन्न विद्यार्थियों के मन में प्रायः उत्पन्न हुआ करती है। इस का समाधान यह है कि कुछ स्थान ऐसे भी होते हैं जहां एकदेशविकृत-न्याय प्रवृत्त नहीं होता। यथा दो संख्या में यदि एक और जोड़ कर तीन बना लें या उस में से एक निकाल कर एक कर दें तो वहां एकदेशविकृतन्याय से द्वित्व नहीं रहेगा। इसी प्रकार 'प्र, परा' आदि परिच्छिन्न शब्दों की इस शास्त्र में उप-सर्गसञ्ज्ञा होने से उन में यदि न्यूनाधिक हो जायेगा तो उपसर्गत्व नहीं रहेगा। अतः 'अभ्' के उपसर्ग न होने से 'अभीयात्' में ह्रस्व न होगा।

२. वस्तुतः यहां **'वार्णादाङ्गं बलीयः'** परिभाषा के अनुसार पहले ह्रस्वविधान

लुँङ्—की विवक्षा में इण् को **'गा'** आदेश करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५८२) इणो गा लुँङि ।२।४।४५॥

गातिस्था० (४३९) इति सिँचो लुक्—अगात् । ऐष्यत् ॥

अर्थः—लुँङ् की विवक्षा में इण् धातु के स्थान पर 'गा' आदेश हो ।

व्याख्या—इणः ।६।१। गा ।१।१। (लुप्तविभक्तिको निर्देशः) । लुँङि ।७।१। (विषयसप्तमीयम्) । अर्थः—(लुँङि) लुँङ् के विषय में अर्थात् लुँङ् कहने की इच्छा हो तो (इणः) इण् धातु के स्थान पर (गा) 'गा' आदेश हो । यह 'गा' आदेश लुँङ् के आने से पूर्व ही हो जाता है, लुँङ् की उत्पत्ति बाद में होती है ।

अब हमें इण् धातु से लुँङ् की विवक्षा है अतः प्रकृतसूत्र से इण् को गा आदेश हो कर लुङ्, तिप्, इतश्च, च्लि, सिँच् और **'लुँङ्लँङ्लृँङ्क्ष्वडुदात्तः'** (४२३) से अट् का आगम हो कर 'अ + गा + स् + त्' इस स्थिति में **'गातिस्थाघु०'** (४३९) सूत्र से सिँच् का लुक् करने से 'अगात्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि 'गा' आदेश लुँङ् आने से पूर्व उस की विवक्षा में ही हो जाता है । अतः लुङ् के उत्पत्तिकाल में धातु के अजादि न रहने से आट् का आगम नहीं हो सकता । लुँङ् में रूपमाला यथा—**अगात्, अगाताम्, अगुः । अगाः, अगातम्, अगात । अगाम्, अगाव, अगाम** । 'अगुः' की सिद्धि में **'आतः'** (४६१) से झि को जुस् तथा **'उस्यपदान्तात्'** (४६२) से पररूप एकादेश हो जाता है ।

लृँङ्—में इट् का निषेध, आट् का आगम तथा **'आटश्च'** (१६७) से वृद्धि हो जाती है । रूपमाला यथा—**ऐष्यत्, ऐष्यताम्, ऐष्यन्** आदि ।

उपसर्गयोग—अभि√इण् (अभ्येति)=पास जाना (**ततोऽभ्यगाद् गाधिसुतः क्षितीन्द्रम्**—(भट्टि० १.१७); **सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा**—माघ २.१००) ।

अति√इण् (अत्येति)=लांघना, पार करना (**सत्यमतीत्य हरितो हरींश्च**

कर तब वर्णसन्धि करनी चाहिये । इस तरह 'समेयात्' में कोई दोष नहीं आयेगा। **'लक्ष्ये लक्षणस्य सकृदेव प्रवृत्तिः'** (एक लक्ष्य में एक सूत्र की प्रवृत्ति एक बार ही हुआ करती है) इस के अनुसार ऐसे स्थलों पर दुबारा सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा । अतः 'अणः' पद के अनुवर्त्तन की कोई आवश्यकता नहीं । किञ्च इसी प्रकार 'अभीयात्' में भी पहले ह्रस्व कर बाद में वर्णकार्य (सवर्णदीर्घ) करना चाहिये, इस से **'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्'** के आश्रय की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती । विस्तार के लिये इसी स्थल पर **लघुशब्देन्दुशेखर** देखें ।

वर्तन्ते वाजिनः—शाकुन्तल १; अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्त्तते—हितो०)।

अव√इण् (अवैति) = जानना (अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्तेः—रघु० २.३५; भवानपीदं परवानवैति—रघु० २.५६)।

अप√इण् (अपैति) = दूर हटना, परे होना (धर्मोऽपैति पादशः—मनु० १.८२; रम्या नवद्युतिरपैति न शाद्वलेभ्यः—किरात० ५.३७)।

वि + अति√इण् (व्यत्येति) = व्यतीत होना, गुजरना (सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य—रघु० २.२५)।

उद्√इण् (उदेति) = उदय होना, उत्पन्न होना (न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्—शाकुन्तल १.२२; उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलम्—शाकुन्तल ७.३०)।

उप√इण् (उपैति) = पास जाना, प्राप्त होना (उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः—हितो० ३१; कृतान्तवशादुपैति—हितो० १.४०)।

अभि + उप√इण् (अभ्युपैति) = प्राप्त होना, समीप आना (व्यतीतकालस्त्वहमभ्युपेतः—रघु० ५.१४); स्वीकार करना, बीड़ा उठाना, करने की ठान लेना (मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः—मेघ० ३०)।

आ√इण् (ऐति) = आना (ऐति स्म रामः पथि जामदग्न्यः—भट्टि० २.५०)।

सम् + अव√इण् (समवैति) = इकट्ठे होना (धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः—गीता १.१)।

निर्√इण् (निरेति) = निकलना (अगान्निरगान्मधुपावलिः—माघ ६.७)।

प्र√इण् (प्रैति) = हटना, अलग होना (प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति—केनोप० २.५); मरना (गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु—मनु० ५.६५)।

सम्√इण् (समेति) = इकट्ठे होना (पार्थिवाः सर्वे समीयुस्तत्र भारत—महा०)।

परा√इण् (परैति) = दूर भागना (यः परैति स जीवति—पञ्च० ५.८४)।

सम् + उद्√इण् (समुदेति) = इकट्ठे होना (मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः—रत्नावली १.६)।

प्रति√इण् (प्रत्येति) = जानना-समझना-पहचानना-विश्वास करना (क एतां प्रत्येति सैवेयमिति—उत्तर० ४; प्रतीयते धातुरिवेहितं फलैः—किरात० १.२०; सैकतेषु कलहंसमालाः प्रतीयिरे निनादैः—भट्टि० २.१८); प्रसिद्ध होना। चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि काव्यतः सुप्रतीतैव—साहित्यदर्पण १)।

अभि + उद्√इण् (अभ्युदेति) = उदय होना (तं चेदभ्युदियात् सूर्यः—मनु० २.२२०; 'अभिरभागे' इत्यभेः कर्मप्रवचनीयता, ततः कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया)।

अनु√इण् (अन्वेति) पीछे लगना, अनुसरण करना (शुनीमन्वेति श्वा हत-

मपि च हन्त्येव मदनः— भर्तृहरि); सम्बन्ध रखना (**परस्परनिरपेक्षस्यानेकस्य एकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः**—सि० कौ०)।

अभि + प्र √इण् (अभिप्रैति) सम्बद्ध करने की इच्छा करना (**कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्**— १.४.३२); अभिप्राय रखना (**किमभिप्रेतमनया**— शृङ्गार० ६३)।

नोट—उप + एति, अप + एति, अव + एति इत्यादियों में '**एङि पररूपम्**' (३८) से पररूप प्राप्त था उस का बाध कर '**एत्येधत्यूठ्सु**' (३४) से वृद्धि एकादेश हो जाता है—उपैति, अपैति, अवैति आदि। ध्यान रहे कि यदि इण् धातु एजादि न होगी तो वृद्धि न होगी, गुण हो जायेगा—उप + इतः = उपेतः, आ + इतः = एतः।

अभ्यास (७)

(१) निम्न दस प्रश्नों का सप्रमाण संक्षिप्त उत्तर दीजिये—

(क) 'झोऽन्तः' में अन्त् आदेश के आदि में 'अ' जोड़ने का क्या प्रयोजन है?

(ख) अदादियों से परे शप् का लोप न कर लुक् क्यों किया गया है?

(ग) यदि लोट् लङ्वत् है तो 'यान्तु' में 'लङः शाकटायनस्यैव' सूत्र प्रवृत्त क्यों नहीं होता?

(घ) 'वेद्मि' में 'तन्मात्रम्' की तरह अनुनासिक क्यों नहीं होता?

(ङ) 'वध' आदेश को अदन्त क्यों माना गया है?

(च) 'जहि' में 'अतो हेः' द्वारा हि का लुक् क्यों नहीं होता?

(छ) 'वेत्थ' में थल् को इट् का आगम क्यों नहीं होता?

(ज) 'रुदिहि' में 'हुझल्भ्यः०' से हि को धि क्यों नहीं होता?

(झ) 'जघसिथ' में भारद्वाजनियम क्यों प्रवृत्त नहीं होता?

(ञ) 'अभीयात्' में 'एतेर्लिङि' से ह्रस्व क्यों नहीं होता?

(२) आभीय किसे कहते हैं और इनमें क्या विशेषता होती है?

(३) 'पुरुषवचने अविवक्षिते' पर एक सारगर्भित नोट लिखें।

(४) निम्न परिभाषाओं का सोदाहरण विवेचन करें—

(क) वार्णादाङ्गं बलीयः।

(ख) उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्।

(ग) मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्।

(५) 'श्नसोरल्लोपः' के स्थान पर 'श्नासोरल्लोपः' सूत्र होना चाहिये था, क्या पाणिनिजी अपने सन्धिनियम भी भूल गये?

(६) 'तनादिकृञ्भ्य उः' में कृञ् के पृथक् उल्लेख का क्या प्रयोजन है? क्या इसे तनादियों के अन्तर्गत नहीं पढ़ा गया?

(७) 'विदो लटो वा' में किस विद् धातु का ग्रहण करना चाहिये और वह क्यों?

(८) निम्न सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—

असिद्धवदत्राभात्, ध्वसोरेद्धाव०, एतेर्लिङि, दश्च, अनुदात्तोपदेश०, श्नसोरल्लोपः, उपसर्ग-प्रादुर्भ्याम्०, शासिवसि०, विदांकुर्व०, उतो वृद्धिः०, इडत्यर्ति० ।

(९) निम्न पाञ्च प्रश्नों का उत्तर दीजिये—

(क) 'आर्धधातुके' में विषयसप्तमी क्यों मानी जाती है ?

(ख) आयन् और आस्ताम् में हलादि अङ्ग को आट् कैसे ?

(ग) 'ष्णा' धातु को षोपदेश करने का क्या प्रयोजन है ?

(घ) 'जक्षतुः' में 'आदेशप्रत्यययोः' द्वारा षत्व क्यों नहीं होता ?

(ङ) 'विदाञ्चकार' में आम्निमित्तक लघूपधगुण क्यों न हो ?

(१०) निम्न रूपों की सूत्रोल्लेखपूर्वक सिद्धि करें—

प्रादुःषन्ति, स्नेयात्, एधि, अद्धि, ईयतुः, अवधीत्, आयन्, अवेः, अगात्, जक्षतुः, जहि, अहन्, अविदुः, आसीत्, जघ्नतुः, विदाङ्कुरुतात्, अयुः,-अयान्, युयात्, इयाय, हतः ।

(११) निम्नस्थ रूपों में **अदादिगण** की दृष्टि से विचार करें—

रामः-राम; लाता-पाता; भात-लात-रात-पात; वायुः-पायुः-स्नायुः; यानि-पानि-असानि ।

(यहां पर अदादिगण की परस्मैपदी धातुओं का विवेचन समाप्त होता है ।)

—: ० :—

अब अदादिगण की आत्मनेपदी धातुओं का वर्णन प्रारम्भ होता है—

[लघु०] शीङ् स्वप्ने ॥१९॥

अर्थः—शीङ् (शी) धातु 'शयन करना या सोना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—शीङ् धातु ङित् है अतः **'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** (३७८) के अनुसार इस से आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं । 'ऊद्दन्तैः०' कारिका में इस का परिगणन किया गया है अतः अनुदात्तबाह्य होने से इस से परे इट् का निषेध नहीं होता ।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में शप् और शप् का लुक् हो कर—शी + त । **अब यहां 'सार्वधातुकमपित्'** (५००) द्वारा त' ङित् है अतः इसके परे होने पर **'सार्वधातुकार्ध०'** (३८८) से प्राप्त गुण का **'क्क्ङिति च'** (४३३) से निषेध हो जाता है । इस पर गुण करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५८३) शीङः सार्वधातुके गुणः ।७।४।२१॥

क्क्ङिति च (४३३) इत्यस्यापवादः । शेते । शयाते ॥

अर्थः—सार्वधातुक परे हो तो शीङ् को गुण हो जाता है ।

व्याख्या—शीङः ।६।१। सार्वधातुके ।७।१। गुणः ।१।१। अर्थः—(सार्वधातुके)

सार्वधातुक परे हो तो (शीङः) शीङ् के स्थान पर (गुणः) गुण आदेश हो। **'इको गुण-वृद्धी'** (१.१.३) परिभाषा से **शीङ्** के ईकार के स्थान पर ही गुण होगा। सार्वधातुक परे होने पर गुण तो **'सार्वधातुकार्ध०'** (३८८) से भी प्राप्त था, परन्तु उस का **'क्क्ङिति च'** (४३३) से निषेध हो जाता था। अब विशेष विधान होने से इस का निषेध नहीं होगा। इस प्रकार यह सूत्र **'क्क्ङिति च'** (४३३) का अपवाद ठहरता है।

'शी+त' यहां 'त' यह सार्वधातुक प्रत्यय परे है अतः प्रकृतसूत्र से शीङ् के ईकार को एकार गुण हो कर 'शे+त' इस स्थिति में **'टित आत्मने०'** (५०८) से टि को एत्व करने पर 'शेते' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्र० पु० के द्विवचन में आताम्, शप्, शब्लुक्, गुण (५८३) तथा टि को एत्व हो कर—शे+आते। अब **'एचोऽयवायावः'** (२२) से एकार को अय् आदेश करने से 'शयाते' प्रयोग सिद्ध होता है।

बहुवचन में **'आत्मनेपदेष्वनतः'** (५२४) से 'झ' के झकार को अत् आदेश हो कर 'शी+अत् अ' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (५८४) शीङो रुँट् ।७।१।६।।

शीङः परस्य झादेशस्यातो रुँडागमः स्यात्। शेरते। शेषे, शयाथे, शेध्वे। शये, शेवहे, शेमहे। शिश्ये, शिश्याते, शिश्यिरे। शयिता। शयिष्यते। शेताम्, शयाताम्, शेरताम्। अशेत, अशयाताम्, अशेरत। शयीत, शयीयाताम्, शयीरन्। शयिषीष्ट। अशयिष्ट। अशयिष्यत।।

अर्थः—शीङ से परे 'झ्' के स्थान पर आदेश हुए 'अत्' को रुँट् का आगम हो।

व्याख्या—शीङः ।५।१। रुँट् ।१।१। झः ।६।१। ('झोऽन्तः' से)। अतः ।६।१। (**'अदभ्यस्तात्'** से 'अत्' की अनुवृत्ति आकर उस का षष्ठयन्ततया विपरिणाम हो जाता है)। अर्थः—(शीङः) शीङ् से परे (झः) झ् के स्थान पर हुए (अतः) 'अत्' का अवयव (रुँट्) रुँट् बन जाता है। रुँट् में उकार और टकार इत्संज्ञक हैं। टित् होने के कारण रुँट् का आगम 'अत्' का आद्यवयव बनता है।

'शी+अत् अ' यहां शी से परे झादेश 'अत्' विद्यमान है। अतः प्रकृतसूत्र से उसे रुँट् का आगम हो कर **'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते'** (प०) से सार्वधातुक होने से उस के परे रहते **'शीङः सार्वधातुके गुणः'** (५८३) से शीङ् को गुण करने पर शे+र् अत् अ। अब **'टित आत्मने०'** (५०८) से टि को एत्व हो कर 'शेरते' प्रयोग सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि 'झ' प्रत्यय को रुँट् का आगम नहीं कहा, अत् आदेश को कहा है। यदि 'झ' प्रत्यय को ही रुँट् का आगम कह देते तो पहले रुँट् हो कर बाद में 'आत्मनेपदेष्वनतः' (५२४) से 'झ' के झकार को अत् आदेश न हो सकता। विस्तार के लिये काशिका तथा शेखर (भैरवी टीका) का अवलोकन करें।

म० पु० के एकवचन में थास् को से आदेश हो कर गुण और षत्व करने पर—शेषे। उ० पु० के एकवचन में गुण हो कर टि को एत्व तथा 'एचोऽयवायावः' (२२) से अयादेश करने पर—शये। लँट् में रूपमाला यथा—शेते, शयाते, शेरते। शेषे, शयाथे, शेध्वे। शये, शेवहे, शेमहे।

लिँट्—प्र०पु० के एकवचन में त, उसे एश् आदेश, द्वित्व तथा अभ्यास को ह्रस्व हो कर—शि+शी+ए। अब अङ्ग के अनेकाच् होने से 'अचि श्नु०' (१९९) से प्राप्त इयँङ् आदेश का बाध कर 'एरनेकाचः०' (२००) से यण् आदेश हो जाता है—शिश्ये। इसी प्रकार द्विवचन और बहुवचन में—शिश्याते, शिश्यिरे। म०पु० के एकवचन में 'से' को इट् का आगम हो जाता है—शिश्यिषे। बहुवचन में 'विभाषेटः' (५२७) से ध्वम् के धकार को विकल्प से ढकार हो जाता है—शिश्यिढ्वे-शिश्यिध्वे। वहि और महिङ् में इट् का आगम हो जाता है। रूपमाला यथा—शिश्ये, शिश्याते, शिश्यिरे। शिश्यिषे, शिश्याथे, शिश्यिढ्वे-शिश्यिध्वे। शिश्ये, शिश्यिवहे, शिश्यिमहे।

लुँट्—में इट्, गुण और अयादेश हो जाता है—शयिता, शयितारौ शयितारः। शयितासे—। लृँट्—शयिष्यते, शयिष्येते, शयिष्यन्ते। लोँट्—में लँट् की तरह कार्य हो कर अपने विशिष्ट कार्य हो जाते हैं—शेताम्, शयाताम्, शेरताम्। शेष्व, शयाथाम्, शेध्वम्। शयै, शयावहै, शयामहै। लँङ्—में शप् का लुक् होकर 'शीङः सार्वधातुके गुणः' (५८३) से सर्वत्र गुण हो जाता है। लकार के टित् न होने से टि को एत्व नहीं होता—अशेत, अशयाताम्, अशेरत। अशेथाः, अशयाथाम्, अशेध्वम्। अशयि, अशेवहि, अशेमहि। वि० लिँङ्—में सर्वत्र गुण हो कर अयादेश हो जाता है—शयीत, शयीयाताम्, शयीरन्। शयीथाः, शयीयाथाम्, शयीध्वम्। शयीय, शयीवहि, शयीमहि। आ० लिँङ्—में प्रत्यय आर्धधातुक होते हैं अतः 'शीङः सार्वधातुके गुणः' (५८३) से गुण न होकर 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से गुण हो जाता है—शयिषीष्ट, शयिषीयास्ताम्, शयिषीरन्। शयिषीष्ठाः, शयिषीयास्थाम्, शयिषीढ्वम्-शयिषीध्वम् (विभाषेटः ५२७)। शयिषीय, शयिषीवहि, शयिषीमहि। लुँङ्—में भी 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से गुण होता है—अशयिष्ट, अशयिषाताम्, अशयिषत। अशयिष्ठाः, अशयिषाथाम्, अशयिढ्वम्-अशयिध्वम् (विभाषेटः ५२७)। अशयिषि, अशयिष्वहि, अशयिष्महि। लृँङ्—में कुछ विशेष नहीं—अशयिष्यत, अशयिष्येताम्, अशयिष्यन्त।

उपसर्गयोग—सम्√शी (संशेते)=संशय करना (संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः—किरात० ३.१४)। अति√शी (अतिशेते)=लाङ्घना (पूर्वान् महाभाग तयाऽतिशेषे—रघु० ५.१४)। अधि√शी (अधिशेते)=रहना-पड़ना (शय्यामधिशेते, यहां 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' १.४.४६ से अधिकरण की कर्मसंज्ञा होकर उस में द्वितीया विभक्ति हो जाती है)। अनु√शी (अनुशेते)=पश्चात्ताप करना (प्रदत्तमिष्टमपि नान्वशेत सः—माघ १४.४५; पुराऽनुशेते तव चञ्चलं मनः—किरात० ८.८)।

[लघु०] इङ् अध्ययने ॥२०॥ इङिकावध्युपसर्गतो न व्यभिचरतः। अधीते, अधीयाते, अधीयते ॥

अर्थः—इङ् धातु 'पढ़ना' अर्थ में प्रयुक्त होती है। इङिको०—इङ् धातु तथा 'इक् स्मरणे' धातु अधि उपसर्ग के विना कभी प्रयुक्त नहीं होते।

व्याख्या—इङ् धातु ङित् होने से आत्मनेपदी है। इस का प्रयोग सदा पूर्व में अधि उपसर्ग लगा कर ही किया जाता है। यदि कोई अन्य उपसर्ग लगाना भी हो तो पहले 'अधि' लगा कर बाद में उस का योग करना चाहिये। यथा—प्राधीते, प्राध्यापकः, समधीते आदि। पठ् और इस के अर्थ में कुछ अन्तर है। साधारण पढ़ने में पठ् धातु का तथा नियमपूर्वक या अर्थ समझ कर पढ़ने में इङ् धातु का प्रयोग करना चाहिये। जैसा कि महाभाष्य (१.३.१) की व्याख्या में कैयटोपाध्याय लिखते हैं—ततश्च 'अधीते' इत्यस्य विशिष्टार्थयुक्तानां शब्दानां पठनं विधिपूर्वकं वा करोतीत्यर्थः। नागेशभट्ट इसी स्थल पर टिप्पण करते हैं—केचित्तु अवगमपर्यन्तत्वरूप उत्कर्षोऽधेरर्थ इत्याहुः। अधीते=नियमपूर्वक पढ़ता है या अर्थ समझ कर पढ़ता है। इस धातु के रूपों को पहले सिद्ध कर बाद में उस रूप के साथ 'अधि' का योग कर के सन्धि कर ली जाती है।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में त, शप्, शब्लुक्, 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से 'त' के ङिद्वत् होने से गुण (३८८) का निषेध तथा 'टित आत्मने०' (५०८) से टि को एत्व करने पर 'इते' बना। अब 'अधि' उपसर्ग का योग करने पर सवर्णदीर्घ करने से 'अधीते' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में 'इ+आताम्' यहां अङ्ग के अनेकाच् न होने से 'एरनेकाचः०' (२००) द्वारा यण् नहीं हो सकता, 'अचि श्नु०' (१९९) से धातु के इकार को इयँङ् आदेश तथा टि को एत्व करने से—इयाते। अधि+इयाते=अधीयाते। बहुवचन में 'इ+झ' इस स्थिति में 'आत्मनेपदेष्वनतः' (५२४) से झ् को अत् आदेश, इकार को इयँङ् तथा टि को एत्व करने पर—इयते। अधि+इयते=अधीयते। म०पु० के एकवचन में थास् को से आदेश होकर षत्व करने से—इषे। अधि+इषे=अधीषे। द्विवचन में—इ+आथाम्=इय्+आथाम्=इयाथे, अधि+इयाथे=अधीयाथे। बहुवचन में—इ+ध्वम्=इ+ध्वे, अधि+इध्वे=

अधीध्वे । उ०पु० के एकवचन में—इ+इ, सवर्णदीर्घ का बाध कर इयँङ् आदेश—इय्+इ, टि को एत्व कर—इये, अधि+इये=अधीये । द्विवचन में—इ+वहि=इवहे, अधीवहे । बहुवचन में—इ+महि=इमहे, अधीमहे । लँट् में रूपमाला यथा—अधीते, अधीयाते, अधीयते । अधीषे, अधीयाथे, अधीध्वे । अधीये, अधीवहे, अधीमहे ।

लिँट्—की विवक्षा में अग्रिमसूत्रप्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५८५) गाङ् लिँटि ।२।४।४९॥

इङो गाङ् स्याल्लिँटि । अधिजगे, अधिजगाते, अधिजगिरे । अध्येता । अध्येष्यते । अधीताम्, अधीयाताम्, अधीयताम् । अधीष्व, अधीयाथाम्, अधीध्वम् । अध्ययै, अध्ययावहै, अध्ययामहै । अध्यैत, अध्यैयाताम्, अध्यैयत । अध्यैथाः, अध्यैयाथाम्, अध्यैध्वम् । अध्यैयि, अध्यैवहि, अध्यैमहि । अधीयीत, अधीयीयाताम्, अधीयीरन् । अध्येषीष्ट ॥

अर्थः—लिँट् की विवक्षा में इङ् धातु के स्थान पर गाङ् आदेश हो ।

व्याख्या—इङः ।६।१। ('इङश्च' से)। गाङ् ।१।१। लिँटि ।७।१। विषयसप्तमीयम् । अर्थः—(लिँटि) लिँट् की विवक्षा होने पर (इङः) इङ् धातु के स्थान पर (गाङ्) गाङ् आदेश हो । गाङ् में ङकार इत्सञ्ज्ञक है अतः 'गा' ही अवशिष्ट रहता है । ङित् होने से इस से परे लकार के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं । यहां यद्यपिस्थानिवद्भाव के कारण 'गा' को ङित् मान कर आत्मनेपद प्रत्यय किये जा सकते हैं तथापि 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन् ङित्' (५८७) सूत्र में केवल इसी का ग्रहण हो अन्य का नहीं— इसके लिये इसे ङित् किया गया है।

हमें यहां लिँट् की विवक्षा है अतः प्रकृतसूत्र से इङ् को गाङ् आदेश, उस से लिँट्, प्र०पु० के एकवचन में 'त' प्रत्यय तथा उसे एश् आदेश हो कर—गा+ए । अब धातु को द्वित्व, अभ्यासह्रस्व, 'कुहोश्चुः' (४५४) से अभ्यास के गकार को जकार तथा 'आतो लोप इटि च'(४८९)से आकार का लोप करने से—जगे । अधि+जगे='अधिजगे' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार द्विवचन और बहुवचन में 'अधिजगाते, अधिजगिरे' । म०पु० के एकवचन में थास् को से आदेश होकर—गा+से । यहां इङ् धातु अनुदात्त थी, तत्स्थानी होने से गाङ् आदेश भी अनुदात्त हुआ । अतः इस से परे इट् का निषेध प्राप्त होने पर क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है—गा+इसे । अब द्वित्व आदि कार्य करने पर जगिषे, अधि+जगिषे='अधिजगिषे' प्रयोग सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि गाङ् का तास् में प्रयोग न होने से तथा आत्मनेपदित्वात् थल् न आने से 'अचस्तास्वत्०' (४८०) और 'ऋतो भारद्वाजस्य' (४८२) सूत्रों की प्रवृत्ति नहीं होती । ध्वम् में भी इसी तरह—अधिजगिध्वे । वहि, महिङ् में क्रादि॰

नियम से नित्य इट् हो जाता है। लिँट् में रूपमाला यथा—अधिजगे, अधिजगाते, अधिजगिरे। अधिजगिषे, अधिजगाथे, अधिजगिध्वे। अधिजगे, अधिजगिवहे, अधिजगिमहे। सर्वत्र 'आतो लोप इटि च' (४८९) से आकार का लोप हो जाता है।

लुँट्—अनुदात्तत्वात् इट् का निषेध होकर सर्वत्र आर्धधातुकनिमित्तक गुण हो जाता है—अध्येता, अध्येतारौ, अध्येतारः। अध्येतासे—। लृँट्—अध्येष्यते, अध्येष्येते, अध्येष्यन्ते।

लोँट्—प्र०पु० के एकवचन में लँट् की तरह 'इते' बना कर 'आमेतः' (५१७) से एकार को आम् आदेश करने पर—इताम्, अधि+इताम्='अधीताम्' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में—अधि+इयाताम्=अधीयाताम्। बहुवचन में—अधि+इयताम्=अधीयताम्। म०पु० के एकवचन में—अधि+इष्व=अधीष्व। द्विवचन में—अधि+इयाथाम्=अधीयाथाम्। बहुवचन में—अधि+इध्वम्=अधीध्वम्। उ० पु० के एकवचन में—इ+इ=इ+ए ('टित आत्मने०' ५०८)=इ+ऐ ('एत ऐ' ५१९)=इ+आट्+ऐ ('आडुत्तमस्य पिच्च' ४१८)=इ+ऐ (आटश्च १९७)=ए+ऐ ('सार्वधातुकार्ध०' ३८८)=अयै ('एचोऽयवा०'२२)=अधि+अयै='अध्ययै' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में—इ+अयावहै=ए+अयावहै=अयावहै=अधि+अयावहै=अध्ययावहै। इसी प्रकार बहु० में—अध्ययामहै। रूपमाला यथा—अधीताम्, अधीयाताम्, अधीयताम्। अधीष्व, अधीयाथाम्, अधीध्वम्। अध्ययै, अध्ययावहै, अध्ययामहै।

लँङ्—प्र पु० के एकवचन में 'त' प्रत्यय, शप् का लुक्, ङिद्वद्भाव से गुण का अभाव, आट् का आगम तथा वृद्धि एकादेश करने पर—ऐत, अधि+ऐत='अध्यैत' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में 'इ+आताम्' इस स्थिति में इयँङ् हो कर—इयाताम्, आट् का आगम और वृद्धि करने पर—ऐयाताम्, अधि+ऐयाताम्=अध्यैयाताम्। बहुवचन में 'झ' प्रत्यय, झकार को अत् आदेश तथा इकार को इयँङ् आदेश होकर—इयत, आट् का आगम तथा वृद्धि करने पर—ऐयत, अधि+ऐयत=अध्यैयत। म० पु० के एकवचन में—इ+थास्, आट् का आगम तथा वृद्धि करने पर—ऐथाः, अधि+ऐथाः=अध्यैथाः। द्विवचन में—इ+आथाम्, इयँङ् हो कर—इयाथाम्, आट् और वृद्धि करने पर—ऐयाथाम्, अधि+ऐयाथाम्=अध्यैयाथाम्। इसी प्रकार बहुवचन में—अध्यैध्वम्। उ० पु० के एकवचन में—इ+इ, इय्+इ, आट्+इय्+इ, ऐयि, अध्यैयि। द्विवचन और बहुवचन में—अध्यैवहि, अध्यैमहि। रूपमाला यथा—अध्यैत, अध्यैयाताम्, अध्यैयत। अध्यैथाः, अध्यैयाथाम्, अध्यैध्वम्। अध्यैयि, अध्यैवहि, अध्यैमहि।

वि० लिँङ्—प्र० पु० के एकवचन में—इ+त, सीयुट् का आगम, सकार और यकार का लोप करने पर—इ+ईत। 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित्त्व के कारण

गुण का निषेध हो जाता है, तब धातु के इकार को इयँङ् होकर—इयीत, अधि+इयीत='अधीयीत' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में—इ+ईय् आताम्=इयीयाताम्=अधीयीयाताम्। बहुवचन में 'झ' को रन् आदेश हो कर—इ+ई रन्=इयीरन्=अधीयीरन्। म० पु० के एकवचन में—इ+ई थास्=इयीथास्=इयीथाः=अधीयीथाः। द्विवचन और बहुवचन में पूर्ववत्—अधीयीयाथाम्, अधीयीध्वम्। उ० पु० के एकवचन में 'इटोऽत्' (५२२) से इट् को अत् होकर—इ+ईय् अ=इय्+ईय=इयीय='अधीयीय'। द्विवचन और बहुवचन में=अधीयीवहि, अधीयीमहि। रूपमाला यथा—अधीयीत, अधीयीयाताम्, अधीयीरन्। अधीयीथाः, अधीयीयाथाम्, अधीयीध्वम्। अधीयीय, अधीयीवहि, अधीयीमहि।

आ० लिँङ्—प्र० पु० के एकवचन में—इ+त। सीयुँट् और सुँट् के आगम होकर—इ+सी+स्+त। यहां लिँङ् सार्वधातुक नहीं अतः सकार का लोप नहीं होता, किञ्च 'सार्वधातुकमपित्'(५००) से ङिद्वद्भाव न होने के कारण गुण का निषेध भी नहीं होता। 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से आर्धधातुकनिमित्तक गुण करने पर—ए+सी+स्+त=एषीष्ट=अधि+एषीष्ट='अध्येषीष्ट' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये। रूपमाला यथा—अध्येषीष्ट, अध्येषीयास्ताम्, अध्येषीरन्। अध्येषीष्ठाः, अध्येषीयास्थाम्, अध्येषीढ्वम्। अध्येषीय, अध्येषीवहि, अध्येषीमहि।

लुँङ् ओर लृँङ् के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५८६) विभाषा लुँङ्-लृँङोः।२।४।५०॥

इङो गाङ् वा स्यात्॥

अर्थः—लुँङ् और लृँङ् की विवक्षा में इङ् के स्थान पर विकल्प से गाङ् आदेश हो।

व्याख्या—विभाषा।१।१। लुँङ्-लृँङोः।७।२। इङः।६।१। ('इङश्च' से)। गाङ्।१।१। ('गाङ् लिँटि' से)। अर्थः—(लुँङ्-लृँङोः) लुँङ् या लृँङ् की विवक्षा में (इङः) इङ् के स्थान पर (विभाषा) विकल्प से (गाङ्) गाङ् आदेश हो।

लुँङ् की विवक्षा में इङ् को वैकल्पिक गाङ् आदेश होकर गाङ्पक्ष में प्र० पु० के एकवचन की विवक्षा में—गा+त। अब 'च्लि लुँङि' (४३७) से च्लि तथा 'च्लेः सिँच्' (४३८) से च्लि को सिँच् करने पर 'गा+स्+त' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेशसूत्रम्—(५८७) गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन् ङित्।१।२।१॥

गाङादेशात् कुटादिभ्यश्च परेऽञ्णितः प्रत्यया ङितः स्युः॥

अर्थः—गाङ् आदेश तथा कुटादि धातुओं से परे ञित्-णित् से भिन्न प्रत्यय ङिद्वत् हों।

व्याख्या—गाङ्-कुटादिभ्यः ।५।३। अञ्णित् ।१।१। ङित् ।१।१। कुट आदिर्येषां ते कुटादयः, गाङ् च कुटादयश्च गाङ्कुटादयः, तेभ्यः—गाङ्कुटादिभ्यः । ञ् च ण् च ञ्णौ, इतरेतरद्वन्द्वः । ञ्णौ इतौ यस्य स ञ्णित्, न ञ्णित्—अञ्णित्, बहुव्रीहिगर्भ-नञ्तत्पुरुषः । अर्थः—(गाङ्कुटादिभ्यः) गाङ् तथा कुटादियों से परे (अञ्णित्) ञित् णित् से भिन्न प्रत्यय (ङित्) ङिद्वत् होता है । ङिद्वत् करने का प्रयोजन उस के परे होने पर धातुओं में ईत्व करना या गुण-वृद्धि का निषेध करना है । 'गाङ्' से यहां इङ् धातु के स्थान पर आदेश होने वाले 'गाङ्' आदेश का ही ग्रहण अभीष्ट है—यह पहले स्पष्ट कर चुके हैं । धातुपाठ के अन्तर्गत तुदादिगण में 'कुट कौटिल्ये' धातु से लेकर 'कुङ् शब्दे' धातु तक छत्तीस धातु कुटादि कहे गये हैं ।

ञित्-णित् से भिन्न प्रत्यय इसलिये कहा गया है कि—कोटकः (कुट्+ण्वुल्), कोटः (कुट्+घञ्) आदि में ङिद्वत् होकर लघूपधगुण का निषेध न हो जाये ।

'गा+स्+त' यहां पर गाङ् आदेश से परे ञित् णित् से भिन्न सिँच् प्रत्यय विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से वह ङिद्वत् हो गया । अब ङिद्वत् करने का प्रयोजन अग्रिमसूत्र में बतलाते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५८८) घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि । ६।४।६६॥

एषमात ईत् स्याद् हलादौ क्ङित्यार्धधातुके । अध्यगीष्ट, अध्यैष्ट । अध्यगीष्यत, अध्यैष्यत ॥

अर्थः—घु, मा, स्था, गा, पा, ओहाक् और षो धातुओं के आकार के स्थान पर ईकार आदेश हो हलादि कित् ङित् आर्धधातुक परे हो तो ।

व्याख्या—घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-साम् ।६।३। हलि ।७।१। क्ङिति ।७।१। ('दीङो युंडचि क्ङिति' से)। आर्धधातुके ।७।१। (अधिकृत है)। आतः ६।१। ('आतो लोप इटि च' से)। ईत् ।१।१। ('ईद्यति' से) । 'हलि' यह 'आर्धधातुके' का विशेषण है अतः तदादिविधि होकर 'हलादौ आर्धधातुके' उपलब्ध हो जाता है । 'गा-मा-दाग्रहणेष्वविशेषः' (गा, मा, दा का ग्रहण होने पर किसी विशेष का ग्रहण नहीं होता अपितु सामान्यतः सब रूपों का ग्रहण होता है) इस परिभाषा से 'गै' (गा) धातु का तथा इङ् के स्थान पर होने वाले गाङ् आदेश का भी ग्रहण होता है । गाङ् आदेश के उदाहरण मूल में दिये गये है । अर्थः—(घुमा-स्था-गा-पा-जहाति-साम्) घुसञ्ज्ञकों के तथा मा, स्था, गा, पा, ओँहाक् और षो धातुओं के (आतः) आकार के स्थान पर

(ईत्) ईकार आदेश हो (हलि=हलादौ) हलादि (क्ङिति आर्धधातुके) कित् ङित् आर्धधातुक परे हो तो। उदाहरण यथा—

घुसञ्ज्ञक—दीयते, धीयते। यहां 'यक्' यह हलादि कित् आर्धधातुक परे है अतः दा और धा के आकार को ईकार आदेश हो जाता है। मा ('प्रणिदाने' आदि)—मीयते। स्था (ठहरना)—स्थीयते। गा (गाना, जाना)—गीयते। पा (पीना, 'पा रक्षणे' का ग्रहण नहीं)—पीयते। ओँहाक् (छोड़ना)—हीयते। षो (नाश करना)—अवसीयते।

'कित् ङित् परे होने पर' इस लिये कहा गया है कि—'दाता, धाता, माता, स्थाता, गाता, पाता, हाता, साता' आदि में ईत्व न हो जाये। 'आर्धधातुके' इसलिये कहा गया है कि—'पातः, पाथः, पावः, पामः' आदि प्रयोगों में लट् में ईत्व न हो जाये। 'हलादौ' इस लिये कहा गया है कि—'ददतुः, ददुः, पपतुः, पपुः' आदि में 'आतो लोप इटि च' (४९६) को परत्व से बाध कर ईत्व न हो जाये।

'गा+स्+त' यहां 'गा' से परे सिँच् का सकार पूर्वसूत्र से ङित् किया गया है, और यह हलादि आर्धधातुक भी है अतः इस के परे होने पर प्रकृतसूत्र द्वारा धातु के आकार को ईकार आदेश होकर—गी+स्+त। अट् का आगम करने पर—अ+गी+स्+त=अगीष्ट, अधि+अगीष्ट='अध्यगीष्ट' प्रयोग सिद्ध होता है। जिस पक्ष में गाङ् आदेश नहीं होता वहां अङ्ग के अजादि होने से आट् का आगम होकर—आ+इ+स्+त। अब 'ह्रस्वादङ्गात्' (५४५) के असिद्ध होने से इकार को एकार गुण तथा 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि एकादेश करने से—ऐष्ट, अधि+ऐष्ट='अध्यैष्ट' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी दो दो रूप सिद्ध होते हैं। लुङ् में रूपमाला यथा—(गाङ्पक्षे) अध्यगीष्ट, अध्यगीषाताम्, अध्यगीषत। अध्यगीष्ठाः, अध्यगीषाथाम्, अध्यगीढ्वम्। अध्यगीषि, अध्यगीष्वहि, अध्यगीष्महि। (गाङोऽभावे) अध्यैष्ट, अध्यैषाताम्, अध्यैषत। अध्यैष्ठाः, अध्यैषाथाम्, अध्यैढ्वम्। अध्यैषि, अध्यैष्वहि, अध्यैष्महि।

लृँङ्—में भी पूर्ववत् पाक्षिक गाङ् आदेश हो जाता है। गाङ्पक्ष में 'गाङ् कुटादि०' (५२७) से 'स्य' प्रत्यय के ङिद्वत् होने के कारण 'घुमास्था०' (५८८) द्वारा धातु के आकार को ईत्व हो जाता है। (गाङ्पक्षे)—अध्यगीष्यत, अध्यगीष्येताम्, अध्यगीष्यन्त। (गाङोऽभावे) गुण, आट् तथा वृद्धि एकादेश हो जाता है—अध्यैष्यत, अध्यैष्येताम्, अध्यैष्यन्त।

(यहां पर अदादिगण के आत्मनेपदी धातुओं का विवेचन समाप्त होता है।)

अब अदादिगण के उभयपदी धातुओं का वर्णन प्रारम्भ होता है—

[लघु०] दुहँ प्रपूरणे ॥२१॥ दोग्धि, दुग्धः, दुहन्ति। धोक्षि। दुग्धे, दुहाते

दुहते। धुक्षे, दुहाथे, धुग्ध्वे। दुहे, दुह्वहे, दुह्महे। दुदोह, दुदुहे। दोग्धासि, दोग्धासे। धोक्ष्यति, धोक्ष्यते। दोग्धु-दुग्धात्, दुग्धाम्, दुहन्तु। दुग्धि-दुग्धात्, दुग्धम्, दुग्ध। दोहानि, दोहाव, दोहाम। दुग्धाम्, दुहाताम्, दुहताम्। धुक्ष्व, दुहाथाम्, धुग्ध्वम्। दोहै, दोहावहै, दोहामहै। अधोक्, अदुग्धाम्, अदुहन्। अदोहम्। अदुग्ध, अदुहाताम्, अदुहत। अधुग्ध्वम्। दुह्यात्, दुहीत॥

अर्थः—दुहँ (दुह्) धातु 'प्रपूरण अर्थात् दोहना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—दुह् धातु स्वरितेत् होने से उभयपदी है। 'प्रपूरण' शब्द में 'प्र' उपसर्ग अभाव अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रपूरणम् पूरणाभावः, पूर्ण न करना—रिक्त करना। गाय, भैंस आदि को दोह कर ही रिक्त किया जा सकता है अतः 'प्रपूरण' का अर्थ 'दोहना' हुआ ('धात्वर्थं बाधते कश्चिद्' इत्यनुसृत्य प्रशब्दः पूरणस्याभावं व्यनक्ति)। यह धातु द्विकर्मक है। यथा—गां दोग्धि पयः (गाय से दूध दोहता है)। इस का विवेचन आगे कारकप्रकरण में (८९२) सूत्र पर देखें।

लँट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में शप् का लुक्—दुह्+ति। लघूपधगुण हो कर—दोह्+ति। यहां झल् परे है अतः 'दादेर्धातोर्घः' (२५२) से दकारादि धातु दुह् के हकार को घकार करने से—दोघ्+ति। 'झषस्तथोः०' (५४९) से 'ति' के तकार को धकार हो कर—दोघ्+धि। 'झलां जश्झशि' (१९) से घकार को जश्-गकार करने पर 'दोग्धि' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में—दुह्+तस्। यहां 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से तस् के ङिद्वत् हो जाने के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है। पुनः पूर्ववत् हकार को घकार और तस् के तकार को धकार हो कर—दुघ्+धस्। अब 'झलां जश्झशि' (१९) से धातु के घकार को जश्त्व-गकार करने पर 'दुग्धः' प्रयोग सिद्ध होता है। बहुवचन में 'झि' के झकार को अन्त् आदेश हो कर—दुहन्ति। यहां झल् परे न होने से 'दादेर्धातोर्घः' आदि सूत्रों की प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार आगे भी अजादि प्रत्ययों में घत्व आदि का अभाव समझ लेना चाहिये। म० पु० के एकवचन में गुण हो कर—दोह्+सि। 'दादेर्धातोर्घः' से हकार को घकार—दोघ्+सि। यहां सकार परे है अतः 'एकाचो बशो भष्०' (२५३) से धातु के बश्-दकार को भष्-धकार हो कर— धोघ्+सि। कवर्ग से परे 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से प्रत्यय के अवयव सकार को मूर्धन्य-षकार करने पर—धोघ्+षि। अन्त में 'खरि च' (७४) से घकार को चर्त्व-ककार करने से— धोक्+षि='धोक्षि' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में—दुह्+थस्=दुघ्+थस्=दुघ्+धस्=दुग्+धस्= दुग्धः। ध्यान रहे कि यहां सकार या ध्व परे नहीं अतः 'एकाचो बशो भष्०' से भष्भाव नहीं होता। इसी प्रकार बहुवचन में दुह्+थ=दुघ्+थ=दुघ्+ध=दुग्ध। उ० पु० के एकवचन में लघूपधगुण हो कर—दोह्मि। द्विवचन और बहुवचन में—दुह्वः, दुह्मः। स्मरण रहे कि मकार और वकार झलों में नहीं आते अतः झल् परे न रहने से घत्व

आदि नहीं होते । रूपमाला यथा—दोग्धि, दुग्धः, दुहन्ति । धोक्षि, दुग्धः, दुग्ध । दोह्मि, दुह्वः, दुह्मः ।

(आत्मने०) प्र० पु० के एकवचन में—दुह् + त । आत्मनेपद में कोई प्रत्यय पित् नहीं होता अतः 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से सब प्रत्यय ङित् हैं इस से सर्वत्र गुण का निषेध हो जाता है । पुनः टि को एत्व करने पर—दुह् + ते = दुघ् + ते = दुघ् + धे = दुग्धे । द्विवचन में—दुह् + आताम्, टि को एत्व हो कर—दुह् + आते = दुहाते । बहुवचन में—दुह् + झ, झकार को 'आत्मनेपदेष्वनतः' (५२४) से अत् आदेश—दुह् + अत् अ = दुहत, टि को एत्व हो कर—दुहते । म० पु० के एकवचन में थास् को से आदेश हो कर—दुह् + से = दुघ् + से = धुघ् + से = धुघ् + षे = धुक्षे । द्विवचन में टि को एत्व करने पर—दुहाथे । बहुवचन में—दुह् + ध्वम् = दुह् + ध्वे = दुघ् + ध्वे = धुघ् + ध्वे = धुग्ध्वे । उ० पु० के एकवचन में—दुह् + इ, टि को एत्व—दुह् + ए = दुहे । द्विवचन और बहुवचन में टि को एत्व हो कर—दुह्वहे, दुह्महे । रूपमाला यथा—दुग्धे, दुहाते, दुहते । धुक्षे, दुहाथे, धुग्ध्वे । दुहे, दुह्वहे, दुह्महे ।

नोट—यहां 'दादेर्धातोर्घः' (२५२), 'झषस्तथोर्धोऽधः' (५४६), 'एकाचो बशो भष्०' (२५३) तथा 'झलां जशझशि' (१६) इन चार कार्यों से विद्यार्थियों को बड़ा भ्रम हुआ करता है । परन्तु यदि वे निम्न तीन बातों का ध्यान रखें तो उन्हें कोई कठिनाई न हो कर प्रक्रियामार्ग सरल हो जायेगा—

(१) अजादि, वकारादि या मकारादि प्रत्ययों के परे होने पर इन चारों कार्यों में से कोई कार्य नहीं होता । यथा—दुहन्ति, दुहते, दोह्मि, दुह्वः, दुह्मः आदि ।

(२) तकारादि या थकारादि प्रत्यय परे होने पर हकार को घकार तथा प्रत्यय के तकार थकार को धकार करने पर 'झलां जशझशि' (१६) से घकार को गकार हो जाता है । इस प्रकार—ह् + त = ग्ध, ह् + थ = ग्ध बनता है । यथा—दुह् + ते = दुग्धे, दुह् + तस् = दुग्धः, दुह् + थ = दुग्ध आदि ।

(३) सकारादि या ध्वम् प्रत्यय परे हो तो हकार को घकार, धातु के आदि दकार को भष् अर्थात् धकार, यथासम्भव 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा अन्त में 'खरि च' से घकार को चर्त्व-ककार हो जाता है यथा—दुह् + से = धुक्षे, दुह् + ध्वे = धुग्ध्वे ।

लिँट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में तिप्, णल्, द्वित्व, अभ्यासकार्य तथा लघूपधगुण करने पर—दुदोह । द्विवचन और बहुवचन में 'असंयोगाल्लिँट्०' (४५२) द्वारा लिँट् के कित् होने से लघूपधगुण का निषेध हो जाता है—दुदुहतुः, दुदुहुः । म० पु० के एकवचन में सिप् को थल् आदेश हो कर—दुह् + थ । दुह् धातु हकारान्त अनुदात्तों में पठित होते से अनिट् है, परन्तु क्रादिनियम से सर्वत्र इट् का आगम हो जाता है—दुह् + इथ, द्वित्व, अभ्यासकार्य तथा लघूपधगुण करने पर—

दुदोहिथ । इसी प्रकार व और म में भी क्रादिनियम से नित्य इट् हो जायेगा—दुदुहिव, दुदुहिम । (आत्मने०) में कोई विशेष कार्य नहीं होता । क्रादिनियम से सर्वत्र इट् हो जाता है । ध्वम् में 'विभाषेटः' (५२७) द्वारा धकार को वैकल्पिक ढकार हो जाता है । लिँट् में रूपमाला यथा—(परस्मै०) दुदोह, दुदुहतुः, दुदुहुः । दुदोहिथ, दुदुहथुः, दुदुह । दुदोह, दुदुहिव, दुदुहिम । (आत्मने०) दुदुहे, दुदुहाते, दुदुहिरे । दुदुहिषे, दुदुहाथे, दुदुहिढ्वे-दुदुहिध्वे । दुदुहे, दुदुहिवहे, दुदुहिमहे ।

लुँट्—दोनों पदों में लघूपधगुण हो कर 'दोह्+ता' इस स्थिति में घत्व, धत्व और जश्त्व करने पर 'दोग्धा' प्रयोग सिद्ध होता है । रूपमाला यथा—(परस्मै०) दोग्धा, दोग्धारौ, दोग्धारः । दोग्धासि—। (आत्मने०) दोग्धा, दोग्धारौ, दोग्धारः । दोग्धासे—।

लृँट्—दोनों पदों में सकार परे रहता है अतः क्रमशः घत्व-भष्त्व-षत्व-चर्त्व हो कर 'धोक्ष्यति-धोक्ष्यते' आदि रूप सिद्ध होते हैं । रूपमाला यथा—(परस्मै०) धोक्ष्यति, धोक्ष्यतः, धोक्ष्यन्ति । (आत्मने०) धोक्ष्यते, धोक्ष्येते, धोक्ष्यन्ते ।

लोँट्—में लँट् की तरह प्रथम सब कार्य हो कर पुनः लोँट् के अपने विशिष्ट कार्य हो जाते हैं । (परस्मै०) दोग्धु-दुग्धात्, दुग्धाम्, दुहन्तु । दुग्धि-दुग्धात्, दुग्धम्, दुग्ध । दोहानि, दोहाव, दोहाम । (आत्मने०) दुग्धाम्, दुहाताम्, दुहताम् । धुक्ष्व, दुहाथाम्, धुग्ध्वम् । दोहै, दोहावहै, दोहामहै ।

लँङ्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, शब्लुक्, 'इतश्च' (४२४) से इकारलोप, लघूपधगुण तथा अट् का आगम हो कर—अदोह्+त् । अब यहां 'हल्ङ्याब्भ्यः०' (१७९) से अपृक्त तकार का लोप कर पदान्त में हकार को घकार, धातु के आदि दकार को भष्-धकार. जश्त्व तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने से 'अधोक्, अधोग्' दो प्रयोग सिद्ध होते हैं । द्विवचन में—अदुह्+ताम्, घत्व, धत्व तथा जश्त्व करने से—अदुग्धाम् । बहुवचन में झि के झकार को अन्त् आदेश, इकारलोप तथा संयोगान्तलोप करने पर 'अदुहन्' प्रयोग सिद्ध होता है । म० पु० के एकवचन सिप् में भी तिप् की तरह सकार का हल्ङ्यादिलोप हो जाता है—अधोक्-अधोग् । द्विवचन में 'अदुग्धम्' तथा बहुवचन में 'अदुग्ध' । उ० पु० के एकवचन में मिप् को अम् आदेश तथा लघूपधगुण करने पर 'अदोहम्' । द्विवचन और बहुवचन में—अदुह्व, अदुह्म । रूपमाला यथा—अधोक्-अधोग्, अदुग्धाम्, अदुहन् । अधोक्-अधोग्, अदुग्धम्, अदुग्ध । अदोहम्, अदुह्व, अदुह्म ।

(आत्मने०) प्र० पु० के एकवचन में 'अदुह्+त' इस दशा में ङिद्वत् होने से लघूपधगुण नहीं होता । घत्व, धत्व तथा जश्त्व करने पर—अदुग्ध । द्विवचन में 'अदुहाताम्' और बहुवचन में 'अदुहत' (आत्मनेपदेष्वनतः) । म० पु० के एकवचन में 'अदुह्+थास्' इस स्थिति में घत्व-धत्व-जश्त्व करने पर—अदुग्धाः । द्विवचन में—

अदुहाथाम् । बहुवचन में ध्वम् प्रत्यय परे होने पर भष्भाव विशेष कार्य है—अधुग्ध्वम् । उ० पु० में कुछ विशेष नहीं । रूपमाला यथा—अदुग्ध, अदुहाताम्, अदुहत । अदुग्धाः, अदुहाथाम्, अधुग्ध्वम् । अदुहि, अदुह्वहि, अदुह्महि ।

नोट—लङ् के दोनों पदों में 'अदुग्ध' प्रयोग बनता है । परन्तु पुरुष और वचन के भेद का ध्यान रखना आवश्यक है ।

वि० लिङ्—के दोनों पदों में कहीं भी झल् या पदान्त न होने से घत्व आदि कार्य नहीं होते । रूपमाला यथा—(परस्मै०) दुह्यात्, दुह्याताम्, दुह्युः । दुह्याः, दुह्यातम्, दुह्यात । दुह्याम्, दुह्याव, दुह्याम । (आत्मने०) दुहीत, दुहीयाताम्, दुहीरन् । दुहीथाः, दुहीयाथाम्, दुहीध्वम् । दुहीय, दुहीवहि, दुहीमहि ।

आ० लिङ्—(परस्मै०) में कुछ विशेष नहीं । रूपमाला यथा—दुह्यात्, दुह्यास्ताम्, दुह्यासुः । दुह्याः, दुह्यास्तम्, दुह्यास्त । दुह्यासम्, दुह्यास्व, दुह्यास्म ।

आत्मनेपद में 'दुह्+सीयुट्+सुट्+त' इस स्थिति में 'पुगन्तलघूपधस्य च' (४५१) द्वारा आर्धधातुकनिमित्तक लघूपधगुण प्राप्त होता है । इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेशसूत्रम्—(५८९) लिङ्सिँचावात्मनेपदेषु ।१।२।११॥

इक्समीपाद् हलः परौ झलादी लिङ्सिँचौ कितौ स्तस्तङि । धुक्षीष्ट ॥

अर्थः—इक् के समीप जो हल् उस से परे झलादि लिङ् और सिँच् कित् हों तङ् अर्थात् आत्मनेपद प्रत्यय परे हो तो ।

व्याख्या—लिङ्सिँचौ ।१।२। आत्मनेपदेषु ।७।३। इकः ।६।१। झल् ।१।१। ('इको झल्' से)। हलन्तात् ।५।१। ('हलन्ताच्च' से)। कित् ।१।१। ('असंयोगाल्लिट् कित्' से) । झल् यह 'लिङ्सिँचौ' का विशेषण है अतः विशेषण से तदादिविधि होकर 'झलादी लिङ्सिँचौ' उपलब्ध हो जाता है । 'हलन्तात्' में 'अन्त' शब्द का अर्थ है—समीपवर्त्ती । हल् चासौ अन्तश्चेति हलन्तः, तस्माद् हलन्तात् । यहां समास में विशेषण होने पर भी अन्तशब्द का सौत्रत्वात् परनिपात समझना चाहिये । अर्थः—(इकः) इक् के (हलन्तात्) समीप जो हल् उस से परे (झलादी लिङ्सिँचौ) झलादि लिङ् और सिँच् (कित्) किद्वत् होते है (आत्मनेपदेषु) आत्मनेपद प्रत्यय परे हों तो[1] ।

---

१. 'आत्मनेपदेषु' यह सिँच् के लिये ही प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि उस से परे ही आत्मनेपद प्रत्यय सम्भव हो सकते हैं । झलादि लिङ् ('सीय्+स्+त' आदि) तो स्वयं आत्मनेपद होगा ही अतः उस से परे आत्मनेपद सम्भव नहीं ।

कित् करने का प्रयोजन 'क्क्ङिति च' (४३३) से गुण का निषेध करना है। सिँच् का उदाहरण आगे आयेगा, यहां लिँङ् का उदाहरण प्रस्तुत है—

'दुह्+सीय्+स्+त' यहां दकारोत्तरवर्ती उकार इक् है, इस के समीप हल् है—ह्, अतः इस से परे प्रकृतसूत्र द्वारा झलादि लिँङ् (सीय्+स्+त) कित् हो गया। इस के कित् होने से 'क्क्ङिति च' (४३३) सूत्र से लघूपधगुण का निषेध होकर पूर्ववत् घत्व, भष्त्व, षत्व और चर्त्व करने पर 'धुक्षीष्ट' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। आ० लिँङ् आत्मने० में रूपमाला यथा—धुक्षीष्ट, धुक्षीयास्ताम्, धुक्षीरन्। धुक्षीष्ठाः, धुक्षीयास्थाम्, धुक्षीध्वम्। धुक्षीय, धुक्षीवहि, धुक्षीमहि।

'इक् के समीप' कहने का प्रयोजन यह है कि 'यक्षीष्ट' (यज्+सीय्+स्+त), 'अयष्ट' (अयज्+स्+त) में झलादि लिँङ् वा सिँच् कित् न हो जायें। इन के कित् होने से यज् को 'वचिस्वपि०' (५४७) से सम्प्रसारण होने लगता। हल्' का ग्रहण इस लिये किया गया है कि 'नेषीष्ट, अनेष्ट' आदि में झलादि लिँङ् और सिँच् कित् न हो जायें। यदि ये कित् हो जाते तो नी को गुण न हो सकता। 'झलादि' कहने से 'वर्तिषीष्ट, अवर्तिष्ट' आदि में इट् का आगम हो जाने से लिँङ् और सिँच् कित् नहीं होते। यदि ये कित् हो जाते तो वृत् को लघुपधगुण न हो सकता।

लुँङ्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन की विवक्षा में तिप्, इकारलोप तथा च्लि करने पर 'दुह्+च्लि+त्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५९०) शल इगुपधादनिटः क्सः। ३।१।४५॥

इगुपधो यः शलन्तस्तस्माद् अनिटश्च्लेः क्सादेशः स्यात्। अधुक्षत्॥

अर्थः—इक् जिस की उपधा में हो ऐसी जो शलन्त धातु, उस से परे अनिट् च्लि के स्थान पर क्स आदेश हो।

व्याख्या—शलः।५।१। इगुपधात्।५।१। अनिटः।६।१। क्सः।१।१। च्लेः।६।१। ('च्लेः सिँच्' से)। धातोः।५।१। ('धातोरेकाचो हलादेः०' से)। इक् (प्रत्याहारः) उपधा यस्य स इगुपधः, तस्माद् इगुपधात्, बहुव्रीहि०। न विद्यते इड् यस्य सोऽनिट्, तस्य=अनिटः। 'शलः' यह 'धातोः' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि होकर 'शलन्ताद् धातोः' बन जायेगा। अर्थः—(इगुपधात्) जिस की उपधा में इक् प्रत्याहार हो ऐसी (शलन्ताद् धातोः) शलन्त धातु से परे (अनिटः च्लेः) अनिट् च्लि के स्थान पर (क्सः) 'क्स' आदेश हो जाता है[1]। यह सूत्र 'च्लेः सिँच्'

---

१. 'अनिटः' को 'धातोः' का विशेषण न बनाकर 'च्लेः' का विशेषण बनाया

(४३८) का अपवाद हैं। क्स में ककार इत् है 'स' यह अदन्त ही अवशिष्ट रहता है। सिँच् और क्स के रूप में यही अन्तर है। उदाहरण यथा—

'दुह् + च्लि + त्' यहां 'दुह्' की उपधा में इक्-उकार है और इस के अन्त में हकार-शल् भी विद्यमान है। इस से परे च्लि के 'लि' को प्राप्त इट् का 'एकाच उपदेशे०' (४७५) से निषेध हो जाता है अतः वह अनिट् है। इस प्रकार प्रकृतसूत्र के पूर्णतया घट जाने से च्लि को क्स आदेश होकर अट् का आगम करने से—अदुह् + स + त्। अब घत्व, भष्त्व, षत्व तथा चर्त्व कर देने पर 'अधुक्षत्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां क्स के कित् होने के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है[1]। लुँङ् (परस्मै०) में रूपमाला यथा—अधुक्षत्, अधुक्षताम्, अधुक्षन्। अधुक्षः, अधुक्षतम्, अधुक्षत। अधुक्षम्, अधुक्षाव, अधुक्षाम।

लुँङ्—(आत्मने०) प्र० पु० के एकवचन में 'दुह + च्लि + त' इस स्थिति में पूर्ववत् च्लि को क्स आदेश होकर—दुह् + स + त। अब क्स का वैकल्पिक लुक् करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५९१) लुग्वा दुह-दिह-लिह-गुहामात्मनेपदे दन्त्ये ।७।३।७३।।

एषां क्सस्य लुग्वा स्याद् दन्त्ये तङि। अदुग्ध, अधुक्षत।।

अर्थः—दुह् (दोहना), दिह् (बढ़ाना), लिह् (चाटना) और गुह् (छिपाना) इन धातुओं के क्स का विकल्प से लुक् हो जाता है दन्त्यादि आत्मनेपद प्रत्यय परे हो तो।

गया है। यदि इसे 'धातोः' का विशेषण बनाते तो गुहूँ संवरणे' धातु के 'अघुक्षत्' आदि प्रयोगों में दोष आता, क्योंकि वहां धातु सेट् है, अगर ऊदित् के कारण उसे अनिट् मानते हैं तो फिर सदा 'क्स' ही होगा सिँच् नहीं। च्लि के अनिट्त्व की उपपत्ति इस प्रकार समझनी चाहिये। 'दुह् + च्लि + त्' यहां 'प्रकल्प्य चापवादविषय-मुत्सर्गोऽभिनिविशते' (अपवाद के विषय को छोड़ कर ही उत्सर्ग की प्रवृत्ति हुआ करती है) इस परिभाषा से 'च्लेः सिँच्' तो होगा नहीं, रुक जायेगा। तदन्तर क्स आदेश भी तब तक रुका रहेगा जब तक च्लि के अनिट्त्व का निश्चय नहीं हो जाता। इस बीच च्लि के 'लि' को इट् की प्राप्ति तथा 'एकाच उपदेशे०' (४७५) से उस का निषेध हो जायेगा। अब च्लि के अनिट्त्व सिद्ध हो जाने पर क्स प्रवृत्त हो जायेगा। विस्तार के लिये महाभाष्य, प्रदीपोद्योत तथा लघुशब्देन्दुशेखर देखें।

१. कई अनभिज्ञ टीकाकार यहां हलन्तलक्षणा वृद्धि की प्राप्ति दर्शा कर कित्त्व के कारण उस का निषेध किया करते हैं। वे यहां यह नहीं सोचते कि भला सिँच् के विना कहीं वृद्धि प्राप्त भी हो सकती है या नहीं ?

व्याख्या—लुक् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् । दुह-दिह-लिह-गुहाम् ।६।३। आत्मनेपदे ।७।१। दन्त्ये ।७।१। क्सस्य ६।१। ('क्सस्याचि' से) । दन्तेषु भवः—दन्त्यः, 'शरीरावयवाच्च' (१०६१) इति यत्प्रत्ययः । दन्तस्थान वाले वर्ण को 'दन्त्य' कहते हैं । 'दन्त्ये' पद 'आत्मनेपदे' का विशेषण है अतः विशेषण से तदादिविधि होकर 'दन्त्यादौ आत्मनेपदे' बन जाता है । अर्थः—(दुह-दिह-लिह-गुहाम्) दुह्, दिह्, लिह् और गुह् धातुओं के (क्सस्य) क्स प्रत्यय का (वा) विकल्प करके (लुक्) लुक् हो जाता है (दन्त्ये=दन्त्यादौ) दन्त्यादि (आत्मनेपदे) आत्मनेपद परे हो तो। पीछे से 'लोपः' की अनुवृत्ति आ रही थी उस का आश्रय न करके 'लुक्' का कथन इसलिये किया गया है कि 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' (१८९) के अनुसार सम्पूर्ण क्स (स) प्रत्यय का अदर्शन हो सके। यदि 'लोपः' को लाते तो अलोऽन्त्यपरिभाषा से क्स के अन्त्य अकार का ही लोप होता, सकार सहित का नहीं । दन्त्यादि अर्थात् दन्त्य वर्ण जिनके आदि में है ऐसे आत्मनेपद प्रत्यय चार हैं—त, थास्, ध्वम् और वहि[1] । अतः इन चार प्रत्ययों के परे रहते ही दुहादि धातु के क्सप्रत्यय का लुक् होगा। उदाहरण यथा—

'दुह्+स+त' यहां दुह् धातु का क्स विद्यमान है इस से परे दन्त्यादि आत्मनेपद 'त' भी मौजूद है, अतः प्रकृतसूत्र से क्स का वैकल्पिक लुक् होकर अट् का आगम लाने से—अदुह्+त। अब लँङ् की तरह घत्व, धत्व और जश्त्व करने पर 'अदुग्ध' प्रयोग सिद्ध होता है। लुक् के अभाव में—अदुह्+स+त, घत्व-भष्त्व-षत्व-चर्त्व करने से—अधुक्षत । इस प्रकार 'अदुग्ध, अधुक्षत' ये दो रूप सिद्ध होते हैं ।

प्र० पु० के द्विवचन में क्स आदेश कर 'अदुह्+स+आताम्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५९२) क्सस्याऽचि ।७।३।७२।।

अजादौ तङि क्सस्य लोपः। अधुक्षाताम् । अधुक्षन्त । अदुग्धाः-अधुक्षथाः, अधुक्षाथाम्, अधुग्ध्वम्-अधुक्षध्वम् । अधुक्षि, अदुह्वहि-अधुक्षावहि, अधुक्षामहि । अधोक्ष्यत्, अधोक्ष्यत ।।

अर्थः—अजादि आत्मनेपद प्रत्यय परे होने पर क्स प्रत्यय का लोप हो ।

---

१. यदि कहें कि 'वहि' का आदि वकार तो दन्त्य नहीं दन्तोष्ठ्य है अतः उस का ग्रहण न होना चाहिये—तो यह ठीक नहीं । क्योकि यदि उसका ग्रहण अभीष्ट न होता तो सूत्र में 'दन्त्ये' न रखते, केवल 'तौ' (तवर्गे) ही कह सकते थे, इसी से त-थास्-ध्वम् का ग्रहण हो जाता। अतः 'दन्त्ये' कथन से दन्तोष्ठ्य वर्ण वकार का भी ग्रहण अभीष्ट है यह सिद्ध होता है ।

व्याख्या—क्सस्य ।६।१। अचि ।७।१। लोपः ।१।१। ('घोर्लोपो लेटि वा' से) यहां अष्टाध्यायीक्रम में अगले सूत्र से 'तङि' का अपकर्षण कर 'अचि' को उस का विशेषण बना कर 'अजादौ तङि' बना लिया जाता है[1]। अर्थः—(अचि=अजादौ) अजादि (तङि) तङ् परे होने पर (क्सस्य) क्स प्रत्यय का (लोपः) लोप हो जाता है। 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) से यह लोप क्स के अन्त्य अल् अर्थात् अकार का होता है। इस प्रकार क्स हलन्त हो जाता है। इसे हलन्त करने का प्रयोजन आताम् आदि में 'आतो ङितः' (५०६) द्वारा प्राप्त इय् आदेश का वारण करना है।

'अदुह्+स+आताम्' यहाँ अजादि तङ् 'आताम्' परे है अतः प्रकृतसूत्र से क्स के अन्त्य अकार का लोप होकर—अदुह्+स्+आताम्। अब क्रमशः घत्व, भष्त्व, षत्व और चर्त्व करने पर 'अधुक्षाताम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार प्र० पु० के बहुवचन में 'शल इगुप०' (५६०) से च्लि को क्स आदेश हो कर 'अदुह्+स+झ' इस स्थिति में अत् से परे होने के कारण 'आत्मनेपदेष्वनतः' (५२४) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती, 'झोऽन्तः' (६८६) से झकार को अन्त् आदेश हो जाता है—अदुह्+स+अन्त। अब अजादि तङ् परे होने के कारण 'क्सस्याचि' से अन्त्य अकार का लोप होकर—अदुह्+स्+अन्त। पुनः घत्व, भष्त्व, षत्व और चर्त्व करने पर 'अधुक्षन्त' प्रयोग सिद्ध होता है।

म० पु० के एकवचन थास् में—अदुह्+स+थास्। यहां दन्त्यादि तङ् परे है अतः 'लुग्वा दुह०' (५६१) सूत्र से समग्र क्स का वैकल्पिक लुक् होकर पूर्ववत् घत्व, धत्व और जश्त्व करने से 'अदुग्धाः, अधुक्षथाः' दो रूप सिद्ध होते हैं। द्विवचन आथाम् में अजादि तङ् परे है अतः 'क्सस्याचि' (५६२) से क्स के अन्त्य अकार का नित्य लोप होकर 'अधुक्षाथाम्' यह एक रूप सिद्ध होता है। बहुवचन ध्वम् में दन्त्यादि तङ् परे है अतः सम्पूर्ण क्स का वैकल्पिक लुक् होकर 'अधुग्ध्वम्, अधुक्षध्वम्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

उ० पु० के एकवचन इट् में—अदुह्+स+इ। यहां अजादि तङ् परे है अतः

---

१. प्राचीन वैयाकरण 'तङि' का अपकर्षण नहीं करते थे। वे 'अचि' को अङ्गाक्षिप्त 'प्रत्यये' का विशेषण बना कर 'अजादि प्रत्यय परे होने पर क्स के अन्त्य अकार का लोप हो' इस प्रकार अर्थ करते थे। इस अर्थ में एक दोष प्राप्त होता था। 'दृशेः क्सश्च' वार्तिक से दृश् धातु से क्स प्रत्यय कर के प्रथमा के बहुवचन में 'यादृक्षाः' आदि प्रयोगों को जब सिद्ध किया जाता था तो वहां 'तद्+दृश्+क्स+अस्' में अस् (जस्) इस अजादि प्रत्यय के परे रहते क्स के अन्त्य अकार का लोप प्राप्त होता था जो अनिष्ट था। अब 'तङि' के अपकर्षण करने से वह दोष नहीं आता।

अन्त्य अकार का नित्य लोप होकर 'अधुक्षि' यह एक प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में—अदुह्+स+वहि। यहां दन्त्यादि तङ् परे है अतः समग्र क्स का वैकल्पिक लुक् होकर लुक्पक्ष में 'अदुह्वहि' और लुक् के अभाव में 'अतो दीर्घो यञि' (३९०) से दीर्घ करने पर 'अधुक्षावहि' रूप सिद्ध होता है। बहुवचन में 'अदुह्+स+महि' यहां न तो दन्त्यादि तङ् परे है और न ही अजादि, अतः लुक् और अन्त्य लोप दोनों में से कोई कार्य न होगा। 'अतो दीर्घो यञि' (३९०) से दीर्घ होकर—अधुक्षामहि। लुङ् के आत्मनेपद में रूपमाला यथा—अदुग्ध-अधुक्षत, अधुक्षाताम्, अधुक्षन्त। अदुग्धाः-अधुक्षथाः, अधुक्षाथाम्, अधुग्ध्वम्-अधुक्षध्वम्। अधुक्षि, अदुह्वहि-अधुक्षावहि, अधुक्षामहि।

नोट—यहां आत्मनेपद में यह ध्यान रखना चाहिये कि 'क्स' आदेश का त, थास्, ध्वम् और वहि में वैकल्पिक लुक् हो जाता है तथा आताम्, आथाम्, अन्त् और इट् में अन्त्य अकार का लोप होता है[1]।

लृङ्—दोनों पदों में लृट् की तरह प्रक्रिया होती है। (परस्मै०) अधोक्ष्यत्, अधोक्ष्यताम्, अधोक्ष्यन्। (आत्मने०) अधोक्ष्यत, अधोक्ष्येताम्, अधोक्ष्यन्त।

[लघु०] एवम्—दिहँ उपचये ॥२२॥

अर्थः—दिहँ (दिह्) धातु 'बढ़ाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2]। इस की प्रक्रिया भी 'दुह्' धातुवत् होती है।

---

१. यहां यह नहीं भूलना चाहिये कि क्स का लुक् केवल दुह्, दिह्, लिह् और गुह् धातुओं में ही होता है, जबकि तदन्तलोप अन्य धातुओं में भी प्रवृत्त होता है। यथा ('गुहूँ ग्रहणे')—अघृक्षाताम्, अघृक्षन्त, अघृक्षाथाम्, अघृक्षि आदि।

ध्वमि ते च वहौ थासि दन्त्ये क्सो लुप्यतेऽखिलम्।
दुह्दिहोर्लिह्गुहोश्चैव नाऽन्यत्रेति विनिर्णयः।
लोपोऽजादौ तदन्तस्याऽविशेषेणाऽभिधीयते॥

२. तत्त्वबोधिनीकार तथा बालमनोरमाकार ने यहां पर 'उपचयो वृद्धिः' लिख कर अल्पज्ञ वैयाकरणों में महती भ्रांति पैदा कर दी है। आधुनिक अनेक टीकाकार इसे अकर्मक समझ कर इस का अर्थ 'बढ़ना' करने लगे हैं जो नितान्त अशुद्ध है। इस धातु का अर्थ 'लेप करना या लेप आदि के द्वारा बढ़ाना' ही है। तभी तो भट्टि ने 'अदिहन् चन्दनैः शुभ्रैः' (१७.५४; शुक्लवर्णैश्चन्दनैरदिहन् गात्राणि लिप्तवन्तः—जयमङ्गला) लिखा है। सायण ने अपनी धातुवृत्ति में इसे सकर्मक मानते हुए 'देह' शब्द को कर्मणि घञ् के द्वारा सिद्ध किया है—दिह्यते चन्दनादिभिर्लिप्यत इति देहः। वाचस्पत्यकोष में इसे स्पष्टतः सकर्मक माना गया है। गणदर्पणकार ने स्पष्ट लिखा है—वृद्धिः=वृद्धिकरणम्। क्षीरस्वामी ने इस धातु पर अतीव उपयुक्त लिखा है—उपचयोऽत्र लेपः।

व्याख्या—देह, विदेह, सन्देह, देहिन् (आत्मा) आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं। स्वरितेत् होने से यह धातु उभयपदी है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'दुह्' धातु की तरह होती है। दुह् में उकार को ओकार गुण होता था तो यहां इकार को एकार। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) देग्धि, दिग्धः, दिहन्ति। धेक्षि, दिग्धः, दिग्ध। देह्मि, दिह्वः, दिह्मः। (आत्मने०) दिग्धे, दिहाते, दिहते। धिक्षे, दिहाथे, धिग्ध्वे। दिहे, दिह्वहे, दिह्महे। लिँट्—(परस्मै०) दिदेह, दिदिहतुः, दिदिहुः। (आत्मने०) दिदिहे, दिदिहाते, दिदिहिरे। लुँट्—(परस्मै०) देग्धा, देग्धारौ, देग्धारः। देग्धासि—। (आत्मने०) देग्धा, देग्धारौ, देग्धारः। देग्धासे—। लृँट्—(परस्मै०) धेक्ष्यति, धेक्ष्यतः, धेक्ष्यन्ति। (आत्मने०) धेक्ष्यते, धेक्ष्येते, धेक्ष्यन्ते। लोँट्—(परस्मै०) देग्धु-दिग्धात्, दिग्धाम्, दिहन्तु। दिग्धि-दिग्धात्, दिग्धम्, दिग्ध। देहानि, देहाव, देहाम। (आत्मने०) दिग्धाम् दिहाताम्, दिहताम्। धिक्ष्व, दिहाथाम्, धिग्ध्वम्। देहै, देहावहै, देहामहै। लँङ्—(परस्मै०) अधेक्-अधेग्, अदिग्धाम्, अदिहन्। अधेक्-अधेग्, अदिग्धम्, अदिग्ध। अदेहम्, अदिह्व, अदिह्म। (आत्मने०) अदिग्ध, अदिहाताम्, अदिहत। अदिग्धाः, अदिहाथाम्, अधिग्ध्वम्। अदिहि, अदिह्वहि, अदिह्महि। वि० लिँङ्—(परस्मै०) दिह्यात्, दिह्याताम्, दिह्युः। (आत्मने०) दिहीत, दिहीयाताम्, दिहीरन्। आ० लिँङ्—(परस्मै०) दिह्यात्, दिह्यास्ताम्, दिह्यासुः। (आत्मने०) धिक्षीष्ट, धिक्षीयास्ताम्, धिक्षीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अधिक्षत्, अधिक्षताम्, अधिक्षन्। (आत्मने०) अदिग्ध-अधिक्षत, अधिक्षाताम्, अधिक्षन्त। अदिग्धाः-अधिक्षथाः, अधिक्षाथाम्, अधिग्ध्वम्-अधिक्षध्वम्। अधिक्षि, अदिह्वहि-अधिक्षावहि, अधिक्षामहि। लृँङ्—(परस्मै०) अधेक्ष्यत्, अधेक्ष्यताम्, अधेक्ष्यन्। (आत्मने०) अधेक्ष्यत, अधेक्ष्येताम्, अधेक्ष्यन्त।

उपसर्गयोग—सम्√दिह् (सन्देग्धि)=सन्देह करना (अग्नौ सन्दिहानः पर्वते धूमं पश्यन्—तर्कसंग्रह; सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः—शाकुन्तल १.२३)।

[लघु०] लिहँ आस्वादने ॥२३॥ लेढि, लीढः, लिहन्ति। लेक्षि। लीढे, लिहाते, लिहते। लिक्षे, लिहाथे, लीढ्वे। लिलेह। लिलिहे। लेढासि, लेढासे। लेक्ष्यति, लेक्ष्यते। लेढु-लीढात्, लीढाम्, लिहन्तु। लीढि। लेहानि। लीढाम्। अलेट्-अलेड्। अलिक्षत्। अलीढ-अलिक्षत। अलेक्ष्यत्, अलेक्ष्यत॥

अर्थः—लिहँ (लिह्) धातु 'चाटना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—लिह् धातु भी स्वरितेत् होने से उभयपदी है। दकारादि न होने

से यह धातु 'दादेर्धातोर्घः' (२५२) का विषय नहीं, इसी प्रकार इस में बश् वर्ण न होने से 'एकाचो बशो भष्०' (२५३) द्वारा भष्त्व भी नहीं होता ।

लँट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में शप् का लुक् तथा लघूपधगुण हो कर—लेह् + ति । 'हो ढः' (२५१) से हकार को ढकार, 'झषस्तथोर्धोऽधः' (५४६) से तिप् के तकार को धकार, 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से धकार को भी ष्टुत्व से ढकार करने पर—लेढ् + ढि । अब 'ढो ढे लोपः' (५५०) से प्रथम ढकार का लोप करने से 'लेढि' प्रयोग सिद्ध होता है, ध्यान रहे कि यहां पूर्व में अण् (अ इ उ) न होने से 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (११२) की प्रवृत्ति नहीं होती । द्विवचन में ङिद्वद्भाव के कारण गुण न होगा—लिह् + तस् = लिढ् + तस् = लिढ् + धस् = लिढ् + ढस्, अब ढकार का लोप तथा 'ढ्रलोपे पूर्वस्य०' से पूर्व अण्-इकार को दीर्घ करने से 'लीढः' प्रयोग सिद्ध होता है । बहुवचन में—लिहन्ति । म० पु० के एकवचन में गुण हो कर—लेह् + सि । ढत्व हो कर—लेढ् + सि । 'षढोः कः सि' (५४८) से ढकार को ककार हो कर—लेक् + सि । 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व करने पर 'लेक्षि' प्रयोग सिद्ध होता है । द्विवचन में ढत्व, धत्व, ष्टुत्व, ढोढेलोप तथा पूर्व अण् को दीर्घ करने पर—लीढः । इसी प्रकार बहुवचन में—लीढ । उ० पु० में कुछ विशेष नहीं होता । रूपमाला यथा—लेढि, लीढः, लिहन्ति । लेक्षि, लीढः, लीढ । लेह्मि, लिह्वः, लिह्मः ।

(आत्मने०) प्र० पु० के एकवचन में—लिह् + त । टि को एत्व हो कर—लिह् + ते । अब ढत्व, धत्व, ष्टुत्व, ढलोप तथा पूर्व अण् को दीर्घ करने पर 'लीढे' प्रयोग सिद्ध होता है । द्विवचन में टि को एत्व हो कर—लिहाते । बहुवचन में झकार को अत् आदेश करने पर—लिहते । म० पु० के एकवचन में थास् को से आदेश हो कर—लिह् + से । अब ढत्व, 'षढोः कः सि' (५४८) से ढकार को ककार तथा 'आदेश-प्रत्यययोः' (१५०) से सकार को षकार करने पर—लिक्षे । द्विवचन में—लिहाथे । बहुवचन में—लिह् + ध्वे, ढत्व तथा ष्टुत्व हो कर—लिढ् + ढ्वे । अब ढोढेलोप तथा पूर्व अण् को दीर्घ करने पर 'लीढ्वे' प्रयोग सिद्ध होता है । उ० पु० में कुछ विशेष नहीं । रूपमाला यथा—लीढे, लिहाते, लिहते । लिक्षे, लिहाथे, लीढ्वे । लिहे, लिह्वहे, लिह्महे ।

लिँट्—दोनों पदों में दुह् की तरह प्रक्रिया होती है । क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है । रूपमाला यथा—(परस्मै०) लिलेह, लिलिहतुः, लिलिहुः । लिलेहिथ, लिलिहथुः, लिलिह । लिलेह, लिलिहिव, लिलिहिम । (आत्मने०) । लिलिहे, लिलिहाते, लिलिहिरे आदि ।

लुँट्—दोनों पदों में लघूपधगुण हो कर 'लेह् + ता' इस स्थिति में ढत्व, धत्व, ष्टुत्व तथा ढोढेलोप करने पर 'लेढा' सिद्ध होता है । रूपमाला यथा—(परस्मै०) लेढा, लेढारौ, लेढारः । लेढासि—। (आत्मने०) लेढा, लेढारौ, लेढारः । लेढासे—।

लृँट्—दोनों पदों में पूर्ववत् लघूपधगुण, ढत्व, कत्व तथा षत्व हो जाता है। (परस्मै०) लेक्ष्यति, लेक्ष्यतः, लेक्ष्यन्ति। (आत्मने०) लेक्ष्यते, लेक्ष्येते, लेक्ष्यन्ते।

लोँट्—में लँङ्वत् कार्य हो कर पुनः लोँट् के अपने विशिष्ट कार्य होते हैं। रूपमाला यथा—(परस्मै०) लेढु-लीढात्, लीढाम्, लिहन्तु। लीढि-लीढात्, लीढम्, लीढ। लेहानि, लेहाव, लेहाम। (आत्मने०) लीढाम्, लिहाताम्, लिहताम्। लिक्ष्व, लिहाथाम्, लीढ्वम्। लेहै, लेहावहै, लेहामहै।

लँङ्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, शब्लुक्, इतश्च, लघूपधगुण तथा अङ्ग को अट् का आगम हो कर—अलेह्+त्। अब अपृक्त तकार का हल्ङ्यादिलोप कर पदान्त में हकार को ढकार तथा जश्त्व-चर्त्व करने पर—'अलेट्-अलेड्' रूप सिद्ध होते हैं। द्विवचन में 'अलिह्+ताम्' इस दशा में ढत्व, धत्व, ष्टुत्व, ढोढेलोप तथा पूर्व अण् को दीर्घ करने से—अलीढाम्। बहुवचन में झि के झकार को अन्त् आदेश, इतश्च तथा संयोगान्तलोप करने पर—अलिहन्। म० पु० के एकवचन में भी तिप् की तरह—अलेट्-अलेड्। द्विवचन और बहुवचन में तस् की तरह—अलीढम्, अलीढ। उ० पु० में कुछ विशेष नहीं। रूपमाला यथा—अलेट्-अलेड्, अलीढाम्, अलिहन्। अलेट्-अलेड्, अलीढम्, अलीढ। अलेहम्, अलिह्व, अलिह्म।

(आत्मने०) प्र० पु० के एकवचन में अलिह्+त। ढत्व, धत्व, ष्टुत्व, ढोढेलोप तथा पूर्व अण् को दीर्घ करने पर—अलीढ। द्विवचन में—अलिहाताम्। बहुवचन में अत् आदेश हो कर—अलिहत। म० पु० के एकवचन में 'अलिह्+थास्', ढत्व, धत्व, ष्टुत्व, ढोढेलोप तथा पूर्व अण् को दीर्घ करने पर—अलीढाः। इसी प्रकार—अलीढ्वम्। रूपमाला यथा—अलीढ, अलिहाताम्, अलिहत। अलीढाः, अलिहाथाम्, अलीढ्वम्। अलिहि, अलिह्वहि, अलिह्महि।

वि० लिँङ्—दोनों पदों में कहीं झल् या पदान्त नहीं मिलता अतः ढत्व आदि कार्य नहीं होते। (परस्मै०) लिह्यात्, लिह्याताम्, लिह्युः। (आत्मने०) लिहीत लिहीयाताम्, लिहीरन्। आ०लिँङ्—(परस्मै०) लिह्यात्, लिह्यास्ताम्, लिह्यासुः। (आत्मने०) में 'लिँङ्सिँचावात्मनेपदेषु' (५८९) से कित्त्व के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है—लिक्षीष्ट, लिक्षीयास्ताम्, लिक्षीरन्।

लुँङ्—(परस्मै०) में 'शल इगुपधादनिटः क्सः' (५९०) से च्लि को क्स आदेश हो कर ढत्व, कत्व और षत्व करने से 'अलिक्षत्' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। क्स के कित्त्व के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है। रूपमाला यथा—अलिक्षत्, अलिक्षताम्, अलिक्षन् आदि। (आत्मने०) के दन्त्यादि प्रत्ययों (त, थास्, ध्वम् और वहि) में 'लुग्वा दुहदिहलिह०' (५९१) से क्स का वैकल्पिक लुक् हो जाता है। लुक्-पक्ष में लँङ् की तरह प्रक्रिया होती है। अजादि प्रत्ययों (आताम्, आथाम्, अन्त और

इट्) में 'क्सस्याऽचि' (५९२) से क्स के अन्त्य अकार का लोप हो जाता है। आत्मने० में रूपमाला यथा—अलीढ-अलिक्षत, अलिक्षाताम्, अलिक्षन्त। अलीढाः-अलिक्षथाः, अलिक्षाथाम्, अलीढ्वम्-अलिक्षध्वम्। अलिक्षि, अलिह्वहि-अलिक्षावहि, अलिक्षामहि।

लृँङ्—(परस्मै०) अलेक्ष्यत्, अलेक्ष्यताम्, अलेक्ष्यन्। (आत्मने०) अलेक्ष्यत, अलेक्ष्येताम्, अलेक्ष्यन्त।

उपसर्गयोग—आ√लिह् (आलेढि)=चाटना—आस्वादन करना—चखना; बींधना—छेदना—घायल करना—जख्मी करना (सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः—रघु० २.३७)। अव√लिह् (अवलेढि)=खाना-चबाना (दर्भैरर्धावलीढश्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा—शाकुन्तल १.७); व्याप्त करना (अस्त्रज्वालावलीढ०—वेणी० ३.५)। उद्√लिह् (उल्लेढि)=शाण आदि पर चमकाना, तेज़ करना (मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिनिहतः—नीतिशतक ३५)।

[लघु०] ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि ॥२४॥

अर्थः—ब्रूञ् (ब्रू) धातु 'स्पष्ट बोलना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—मनुष्य स्पष्ट बोलते हैं पशु पक्षी आदि अस्पष्ट, अतः मनुष्यों के बोलने में ब्रूञ् धातु का प्रयोग होता है। ञित् होने से ब्रूञ् धातु उभयपदी है।

लँट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में 'ब्रू+ति' इस अवस्था में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५९३) ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः। ३।४।८४॥

ब्रुवो लँटस्तिबादीनां पञ्चानां णलादयः पञ्च वा स्युर्ब्रुवश्चाऽऽहादेशः। आह, आहतुः, आहुः ॥

अर्थः—ब्रू धातु से परे लँट्स्थानीय तिप्-तस्-झि-सिप्-थस् इन पाञ्च प्रत्ययों के स्थान पर णल्-अतुस्-उस्-थल्-अथुस् ये पाञ्च प्रत्यय विकल्प से हो जाते हैं किञ्च इन के साथ ब्रू को आह् आदेश भी हो जाता है।

व्याख्या—ब्रुवः ।५।१। पञ्चानाम् ।६।३। आदितः इत्यव्ययपदम्। आहः ।१।१। (हकारादकार उच्चारणार्थः)ब्रुवः ।६।१। लँटः ।६।१। वा इत्यव्ययपदम् ('विदो लँटो वा' से)। परस्मैपदानाम् ।६।३। णलतुसुस्थलथुसः ।१।३। ('परस्मैपदानां णलतुस०' से)। अर्थः—(ब्रुवः) ब्रू धातु से परे (लँटः) लँट् के स्थान पर होने वाले (परस्मैपदानाम्) परस्मैपदसञ्ज्ञक (आदितः पञ्चानाम्) पहले पाञ्च प्रत्ययों के स्थान पर (णलतुसुस्थलथुसः) णल्-अतुस्-उस्-थल्-अथुस् ये पाञ्च प्रत्यय हो जाते हैं और (ब्रुवः) ब्रू के स्थान पर (आहः) आह् आदेश भी हो जाता है परन्तु यह सब कार्य (वा) विकल्प

से होता है। परस्मैपदों में तिप्-तस्-झि-सिप्-थस् ये पाञ्च पहले प्रत्यय हैं, इन के स्थान पर णलादियों के भी पहले पाञ्च प्रत्यय हो जायेंगे[1]। 'सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः' (एक साथ कहे गये कार्यों की प्रवृत्ति वा निवृत्ति एक साथ ही हुआ करती है) इस परिभाषा के बल से णल् आदि आदेश और आह् आदेश इकट्ठे ही होंगे। अतः पक्ष में 'ब्रू+ति' आदि भी रहेगा। आह् आदेश अनेकाल् होने से ब्रू के स्थान पर सर्वादेश होगा।

'ब्रू+ति' यहां ब्रू से परे लँट्स्थानीय तिप् विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से उसे णल् आदेश तथा ब्रू को आह् आदेश हो कर शप् और शप् का लुक् करने से—आह्+णल्=आह्+अ='आह' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में—ब्रू+तस्=आह्+अतुस्=आहतुः। बहुवचन में—ब्रू+झि=आह्+उस्=आहुः।

म० पु० के एकवचन में—ब्रू+सिप्=आह्+थ (थल्)। यहां पर लँट्स्थानीय होने से थल् की आर्धधातुकसञ्ज्ञा नहीं है अतः इट् के आगम की प्राप्ति नहीं होती। अब यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५६४) आहस्थः।८।२।३५॥

झलि परे। चर्त्वम्—आत्थ। आहथुः॥

अर्थः—झल् परे होने पर आह् के हकार को थकार आदेश हो।

व्याख्या—आहः।६।१। थः।१।१। (थकारादकार उच्चारणार्थः)। झलि।७।१। ('झलो झलि' से)। अर्थः—(झलि) झल् परे हो तो (आहः) आह् के स्थान पर (थः) थ् आदेश हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह थकार आदेश आह् के अन्त्य अल्-हकार के स्थान पर ही होगा।

'आह्+थ' यहां थकार झल् परे है अतः प्रकृतसूत्र से आह् के हकार को थकार हो कर 'खरि च' (७४) से उसे तकार किया तो 'आत्थ' प्रयोग सिद्ध हुआ। 'झलि' कहने से 'आहतुः, आहुः' आदि में थकारादेश नहीं होता।

अब जिस पक्ष में णल् आदेश तथा आह् आदेश नहीं होता उस पक्ष का वर्णन करते हैं। 'ब्रू+ति' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

---

१. सूत्र में 'पञ्चानाम्' के द्वारा तिप् आदि पाञ्चों का तो निर्देश किया गया है परन्तु णलादियों का नहीं; तो क्या तिप् आदि पाञ्चों के स्थान पर पर्याय से सब णल् आदि प्रत्यय किये जायें? यह यहां शङ्का उत्पन्न होती है। इस का समाधान यह है कि 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) सूत्र की यहां प्रवृत्ति हो कर अर्थकृत आन्तर्य से तिप् आदि पाञ्चों के स्थान पर वैसे अर्थों वाले णल् आदि पाञ्च आदेश ही होंगे। अथवा पूर्वसूत्र में इन का यथासंख्यसम्बन्ध निर्धारित हो चुका है, उसी से यहां भी कार्य चल जायेगा।

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५६५) ब्रुव ईट् ।७।३।६३।।

ब्रुवः परस्य हलादेः पित ईट् स्यात् । ब्रवीति, ब्रूतः, ब्रुवन्ति । ब्रूते, ब्रुवाते, ब्रुवते ।।

अर्थः—ब्रू से परे हलादि पित् को ईट् का आगम हो ।

व्याख्या—ब्रुवः ।५।१। ईट् ।१।१। हलि ।७।१। ('उतो वृद्धिर्लुकि हलि' से) । पिति ।७।१। सार्वधातुके ।७।१। ('नाऽभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' से) । पञ्चमी-निर्देश के बलवान् होने के कारण 'सार्वधातुके' इस सप्तम्यन्त का षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है । विशेषण होने के कारण 'हलि' और 'पिति' का भी तदनुसार 'हलः' और 'पितः' बना लिया जाता है । 'हलः' से तदादिविधि हो कर 'हलादेः पितः सार्वधातुकस्य' बन जाता है[1] । अर्थः—(ब्रुवः) ब्रू धातु से परे (हलादेः) हलादि (पित) पित् (सार्वधातुकस्य) सार्वधातुक का अवयव (ईट्) ईट् हो जाता है। टित् होने के कारण ईट् का आगम सार्वधातुक का आद्यवयव बनता है ।

'हलादि' इसलिये कहा है कि 'ब्रवाणि' में ईट् न हो जाये । 'पित्' इस लिये कहा है कि 'ब्रूतः' आदि में ईट् न हो ।

'ब्रू+ति' यहां ब्रू धातु से परे हलादि पित् सार्वधातुक 'ति' विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से उसे ईट् का आगम हो कर—ब्रू+ईति । अब 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से गुण तथा 'एचोऽयवायावः' (२२) से ओकार को अवादेश करने पर 'ब्रवीति' प्रयोग सिद्ध होता है । द्विवचन में पित् न होने से ईट् का आगम नहीं होता, किञ्च 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित्त्व के कारण गुण भी नहीं होता—ब्रूतः । बहुवचन में अन्त् आदेश होकर—ब्रू+अन्ति, ङित्त्व के कारण गुण का निषेध है ही अतः 'अचि श्नु०' (१९९) से ऊकार को उवँङ् आदेश करने पर 'ब्रुवन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है। म० पु० के एकवचन में—ब्रू+सि, यहां ईट् का आगम, गुण, अवादेश तथा प्रत्यय के अवयव सकार को षत्व करने पर—ब्रवीषि । द्विवचन में—ब्रूथः । यहां तक लँट् के परस्मैपद में ब्रू धातु के दो-दो रूप बनते हैं। इस से आगे 'ब्रुवः पञ्चानाम्०' (५९३) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । म० पु० के बहुवचन में—ब्रूथ । उ० पु० के एकवचन में—ब्रू+मि । ईट् का आगम, गुण तथा अवादेश हो कर—ब्रवीमि । द्विवचन और बहुवचन में ब्रूवः, ब्रूमः । रूपमाला यथा—आह-ब्रवीति, आहतुः-ब्रूतः, आहुः-ब्रुवन्ति । आत्थ-ब्रवीषि, आहथुः-ब्रूथः, ब्रूथ । ब्रवीमि, ब्रूवः, ब्रूमः ।

---

१. लघुकौमुदी तथा सिद्धान्तकौमुदी में प्रमादवश यहां 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति नहीं लाई गई । 'सार्वधातुके' का अनुवर्त्तन न करने से 'उवक्थ' में भी ईट् प्रसक्त होगा जो स्पष्टतः अनिष्ट है ।

(आत्मने०) में ङित्त्व के कारण कहीं गुण नहीं होता। पित् न होने से ईट् भी कहीं नहीं होता। अजादि प्रत्ययों में सर्वत्र उवँङ् आदेश हो जाता है। रूपमाला यथा—ब्रूते, ब्रुवाते, ब्रुवते। ब्रूषे, ब्रुवाथे, ब्रूध्वे। ब्रुवे, ब्रूवहे, ब्रूमहे।

लिँट्—में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५९६) ब्रुवो वचिः।२।४।५३॥

आर्धधातुके। उवाच, ऊचतुः, ऊचुः। उवचिथ-उवक्थ। ऊचे। वक्तासि, वक्तासे। वक्ष्यति, वक्ष्यते। ब्रवीतु, ब्रूतात्। ब्रुवन्तु। ब्रूहि। ब्रवाणि। ब्रूताम्। ब्रवै। अब्रवीत्, अब्रूत। ब्रूयात्, ब्रुवीत। उच्यात्, वक्षीष्ट॥

अर्थः—आर्धधातुक की विवक्षा में ब्रू के स्थान पर वच् आदेश हो।

व्याख्या—ब्रुवः।६।१। वचिः।१।१। (चकारादिकार उच्चारणार्थः)। आर्धधातुके।७।१। (विषयसप्तम्यन्तमधिकृतम्)। अर्थः—(आर्धधातुके) आर्धधातुक की विवक्षा में (ब्रुवः) ब्रू के स्थान पर (वचिः) वच् आदेश हो। अनेकाल् होने से वच् आदेश सम्पूर्ण ब्रू के स्थान पर किया जायेगा।

'ब्रू+लिँट्' यहां हमें 'लिँट् च' (४००) द्वारा आर्धधातुक प्रत्यय करने हैं अतः प्रकृतसूत्र से उन की विवक्षामात्र में वच् आदेश हो कर—वच्+लिँट्। अब परस्मै० के प्र० पु० के एकवचन में तिप्, णल् और द्वित्व करने पर—व+वच्+अ। 'लिँट्यभ्यासस्योभयेषाम्' (५४६) से अभ्यास के वकार को उकार सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप तथा 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि करने पर 'उवाच' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में वच् आदेश होकर—वच्+अतुस्। अब यहां 'सम्प्रसारणं तदाश्रयञ्च कार्यं बलवत्' परिभाषा के अनुसार द्वित्व का बाध कर 'वचिस्वपि०' (५४७) से वकार को उकार सम्प्रसारण तथा 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप हो कर—उच्+अतुस्। द्वित्वादिकार्य तथा सवर्णदीर्घ करने पर 'ऊचतुः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार बहुवचन में—ऊचुः। म० पु० के एकवचन में सिप् को थल् आदेश हो कर—वच्+थ। चकारान्त अनुदात्तों में पठित होने से वच् धातु अनिट् है। क्रादिनियम से लिँट् में इट् प्रसक्त होता है परन्तु तास् में नित्य अनिट् होने के कारण 'उपदेशेऽत्वतः' (४८१) से उस का निषेध हो जाता है। इस पर भारद्वाजनियम से विकल्प हो जाता है। इट्पक्ष में 'वच्+इथ' इस स्थिति में द्वित्व और अभ्यास को सम्प्रसारणादि करने पर—उवचिथ। इट् के अभाव में 'चोः कुः' (३०६) द्वारा कुत्व करने से—उवक्थ। व और म में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है। लिँट् परस्मै० में रूपमाला यथा—उवाच, ऊचतुः, ऊचुः। उवचिथ-उवक्थ, ऊचथुः, ऊच। उवाच-उवच, ऊचिव, ऊचिम।

(आत्मने०) में—वच्+त=वच्+एश्, 'वचिस्वपि०' (५४७) से सम्प्रसारण हो कर—उच्+ए। अब द्वित्वादि कार्य करने पर 'ऊचे' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये। लिँट् आत्मने० में रूपमाला यथा—ऊचे, ऊचाते, ऊचिरे। ऊचिषे, ऊचाथे, ऊचिध्वे। ऊचे, ऊचिवहे, ऊचिमहे।

लुँट्—के दोनों पदों में ब्रू को वच् आदेश हो कर 'चोः कुः' (३०६) से कुत्व हो जाता है। (परस्मै०) वक्ता, वक्तारौ, वक्तारः। वक्तासि—। (आत्मने०) वक्ता, वक्तारौ, वक्तारः। वक्तासे—। लृँट्—में भी वच् आदेश और कुत्व हो जाता है। (परस्मै०) वक्ष्यति, वक्ष्यतः, वक्ष्यन्ति। (आत्मने०) वक्ष्यते, वक्ष्येते, वक्ष्यन्ते।

लोँट्—परस्मै० में लँट् की तरह णलादि आदेश तथा आहादेश नहीं होता, क्योंकि 'ब्रुवः पञ्चानाम्०' (५९३) सूत्र में स्पष्टतः 'लँटः' की अनुवृत्ति आ रही है 'लोँटः' की नहीं। अतः लोँट् में अन्य सब कार्य लँट् की तरह हो कर पुनः लोँट् के अपने विशिष्ट कार्य भी हो जाते हैं। परस्मैपद में रूपमाला यथा—ब्रवीतु-ब्रूतात्[1], ब्रूताम्, ब्रुवन्तु। ब्रूहि-ब्रूतात्, ब्रूतम्, ब्रूत। ब्रवाणि[2], ब्रवाव, ब्रवाम। आत्मनेपद में कुछ विशेष नहीं। रूपमाला यथा—ब्रूताम्, ब्रुवाताम्, ब्रुवताम्। ब्रूष्व, ब्रुवाथाम्, ब्रूध्वम्। ब्रवै, ब्रवावहै, ब्रवामहै।

लँङ्—में कुछ विशेष नहीं। रूपमाला यथा—(परस्मै०) अब्रवीत्, अब्रूताम्, अब्रुवन्। अब्रवीः, अब्रूतम्, अब्रूत। अब्रवम्, अब्रूव, अब्रूम। तिप् और सिप् में ईट् का आगम हो जाता है। (आत्मने०) अब्रूत, अब्रुवाताम्, अब्रुवत। अब्रूथाः, अब्रुवाथाम्, अब्रूध्वम्। अब्रुवि, अब्रूवहि, अब्रूमहि।

वि० लिँङ्—(परस्मै०) ब्रूयात्, ब्रूयाताम्, ब्रूयुः आदि। (आत्मने०) ब्रुवीत, ब्रुवीयाताम्, ब्रुवीरन् आदि।

आ० लिँङ्—में तिङ् के आर्धधातुक होने से ब्रू को वच् आदेश हो जाता है। परस्मै० में यासुट् के कित् होने से 'वचिस्वपि०' (५४७) से सम्प्रसारण होकर 'उच्यात्' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। आत्मने० में 'वच्+सीय्+स्+त' इस स्थिति में कुत्व और षत्व करने पर 'वक्षीष्ट' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—(परस्मै०) उच्यात्, उच्यास्ताम्, उच्यासुः। (आत्मने०) वक्षीष्ट, वक्षीयास्ताम्, वक्षीरन्।

---

१. तातङ् के ङित् होने से गुण नहीं होता। 'पिच्च ङिन्न, ङिच्च पिन्न' इस वचन के अनुसार तिप्स्थानीय होता हुआ भी तातङ् पित् नहीं माना जाता अतः इसे 'ब्रुव ईट्' (५९५) से ईट् नहीं होता।

२. 'ब्रू+आनि' में आट् पित् है अतः गुण हो जाता है परन्तु हलादि न होने से ईट् का आगम नहीं होता।

लुँङ्—में वच् आदेश होकर परस्मै० में 'वच्+च्लि+त्' इस स्थिति में च्लि को सिँच् प्राप्त होता है। इस पर इस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् (५९७) अस्यति-वक्ति-ख्यातिभ्योऽङ्। ३।१।५२॥

एभ्यश्च्लेरङ् स्यात् ॥

अर्थः—अस् (फेंकना), वच् (बोलना) और ख्या (कहना) धातुओं से परे च्लि को अङ् आदेश हो।

व्याख्या—अस्यति-वक्ति-ख्यातिभ्यः ।५।३। अङ् ।१।१। च्लेः ।६।१। ('च्लेः सिँच्' से)। कर्तरि ।७।१। ('णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' से)। लुँङि ।७।१। ('च्लि लुँङि' से)। 'अस्यति' को श्यन् से निर्दिष्ट किया गया है अतः श्यन्विकरण दिवादिगणीय 'असुँ क्षेपणे' धातु ही यहां अभिप्रेत है। 'वक्ति' से 'वच परिभाषणे' धातु तथा 'ब्रुवो वचिः' (५९९) वाले वच् आदेश दोनों का ग्रहण अभीष्ट है। 'ख्याति' से केवल 'चक्षिङः ख्याञ्' (२.४.५४) वाले ख्याञ् आदेश का ग्रहण होता है 'ख्या प्रकथने' धातु का नहीं क्योंकि वह केवल सार्वधातुकविषयक है। अर्थः—(अस्यति-वक्ति-ख्याति-भ्यः) वच्, ख्या और दिवादिगणीय अस् धातु से परे (च्लेः) च्लि के स्थान पर (अङ्) अङ् आदेश हो (कर्तरि लुँङि) कर्तृवाचक लुँङ् परे हो तो[1]। अङ् में ङकारानुबन्ध 'आतो लोप इटि च' (४९९) आदि कार्यों के लिये जोड़ा गया है। 'च्लि' का 'ल्' मात्र अवशिष्ट रहता है उसी के स्थान पर अङ् आदेश किया जाता है। दिवादिगणीय अस् धातु परस्मैपदी है और पुषादियों में पढ़ी गई है अतः 'पुषादिद्युता०' (५०७) सूत्र से भी इस में च्लि को अङ् सिद्ध था इस का पुनर्ग्रहण 'उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वेति वाच्यम्' (वा०) द्वारा आत्मनेपद किये जाने पर अङ् विधा-नार्थ समझना चाहिये—पर्यास्थत, पर्यास्थेताम्, पर्यास्थन्त। ख्या के उदाहरण—अख्यत् आदि हैं। वच् के उदाहरण यहां दिये जा रहे हैं—

'वच्+ल् (च्लि)+त्' यहां वच् धातु से परे च्लि विद्यमान है, इस से परे कर्तृवाचक लुँङ् भी मौजूद है, अतः प्रकृतसूत्र से च्लि को अङ् आदेश हो गया तो—वच्+अङ्+त्। अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५९८) वच उम् ।७।४।२०॥

---

१. यहां सिद्धान्तकौमुदी तथा लघुकौमुदी में 'कर्तरि' का अनुवर्त्तन करना प्रमादवश छूट गया है। यह अङ् कर्तृवाच्य में ही होता है कर्मवाच्य में नहीं। अतः 'निरासिषातां बाणौ शूरेण, पर्यासिषातां गावौ वत्सेन, अवक्षातां वचने विदुषा' इत्यादि में कर्मवाच्य में यह अङ् आदेश न होगा।

अङि परे । अवोचत्, अवोचत । अवक्ष्यत्, अवक्ष्यत ।।

अर्थः—अङ् परे हो तो वच् को उम् का आगम हो ।

व्याख्या—वचः ।६।१। उम् ।१।१। अङि ।७।१। ('ऋदृशोऽङि गुणः' से)। अर्थः—(अङि) अङ् परे हो तो (वचः) वच् का अवयव (उम्) उम् हो जाता है । उम् में मकार इत्संज्ञक है अतः मित् होने के कारण 'मिदचोऽन्त्यात्परः' (२४०) के अनुसार यह वच् के अन्त्य अच् से परे होता है ।

'वच्+अङ्+त्' यहां अङ् परे है अतः प्रकृतसूत्र से वच् को उम् का आगम होकर—व उम् च्+अङ्+त=व उ च्+अ+त । अब गुण तथा अङ्ग को अट् का आगम करने पर 'अवोचत्' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार आगे भी प्रक्रिया समझ लेनी चाहिये । आत्मनेपद में भी इसी प्रकार सिद्धि होती है । लुँङ् में रूपमाला यथा—(परस्मै०) अवोचत्, अवोचताम्, अवोचन् । अवोचः, अवोचतम्, अवोचत । अवोचम्, अवोचाव, अवोचाम । (आत्मने)० अवोचत, अवोचेताम्, अवोचन्त । अवोचथाः, अवोचेथाम्, अवोचध्वम् । अवोचे, अवोचावहि, अवोचामहि ।

लृँङ्—में कुछ विशेष नहीं । रूपमाला यथा—(परस्मै०) अवक्ष्यत्, अवक्ष्यताम्, अवक्ष्यन् । (आत्मने०) अवक्ष्यत, अवक्ष्येताम्, अवक्ष्यन्त ।

[लघु०] गण-सूत्रम्—— चर्करीतञ्च ।।

चर्करीतम् इति यङ्लुगन्तस्य सञ्ज्ञा[1], तद् अदादौ बोध्यम् ।।

अर्थः—चर्करीत अर्थात् यङ्लुगन्त धातु को भी अदादिगण में पढ़ना चाहिये ।

व्याख्या—पाणिनीय धातुपाठ के अदादिगण में यह वचन पढ़ा गया है । इस का अभिप्राय यह है कि 'चर्करीत' को अदादिगण में गिना जाये । पाणिनि से पूर्ववर्त्ती आचार्य यङ्लुगन्त धातु को 'चर्करीत' कहते थे[2], पाणिनि ने भी अपने समय में प्रसिद्ध उसी सञ्ज्ञा का उसी अर्थ में यहां प्रयोग किया है । यङ्लुगन्त धातुओं

---

१. नेयं यङ्लुगन्तस्य सञ्ज्ञा, अपि तु यङ्लुक एव, अत एव 'किरति चर्करीतान्तम्' (७.४.९२) इति भाष्यप्रयोगः संगच्छते । अत्र सामर्थ्यादेव यङ्लुगन्तस्य ग्रहणं बोध्यम् ।

२. प्राचीन आचार्य ण्यन्त को कारित', सन्नन्त को 'चिकीर्षित', यङन्त को 'चेक्रीयित' तथा यङ्लुगन्त को 'चर्करीत' नामों से पुकारते थे । कारण कि तत्तत्प्रक्रियाओं में कृधातु का रूप वैसा बनता है । कृधातु क्रियासामान्यवाची होने से बहुत प्रसिद्ध है, अतः उसी से संकेत किया जाता है ।

का अदादिगण में परिगणन इस लिये किया गया है कि इन से परे 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (५५२) द्वारा शप् का लुक् किया जा सके[1]। आगे यङ्लुगन्तप्रक्रिया में 'बोभोति, बोभूतः' आदि प्रयोगों की सिद्धि में शप् का लुक् किया जायेगा, इस का स्पष्टीकरण और सिद्धि यङ्लुगन्तप्रक्रिया में देखें।

[लघु०] ऊर्णुञ् आच्छादने ॥२५॥

अर्थः—ऊर्णुञ् (ऊर्णु) धातु 'ढांपना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—ऊर्णु धातु का वेद में कई स्थानों पर प्रयोग पाया जाता है परन्तु लोक में इस का प्रयोग अत्यन्त विरल है। लक्षणैकचक्षुष् भट्टि ने इस का पर्याप्त प्रयोग किया है। संस्कृत के ऊर्णा (ऊन), ऊर्णायु (ऊनी), ऊरु (पट्ट), उरु (बड़ा) प्रभृति शब्द इसी धातु से बनते हैं। हिन्दीशब्दसागर में हिन्दी के ओढ़ना शब्द का मूल संस्कृत का उपवेष्टन (उपवेष्टन>ओवेड्ढन) शब्द दिया गया है, परन्तु हमें यह क्लिष्ट कल्पना प्रतीत होती है। हमारे विचार में इस का मूल ऊर्णु धातु को ही मानना उचित है। ङित् होने से यह धातु उभयपदी तथा अनेकाच् होने से सेट् है।

लँट्—परस्मै० प्र० पु० के एकवचन में शब्लुक् होकर 'ऊर्णु+ति' इस स्थिति में गुण का बाधकर 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (५६६) से नित्य वृद्धि प्राप्त होती है। इस पर वृद्धि का विकल्प विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५९९) ऊर्णोतेर्विभाषा ।७।३।९०॥

वा वृद्धिः स्याद् हलादौ पिति सार्वधातुके। ऊर्णौति-ऊर्णोति, ऊर्णुतः, ऊर्णुवन्ति। ऊर्णुते, ऊर्णुवाते, ऊर्णुवते॥

अर्थः—हलादि पित् सार्वधातुक परे होने पर ऊर्णुञ् धातु को विकल्प से वृद्धि हो।

व्याख्या—ऊर्णोतेः ।६।१। विभाषा ।१।१। वृद्धिः ।१।१। हलि ।७।१। ('उतो वृद्धिर्लुकि हलि' से)। पिति ।७।१। सार्वधातुके ।७।१। ('नाऽभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' से)। 'हलि' यह 'सार्वधातुके' का विशेषण है अतः इस से तदादिविधि होकर 'हलादौ सार्वधातुके' बन जाता है। अर्थः—(ऊर्णोतेः) ऊर्णु धातु के स्थान पर (विभाषा) विकल्प से (वृद्धिः) वृद्धि हो जाती है (हलादौ पिति सार्वधातुके) हलादि पित् सार्वधातुक परे हो तो। लँट्, लोँट्, लँङ् और विधिलिँङ् के तिप्-सिप्-मिप् ये

---

१. अत एव 'बाभासते, वरीवर्त्तते, जरीजृम्भन्ते' आदि प्रयोग ठीक नहीं। यदि ये यङन्त हैं तो 'बाभास्यते, वरीवृत्यते, जरीजृम्भ्यन्ते' आदि होने चाहियें। यदि ये यङ्लुक् के हैं तो शप् का लुक् होकर परस्मैपदी ही रूप 'बाभासीति-बाभास्ति, वरीवर्त्ति, जरीजृम्भति' आदि रखने चाहियें।

तीन हलादि पित् सार्वधातुक होते हैं। विधिलिङ् के सिवाय अन्यत्र इन के परे रहते ऊर्णु के अन्त्य अल्-ऊकार को विकल्प से वृद्धि हो जाती है। पक्ष में 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से गुण हो जाता है। इस प्रकार 'ऊर्णौति, ऊर्णोति' इत्यादिप्रकारेण दो दो रूप बनते है। तस् आदि में पित् न होने से यह वृद्धि तो हो नहीं सकती, सार्वधातुक गुण प्राप्त होता है। परन्तु 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङिद्वद्भाव के कारण उस का भी निषेध हो जाता है—ऊर्णुतः। झि में अन्त् आदेश होकर 'अचि श्नु०' (१९९) से उवँङ् हो जाता है—ऊर्णुवन्ति। इसी प्रकार आगे भी। आत्मने० में कोई भी प्रत्यय पित् नहीं होता अतः कहीं भी वृद्धि नहीं होती। अपित् होने से ङिद्वद्भाव के कारण गुण का भी निषेध हो जाता है। अजादियों में सर्वत्र उवँङ् आदेश हो जाता है। दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०)ऊर्णौति-ऊर्णोति, ऊर्णुतः, ऊर्णुवन्ति। ऊर्णौषि-ऊर्णोषि, ऊर्णुथः, ऊर्णुथ। ऊर्णौमि—ऊर्णोमि, ऊर्णुवः, ऊर्णुमः। (आत्मने०) ऊर्णुते, ऊर्णुवाते, ऊर्णुवते। ऊर्णुषे, ऊर्णुवाथे, ऊर्णुध्वे। ऊर्णुवे, ऊर्णुवहे, ऊर्णुमहे।

लिँट्—में ऊर्णुञ् धातु से 'इजादेश्च गुरु०' (५११) द्वारा अथवा 'कास्यनेकाच आम्०' (वा० ३४) द्वारा आम् प्रत्यय प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम वार्तिक से उस का निषेध करते हैं—

[लघु०] वा०—(३६) ऊर्णोतेराम् नेति वाच्यम् ॥

अर्थः—ऊर्णुञ् धातु से आम् नहीं होता—ऐसा कहना चाहिये।

व्याख्या—यह वार्तिक महाभाष्यस्थ (३.१.२२) एक कारिका का अर्थानुवाद है। वह कारिका इस प्रकार है—

वाच्य ऊर्णोर्णुवद्भावो यङ्प्रसिद्धिः प्रयोजनम्।
आमश्च प्रतिषेधार्थम् एकाचश्चेडुपग्रहात् ॥

अर्थात् ऊर्णु धातु को 'नु' धातु के समान समझना चाहिये। जिस से तीन कार्य सिद्ध हो जायें। (१) यङ्; 'धातोरेकाचो हलादेः०' (७११) द्वारा एकाच् हलादि धातु से परे यङ् प्रत्यय का विधान किया जाता है अतः अजादि अनेकाच् होने के कारण यह ऊर्णुञ् से प्राप्त नहीं होता। परन्तु अब इसे नुवत् मान कर वह हो जायेगा—ऊर्णोनूयते। (२) आम् का निषेध; इजादि गुरुमान् होने से ऊर्णुञ् से लिँट् में आम् प्रसक्त होता है, परन्तु नुवद्भाव के कारण एकाच् मानने से उस का निषेध हो जाता है। (३) इडुपग्रह—इट् का निषेध; 'श्र्युकः किति' (६५०) द्वारा एकाच् धातु से परे गित् कित् प्रत्ययों को इट् का निषेध कहा गया है, परन्तु ऊर्णुञ् धातु अनेकाच् है अतः इस से परे इट् का निषेध प्राप्त नहीं था, अब नुवद्भाव के कारण ऊर्णुञ् एकाच् हो जाती है इसलिये इस से परे इट् का निषेध हो जाता है—ऊर्णुतः (क्त), ऊर्णुतवान् (क्तवतुँ)।

इस प्रकार ऊर्णुञ् धातु से लिँट् के दोनों पदों में आम् का निषेध हो जाता है। अब परस्मै० प्र० पु० के एकवचन में 'ऊर्णु+अ(णल्)' इस स्थिति में 'लिँटि धातोः०' (३९४) से द्वित्व करना है; यह द्वित्व धातु के अजादि होने के कारण द्वितीय एकाच् भाग को होना है। यहां 'ऊर्णु' में द्वितीय एकाज्भाग 'र्णु' है अतः इसे द्वित्व प्रसक्त होता है। परन्तु रेफ को द्वित्व करना अभीष्ट नहीं इसलिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(६००) न न्द्राः संयोगादयः।६।१।३॥

अचः पराः संयोगादयो नदरा द्विर्न भवन्ति। नुशब्दस्य द्वित्वम्—ऊर्णुनाव, ऊर्णुनुवतुः, ऊर्णुनुवुः॥

अर्थः—अच् से परे संयोग के आदि नकार, दकार और रेफ को द्वित्व नहीं होता। नुशब्दस्य०—इस प्रकार 'नु' शब्द को ही द्वित्व होता है।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। न्द्राः।१।३। संयोगादयः।१।३। अजादेः।५।१। ('अजादेर्द्वितीयस्य' से)। द्वे।१।२। ('एकाचो द्वे प्रथमस्य' से)। 'अजादेः' में कर्म-धारय समास है बहुव्रीहि नहीं; अच्चासौ आदिश्च अजादिः, तस्माद् अजादेः। इस का विवेचन पीछे (३९४) सूत्र पर कर चुके हैं वहीं देखें। अर्थः—(अजादेः) आदि-भूत अच् से परे (संयोगादयः) संयोग के आदि में स्थित (न्द्राः) न्, द् और रेफ (द्वे न) द्वित्व नहीं होते। यथा—

न् का उदाहरण—(उन्द्) उन्दिदिषति। यहां पर 'सन्यङोः' (७०६) से न्दिष् को द्वित्व होना था; परन्तु संयोगादि नकार का निषेध होकर 'दिष्' मात्र को द्वित्व हुआ है।

द् का उदाहरण—(अड्ड्) अड्डिडिषति। यहां पर 'ड्डिष्' को द्वित्व होना था परन्तु संयोगादि दकार का निषेध होकर 'डिष्' मात्र को द्वित्व हुआ है।

र् का उदाहरण—'ऊर्णु+अ' यहां ऊकार आदिभूत अच् है अतः इस से परे संयोग (र्+णु) के आदि में रेफ के द्वित्व का निषेध होकर 'नु' भाग को ही द्वित्व होगा। ध्यान रहे कि 'र्णु' में रेफ के कारण ही नकार को 'रषाभ्यां नो णः०' (२६७) से णकार हुआ था (इस के लिये पीछे पृष्ठ २५० पर टिप्पण देखें), द्वित्व की दृष्टि में णत्व असिद्ध है अतः 'नु' को ही द्वित्व हुआ—ऊर्+नु+नु+अ। अब उकार को औकार वृद्धि, आवादेश तथा नकार को णकार करने पर 'ऊर्णुनाव' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में—ऊर्णु+अतुस्। नु भाग को द्वित्व होकर—ऊर्+नु+नु+अतुस्। 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) द्वारा लिँट् के कित् होने के कारण गुण का निषेध होकर 'अचि श्नु०' (१९९) से उवँङ् आदेश करने पर—ऊर्णुनुवतुः। इसी प्रकार बहु-वचन में—ऊर्णुनुवुः।

म० पु० के एकवचन सिप् को थल् आदेश होकर—ऊर्णु+थ। ऊर्णु धातु

अनेकाच् होने से सेट् है अतः इस से परे थल् को इट् का आगम करने पर—ऊर्णु+इथ । नु को द्वित्व—ऊर्+नु+नु+इथ । अब यहां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'(३८८) से आर्धधातुकनिमित्तक गुण प्राप्त होता है । इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(६०१) विभाषोर्णोः ।१।२।३।।

इडादिप्रत्ययो वा ङित् स्यात् । ऊर्णुनुविथ-ऊर्णुनविथ । ऊर्णुविता-ऊर्णविता । ऊर्णुविष्यति-ऊर्णविष्यति । ऊर्णौतु-ऊर्णोतु । ऊर्णवानि । ऊर्णवै ।

अर्थः—ऊर्णुञ् धातु से परे इडादि प्रत्यय विकल्प से ङित् हों ।

व्याख्या—विभाषा ।१।१। ऊर्णोः ।५।१। इट् ।१।१। ('विज इट्' से) ङित् ।१।१। ('गाङ्कुटादि०' से) । इट् का आगम प्रत्यय के विना नहीं हो सकता अतः 'प्रत्ययः' का अध्याहार कर इट् को उस का विशेषण बना कर तदादिविधि करने से 'इडादिः प्रत्ययः' उपलब्ध हो जाता है । अर्थः—(ऊर्णोः) ऊर्णु धातु से परे (इट्—इडादिः प्रत्ययः) इडादि प्रत्यय (विभाषा) विकल्प से (ङित्) ङित् अर्थात् ङिद्वत् हो ।

'ऊर्णु+इथ' यहां पर 'इथ' यह इडादिप्रत्यय प्रकृतसूत्र से विकल्प कर ङिद्वत् हो गया । ङित्त्वपक्ष में 'क्ङिति च' (४३३) से गुण का निषेध हो जाता है, तब उवङ् आदेश हो कर—ऊर्णुनुविथ । जिस पक्ष में ङिद्वत् नहीं होता वहां गुण हो कर अवादेश हो जाता है—ऊर्णुनविथ । इस प्रकार 'ऊर्णुनुविथ-ऊर्णुनविथ' दो रूप सिद्ध होते हैं । उ० पु० के व और म प्रत्यय भी इडादि होने से यद्यपि विकल्प कर के ङित् हो जाते हैं तथापि वहां 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से कित्त्व के कारण गुण नहीं हो पाता । अतः वहां एक-एक रूप ही बनता है दो-दो नहीं । लिँट् परस्मै० में रूपमाला यथा—ऊर्णुनाव, ऊर्णुनुवतुः, ऊर्णुनुवुः । ऊर्णुनुविथ-ऊर्णुनविथ, ऊर्णुनुवथुः, ऊर्णुनुव । ऊर्णुनाव-ऊर्णुनव, ऊर्णुनुविव, ऊर्णुनुविम । आत्मनेपद में—से, ध्वे, वहे और महे स्थानों पर इट् का आगम हो जाता है परन्तु वहां 'विभाषोर्णोः' (६०१) द्वारा वैकल्पिक ङित्त्व का कुछ लाभ नहीं होता क्योंकि 'असंयोगाल्लिँट् कित् (४५२) से नित्य कित्त्व के कारण कहीं गुण नहीं हो सकता (यहां पर प्रायः रूपावलियों के लेखक भ्रान्त हैं उन से सावधान रहना चाहिये) । लिँट् आत्मने० में रूपमाला यथा—ऊर्णुनुवे, ऊर्णुनुवाते, ऊर्णुनुविरे । ऊर्णुनुविषे, ऊर्णुनुवाथे, ऊर्णुनुविढ्वे-ऊर्णुनुविध्वे (विभाषेटः ५२७) । ऊर्णुनुवे, ऊर्णुनुविवहे, ऊर्णुनुविमहे ।

लुँट्—में भी इडादिप्रत्यय विकल्प से ङित् हो जाते हैं । ङित्वपक्ष में उवँङ् तथा तदभाव में गुण-अवादेश करने पर दो दो रूप बन जाते हैं । (परस्मै०) ङित्त्व-पक्षे—ऊर्णुविता, ऊर्णुवितारौ, ऊर्णुवितारः । ऊर्णुवितासि—। ङित्वाभावे—ऊर्ण-विता, ऊर्णवितारौ, ऊर्णवितारः । ऊर्णवितासि—। (आत्मने०) ङित्त्वपक्षे—ऊर्णुविता,

ऊर्णुवितारौ, ऊर्णुवितारः । ऊर्णुवितासे—। ङित्त्वाभावे—ऊर्णविता, ऊर्णवितारौ, ऊर्णवितारः । ऊर्णवितासे—।

लृट्—में भी लुट् की तरह दो दो रूप बनते हैं। (परस्मै०) ङित्त्वपक्षे—ऊर्णुविष्यति, ऊर्णुविष्यतः, ऊर्णुविष्यन्ति । ङित्त्वाभावे—ऊर्णविष्यति, ऊर्णविष्यतः, ऊर्णविष्यन्ति । (आत्मने०) ङित्त्वपक्षे—ऊर्णुविष्यते, ऊर्णुविष्येते, ऊर्णुविष्यन्ते। ङित्त्वाभावे—ऊर्णविष्यते, ऊर्णविष्येते, ऊर्णविष्यन्ते ।

लोट्—परस्मै० प्र० पु० के एकवचन तिप् में 'ऊर्णोतेर्विभाषा' (५९९) से वैकल्पिक वृद्धि हो जाती है—ऊर्णौतु-ऊर्णोतु । तातङ् के ङित् होने से 'ङिच्च पिन्न' के अनुसार वह पित् नहीं रहता अतः वृद्धि नहीं होती । गुण का भी ङित्त्व के कारण निषेध हो जाता है—ऊर्णुतात् । म० पु० के एकवचन में सिप्स्थानीय 'हि' को अपित् माना गया है अतः वृद्धि नहीं होती—ऊर्णुहि । ध्यान रहे कि यहां न तो प्रत्यय का उकार है और न ही असंयोगपूर्व अतः 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' (५०३) से हि का लुक् नहीं होता । उ० पु० में आट् का आगम पित् तो है पर हलादि नहीं अतः वृद्धि नहीं होती गुण-अवादेश हो जाता है—ऊर्णवानि । परस्मै० में रूपमाला यथा—ऊर्णौतु-ऊर्णोतु-ऊर्णुतात्, ऊर्णुताम्, ऊर्णुवन्तु । ऊर्णुहि-ऊर्णुतात्, ऊर्णुतम्, ऊर्णुत । ऊर्णवानि, ऊर्णवाव, ऊर्णवाम । (आत्मने०) में कुछ विशेष नहीं, रूपमाला यथा—ऊर्णुताम् ऊर्णुवाताम्, ऊर्णुवताम् । ऊर्णुष्व, ऊर्णुवाथाम्, ऊर्णुध्वम् । ऊर्णवै, ऊर्णवावहै, ऊर्णवामहै ।

लङ्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में शब्लुक् हो कर—ऊर्णु+त् । अब तिप् के हलादि पित् सार्वधातुक होने से 'ऊर्णोतेर्विभाषा' (५९९) द्वारा वैकल्पिक वृद्धि प्राप्त होती है । इस पर अग्रिमसूत्र निषेध करता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६०२) गुणोऽपृक्ते ।७।३।९१।।

ऊर्णोतेर्गुणोऽपृक्ते हलादौ पिति सार्वधातुके । वृद्ध्यपवादः । और्णोत् । और्णोः । ऊर्णुयात् । ऊर्णुयाः । ऊर्णुवीत । ऊर्णुयात् । ऊर्णुविषीष्ट-ऊर्णविषीष्ट ।।

अर्थः—अपृक्त हलादि पित् सार्वधातुक परे हो तो ऊर्णु को गुण हो । यह सूत्र वृद्धि (५९९) का अपवाद है ।

व्याख्या—गुणः ।१।१। अपृक्ते ।७।१। वृद्धिः ।१।१। हलि ।७।१। ('उतो वृद्धिर्लुकि हलि' से)। पिति ।७।१। सार्वधातुके ।७।१। ('नाऽभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' से)। ऊर्णोतेः ।६।१। ('ऊर्णोतेर्विभाषा' से) । अर्थः—(ऊर्णोतेः) ऊर्णु धातु के स्थान पर (गुणः) गुण हो जाता है (अपृक्ते हलि पिति सार्वधातुके) अपृक्त हलादि पित् सार्वधातुक परे हो तो । 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' (१७८) द्वारा एकाल्प्रत्यय की

अपृक्तसंज्ञा कही गई है। हलादि पित् सार्वधातुकों में केवल तिप् और सिप् के तकार और सकार ही अपृक्त हैं। अतः इन के परे रहते 'ऊर्णोतेर्विभाषा' (५६६) से प्राप्त वैकल्पिक वृद्धि का बाध कर प्रकृतसूत्र से केवल गुण ही किया जायेगा।

'ऊर्णु+त्' यहां 'त्' यह अपृक्त हलादि पित् सार्वधातुक परे है अतः ऊर्णु के अन्त्य उकार को प्रकृतसूत्र से गुण हो कर अङ्ग को आट् का आगम और 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि करने पर 'और्णोत्' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार म० पु० के एकवचन सिप् (स्) में—और्णोः। उ० पु० के एकवचन मिप् को अम् आदेश हो जाता है, अतः वहां हलादि न होने से वैकल्पिक वृद्धि तथा अपृक्त न होने से प्रकृतगुण की प्राप्ति ही नहीं होती, साधारण सार्वधातुकगुण हो कर—और्णवम्। लँङ् के परस्मैपद में रूपमाला यथा—और्णोत्, और्णुताम्, और्णुवन्। और्णोः, और्णुतम्, और्णुत। और्णवम्, और्णुव, और्णुम।

लँङ् के आत्मने० में पित् के न होने से न तो वृद्धि प्राप्त होती है और न ही प्रकृतसूत्र से गुण। 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा ङिद्वत् हो जाने से सार्वधातुकगुण भी नहीं होता। रूपमाला यथा—और्णुत, और्णुवाताम्, और्णुवत। और्णुथाः, और्णुवाथाम्, और्णुध्वम्। और्णुवि, और्णुवहि, और्णुमहि।

विधिलिङ्—(परस्मै०) में यासुट् ङित् है अतः 'ङिच्च पिन्न' के अनुसार वह पित् नहीं हो सकता। इस से 'ऊर्णोतेर्विभाषा' (५६६) द्वारा वैकल्पिक वृद्धि न होगी। ङित्त्व के कारण सार्वधातुकगुण का भी निषेध हो जायेगा। परस्मैपद में रूपमाला यथा—ऊर्णुयात्, ऊर्णुयाताम्, ऊर्णुयुः आदि। (आत्मने०) में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित्त्व के कारण गुण का निषेध हो कर उवँङ् आदेश हो जाता है। रूपमाला यथा—ऊर्णुवीत, ऊर्णुवीयाताम्, ऊर्णुवीरन् आदि।

आ० लिँङ्—(परस्मै०) में 'अकृत्सार्व०' (४८३) से सर्वत्र दीर्घ हो जाता है—ऊर्णूयात्, ऊर्णूयास्ताम्, ऊर्णूयासुः आदि। (आत्मने०) में इट् का आगम हो कर 'ऊर्णु+इ+सीय्+स्+त' इस अवस्था में 'विभाषोर्णोः' (६०१) से इडादिप्रत्यय (इसीय्स्त) विकल्प से ङित् हो जाता है। ङित्पक्ष में गुण का निषेध हो कर उवँङ् हो जाता है। ङित्त्वाभाव में सर्वत्र आर्धधातुकगुण हो जाता है। रूपमाला यथा—(ङित्त्वपक्षे) ऊर्णुविषीष्ट, ऊर्णुविषीयास्ताम्, ऊर्णुविषीरन्। (ङित्त्वाभावे) ऊर्णविषीष्ट, ऊर्णविषीयास्ताम्, ऊर्णविषीरन्।

लुँङ्—(परस्मै०) में इट् का आगम हो कर 'ऊर्णु+इस्+ईत्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६०३) ऊर्णोतेर्विभाषा[1] ।७।२।६।।

इडादौ सिँचि वा वृद्धिः परस्मैपदे परे । पक्षे गुणः । और्णावीत्, और्णुवीत्, और्णवीत् । और्णाविष्टाम्, और्णुविष्टाम्, और्णविष्टाम् । और्णुविष्ट, और्णविष्ट । और्णुविष्यत्, और्णविष्यत् । और्णुविष्यत, और्णविष्यत ।।

अर्थः—परस्मैपद परे होने पर जो इडादि सिँच् उस के परे रहते ऊर्णु धातु को विकल्प से वृद्धि हो ।

व्याख्या—ऊर्णोतेः ।६।१। विभाषा ।१।१। सिँचि ।७।१। वृद्धिः ।१।१। परस्मैपदेषु ।७।३। ('सिँचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' से)। इटि ।७।१। ('नेटि' से) । अर्थः—(परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्ययों के परे रहते (इटि=इडादौ, सिँचि) जो इडादि सिँच्, उस के परे होने पर (ऊर्णोतेः) ऊर्णु के स्थान पर (विभाषा) विकल्प से (वृद्धिः) वृद्धि हो जाती है। 'इको गुणवृद्धी' (१.१.३) तथा अलोऽन्त्यपरिभाषा से ऊर्णु के अन्त्य उकार के स्थान पर विकल्प से औकार वृद्धि होगी।

'ऊर्णु+इस्+ईत्' यहां प्रकृतसूत्र से उकार को वैकल्पिक औकार वृद्धि हो कर अङ्ग को आट् आदि कार्य करने पर 'और्णावीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। वृद्धि के अभाव में 'विभाषोर्णोः' (६०१) से वैकल्पिक ङित्त्व हो जाता है। ङित्त्वपक्ष में आर्धधातुकगुण का निषेध हो कर उवँङ् आदेश हो जाता है—और्णुवीत् । ङित्त्वाभाव में आर्धधातुकगुण करने पर—और्णवीत् । इस प्रकार लुँङ् के परस्मैपद में प्रत्येक वचन में तीन तीन रूप बनते चले जायेंगे। रूपमाला यथा—(वृद्धिपक्षे) और्णावीत्, और्णाविष्टाम्, और्णाविषुः । (वृद्ध्यभावे) ङित्त्वपक्षे—और्णुवीत्, और्णुविष्टाम्, और्णुविषुः । ङित्त्वाभावे—और्णवीत्, और्णविष्टाम्, और्णविषुः ।

(आत्मने०) में 'विभाषोर्णोः' (६०१) से इडादि प्रत्यय (इस्) विकल्प से ङित् हो जाता है। ङित्पक्ष में उवँङ् तथा ङित् के अभाव में गुण हो जाता है। रूपमाला यथा—(ङित्त्वपक्षे) और्णुविष्ट, और्णुविषाताम्, और्णुविषत । (ङित्त्वाभावे) और्णविष्ट, और्णविषाताम्, और्णविषत ।

लृँङ्—के दोनों पदों में इडादिप्रत्यय विकल्प से ङित् हो जाता है। ङित्त्वपक्ष में उवँङ् तथा ङित्त्वाभाव में गुण हो जाता है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) ङित्त्वपक्षे—और्णुविष्यत्, और्णुविष्यताम्, और्णुविष्यन् । ङित्त्वाभावे—और्णविष्यत्, और्ण-

१. यह सूत्र इस ग्रन्थ में तथा अष्टाध्यायी में दो भिन्न भिन्न स्थानों पर पढ़ा गया है। दोनों स्थानों पर विकल्प से वृद्धि कही गई है। एक (५११) हलादि पित् सार्वधातुक में वृद्धि का विधान करता है और दूसरा (६०३) इडादि सिँच् परस्मैपद में। दोनों सूत्रों के विषय का पूरा पूरा ध्यान रखना चाहिये।

विष्यताम्, और्णविष्यन् । (आत्मने०) ङित्त्वपक्षे—और्णुविष्यत, और्णुविष्येताम्, और्णुविष्यन्त । ङित्त्वाभावे—और्णविष्यत, और्णविष्येताम्, और्णविष्यन्त ।

उपसर्गयोग—काशिका आदि प्राचीन ग्रन्थों में तथा भट्टिकाव्य में इस धातु का प्रपूर्वक प्रयोग ही देखा जाता है ।

अभ्यास (८)

(१) 'चर्करीत' किस की सञ्ज्ञा है और इस का किस गण में पाठ माना गया है ? सप्रयोजन विवेचन करें ।

(२) अलीढ, अदुग्ध, और्णुत, अवोचत, अब्रूत, ब्रूताम्, और्णुविष्यत, और्णुविष्ट—ये रूप कहां कहां एक समान बनेंगे ?

(३) 'शल इगुपधादनिटः क्सः' में 'अनिटः' को 'धातोः' का विशेषण क्यों नहीं बनाते ?

(४) उत्तर दीजिये—

(क) 'उच्यात्' की तरह 'वक्षीष्ट' में सम्प्रसारण क्यों नहीं होता ?

(ख) 'अस्यतिवक्ति०' सूत्र में 'कर्तरि' का अनुवर्त्तन क्यों आवश्यक है ?

(ग) 'और्णोत्' में 'ऊर्णोति' की तरह वृद्धि क्यों नहीं होती ?

(घ) 'ऊर्णोतेराम् नेति वाच्यम्' वार्त्तिक का क्या आधार है ?

(ङ) 'अदुह्वहि' और 'अदुह्महि' में कौन सा रूप शुद्ध और कौन सा रूप अशुद्ध है ? लँङ् और लुँङ् दोनों की दृष्टि से विचार करें ।

(५) समाधान कीजिये—

(क) 'आत्थ' में थल् को इट् का आगम क्यों नहीं होता ?

(ख) 'अधीते' और 'पठति' के अर्थों में क्या अन्तर है ?

(ग) 'ऊर्णुहि' में हि का लुक् क्यों नहीं होता ?

(घ) 'ब्रूतात्' में ईट् का आगम क्यों नहीं होता ?

(ङ) 'लुग्वा दुह०' सूत्र में 'दन्त्ये' से दन्तोष्ठ्य वकार कैसे गृहीत होता है ?

(६) निम्न धातुओं की लँट्, लोँट्, लँङ्, और लुँङ् में रूपमाला लिखें—
दुह्, ब्रू, लिह्, दिह्, इङ्, शीङ्, ऊर्णुञ् ।

(७) 'पुषादिद्युतादि०' द्वारा सिद्ध होने पर भी 'अस्यतिवक्ति०' में 'अस्यति' से पुनः अङ्विधान क्यों किया गया है ?

(८) सब वैकल्पिक रूपों का निर्देश करते हुए ससूत्र सिद्धि करें—
अध्यगीष्ट ; ब्रवीति; और्णवीत्; दुग्धः; लीढः; अवोचत्; धोक्षि; आत्थ; अध्ययै; अधोक्; शेरते; अधिजगे; ऊर्णुनाव; ऊचतुः; शिश्ये; अधीयते; अधुक्षत; अधुक्षाताम्; लीढि ।

(९) सोदाहरण सूत्रों की व्याख्या करें—

ऊर्णोतेर्विभाषा (दोनों); लुग्वा दुहदिह०; शल इगुप०; न न्द्राः संयोगा-दयः; घुमास्था०; गुणोऽपृक्ते; लिङ्सिँचावात्मने०; क्सस्याचि।

इति तिङन्तेऽदादयः

(यहां पर अदादिगण की धातुओं का विवेचन समाप्त होता है)

अथ तिङन्ते जुहोत्यादयः

अब तिङन्तप्रकरण में जुहोत्यादिगण की धातुओं का निरूपण किया जाता है। जुहोत्यादिगण की प्रथम धातु 'हु' है, इस से 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' वार्त्तिक के अनुसार श्तिप् प्रत्यय करने पर लँड्वत् 'जुहोति' रूप बनता है। जुहोतिर् (हुधातुः) आदिर्येषां ते जुहोत्यादयः। कहीं कहीं इसे ह्वादिगण भी कहा जाता है।

[लघु०] हु दानाऽदनयोः ॥१॥

अर्थः—हु धातु 'दान और भक्षण' अर्थों में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यहां 'दान' का अर्थ देवताओं के उद्देश्य से यज्ञ में विधिपूर्वक हवि आदि के देने से है, साधारण दान (देना) अर्थ विवक्षित नहीं। कई लोग इस का अर्थ आदान=ग्रहण करना और प्रीणन=प्रसन्न करना भी मानते हैं। हविष्, होम, होत्र, होतृ, आहुति आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं। आत्मनेपद के निमित्तों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी है।

लँट्—हु धातु से प्र० पु० के एकवचन में तिप् प्रत्यय आ कर 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप् किया तो 'हु+शप्+ति' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६०४) जुहोत्यादिभ्यः श्लुः ।२।४।७५॥

शपः श्लुः स्यात् ॥

अर्थः—हु आदि धातुओं से परे शप् का श्लु (अदर्शन) हो।

व्याख्या जुहोत्यादिभ्यः ।५।३। शपः ।६।१। ('अदिप्रभृतिभ्यः शपः' से) श्लुः ।१।१। अर्थः—(जुहोत्यादिभ्यः) हु आदि धातुओं से परे (शपः) शप् का (श्लुः) श्लु हो जाता है। 'प्रत्ययस्य लुक्-श्लु-लुपः' (१८९) द्वारा प्रत्यय के अदर्शन की ही लुक् श्लु और लुप् तीन संज्ञाएं की जा चुकी हैं। अतः हु आदि धातुओं से परे शप् का अदर्शन हो जाता है—यह अर्थ फलित होता है। श्लुसंज्ञा का प्रयोग 'श्लौ' (६०५) आदि सूत्रों द्वारा द्वित्व आदि कार्यों के लिये किया गया है।

'हु+शप्+ति' यहां शप् का श्लु हो कर—हु+ति । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६०५) श्लौ ।६।१।१०॥

धातोर्द्वे स्तः । जुहोति । जुहुतः ॥

अर्थः—श्लु परे होने पर धातु को द्वित्व हो ।

व्याख्या—श्लौ ।७।१। धातोः ।६।१। ('लिँटि धातोः०' से) द्वे ।१।२। ('एकाचो द्वे प्रथमस्य' से) । अर्थः—(श्लौ) श्लु परे होने पर (धातोः) धातु के (द्वे) दो रूप हो जाते हैं[1] ।

'हु+ति' यहां श्लु परे है अतः प्रकृतसूत्र से हु को द्वित्व हो जाता है—हु+हु+ति । अब पूर्व की अभ्याससञ्ज्ञा, 'कुहोश्चुः' (४५४) से अभ्यास के हकार को झकार तथा 'अभ्यासे चर्च' (३९९) से झकार को जश्त्व-जकार कर—जु+हु+ति । 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से तिप्-सार्वधातुक को मान कर हु के उकार को ओकार गुण करने पर 'जुहोति' रूप सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि श्लु हुए शप् को 'प्रत्यय-लोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१९०) द्वारा मान कर तन्निमित्तक गुण नहीं किया जा सकता, 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) सूत्र विरोध करता है । द्विवचन में शप् का श्लु और 'श्लौ' से द्वित्व करने पर—जुहुतः । यहां 'सार्वधातुकमपित्'(५००) से तस् के ङिद्वत् हो जाने से गुण का निषेध समझना चाहिये ।

प्र० पु० के बहुवचन में 'जुहु+झि' इस स्थिति में 'झोऽन्तः' (३८९) सूत्र से झि के झकार को अन्त् आदेश प्राप्त होता है । परन्तु इस का बाध कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६०६) अदभ्यस्तात् ।७।१।४॥

झस्य अत् स्यात् । हुश्नुवोः० (५०१) इति यण्—जुह्वति ॥

अर्थः—अभ्यस्त से परे प्रत्यय के अवयव झकार के स्थान पर 'अत्' आदेश हो ।

व्याख्या—अत् ।१।१। अभ्यस्तात् ।५।१। प्रत्ययादेः ।६।१। ('आयनेयी-नीयियः०' से) । झः ।६।१। ('झोऽन्तः' से) । अर्थः—(अभ्यस्तात्) अभ्यस्त से परे

---

१. यद्यपि यह सूत्र भी 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' और 'अजादेर्द्वितीयस्य' के अधि-कारों के अन्तर्गत है तथापि जुहोत्यादिगण में किसी धातु के अजादि अनेकाच् न होने से उन अधिकारों की यहां जरूरत नहीं पड़ती अतः उन का अनुवर्त्तन नहीं किया गया ।

(प्रत्ययादेः) प्रत्यय के आदि (झस्य) झ् के स्थान पर (अत्) 'अत्' आदेश हो। विभक्तिसंज्ञक (१३०) झिप्रत्यय के झकार के स्थान पर होने के कारण अत् आदेश भी विभक्तिसंज्ञक है अतः इस के तकार की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा न होगी, 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) से निषेध हो जायेगा।

'जुहु+झि' यहां पर 'उभे अभ्यस्तम्' (३४४) के अनुसार 'जुहु' की अभ्यस्तसञ्ज्ञा है अतः प्रकृतसूत्र द्वारा इस से परे झिप्रत्यय के झकार के स्थान पर 'अत्' आदेश हो कर—जुहु+अत्+इ। अब 'अचि श्नु०' (१९९) से प्राप्त उवँङ् आदेश का बाध कर 'हुश्नुवोः०' (५०१) से यण् आदेश करने पर 'जुह्वति' प्रयोग सिद्ध होता है। लँट् में रूपमाला यथा—जुहोति, जुहुतः, जुह्वति। जुहोषि, जुहुथः, जुहुथ। जुहोमि, जुहुवः, जुहुमः। 'जुहुवः-जुहुमः' में उकार धातु का अवयव है प्रत्यय का अवयव नहीं अतः 'लोपश्चास्या०' (५०२) से उस का वैकल्पिक लोप नहीं होता।

लिँट्—हु धातु से लिँट् लाने पर 'हु+लिँट्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६०७) भी-ह्री-भृ-हुवां श्लुवच्च ।३।१।३९॥

एभ्यो लिँटि आम् वा स्याद् आमि श्लाविव कार्यं च। जुहवाञ्चकार, जुहाव। होता। होष्यति। जुहोतु-जुहुतात्, जुहुताम्, जुह्वतु। जुहुधि। जुहवानि। अजुहोत्, अजुहुताम्॥

अर्थः—लिँट् परे होने पर—भी (डरना), ह्री (लज्जा करना), भृ (धारण या पोषण करना) तथा हु (हवन करना) धातुओं से परे विकल्प से आम् प्रत्यय हो जाता है किञ्च आम् के परे रहते श्लु की तरह कार्य भी हो जाते हैं।

व्याख्या—भी-ह्री-भृ-हुवाम् ।६।३। श्लुवत् इत्यव्ययपदम्। च इत्यव्ययपदम्। आम् ।१।१। लिँटि ।७।१। ('कास्प्रत्ययाद्०' से)। अन्यतरस्याम् ।७।१। ('उषविद-जागृभ्योऽन्य०' से)। 'प्रत्ययः, परश्च' दोनों अधिकृत हैं। 'भी-ह्री-भृ-हुवाम्' में पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग किया गया है। श्लौ इव श्लुवत्, 'तत्र तस्येव' (११४९) इति सप्तम्यन्ताद्वतिँप्रत्ययः। अर्थः—(लिँटि) लिँट् परे हो तो (भी- ह्री-भृ-हुवाम्) भी, ह्री, भृ और हु धातुओं से परे (आम्) आम् प्रत्यय हो जाता है (च) किञ्च वह आम् (श्लुवत्) श्लु की तरह होता है अर्थात् जैसे श्लु परे होने पर द्वित्व इत्व आदि कार्य होते हैं वैसे आम् परे होने पर भी हो जाते हैं (अन्यतरस्याम्) परन्तु यह सब कार्यकलाप एक दशा में होता है। दूसरी दशा में न तो आम् होगा और न वह श्लुवत्। इन सब धातुओं का वर्णन इसी गण में आगे यथास्थान किया जायेगा। यहां हु धातु प्रकृत है—

'हु+लिँट्' यहां लिँट् परे है अतः प्रकृतसूत्र द्वारा हु धातु से परे आम् प्रत्यय आ कर उसे श्लुवत् मान लेने से 'श्लौ' (६०५) से द्वित्व तथा अभ्यासकार्य करने

पर—जुहु+आम्+लिँट्। अब 'गोपायाञ्चकार' की तरह लिँट् का लुक् और लिँट्-परक कृ भू और अस् धातुओं का अनुप्रयोग हो कर 'जुहवाञ्चकार, जुहवाम्बभूव, जुहवामास' आदि रूप सिद्ध होते हैं। आम् के अभावपक्ष में शुद्ध हु धातु से लिँट्, णल् तथा द्वित्वादि हो कर—जुहु+अ। अब 'अचो ञ्णिति' (१८२) से औकार वृद्धि तथा आवादेश करने पर 'जुहाव' प्रयोग सिद्ध होता है। थल् में हु धातु के अनिट् होने से प्रथम इट् का निषेध हो जाता है, पुनः क्रादिनियम से नित्य इट् प्राप्त होता है, उस का भी 'अचस्तास्वत्०' (४८०) सूत्र से निषेध हो जाता है। तब भारद्वाज-नियम से वैकल्पिक इट् हो कर 'जुहविथ-जुहोथ' दो रूप सिद्ध होते हैं। व और म में क्रादिनियम से नित्य इट् हो कर उवँङ् आदेश हो जाता है—जुहुविव, जुहुविम। लिँट् में रूपमाला यथा—(आम्पक्षे) कृधातोरनुप्रयोगे—जुहवाञ्चकार, जुहवाञ्चक्रतुः, जुहवाञ्चक्रुः। भूधातोरनुप्रयोगे—जुहवाम्बभूव, जुहवाम्बभूवतुः, जुहवाम्बभूवुः। अस्-धातोरनुप्रयोगे—जुहवामास, जुहवामासतुः, जुहवामासुः। (आमोऽभावे) जुहाव, जुहुवतुः, जुहुवुः। जुहविथ-जुहोथ, जुहुवथुः, जुहुव। जुहाव-जुहव, जुहुविव, जुहुविम।

लुँट्—में इण्निषेध हो कर गुण हो जाता है—होता, होतारौ, होतारः।

लृँट्—होष्यति, होष्यतः, होष्यन्ति।

लोँट्—लँट् की तरह शप्, शप् का श्लु, 'श्लौ' (६०५) से द्वित्व तथा अभ्यासकार्य हो कर लोँट् के उत्वादि कार्य हो जाते हैं—जुहोतु-जुहुतात्। म० पु० के एकवचन में सिप् को हि आदेश होकर 'हुझल्भ्यः०' (५५६) से उसे धि आदेश हो जाता है—जुहुधि। उ० पु० में 'जुहु+आनि' इस स्थिति में गुण और 'हुश्नुवोः०' (५०१) से यण् युगपत् प्राप्त होते हैं। दोनों अपने अपने स्थानों पर सावकाश हैं अतः 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) से परकार्य गुण हो कर अवादेश करने पर—जुहवानि। लोँट् में रूपमाला यथा—जुहोतु जुहुतात्, जुहुताम्, जुह्वतु (अदभ्यस्तात्)। जुहुधि-जुहुतात्, जुहुतम्, जुहुत। जुहवानि, जुहवाव, जुहवाम।

लँङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, श्लु, द्वित्व गुण और अट् का आगम करने पर—अजुहोत्। द्विवचन में ङित्त्व के कारण गुण नहीं होता—अजुहुताम्। बहुवचन में 'अजुहु+झि' इस स्थिति में 'सिँजभ्यस्त०' (४४७) द्वारा अभ्यस्त से परे झि को जुस् आदेश हो कर—अजुहु+उस्। अब यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६०८) जुसि च।७।३।८३॥

इगन्ताङ्गस्य गुणोऽजादौ जुसि। अजुहवुः। जुहुयात्। हूयात्। अहौषीत्। अहोष्यत्॥

अर्थः—अजादि जुस् परे होने पर इगन्त अङ्ग को गुण हो।

व्याख्या—जुसि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । अचि ।७।१। ('क्सस्याचि' से) गुणः ।१।१। ('मिदेर्गुणः' से) । 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है । यहां 'गुणः' तो कह दिया गया है । परन्तु स्थानी वर्ण का निर्देश नहीं किया गया अतः 'इको गुणवृद्धी' (१.१.३) से 'इकः' पद उपस्थित हो कर तदन्तविधि करने से 'इगन्तस्य अङ्गस्य' बन जाता है । अर्थः—(अचि=अजादौ) अजादि (जुसि) जुस् परे होने पर (इकः=इगन्तस्य) इगन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (गुणः) गुण हो जाता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह गुण इगन्त अङ्ग के अन्त्य इक् के स्थान पर किया जायेगा । 'अजादि' कहने से 'शृणुयुः' आदि में गुण नहीं होगा ।

'अजुहु+उस्' यहां अजादि उस् परे है अतः प्रकृतसूत्र से इगन्त अङ्ग के अन्त्य उकार को ओकार गुण हो कर अवादेश करने से 'अजुहवुः' प्रयोग सिद्ध होता है[1] । लँङ् में रूपमाला यथा—अजुहोत्, अजुहुताम्, अजुहवुः । अजुहोः, अजुहुतम्, अजुहुत । अजुहवम्, अजुहुव, अजुहुम ।

वि० लिँङ्—में पूर्ववत् शप् श्लु और द्वित्व आदि कार्य हो जाते हैं । रूपमाला यथा—जुहुयात्, जुहुयाताम्, जुहुयुः । जुहुयाः, जुहुयातम्, जुहुयात । जुहुयाम्, जुहुयाव, जुहुयाम ।

आशीर्लिँङ्—में 'अकृत्सार्व०' (४८३) से दीर्घ हो जाता है । रूपमाला यथा—हूयात्, हूयास्ताम्, हूयासुः । हूयाः, हूयास्तम्, हूयास्त । हूयासम्, हूयास्व, हूयास्म ।

लुँङ्—में 'सिँचि वृद्धिः०' (४८४) से इगन्तलक्षणा वृद्धि हो जाती है—अहौषीत्, अहौष्टाम्, अहौषुः । अहौषीः, अहौष्टम्, अहौष्ट । अहौषम्, अहौष्व, अहौष्म ।

लृँङ्—अहोष्यत्, अहोष्यताम्, अहोष्यन् ।

[लघु०] ञिभी भये ॥२॥ बिभेति ॥

अर्थः—ञिभी (भी) धातु 'डरना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—ञिभी धातु में 'ञि' की 'आदिर्ञिटुडवः' (४६२) से इत्सञ्ज्ञा हो कर लोप हो जाता है 'भी' मात्र अवशिष्ट रहता है । 'ञि' के जोड़ने का प्रयोजन 'ञीतः क्तः' (३.२.१८७) द्वारा वर्त्तमानकाल में क्तप्रत्यय करना है—भीतः (जो डरता है) । इसी धातु से भीम, भीष्म, भयानक, भीरु, भय, भीति, भी (डर), भेक

---

१. ध्यान रहे कि यहां 'हुश्नुवोः०' (६.४.८७) से यण् तथा 'जुसि च' (७.३.१०९) से गुण युगपत् प्राप्त होते थे । दोनों स्वस्वस्थानों में सावकाश थे ('हुश्नुवोः०' का अवकाश 'जुह्वति' आदि तथा 'जुसि च' का अवकाश 'अबिभयुः' आदि) अतः 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) से परकार्य गुण हो जाता है ।

आदि शब्द बनते हैं। इस के योग में भय के हेतु की अपादानसंज्ञा (१.४.२५) हो कर उस में पञ्चमी विभक्ति का विधान किया जाता है—सिंहाद् बिभेति (शेर से डरता है)। यह धातु भी 'हु' धातु की तरह अनिट् है।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में शप्, श्लु, द्वित्व और गुण करने पर 'बिभेति' रूप सिद्ध होता है। द्विवचन में 'बिभी+तस्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६०६) भियोऽन्यतरस्याम् ।६।४।११५।।

इकारो वा स्याद् हलादौ क्ङिति सार्वधातुके। बिभितः-बिभीतः। बिभ्यति। बिभयाञ्चकार, बिभाय। भेता। भेष्यति। बिभेतु, बिभितात्-बिभीतात्। अबिभेत्। बिभियात्-बिभीयात्। भीयात्। अभैषीत्। अभेष्यत्॥

अर्थः—हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे होने पर 'भी' धातु को विकल्प से इकार आदेश हो।

व्याख्या—भियः ।६।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। इत् ।१।१। ('इद् दरिद्रस्य' से) हलि ।७।१। ('ई हल्यघोः' से)। क्ङिति ।७।१। ('गमहनजन०' से)। सार्वधातुके ।७।१। ('अत उत् सार्वधातुके' से)। 'हलि' यह 'सार्वधातुके' का विशेषण है अतः तदादि-विधि हो कर 'हलादौ क्ङिति सार्वधातुके' बन जायेगा। अर्थः—(हलि=हलादौ) हलादि (क्ङिति) कित् ङित् (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे हो तो (भियः) 'भी' के स्थान पर (इत्) ह्रस्व इकार आदेश हो (अन्यतरस्याम्) एक दशा में। दूसरी दशा में आदेश नहीं होगा अतः विकल्प सिद्ध हो जायेगा। यह इकारादेश अलोऽन्त्य-परिभाषा से 'भी' के अन्त्य ईकार के स्थान पर होता है। इस प्रकार एक पक्ष में 'भि' और दूसरे पक्ष में 'भी' बना रहता है।

'बिभी+तस्' यहां 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से तस् ङित् है और यह हलादि सार्वधातुक भी है अतः प्रकृतसूत्र से 'भी' धातु के ईकार को विकल्प से इकार हो कर 'बिभितः-बिभीतः' दो रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार थस्, थ, वस् और मस् में भी दो-दो रूप बनते हैं। प्र० पु० के बहुवचन में—बिभी+झि। 'अदभ्यस्तात्' (६०६) से 'अत्' आदेश हो कर—बिभी+अति। यहां हलादि न होने से इकारादेश नहीं होता[1], अतः 'एरनेकाचः०' (२००) से यण् करने पर 'बिभ्यति' प्रयोग सिद्ध

---

१. वस्तुतः 'भियोऽन्यतरस्याम्' सूत्र में 'हलादि कित् ङित्' के अनुवर्त्तन की आवश्यकता ही नहीं है। केवल 'सार्वधातुके' ही पर्याप्त है। अजादियों में ह्रस्व हो जाने पर भी 'एरनेकाचः०' (२००) से यण् हो जायेगा। पित् प्रत्ययों में इत् का

होता है। लँट् में रूपमाला यथा—बिभेति, बिभितः-बिभीतः, बिभ्यति। बिभेषि, बिभिथः-बिभीथः, बिभिथ बिभीथ। बिभेमि, बिभिवः-बिभीवः, बिभिमः-बिभीमः।

लिँट्—में पूर्ववत् 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' (६०७) से आम् प्रत्यय, उसे श्लुवत् मान कर द्वित्वादि कार्य, गुण, तथा कृञ् आदियों का अनुप्रयोग करने पर—बिभयाञ्चकार, बिभयाम्बभूव, बिभयामास' आदि रूप सिद्ध होते हैं। आम् के अभाव में द्वित्व, वृद्धि और आयादेश करने पर 'बिभाय' आदि रूप बनते हैं। रूपमाला यथा—आम्पक्षे—(कृधातोरनुप्रयोगे) बिभयाञ्चकार, बिभयाञ्चक्रतुः, बिभयाञ्चक्रुः। (भूधातोरनुप्रयोगे) बिभयाम्बभूव, बिभयाम्बभूवतुः, बिभयाम्बभूवुः। अस्धातोरनुप्रयोगे—बिभयामास, बिभयामासतुः, बिभयामासुः। आमोऽभावे—बिभाय, बिभ्यतुः, बिभ्युः। बिभयिथ-बिभेथ, बिभ्यथुः, बिभ्य। बिभाय-बिभय, बिभ्यिव, बिभ्यिम।

लुँट्—भेता, भेतारौ, भेतारः। लृँट्—भेष्यति, भेष्यतः, भेष्यन्ति। लोँट्—बिभेतु-बिभितात्-बिभीतात्, बिभिताम्-बिभीताम्, बिभ्यतु। बिभिहि-बिभीहि-बिभितात्-बिभीतात्, बिभितम्-बिभीतम्, बिभित-बिभीत। बिभयानि, बिभयाव, बिभयाम। लँङ्—अबिभेत्, अबिभिताम्-अबिभीताम्, अबिभयुः (जुसि च)। अबिभेः, अबिभितम्-अबिभीतम्, अबिभित-अबिभीत। अबिभयम्, अबिभिव-अबिभीव, अबिभिम-अबिभीम।

वि० लिँङ्—यहां यास् के कारण हलादि ङित् सार्वधातुक सर्वत्र उपलब्ध होता है अतः वैकल्पिक इत्व हो जाता है। रूपमाला यथा—(इत्वपक्षे) बिभियात्, बिभियाताम्, बिभियुः। (इत्वाभावे) बिभीयात्, बिभीयाताम्, बिभीयुः। आ० लिँङ्—भीयात्, भीयास्ताम्, भीयासुः।

लुँङ्—में सर्वत्र इगन्तलक्षणा वृद्धि हो जाती है—अभैषीत्, अभैष्टाम्, अभैषुः। अभैषीः, अभैष्टम्, अभैष्ट। अभैषम्, अभैष्व, अभैष्म। मा भैषीः [मत डर; 'न माङ्योगे' (४४१) इत्यडागमो निषिध्यते] [1]।

लृँङ्—अभेष्यत्, अभेष्यताम्, अभेष्यन् आदि।

बाध कर परत्वात् गुण हो जायेगा, वहां इत्व का विधानसामर्थ्य नहीं चलेगा क्योंकि वह 'बिभितः-बिभीतः' आदियों में सावकाश हो चुका है।

१. कुछ लोग 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः०' (४३९) सूत्र के 'भूभ्य.' में 'भू+भी' का समाहारद्वन्द्व कर उस से पञ्चमी के एकवचन में 'भूभ्यः' बना कर 'भी' धातु से परे भी सिँच् के लुक् का विधान मानते हैं। उनके मत में 'भैत्, भैताम्, भायन्' आदि रूप बनते हैं। 'मा भैः शशाङ्क! मम सीधुनि नास्ति राहुः' इत्यादि कुछ कविप्रयोग उन के अनुकूल बैठते हैं। परन्तु यह मत महाभाष्यादि में अनारूढ होने से वैयाकरणनिकाय में प्रामाणिक नहीं समझा जाता।

[लघु०] ह्री लज्जायाम् ॥३॥ जिह्रेति, जिह्रीतः, जिह्रियति । जिह्रयाञ्चकार, जिह्राय । ह्रेता । ह्रेष्यति । जिह्रेतु । अजिह्रेत् । जिह्रीयात् । ह्रीयात् । अह्रैषीत् । अह्रेष्यत् ॥

अर्थः—ह्री धातु 'लज्जा करना, शर्माना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—आत्मनेपद के निमित्तों से हीन होने के कारण यह धातु भी परस्मैपदी है । इस की प्रक्रिया भी 'भी' धातु की तरह होती है, केवल दो बातों में अन्तर है । एक 'भियोऽन्यतरस्याम्' (६०६) वाला इत्व नहीं होता और दूसरा संयोगपूर्व होने के कारण अजादिप्रत्ययों में 'एरनेकाचः०' (२००) से यण् न हो कर 'अचि श्नु०' (१६६) से इयँङ् हो जाता है । रूपमाला यथा—

लँट्—जिह्रेति, जिह्रीतः, जिह्रियति । जिह्रेषि, जिह्रीथः, जिह्रीथ । जिह्रेमि, जिह्रीवः, जिह्रीमः । लिँट्—(आम्पक्षे)जिह्रयाञ्चकार, जिह्रयाम्बभूव, जिह्रयामास आदि । (आमोऽभावे) जिह्राय, जिह्रियतुः, जिह्रियुः । जिह्रयिथ-जिह्रेथ, जिह्रियथुः, जिह्रिय । जिह्राय-जिह्रय, जिह्रियिव, जिह्रियिम । लुँट्—ह्रेता, ह्रेतारौ, ह्रेतारः । लृँट्—ह्रेष्यति, ह्रेष्यतः, ह्रेष्यन्ति । लोँट्—जिह्रेतु-जिह्रीतात्, जिह्रीताम्, जिह्रियतु । जिह्रीहि-जिह्रीतात्, जिह्रीतम्, जिह्रीत । जिह्रयाणि, जिह्रयाव, जिह्रयाम । लँङ्—अजिह्रेत्, अजिह्रीताम्, अजिह्रयुः । अजिह्रेः, अजिह्रीतम्, अजिह्रीत । अजिह्रयम्, अजिह्रीव, अजिह्रीम । वि० लिँङ्—जिह्रीयात्, जिह्रीयाताम्, जिह्रीयुः । आ० लिँङ्—ह्रीयात्, ह्रीयास्ताम्, ह्रीयासुः । लुँङ्—अह्रैषीत्, अह्रैष्टाम्, अह्रैषुः । अह्रैषीः, अह्रैष्टम्, अह्रैष्ट । अह्रैषम्, अह्रैष्व, अह्रैष्म । लृँङ्—अह्रेष्यत्, अह्रेष्यताम्, अह्रेष्यन् ।

[लघु०] पॄ पालनपूरणयोः ॥४॥

अर्थः—पॄ धातु 'पालना और पूर्ण करना' अर्थों में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—आत्मनेपद के लक्षणों से रहित होने के कारण यह धातु परस्मैपदी है । 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (६११) द्वारा उत्व करने के लिये इस धातु के ऋवर्ण को दीर्घ किया गया है । ॠदन्त होने से यह धातु सेट् है ।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, श्लु और द्वित्व कर 'पॄ+पॄ+ति' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६१०) अर्ति-पिपर्त्योश्च ।७।४।७७॥

अभ्यासस्य इकारोऽन्तादेशः स्यात् श्लौ । पिपर्ति ॥

अर्थः—ऋ और पॄ धातु के अभ्यास के अन्त्य वर्ण को इकार आदेश हो श्लु परे हो तो ।

व्याख्या—अर्ति-पिपर्त्योः ।६।२। च इत्यव्ययपदम् । अभ्यासस्य ।६।१। ('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से)। इत् ।१।१। ('भृञामित्' से)। श्लौ ।७।१। ("निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' से) । अर्तिश्च पिपर्तिश्च तयोः=अर्तिपिपर्त्योः, इतरेतरद्वन्द्वः । 'अर्ति' से 'ऋ गतौ' (जुहो० परस्मै०) धातु तथा 'पिपर्ति' से 'पॄ पालनपूरणयोः' (जुहो० परस्मै०) धातु का ग्रहण किया जाता है । अर्थः—(अर्ति-पिपर्त्योः) ऋ और पॄ धातु के (अभ्यासस्य) अभ्यास के स्थान पर (च) भी (इत्) ह्रस्व इकार आदेश हो जाता है (श्लौ) श्लु परे हो तो । अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह इकार आदेश अभ्यास के अन्त्य अल् के स्थान पर होता है[1] । 'उरण्रपरः' (२९) से रपर हो कर यह इकार 'इर्' बन जाता है। 'ऋ' धातु के उदाहरण 'इयर्ति' आदि सिद्धान्तकौमुदी में देखें । यहां 'पॄ' धातु प्रकृत है ।

'पॄ+पॄ+ति' यहां श्लु परे है अतः अभ्यास के ॠकार को प्रकृतसूत्र से इत्व और रपर करने पर—पिर्+पॄ+ति । अब 'हलादिः शेषः' (३९६) से अभ्यास के रेफ का लोप तथा 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से अभ्यासोत्तरखण्ड के ॠकार को गुण-अर् करने से 'पिपर्ति' प्रयोग सिद्ध होता है[2] ।

प्र० पु० के द्विवचन में पूर्ववत् शप्, श्लु, द्वित्व और इत्व हो कर 'पि+पॄ+तस्' इस स्थिति में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से तस् के ङित् होने से गुण का निषेध हो जाता है । अब 'ॠत इद्धातोः' (६६०) से धातु के ॠकार को इत्व प्राप्त होता है, इस पर उस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६११) उदोष्ठ्यपूर्वस्य ।७।१।१०२।।

अङ्गावयवौष्ठ्यपूर्वो य ॠत् तदन्तस्याङ्गस्य उत् स्यात् ॥

अर्थः—अङ्ग का अवयव ओष्ठ्य वर्ण जिस के पूर्व में है ऐसा जो ॠवर्ण, तदन्त अङ्ग को उत् (ह्रस्व उकार) आदेश हो।

व्याख्या—उत् ।१।१। ओष्ठ्यपूर्वस्य ।६।१। ॠतः ।६।१। ('ॠत इद्धातोः' से)। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । ओष्ठयोर्भवः—ओष्ठ्यः, स पूर्वो यस्यासौ ओष्ठ्य-पूर्वः, तस्य ओष्ठ्यपूर्वस्य, बहुव्रीहि० । 'अङ्गस्य' की आवृत्ति की जाती है, एक 'अङ्गस्य' का सम्बन्ध 'ओष्ठ्य' वर्ण से किया जाता है अर्थात् अङ्गावयव ओष्ठ्यवर्णः पूर्वो यस्यासौ ओष्ठ्यपूर्वः । दूसरे 'अङ्गस्य' को विशेष्य बना कर उस का 'ॠतः'

---

१. अनर्थक में यद्यपि अलोऽन्त्यविधि प्रवृत्त नहीं हुआ करती तथापि वह निषेध अभ्यास के विकार के लिये नहीं है । जैसा कि कहा है—'नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरन-भ्यासविकारे' (देखें—पूर्वार्ध सूत्र २७७) ।

२. कई वैयाकरण यहां परत्व के कारण पहले गुण कर बाद में द्वित्व तथा अभ्यास के अकार को इर् किया करते हैं (देखें इसी सूत्र पर न्यास)।

विशेषण बना लेते हैं, तब विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'ॠदन्तस्याङ्गस्य' बन जाता है। अर्थः—(ओष्ठ्यपूर्वस्य) अङ्गसम्बन्धी ओष्ठ्यवर्ण जिस के पूर्व में है[1] ऐसा जो (ॠतः=ॠदन्तस्य) ॠकार, तदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (उत्) ह्रस्व उकार आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह उत्व ॠदन्त अङ्ग के अन्त्य अल्-ॠकार के स्थान पर प्रवृत्त होता है। 'उरण्रपरः' (२९) से रपर हो कर 'उर्' आदेश बन जाता है। 'उपूपध्मानीयानामोष्ठौ' के अनुसार उकार, पवर्ग और उपध्मानीय वर्ण ओष्ठ्य कहलाते हैं। वकार में भी ओष्ठ्यत्व अक्षुण्ण है। यह सूत्र आगे आने वाले 'ॠत इद् धातोः' (६६०) द्वारा किये जाने वाले इत्व का अपवाद है। यहां यह बात ध्यातव्य है कि पर होने से गुण और वृद्धि इस इत्व और उत्व का बाध कर लेते हैं अतः गुण और वृद्धि के अविषय में ही इत्व उत्व की प्रवृत्ति समझनी चाहिये। अत एव वार्त्तिककार ने कहा है—इत्वोत्वाभ्यां गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेन (७.१.१०२ भाष्ये)। इस सूत्र के उदाहरण 'पुपूर्षति, मुमूर्षति, सुस्वूर्षति, पूर्त्तः' आदि हैं।

'पि+पॄ+तस्' यहां गुण का अविषय है, ॠकार से पूर्व ओष्ठ्यवर्ण पकार विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से ॠकार को उर् आदेश हो कर—पि+पुर्+तस्। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६१२) हलि च ।८।२।७७॥

रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घो हलि। पिपूर्तः। पिपुरति। पपार॥

अर्थः—हल् परे होने पर रेफान्त और वकारान्त धातु की उपधा को दीर्घ हो।

व्याख्या—हलि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। धातोः ।६।१। ('सिपि धातो रुर्वा' से)। र्वोः ।६।२। उपधायाः ।६।१। दीर्घः ।१।१। इकः ।६।१। ('र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' से)। र् च व् च र्वौ, तयोः='र्वोः', इतरेतरद्वन्द्वः। 'र्वोः' यह धातोः का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर 'रेफान्तस्य वान्तस्य च धातोः' बन जाता है। अर्थः—(र्वोः=रेफवान्तस्य) रेफान्त और वकारान्त (धातोः) धातु के (उपधाया इकः) उपधा के इक् के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है (हलि) हल् परे हो तो। 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' (३५१) सूत्र पदान्त में दीर्घ करता है और यह सूत्र हल् परे होने पर—यही इन

---

१. ओष्ठ्य वर्ण का सम्बन्ध अङ्ग के साथ होना आवश्यक है अन्यथा 'समीर्णः' [सम्√ॠ (क्र्यादि०)+क्त] में उपसर्ग का मकार ओष्ठ्यवर्ण पूर्व होने से ॠकार को उत्व हो कर 'समूर्णः' यह अनिष्ट रूप बन जायेगा। विस्तार के लिये इसी सूत्र पर काशिकावृत्ति देखें।

दोनों का भेद है। इस सूत्र में 'च' का ग्रहण समुच्चय के लिये किया गया है अर्थात् पूर्वोक्त दीर्घ हल् परे होने पर भी हो। रेफान्त धातु के उदाहरण—आस्तीर्णम्, विस्तीर्णम् आदि। वकारान्त धातु के उदाहरण—दीव्यति, सीव्यति आदि।

'पिपुर्+तस्' यहां 'पिपुर्' यह रेफान्त धातु है। इस से परे तस् का तकार हल् विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से इस की उपधा-उकार को दीर्घ करने पर—पिपूर्+तस्='पिपूर्तः' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां पदान्त न होने के कारण खर् परे होने पर भी रेफ को विसर्ग नहीं होता।

प्र० पु० के बहुवचन में शप्, श्लु, द्वित्व, 'अर्तिपिपर्त्योश्च' (६१०) से अभ्यास के ऋकार को इर् आदेश, हलादिशेष तथा 'अदभ्यस्तात्' (६०६) से झि के झकार को अत् आदेश करने पर—पिपुर्+अति। यहां हल् परे नहीं है अतः उपधा के उकार को दीर्घ नहीं होता—'पिपुरति' प्रयोग सिद्ध होता है। लँट् में रूपमाला यथा—पिपर्ति, पिपूर्तः, पिपुरति। पिपर्षि, पिपूर्थः, पिपूर्थ। पिपर्मि, पिपूर्वः, पिपूर्मः।

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, णल्, द्वित्व, उरत् (४७३), रपर और हलादिशेष करने पर—प+पॄ+अ। यहां श्लु परे नहीं अतः 'अर्तिपिपर्त्योश्च' (६१०) से अभ्यास को इत्त्व नहीं होता। अब 'अचो ञ्णिति' (१८२) से वृद्धि करने पर 'पपार' प्रयोग सिद्ध होता है[1]। द्विवचन में 'प+पॄ+अतुस्' इस स्थिति में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६१३) शॄ-दॄ-प्रां ह्रस्वो वा।७।४।१२॥

एषां किति लिँटि ह्रस्वो वा स्यात्। पप्रतुः॥

अर्थः—कित् लिँट् परे होने पर[2] शॄ (हिंसा करना), दॄ (विदारण करना) और पॄ (पालना व पूर्ण करना) धातुओं को विकल्प से ह्रस्व हो।

व्याख्या—शॄ-दॄ-प्राम् ।६।३। ह्रस्वः ।१।१। वा इत्यव्ययपदम्। लिँटि ।७।१। ('दयतेर्दिगि लिँटि' से)। अर्थः—(लिँटि) लिँट् परे होने पर (शॄ-दॄ-प्राम्) शॄ, दॄ

---

१. वस्तुतः यहां 'ऋच्छत्यॄताम्' (६१४) सूत्र से प्रथम गुण कर बाद में 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि करने पर उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध होता है। परन्तु श्रीवरदराज ने कुछ विशेष फल न देख कर बालकों के सुखबोध के लिये वैसा नहीं किया।

२. 'किति' की कहीं से अनुवृत्ति नहीं आती। यह सूत्र कित् अकित् दोनों स्थानों पर ह्रस्व का विधान करता है। परन्तु अकितों में ह्रस्व करने पर भी यथा-सम्भव वृद्धि वा गुण हो जाता है अतः कुछ भी फल दिखाई नहीं देता, यही विचार कर वृत्तिकार ने यहां 'किति' कह दिया है।

और पॄ धातुओं के स्थान पर (वा) विकल्प से (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश हो जाता है। 'अचश्च' (१.२.२८) परिभाषा से इन धातुओं के ॠकार को विकल्प से ह्रस्व ऋकार हो जायेगा[1]।

शॄ के उदाहरण—(ह्रस्वपक्षे) शश्रतुः, (ह्रस्वाभावे) शशरतुः आदि।

दॄ के उदाहरण—(ह्रस्वपक्षे) दद्रतुः, (ह्रस्वाभावे) ददरतुः आदि।

पॄ के उदाहरण—'प+पॄ+अतुस्' यहां लिँट् परे है अतः प्रकृतसूत्र से पॄ के ॠवर्ण को वैकल्पिक ह्रस्व हो जाता है। ह्रस्वपक्ष में ह्रस्वविधानसामर्थ्य से वक्ष्यमाण 'ऋच्छत्यॄताम्' (६१४) द्वारा गुण नहीं होता, 'इको यणचि'(१५)से यण् होकर 'पप्रतुः' रूप सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'उस्' में 'पप्रुः'। 'व' और 'म' में धातु के सेट् होने के कारण इट् का आगम हो कर—पप्रिव, पप्रिम। जिस पक्ष में ह्रस्व न होगा वहां 'प+पॄ+अतुस्' में 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (६११) से उत्व प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र से गुण का विधान करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६१४) ऋच्छत्यॄताम्[2] ।७।४।११।।

तौदादिकऋच्छेर्[3] ऋधातोर् ॠतां च गुणो लिँटि। पपरतुः, पपरुः ।।

अर्थः—तौदादिक ऋच्छ् धातु, ऋ धातु तथा ॠदन्त धातुओं के स्थान पर गुण हो जाता है लिँट् परे हो तो।

व्याख्या—ऋच्छत्यॄताम् ।६।३। गुणः ।१।१। ('ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' से)। लिँटि ।७।१। ('दयतेर्दिगि लिँटि' से)। ऋच्छतिश्च 'ऋ' च 'ॠत्' च ऋच्छत्यॄतः, तेषाम् ऋच्छत्यॄताम्। ऋच्छ् धातु तुदादिगण में पढ़ी गई है—ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलय-मूर्तिभावेषु। 'ऋ' धातु भ्वादि और जुहोत्यादि दोनों गणों में पढ़ी गई है। ॠदन्त धातु—पॄ, कॄ, तॄ आदि हैं। अर्थः—(लिँटि) लिँट् परे होने पर (ऋच्छत्यॄताम्) ऋच्छ्, ऋ और ॠदन्त धातुओं के स्थान पर (गुणः) गुण हो जाता है। 'इको

---

१. पीछे अष्टाध्यायी में 'गुणः' का प्रकरण आ रहा था। यदि 'शॄ-दॄ-प्रां वा' इस प्रकार सूत्र बना कर उस गुण को ही विकल्प कर देते तो गुण के अभाव में यण् न हो कर 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (६११) से उत्व हो जाता जो अनिष्ट था। अतः मुनि ने गुण का विकल्प न कर ह्रस्व का ही विकल्प किया है।

२. 'ऋच्छति+ऋ+ॠताम्' इतिच्छेदः। यहां पर बहुवचन का ग्रहण 'ऋ' के प्रश्लेष का सूचक है। अन्यथा द्विवचन का ही प्रयोग करते।

३. तौदादिक+ऋच्छेर् इत्यत्र 'ऋत्यकः' (६१) इति प्रकृतिभावादसन्धिः।

गुणवृद्धी' (१.१.३) के अनुसार इन धातुओं के इक् के स्थान पर गुण होता है। 'ऋच्छ्' में ऋवर्ण उपधा में न था अतः लघूपधगुण प्राप्त न था, तथा ऋ और ऋदन्तों में 'असंयोगाल्लिंट् कित्' (४५२) द्वारा कित्व के कारण गुण प्रतिषिद्ध था, अतः इस सूत्र से गुण का विधान किया गया है।

ऋच्छ् के उदाहरण 'आनर्च्छ, आनर्च्छतुः, आनर्च्छुः' आदि आगे तुदादिगण में देखें। 'ऋ' के उदाहरण 'आर, आरतुः, आरुः' आदि सिद्धान्तकौमुदी में देखें। ऋदन्त के उदाहरण यहां प्रस्तुत हैं—

'पॄ +अतुस्' यहां पॄ धातु ऋदन्त है, इस से परे 'अतुस्' यह लिँट् भी विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से गुण, रपर करने पर 'पपरतुः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे 'पपरुः' आदि समझ लेने चाहियें। लिँट् में रूपमाला यथा—
पपार, पप्रतुः-पपरतुः, पप्रुः-पपरुः। पपरिथ, पप्रथुः-पपरथुः, पप्र-पपर। पपार-पपर, पप्रिव-पपरिव, पप्रिम-पपरिम।

लुँट्—धातु के सेट् होने से इट् का आगम हो कर गुण करने से 'पर्+इ+ता' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६१५) वॄतो वा ।७।२।३८॥

वृङ्वृञ्भ्याम् ॠदन्ताच्च इटो दीर्घो वा स्यान्न तु लिँटि। परीता-परिता। परीष्यति-परिष्यति। पिपर्तु। अपिपः, अपिपूर्ताम्, अपिपरुः। पिपूर्यात्। पूर्यात्। अपारीत्॥

अर्थः—वृङ्, वृञ् और ॠदन्त धातुओं से परे इट् को विकल्प से दीर्घ हो, परन्तु लिँट् परे होने पर न हो।

व्याख्या—वॄतः ।५।१। वा इत्यव्ययपदम्। इट् ।१।१। ('आर्धधातुकस्येड्०' से)। दीर्घः ।१।१। अलिँटि ।७।१। ('ग्रहोऽलिँटि दीर्घः' से)। वॄ च ॠत् च वॄत्, तस्माद् वॄतः, समाहारद्वन्द्वः। 'वॄ' में अनुबन्धनिर्देश न होने से वृङ् और वृञ् दोनों धातुओं का ग्रहण होता है। 'ॠत्' से ॠदन्त धातुओं का ग्रहण समझना चाहिये। अर्थः—(वॄतः) वृङ्, वृञ् और ॠदन्त धातुओं से परे (इट्) इट् (वा) विकल्प से (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है (अलिँटि) परन्तु लिँट् परे होने पर नहीं होता[1]। वृङ् और वृञ् से परे इट् के उदाहरण 'वरीता-वरिता' आदि आगे क्र्यादिगण में आयेंगे। यहां प्रकृत में ॠदन्त का उदाहरण है—

'पर्+इ+ता' यहाँ ॠदन्त पॄ धातु से परे इट् विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से

---

१. अत एव लिँट् में 'पप्रिथ-पपरिथ, पप्रिव-पपरिव, पप्रिम-पपरिम' में इट् को दीर्घ नहीं होता।

इट् को विकल्प से दीर्घ हो जाता है। दीर्घपक्ष में—'परीता' और दीर्घ के अभाव में 'परिता' दो रूप सिद्ध होते हैं। लुँट् में रूपमाला यथा—(दीर्घपक्षे) परीता, परीतारौ, परीतारः आदि। (दीर्घाऽभावे) परिता, परितारौ, परितारः आदि।

लृँट्—में भी सर्वत्र 'वृतो वा (६१५) से इट् को वैकल्पिक दीर्घ हो जाता है। (दीर्घपक्षे) परीष्यति, परीष्यतः, परीष्यन्ति आदि। (दीर्घाऽभावे) परिष्यति, परिष्यतः, परिष्यन्ति आदि।

लोँट्—में लँट् की तरह प्रक्रिया हो कर लोँट् के अपने विशिष्ट कार्य हो जाते हैं। तातङ् में ङित्त्व के कारण गुण का निषेध हो कर 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (६११) से उत्त्व तथा 'हलि च' (६१२) से दीर्घ हो जाता है। इसी प्रकार अपित्त्व के कारण ङित् हो जाने से 'हि' में भी समझ लेना चाहिये। उ० पु० में आट् का आगम पित् है अतः गुण हो जाता है। झि में 'अदभ्यस्तात्' (६०६) से झकार को अत् आदेश हो जाता है। रूपमाला यथा—पिपर्तु-पिपूर्तात्, पिपूर्ताम्, पिपुरतु। पिपूर्हि-पिपूर्तात्[1], पिपूर्तम्, पिपूर्त। पिपराणि, पिपराव, पिपराम।

लँङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, इकारलोप, शप्, श्लु, द्वित्व, 'अर्तिपिपर्त्योश्च' (६१०) से अभ्यास को इत्व, सार्वधातुकगुण, रपर तथा अङ्ग को अट् का आगम करने पर—अपिपर्+त्। अब अपृक्त तकार का हल्ङ्यादिलोप (१७९) कर पदान्त में रेफ को विसर्ग करने से 'अपिपः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार सिप् में भी अपृक्त सकार का लोप हो कर 'अपिपः' रूप बनता है। मिप् में अम् आदेश तथा गुण हो कर—अपिपरम्। अन्यत्र 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङिद्वद्भाव के कारण गुण का निषेध हो कर 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (६११) से उत्व तथा 'हलि च' (६१२) से दीर्घ हो जाता है। झि को 'सिँजभ्यस्त०' (४४७) से जुस् आदेश हो कर 'जुसि च' (६०८) से गुण हो जाता है। रूपमाला यथा—अपिपः, अपिपूर्ताम्, अपिपरुः। अपिपः, अपिपूर्तम्, अपिपूर्त। अपिपरम्, अपिपूर्व, अपिपूर्म।

विधिलिँङ्—में यासुट् के ङित् होने से गुण नहीं होता। 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (६११) से उत्त्व तथा 'हलि च' (६१२) से दीर्घ हो जाता है—पिपूर्यात्, पिपूर्याताम्, पिपूर्युः। पिपूर्याः, पिपुर्यातम्, पिपूर्यात। पिपूर्याम्, पिपूर्याव, पिपूर्याम।

आ० लिँङ्—में शप् और श्लु नहीं होता। अतः द्वित्व और अभ्यास को इत्व नहीं हो पाता। यहां यासुट् के कित्त्व के कारण गुण का निषेध होकर उत्व तथा 'हलि च' (६१२) से दीर्घ हो जाता है—पूर्यात्, पूर्यास्ताम्, पूर्यासुः।

---

१. स्वामिदयानन्दसरस्वतीनिर्मित 'आख्यातिक' में यहां संशोधकों के प्रमादवश 'पिपूर्धि' प्रयोग लिखा गया है उसे शुद्ध कर 'पिपूर्हि' पढ़ना चाहिये क्योंकि 'हुझल्भ्यः०' (५५६) द्वारा यहां धित्व प्राप्त नहीं हो सकता।

लुंङ्—में 'अपॄ+इस्+ईत्' इस स्थिति में 'वॄतो वा' (६१५) से इट् को वैकल्पिक दीर्घ प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से निषेध हो जाता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६१६) सिँचि च परस्मैपदेषु ।७।२।४०॥

अत्र इटो न दीर्घः। अपारिष्टाम्। अपरीष्यत्-अपरिष्यत॥

अर्थः—परस्मैपदपरक सिँच् परे हो तो वृङ्, वृञ् तथा ॠदन्त धातुओं से परे इट् को दीर्घ न हो।

व्याख्या—सिँचि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। परस्मैपदेषु ।७।३। वॄतः ।५।१। ('वॄतो वा' से)। इट् ।१।१। ('आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से)। दीर्घः ।१।१। ('ग्रहोऽलिँटि दीर्घः' से)। न इत्यव्ययपदम् ('न लिँङि' से)। अर्थः—(परस्मैपदेषु) परस्मैपद परे होने पर (सिँचि) जो सिँच्, उस के परे रहते (वॄतः) वृङ्, वृञ् और ॠदन्त धातु से परे (इट्) इट् (दीर्घः) दीर्घ (न) नहीं होता। यह सूत्र 'वॄतो वा' (६१५) से प्राप्त वैकल्पिक दीर्घ का अपवाद है। वृञ् के उदाहरण 'अवारीत्, अवारिष्टाम्, अवारिषुः' आदि आगे आयेंगे। वृङ् धातु आत्मनेपदी है अतः उस के उदाहरण सम्भव नहीं। यहां ॠदन्त के उदाहरण प्रस्तुत हैं—

'अपॄ+इस्+ईत्' यहां 'पॄ' यह ॠदन्त धातु है अतः प्रकृतसूत्र से इट् के दीर्घ का निषेध हो गया। अब 'सिँचि वृद्धिः०' (४८४) से इगन्तलक्षणा वृद्धि, 'इट ईटि' (४४६) से सकारलोप और अन्त में उसे सिद्ध मान कर सवर्णदीर्घ करने से 'अपारीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां इण्निषेध न भी होता तो भी सवर्णदीर्घ होकर 'अपारीत्' प्रयोग बनता अतः इस निषेध का फल 'अपारिष्टाम्' आदियों में स्पष्ट होता है—यह सोच कर ग्रन्थकार ने इस सूत्र से पूर्व 'अपारीत्' लिख दिया और इस सूत्र पर 'अपारिष्टाम्' उदाहरण दिया है[1]। लुंङ् में रूपमाला यथा—अपारीत्, अपारिष्टाम्, अपारिषुः। अपारीः, अपारिष्टम्, अपारिष्ट। अपारिषम्, अपारिष्व, अपारिष्म।

लृंङ्—में 'वॄतो वा' (६१५) से इट् को वैकल्पिक दीर्घ हो जाता है। दीर्घपक्षे—अपरीष्यत्, अपरीष्यताम्, अपरीष्यन्। दीर्घाऽभावे—अपरिष्यत्, अपरिष्यताम्, अपरिष्यन् आदि।

[लघु०] ओँहाक् त्यागे ।५॥ जहाति॥

---

१. परन्तु हमारे विचार में इस निषेध के विना 'अपारीत्' भी नहीं बन सकेगा। 'अपॄ+इस्+ईत्' में यदि 'वॄतो वा' से दीर्घ कर दें तो इट् न रहने से 'इट ईटि' की प्रवृत्ति ही न होगी। तब सकार का लोप न होने से 'अपारीषीत्' इस प्रकार अनिष्ट रूप बनेगा। अतः 'अपारीत्' में भी निषेध की प्रवृत्ति के विना काम नहीं चल सकेगा।

अर्थः—ओँहाक् (हा) धातु 'छोड़ना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी है। इस में आदि ओकार 'उपदेशेऽजनु०' (२८) से तथा अन्त्य ककार 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञक है अतः उन दोनों का लोप होकर 'हा' ही अवशिष्ट रहता है। ओकारानुबन्ध 'ओदितश्च' (८२०) द्वारा निष्ठा (क्त, क्तवतुँ) में नत्व करने के लिये जोड़ा गया है—हा+क्त=हीनः, हा+क्तवतुँ=हीनवान्। ककारानुबन्ध 'हश्च व्रीहिकालयोः' (३.१.१४८) में 'ओँहाङ् गतौ' तथा 'ओँहाक् त्यागे' दोनों धातुओं के सामान्यग्रहण कराने के लिये जोड़ा गया है। अन्यथा—'एकाऽनुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य' (सीरदेववृत्ति पृ० ५४) परिभाषा से ओँहाङ् का ग्रहण न हो सकता केवल इसी का ही ग्रहण होता। 'ऊदृदन्तैः०' के अनुसार यह धातु उपदेश में अनुदात्त होने से अनिट् है।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में 'हा+ति' इस स्थिति में शप्, श्लु, द्वित्व, अभ्यास के हकार को कुत्व-झकार तथा जश्त्व-जकार करने पर 'जहाति' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में 'जहा+तस्' इस स्थिति में 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' (६१९) से प्राप्त आकार के लोप का बाध कर 'ई हल्यघोः' (६१८) से ईत्व प्राप्त होता है। इस पर उस का भी अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६१७) **जहातेश्च** ।६।४।११६।।

इद् वा स्याद् हलादौ क्ङिति सार्वधातुके। जहितः ।।

अर्थः—हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे हो तो ओँहाक् धातु के आकार को विकल्प से ह्रस्व इकार आदेश हो।

व्याख्या—जहातेः ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। इत् ।१।१। ('इद् दरिद्रस्य' से)। अन्यतरस्याम् ।७।१। ('भियोऽन्यतरस्याम्' से)। हलि ।७।१। ('ई हल्यघोः' से)। क्ङिति ।७।१। ('गमहनजन०' से)। सार्वधातुके ।७।१। ('अत उत्सार्वधातुके' से)। 'हलि' यह 'सार्वधातुके' का विशेषण है अतः इस से तदादिविधि होकर 'हलादौ सार्वधातुके' बन जाता है। अर्थः—(हलि=हलादौ) हलादि (क्ङिति) कित् ङित् (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे हो तो (जहातेः) ओँहाक् धातु के स्थान पर (च) भी

---

१. इसी धातु से हानि, हेय, अहन्, हित्वा (छोड़ कर; 'जहातेश्च क्त्वि' इतीत्वम्) आदि शब्द बनते हैं। यह धातु लोक और वेद दोनों में अत्यन्त प्रसिद्ध है। 'यथा न पूर्वमपरो जहाति'—ऋग्वेद १०. १८. ५। 'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्'—गीता २.५५।

(इत्) ह्रस्व इकार आदेश हो जाता है (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में। दूसरी अवस्था में आदेश नहीं होता अतः विकल्प सिद्ध हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह इत्व 'हा' के अन्त्य अल्-आकार के स्थान पर किया जायेगा। यह सूत्र वक्ष्यमाण 'ई हल्यघोः' (६१८) का अपवाद है—

'जहा+तस्' यहां 'तस्' यह हलादि सार्वधातुक परे है, 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से यह ङित् भी है। अतः प्रकृतसूत्र से 'हा' के आकार को इकार आदेश करने से 'जहितः' प्रयोग सिद्ध होता है[1]। जिस पक्ष में इत्व नहीं होता उस पक्ष में 'जहा+तस्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६१८) ई हल्यघोः ।६।४।११३।।

श्नाऽभ्यस्तयोरात ईत् स्यात् सार्वधातुके क्ङिति हलि, न तु घोः। जहीतः ।।

अर्थः— हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे होने पर श्नाप्रत्यय के तथा अभ्यस्त-सञ्ज्ञक धातु के आकार को ईकार आदेश हो परन्तु घुसंज्ञक धातुओं के आकार को न हो।

व्याख्या—ई इति लुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम्। हलि ।७।१। अघोः ।६।१। श्नाऽभ्यस्तयोः ।६।२। आतः ।६।१। ('श्नाभ्यस्तयोरातः' से)। क्ङिति ।७।१। ('गमहन-जन०' से) सार्वधातुके ।७।१। ('अत उत्सार्वधातुके' से)। अर्थः—(हलि=हलादौ) हलादि (क्ङिति) कित् ङित् (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे हो तो (श्नाऽभ्यस्तयोः) श्ना और अभ्यस्त के (आतः) आकार के स्थान पर (ई) ईकार आदेश हो जाता है (अघोः) परन्तु घुसंज्ञक के स्थान पर नहीं होता[2]। यह सूत्र वक्ष्यमाण 'श्नाऽभ्यस्त-योरातः' (६१९) सूत्र का अपवाद है।

श्ना के उदाहरण—क्री+श्ना+तस्=क्रीणीतः, गृह्णीतः, लुनीतः, पुनीतः

---

१. ध्यान रहे कि यह इत्व 'श्लौ' (६०५) द्वारा द्वित्व करने के बाद ही करना चाहिये। यदि पहले करेंगे तो अभ्यास में इकार सुनाई देगा, 'जहितः' न बन कर 'जिहितः' बनेगा। ऐसा क्यों किया जाये ? इस के दो समाधान प्रस्तुत किये जाते हैं। एक तो यह कि यहां 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से 'अभ्यस्तस्य' की अनुवृत्ति आ रही है, इस से द्वित्व करने के बाद अभ्यस्तसञ्ज्ञक 'जहाति' के ही आकार को इत्व होता है। दूसरा—द्वित्व अल्पापेक्षी होने के कारण अन्तरङ्ग और इत्व बहु-अपेक्षी होने के कारण बहिरङ्ग है। 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' के अनुसार प्रथम अन्तरङ्ग और बाद में बहिरङ्ग कार्य किया जाता है।

२. घु में ईत्वाभाव के उदाहरण 'दत्तः, दत्थः' आदि आगे आयेंगे।

आदि क्र्यादिगण में देखें। अभ्यस्तों के उदाहरण—मिमीते, मिमीषे आदि इसी गण में आगे स्पष्ट किये गये हैं।

'जहा+तस्' यहां 'उभे अभ्यस्तम्' (३४४) के अनुसार 'जहा' अभ्यस्त-सञ्ज्ञक है। इस से परे 'तस्' यह हलादि ङित् सार्वधातुक विद्यमान है। अतः प्रकृतसूत्र से अभ्यस्त के आकार को ईत्व होकर 'जहीतः' रूप सिद्ध होता है। इस प्रकार तस् में 'जाहितः, जहीतः' दो रूप बन जाते हैं।

प्र० पु० के बहुवचन में शप्, श्लु और द्वित्वादि करने के बाद 'अदभ्यस्तात्' (६०६) से झि के झकार को अत् आदेश होकर 'जहा+अति' इस दशा में हलादि न होने से इत्व वा ईत्व कुछ प्राप्त नहीं होता। इस पर अग्रिम उत्सर्गसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६१९) श्नाऽभ्यस्तयोरातः ।६।४।११२॥

अनयोरातो लोपः क्ङिति सार्वधातुके। जहति। जहौ। हाता। हास्यति। जहातु-जहितात्-जहीतात् ॥

अर्थः—कित् ङित् सार्वधातुक परे होने पर श्नाप्रत्यय के तथा अभ्यस्तसंज्ञक धातु के आकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—श्नाऽभ्यस्तयोः ।६।२। आतः ।६।१। लोपः ।१।१। ('श्नसोरल्लोपः' से)। सार्वधातुके ।७।१। ('अत उत्सार्वधातुके' से)। क्ङिति ।७।१। ('गमहनजन०' से)। अर्थः—(श्नाऽभ्यस्तयोः) श्ना और अभ्यस्त के (आतः) आकार का (लोपः) लोप हो जाता है (क्ङिति सार्वधातुके) कित् ङित् सार्वधातुक परे हो तो। यह सूत्र अजादि हलादि सब प्रकार के कित् ङित् सार्वधातुकों के लिये सामान्य है। परन्तु हलादि कित् ङित् सार्वधातुकों में 'ई हल्यघोः' (६१८) सूत्र इस का अपवाद है, अतः अजादि कित् ङित् सार्वधातुकों में तथा घुसञ्ज्ञकों के विषय में हलादि कित् ङित् सार्वधातुकों में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। ध्यान रहे कि 'ई हल्यघोः' (६१८) सूत्र का भी 'जहातेश्च' (६१७) सूत्र अपवाद है। अतः उत्सर्गापवादक्रम से इन सूत्रों को इस प्रकार से रखना चाहिये—श्नाऽभ्यस्तयोरातः, ई हल्यघोः, जहातेश्च। अष्टाध्यायी में इन सूत्रों का क्रम है भी यही।

श्ना के उदाहरण—क्रीणन्ति, लुनन्ति, पुनन्ति आदि आगे क्र्यादिगण में आयेंगे। अभ्यस्तों के उदाहरण यहां प्रकृत में हैं—

'जहा+अति' यहां अभ्यस्त से परे 'अति' यह ङित् सार्वधातुक विद्यमान है। हलादि न होने से यहां 'ई हल्यघोः' (६१८) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। अतः प्रकृतसूत्र से अभ्यस्त के आकार का लोप होकर जह्+अति='जहति' प्रयोग सिद्ध

होता है । लँट् में रूपमाला यथा—जहाति, जहितः-जहीतः, जहति । जहासि, जहिथः-जहीथः, जहिथ-जहीथ । जहामि, जहिवः-जहीवः, जहिमः-जहीमः ।

लिँट्—में ओँहाक् की 'पा' धातु की तरह प्रक्रिया होती है—जहौ, जहतुः, जहुः । जहिथ-जहाथ, जहथुः, जह । जहौ, जहिव, जहिम ।

लुँट्—में अनिट् होने से इण्निषेध हो जाता है—हाता, हातारौ, हातारः ।

लृँट्—हास्यति, हास्यतः, हास्यन्ति ।

लोँट्—प्र० पु० के एकवचन में शप्, श्लु, द्वित्व तथा 'एरुः' (४११) से उत्व हो कर 'जहातु' रूप सिद्ध होता है । यहां कित् ङित् न होने से इत्व ईत्व कुछ नहीं होता । आ० लोँट् में 'तु' को तातङ् आदेश हो जाता है, उस के ङित् होने से 'जहातेश्च' (६१७) से इत्व तथा पक्ष में 'ई हल्यघोः' (६१८) से ईत्व करने पर—जहितात्-जहीतात् । इसी प्रकार द्विवचन में—जहिताम्-जहीताम् । बहुवचन में अभ्यस्त से परे 'अदभ्यस्तात्' (६०६) द्वारा अत् आदेश हो कर 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' (६१९) से आकार का लोप तथा 'एरुः' से उत्व करने पर—जहतु । म० पु० के एकवचन में सिप् को 'हि' आदेश हो जाता है । अपित् होने से 'हि' आदेश ङित् है अतः 'जहा+हि' इस स्थिति में इत्व और ईत्व प्राप्त होते हैं । इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्— (६२०) आ च हौ ।६।४।११७।।

जहातेर् हौ परे आ स्याच्चाद् इदीतौ । जहाहि-जहिहि-जहीहि । अजहात् । अजहुः ।।

अर्थः—'हि' परे होने पर ओँहाक् धातु के आकार के स्थान पर आकार, इकार तथा ईकार आदेश हो ।

व्याख्या—आ इति लुप्तप्रथमान्तं पदम् । च इत्यव्ययपदम् । हौ ।७।१। इत् ।१।१। ('इद् दरिद्रस्य' से)। ई ।१।१। ('ई हल्यघोः' से)। जहातेः ।६।१। ('जहातेश्च' से) । अर्थः—(हौ) 'हि' परे होने पर (जहातेः) ओँहाक् धातु के स्थान पर (आ) आकार (च) तथा (इत्) इकार (ई) ईकार भी आदेश हो जाते हैं[1] । अलोऽन्त्यपरिभाषा से ये सब आदेश अन्त्य अल्-आकार के स्थान पर होते हैं ।

---

१. प्राचीन वैयाकरण इस सूत्र में चकार के बल से केवल 'इत्' और 'अन्यतरस्याम्' पदों का अनुवर्तन कर इस प्रकार सूत्रार्थ करते हैं—'हि' परे होने पर ओँहाक् के आकार को आकार और इत्व विकल्प से हों । इस अर्थ में इन दोनों से मुक्त होने पर पक्ष में 'ई हल्यघोः' से ईत्व हो कर तीन रूप बन जाते हैं । कौमुदी के अर्थ की अपेक्षा प्राचीन अर्थ अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है । दीक्षितजी ने अपने अर्थ की पुष्टि में प्रौढमनोरमा में यहां कुछ नहीं लिखा ।

'जहा+हि' यहां ओँहाक् धातु से 'हि' परे है अतः प्रकृतसूत्र से आकार को आकार आदेश हो कर—जहाहि, इकार आदेश हो कर—जहिहि, ईकार आदेश हो कर—जहीहि, इस प्रकार तीन रूप सिद्ध होते हैं। उ० पु० में आट् का आगम पित् है अतः उस के ङित् न होने से 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' (६१६) से आकार का लोप नहीं होता, सर्वत्र सवर्णदीर्घ हो जाता है। लोँट् में रूपमाला यथा- जहातु-जहितात्-जहीतात्, जहिताम्-जहीताम्, जहतु। जहाहि-जहिहि-जहीहि-जहितात्-जहीतात्, जहितम्-जहीतम्, जहित-जहीत। जहानि, जहाव, जहाम।

लँङ्—प्र० पु० के एकवचन में शप्, श्लु और द्वित्व हो कर—अजहात्। द्विवचन में इत्व-ईत्व होकर—अजहिताम्-अजहीताम्। बहुवचन में 'सिँजभ्यस्त०' (४४७) से झि को जुस् हो कर 'अजहा+उस्' इस स्थिति में 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' (६१६) द्वारा आकार का लोप करने पर—अजहुः। उ० पु० में मिप् को अम् हो कर सवर्णदीर्घ हो जाता है—अजहाम्। रूपमाला यथा—अजहात्, अजहिताम्-अजहीताम्, अजहुः। अजहाः, अजहितम्-अजहीतम्, अजहित-अजहीत। अजहाम्, अजहिव-अजहीव, अजहिम-अजहीम।

वि० लिँङ्—में यासुट्, शप्, श्लु और द्वित्वादि हो कर 'जहा+यास्+त्' इस स्थिति में इत्व-ईत्व प्राप्त होते हैं। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६२१) लोपो यि ।६।४।११८॥

जहातेराल्लोपो यादौ सार्वधातुके। जह्यात्। एर्लिँङि (४६०)—हेयात्। अहासीत्। अहास्यत्॥

अर्थः—यकारादि सार्वधातुक परे होने पर ओँहाक् धातु के आकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—लोपः ।१।१। यि ।७।१। सार्वधातुके ।७।१। ('अत उत्सार्वधातुके' से)। जहातेः ।६।१। ('जहातेश्च' से)। 'यि' यह 'सार्वधातुके' का विशेषण है अतः तदादि-विधि हो कर 'यकारादौ सार्वधातुके' बन जायेगा। अर्थः—(यि=यकारादौ) यकारादि (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे होने पर (जहातेः) ओँहाक् धातु का (लोपः) लोप हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह लोप अन्त्य अल्-आकार का ही होगा।

'जहा+यास्+त्' यहां 'यास्त्' यह यकारादि सार्वधातुक परे है अतः प्रकृत-सूत्र से 'जहा' के आकार का लोप हो कर जह्+यास्+त्='जह्यात्' रूप सिद्ध होता है। वि० लिँङ् में रूपमाला यथा—जह्यात्, जह्याताम्, जह्युः आदि।

आ० लिँङ्—में शप्, श्लु और द्वित्वादि नहीं होते। सार्वधातुकसञ्ज्ञा न होने से 'लोपो यि' (६२१) द्वारा आकार का लोप भी नहीं होता। अब 'घुमास्था०'

(५८८) से प्राप्त ईत्व का बाध कर 'एर्लिङि' (४९०) से एत्व हो जाता है—हेयात्, हेयास्ताम्, हेयासुः आदि।

लुँङ्—में 'पा' धातु की तरह 'यम-रम-नमातां सक् च' (४९५) से धातु को सक् का आगम तथा सिँच् को इट् का आगम हो जाता है—अहासीत्, अहासिष्टाम्, अहासिषुः। अहासीः, अहासिष्टम्, अहासिष्ट। अहासिषम्, अहासिष्व, अहासिष्म।

लृँङ्—अहास्यत्, अहास्यताम्, अहास्यन्।

उपसर्गयोग—उत्कर्ष को प्रकट करने के लिये इस धातु के साथ प्रायः प्र, वि और सम् उपसर्गों का योग किया जाता है—प्रजहाति=अच्छी तरह छोड़ता है; विजहाति=विशेष रीति से छोड़ता है; संजहाति=सम्यक् प्रकार से छोड़ता है।

यहां पर जुहोत्यादिगण की परस्मैपदी धातुओं का विवेचन समाप्त होता है।

अब आत्मनेपदी धातुओं का वर्णन किया जायेगा—

[लघु०] माङ् माने शब्दे च ॥६॥

अर्थः—माङ् (मा) धातु 'मापना तथा शब्द करना' अर्थों में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—इस धातु का 'शब्द करना' अर्थ अत्यन्त अप्रसिद्ध है। ङित् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा 'ऊदृदन्तैः०' के अनुसार अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र इट् हो जायेगा।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में शप्, श्लु और द्वित्व करने पर 'मा+मा+त' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६२२) भृञामित् ।७।४।७६॥

भृञ् माङ् ओँहाङ्—एषां त्रयाणामभ्यासस्य इत् स्याच्छ्लौ। मिमीते, मिमाते, मिमते। ममे। माता। मास्यते। मिमीताम्। अमिमीत। मिमीत। मासीष्ट। अमास्त। अमास्यत॥

अर्थः—श्लु परे होने पर भृञ्, माङ् और ओँहाङ् धातुओं के अभ्यास को ह्रस्व इकार आदेश हो।

व्याख्या—भृञाम् ।६।३। इत् ।१।१। त्रयाणाम् ।६।३। श्लौ ।७।१। ('निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' से)। अभ्यासस्य ।६।१। ('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से)। 'भृञाम्' में बहुवचन के निर्देश के कारण 'भृञादीनाम्' अर्थ उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(भृञाम्=भृञादीनाम्) भृञ् आदि (त्रयाणाम्) तीन धातुओं के (अभ्यासस्य) अभ्यास के स्थान पर (इत्) ह्रस्व इकार आदेश होता है (श्लौ) श्लु परे हो तो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह इकारादेश अभ्यास के अन्त्य अल् के स्थान पर किया जायेगा। भृञ् आदि तीन धातु धातुपाठ में मूलोक्त क्रम से पढ़ी गई हैं, इन सब का इसी गण में वर्णन आयेगा।

'मा+मा+त' यहां श्लु परे होने से माङ् धातु के अभ्यास के आकार को प्रकृतसूत्र से इकारादेश हो कर—मि+मा+त। अब 'ई हल्यघोः' (६१८) से अभ्यासोत्तर धातु के आकार को ईकार आदेश तथा 'टित आत्मने०' (५०८) से टि को एत्व करने पर 'मिमीते' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में 'मिमा+आताम्' यहां 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' (६१९) से आकार का लोप कर टि को एत्व करने से—मिमाते। बहुवचन में अभ्यास को इत्व करने के बाद 'अदभ्यस्तात्' (६०६) से झकार को अत् आदेश हो कर आकार का लोप हो जाता है—मिमते। लँट् में रूपमाला यथा—मिमीते, मिमाते, मिमते। मिमीषे, मिमाथे, मिमीध्वे। मिमे, मिमीवहे, मिमीमहे।

लिँट्—में सर्वत्र 'आतो लोप इटि च' (४८९) से आकार का लोप हो जाता है—ममे, ममाते, ममिरे। ममिषे, ममाथे, ममिध्वे। ममे, ममिवहे, ममिमहे। श्लु परे न होने से अभ्यास को इत्व नहीं होता।

लुँट्—माता, मातारौ, मातारः। मातासे—। लृँट्—मास्यते, मास्येते, मास्यन्ते। लोँट्—में लँड्वत् कार्य हो कर लोँट् के अपने विशिष्ट कार्य हो जाते हैं। उ० पु० में आट् का आगम पित् होने से ङिद्वत् नहीं होता अतः आकार का लोप नहीं होता। एकवचन में वृद्धि तथा अन्यत्र सवर्णदीर्घ हो जाता है। रूपमाला यथा—मिमीताम्, मिमाताम्, मिमताम्। मिमीष्व, मिमाथाम्, मिमीध्वम्। मिमै, मिमावहै, मिमामहै।

लँङ्—पूर्ववत् हलादियों में ईत्व तथा अजादियों में आकार का लोप हो जाता है। प्र० पु० के बहुवचन में 'झि' न होने से 'सिँजभ्यस्त०' (४४७) से जुस् न होगा। 'अदभ्यस्तात्' (६०६) से अत् आदेश हो कर आकारलोप हो जायेगा। रूपमाला यथा—अमिमीत, अमिमाताम्, अमिमत। अमिमीथाः, अमिमाथाम्, अमिमीध्वम्। अमिमि, अमिमीवहि, अमिमीमहि।

वि० लिँङ्—में भी पूर्ववत् शप्, श्लु, द्वित्व तथा 'भृञामित्' (६२२) से अभ्यास को इत्व हो जाता है। सीयुट् के सकार का लोप हो जाने से सर्वत्र अजादियों में आकार का लोप हो जाता है—मिमीत, मिमीयाताम्, मिमीरन्। मिमीथाः, मिमीयाथाम्, मिमीध्वम्। मिमीय, मिमीवहि, मिमीमहि।

आ० लिँङ्—में शप्, श्लु और द्वित्वादि कुछ नहीं होता—मासीष्ट, मासीयास्ताम्, मासीरन्। मासीष्ठाः, मासीयास्थाम्, मासीध्वम्। मासीय, मासीवहि, मासीमहि।

लुँङ्—में कुछ विशेष कार्य नहीं। रूपमाला यथा—अमास्त, अमासाताम्, अमासत (आत्मनेपदेष्वनतः)। अमास्थाः, अमासाथाम्, अमाध्वम् (धि च)। अमासि, अमास्वहि, अमास्महि।

लृँङ्—अमास्यत, अमास्येताम्, अमास्यन्त आदि ।

उपसर्गयोग—प्रमिमीते=निश्चय करता है (न परोपहितं न च स्वतः प्रमिमीतेऽनुभवादृतेऽल्पधीः —माघ १६.४०) । निर्मिमीते=निर्माण करता है (भुवनरचनामन्यथा निर्मिमीते (अनर्घ०) । अनुमिमीते=अनुमान करता है (अलिङ्गां प्रकृतिं त्वाहुर्लिङ्गैरनुमिमीमहे —महाभारत) । उपमिमीते=तुलना करता है (स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ —वैराग्य० १६) । उन्मिमीते=तोलता है ।

[लघु०] ओँहाङ् गतौ ॥७॥ जिहीते, जिहाते, जिहते । जहे । हाता । हास्यते । जिहीताम् । अजिहीत । जिहीत । हासीष्ट । अहास्त । अहास्यत ॥

अर्थः—ओँहाङ् (हा) धातु 'जाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् ङित् होने से आत्मनेपदी तथा 'ऊदृदन्तैः०' के अनुसार अनिट् है । लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है । श्लु में इस के अभ्यास को भी 'भृञामित्' (६२२) से इत्व हो जाता है । रूपमाला यथा—

लँट्—जिहीते, जिहाते, जिहते । जिहीषे, जिहाथे, जिहीध्वे । जिहे, जिहीवहे, जिहीमहे । लिँट्—जहे, जहाते, जहिरे । जहिषे, जहाथे, जहिढ्वे जहिध्वे (विभाषेटः) । जहे, जहिवहे, जहिमहे । लुँट्—हाता, हातारौ, हातारः । हातासे— । लृँट्—हास्यते, हास्येते, हास्यन्ते । लोँट्—जिहीताम्, जिहाताम्, जिहताम् । जिहीष्व, जिहाथाम्, जिहीध्वम् । जिहै, जिहावहै जिहामहै । लँङ्—अजिहीत, अजिहाताम्, अजिहत । अजिहीथाः, अजिहाथाम्, अजिहीध्वम् । अजिहि, अजिहीवहि, अजिहीमहि । वि०लिँङ्—जिहीत, जिहीयाताम्, जिहीरन् । आ०लिँङ्—हासीष्ट, हासीयास्ताम्, हासीरन् । लुँङ्—अहास्त, अहासाताम्, अहासत । अहास्थाः, अहासाथाम्, अहाध्वम् । अहासि, अहास्वहि, अहास्महि । लृँङ्—अहास्यत, अहास्येताम्, अहास्यन्त ।

उपसर्गयोग—उपाजिहीते=पास आता है (उपाजिहीथा न महीतलं यदि—माघ १.३७) । उज्जिहीते=उदय होता है (उज्जिहीते हिमांशुः—महाना० ४.३५; गणदर्पणे) ।

यहां पर जुहोत्यादिगण की आत्मनेपदी धातुओं का विवेचन समाप्त होता है । अब उभयपदी धातुओं का वर्णन करेंगे—

[लघु०] डुभृञ् धारणपोषणयोः ॥८॥

अर्थः—डुभृञ् (भृ) धातु 'धारण करना तथा पालना' अर्थों में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—डुभृञ् में 'आदिर्ञिटुडवः' (४६२) से 'डु' की तथा 'हलन्त्यम्' (१) से ञकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है । दोनों का लोप करने पर 'भृ' मात्र अवशिष्ट

रहता है। ञित् होने से यह धातु उभयपदी है। 'डु' के इत् के कारण 'ड्वितः क्त्रिः' (८५७) से क्त्रि तथा 'क्त्रेर्मम् नित्यम्' (८५८) से मप् हो कर 'भृत्रिमम्' (धारण किया हुआ या पाला पोसा गया) रूप बनता है। लँट्, लोँट्, लँङ् और वि० लिँङ् इन चार सार्वधातुक लकारों में शप्, श्लु और द्वित्व करने पर अभ्यास को 'भृञामित्' (६२२) से इत्व हो जाता है।

लँट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में शप्, श्लु, द्वित्व तथा अभ्यास को इकारादेश हो कर 'बिभृ+ति' इस स्थिति में सार्वधातुकगुण हो कर—बिभर्ति। द्विवचन में ङिद्वद्भाव (५००) के कारण गुण का निषेध हो जाता है—बिभृतः। बहुवचन में झि के झकार को 'अदभ्यस्तात्' (६०६) से अत् आदेश हो कर यणादेश करने से—बिभ्रति। (आत्मने०) में अपित् होने से सर्वत्र ङिद्वद्भाव के कारण गुण का निषेध हो जाता है। दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) बिभर्ति, बिभृतः, बिभ्रति। बिभर्षि, बिभृथः, बिभृथ। बिभर्मि, बिभृवः, बिभृमः। (आत्मने०) बिभृते, बिभ्राते, बिभ्रते। बिभृषे, बिभ्राथे, बिभृध्वे। बिभ्रे, बिभृवहे, बिभृमहे।

लिँट्—में 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' (६०७) से वैकल्पिक आम् प्रत्यय हो जाता है। आम्पक्ष में श्लुवद्भाव के कारण द्वित्व और अभ्यास को इत्व करने से परस्मै० में 'बिभराञ्चकार, बिभराम्बभूव, बिभरामास' आदि रूप बनते हैं। आम् के अभाव में श्लुवद्भाव न होने से अभ्यास को इकारादेश नहीं होता—'बभार, बभ्रतुः, बभ्रुः' आदि रूप बनते हैं। क्रादियों में 'भृ' का परिगणन होने से लिँट् में कहीं इट् का आगम नहीं होता—बभर्थ, बभृव, बभृम। आत्मने० के आम्पक्ष में श्लुवद्भाव होने से 'बिभराञ्चक्रे, बिभराम्बभूव, बिभरामास' आदि रूप सिद्ध होते हैं। आम् के अभाव में 'बभ्रे' आदि। यहां भी पूर्ववत् इट् कहीं नहीं होता। 'ध्वे' में 'इणः षीध्वम्०' (५१४) से ढत्व हो जाता है। दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) आम्पक्षे—बिभराञ्चकार-बिभराम्बभूव-बिभरामास आदि। आमोऽभावे—बभार, बभ्रतुः, बभ्रुः। बभर्थ, बभ्रथुः, बभ्र। बभार-बभर, बभृव, बभृम। (आत्मने०) आम्पक्षे—बिभराञ्चक्रे-बिभराम्बभूव-बिभरामास आदि। आमोऽभावे—बभ्रे, बभ्राते, बभ्रिरे। बभृषे, बभ्राथे, बभृढ्वे। बभ्रे, बभृवहे, बभृमहे।

लुँट्—धातु के अनुदात्त होने से दोनों पदों में इट् का निषेध हो जाता है। (परस्मै०) भर्ता, भर्तारौ, भर्तारः। भर्तासि—। (आत्मने०) भर्ता, भर्तारौ, भर्तारः। भर्तासे—।

लृँट्—'ऋद्धनोः स्ये' (४६७) से दोनों पदों में इट् का आगम हो जाता है—(परस्मै०) भरिष्यति, भरिष्यतः, भरिष्यन्ति। (आत्मने०) भरिष्यते, भरिष्येते, भरिष्यन्ते।

लोँट्—में लँट् की तरह शप्, श्लु, द्वित्व तथा अभ्यास को इत्व हो कर लोँट् के अपने विशिष्ट कार्य हो जाते हैं। परस्मै० के तिप् में गुण हो जाता है। 'तातङ्' और 'हि' में गुण नहीं होता। इसी प्रकार ताम् आदि में भी जान लेना चाहिये। उ० पु० में आट् के पित् होने से सर्वत्र गुण हो जाता है। आत्मने० में आट् के सिवाय अन्यत्र कहीं गुण नहीं होता। दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) बिभर्तु-बिभृतात्, बिभृताम्, बिभ्रतु। बिभृहि-बिभृतात्, बिभृतम्, बिभृत। बिभराणि, बिभराव, बिभराम। (आत्मने०) बिभृताम्, बिभ्राताम्, बिभ्रताम्। बिभृष्व, बिभ्राथाम्, बिभृध्वम्। बिभरै, बिभरावहै, बिभरामहै।

लँङ्—में शप्, श्लु, द्वित्व तथा अभ्यास को इत्व हो कर परस्मै० के तिप् और सिप् में गुण करने पर अपृक्त तकार सकार का हल्ङ्यादिलोप हो जाता है। तब पदान्त रेफ को विसर्ग करने पर 'अबिभः' प्रयोग सिद्ध होता है। प्र० पु० के बहुवचन में अभ्यस्त से परे झि को जुस् (४४७) तथा 'जुसि च' (६०८) से गुण हो जाता है—अबिभरुः। उ० पु० के एकवचन में मिप् को अम् आदेश हो कर गुण हो जाता है—अबिभरम्। आत्मने० में ङित्त्व के कारण कहीं गुण नहीं होता। रूपमाला यथा—(परस्मै०) अबिभः, अबिभृताम्, अबिभरुः। अबिभः, अबिभृतम्, अबिभृत। अबिभरम्, अबिभृव, अबिभृम। (आत्मने०) अबिभृत, अबिभ्राताम्, अबिभ्रत। अबिभृथाः, अबिभ्राथाम्, अबिभृध्वम्। अबिभ्रि, अबिभृवहि, अबिभृमहि।

वि० लिँङ्—में भी शप्, श्लु, द्वित्व और अभ्यास को इत्व हो जाता है। परस्मैपद में यासुट् के ङित् होने से गुण नहीं होता। आत्मनेपद में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङिद्वद्भाव के कारण गुण का निषेध हो जाता है। दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) बिभृयात्, बिभृयाताम्, बिभृयुः। (आत्मने०) बिभ्रीत, बिभ्रीयाताम्, बिभ्रीरन्। आ० लिँङ्—परस्मै० में आर्धधातुक परे होने से 'रिङ्शयग्लिँङ्क्षु' (५४३) से रिङ् आदेश होकर 'भ्रियात्' आदि रूप सिद्ध होते हैं। आत्मने० में 'उश्च' (५४४) द्वारा झलादि लिँङ् के कित् होने से गुण का निषेध हो जाता है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) भ्रियात्, भ्रियास्ताम्, भ्रियासुः। (आत्मने०) भृषीष्ट, भृषीयास्ताम्, भृषीरन्।

लुँङ्—परस्मै० में इग्लक्षणा वृद्धि (४८४) हो कर 'अभार्षीत्' आदि रूप सिद्ध होते हैं। आत्मने० में 'उश्च' (५४४) द्वारा सिँच् कित् हो जाता है अतः गुण नहीं होता। त थास् और ध्वम् में 'ह्रस्वादङ्गात्' (५४५) द्वारा सिँच् का लोप हो जाता है। दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) अभार्षीत्, अभार्ष्टाम्, अभार्षुः। अभार्षीः, अभार्ष्टम्, अभार्ष्ट। अभार्षम्, अभार्ष्व, अभार्ष्म। (आत्मने०) अभृत, अभृषाताम्, अभृषत। अभृथाः, अभृषाथाम्, अभृढ्वम्। अभृषि, अभृष्वहि, अभृष्महि।

लृँङ्—'ऋद्धनोः स्ये' (४९७) से इट् का आगम हो जाता है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) अभरिष्यत्, अभरिष्यताम्, अभरिष्यन्। (आत्मने०) अभरिष्यत, अभरिष्येताम्, अभरिष्यन्त।

नोट—'भृञामित्' की तीनों धातुओं का वर्णन हो चुका है। अब आगे अभ्यास को इत्व नहीं होगा।

[लघु०] डुदाञ् दाने ॥९॥

अर्थः—डुदाञ् (दा) धातु 'देना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—ञित् होने से यह धातु भी उभयपदी है। यहां भी पूर्ववत् डु की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है। डु के इत् होने से 'ड्वितः क्त्रिः' (८५७) से क्त्रि प्रत्यय तथा 'क्त्रेर्मम् नित्यम्' (८५८) से मप् हो कर 'दो दद् घोः' (८२७) से दद् आदेश हो जाता है—दत्त्रिमः[1]। 'ऊद्दन्तैः०' के अनुसार यह धातु अनुदात्त होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से इट् हो जाता है परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प होता है।

लँट्—परस्मै० प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, श्लु, द्वित्व और अभ्यास को ह्रस्व हो कर—ददाति। द्विवचन में 'ददा+तस्' इस स्थिति में 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' (६१९)) से आकार का लोप हो कर 'खरि च' (७४) से चर्त्व अर्थात् दकार को तकार करने से 'दत्तः' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि वक्ष्यमाण 'दाधा घ्वदाप्' (६२३) सूत्र से दा धातु की घुसंज्ञा हो जाती है अतः हलादि ङित् सार्वधातुक परे होने पर भी 'ई हल्यघोः' (६१८) में 'अघोः' कहने से ईत्व नहीं होता। घुसञ्ज्ञकों से परे अजादि या हलादि कोई सा भी ङित् सार्वधातुक आये तो आकार का लोप ही हुआ करता है। बहुवचन में 'अदभ्यस्तात्' (६०६) से अत् आदेश हो कर आकार का लोप करने से—ददति। इसी प्रकार आगे भी। आत्मने० में सर्वत्र ङिद्वद्भाव होने से आकार का लोप हो कर यथासम्भव चर्त्व हो जाता है। दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) ददाति, दत्तः, ददति। ददासि, दत्थः, दत्थ। ददामि, दद्वः, दद्मः। (आत्मने०) दत्ते, ददाते, ददते। दत्से, ददाथे, दद्ध्वे। ददे, दद्वहे, दद्महे।

लिँट्—(परस्मै०) में 'आत औ णलः' (४८८) आदि कार्य हो कर पा धातु की तरह 'ददौ' आदि रूप सिद्ध होते हैं। आत्मने० में सर्वत्र 'आतो लोप इटि च' (४८९) से आकार का लोप हो जाता है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) ददौ, ददतुः, ददुः। ददिथ-ददाथ, ददथुः, दद। ददौ, ददिव, ददिम। (आत्मने०) ददे, ददाते, ददिरे। ददिषे, ददाथे, ददिध्वे। ददे, ददिवहे, ददिमहे।

---

१. मनुप्रोक्त १२ पुत्रों में से एक पुत्र। माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि। सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्त्रिमः सुतः—मनु० ९.१६८।

लुँट्—धातु के अनुदात्त होने से दोनों पदों में इण्निषेध हो जाता है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) दाता, दातारौ, दातारः। दातासि—। (आत्मने०) दाता, दातारौ, दातारः। दातासे—।

लृँट्—पूर्ववत् इण्निषेध हो जाता है—(परस्मै०) दास्यति, दास्यतः, दास्यन्ति। (आत्मने०) दास्यते, दास्येते, दास्यन्ते।

लोँट्—(परस्मै०) प्रथमपुरुष में लँट् की तरह कार्य हो कर पुनः लोँट् के अपने विशिष्ट कार्य हो जाते हैं—ददातु-दत्तात्, दत्ताम्, ददतु। म० पु० के एकवचन में 'ददा+हि' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(६२३) दाधा घ्वदाप् ।१।१।१९॥

दारूपा धारूपाश्च धातवो घुसञ्ज्ञाः स्युः, दाप्-दैपौ विना। घ्वसोर्० (५७७) इत्येत्वम्—देहि। दत्तम्। अददात्; अदत्त। दद्यात्; ददीत। देयात्; दासीष्ट। अदात्, अदाताम्, अदुः॥

अर्थः—दारूप वाले तथा धारूप वाले धातु घुसञ्ज्ञक होते हैं दाप् और दैप् को छोड़ कर।

व्याख्या—दाधाः।१।३। घु।१।१। अदाप्।१।१। दाश्च दाश्च दाश्च दाश्चेत्येतेषामेकशेषे—दाः। धाश्च धाश्च—धौ। दाश्च धौ च—दाधाः। न दाप्—अदाप्। अर्थः—(दाधाः) दा और धा रूप वाली धातुएं (घु) घुसञ्ज्ञक होती हैं (अदाप्) दाप् रूप वाली धातुओं को छोड़ कर। जिन धातुओं का दा और धा रूप बनता है उन सब का यहां ग्रहण अभीष्ट है[1]। कुछ धातु तो स्वतः दा धा रूप वाली होती हैं, यथा—डुदाञ् दाने, दाण् दाने, डुधाञ् धारणपोषणयोः। कुछ धातु 'आदेच उपदेशेऽशिति' (४९३) के लगने के बाद दा धा रूप धारण कर लेती है। यथा—धेट् पाने, देङ् रक्षणे, दो अवखण्डने। यहां स्वाभाविक और लाक्षणिक दोनों प्रकार की दा धा रूप वाली धातुओं का ग्रहण अभीष्ट है। 'अदाप्' में भी इसी प्रकार स्वाभाविक और लाक्षणिक दोनों प्रकार के 'दाप्' का वर्जन होता है। 'दाप् लवने (अदा० परस्मै०) धातु स्वतः दाप् है और दैप् शोधने (भ्वा० परस्मै०) धातु 'आदेचः०' (४९३) से आत्व करने पर दाप् बनती है। इस प्रकार सारे धातुपाठ में दारूप वाली चार और धारूप वाली दो, कुल मिला कर छः धातु घुसञ्ज्ञक ठहरती हैं—(१) दाण् दाने;

---

१. 'गा-मा-दाग्रहणेष्वविशेषः' इस परिभाषा के बल से दारूप वाली स्वाभाविक और लाक्षणिक दोनों प्रकार की धातुओं का यहां निर्बाध ग्रहण हो जाता है। 'धा' के अंश में दोनों प्रकार की धातुओं के ग्रहण में ज्ञापक है 'दो दद् घोः' (८२७) सूत्र में 'दः' का ग्रहण। वह धेट् की निवृत्ति के लिये ही किया गया है क्योंकि 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' के लिये तो 'दधातेर्हिः' (८२६) द्वारा विशेष विधान है ही (विस्तार के लिये काशिका-न्यास-पदमञ्जरी का अवलोकन करें)।

(२) डुदाञ् दाने; (३) दो अवखण्डने; (४) देङ् रक्षणे; (५) डुधाञ् धारणपोषणयोः; (६) धेट् पाने । इन के अतिरिक्त अन्य कोई धातु घुसञ्ज्ञक नहीं[1]—

देङ्-दाणौ दो-डुदाञौ च, धेट्-डुधाञावुभावपि ।
पाणिनीये महातन्त्रे, प्रोक्ता घुसञ्ज्ञका अमी ॥

घुसञ्ज्ञा के अनेक कार्य हुआ करते हैं। यथा—(१) घुमास्था० (५८८) से हलादि कित्प्रत्ययों में घुसञ्ज्ञकों को ईत्व होता है—दीयते, धीयते (यक्) आदि। (२) घ्वसोर्० (५७७) से 'हि' परे होने पर घुसञ्ज्ञक धातु को एत्व तथा उस के अभ्यास का लोप हो जाता है—देहि, धेहि। (३) एर्लिङि (४६०) से कित् लिङ् में घुसञ्ज्ञक को एकार आदेश हो जाता है—देयात्, धेयात्। (४) गातिस्था० (४३६) से लुङ् में घुसञ्ज्ञकों से परे सिँच् का लुक् हो जाता है—अदात्, अधात्। (५) 'नेर्गद०' (४५३) द्वारा घुसञ्ज्ञक के परे रहते णत्व हो जाता है—प्रणिददाति, प्रणिदधाति, प्रणियच्छति। (६) स्थाघ्वोरिच्च (६२४) से घुसञ्ज्ञकों को इत् अन्तादेश तथा उन से परे सिँच् कित् हो जाता है—अदित, अधित। (७) ई हल्यघोः (६१८) में 'अघोः' कह कर घुसञ्ज्ञकों के आकार को ईत्व नहीं किया जाता—दत्तः, दत्थः, दद्मः आदि।

दाप् और दैप् भी यद्यपि दा रूप वाले हैं तथापि सूत्र में 'अदाप्' के कथन से उन की घुसञ्ज्ञा नहीं होती। इस से 'अवदातं बर्हिः' (कटी हुई कुशा; अव√दाप्+क्त), 'अवदातं मुखम्' (शुद्ध किया हुआ मुख; अव√दैप्+क्त) इत्यादियों में दाप् और दैप् के आकार को 'अच उपसर्गात्तः' (७.४.४७) द्वारा 'त्' आदेश नहीं होता।

'ददा+हि' यहां 'दा' की प्रकृतसूत्र से घुसञ्ज्ञा हो जाने पर 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' (५७७) से घु के आकार को एत्व तथा अभ्यास का लोप करने से 'देहि' प्रयोग सिद्ध होता है।

(आत्मने०) में उ० पु० को छोड़ कर सर्वत्र आकार का लोप हो जाता है। उ० पु० में आट् के पित् होने से एकवचन में वृद्धि तथा अन्य वचनों में सवर्णदीर्घ हो जाता है। लोट् के दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) ददातु-दत्तात्, दत्ताम्, ददतु। देहि-दत्तात्, दत्तम्, दत्त। ददानि, ददाव, ददाम। (आत्मने०) दत्ताम्, ददाताम्, ददताम्। दत्स्व, ददाथाम्, दद्ध्वम्। ददै, ददावहै, ददामहै।

लँङ्—में पूर्ववत् शप्, श्लु, द्वित्व और आकार का लोप हो जाता है। परस्मै० के तिप्, सिप् और मिप् (अम्) में ङित् न होने से आकार का लोप नहीं होता। झि में 'सिँजभ्यस्त०' (४४७) से जुस् आदेश हो कर आकार का लोप हो जाता

---

१. 'दीङ्' के विषय में उस धातु की व्याख्या में हमारी टिप्पणी देखें।

है। आत्मने० में सर्वत्र ङित्त्व के कारण आकारलोप होता है। दोनों पदों में रूप-माला यथा—(परस्मै०) अददात्, अदत्ताम्, अददुः। अददाः, अदत्तम्, अदत्त। अददाम्, अदद्व, अदद्म। (आत्मने०) अदत्त, अददाताम्, अददत। अदत्थाः, अददाथाम्, अदद्ध्वम्। अददि, अदद्वहि, अदद्महि।

वि० लिङ्—परस्मै० में यासुट् के ङित् होने से सर्वत्र आकार का लोप हो जाता है। आत्मने० में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित्त्व के कारण आकारलोप समझना चाहिये। दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्म०) दद्यात्, दद्याताम्, दद्युः। (आत्मने०) ददीत, ददीयाताम्, ददीरन्।

आ० लिङ्—परस्मै० में यासुट् के आर्धधातुक कित् होने के कारण 'एर्लिङि' (४६०) द्वारा घुसञ्ज्ञक दा के आकार को एकार होकर 'देयात्' आदि रूप सिद्ध होते हैं। आत्मने० में सार्वधातुक न होने से आकार का लोप न हो कर 'दासीष्ट' आदि रूप बनते हैं। रूपमाला यथा—(परस्मै०) देयात्, देयास्ताम्, देयासुः। (आत्मने०) दासीष्ट, दासीयास्ताम्, दासीरन्।

लुङ्—(परस्मै०) में घुसञ्ज्ञा हो कर 'गातिस्थाघु०' (४३९) से सिँच् का लुक् हो कर 'अदात्, अदाताम्' सिद्ध होते हैं। झि में सिँच् का लुक् हो कर 'आतः' (४६१) से झि को जुस् तथा 'उस्यपदान्तात्' (४६२) से पररूप एकादेश करने पर—अदुः। रूपमाला यथा—अदात्, अदाताम्, अदुः। अदाः, अदातम्, अदात। अदाम्, अदाव, अदाम।

(आत्मने०) में 'अदा+स्+त' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६२४) **स्थाघ्वोरिच्च।१।२।१७॥**

अनयोरिदन्तादेशः, सिँच्च कित् स्यादात्मनेपदे। अदित। अदास्यत्; अदास्यत॥

अर्थः—स्था तथा घुसञ्ज्ञक धातुओं के अन्त्य अल् के स्थान पर ह्रस्व इकार आदेश हो तथा सिँच् कित् भी हो जाये आत्मनेपद प्रत्यय परे हो तो।

व्याख्या—स्थाघ्वोः।६।२। इत्।१।१। च इत्यव्ययपदम्। सिँच्।१।१। ('हनः सिँच्' से)। कित्।१।१। ('असंयोगाल्लिँट् कित्' से)। आत्मनेपदेषु।७।३। ('लिङ्-सिँचावात्मनेपदेषु' से)। स्थाश्च घुश्च स्थाघू, तयोः=स्थाघ्वोः। इतरेतरद्वन्द्वः[1]। अर्थः—(स्थाघ्वोः) स्था और घुसञ्ज्ञक धातुओं के स्थान पर (इत्) ह्रस्व इकार आदेश हो जाता है (च) और साथ ही (सिँच्) सिँच् भी (कित्) कित् हो जाता है

---

१. 'द्वन्द्वे घि' (९८७) इति घेः पूर्वनिपाते घुस्थोरित्युचितमासीत्। परं पूर्वनिपातशास्त्रस्याऽनित्यत्वज्ञापनाय सौत्रोऽत्र व्यत्यास इति केचित्।

(आत्मनेपदेषु) आत्मनेपद प्रत्ययों के परे होने पर। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह इत्व अन्त्य अल्-आकार के स्थान पर होता है। स्था के उदाहरण—उपास्थित, उपास्थिषाताम्, उपास्थिषत आदि सि० कौ० की आत्मनेपदप्रक्रिया में देखें।

'अदा+स्+त' यहां आत्मनेपद परे है अतः प्रकृतसूत्र से घुसञ्ज्ञक 'दा' के आकार को इकारादेश तथा सिँच् किद्वत् हो गया—अदि+स्+त। सिँच् के कित् होने से सिँज्निमित्तक गुण का निषेध हो कर 'ह्रस्वादङ्गात्' (५४५) से सकार का लोप करने पर 'अदित' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि अब यहां 'त' को मान कर ह्रस्व इकार को गुण प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि गुण (७.३ ८४) की दृष्टि में सकार का लोप (८.२.२७) असिद्ध है[1]।

शङ्का—अजी! सिँच् को कित् क्यों करते हो? ह्रस्वविधानसामर्थ्य से ही गुण न होगा।

समाधान—'अदा+स्+त' इत्यादि में इक् न होने से गुण सर्वथा प्राप्त न था अतः ह्रस्वविधान लाघववश गुण की प्रवृत्ति के लिये किया गया है—ऐसा कहीं समझ न लिया जाये इसलिये सिँच् को कित् किया गया है।

द्विवचन में झल् परे न होने से सकार का लोप नहीं होता—अदिषाताम्। लुङ् आत्मने० में रूपमाला यथा—अदित, अदिषाताम्, अदिषत। अदिथाः, अदिषाथाम्, अदिढ्वम्। अदिषि, अदिष्वहि, अदिष्महि।

लृङ्—(परस्मै०) अदास्यत्, अदास्यताम्, अदास्यन्। (आत्मने०) अदास्यत, अदास्येताम्, अदास्यन्त।

उपसर्गयोग—आदत्ते[2]=ग्रहण करता है (सहस्रगुणमुत्स्रष्टुम् आदत्ते हि रसं रविः—रघु० १.१८)। प्रदत्ते-प्रददाति=देता है (सकृत् कन्या प्रदीयते—मनु० ९.४७)। सम्प्रदत्ते=भली भांति देता है। व्याददाति मुखम्—मुंह खोलता है।

[लघु०] डुधाञ् धारण-पोषणयोः ॥१०॥ दधाति।

अर्थः—डुधाञ् (धा) धातु 'धारण वा पोषण करना' अर्थों में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—डुधाञ् में भी पूर्ववत् 'डु' तथा 'ञ्' इत्सञ्ज्ञक हैं। डु के इत् होने से पूर्ववत् क्त्रि तथा मप् हो कर 'दधातेर्हिः' (८२६) से 'हि' आदेश करने पर 'हित्रिमम्'

---

१. 'त' इत्यस्य ङित्त्वादिकारस्य न गुणः—इति व्याचक्षाणा बालमनोरमाकारा अत्र भ्रान्ताः।

२. 'आङो दोऽनास्यविहरणे' (१.३.२०) से यहां नित्य आत्मनेपद हो जाता है।

प्रयोग सिद्ध होता है। अनेक आचार्य इस धातु को दानार्थक भी मानते हैं। अत एव निरुक्त (७.१५) में 'रत्नधातमम्—रमणीयानां धनानां दातृतमम्' ऐसा व्याख्यान किया गया है। क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी में 'डुधाञ् दान-पोषणयोः' ऐसा स्पष्ट लिखा भी है। 'ऊदृदन्तैः०' के अनुसार यह धातु अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से इट् होता है परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प हो जाता है।

लँट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में शप्, श्लु, द्वित्व तथा अभ्यास को जश्त्व करने पर 'दधाति' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां ङित् परे न होने से 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' (६१९) से आकार का लोप नहीं होता। द्विवचन में 'दधा+तस्' इस स्थिति में ङित् परे होने पर आकार का लोप करने पर—दध्+तस्। अब हमें 'दध्' इस झषन्त के बश्-दकार को भष्-धकार करना है, परन्तु यह कार्य 'एकाचो बशो भष्०' (२५३) से सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वह सकार ध्व या पदान्त में ही प्रवृत्त होता है। किञ्च 'दध्' में 'अभ्यासे चर्च' (३९९) द्वारा किया गया जश्त्व भी उस की दृष्टि में असिद्ध है, उसे यहां बश् नहीं दिखाई दे रहा अपितु धकार दिखाई देता है। अतः इस के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६२५) दधस्तथोश्च ।८।२।३८।।

द्विरुक्तस्य झषन्तस्य धाञो बशो भष् स्यात्, तथोः स्ध्वोश्च परतः। धत्तः। दधति। दधासि, धत्थः, धत्थ। धत्ते, दधाते, दधते। धत्से। धद्ध्वे। घ्वसोरेद्०(५७७)—धेहि। अदधात्; अधत्त। दध्यात्; दधीत। धेयात्; धासीष्ट। अधात्; अधित। अधास्यत्; अधास्यत।।

अर्थः—तकार, थकार, सकार या ध्वशब्द परे होने पर द्वित्व किये हुए झषन्त धाञ् धातु के बश् को भष् हो।

व्याख्या—दधः।६।१। तथोः।७।२। च इत्यव्ययपदम्[1]। झषन्तस्य।६।१। बशः।६।१। भष्।१।१। स्ध्वोः।७।२। ('एकाचो बशो भष्०' से)। द्वित्व करने पर धाञ् का 'दधा' रूप बन जाता है, 'विश्वपः' की तरह उस का षष्ठ्यन्तरूप 'दधः' यहां ग्रहण किया गया है। 'झषन्तस्य' और 'दधः' का सामानाधिकरण्य है। त् च थ् च तथौ, तयोः=तथोः। तकारादकार उच्चारणार्थः, इतरेतरद्वन्द्वः। झष् (प्रत्याहारः) अन्ते यस्य स झषन्तः, तस्य=झषन्तस्य। बहुव्रीहि०। अर्थः—(तथोः स्ध्वोश्च) तकार, थकार, सकार या ध्वशब्द परे होने पर (झषन्तस्य दधः=कृतद्वित्वस्य धाञः) द्वित्व किये गये झषन्त धाञ् धातु के (बशः) बश् के स्थान पर (भष्) भष् आदेश हो जाता

---

१. यदि 'च' का ग्रहण न करते तो केवल तकार थकार में ही भष्भाव होता, 'धत्से, धद्ध्वे' में न होता। अब चकार के बल से 'स्ध्वोः' की अनुवृत्ति आ कर कोई दोष नहीं आता।

है। कृतद्वित्व झषन्त धाञ् धातु में बश् केवल दकार ही मिल सकता है अतः आन्तर-तम्य से इसे भष्-धकार ही होगा। ध्यान रहे कि इस सूत्र की दृष्टि में 'अभ्यासे चर्च' (३९९) द्वारा किया जश्त्व असिद्ध नहीं होता, कारण कि यदि ऐसा हो तो इसे कहीं बश् ही न मिले और यह सूत्र व्यर्थ हो जाये।

इस सूत्र की प्रवृत्ति में तीन बातें आवश्यक हैं। (१) द्वित्व की हुई धाञ् धातु। (२) उस का झषन्त होना। (३) उस से परे तकार थकार सकार या ध्वशब्द का होना। जब तक तीनों बातें पूरी नहीं होतीं इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। 'दधाति, दधासि' में धाञ् को द्वित्व तो हुआ है परन्तु आकार का लोप न होने से वह झषन्त नहीं अतः इस सूत्र से दकार को धकार नहीं हुआ। 'दध्यात्' आदि में धाञ् को द्वित्व हुआ है, आकार का लोप होने से वह झषन्त भी है परन्तु उस से परे तकार थकार सकार या ध्वशब्द में से कोई नहीं अतः भष्भाव नहीं होता।

यह सूत्र धाञ् में एक प्रकार से 'अभ्यासे चर्च' (३९९) द्वारा किये कार्य को नष्ट कर देता है। 'अभ्यासे चर्च' से धकार को दकार किया जाता है परन्तु यह सूत्र दकार को पुनः धकार कर देता है।

'दध्+तस्' यहां धाञ् धातु को द्वित्व हो चुका है, आकार का लोप होने से यह झषन्त बन चुकी है। इस से परे तकार भी विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से अभ्यास के बश् अर्थात् दकार को भष् धकार हो कर—धध्+तस्। 'झषस्तथोर्धोऽधः' (५४९) में 'अधः' कहा गया है अतः धाञ् से परे तकार को धकार नहीं होता। अब 'खरि च' (७४) से धातु के अन्त्य धकार को चर्त्व-तकार करने पर धत्तः' प्रयोग सिद्ध होता है।

बहुवचन में 'दधा+झि' यहां 'अदभ्यस्तात्' (६०६) से अत् आदेश तथा 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' (६१९) से आकार का लोप करने से— दध्+अति। अब यहां द्वित्व हो कर धातु झषन्त तो बन चुकी है परन्तु तकार, थकार, सकार और ध्वशब्द में से किसी के परे न होने से बश् को भष् नहीं होता, 'दधति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

म० पु० के एकवचन सिप् में तिप्प्रत्यय की तरह—दधासि। द्विवचन में आकार का लोप हो कर—दध्+थस्। यहां थकार परे होने से प्रकृतसूत्र द्वारा दकार को धकार हो जाता है—धध्+थस्। अब 'खरि च' (७४) से चर्त्व करने पर 'धत्थः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार बहुवचन में—धत्थ। उ० पु० के एकवचन में पूर्ववत्—दधामि। द्विवचन और बहुवचन में आकार का लोप हो जाता है। लँट् परस्मैपद में रूपमाला यथा—दधाति, धत्तः, दधति। दधासि, धत्थः, धत्थ। दधामि, दध्वः, दध्मः।

(आत्मने०) प्र० पु० के एकवचन में द्वित्व, आकारलोप, तकार परे रहने से 'दधस्तथोश्च' द्वारा दकार को धकार तथा टि को एत्व कर चर्त्व करने पर—धत्ते।

द्विवचन में—दधा+आते=दध्+आते=दधाते। बहुवचन में अत् आदेश तथा टि को एत्व हो कर—दधा+अते=दध्+अते=दधते। म०पु० के एकवचन में—दधा+से=दध्+से, यहां सकार परे है अतः भष्त्व हो जाता है—धध्+से। अन्त में 'खरि च' (७४) द्वारा चर्त्व करने पर 'धत्से' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार बहुवचन में—दधा+ध्वे=दध्+ध्वे=धध्+ध्वे, अब 'झलां जश्झशि' (१९) से अन्त्य धकार को जश्त्व-दकार करने पर—धद्ध्वे। उ० पु० के एकवचन में—दधा+इट्=दधा+ए=दध्+ए=दधे। द्विवचन और बहुवचन में आकार का लोप हो कर रूप सिद्ध होते हैं। लँट् के आत्मनेपद में रूपमाला यथा—धत्ते, दधाते, दधते। धत्से, दधाथे, धद्ध्वे। दधे, दध्वहे, दध्महे।

लिँट्—में डुदाञ् की तरह दोनों पदों में प्रक्रिया होती है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) दधौ, दधतुः, दधुः। दधिथ-दधाथ, दधथुः, दध। दधौ, दधिव, दधिम। (आत्मने०) दधे, दधाते, दधिरे। दधिषे, दधाथे, दधिध्वे। दधे, दधिवहे, दधिमहे।

लुँट्—(परस्मै०) धाता, धातारौ, धातारः। धातासि—। (आत्मने०) धाता, धातारौ, धातारः। धातासे—। लृँट्—(परस्मै०) धास्यति, धास्यतः, धास्यन्ति। (आत्मने०) धास्यते, धास्येते, धास्यन्ते।

लोँट्—दोनों पदों में लँट् की तरह प्रक्रिया हो कर लोँट् के अपने विशिष्ट कार्य हो जाते हैं। परस्मै० के सिप् में 'दधा+हि' इस स्थिति में घुसञ्ज्ञा हो कर 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' (६.४.११२) का परत्व के कारण बाध कर 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' (६.४.११९) से आकार को एकार तथा साथ ही अभ्यास का लोप करने से 'धेहि' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) दधातु-धत्तात्, धत्ताम्, दधतु। धेहि-धत्तात्, धत्तम्, धत्त। दधानि, दधाव, दधाम। (आत्मने०) धत्ताम्, दधाताम्, दधताम्। धत्स्व, दधाथाम्, धद्ध्वम्। दधै, दधावहै, दधामहै।

लँङ्—में कुछ विशेष नहीं। दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) अदधात्, अधत्ताम्, अदधुः। अदधाः, अधत्तम्, अधत्त। अदधाम्, अदध्व, अदध्म। (आत्मने०) अधत्त, अदधाताम्, अदधत। अधत्थाः, अदधाथाम्, अधद्ध्वम्। अदधि, अदध्वहि, अदध्महि।

वि० लिँङ्—(परस्मै०) दध्यात्, दध्याताम्, दध्युः। (आत्मने०) दधीत, दधीयाताम्, दधीरन्।

आ० लिँङ्—परस्मै० में 'एर्लिङि' (४९०) से एत्व हो जाता है। आत्मने० में कुछ विशेष नहीं। रूपमाला यथा—(परस्मै०) धेयात्, धेयास्ताम्, धेयासुः। (आत्मने०) धासीष्ट, धासीयास्ताम्, धासीरन्।

लुँङ्—परस्मै० में 'गातिस्थाघु०' (४३९) से सिँच् का लुक् हो जाता है। आत्मने० में 'अधा+स्+त' इस स्थिति में 'स्थाघ्वोरिच्च' (६२४) से आकार को

इत्व तथा सिँच् के कित् हो जाने से गुण का निषेध हो कर 'ह्रस्वादङ्गात्' (५४५) से सकार का लोप हो जाता है अधित । रूपमाला यथा—(परस्मै०) अधात्, अधाताम्, अधुः । अधाः, अधातम्, अधात । अधाम्, अधाव, अधाम । (आत्मने०) अधित, अधिषाताम्, अधिषत । अधिथाः, अधिषाथाम्, अधिढ्वम् । अधिषि, अधिष्वहि, अधिष्महि ।

लृङ्—(परस्मै०) अधास्यत्, अधास्यताम्, अधास्यन् । (आत्मने०) अधास्यत, अधास्येताम्, अधास्यन्त ।

उपसर्गादियोग—वि√धा=करना (सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्—किरात० २.३०); निर्माण करना-बनाना (ये द्वे कालं विधत्तः—शाकुन्तल १.१; तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना—रघु० १.२९); विधान करना (प्राङ् नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते—मनु० २.२९; पाणिनिश्च क्रियाफलस्य कर्तृगामित्वे सत्यात्मनेपदं विदधाति—जैनेन्द्र व्या०) ।

परि√धा=पहनना (त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीम्—रघु० ३.३१) ।

प्रति+वि√धा=प्रतिकार करना (दोषं तु मे कञ्चित्कथय येन स प्रतिविधीयते—उत्तर० १; क्षिप्रमेव कस्मान्न प्रतिविहितमार्येण—मुद्रा० ३) ।

अभि√धा=कहना (साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः—काव्यप्रकाश २.७; इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते—गीता १३.१) ।

नि√धा=रखना (निधाय हृदि विश्वेशम्—तर्कसंग्रह; पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते—रघु० ३.६२); देना-अलग करना (दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनः—रघु० ४.१) ।

आ√धा=धारण करना (गर्भमाधत्त राज्ञी—रघु० २.७५; शेषः सदैवाहितभूमिभारः—शाकुन्तल ५.४); अर्पण करना, ध्यान करना (ब्रह्मण्याधाय कर्माणि—गीता ५.१०; मय्येव मन आधत्स्व—गीता १२.८); रखना (जनपदे न गदः पदमादधौ—रघु० ९.४); उत्पन्न करना (छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः—शाकुन्तल ३.४१; इसी प्रकार—शुद्धिमादधाना, विस्मयमादधाना आदि) ।

अव√धा=रखना, अन्दर रखना (यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः—शतपथ०); ध्यान करना (भवद्भिरवधानं दीयमानं प्रार्थये—वेणी० १; शृणुत जना अवधानात् क्रियामिमां कालिदासस्य—विक्रमो० १.२) ।

वि+अव√धा=छिपाना (शापव्यवहितस्मृतिः—शाकु० ५) ।

सम्√धा=सन्धि करना, मिलाप करना (शत्रुणा न हि सन्दध्यात् सुश्लिष्टेनापि सन्धिना—हितोप० १८८); मिलाना-संयुक्त करना-चढ़ाना (धनुष्यमोघं समधत्त सायकम्—कुमार० ३.६६); सामना करना-थामना (शतमेकोऽपि सन्धत्ते प्राकारस्थो धनुर्धरः—पञ्च० १.२२९); उत्पन्न करना (सन्धत्ते भृशमरतिं हि सद्वियोगः—किरात० ५.५१) ।

अनु+सम्√धा=अनुसन्धान करना, ढूंढना, खोजना (प्रसवयोग्यस्थानमनुसन्धीयताम्—हितोप० २.६); शान्त करना (आत्मानमनुसन्धेहि शोकचर्चाञ्च परिहर—हितोप० ४.३); विचार करना-ध्यान करना (यथाकर्तव्यमनुसन्धीयताम्—हितोप० ३; नैतदनुसन्धाय मयोक्तम्—महावीरचरित ६; यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः—मनु० १२.१०६; अलमतीतोपालम्भनेन प्रस्तुतमनुसन्धीयताम्—हितोप० ३); प्रबन्ध करना, ठीक-ठाक करना (सारस ! त्वं दुर्गमनुसन्धेहि—हितोप० ३)।

सम्+आ√धा=समाधान करना, हल करना (उत्पन्नामापदं यस्तु समाधत्ते स बुद्धिमान्—हितोप०); रखना (पदं मूर्ध्नि समाधत्ते केसरी मत्तदन्तिनः—पञ्च० १.३५७); शान्त करना (न शशाक समाधातुं मनो मदनवेपितम्—भागवत)।

अति+सम्√धा=धोखा देना (त्वया चन्द्रमसा चाऽतिविश्वसनीयाभ्याम् अतिसन्धीयते कामिसार्थः—शाकु० ३)।

अभि+सम्√धा=धोखा देना, ठगना (जनं विद्वानेकः सकलमभिसन्धाय कपटैः—मालती० १.१७); जीतना-वशीभूत करना (तान् सर्वान् अभिसन्दध्यात् सामादिभिरुपक्रमैः—मनु० ७.१५६); उद्देश्य करना (ऋष्यमूकमभिसन्धाय—महावीर० ५; अभिसन्धाय तु फलम्—गीता १७.१२)।

प्र+नि√धा=जड़ना (कनकभूषणसंग्रहणोचितो यदि मणिस्त्रपुणि प्रणिधीयते—पञ्च० १.८१); फैलाना (ममाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतोः—मेघ० १०६); झुकाना-नीचे करना (तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायम्—गीता ११.४४)।

अपि√धा=आच्छादित करना, ढांपना ('वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' से 'अपि' के अकार का लोप हो जाता है, पिधत्ते=ढांपता है; गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्त्तते। कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः—मनु० २.२००)।

पुरस्√धा (पुरोधा)=आगे करना (तुरासाहं पुरोधाय धाम स्वायम्भुवं ययौ—कुमार० २.१)।

तिरस्√धा (तिरोधा)=छिपना (अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे—रघु० १०.४८; ऋषिस्तिरोदधे—रघु० ११.९१)[1]।

---

१. उपसृष्ट धा धातु के विषय में पण्डितराज जगन्नाथ का यह श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है (गङ्गालहरी १८)—

निधानं धर्माणां किमपि च विधानं नवमुदां
प्रधानं तीर्थानाममलपरिधानं त्रिजगतः।
समाधानं बुद्धेरथ खलु तिरोधानमधियां
श्रियामाधानं नः परिहरतु तापं तव वपुः॥

अन्तर्√धा=छिपना (मत्तो माऽन्तर्धिथाः सीते—भट्टि० ६.१५; अन्तर्धत्स्व रघुव्याघ्रात् तस्मात्त्वं राक्षसेश्वर— भट्टि० ५.३२; उपाध्यायादन्तर्धत्ते—काशिका १.४.२८); छिपाना-गुप्त करना-अन्दर डालना (तथा विश्वम्भरे देवि ! मामन्तर्धातुमर्हसि—रघु० १५.८१)।

[लघु०] णिजिँर् शौच-पोषणयोः ॥११॥

अर्थः—णिजिँर् (निज्) धातु 'पवित्र करना-धोना या पोषण करना' अर्थों में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—णिजिँर् धातु का इँर् अनुबन्ध वक्ष्यमाण वार्त्तिक (३७) से इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है। 'णो नः' से आदि णकार को भी नकार हो जाता है। इस प्रकार 'निज्' ही अवशिष्ट रहता है। इर् के इत् करने का प्रयोजन 'इरितो वा' (६२८) द्वारा च्लि को वैकल्पिक अङ् करना है। णोपदेश का फल 'उपसर्गादसमासेऽपि०' (४५६) द्वारा णत्व करना है—निर्+नेनिक्ते=निर्णेनिक्ते। इर् में इकार के स्वरित होने से स्वरितेत् के कारण यह धातु उभयपदी है। इस धातु का साहित्य में विरल प्रयोग देखा जाता है—सस्नुः पयः पपुरनेनिजुरम्बराणि (माघ ५.२८); तोयनिर्णिक्तपाणयः (रघु० १७.२२)। अनुदात्तों में परिगणित होने से यह धातु अनिट् है परन्तु लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है। अब इर् की समुदितरूपेण इत्सञ्ज्ञा करने के लिये अग्रिमवार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(३७) इर इत्सञ्ज्ञा वाच्या ॥

अर्थः—इर् की इत्सञ्ज्ञा कहनी चाहिये।

व्याख्या—इस वार्त्तिक से णिजिँर् विजिँर् आदि धातुओं में इर् की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है। यद्यपि 'हलन्त्यम्' (१) से रेफ की तथा 'उपदेशेऽजनु०' (२८) से इकार की इत्सञ्ज्ञा हो कर भी इर् लुप्त हो सकता था तथापि इस प्रकार करने से इदित् होने के कारण 'इदितो नुम् धातोः' (४६३) द्वारा धातु को नुम् प्रसक्त होता था जो अनिष्ट था अतः उस से बचने के लिये यहां समूचे इर् की इत्सञ्ज्ञा की गई है[1]।

लँट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, श्लु, द्वित्व तथा अभ्यास के हल् का लोप हो कर—नि+निज्+ति। अब अभ्यास को गुण करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

---

१. वस्तुतः यह वार्त्तिक व्यर्थ है क्योंकि 'इदितो नुम् धातोः' (४६३) में 'शेः पादान्ते' (७.१.५७) से 'अन्ते' की अनुवृत्ति आ कर 'अन्त में इकार इत् वाली धातु को नुम् हो' इस प्रकार अर्थ हो जाने से कोई दोष प्रसक्त नहीं होता। यह सब पीछे उस सूत्र की व्याख्या में हम स्पष्ट कर चुके हैं।

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६२६) णिजां त्रयाणां गुणः श्लौ ।[1] ७।४।७५॥

णिज्-विज्-विषाम् अभ्यासस्य गुणः स्याच्छ्लौ । नेनेक्ति, नेनिक्तः, नेनिजति । नेनिक्ते । निनेज; निनिजे । नेक्ता । नेक्ष्यति; नेक्ष्यते । नेनेक्तु । नेनिग्धि ॥

अर्थः—णिजाम् ।६।३। त्रयाणाम् ।६।३। गुणः ।१।१। श्लौ ।७।१। अभ्यासस्य ।६।१। ('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से) । 'णिजाम्' में बहुवचन के निर्देश से 'णिजादीनाम्' समझा जाता है । णिज् आदि तीन धातु धातुपाठ में इस प्रकार पढ़ी गई हैं—(१) णिजिँर् शौचपोषणयोः; (२) विजिँर् पृथग्भावे; (३) विष्लृँ व्याप्तौ । अर्थः—(णिजाम्) णिज् आदि (त्रयाणाम्) तीन धातुओं के (अभ्यासस्य) अभ्यास के स्थान पर (गुणः) गुण आदेश हो जाता है (श्लौ) श्लु परे हो तो । 'इको गुणवृद्धी' (१.१.३) के अनुसार यह गुण अभ्यास के इक् के स्थान पर होता है। लँट्-लोँट्-लँङ् और विधिलिँङ् में ही श्लु हुआ करता है अतः इन में ही अभ्यास के इक् को गुण हो जायेगा ।

'नि+निज्+ति' यहां श्लु परे है अतः णिज् धातु के अभ्यास 'नि' के इक्—इकार को प्रकृतसूत्र से एकार गुण करने पर—ने+निज्+ति । अब धातु को तिन्निमित्तक लघूपध-गुण हो कर 'चोः कुः' (३०६) से कुत्व तथा 'खरि च' (७४) से चर्त्व करने से 'नेनेक्ति' प्रयोग सिद्ध होता है । द्विवचन में तस् के ङित्त्व के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है परन्तु श्लुनिमित्तक अभ्यासगुण निर्बाध हो जाता है—नेनिक्तः । बहुवचन में अत् आदेश (६०६) होकर—नेनिजति । म०पु०—के एकवचन में अभ्यासगुण तथा लघूपधगुण हो कर 'नेनेज्+सि' इस स्थिति में 'चोः कुः (३०६) से कुत्व, 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व तथा 'खरि च' (७४) से चर्त्व करने पर 'नेनेक्षि' प्रयोग सिद्ध होता है। परस्मै० में रूपमाला यथा—नेनेक्ति, नेनिक्तः, नेनिजति । नेनेक्षि, नेनिक्थः, नेनिक्थ । नेनेज्मि, नेनिज्वः, नेनिज्मः ।

(आत्मने०) में ङित्त्व के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है परन्तु श्लुनिमित्तक अभ्यासगुण सर्वत्र निर्बाध होता है । रूपमाला यथा—नेनिक्ते, नेनिजाते, नेनिजते । नेनिक्षे, नेनिजाथे, नेनिग्ध्वे । नेनिजे, नेनिज्वहे, नेनिज्महे ।

लिँट्—में शप्-श्लु नहीं होता अतः अभ्यास को गुण भी नहीं होता । रूपमाला यथा—(परस्मै०) निनेज, निनिजतुः, निनिजुः । निनेजिथ, निनिजथुः, निनिज । निनेज, निनिजिव, निनिजिम । (आत्मने०) निनिजे, निनिजाते, निनिजिरे । निनिजिषे, निनिजाथे, निनिजिध्वे । निनिजे, निनिजिवहे, निनिजिमहे ।

---

१ इस सूत्र का 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' इस प्रकार नकारघटित पाठ भी उपलब्ध होता है ।

लुट्—इट् का निषेध होकर लघूपधगुण तथा कुत्व-चर्त्व हो जाते हैं। (परस्मै०) नेक्ता, नेक्तारौ, नेक्तारः। नेक्तासि—। (आत्मने०) नेक्ता, नेक्तारौ, नेक्तारः। नेक्तासे—।

लृट्—में भी पूर्ववत् इण्निषेध और लघूपधगुण होकर 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व तथा 'खरि च' (७४) से चर्त्व हो जाता है—(परस्मै०) नेक्ष्यति, नेक्ष्यतः, नेक्ष्यन्ति। (आत्मने०) नेक्ष्यते, नेक्ष्येते, नेक्ष्यन्ते।

लोट्—(परस्मै०) में लट् की तरह शप्-श्लु-द्वित्व-अभ्यासगुण आदि होकर लोट् के विशिष्ट कार्य 'एरुः' (४११) आदि हो जाते हैं—नेनेक्तु। तातङ् में ङित्त्व के कारण लघूपधगुण नहीं होता—नेनिक्तात्। 'हि' के अपित् होने से उस में भी गुण नहीं होता, 'हुझल्भ्यः०' (५५६) से 'हि' को 'धि' आदेश कर कुत्व करने से—नेनिग्धि। उ० पु० में आट् का आगम पित् होता है अतः उस के ङित् न होने से 'नेनिज्+आनि' आदि में लघूपधगुण प्राप्त होता है। इस पर गुण का निषेध करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम् (६२७) नाऽभ्यस्तस्याऽचि पिति सार्वधातुके ।७।३।८७।।

लघूपधगुणो न स्यात्। नेनिजानि। नेनिक्ताम्। अनेनेक्। अनेनिक्ताम्, अनेनिजुः। अनेनिजम्। अनेनिक्त। नेनिज्यात्। नेनिजीत। निज्यात्, निक्षीष्ट।।

अर्थः—अजादि पित् सार्वधातुक परे होने पर अभ्यस्त के स्थान पर लघूपधगुण नहीं होता।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। अभ्यस्तस्य।६।१। अचि।७।१। सार्वधातुके।७।१। लघूपधस्य।६।१। ('पुगन्तलघूपधस्य च' से)। गुणः।१।१। ('मिदेर्गुणः' से)। 'अचि' यह 'सार्वधातुके' का विशेषण है अतः तदादिविधि होकर 'अजादौ पिति सार्वधातुके' बन जाता है। अर्थः—(अचि=अजादौ) अजादि (पिति) पित् (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे होने पर (अभ्यस्तस्य) अभ्यस्तसञ्ज्ञक की (लघूपधस्य) लघु उपधा के स्थान पर (गुणः) गुण (न) नहीं होता। यह 'पुगन्तलघूपधस्य च' (४५१) का अपवाद है।

'नेनिज्+आनि' यहां 'आनि' यह अजादि पित् सार्वधातुक परे है और 'उभे अभ्यस्तम्' (३४४) से 'नेनिज्' की अभ्यस्तसञ्ज्ञा भी है अतः प्रकृतसूत्र से इस की लघुभूत उपधा-इकार को गुण का निषेध होकर 'नेनिजानि' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार द्विवचन और बहुवचन में भी समझ लेना चाहिये। लोट् के परस्मै० में रूपमाला यथा—नेनेक्तु-नेनिक्तात्, नेनिक्ताम्, नेनिजतु। नेनिग्धि-नेनिक्तात्, नेनिक्तम्, नेनिक्त। नेनिजानि, नेनिजाव, नेनिजाम।

(आत्मने०) के उ० पु० में भी इसी सूत्र से लघूपधगुण का निषेध हो जाता है। अन्यत्र ङित्त्व के कारण गुण नहीं होता। रूपमाला यथा— नेनिक्ताम्, नेनिजाताम्, नेनिजताम्। नेनिक्ष्व, नेनिजाथाम्, नेनिग्ध्वम्। नेनिजे, नेनिजावहे, नेनिजामहे।

लँङ्—परस्मै० में 'अनेनिज्+त्' इस स्थिति में लघूपधगुण होकर अपृक्त तकार का लोप तथा 'चोः कुः' (३०६) से कुत्व और अवसान में 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने पर 'अनेनेक्-अनेनेग्' दो रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार सिप् के अपृक्त सकार का लोप होकर दो रूप बनते हैं। झि को 'सिँजभ्यस्त०' (४४७) से जुस् होकर—अनेनिजुः। मिप् को अम् आदेश होकर 'नाऽभ्यस्तस्याचि०' से लघूपधगुण का निषेध हो जाता है—अनेनिजम्। आत्मने० में कुछ विशेष नहीं, ङित्त्व के कारण सर्वत्र लघूपधगुण का निषेध हो जाता है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) अनेनेक्-अनेनेग्, अनेनिक्ताम्, अनेनिजुः। अनेनेक्-अनेनेग्, अनेनिक्तम्, अनेनिक्त। अनेनिजम्, अनेनिज्व, अनेनिज्म। (आत्मने०) अनेनिक्त, अनेनिजाताम्, अनेनिजत। अनेनिक्थाः, अनेनिजाथाम्, अनेनिग्ध्वम्। अनेनिजि, अनेनिज्वहि, अनेनिज्महि।

वि० लिँङ्—परस्मै० में शप्, श्लु, द्वित्व तथा अभ्यास को गुण हो जाता है। यासुट् के ङित् होने से लघूपधगुण नहीं होता। आत्मने० में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा ङित्त्व के कारण लघूपधगुण नहीं होता। रूपमाला यथा—(परस्मै०) नेनिज्यात्, नेनिज्याताम्, नेनिज्युः। (आत्मने०) नेनिजीत, नेनिजीयाताम्, नेनिजीरन्।

आ० लिँङ्—परस्मै० में यासुट् के कित् होने से लघूपधगुण का निषेध हो जाता है। आत्मने० में 'लिँङ्सिँचावात्मनेपदेषु' (५८९) से झलादि लिँङ् के कित् होने के कारण गुण नहीं होता। रूपमाला यथा—(परस्मै०) निज्यात्, निज्यास्ताम्, निज्यासुः। (आत्मने०) निक्षीष्ट, निक्षीयास्ताम्, निक्षीरन्।

लुँङ्—(परस्मै०) में 'अनिज्+च्लि+त्' इस स्थिति में 'च्लेः सिँच्' (४३८) का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६२८) इरितो वा ।३।१।५७।

इरितो धातोश्च्लेरङ् वा परस्मैपदेषु। अनिजत्-अनैक्षीत्, अनिक्त। अनेक्ष्यत्, अनेक्ष्यत ॥

अर्थः—इरित् धातु से परे च्लि के स्थान पर विकल्प से अङ् आदेश हो जाता है परस्मैपद परे हो तो।

व्याख्या—इरितः ।५।१। वा इत्यव्ययपदम्। धातोः ।५।१। ('धातोरेकाचः०' से)। च्लेः ।६।१। ('च्लेः सिँच्' से)। अङ् ।१।१। ('अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' से)। परस्मैपदेषु ।७।३। ('पुषादिद्युता०' से)। इर् इत् यस्य स इरित्, तस्माद् इरितः, बहु०। अर्थः—(इरितः) जिस के इर् की इत्सञ्ज्ञा होती हो ऐसी (धातोः) धातु से परे

(च्लेः) च्लि के स्थान पर (वा) विकल्प से (अङ्) अङ् आदेश हो (परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्यय परे हों तो। अङ् में ङकार गुण के निषेध के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

'अनिज्+च्लि+त्' यहां 'त्' यह परस्मैपद प्रत्यय परे है अतः इरित् धातु निज् से परे च्लि के स्थान पर विकल्प से अङ् आदेश हो गया। अङ्पक्ष में अङ् के ङित् होने से लघूपधगुण का निषेध होकर 'अनिजत्' प्रयोग सिद्ध होता है। अङ् के अभाव में 'च्लेः सिँच्' (४३८) से च्लि को सिँच् होकर हलन्तलक्षणा वृद्धि करने पर 'अनैक्षीत्' रूप सिद्ध होता है। परस्मै० में रूपमाला यथा—(अङ्पक्षे) अनिजत्, अनिजताम्, अनिजन्। अनिजः, अनिजतम्, अनिजत। अनिजम्, अनिजाव, अनिजाम। (अङोऽभावे) अनैक्षीत्, अनैक्ताम्, अनैक्षुः। अनैक्षीः, अनैक्तम्, अनैक्त। अनैक्षम्, अनैक्ष्व, अनैक्ष्म।

लुँङ्—(आत्मने०) में 'अनिज्+स्+त' इस स्थिति में 'लिङ्सिँचावात्मनेपदेषु' (५८६) से सिँच् के कित् हो जाने से लघूपधगुण का निषेध हो जाता है। तब 'झलो झलि' (४७८) से सकार का लोप, 'चोः कुः' (३०६) से कुत्व तथा 'खरि च' (७४) से चर्त्व करने पर 'अनिक्त' रूप सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—अनिक्त, अनिक्षाताम्, अनिक्षत। अनिक्थाः, अनिक्षाथाम्, अनिग्ध्वम्। अनिक्षि, अनिक्ष्वहि, अनिक्ष्महि।

लृँङ्—में कुछ विशेष नहीं। रूपमाला यथा—(परस्मै०) अनेक्ष्यत्, अनेक्ष्यताम्, अनेक्ष्यन्। (आत्मने०) अनेक्ष्यत, अनेक्ष्येताम्, अनेक्ष्यन्त।

इसी प्रकार—विजिँर् पृथग्भावे (अलग होना) के 'वेवेक्ति, वेविक्तः, वेविजति' आदि रूप बनते हैं।

[यहां पर जुहोत्यादिगण की उभयपदी धातुओं का विवेचन समाप्त होता है।]

अभ्यास (६)

(१) निम्न युगलों में सप्रमाण भेद स्पष्ट करें—

अबिभृत-अबिभ्रत; बभृढ्वे-बिभृध्वे; बभृवहे-बिभृवहे; जहिताम्-जिहीताम्; ददे-ददे; दत्ताम्-दत्ताम्; दध्वे-ददिध्वे; ददतु-ददातु; बिभ्रे-बभ्रे; दधे-दधे; अधत्त-अधत्त।

(२) 'इर इत्सञ्ज्ञा वाच्या' वार्तिक की व्यर्थता सिद्ध करें।

(३) निम्न प्रश्नों का उत्तर दीजिये—

(क) 'नेनिक्तः' में लघूपध-गुण की तरह अभ्यासगुण का निषेध क्यों न हो?

(ख) 'पिधत्ते' में धातु के साथ कौन सा उपसर्ग लगा है?

(ग) 'बभर्थ' में क्रादिनियम द्वारा इट् क्यों न हो?

(घ) 'अनिजत्' में हलन्तलक्षणा वृद्धि (?) का वारण कैसे होगा?

(ङ) 'जुहुव:-जुहुम:' में 'शृण्व:-शृण्म:' की तरह उकारलोप क्यों नहीं होता ?
(च) 'पिपूर्त:' में खर् परे रहते रेफ को विसर्गादेश क्यों नहीं होता ?
(छ) 'पपरिथ' में 'वॄतो वा' द्वारा इट् को दीर्घ क्यों नहीं होता ?
(ज) 'पिपूर्धि' प्रयोग क्यों शुद्ध नहीं ?

(४) 'मा भै:' प्रयोग की शुद्धता वा अशुद्धता का विवेचन करें।

(५) निक्षीष्ट, भृषीष्ट, अनिक्त, अभृत, जुहुयात्—इन में गुण का वारण कैसे होगा ?

(६) भृञादि और णिजादि तीन धातुओं का कहां किस प्रयोजन के लिये उल्लेख किया गया है ?

(७) घुसञ्ज्ञोपयोगी सात कार्यों का सोदाहरण उल्लेख करें।

(८) दधस्तथोश्च, स्थाघ्वोरिच्च, ई हल्यघो:, ऋच्छत्यॄताम्, उदोष्ठ्यपूर्वस्य, णिजां त्रयाणाम्०, आ च हौ, श्नाभ्यस्तयोरात:— इन सूत्रों की व्याख्या करें।

(९) यथासम्भव वैकल्पिक रूपों का निर्देश करते हुए ससूत्र सिद्धि करें—
परीता, पिपूर्त:, धत्त:, अदित, देहि, धेयात्, अबिभ:, जह्यात्, नेनिग्धि, नेनिजानि, ह्रियात्, मिमीते, अजुहवु:, बिभित:, जहित:, पपरतु:, जुह्वति, बिभराम्बभूव, अनेनेक्, अबिभ:, जहाहि।

(१०) लँट्, लिँट्, लोँट्, दोनों लिङ्, तथा लुँङ् में रूपमाला लिखें—
डुदाञ्, डुधाञ्, डुभृञ्, पॄ, ओहाक्, ओहाङ्, माङ्, णिजिँर्, भी और ह्री।

इति तिङन्ते जुहोत्यादय:

(यहां पर जुहोत्यादिगण की धातुओं का विवेचन समाप्त होता है)

अथ तिङन्ते दिवादय:

अब तिङन्तप्रकरण में दिवादिगण की धातुओं का निरूपण करते हैं—

[लघु०] दिवुँ क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु ॥१॥

अर्थ:—दिवुँ (दिव्) धातु 'खेलना, जीतने की इच्छा करना, क्रय-विक्रय करना, चमकना, स्तुति करना, प्रसन्न होना, मदमत्त होना, सोना, इच्छा करना, गमन करना' इन दस अर्थों में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या— यह धातु बहुत प्रसिद्ध है। इसी से 'देव, देवता, देवी, द्यूत, दिव् (स्वर्ग), द्यो (स्वर्ग), देवर, देवृ' आदि शब्द बनते हैं। यहां अर्थनिर्देश में 'कान्ति' का अर्थ 'चमकना' नहीं अपितु 'इच्छा करना' है, चमकना अर्थ द्युति में आ गया है। जूआ खेलना तथा चमकना अर्थ में यह

धातु विशेष प्रसिद्ध है, शेष अर्थों में इस का क्वाचित्क प्रयोग पाया जाता है। 'जूआ खेलना' अर्थ में इस के करण की 'दिवः कर्म च' (१.४.४३) सूत्र द्वारा विकल्प से कर्मसञ्ज्ञा हुआ करती है—अक्षैरक्षान् वा दीव्यति (पासों से खेलता है)। दिवुँ में अनुनासिक उकार इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'दिव्' ही अवशिष्ट रहता है। इसे उदित् करने का प्रयोजन 'उदितो वा' (८८२) द्वारा क्त्वा में इट् का विकल्प करना तथा 'यस्य विभाषा' (७.२.१५) द्वारा निष्ठा में इट् का निषेध करना है—देवित्वा-द्यूत्वा; द्यूतम्-द्यूतवान्। आत्मनेपद के निमित्तों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में 'दिव्+ति' इस स्थिति में 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप् प्राप्त होता है। इस पर इसका अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६२९) दिवादिभ्यः श्यन् ।३।१।६९॥

शपोऽपवादः। हलि च (६१२) इति दीर्घः—दीव्यति। दिदेव। देविता। देविष्यति। दीव्यतु। अदीव्यत्। दीव्येत्। दीव्यात्। अदेवीत्। अदेविष्यत्॥

अर्थः—कर्तृवाचक सार्वधातुक परे होने पर दिवादिगण की धातुओं से परे श्यन् प्रत्यय हो जाता है। शपोऽपवादः—यह सूत्र शप् का अपवाद है।

व्याख्या—दिवादिभ्यः ।५।३। श्यन् ।१।१। कर्तरि ।७।१। ('कर्तरि शप्' से)। सार्वधातुके ।७।१। ('सार्वधातुके यक्' से)। दिव् आदिर्येषान्ते दिवादयः, तेभ्यः= दिवादिभ्यः। तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमासः। यहाँ 'प्रत्ययः, परश्च' का भी अधिकार आ रहा है। अर्थः—(कर्तरि) कर्ता अर्थ में (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे हो तो (दिवादिभ्यः) दिवादिगण की धातुओं से परे (श्यन्) श्यन् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो। श्यन् में शकार की 'लशक्वतद्धिते' (१३६) से तथा अन्त्य नकार की 'हलन्त्यम्' (१) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है, 'य' मात्र अवशिष्ट रहता है। शकारानुबन्ध 'तिङ्शित्सार्व-धातुकम्' (३८६) से सार्वधातुकसञ्ज्ञा करने के लिये जोड़ा गया है। नकारानुबन्ध 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६.१.१९१) सूत्र द्वारा आद्युदात्त स्वर के लिये लगाया गया है।

'दिव्+ति' यहाँ 'ति' यह कर्तृवाचक सार्वधातुक परे है अतः प्रकृतसूत्र से दिव् धातु से परे श्यन् प्रत्यय होकर अनुबन्धलोप करने से 'दिव्+य+ति' हुआ। यहां श्यन् के सार्वधातुक होने से लघूपधगुण प्राप्त होता है परन्तु 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा श्यन् के ङित् होने से उस का निषेध हो जाता है। अब 'हलि च' (६१२) से वकारान्त धातु 'दिव्' की उपधा इकार को दीर्घ करने पर 'दीव्यति' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिये। लँट् में रूपमाला यथा—दीव्यति, दीव्यतः, दीव्यन्ति। दीव्यसि, दीव्यथः, दीव्यथ। दीव्यामि, दीव्यावः, दीव्यामः।

लिँट्—में कुछ विशेष नहीं। धातु के सेट् होने से वलादियों में इट् का आगम हो जाता है। पित् प्रत्ययों में लघूपधगुण हो जाता है परन्तु अपितों में 'असंयोगाल्लिँट्०' (४५२) से कित्त्व के कारण उस का निषेध हो जाता है। रूपमाला यथा—दिदेव, दिदिवतुः, दिदिवुः। दिदेविथ, दिदिवथुः, दिदिव। दिदेव, दिदिविव, दिदिविम।

लुँट्—में इट् का आगम तथा लघूपधगुण हो जाता है—देविता, देवितारौ, देवितारः। लृँट्—देविष्यति, देविष्यतः, देविष्यन्ति।

लोँट्—में लँट् की तरह श्यन् होकर 'हलि च' (६१२) से उपधा को दीर्घ हो जाता है—दीव्यतु-दीव्यतात्, दीव्यताम्, दीव्यन्तु। दीव्य-दीव्यतात्, दीव्यतम्, दीव्यत। दीव्यानि, दीव्याव, दीव्याम।

लँङ्—में श्यन्, उपधादीर्घ तथा अट् का आगम हो जाता है—अदीव्यत्, अदीव्यताम्, अदीव्यन्। अदीव्यः, अदीव्यतम्, अदीव्यत। अदीव्यम्, अदीव्याव, अदीव्याम।

वि० लिँङ्—में श्यन् होकर भ्वादिगण की तरह 'अतो येयः' (४२८) द्वारा इय् आदि कार्य हो जाते हैं— दीव्येत्, दीव्येताम्, दीव्येयुः। दीव्येः, दीव्येतम्, दीव्येत। दीव्येयम्, दीव्येव, दीव्येम।

आ० लिँङ्—में यासुट् के कित् होने से लघूपधगुण नहीं होता। केवल उपधादीर्घ हो जाता है—दीव्यात्, दीव्यास्ताम्, दीव्यासुः।

लुँङ्—में 'असेधीत्' की तरह प्रक्रिया होती है—अदेवीत्, अदेविष्टाम्, अदेविषुः। अदेवीः, अदेविष्टम्, अदेविष्ट। अदेविषम्, अदेविष्व, अदेविष्म।

लृँङ्—अदेविष्यत्, अदेविष्यताम्, अदेविष्यन् आदि।

[लघु०] एवम्—षिवुँ तन्तुसन्ताने ॥२॥

अर्थः—षिवुँ (सिव्) धातु तन्तुओं के विस्तार करने अर्थात् सीने अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—षिवुँ में भी पूर्ववत् इत्सञ्ज्ञक उकार का लोप होकर 'धात्वादेः षः सः' (२२५) से षकार को सकार हो जाता है। इस प्रकार 'सिव्' धातु बन जाती है। षोपदेश का फल 'परि-नि-विभ्यः सेव-सित-सय-सिवुँ-सह-सुट्-स्तु-स्वञ्जाम्' (८.३.७०) द्वारा परि+सीव्यति=परिषीव्यति, निषीव्यति, विषीव्यति आदियों में षत्व करना है। अट् के व्यवधान में 'सिवादीनां वाऽड्-व्यवायेऽपि' (८.३.७१) से वैकल्पिक षत्व हो जाता है—पर्यषीव्यत्, पर्यसीव्यत्। यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी तथा सेट् है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'दिव्' धातु की तरह होती है। रूपमाला यथा—

लँट्—सीव्यति, सीव्यतः, सीव्यन्ति। लिँट्—सिषेव, सिषिवतुः, सिषिवुः। सिषेविथ, सिषिवथुः, सिषिव। सिषेव, सिषिविव, सिषिविम। लुँट्—सेविता, सेवितारौ, सेवितारः। लृँट्—सेविष्यति, सेविष्यतः, सेविष्यन्ति। लोँट्—सीव्यतु-

सीव्यतात्, सीव्यताम्, सीव्यन्तु। लँङ्—असीव्यत्, असीव्यताम्, असीव्यन्। वि० लिँङ्—सीव्येत्, सीव्येताम्, सीव्येयुः। आ० लिँङ्—सीव्यात्, सीव्यास्ताम्, सीव्यासुः। लुँङ्—असेवीत्, असेविष्टाम्, असेविषुः। असेवीः, असेविष्टम्, असेविष्ट। असेविषम्, असेविष्व, असेविष्म। लृँङ्—असेविष्यत्, असेविष्यताम्, असेविष्यन्।

[लघु०] नृतीँ गात्रविक्षेपे ॥३॥ नृत्यति। ननर्त। नर्तिता॥

अर्थः—नृतीँ (नृत्) धातु 'गात्रविक्षेप—अङ्ग पटकना अर्थात् नाचना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—नृतीँ में ईकार अनुनासिक है अतः इत्सञ्ज्ञक होकर लुप्त हो जाता है, 'नृत्' मात्र अवशिष्ट रहता है। ईदित् करने का फल 'श्वीदितो निष्ठायाम्' (७.२.१४) द्वारा निष्ठा में इट् का निषेध करना है—नृत्तम्, नृत्तवान्[1]। यह धातु भी दिव् धातु की तरह परस्मैपदी तथा सेट् है।

लँट्—नृत्यति, नृत्यतः, नृत्यन्ति। लिँट्—ननर्त, ननृततुः, ननृतुः। ननर्तिथ, ननृतथुः, ननृत। ननर्त, ननृतिव, ननृतिम। लुँट्—नर्तिता, नर्तितारौ, नर्तितारः।

लृँट्—'नृत्+स्य+ति' यहां धातु के सेट् होने से 'आर्धधातुकस्येड्०' (४०१) से स्य को इट् का आगम प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र विकल्प का विधान करता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६३०) सेऽसिँचि कृत-चृत-च्छृद-तृद-नृतः। ७।२।५७।

एभ्यः परस्य सिँज्भिन्नस्य सादेरार्धधातुकस्येड् वा। नर्तिष्यति-नर्त्स्यति। नृत्यतु। अनृत्यत्। नृत्येत्। नृत्यात्। अनर्तीत्। अनर्तिष्यत्-अनर्त्स्यत्।

अर्थः—कृत्, चृत्, छृद्, तृद् और नृत् इन पांच धातुओं से परे सिँज्भिन्न सकारादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् का आगम हो।

व्याख्या—से।७।१। असिँचि।७।१। कृत-चृत-छृद-तृद-नृतः।५।१। आर्धधातुकस्य।६।१। इट्।१।१। ('आर्धधातुकस्येड्०' से)। वा इत्यव्ययपदम् ('उदितो वा' से)। न सिँच्—असिँच्, तस्मिन्=असिँचि। 'से' के 'स' में अकार उच्चारणार्थ है, यहां षष्ठी के अर्थ में सप्तमी जाननी चाहिये। विशेषण होने से तदादिविधि होकर

---

१. सकारादि आर्धधातुक को वैकल्पिक इट्विधान के कारण निष्ठा में इण्निषेध तो यहां 'यस्य विभाषा' (७.२.१५) से भी सिद्ध है, इस के लिये पुनः ईदित् करना 'यस्य विभाषा' की अनित्यता को प्रकट करता है। इस से 'धावितम्' आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं (इसी धातु पर माधवीयधातुवृत्ति देखें)।

'सकारादेरार्धधातुकस्य' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(कृत-चृत-छृद-तृद-नृतः) कृत्, चृत्, छृद्, तृद्, और नृत् धातुओं से परे (असिँचः) सिँच् से भिन्न (सादेरार्धधातुकस्य) सकारादि आर्धधातुक का अवयव (इट्) इट् (वा) विकल्प से होता है। कृत् आदि सब धातु सेट् हैं, इन से परे नित्य इट् प्राप्त था परन्तु अब सिँज्भिन्न सकारादि आर्धधातुक में इस सूत्र से विकल्प किया जा रहा है। उदाहरण यथा—

कृत्—कृतीँ छेदने (काटना; तुदा० परस्मै०), कृतीँ वेष्टने (लपेटना; रुधा० परस्मै०) इन दोनों धातुओं का ग्रहण होता है—कर्तिष्यति-कर्त्स्यति। चृत्—चृतीँ हिंसा-संग्रन्थनयोः (हिंसा करना, संग्रन्थन करना; तुदा० परस्मै०)—चर्तिष्यति-चर्त्स्यति। छृद्—उँच्छृदिँर् दीप्ति-देवनयोः (चमकना, खेलना; रुधा० उभय०)—छर्दिष्यति-छर्त्स्यति। तृद्—उँतृदिँर् हिंसाऽनादरयोः (हिंसा करना, अनादर करना; रुधा० उभय०)—तर्दिष्यति-तर्त्स्यति।

'नृत्+स्य+ति' यहां नृत् से परे 'स्य' यह सकारादि आर्धधातुक विद्यमान है और यह सिँच् से भिन्न है अतः प्रकृतसूत्र द्वारा इसे विकल्प से इट् का आगम होकर लघूपधगुण करने से 'नर्तिष्यति-नर्त्स्यति' दो रूप सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—(इट्पक्षे) नर्तिष्यति, नर्तिष्यतः, नर्तिष्यन्ति। (इटोऽभावे) नर्त्स्यति, नर्त्स्यतः, नर्त्स्यन्ति।

लोँट्—नृत्यतु-नृत्यतात्, नृत्यताम्, नृत्यन्तु। लँङ्—अनृत्यत्, अनृत्यताम्, अनृत्यन्। वि० लिँङ्—नृत्येत्, नृत्येताम्, नृत्येयुः। आ० लिँङ्—नृत्यात्, नृत्यास्ताम्, नृत्यासुः।

लुँङ्—'सेऽसिँचि०' (६३०) में सिँच्-भिन्न को इट् का विकल्प किया गया है अतः यहां लुँङ् में सिँच् को नित्य इट् हो जाता है। हलन्तलक्षणा वृद्धि का 'नेटि' (४७७) से निषेध होकर सर्वत्र लघूपधगुण हो जायेगा—अनर्तीत्, अनर्तिष्टाम्, अनर्तिषुः। अनर्तीः, अनर्तिष्टम्, अनर्तिष्ट। अनर्तिषम्, अनर्तिष्व, अनर्तिष्म।

लृँङ्—यहां 'सेऽसिँचि०' (६३०) से 'स्य' को विकल्प से इट् का आगम हो जाता है—(इट्पक्षे) अनर्तिष्यत्, अनर्तिष्यताम्, अनर्तिष्यन्। (इटोऽभावे) अनर्त्स्यत्, अनर्त्स्यताम्, अनर्त्स्यन्।

नोट—नृत् धातु णोपदेश नहीं अतः 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (४५६) से णत्व नहीं होता—प्रनृत्यति।

[लघु०] त्रसीँ उद्वेगे ॥४॥ वा भ्राश० (४८५) इति श्यन्वा।

त्रस्यति-त्रसति। तत्रास॥

अर्थः—त्रसीँ (त्रस्) धातु 'डरना या घबराना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् ईदित्, सेट् और परस्मैपदी है। इसे ईदित् करने का फल 'श्वीदितो निष्ठायाम्' (७.२.१४) द्वारा निष्ठा में इट् का निषेध करना है—त्रस्तः, त्रस्तवान्।

लँट्—पीछे 'वा भ्राशम्लाशभ्रमुँक्रमुँक्लमुँत्रसित्रुटिलषः' (४८५) सूत्र में त्रस् को भी गिनाया जा चुका है अतः सार्वधातुक प्रत्ययों में इस से परे श्यन् का विकल्प हो जाता है। पक्ष में 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप् भी हो जायेगा। रूपमाला यथा—(श्यन्पक्षे) त्रस्यति, त्रस्यतः, त्रस्यन्ति। (शप्पक्षे) त्रसति, त्रसतः, त्रसन्ति।

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन में उपधावृद्धि होकर—तत्रास। द्विवचन में द्वित्व होकर 'त्रस्+त्रस्+अतुस्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६३१) वा जॄ-भ्रमुँ-त्रसाम् ।६।४।१२४।।

एषां किति लिँटि सेटि थलि च एत्त्वाभ्यासलोपौ वा। त्रेसतुः-तत्रसतुः। त्रेसिथ-तत्रसिथ। त्रसिता।।

अर्थः—कित् लिँट् या सेट् थल् परे हो तो जॄ, भ्रमुँ और त्रस् धातुओं को एत्त्व तथा अभ्यास का लोप विकल्प से हो।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम्। जॄ-भ्रमुँ-त्रसाम्। ६।३। अतः ।६।१। ('अत एकहल्मध्ये०' से)। एत् ।१।१। अभ्यासलोपः ।१।१। च इत्यव्ययपदम् ('घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' से)। किति ।७।१। ('गमहनजन०' से)। लिँटि ।७।१। ('अत एकहल्मध्ये०' से)। 'थलि च सेटि' की भी अनुवृत्ति आती है। अर्थः—(किति लिँटि) कित् लिँट् (च) या (सेटि थलि) सेट् थल् परे होने पर (जॄ-भ्रमुँ-त्रसाम्) जॄ, भ्रम् और त्रस् धातुओं के (अतः) अत् के स्थान पर[1] (एत्) एकार (च) तथा साथ ही (अभ्यासलोपः) अभ्यास का लोप (वा) विकल्प से होता है।

जॄ धातु में द्वित्व तथा 'ऋच्छत्यॄताम्' (६१४) से गुण करने पर 'ज+जर्+अतुस्' इस स्थिति में गुण शब्द से भावित होने के कारण 'न शसददवादिगुणानाम्' (५४१) से निषेध होता था अतः एत्वाभ्यासलोप प्राप्त न था। भ्रम् में असंयुक्तहलों के मध्य में स्थित न होने से तथा आदि में लिँण्निमित्तक आदेश होने से प्राप्त न था, इसी प्रकार त्रस् में केवल असंयुक्तहलों के मध्य में स्थित न होने से प्राप्त न था। इत्थम् इन सब धातुओं में प्राप्त न होने पर इस सूत्र से विकल्प का विधान किया गया है, इस लिये यह अप्राप्तविभाषा है। उदाहरण यथा—जॄष् वयोहानौ (बूढ़ा होना)—जेरतुः-जजरतुः, जेरिथ-जजरिथ। भ्रमुँ अनवस्थाने (भ्रमण करना)—भ्रेमतुः-बभ्रमतुः, भ्रेमिथ-बभ्रमिथ। त्रस् का उदाहरण प्रकृत में है—

'त्रस्+त्रस्+अतुस्' यहाँ 'अतुस्' यह कित् लिँट् परे है अतः प्रकृतसूत्र से त्रस् के अत् को एत्त्व तथा अभ्यास का लोप विकल्प से करने पर 'त्रेसतुः-तत्रसतुः' ये दो रूप सिद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार आगे उस् आदियों में तथा थल् में भी

---

१. कौमुदी की वृत्ति में 'अतः' का उल्लेख नहीं—यह भूल है। अन्यथा यह एत्त्व 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) से अन्त्य अल् को प्राप्त होगा तब भ्रम् और त्रस् में दोष आयेगा।

जानने चाहियें। लिँट् में रूपमाला यथा—तत्रास, त्रेसतुः-तत्रसतुः, त्रेसुः-तत्रसुः। त्रेसिथ-तत्रसिथ, त्रेसथुः-तत्रसथुः, त्रेस-तत्रस। तत्रास-तत्रस, त्रेसिव-तत्रसिव, त्रेसिम-तत्रसिम।

लुँट्—त्रसिता, त्रसितारौ, त्रसितारः। लृँट्—त्रसिष्यति, त्रसिष्यतः, त्रसिष्यन्ति। लोँट्—(श्यन्पक्षे) त्रस्यतु-त्रस्यतात्, त्रस्यताम्, त्रस्यन्तु। (शप्पक्षे) त्रसतु-त्रसतात्, त्रसताम्, त्रसन्तु। लँङ्—(श्यन्पक्षे) अत्रस्यत्, अत्रस्यताम्, अत्रस्यन्। (शप्पक्षे) अत्रसत्, अत्रसताम्, अत्रसन्। वि० लिँङ्—(श्यन्पक्षे) त्रस्येत्, त्रस्येताम्, त्रस्येयुः। (शप्पक्षे) त्रसेत्, त्रसेताम्, त्रसेयुः। आ० लिँङ्—त्रस्यात्, त्रस्यास्ताम्, त्रस्यासुः। लुँङ्—में हलन्तलक्षणा वृद्धि का 'नेटि' (४७७) से निषेध होकर पुनः 'अतो हलादेर्लघोः' (४५७) से वैकल्पिक वृद्धि हो जाती है—(वृद्धिपक्षे) अत्रासीत्, अत्रासिष्टाम्, अत्रासिषुः। (वृद्ध्यभावे) अत्रसीत्, अत्रसिष्टाम्, अत्रसिषुः। लृँङ्—अत्रसिष्यत्, अत्रसिष्यताम्, अत्रसिष्यन्।

उपसर्गयोग—सम्√त्रस् =डरना (सन्त्रासः=भय, डर)। वि√त्रस्=डरना (वित्रासः=भय, डर)। उद्√त्रस्=बहुत डरना (उत्त्रासः=अत्यन्त भय)।

[लघु०] शो तनूकरणे ॥५॥

अर्थः—शो धातु 'पतला करना, छीलना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—शो में ओकार अनुनासिक न होने से इत्सञ्ज्ञक होकर लुप्त नहीं होता। आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी तथा 'ऊदॄदन्तैः०' के अनुसार अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् होगा परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प।

लँट्—में श्यन् होकर 'शो+य+ति' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६३२) ओतः श्यनि।७।३।७१॥

लोपः स्याच्छ्यनि। श्यति, श्यतः, श्यन्ति। शशौ, शशतुः। शाता। शास्यति॥

अर्थः—श्यन् परे होने पर ओकार का लोप हो।

व्याख्या—ओतः।६।१। श्यनि।७।१। लोपः।१।१। ('घोर्लोपो लेँटि वा' से)। अर्थः—(श्यनि) श्यन् परे होने पर (ओतः) ओकार का (लोपः) लोप हो जाता है। उदाहरण यथा—'शो+य+ति' यहाँ श्यन् परे है अतः शो के ओकार का लोप होकर 'श्यति' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी। लँट् में रूपमाला यथा—श्यति, श्यतः, श्यन्ति। श्यसि, श्यथः, श्यथ। श्यामि, श्यावः, श्यामः।

लिँट्—के आर्धधातुक होने से इस में श्यन् नहीं होता। अतः शित् परे न रहने से 'आदेच उपदेशेऽशिति' (४९३) द्वारा शो के ओकार को आकार आदेश

हो कर 'शा' यह आकारान्त धातु बन जाती है । अब इस की 'पा पाने' की तरह प्रक्रिया होने लगती है। रूपमाला यथा—शशौ, शशतुः, शशुः । शशिथ-शशाथ, शशथुः, शश । शशौ, शशिव, शशिम ।

लुँट्—यहां भी आकारादेश हो जाता है—शाता, शातारौ, शातारः । लृँट्—शास्यति, शास्यतः, शास्यन्ति । लोँट्—में श्यन् होकर 'ओतः श्यनि' से ओकार का लोप हो जाता है—श्यतु-श्यतात्, श्यताम्, श्यन्तु । श्य-श्यतात्, श्यतम्, श्यत । श्यानि, श्याव, श्याम । लँङ्—में भी श्यन् होकर ओकार का लोप हो जाता है—अश्यत्, अश्यताम्, अश्यन् । वि० लिँङ्—में भी श्यन् होकर ओकार का लोप हो जाता है—श्येत्, श्येताम्, श्येयुः । श्येः, श्येतम्, श्येत। श्येयम्, श्येव, श्येम । आ० लिँङ्—में आकारादेश होता है—शायात्, शायास्ताम्, शायासुः ।

लुँङ्—में आत्व हो कर 'अशा+स्+त्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६३३) विभाषा घ्रा-धेट्-शा-च्छा-सः २।४।७८॥

एभ्यः सिँचो लुग्वा स्यात् परस्मैपदे परे । अशात्, अशाताम्, अशुः । इट्सकौ (४६५)—अशासीत्, अशासिष्टाम् ॥

अर्थः—घ्रा, धेट्, शो, छो और षो धातुओं से परे सिँच् का विकल्प से लुक् हो परस्मैपद प्रत्यय परे हो तो ।

व्याख्या—विभाषा ।१।१। घ्रा-धेट्-शा-च्छा-सः ।५।३। सिँचः ।६।१। परस्मैपदेषु ।७।३। ('गातिस्था०' से)। लुक् ।१।१। ('ण्यक्षत्रियार्ष०' से) । घ्राश्च धेट् च शाश्च छाश्च साश्च—घ्राधेट्शाच्छासम्, समाहारद्वन्द्वः । तस्मात्—घ्राधेट्शाच्छासः ('विश्वपः' की तरह) । सूत्र में शो, छो, सो (षो) धातुओं को आत्व कर के निर्देश किया गया है, सन्धिजन्य तुक् के कारण बीच में चकार आ गया है । 'धा' से कहीं डुधाञ् का ग्रहण न हो जाये इसलिये धेट् को आत्व न कर साक्षात् निर्दिष्ट किया गया है । अर्थः—(घ्राधेट्शाच्छासः) घ्रा, धेट्, शो, छो और षो धातुओं से परे (सिँचः) सिँच् का (विभाषा) विकल्प से (लुक्) लुक् हो जाता है (परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्ययों के परे रहते । उदाहरण यथा—

घ्रा गन्धोपादाने (सूंघना; भ्वा० परस्मै०)—अघ्रात्, अघ्राताम्, अघ्रुः । लुक् के अभाव में 'यमरमनमातां सक् च' (४६५) से सक् और इट् हो जाते हैं—अघ्रासीत्, अघ्रासिष्टाम्, अघ्रासिषुः । धेट् पाने (पीना; भ्वा० परस्मै०)—अधात्, अधाताम् अधुः । लुक् के अभाव में सक् और इट् होकर—अधासीत्, अधासिष्टाम्,

अशासिषु:। छो और षो धातुओं का वर्णन अनुपद आ रहा है। यहां प्रकृत में शो का उदाहरण है—

'अशा+स्+त्' यहां परस्मैपद परे है अतः शो (शा) से परे सिँच् का विकल्प से लुक् हो जाता है। लुक्पक्ष में 'पा पाने' की तरह 'अशात्' आदि रूप सिद्ध होते हैं। लुक् के अभाव में 'यमरमनमातां सक् च' (४९५) से सक् और इट् का आगम होकर 'ग्लै हर्षक्षये' की तरह 'अशासीत्' आदि रूप बनते हैं। रूपमाला यथा—(सिँज्लुक्पक्षे) अशात्, अशाताम्, अशुः। अशाः, अशातम्, अशात। अशाम्, अशाव, अशाम। (लुकोऽभावे) अशासीत्, अशासिष्टाम्, अशासिषुः। अशासीः, अशासिष्टम्, अशासिष्ट। अशासिषम्, अशासिष्व, अशासिष्म।

लृँङ्—अशास्यत्, अशास्यताम्, अशास्यन्।

उपसर्गयोग—नि√शो (निश्यति)=तेज़ करना (न्यश्यन् शस्त्राणि—भट्टि० १७.४)। निशितम्-निशातम्=तेज किया हुआ (तमुद्यतनिशातासिम्—भट्टि० ५.४६; 'शाच्छोरन्यतरस्याम्' ७.४.४१ इति तकारादौ किति वा इत्त्वम्)।

[लघु०] छो छेदने ॥६॥ छ्यति ॥

अर्थः—छो धातु 'काटना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—छो धातु भी 'शो तनूकरणे' की तरह परस्मैपदी तथा अनिट् है। इस की प्रक्रिया 'शो' की तरह होती है। लँङ्, लुँङ् और लृँङ् में अट् का आगम कर के 'छे च' (१०१) से तुक् तथा 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) से श्चुत्व ही विशेष कार्य है। इसी प्रकार लिँट् में भी समझना चाहिये। रूपमाला यथा—

लँट्—छ्यति, छ्यतः छ्यन्ति। लिँट्—चच्छौ, चच्छतुः, चच्छुः। चच्छिथ-चच्छाथ, चच्छथुः, चच्छ। चच्छौ, चच्छिव, चच्छिम। लुँट्—छाता, छातारौ, छातारः। लृँट्—छास्यति, छास्यतः, छास्यन्ति। लोँट्—छ्यतु-छ्यतात्, छ्यताम्, छ्यन्तु। लँङ्—अच्छ्यत्, अच्छ्यताम्, अच्छ्यन्। वि० लिँङ्—छ्येत्, छ्येताम्, छ्येयुः। आ० लिँङ्—छायात्, छायास्ताम्, छायासुः। लुँङ्—(लुक्पक्षे) अच्छात्, अच्छाताम्, अच्छुः। (लुगभावे) अच्छासीत् अच्छासिष्टाम्, अच्छासिषुः। लृँङ्—अच्छास्यत्, अच्छास्यताम्, अच्छास्यन्।

[लघु०] षो अन्तकर्मणि[1] ॥७॥ स्यति। ससौ॥

अर्थः—षो (सो) धातु 'अन्तकर्म अर्थात् नाश करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—'धात्वादेः षः सः' (२५५) से इसके आदि षकार को सकार आदेश होकर 'सो' बन जाता है। यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी तथा अनिट् है। लिँट् में

---

१. 'षोऽन्तकर्मणि' इति पूर्वरूपघटितोऽपपाठः।

क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प । इस की प्रक्रिया तथा रूपमाला 'शो तनूकरणे' धातु की तरह होती है—

लँट्— स्यति[1], स्यतः, स्यन्ति । लिँट्— ससौ, ससतुः, ससुः । ससिथ-ससाथ, ससथुः, सस । ससौ, ससिव, ससिम । लुँट्—साता, सातारौ, सातारः । लृँट्—सास्यति, सास्यतः, सास्यन्ति । लोँट्—स्यतु-स्यतात्, स्यताम्, स्यन्तु । स्य[2]-स्यतात्, स्यतम्, स्यत । स्यानि, स्याव, स्याम । लँङ्—अस्यत्, अस्यताम्, अस्यन् । वि० लिँङ्—स्येत्, स्येताम्, स्येयुः । आ० लिँङ् — में 'एर्लिङि' (४६०) से एत्व हो जाता है—सेयात्, सेयास्ताम्, सेयासुः । लुँङ् — (सिँज्लुकि) असात्, असाताम्, असुः । (लुकोऽभावे) असासीत्, असासिष्टाम्, असासिषुः । लृँङ्— असास्यत्, असास्यताम्, असास्यन् ।

उपसर्गयोग—अव√षो (अवस्यति) = समाप्त करना (यदि नेपथ्यविधानमवसितम्—शाकुन्तल १), समाप्त होना-नष्ट होना (अकर्मक—शक्तिर्ममाऽवस्यति हीनयुद्धे—किरात० १६.१७); जानना (अवसेयाश्च कार्याणि धर्मेण पुरवासिनाम्—भट्टि० १६.२८; अवसाययितुं क्षमाः सुखम्—किरात० २.२६) । वि+अव√षो (व्यवस्यति) = प्रयत्न करना-कोशिश करना (करोतु नाम नीतिज्ञो व्यवसायमितस्ततः । फलं पुनस्तदेवास्य यद्विधेर्मनसि स्थितम्—हितो० २.१४; ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति—शाकुन्तल १.१८); निश्चय करना (मन्दीचकार मरणव्यवसायबुद्धिम्—कुमार० ४.४५); चाहना (पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या—शाकुन्तल ४.८); बीड़ा उठाना—करने की ठान लेना (क्वचित्सौम्य ! व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे—मेघ० ११४) । अधि+अव√षो (अध्यवस्यति) = निश्चय करना (कथमिदानीं दुर्जनवचनादेवमध्यवसितं देवेन —उत्तर० १); प्रयत्न करना-उद्यम करना (न स्वल्पमप्यध्यवसायभीरोः करोति विज्ञाननिधिर्गुणं हि — हितो० १.१७२); संकल्प करना-करने की ठानना (व्रतं दुष्करमध्यवसितम् —हितो० १) । प्रति+अव√षो (प्रत्यवस्यति) = खाना (प्रत्यवसानं घसिराहारः —हेमचन्द्र; गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ०—अष्टा० १.४.५२) । परि+अव√षो (पर्यवस्यति) = समाप्त होना —लीन होना—नतीजा निकलना—अन्ततोगत्वा समझ में आना

---

१. पण्डितेन्द्रो जगन्नाथः स्यति गर्वं गुरुद्रुहाम्—मनोरमाकुचमर्दिन्यारम्भे । गुरुद्रुहाम् भट्टोजिदीक्षितानाम् गर्वं स्यति = नाशयतीति भावः ।

२. राघवस्य शरैर्घोरैर्घोररावणमाहवे ।
अत्र क्रियापदं गुप्तं मर्यादा दशवार्षिकी ॥ (सुभाषित)

राघव ! घोररावणम् आहवे (युद्धे) घोरैः शरैः स्य = नाशयेत्यर्थः । इसी प्रकार—कुमरीनव भूपस्य [कुम्- अरीन्-अव-भूप-स्य यह छेद है ; भूप ! कुम् (पृथिवीम्) अव (रक्ष), अरीन् (शत्रून्) स्य (नाशय)], ब्राह्मणस्य महत्पापं सन्ध्यावन्दनतर्पणैः (हे ब्राह्मण ! सन्ध्यावन्दनतर्पणैर्महत्पापं स्य = नाशय) ।

(तस्मात् तद् देवानां व्रतमाचरन् ओंकारे परे ब्रह्मणि पर्यवसितो भवेत्—नृसिंहोत्तर० उप० ७; एष एव समुच्चयः सद्योगेऽसद्योगे सदसद्योगे च पर्यवस्यति —काव्यप्रकाश १०) 'निरस्यति' आदि 'असु क्षेपणे' के रूप हैं।

नोट—यह धातु लिथुआनियन लेट्टिश आदि कई भारोपीय भाषाओं में भी उपलब्ध होती है।

[लघु०] दो अवखण्डने ॥८॥ द्यति । ददौ । देयात् । अदात् ॥

अर्थः—दो धातु 'काटना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु भी 'छो छेदने' धातु की तरह परस्मैपदी तथा अनिट् है। इस की सिद्धि और रूपमाला भी पूर्ववत् होती है परन्तु 'दाधा घ्वदाप्' (६२३) से इस के घुसञ्ज्ञक होने के कारण आ० लिँङ् में 'एर्लिँङि' (४६०) द्वारा नित्य एत्व तथा लुँङ् में 'गातिस्थाघु०' (४३९) से नित्य सिँच् का लुक् हो जाता है। रूपमाला यथा—

लँट्—द्यति, द्यतः, द्यन्ति। लिँट्—ददौ, ददतुः, ददुः। ददिथ-ददाथ, ददथुः, दद। ददौ, ददिव, ददिम। लुँट्—दाता, दातारौ, दातारः। लृँट्—दास्यति, दास्यतः, दास्यन्ति। लोँट्—द्यतु-द्यतात्, द्यताम्, द्यन्तु। द्य[1]-द्यतात्, द्यतम्, द्यत। द्यानि, द्याव, द्याम। लँङ्—अद्यत्, अद्यताम्, अद्यन्। वि० लिँङ्—द्येत्, द्येताम्, द्येयुः। आ० लिँङ्—देयात्, देयास्ताम्, देयासुः। लुँङ्- अदात्, अदाताम्, अदुः। लृँङ्—अदास्यत्, अदास्यताम्, अदास्यन्।

नोट—इस धातु का प्रायः अवपूर्वक प्रयोग उपलब्ध होता है। यथा—देवताभ्योऽवद्यति—शत० ब्रा०१.३.२.१०।

[लघु०] व्यध ताडने ॥९॥

अर्थः—व्यध (व्यध्) धातु 'बींधना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—शर आदि से लक्ष्य को ताडित करने का नाम बींधना है। इसी धातु से व्याध, विधु आदि शब्द निष्पन्न होते हैं। यह धातु उदात्तेत् होने अथवा आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण परस्मैपदी तथा धकारान्त अनुदात्तों में पठित होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् होगा परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प।

लँट्—में श्यन् करने पर 'व्यध्+य+ति' इस स्थिति में सम्प्रसारणविधान करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्- (६३४) ग्रहि-ज्या-वयि-व्यधि-वष्टि-विचति-वृश्चति-पृच्छति-भृज्जतीनां ङिति च ।६।१।१६॥

---

१. विद्विषोद्य रणे बहून् [रणे बहून् विद्विषः=शत्रून् द्य=अवखण्डय जहीति भावः]। इसी प्रकार—मामवद्य च शत्रून्मे (माम् अव, मे शत्रून् द्य)।

एषां सम्प्रसारणं स्यात् किति ङिति च । विध्यति । विव्याध, विविधतुः, विविधुः । विव्यधिथ-विव्यद्ध । व्यद्धा । व्यत्स्यति । विध्येत् । विध्यात् । अव्यात्सीत् ॥

अर्थः—ग्रह्, ज्या, वय्, व्यध्, वश्, व्यच्, व्रश्च्, प्रच्छ्, भ्रस्ज्— इन नौ धातुओं को कित् या ङित् प्रत्यय परे होने पर सम्प्रसारण हो ।

व्याख्या—ग्रहि—भृज्जतीनाम् ।६।३। ङिति ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । किति ।७।१। ('वचिस्वपियजादीनां किति' से)। सम्प्रसारणम् ।१।१। ('ष्यङः सम्प्रसारणम्' से) । अर्थः—(ग्रहि—भृज्जतीनाम्) ग्रह्, ज्या, वय्, व्यध्, वश्, व्यच्, व्रश्च्, प्रच्छ् और भ्रस्ज् इन नौ धातुओं के स्थान पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण हो जाता है (ङिति किति च) ङित् या कित् प्रत्यय परे हो तो । 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' (२५६) के अनुसार इन धातुओं के यण् को इक् आदेश हो जाता है ।

उदाहरण यथा—

(१) ग्रह् (ग्रहण करना, क्र्या०)—(ङिति) गृह्णाति । (किति) गृहीतः, गृहीतवान् !
(२) ज्या (बूढ़ा होना, क्र्या०)—(ङिति) जिनाति । (किति) जीनः, जीनवान् ।
(३) वय् ('वेञो वयिः' २.४.४१)—ङित्युदाहरणं नास्ति । (किति) ऊयतुः, ऊयुः ।
(४) व्यध् (बींधना. दिवा०)—(ङिति) विध्यति । (किति) विद्धः, विद्धवान् ।
(५) वश् (चाहना. अदा०)—(ङिति) उशन्ति । (किति) उशितः, उशितवान् ।
(६) व्यच् (धोखा देना, तुदा०),(ङिति) विचति । (किति) विचितः, विचितवान् ।
(७) व्रश्च् (काटना, तुदा०)—(ङिति) वृश्चति । (किति), वृक्णः, वृक्णवान् ।
(८) प्रच्छ् (पूछना, तुदा०)—(ङिति) पृच्छति । (किति), पृष्टः, पृष्टवान् ।
(९) भ्रस्ज् (भूनना, तुदा०)—(ङिति) भृज्जति । (किति) भृष्टः, भृष्टवान् ।

'व्यध्+य+ति' यहां पर 'सार्वधातुकमपित्' (५००) के अनुसार श्यन् प्रत्यय ङित् है, अतः उस के परे रहते प्रकृतसूत्र से व्यध् के यकार को सम्प्रसारण इकार हो कर 'व् इ अध्+य+ति' हुआ । अब 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप एकादेश करने पर—विध्+य+ति='विध्यति' प्रयोग सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' (२६१) के अनुसार यहां वकार को सम्प्रसारण नहीं होता । इसी प्रकार 'विध्यतः' आदि जानने चाहियें । लँट् में रूपमाला यथा—विध्यति, विध्यतः, विध्यन्ति । विध्यसि, विध्यथः, विध्यथ । विध्यामि, विध्यावः, विध्यामः ।

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन में तिप् को णल् तथा द्वित्वकार्य करने पर—व्यध्+व्यध्+अ । अब 'लिँट्यभ्यासस्योभयेषाम्' (५४६) से अभ्यास को सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप, तथा 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि करने से 'विव्याध' प्रयोग सिद्ध होता है । द्विवचन में 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) द्वारा अतुस् कित् होता है अतः 'सम्प्रसारणं तदाश्रयञ्च कार्यं बलवत्' (प०) के अनुसार

द्वित्व से पूर्व 'ग्रहिज्या०' सूत्र से सम्प्रसारण हो कर पूर्वरूप हो जाता है—विध्+अतुस्। अब द्वित्वादि कार्य करने पर 'विविधतुः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार बहुवचन में—विविधुः। म० पु० का एकवचन थल् न तो कित् है, और न ही ङित्, अतः पहले सम्प्रसारण न हो कर द्वित्व करने के बाद अभ्यास को ही सम्प्रसारण (५४६) होता है—विव्यधिथ। भारद्वाजनियम के कारण इट् के अभाव में 'विव्यध्+थ' यहाँ 'झषस्तथोर्धोऽधः' (५४९) से थकार को धकार तथा 'झलां जश्झशि' (१९) से धातु के धकार को जश्त्व-दकार होकर 'विव्यद्ध' रूप सिद्ध होता है। वस् और मस् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है। रूपमाला यथा—विव्याध, विविधतुः, विविधुः। विव्यधिथ-विव्यद्ध, विविधथुः, विविध। विव्याध-विव्यध, विविधिव, विविधिम।

लुँट्—में इण्निषेध हो कर 'व्यध्+ता' इस स्थिति में 'झषस्तथोर्धोऽधः' (५४९) से तकार को धकार तथा 'झलां जश्झशि' (१९) से धातु के धकार को जश्त्व दकार करने पर—व्यद्धा। रूपमाला यथा—व्यद्धा, व्यद्धारौ, व्यद्धारः। लृँट्—में 'खरि च' (७४) से सर्वत्र चर्त्व हो जाता है—व्यत्स्यति, व्यत्स्यतः, व्यत्स्यन्ति।

लोँट्—में लँट् की तरह ङित्त्व के कारण सर्वत्र सम्प्रसारण हो जाता है—विध्यतु-विध्यतात्, विध्यताम्, विध्यन्तु। लँङ्—अविध्यत्, अविध्यताम्, अविध्यन्। वि० लिँङ्—विध्येत्, विध्येताम्, विध्येयुः। आ० लिँङ्—में यासुट् के कित् होने से सम्प्रसारण हो जाता है—विध्यात्, विध्यास्ताम्, विध्यासुः।

लुँङ्— प्र० पु० के एकवचन में 'अव्यध्+स्+ईत्' इस स्थिति में हलन्तलक्षणा वृद्धि हो कर चर्त्व करने से 'अव्यात्सीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में हलन्तलक्षणा वृद्धि हो कर—अव्याध्+स्+ताम्। 'झलो झलि' (४७८) से सकार का लोप—अव्याध्+ताम्। अब 'झषस्तथोर्धोऽधः' (५४९) से तकार को धकार तथा 'झलां जश्झशि' (१९) से धातु के धकार को जश्त्व-दकार करने पर 'अव्याद्धाम्' प्रयोग सिद्ध होता है। बहुवचन में 'सिँजभ्यस्त०' (४४७) से झि को जुस् आदेश हो कर हलन्तलक्षणा वृद्धि तथा चर्त्व करने पर—अव्यात्सुः। इसी प्रकार आगे भी प्रक्रिया होती है। रूपमाला यथा—अव्यात्सीत्, अव्याद्धाम्, अव्यात्सुः। अव्यात्सीः, अव्याद्धम्, अव्याद्ध। अव्यात्सम्, अव्यात्स्व, अव्यात्स्म। लृँङ्—अव्यत्स्यत्, अव्यत्स्यताम्, अव्यत्स्यन्।

[लघु०] पुष पुष्टौ ॥१०॥ पुष्यति। पुपोष। पुपोषिथ। पोष्टा। पोक्ष्यति। पुषादिद्युताद्दि० (५०७) इत्यङ्—अपुषत् ॥

अर्थः—पुष् धातु 'पालना या पुष्ट करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी तथा षकारान्त अनुदात्तों में पठित होने से अनिट् है। लिंट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है। धातु के अकारवान् अथवा अजन्त न होने से थल् में भारद्वाजनियम से इट् को विकल्प न होगा अपितु नित्य ही इट् होगा।

लँट्—श्यन् के ङित्त्व के कारण लघूपधगुण नहीं होता—पुष्यति, पुष्यतः, पुष्यन्ति। लिँट्—पित्प्रत्ययों में लघूपधगुण तथा अन्यत्र कित्त्व के कारण उस का निषेध हो जाता है—पुपोष, पुपुषतुः, पुपुषुः। पुपोषिथ, पुपुषथुः, पुपुष। पुपोष, पुपुषिव, पुपुषिम। लुँट्—इण्निषेध हो कर लघूपधगुण तथा ष्टुत्व हो जाता है—पोष्टा, पोष्टारौ, पोष्टारः। लृँट्—में लघूपधगुण हो कर 'षढोः कः सि' (५४८) से धातु के षकार को ककार तथा 'आदेशप्रत्यययोः (१५०) से 'स्य' के सकार को षकार हो जाता है—पोक्ष्यति, पोक्ष्यतः, पोक्ष्यन्ति। लोँट्—पुष्यतु-पुष्यतात्, पुष्यताम्, पुष्यन्तु। लँङ्—अपुष्यत्, अपुष्यताम्, अपुष्यन्। वि० लिँङ्—पुष्येत्, पुष्येताम्, पुष्येयुः। आ० लिँङ्—यासुट् के कित्त्व के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है—पुष्यात्, पुष्यास्ताम्, पुष्यासुः। लुँङ्—में 'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु' (५०७) से च्लि को अङ् आदेश हो जाता है। अङ् के ङित् के कारण लघूपधगुण नहीं होता—अपुषत्, अपुषताम्, अपुषन्। लृँङ्—अपोक्ष्यत्, अपोक्ष्यताम्, अपोक्ष्यन्।

[लघु०] शुष शोषणे ॥११॥ शुष्यति। शुशोष। अशुषत् ॥

अर्थः—शुष् धातु 'सूखना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—ध्यान रहे कि इस धातु का अर्थ 'सूखना' है 'सुखाना' नहीं। 'सुखाना' अर्थ विवक्षित होने पर णिजन्त का प्रयोग करना पड़ता है—न शोषयति मारुतः (गीता २.२३)। यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में पठित होने

---

१. दिवादिगण में अधिकांश धातु अकर्मक हैं, 'षिवुँ तन्तुसन्ताने, असुँ क्षेपणे' आदि की तरह सकर्मक धातुएं थोड़ी हैं। पर यह पुष् धातु सकर्मक-अकर्मक उभयविध प्रयुक्त होती है। यद्यपि इस के सकर्मक प्रयोग बहुप्रचलित हैं। यथा—वपुरभिनवमस्याः पुष्यति स्वां न शोभाम् (शाकु० १.१९); नार्यमणं पुष्यति नो सखायम् (ऋग्वेद १०.११७.६); पुष्यति कान्तिमग्र्यां (कुमार० ७.७८); तस्मिन्नपुष्यन्नुदिते समग्रां पुष्टिं जनाः पुष्य इव द्वितीये (रघु० १८.३२)। तथापि इसके अकर्मक प्रयोग भी कई स्थानों पर देखे जाते हैं। यथा—पुष्यन्ति न च धातवः (चरक चिकित्सा० ८.२९); धातुः पुष्यति धातुतः (चरक चिकित्सा० ८.३९); पुष्यन्त्यस्मिन्नर्था इति पुष्यो नक्षत्रम् (काशिका ३.१.११६)।

से अनिट् है। थल्सहित लिंट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया तथा रूपमाला 'पुष पुष्टौ' धातु की तरह समझनी चाहिये—

लँट्—शुष्यति, शुष्यतः, शुष्यन्ति। लिंट्—शुशोष, शुशुषतुः, शुशुषुः। शुशोषिथ, शुशुषथुः, शुशुष। शुशोष, शुशुषिव, शुशुषिम। लुंट्—शोष्टा, शोष्टारौ, शोष्टारः। लृँट्—शोक्ष्यति, शोक्ष्यतः, शोक्ष्यन्ति। लोँट्—शुष्यतु-शुष्यतात्, शुष्यताम्, शुष्यन्तु। लँङ्—अशुष्यत्, अशुष्यताम्, अशुष्यन्। वि० लिंङ्—शुष्येत्, शुष्येताम्, शुष्येयुः। आ० लिंङ्—शुष्यात्, शुष्यास्ताम्, शुष्यासुः। लुंङ्—अशुषत्, अशुषताम्, अशुषन्। लृँङ्—अशोक्ष्यत्, अशोक्ष्यताम्, अशोक्ष्यन्।

इसी प्रकार निम्न धातुओं के रूप चलते हैं—

(१) तुष तुष्टौ (प्रसन्न होना)। लँट्—तुष्यति। लिंट्—तुतोष, तुतुषतुः, तुतुषुः। लुंट्—तोष्टा। लृँट्—तोक्ष्यति। लोँट्—तुष्यतु-तुष्यतात्। लँङ्—अतुष्यत्। वि० लिंङ्—तुष्येत्। आ० लिंङ्—तुष्यात्। लुंङ्—अतुषत् (पुषादित्वादङ्)। लृँङ्—अतोक्ष्यत्।

(२) दुष वैकृत्ये (दूषित होना)। लँट्—दुँष्यति। लिंट्—दुदोष, दुदुषतुः, दुदुषुः। लुंट्—दोष्टा। लृँट्—दोक्ष्यति। लोँट्—दुष्यतु-दुष्यतात्। लँङ्—अदुष्यत्। वि० लिंङ्—दुष्येत्। आ० लिंङ्—दुष्यात्। लुंङ्—अदुषत् (पुषादित्वादङ्)। लृँङ्—अदोक्ष्यत्।

(३) क्रुध क्रोधे (क्रोध करना)। लँट्—क्रुध्यति। लिंट्—चुक्रोध। लुँट्—क्रोद्धा। लृँट्—क्रोत्स्यति। लोँट्—क्रुध्यतु-क्रुध्यतात्। लँङ्—अक्रुध्यत्। वि० लिंङ्—क्रुध्येत्। आ० लिंङ्—क्रुध्यात्। लुंङ्—अक्रुधत् (पुषादित्वादङ्)। लृँङ्—अक्रोत्स्यत्।

(४) शुध शौचे (शुद्ध होना)। लँट्—शुध्यति। लिंट्—शुशोध। लुँट्—शोद्धा। लृँट्—शोत्स्यति। लोँट्—शुध्यतु-शुध्यतात्। लँङ्—अशुध्यत्। वि० लिंङ्—शुध्येत्। आ० लिंङ्—शुध्यात्। लुँङ्—अशुधत् (पुषादित्वादङ्)। लृँङ्—अशोत्स्यत्।

(५) षिधुँ निष्पत्तौ (सिद्ध होना)। लँट्—सिध्यति। लिंट्—सिषेध। लुँट्—सेद्धा। लृँट्—सेत्स्यति। लोँट्—सिध्यतु-सिध्यतात्। लँङ्—असिध्यत्। वि० लिंङ्—सिध्येत्। आ० लिंङ्—सिध्यात्। लुँङ्—असिधत् (पुषादित्वादङ्)। लृँङ्—असेत्स्यत्।

[लघु०] णश अदर्शने ॥१२॥ नश्यति। ननाश। नेशतुः ॥

अर्थः—णश (नश्) धातु 'नष्ट होना—लुप्त होना—नेत्रों से ओझल होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—णश् के आदि णकार को 'णो नः' (४५८) सूत्र से नकार आदेश हो कर 'नश्' बन जाता है। यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी है परन्तु शकारान्त अनुदात्तों में पठित न होने से सेट् है। णोपदेश का फल प्र+नश्यति=प्रणश्यति आदि में 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (४५९) द्वारा णत्व करना है। ध्यान रहे कि धातु की षान्तावस्था में यह णत्व 'नशेः षान्तस्य' (८.४.३५) से निषिद्ध हो जाता है—प्र+नष्टः=प्रनष्टः, प्रनष्टवान्।

लँट्—नश्यति, नश्यतः, नश्यन्ति।

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन में तिप् को णल्, द्वित्व, अभ्यासहल्लोप तथा उपधावृद्धि करने से—ननाश। द्विवचन में 'न+नश्+अतुस्' इस स्थिति में 'अत एकहल्मध्ये०' (४६०) द्वारा अत् को एत्व तथा अभ्यासलोप करने से—नेशतुः। इसी प्रकार बहुवचन में—नेशुः। म० पु० के एकवचन में 'नश्+थ' इस अवस्था में धातु के सेट् होने से इट् का आगम प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से विकल्प का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६३५) रधादिभ्यश्च ।७।२।४५॥

रध्, नश्, तृप्, दृप्, द्रुह्, मुह्, ष्णुह्, ष्णिह्—एभ्यो वलाद्यार्धधातुकस्य वेट् स्यात्। नेशिथ॥

अर्थः—रध् (हिंसा करना आदि, दिवा०), नश् (नष्ट होना, दिवा०), तृप् (तृप्त होना, दिवा०), दृप् (अभिमान करना, दिवा०), द्रुह् (द्रोह करना, दिवा०), मुह् (मूढ होना, दिवा०), ष्णुह् (वमन करना, दिवा०), ष्णिह् (स्नेह करना, दिवा०)—इन आठ धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् का आगम हो।

व्याख्या—रधादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम्। आर्धधातुकस्य ।६।१। इट् ।१।१। वलादेः ।६।१। ('आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से)। वा इत्यव्ययपदम्। ('स्वरतिसूति०' से)। अर्थः—(रधादिभ्यः) रध् आदि धातुओं से परे (वलादेः) वलादि (आर्धधातुकस्य) आर्धधातुक का अवयव (इट्) इट् हो जाता है (वा) विकल्प से। रधादि धातु धातुपाठ के दिवादिगण में 'वृत्' द्वारा आठ बताई गई हैं[1]। इनमें तृप् और दृप् अनिट् हैं, उन से परे वलादि आर्धधातुक को इट् का निषेध प्राप्त था; शेष धातु सेट् हैं उन से परे इट् नित्य प्राप्त था। अब इस सूत्र द्वारा सब से परे इट् का विकल्प किया गया है।

---

१. जहाँ तक कोई भाग अभीष्ट होता है वहाँ तक धातुपाठ में 'वृत्' लिख दिया जाता है। यह धातुपाठ की परम्परा है।

'नश्+थ' यहां प्रकृतसूत्र से थकार को विकल्प से इट् का आगम हुआ । इट्पक्ष में द्वित्व तथा 'थलि च सेटि' (४६१) से एत्वाभ्यासलोप करने से 'नेशिथ' रूप बनता है । इट् के अभाव में 'नश्+थ' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है —

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (६३६) मस्जिनशोर्झलि । ७।१।६०॥

नुम् स्यात् । ननंष्ठ । नेशिव-नेश्व, नेशिम-नेश्म । नशिता-नंष्टा । नशिष्यति-नङ्क्ष्यति । नश्यतु । अनश्यत् । नश्येत् । नश्यात् । अनशत् ॥

अर्थः— झलादि प्रत्यय परे होने पर मस्ज् और नश् धातुओं को नुम् का आगम हो ।

व्याख्या —मस्जिनशोः ।६।२। झलि ।७।१। नुम् ।१।१। ('इदितो नुम् धातोः' से) । 'अङ्गस्य' के अधिकृत होने से 'प्रत्यये' पद सुलभ हो जाता है, तब 'झलि' पद को 'प्रत्यये' का विशेषण बना कर तदादिविधि करने से 'झलादौ प्रत्यये' उपलब्ध हो जाता है । अर्थः—(झलि) झलादि प्रत्यय परे होने पर (मस्जिनशोः) मस्ज् और नश् का अवयव (नुम्) नुम् हो जाता है । नुम् में उकार उच्चारणार्थक और मकार इत्सञ्ज्ञक हैं, अतः मित् होने से यह अन्त्य अच् से परे किया जायेगा । मस्ज् के उदाहरण आगे आयेंगे, यहां नश् का उदाहरण प्रकृत है ।

'नश्+थ' यहां इट् के अभावपक्ष में झलादि प्रत्यय 'थ' परे विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से नश् को नुम् का आगम होकर 'ननश्+थ' हुआ । अब द्वित्व और अभ्यासकार्य करने पर —न+ननश+थ । 'व्रश्चभ्रस्ज०' (३०७) से शकार को षकार तथा 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से थकार को ठकार करने से—न+ननष्+ठ । अन्त में 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' (७८) से अपदान्त नकार को अनुस्वार किया तो 'ननंष्ठ' प्रयोग सिद्ध हुआ । वस् और मस् के इट्पक्ष में—नेशिव, नेशिम । इट् के अभाव में—नेश्व, नेश्म । लिंट् में रूपमाला यथा—ननाश, नेशतुः, नेशुः । नेशिथ-ननंष्ठ, नेशथुः, नेश । ननाश-ननश, नेशिव-नेश्व, नेशिम-नेश्म ।

लुंट्—के इट्पक्ष में 'नशिता' । इट् के अभाव में 'नश्+ता' इस स्थिति में नुम् का आगम, शकार को षकार, ष्टुत्व तथा अपदान्त नकार को अनुस्वार करने पर 'नंष्टा'[1] । रूपमाला यथा—(इट्पक्षे) नशिता, नशितारौ, नशितारः । (इटोऽभावे) नंष्टा, नंष्टारौ, नंष्टारः ।

लृंट्—के इट्पक्ष में 'नशिष्यति' । इट् के अभाव में नुम् का आगम होकर— ननश्+स्य+ति । 'व्रश्चभ्रस्ज०' (३०७) से षत्व, 'षढोः कः सि' (५४८) से षकार को ककार, 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से स्य के सकार को षकार, 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' (७८) से अपदान्त नकार को अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि०' (७९) से

---

१ 'नंष्+ता' यहां पदान्त न होने से 'नशेर्वा' (३४९) द्वारा कुत्व नहीं होता।

परसवर्ण ङकार करने पर 'नङ्क्ष्यति'। रूपमाला यथा—(इट्पक्षे) नशिष्यति, नशिष्यतः, नशिष्यन्ति। (इटोऽभावे) नङ्क्ष्यति, नङ्क्ष्यतः, नङ्क्ष्यन्ति।

लोट्—नश्यतु-नश्यतात्, नश्यताम्, नश्यन्तु। लङ्— अनश्यत्, अनश्यताम् अनश्यन्। वि० लिङ्—नश्येत्, नश्येताम्, नश्येयुः। आ० लिङ्—नश्यात्, नश्यास्ताम्, नश्यासुः। झलादि न होने से नुम् का आगम नहीं होता। लुङ्—में 'पुषादि०' (५०७) से च्लि को अङ् आदेश हो जाता है—अनशत्, अनशताम्, अनशन्। लृङ्—(इट्पक्षे) अनशिष्यत्, अनशिष्यताम्, अनशिष्यन्। (इटोऽभावे) अनङ्क्ष्यत्, अनङ्क्ष्यताम्, अनङ्क्ष्यन्।

(यहां पर दिवादिगण की परस्मैपदी धातुओं का विवेचन समाप्त होता है)

अब दिवादिगण की आत्मनेपदी धातुओं का वर्णन प्रारम्भ होता है —

[लघु०] षूङ् प्राणिप्रसवे ॥१३॥ सूयते। सुषुवे। क्रादिनियमाद् इट् — सुषुविषे। सुषुविवहे, सुषुविमहे। सविता, सोता॥

अर्थः—षूङ् (सू) धातु 'प्राणियों को पैदा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या— प्रसवः—उत्पादनम्, प्राणिनाम्प्रसवः—प्राणिप्रसवः। वृक्ष भी प्राणी होते हैं [1] अतः 'प्रसूनास्तरवः' आदि प्रयोग देखे जाते हैं [2]। ङकारानुबन्ध के कारण षूङ् धातु आत्मनेपदी है। 'धात्वादेः षः सः' (२५५) से इस के आदि षकार को सकार होकर 'सू' बन जाता है। षोपदेश के कारण 'सुषुवे' आदि में षत्व सिद्ध हो जाता है। ऊदन्त होने से यह धातु यद्यपि सेट् है तथापि 'स्वरति-सूति-सूयति०' (४७६) में परिगणित होने से वेट् है। लिट् में 'श्र्युकः किति' (६५०) से सर्वथा निषेध प्राप्त होने पर क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है। रूपमाला यथा—

लट्—सूयते, सूयेते, सूयन्ते। सूयसे, सूयेथे, सूयध्वे। सूये, सूयावहे, सूयामहे।

लिट्—में कहीं स्वतः और कहीं इडागम के कारण अजादि-प्रत्यय उपलब्ध है अतः 'अचि श्नु०' (१९९) से सब जगह ऊकार को उवँङ् आदेश हो जाता है—सुषुवे,

---

१. येन प्राणन्ति वीरुधः—अथर्व० १.५.३२.१। तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना। अन्तःसञ्ज्ञा भवन्त्येते सुख-दुःखसमन्विताः (मनु० १.४९)।

२. तत्त्वबोधिनीकार श्रीज्ञानेन्द्रस्वामी का कथन है कि लोक में 'मृत्पिण्डो घटं सूयते' इत्यादि प्रयोगों का अभाव होने से धातु के अर्थनिर्देश में 'प्राणि' शब्द का ग्रहण किया गया है। परन्तु अन्य अनेक वैयाकरण यहां 'प्राणि' ग्रहण को अतन्त्र (गौण) मानते हैं। अत एव 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराऽचरम्' (गीता ९.१०) तथा हलायुध का 'धर्ममर्थः प्रसूयते' यह वचन उपपन्न हो जाता है। इस विषय पर श्रीकृष्णलीलाशुकमुनिकृत पुरुषकारवार्त्तिक में अच्छा प्रकाश डाला गया है, विशेष-जिज्ञासु वहीं देखें।

सुषुवाते, सुषुविरे । सुषुविषे, सुषुवाथे, सुषुविढ्वे-सुषुविध्वे ('विभाषेटः' ५२७)। सुषुवे, सुषुविवहे, सुषुविमहे ।

लुँट्— में वैकल्पिक इट् होकर दोनों पक्षों में गुण हो जाता है — (इट्पक्षे) सविता, सवितारौ, सवितारः । सवितासे — । (इटोऽभावे) सोता, सोतारौ, सोतारः । सोतासे — । लृँट्— (इट्पक्षे) सविष्यते, सविष्येते, सविष्यन्ते । (इटोऽभावे) सोष्यते, सोष्येते, सोष्यन्ते । लोँट् — सूयताम्, सूयेताम्, सूयन्ताम् । लँङ्— असूयत, असूयेताम्, असूयन्त । वि० लिँङ्—सूयेत, सूयेयाताम्, सूयेरन् । आ० लिँङ् —(इट्पक्षे) सविषीष्ट, सविषीयास्ताम्, सविषीरन् । (इटोऽभावे) सोषीष्ट, सोषीयास्ताम्, सोषीरन् । लुँङ्— (इट्पक्षे) असविष्ट, असविषाताम्, असविषत । असविष्ठाः, असविषाथाम्, असविढ्वम्-असविध्वम् । असविषि, असविष्वहि, असविष्महि । (इटोऽभावे) असोष्ट, असोषाताम्, असोषत । असोष्ठाः, असोषाथाम्, असोढ्वम् । असोषि, असोष्वहि, असोष्महि । लृँङ् —(इट्पक्षे) असविष्यत, असविष्येताम्, असविष्यन्त । (इटोऽभावे) असोष्यत, असोष्येताम्, असोष्यन्त ।

उपसर्गयोग—इस धातु का अधिकतर प्रपूर्वक प्रयोग देखा जाता है । यथा—

एकं प्रसूयते माता द्वितीयं वाक् प्रसूयते ।
वाग्जातमधिकं प्राहुः सोदर्यादपि बान्धवात् ॥ (पञ्च० ४.६)

[लघु०] दूङ् परितापे ॥१४॥ दूयते ॥

अर्थः—दूङ् (दू) धातु दुःखी होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—यह धातु अकर्मक ही देखी जाती है । यथा—तया हीनं विधातर्मां कथं पश्यन्न दूयसे (रघु० १.७०), न दूये सात्वतीसूनुर्यन्मह्यमपराध्यति (माघ २.११) । परन्तु कविकल्पद्रुम के व्याख्याता श्रीदुर्गादास तथा बालमनोरमाकार श्रीवासुदेवदीक्षित आदियों ने इसे सकर्मक भी माना है- दूयते दैन्यं जनम् (दीनता मनुष्य को दुःखी करती है) दूयते दीनं खलजनः (दुष्ट आदमी दीन को दुःखी करता है) । ङकारानुबन्ध के कारण यह धातु आत्मनेपदी तथा ऊदन्त होने से सेट् है । स्वरतिसूति० आदियों में पाठ के न होने से इसे कहीं इट् का विकल्प नहीं होता । रूपमाला यथा—लँट्—दूयते, दूयेते, दूयन्ते । लिँट्—दुदुवे, दुदुवाते, दुदुविरे । दुदुविषे, दुदुवाथे, दुदुविढ्वे-दुदुविध्वे (विभाषेटः ५२७) । दुदुवे, दुदुविवहे, दुदुविमहे । लुँट्—दविता, दवितारौ, दवितारः । दवितासे — । लृँट्— दविष्यते, दविष्येते, दविष्यन्ते । लोँट् — दूयताम्, दूयेताम्, दूयन्ताम् । लँङ्—अदूयत, अदूयेताम्, अदूयन्त । वि० लिँङ्—दूयेत, दूयेयाताम्, दूयेरन् । आ० लिँङ्—दविषीष्ट, दविषीयास्ताम्, दविषीरन् । लुँङ्— अदविष्ट, अदविषाताम्, अदविषत । अदविष्ठाः, अदविषाथाम्, अदविढ्वम्-अदविध्वम् । अदविषि, अदविष्वहि, अदविष्महि । लृँङ्— अदविष्यत, अदविष्येताम्, अदविष्यन्त ।

[लघु०] **दीङ् क्षये ।।१५।। दीयते ।।**

अर्थः—दीङ् (दी) धातु 'नष्ट होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—लौकिक साहित्य में इस के अत्यन्त विरल प्रयोग पाये जाते हैं। महाभाष्य में इस का पांच स्थानों पर उपपूर्वक प्रयोग किया गया है— उपादास्त अस्य स्वरः शिक्षकस्य (इस शिक्षक का स्वर क्षीण हो गया अर्थात् गला बैठ गया है; १.१.२० पर)। इस धातु से बना 'दीन' शब्द लोक में अत्यन्त प्रसिद्ध है। ङकारानुबन्ध के कारण यह धातु आत्मनेपदी तथा 'ऊदृदन्तैः०' के अनुसार अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से इट् हो जायेगा।

लँट्— दीयते, दीयेते, दीयन्ते। दीयसे, दीयेथे, दीयध्वे। दीये, दीयावहे, दीयामहे।

लिँट्— प्र० पु० के एकवचन में तकार को एकार आदेश होकर 'दी+ए' इस स्थिति में 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से 'ए' के कित् होने के कारण गुण का निषेध होकर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— **(६३७) दीङो युँडचि क्ङिति ।६।४।६३।।**

दीङः परस्य अजादेः क्ङित आर्धधातुकस्य युँट् ।।

अर्थः— दीङ् से परे अजादि कित् ङित् आर्धधातुक को युँट् का आगम हो।

व्याख्या— दीङः ।५।१। युँट् ।१।१। अचि ।७।१। क्ङिति ।७।१। आर्धधातुके ।७।१। (यह अधिकृत है)। 'अचि' यह 'आर्धधातुके' का विशेषण है अतः विशेषण से तदादिविधि होकर 'अजादौ क्ङित्यार्धधातुके' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(दीङः) दीङ् से परे (अचि-अजादौ) अजादि (क्ङिति) कित् ङित् (आर्धधातुके) आर्धधातुक परे हो तो (युँट्) युँट् हो जाता है। युँट् में 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा टकार की तथा 'उपदेशेऽजनु०' (२८) से अनुनासिक उकार की इत्सञ्ज्ञा होकर लोप हो जाने से 'य्' ही अवशिष्ट रहता है। युँट् टित् है, टित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) द्वारा इसे आद्यवयव होना है परन्तु यह किस का आद्यवयव हो, दीङ् का या अजादि प्रत्यय का ? यह यहां प्रश्न उत्पन्न होता है। इस का उत्तर यह है कि 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' इस परिभाषा के अनुसार यह अजादि प्रत्यय ही का आद्यवयव बनेगा, दीङ् का नहीं। इस का विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में 'ङः सि धुट्' (८४) सूत्र पर कर चुके हैं वहीं देखें।

'दी+ए' यहाँ दीङ् धातु के परे 'ए' यह अजादि कित् विद्यमान है अतः इसे युँट् का आगम होकर 'दी+ये' बना। अब द्वित्व तथा अभ्यास को ह्रस्व करने पर 'दिदीये' रूप सिद्ध होता है।

अब यहाँ एक शङ्का उत्पन्न होती है कि नित्य होने से युँडागम को पहले कर लेने पर भी 'दिदी+ये' इस स्थिति में 'असिद्धवदत्राभात्' (५६२) से युँट् के

असिद्ध होने से सामने अजादि प्रत्यय के आ जाने के कारण 'एरनेकाचः०' (२००) द्वारा यण् क्यों न कर दिया जाये ? इसके समाधान के लिए अग्रिमवार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(३८) वुँग्युँटावुवँङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ ॥ दिदीये ॥

अर्थः—उवँङ् करने में वुँक् को तथा यण् करने में युँट् को सिद्ध कहना चाहिये।

व्याख्या—यह वार्त्तिक 'असिद्धवदत्राभात्' (५६२) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है। यहाँ यथासंख्यपरिभाषा का आश्रय लिया जाता है। उवँङ् करने में वुँक् सिद्ध होता है। यथा—'बभूव्+अतुस्' यहाँ 'असिद्धवदत्राभात्' से वुँक् को असिद्ध समझ कर 'अचि श्नु०' (१९९) से ऊकार को उवँङ् प्राप्त होता था परन्तु अब इस वार्तिक से उसके सिद्ध हो जाने से अजादि प्रत्यय परे न रहने के कारण नहीं होता।

यण् करने में युँट् सिद्ध होता है। यथा—'दिदी+ये' यहां युँट् को असिद्ध समझ कर यण् करना था परन्तु अब इस वार्त्तिक से उसके सिद्ध हो जाने से अजादि प्रत्यय परे न रहने से यण् नहीं होता 'दिदीये' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'दिदीयाते' आदियों में भी समझ लेना चाहिये। लिँट् में रूपमाला यथा— दिदीये, दिदीयाते, दिदीयिरे। दिदीयिषे, दिदीयाथे, दिदीयिढ्वे-दिदीयिध्वे ('विभाषेटः' ५२७)। दिदीये, दिदीयिवहे, दिदीयिमहे।

लुँट् की विवक्षा में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम् (६३८) मीनाति-मिनोति-दीङां ल्यपि च। ६।१।४९॥

एषाम् आत्वं स्याल्ल्यपि चाद् अशित्येज्निमित्ते। दाता। दास्यति॥

अर्थः—ल्यप् के विषय में या एच् करने में निमित्त शिद्भिन्न प्रत्यय के विषय में मीञ् (हिंसा करना, क्र्या० उभय०), मिञ् (फेंकना, स्वा० उभय०) और दीङ् (नष्ट होना, दिवा० आत्मने०) धातुओं को आकार अन्तादेश हो जाता है।

व्याख्या—मीनाति-मिनोति-दीङाम् ।६।३। ल्यपि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। 'आदेच उपदेशेऽशिति' सूत्र का अनुवर्त्तन होता है। 'उपदेशे' की अनुवृत्ति आने से यह आत्व उपदेश में ही हो जाता है। परन्तु यदि यह उपदेश में हो तो ल्यप् आदि का परे रहना कैसे सम्भव हो सकता है? अतः 'ल्यपि' में विषयसप्तमी मान ली जाती है। 'एचः' को 'मीनाति' आदियों का विशेषण नहीं मान सकते क्योंकि इन में से कोई भी धातु एजन्त नहीं है। अतः 'एचः' को भी 'विषये' से सम्बद्ध कर लिया जाता है—

एच् के विषय में अर्थात् एच् को उत्पन्न करने वाले प्रत्यय के विषय में[1] । अर्थः—(मीनाति-मिनोति-दीङाम्) मीञ्, मिञ् और दीङ् धातुओं के स्थान पर (आत्) आकार आदेश हो जाता है (ल्यपि) ल्यप् का विषय हो या (अशिति) शित्-भिन्न (एचः—एजिनमित्ते प्रत्यये) ऐसे प्रत्यय का विषय हो जो धातु में एच् उत्पन्न कर देता हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह आकार धातु के अन्त्य अल्-इकार को ही किया जायेगा। उदाहरण यथा—

मीञ्—(ल्यपि) प्रमाय। (एजिनमित्तप्रत्यये) प्रमाता। प्रमास्यति।

मिञ्—(ल्यपि) निमाय। (एजिनमित्तप्रत्यये) निमाता। निमास्यति।

दीङ्—(ल्यपि) उपदाय। (एजिनमित्तप्रत्यये) उपदाता। उपदास्यति।

यहां दीङ् धातु से हमें लुँट् की विवक्षा है। लुँट् के होने पर त, तास् आदियों के आ जाने से 'दी' के ईकार को आर्धधातुक गुण हो कर एकार-एच् हो सकता है अतः लुँट् एजिनमित्तक प्रत्यय है। इसकी विवक्षा में प्रकृतसूत्र से उपदेशमात्र में ही दीङ् के ईकार को आकार हो कर 'दा' बन गया। अब इस से आगे लुँट्, त, तास् आदियों के करने पर दाता, दातारौ, दातारः। दातासे—आदि रूप बनते हैं।

यहां 'अशिति' की अनुवृत्ति लाना व्यर्थ है, क्योंकि शित्प्रत्यय इन धातुओं में कभी एच् के निमित्त नहीं हो सकते। वहां सर्वत्र 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित्व के कारण गुण का निषेध हो जायेगा।

लृँट्— में 'स्य' एजिनमित्तक प्रत्यय है अतः उस की कर्त्तव्यता में आकार आदेश हो जायेगा— दास्यते, दास्येते, दास्यन्ते।

लोँट्— दीयताम्, दीयेताम्, दीयन्ताम्। लँङ्— अदीयत, अदीयेताम्, अदीयन्त। वि० लिँङ्— दीयेत, दीयेयाताम्, दीयेरन्। आ० लिँङ्— में सीयुट् एजिनमित्तक प्रत्यय है अतः पहले ही आत्व हो जायेगा— दासीष्ट, दासीयास्ताम्, दासीरन्।

लुँङ्— में सिँच् एजिनमित्तक प्रत्यय है अतः आत्व होकर 'अदा+स्+त' हुआ। अब यहां धातु का 'दा' रूप होने से 'दाधा घ्वदाप्' (६२३) द्वारा घुसञ्ज्ञा हो जाने के कारण 'स्थाघ्वोरिच्च' (६२४) से इत्व प्राप्त होता है परन्तु यह अनिष्ट है।

---

१. विषयसप्तमी मानने से ही 'भावे' (८५१) सूत्रद्वारा सामान्यविहित घञ् प्रत्यय होकर युँक् का आगम (७५७) करने पर 'उपदायः' रूप सम्भव हो सकता है। अन्यथा 'एरच्' (८५५) से इवर्णान्तलक्षण अच् प्रत्यय होकर अनिष्ट रूप बन जाता।

अतः इसके वारण करने के लिये अग्रिमवार्तिक प्रवृत्त होता है[1]—

[लघु०] वा०—(३६) स्थाघ्वोरित्त्वे दीङः प्रतिषेधः ॥

अदास्त ।

अर्थः—'स्थाघ्वोरिच्च' (६२४) सूत्र के विषय में दीङ् का निषेध होता है।

व्याख्या—इस निषेध के कारण 'अदा+स्+त' में इत्व न हुआ तो 'अदास्त' रूप सिद्ध हुआ। इसी प्रकार आगे भी समझ लें। लुंङ् में रूपमाला यथा—अदास्त, अदासाताम्, अदासत। अदास्थाः, अदासाथाम्, अदाध्वम् ('धि च' ५१५)। अदासि, अदास्वहि, अदास्महि।

लृँङ्—अदास्यत, अदास्येताम्, अदास्यन्त।

[लघु०] डीङ् विहायसा गतौ ॥१६॥ डीयते। डिड्ये। डयिता॥

अर्थः—डीङ् (डी) धातु 'आकाशमार्गद्वारा गमन अर्थात् उड़ना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—क्षीरस्वामिकृत 'क्षीरतरङ्गिणी' तथा देवकृत 'दैवम्' में यहां पर 'डीङ् विहायसा गतौ' पाठ उपलब्ध होता है। वहां 'विहायस्' शब्द आकाशवाचक न हो कर पक्षिवाचक है, जैसाकि कोष का वचन है—'विहायाः शकुनौ पुंसि, गगने पुन्नपुंसकम्'। नैषधकार ने पक्षिवाचक विहायस् (पुं०) शब्द का प्रयोग भी किया है—अमोचि चञ्चूपुटमौनमुद्रा विहायसा तेन विहस्य भूयः (नैषध ३.९६)। काशकृत्स्न धातुपाठ के व्याख्याता श्रीचन्नवीरकवि तथा धातुरूपकल्पद्रुम के निर्माता श्रीगुरुनाथविद्यानिधि भी इसी पाठ के समर्थक हैं। डीङ् में ङकारानुबन्ध आत्मनेपद के लिए है। 'ऊदृदन्तैः०' कारिका में परिगणित होने से यह धातु सेट् है। रूपमाला यथा—

लँट्—डीयते, डीयेते, डीयन्ते। लिँट्—सर्वत्र 'एरनेकाचः०' (२००) से यण् हो जाता है—डिड्ये, डिड्याते, डिड्यिरे। डिड्यिषे, डिड्याथे, डिड्यिढ्वे-डिड्यिध्वे ('विभाषेटः' ५२७)। डिड्ये, डिड्यिवहे, डिड्यिमहे। लुँट्—डयिता, डयितारौ, डयितारः। डयितासे—। लृँट्—डयिष्यते, डयिष्येते, डयिष्यन्ते। लोँट्—

---

१. वस्तुतः 'दाधाघ्वदाप्' (६२३) में 'दा, दे, दो, धे, धा' आदि मूल धातुओं का अनुकरण किया गया है। 'प्रकृतिवदनुकरणं भवति' के अनुसार अनुकरण को प्रकृतिवत् मान कर एजन्त स्थलों में 'आदेच उपदेशेऽशिति' (४९३) से निर्निमित्तक आत्व किया हुआ है। यह आत्व दीङ् के अनुकरण में सम्भव नहीं है क्योंकि 'मीनातिमिनोति०' (६३८) वाला आत्व निर्निमित्तक नहीं, अतः दीङ् की घुसञ्ज्ञा न होने से 'स्थाघ्वोरिच्च' (६२४) सूत्र द्वारा उसमें इत्त्व प्राप्त ही नहीं, जब इत्त्व प्राप्त ही नहीं तो पुनः निषेध कैसा ? वार्तिककार का अभिप्राय आकरग्रन्थों में देखना चाहिए।

डीयताम्, डीयेताम्, डीयन्ताम्। लँङ्—अडीयत, अडीयेताम्, अडीयन्त। वि० लिँङ्—डीयेत, डीयेयाताम्, डीयेरन्। आ० लिँङ्—डयिषीष्ट, डयिषीयास्ताम्, डयिषीरन्। लुँङ्—अडयिष्ट, अडयिषाताम्, अडयिषत। अडयिष्ठाः, अडयिषाथाम्, अडयिढ्वम्-अडयिध्वम्। अडयिषि, अडयिष्वहि, अडयिष्महि। लृँङ्—अडयिष्यत, अडयिष्येताम्, अडयिष्यन्त।

उपसर्गयोग—इस धातु का प्रायः उद्पूर्वक प्रयोग देखा जाता है। उड्डीयते=उड़ता है (उदडीयत पक्षिभिः—नैषध २.५)।

[लघु०] पीङ् पाने ॥१७॥ पीयते। पेता। अपेष्ट ॥

अर्थः—पीङ् (पी) धातु 'पीना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—ङित् होने से यह धातु पूर्ववत् आत्मनेपदी है। परन्तु ऊद्दन्तैः० में परिगणित न होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र इट् हो जाता है—

लँट्—पीयते[1], पीयेते, पीयन्ते। लिँट्—पिप्ये, पिप्याते, पिप्यिरे। पिप्यिषे, पिप्याथे, पिप्यिढ्वे-पिप्यिध्वे (विभाषेटः ५२७)। पिप्ये, पिप्यिवहे, पिप्यिमहे। लुँट्—पेता, पेतारौ, पेतारः। पेतासे—। लृँट्—पेष्यते, पेष्येते, पेष्यन्ते। लोँट्—पीयताम्, पीयेताम्, पीयन्ताम्। लँङ्—अपीयत, अपीयेताम्, अपीयन्त। वि० लिँङ्—पीयेत, पीयेयाताम्, पीयेरन्। आ० लिँङ्—पेषीष्ट, पेषीयास्ताम्, पेषीरन्। लुँङ्—अपेष्ट, अपेषाताम्, अपेषत। अपेष्ठाः, अपेषाथाम्, अपेढ्वम्। अपेषि, अपेष्वहि, अपेष्महि। लृँङ्—अपेष्यत, अपेष्येताम्, अपेष्यन्त।

उपसर्गयोग—इस का बहुधा नि-पूर्वक प्रयोग देखा जाता है। यथा—निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां तथाऽऽद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि (नैषध १.१)। ध्यान रहे कि 'पा पाने' का ल्यबन्त रूप 'निपाय' बनता है वहाँ 'न ल्यपि' (६.४.६९) से ईत्व का निषेध हो जाता है।

[लघु०] माङ् माने ॥१८॥ मायते। ममे ॥

अर्थः—माङ् (मा) धातु 'मापना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—वर्त्तमान उपलब्ध वैदिक वा लौकिक साहित्य में हमें इस धातु का कहीं प्रयोग नहीं मिला। श्रीकृष्णलीलाशुकमुनि पुरुषकारवार्त्तिक में लिखते हैं कि इस धातु का उल्लेख केवल मैत्रेयरक्षित ने किया है। क्षीरस्वामी का क्षीरतरङ्गिणी में कथन है कि इस धातु को दुर्ग ही पढ़ते हैं अन्य वैयाकरण नहीं। इस से प्रतीत होता है कि यह धातु पाणिनीयव्याकरण में बाद में प्रक्षिप्त की गई है। अत एव न्यासकार श्रीजिनेन्द्रबुद्धि तथा पदमञ्जरीकार श्रीहरदत्त को इस धातु का कुछ पता नहीं (देखें ६.४.६६; ७.४.४० तथा ७.४.५४ सूत्रों पर उनकी व्याख्याएं)। ङकारानुबन्ध के कारण यह धातु आत्मनेपदी तथा 'ऊद्दन्तैः०' कारिका में परिगणित

१. परयाऽपि तृषा विबाधितो न हि रथ्यागतमम्बु पीयते—क्षीरस्वामी।

न होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जायेगा। रूपमाला यथा—

लँट्—**मायते, मायेते, मायन्ते**। लिँट्—**ममे, ममाते, ममिरे**। लुँट्—**माता, मातारौ, मातारः**। **मातासे**—। लृँट्—**मास्यते, मास्येते, मास्यन्ते**। लोँट्—**मायताम्, मायेताम्, मायन्ताम्**। लँङ्—**अमायत, अमायेताम्, अमायन्त**। वि० लिँङ्—**मायेत, मायेयाताम्, मायेरन्**। आ० लिँङ्—**मासीष्ट, मासीयास्ताम्, मासीरन्**। लुँङ्—**अमास्त, अमासाताम्, अमासत**। लृँङ्—**अमास्यत, अमास्येताम्, अमास्यन्त**।

[लघु०] **जनीँ प्रादुर्भावे ॥१६॥**

अर्थः—जनीँ (जन्) धातु 'उत्पन्न होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु वेद-लोक दोनों में अत्यन्त प्रसिद्ध है। जन, जननी, जनक, जाति, जाया, जन्मन्, प्रजा, अज, द्विज आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं। जनीँ में ईकार अनुनासिक एवम् अनुदात्त है अतः इत्सञ्ज्ञक होकर लुप्त हो जाता है, 'जन्' ही अवशिष्ट रहता है। ईदित् करने का प्रयोजन **'श्वीदितो निष्ठायाम्'** (७.२.१४) से निष्ठा में इट् का निषेध करना है—जातः, जातवान् [**'जनसनखनां सञ्झलोः'** (६७६) इत्यात्त्वम्]। अनुदात्तेत् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा नकारान्त अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है।

लँट्—में श्यन् होकर 'जन्+य+ते' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६३६) **ज्ञाजनोर्जा ।७।३।७६॥**

अनयोर्जादेशः स्याच्छिति। जायते। जज्ञे। जनिता। जनिष्यते॥

अर्थः—शित् परे होने पर ज्ञा और जन् धातुओं को 'जा' आदेश हो।

व्याख्या—ज्ञाजनोः ।६।२। जा ।१।१। (लुप्तविभक्तिको निर्देशः)। शिति ।७।१। (**'ष्ठिवुँक्लमुँचमां शिति'** से)। अर्थः—(ज्ञाजनोः) ज्ञा और जन् धातुओं के स्थान पर (जा) 'जा' आदेश हो जाता है (शिति) शित् परे हो तो। अनेकाल् होने से 'जा' आदेश सम्पूर्ण जन् और ज्ञा के स्थान पर होता है। ज्ञा के उदाहरण 'जानाति' आदि आगे क्र्यादिगण में आयेंगे। जन् का उदाहरण यथा—

'जन्+य+ते' यहां 'श्यन्' यह शित् परे है अतः प्रकृतसूत्र से जन् को 'जा' आदेश होकर 'जायते' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार लोँट्, लँङ् और विधिलिँङ् में जहां श्यन् होता है वहां सर्वत्र 'जा' आदेश हो जायेगा। लँट् में रूपमाला यथा—**जायते, जायेते, जायन्ते। जायसे, जायेथे, जायध्वे। जाये, जायावहे, जायामहे।**

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन में 'त' को एश् आदेश तथा द्वित्व आदि करने पर 'ज+जन्+ए' हुआ। अत्र **'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि'** (५००) सूत्र से उपधालोप होकर **'स्तोः श्चुना श्चुः'** (६२) से नकार को ञकार करने से 'जज्ञे' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे 'जज्ञाते' आदि। रूपमाला यथा—**जज्ञे, जज्ञाते जज्ञिरे। जज्ञिषे, जज्ञाथे, जज्ञिध्वे। जज्ञे, जज्ञिवहे, जज्ञिमहे।**

लुट्—जनिता, जनितारौ, जनितारः। जनितासे—। लृट्—जनिष्यते, जनिष्येते, जनिष्यन्ते। लोट्—जायताम्, जायेताम्, जायन्ताम्। जायस्व, जायेथाम्, जायध्वम्। जायै, जायावहै, जायामहै। लङ्—अजायत, अजायेताम्, अजायन्त। अजायथाः, अजायेथाम्, अजायध्वम्। अजाये, अजायावहि, अजायामहि। वि० लिङ्—जायेत, जायेयाताम्, जायेरन्। जायेथाः, जायेयाथाम्, जायेध्वम्। जायेय, जायेवहि, जायेमहि। आ० लिङ्—जनिषीष्ट, जनिषीयास्ताम्, जनिषीरन्।

लुङ्—प्र० पु० के एकवचन में च्लिप्रत्यय होकर 'जन्+च्लि+त' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६४०) दीप-जन-बुध-पूरि-तायि-प्यायिभ्यो-ऽन्यतरस्याम् ।३।१।६१॥

एभ्यश्च्लेश्चिण् वा स्यादेकवचने तशब्दे परे॥

अर्थः—एकवचनवाचक 'त' शब्द परे हो तो दीप्, जन्, बुध्, पूर्, ताय् और प्याय् धातुओं से परे च्लि के स्थान पर विकल्प से चिण् हो।

व्याख्या—दीप-जन-बुध-पूरि-तायि-प्यायिभ्यः ।५।३। अन्यतरस्याम् ।७।१। च्लेः ।६।१। ('च्लेः सिच्' से) चिण् ।१।१। ते ।७।१। ('चिण् ते पदः' से)। दीपी॑ दीप्तौ (चमकना, दिवा० आत्मने०), जनी॑ प्रादुर्भावे (दिवा० आत्मने०), बुध॑ अवगमने[1] (जानना, दिवा० आत्मने०), पूरी॑ आप्यायने (पूर्ण करना, दिवा० आत्मने०), ताय्॑ सन्तानपालनयोः (फैलाना, पालन करना, भ्वा० आत्मने०), ओँप्यायी॑ वृद्धौ (फूलना, भ्वा० आत्मने०)—ये सब धातुएं आत्मनेपदी हैं, इन से परे 'त' प्रत्यय एकवचन में ही प्रयुक्त हो सकता है [यदि धातु परस्मैपदी होती तो मध्यमपुरुष के बहुवचन में भी 'त' आ सकता था] अतः 'त' शब्द से एकवचनवाचक 'त' शब्द ही लिया जायेगा अन्य नहीं। **अर्थः**—(दीप-जन-बुध-पूरि-तायि-प्यायिभ्यः) दीप्, जन्, बुध्, पूर्, ताय् और प्याय् धातुओं से परे (च्लेः) च्लि के स्थान पर (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में (चिण्) चिण् आदेश हो जाता है (ते) एकवचनवाचक 'त' शब्द परे हो तो। दूसरी अवस्था में चिण् न होगा अतः विकल्प सिद्ध हो जायेगा। चिण् के चकार और णकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है, 'इ' मात्र अवशिष्ट रहता है।

'जन्+च्लि+त' यहां जन् से एकवचनवाचक 'त' शब्द परे विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से च्लि के स्थान पर चिण् आदेश होकर अनुबन्धलोप करने से 'जन्+इ+त' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६४१) चिणो लुक् ।६।४।१०४॥

---

१. यहां दीपी॑, जनी॑ आदि आत्मनेपदी धातुओं के साहचर्य से बुध् धातु भी आत्मनेपदी गृहीत होती है।

चिणः परस्य तशब्दस्य लुक् स्यात् ॥

अर्थः—चिण् से परे 'त' का लुक् हो।

व्याख्या—चिणः ।५।१। लुक् ।१।१। अर्थः—(चिणः) चिण् से परे (लुक्) लुक् हो। किस का लुक् हो ? यह नहीं बताया गया। यह सूत्र अङ्गाधिकार में पढ़ा गया है, अङ्गसञ्ज्ञा प्रत्यय के विना हो नहीं सकती अतः 'प्रत्ययस्य' का अध्याहार कर लिया जायेगा। वह प्रत्यय 'त' ही हो सकता है अन्य नहीं; क्योंकि 'त' के परे होने पर ही च्लि को चिण् का विधान किया गया है। 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' (१८६) से प्रत्ययादर्शन की लुक्संज्ञा होने से सम्पूर्ण 'त' का ही लुक् होगा केवल अन्त्य वर्ण का नहीं।

'जन्+इ+त' यहां पर चिण् से परे 'त' का लुक् होकर अङ्ग को अट् का आगम करने पर 'अजनि' बना। अब यहां चिण् के णित्त्व के कारण 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि प्राप्त होती है परन्तु वह अनिष्ट है। अतः उसके निवारणार्थ अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(६४२) जनि-वध्योश्च ।७।३।३५॥

अनयोरुपधाया वृद्धिर्न स्याच्चिणि ञ्णिति कृति च। अजनि—अजनिष्ट ॥

अर्थः—चिण् परे होने पर अथवा कृत्संज्ञक ञित् वा णित् परे होने पर जन् और वध् धातुओं की उपधा को वृद्धि न हो।

व्याख्या—जनि-वध्योः ।६।२। च इत्यव्ययपदम्। उपधायाः ।६।१। ('अत उपधायाः' से)। वृद्धिः ।१।१। ('मृजेर्वृद्धिः' से)। न इत्यव्ययपदम् ('नोदात्तोपदेश०' से)। चिण्कृतोः ।७।२। ('आतो युक् चिण्कृतोः' से)। ञ्णिति ।७।१। ('अचो ञ्णिति' से)। अर्थः—(जनि-वध्योः) जन् और वध् धातुओं की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि (न) नहीं होती (ञ्णिति चिण्कृतोः) चिण् परे हो या ञित्-णित् कृत् परे हो तो। चिण् का उदाहरण प्रकृत में है। ञित् कृत् का उदाहरण—जनः (जन्+घञ्), तथा णित् कृत् का उदाहरण—जनकः (जन्+ण्वुल्) है। वध् के उदाहरण काशिका में देखें।

'अजन्+इ' में चिण् परे है अतः प्रकृतसूत्र से उपधावृद्धि का निषेध हो गया तो 'अजनि' प्रयोग सिद्ध हुआ। जिस पक्ष में चिण् नहीं हुआ वहां 'च्लेः सिँच्' (४३८) से च्लि के स्थान पर सिँच् आदेश होकर इट् का आगम करने पर 'अजनिष्ट' प्रयोग सिद्ध होता है। आगे 'आताम्' आदियों में कहीं चिण् नहीं होता अतः च्लि को सिँच् आदेश होकर केवल एक ही रूप बनता चला जायेगा। लुङ् में रूपमाला यथा—अजनि-अजनिष्ट, अजनिषाताम्, अजनिषत। अजनिष्ठाः, अजनिषाथाम्, अजनिढ्वम्। अजनिषि, अजनिष्वहि, अजनिष्महि।

लृङ्—अजनिष्यत, अजनिष्येताम्, अजनिष्यन्त।

उपसर्गयोग—अधि √ जन् = उत्कृष्ट होना, अधिपति होना (**ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते**—मनु० १.९९)। अनु √ जन् = पीछे पैदा होना, सकर्मक, (**तमजोऽनुजातः**—रघु० ६.७)। उप √ जन् = पैदा होना (**अस्मिंस्तु निर्गुणं गोत्रे नाऽपत्यमुपजायते** – हितोप० प्रस्तावना)। अभि √ जन् = पैदा होना (**कामात्क्रोधोऽभिजायते**—गीता २.६२)। सम् √ जन् = पैदा होना (**बलं सञ्जायते राज्ञः**—मनु० ८.१७२)। प्र √ जन् = पैदा होना (**ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते**—सि० कौ०); पैदा करना (**प्रजायन्ते सुतान् नार्यः**—महाभारत ; **प्रजायते जनयति जजन्ति छान्दसं विदुः**—भट्टमल्ल २.४६)। वि √ जन् = गर्भ को छोड़ना, ब्याना [धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहादकर्मकः। समायां समायां विजायत इति समांसमीना गौः। '**समांसमां विजायते**' (५.२.१२) इति खप्रत्ययः। **समांसमीना सा यैव प्रतिवर्षं प्रसूयते**।]; पैदा होना (**तस्य सदृशः पुत्रो व्यजायत**—रामायण)।

[लघु०] **दीपीँ दीप्तौ** ॥२०॥ दीप्यते। दिदीपे। अदीपि-अदीपिष्ट ॥

अर्थः—दीपीँ (दीप्) धातु 'चमकना या दीप्त होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—दीपीँ में अन्त्य ईकार अनुनासिक तथा अनुदात्त है। इत्सञ्ज्ञा होकर लोप करने से 'दीप्' अवशिष्ट रहता है। ईदित् करने का फल 'दीप्तः, दीप्तवान्' में '**श्वीदितो निष्ठायाम्**' (७.२.१४) द्वारा इण्निषेध करना है। अनुदात्तेत् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है।

लँट्—**दीप्यते**[1], **दीप्येते, दीप्यन्ते**। लिँट्—**दिदीपे, दिदीपाते, दिदीपिरे**। लुँट्—**दीपिता**, दीपितारौ, **दीपितारः**। **दीपितासे**—। लृँट्—**दीपिष्यते, दीपिष्येते, दीपिष्यन्ते**। लोँट्—**दीप्यताम्, दीप्येताम्, दीप्यन्ताम्**। लँङ्—**अदीप्यत, अदीप्येताम्, अदीप्यन्त**। वि० लिँङ्—**दीप्येत, दीप्येयाताम्, दीप्येरन्**। आ० लिँङ्—**दीपिषीष्ट, दीपिषीयास्ताम्, दीपिषीरन्**।

लुँङ्—प्र० पु० के एकवचन में '**दीपजनबुध०**' (६४०) से च्लि को वैकल्पिक चिण् होकर चिण्पक्ष में '**चिणो लुक्**' (३४१) से 'त' का लुक् हो जाता है—**अदीपि-अदीपिष्ट, अदीपिषाताम्, अदीपिषत**। **अदीपिष्ठाः, अदीपिषाथाम्, अदीपिढ्वम्**। **अदीपिषि, अदीपिष्वहि, अदीपिष्महि**।

लृँङ्—**अदीपिष्यत, अदीपिष्येताम्, अदीपिष्यन्त**।

उपसर्गयोग—प्र √ दीप् = प्रदीप्त होना, खूब चमकना, जलना, प्रज्वलित होना (**यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः**—गीता ११.२९)। इसी प्रकार सम्पूर्वक दीप् का भी प्रयोग होता है (**सन्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः**—वैराग्य० ७५)।

---

१. **यथोदयगिरेर्द्रव्यं सन्निकर्षेण दीप्यते।**
तथा सत्सन्निधानेन हीनवर्णोऽपि दीप्यते ॥ (हितो० ४६) ॥

[लघु०] **पदँ गतौ ॥२१॥** पद्यते । पेदे । पत्ता । पत्सीष्ट ॥

अर्थः—पदँ (पद्) धातु 'जाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—इस धातु में अन्त्य अकार अनुदात्त तथा अनुनासिक है, इत्सञ्ज्ञा और लोप करने से 'पद्' ही शेष रहता है। अनुदात्तेत् होने से यह आत्मनेपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में सर्वत्र क्रादिनियम से इट् हो जाता है। इसी धातु से उत्पत्ति, विपत्ति, सम्पत्ति, निष्पत्ति, आपत्ति, व्युत्पत्ति, विप्रतिपत्ति, सम्पद्, पाद, पद्धति, पद्य, पादुका आदि विविध शब्द उत्पन्न होते हैं।

लँट्—**पद्यते, पद्येते, पद्यन्ते**। लिँट्—में सर्वत्र 'अत एकहल्०' (४६०) से एत्त्वाभ्यासलोप हो जाता है—**पेदे, पेदाते, पेदिरे। पेदिषे, पेदाथे, पेदिध्वे। पेदे, पेदिवहे, पेदिमहे**। लुँट्—'**खरि च** (७४) से चर्त्व हो जाता है—**पत्ता, पत्तारौ, पत्तारः। पत्तासे**—। लृँट्—**पत्स्यते, पत्स्येते, पत्स्यन्ते**। लोँट्—**पद्यताम्, पद्येताम्, पद्यन्ताम्**। लँङ्—**अपद्यत, अपद्येताम्, अपद्यन्त**। वि० लिँङ्—**पद्येत, पद्येयाताम्, पद्येरन्**। आ० लिँङ्—**पत्सीष्ट, पत्सीयास्ताम्, पत्सीरन्**।

लुँङ्—प्र० पु० के एकवचन में 'अपद्+च्लि+त' इस स्थिति में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६४३) चिण् ते पदः ।३।१।६०॥

पदेश्च्लेश्चिण् स्यात् तशब्दे परे। अपादि, अपत्साताम्, अपत्सत ॥

अर्थः—पद् धातु से परे च्लि के स्थान पर चिण् आदेश हो, 'त' शब्द परे हो तो।

व्याख्या—चिण् ।१।१। ते ।७।१। पदः ।५।१। च्लेः ।६।१। ('**च्लेः सिंच्**' से)। **अर्थः**—(पदः) पद् धातु से परे (च्लेः) च्लि के स्थान पर (चिण्) चिण् आदेश हो (ते) 'त' परे हो तो।

'अपद्+च्लि+त' यहां पद् धातु से परे च्लि को चिण् आदेश होकर '**अत उपधायाः**' (४५५) से उपधावृद्धि तथा '**चिणो लुक्**' (६४१) से 'त' का लुक् करने पर 'अपादि' रूप सिद्ध होता है। द्विवचन में 'अपत्साताम्'। बहुवचन में झ् को अत् आदेश होकर—अपत्सत। थास् में '**झलो झलि**' (४७८) से तथा ध्वम् में '**धि च**' (५१५) से सकार का लोप हो जाता है। लुँङ् में रूपमाला यथा—**अपादि, अपत्साताम्, अपत्सत। अपत्थाः, अपत्साथाम्, अपद्ध्वम्। अपत्सि, अपत्स्वहि, अपत्स्महि**।

लृँङ्—**अपत्स्यत, अपत्स्येताम्, अपत्स्यन्त**।

उपसर्गयोग—सम्√पद्=पूरा होना (**सम्पत्स्यते वः कामोऽयं कालः कश्चित् प्रतीक्ष्यताम्**—कुमार० २.५४, **सम्पत्स्यते ते मनसः प्रसादः**—रघु० १४.७६); होना (**सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः**—मेघ० ११); सम्पन्न होना (**सम्भाव्यं गोषु सम्पन्नम्**—पञ्च० ४.७७, **अशोक ! यदि सद्य एव मुकुलैर्न सम्पत्स्यसे**—मालविका० ३.१७)।

वि√पद्=मरना (नाथवन्तस्त्वया लोकास्त्वमनाथा विपत्स्यसे—उत्तर० १.४३); विपत्तिग्रस्त होना (स बन्धुर्यो विपन्नानामापदुद्धरणक्षमः—हितो० १.३१)।

उद्√पद्=उत्पन्न होना (उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा—मालती० ८; रूप्यकाणां शतमुत्पद्यते—पञ्च० ५)।

निस्√पद् (निष्पद्)=निष्पन्न होना, पैदा होना (निष्पद्यन्ते च सस्यानि—मनु०९.२४७), णिजन्त—उत्पन्न करना (त्वं नित्यमेकमेव पटं निष्पादयसि—पञ्च०)।

अनु√पद्=प्राप्त करना (जरां सद्योऽन्वपद्यत—महा०; वसुधामन्वपद्येतां वातनुन्नाविव द्रुमौ—महा०)।

आ√पद्=आना (एष रावणिरापेदे—भट्टि० १५.८९, आपेदे=आगतः); प्राप्त करना (निर्वेदमापद्यते—मृच्छकटिक १.१४; श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः—रघु० १४ ७०, इसी प्रकार वशमापद्यते, विस्मयमापद्यते, चिन्तामापद्यते आदि); दुःखी होना, आपत्तिग्रस्त होना (अर्थधर्मौ परित्यज्य यः काममनुवर्त्तते। एवमापद्यते क्षिप्रं राजा दशरथो यथा—रामा० अयो० ५३.१४)।

वि+आ√पद्=मरना, णिजन्त=मारना (आत्मानं तव द्वारि व्यापादयामि—हितो०)।

प्रति√पद्=प्राप्त करना (उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः—कुमार० १.४३, स हि तस्य न केवलां श्रियं प्रतिपेदे सकलान् गुणानपि—रघु० ८.५, प्रतिपद्य मनोहरं वपुः—कुमार० ४.१६), स्वीकार करना—ग्रहण करना (स्वयमेव हि वातोऽग्नेः सारथ्यं प्रतिपद्यते—रघु० १०.४०; रथं सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मिमारोप्य वैदेहसुतां प्रतस्थे—रघु० १४.४७); व्यवहार करना—बर्ताव करना (प्रायः अधिकरण के साथ; न युक्तं भवताऽस्मासु प्रतिपत्तुमसाम्प्रतम्—महाभारत)। णिजन्त—देना (गुणवते कन्या प्रतिपादनीया—शाकुन्तल; अर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम्—नीति० १२); प्रतिपादन करना (उक्तमेवार्थमुदाहरणेन प्रतिपादयति)।

प्र√पद्=प्राप्त करना (कान्तं वपुर्व्योमचरं प्रपेदे—रघु० ५.५१; बाल्यात्परं साऽथ वयः प्रपेदे—कुमार० १.३१; रेणुः प्रपेदे पथि पङ्कभावम्—रघु० १६.३०); शरण में आना (शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्—गीता २.७)।

अभि√पद्=प्राप्त करना (स चिन्तामभ्यपद्यत—रामायण); जाना-पहुँचना (अभिपेदे राघवं मदनातुरा—रघु० १२.३२); स्वीकार करना (निरास्वाद्यतमं शून्यं (राज्यं) भरतो नाऽभिपत्स्यते—रामायण अयो० ३६.१२); काबू करना, वशीभूत करना (यदिदं सर्वं मृत्युनाऽभिपन्नम्—शत० ब्रा०; कालाभिपन्नाः सीदन्ति सिकतासेतवो यथा—रामायण अरण्य० ६९.५०); सहायता करना (मयाऽभिपन्नं तं चापि न सर्पो धर्षयिष्यति—महाभारत)।

उप√पद्=समीप जाना, पहुँचना (यमुनातटमुपपेदे—पञ्च० १); पाया

जाना, होना (त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते—गीता ६.३९); सम्भव होना (नेश्वरो जगतः कारणमुपपद्यते—श्रीभाष्य); उचित होना, ठीक होना, फ़िट होना, संगत होना (प्रायः अधिकरण के साथ; क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ! नैतत्त्वय्युपपद्यते—गीता २.३; सर्वं सखे ! त्वय्युपपन्नमेतत्—कुमार० ३.१२)।

अभि+उप√पद्=अनुग्रह करना (अभ्युपपत्तिरनुग्रह इत्यमरः; अनयाऽभ्युपपत्त्या सूचिता ते भर्तुर्गुं हेऽनुमवितव्या राजलक्ष्मीः—शाकुन्तल ४; तपःकृशामभ्युपपत्स्यते सखीम्—कुमार० ५.६१); रक्षा करना (ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम्—मनु० ८.११२)।

[लघु०] विदँ सत्तायाम् ॥२२॥ विद्यते । वेत्ता । अवित्त ॥

अर्थः—विदँ (विद्) धातु 'विद्यमान होना, पाया जाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—अनुदात्तेत् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा अनुदात्तों में पठित होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र इट् हो जायेगा। रूपमाला यथा—

लँट्—विद्यते, विद्येते, विद्यन्ते। 'नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः' (गीता २.१६)। लिँट्—विविदे, विविदाते, विविदिरे। लुँट्—वेत्ता, वेत्तारौ, वेत्तारः। वेत्तासे—। लृँट्—वेत्स्यते, वेत्स्येते, वेत्स्यन्ते। लोँट्—विद्यताम्, विद्येताम्, विद्यन्ताम्। लँङ्—अविद्यत, अविद्येताम्, अविद्यन्त। वि० लिँङ्—विद्येत, विद्येयाताम्, विद्येरन्। आ० लिँङ्—'लिङ्सिँचावात्मनेपदेषु (५८९) से झलादि लिँङ् के कित् होने के कारण लघूपधगुण नहीं होता—वित्सीष्ट, वित्सीयास्ताम्, वित्सीरन्।

लुँङ्—'अविद्+स्+त' यहाँ 'लिङ्सिँचावात्मनेपदेषु' (५८९) से सिँच् के कित् होने के कारण लघूपधगुण नहीं होता। 'झलो झलि' (४७८) से सकार का लोप तथा 'खरि च' (७४) से चर्त्व करने पर—अवित्त। इसी प्रकार थास् में—अवित्थाः। ध्वम् में 'धि च' (५१५) से सकार का लोप हो जाता है—अविद्ध्वम्। रूपमाला यथा—अवित्त, अवित्साताम्, अवित्सत। अवित्थाः, अवित्साथाम्, अविद्ध्वम् अवित्सि, अवित्स्वहि, अवित्स्महि।

लृँङ्—अवेत्स्यत, अवेत्स्येताम्, अवेत्स्यन्त।

[लघु०] बुधँ अवगमने ॥२३॥ बुध्यते। बोद्धा। भोत्स्यते। भुत्सीष्ट। अबोधि-अबुद्ध। अभुत्साताम् ॥

अर्थः—बुधँ (बुध्) धातु 'जानना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

---

१. 'जानना' अर्थ में इस धातु के प्रयोग यथा—हिरण्मयं हंसमबोधि नैषधः (नैषध १.११७); क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः (माघ १.३); नाबुद्ध कल्पद्रुमतां विहाय जातं तमात्मन्यसिपत्रवृक्षम् (रघु० १४.४८); एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा (गीता ३.४२) इत्यादि। परन्तु 'जागना' अर्थ में भी इस धातु के बहुधा प्रयोग उपलब्ध

व्याख्या—अनुदात्तेत् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र इट् हो जाता है।

लँट्—**बुध्यते, बुध्येते, बुध्यन्ते**। लिँट्—**बुबुधे, बुबुधाते, बुबुधिरे**।

लुँट्—लघूपधगुण होकर 'बोध्+ता' इस स्थिति में '**झषस्तथोर्धोऽधः**' (५४९) से तकार को धकार तथा '**झलां जश्झशि**' (१९) से धातु के धकार को जश्त्व-दकार करने पर—बोद्धा। रूपमाला यथा—**बोद्धा, बोद्धारौ, बोद्धारः। बोद्धासे—**।

लृँट्—लघूपधगुण होकर 'बोध्+स्य+ते' इस स्थिति में सकार परे होने के कारण '**एकाचो बशो भष्०**' (२५३) से बकार को भकार तथा '**खरि च**' (७४) से धकार को चर्त्व-तकार होकर 'भोत्स्यते' रूप सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—**भोत्स्यते, भोत्स्येते, भोत्स्यन्ते**।

लोँट्—**बुध्यताम्, बुध्येताम्, बुध्यन्ताम्**। लँङ्—**अबुध्यत, अबुध्येताम्, अबुध्यन्त**। वि० लिँङ्—**बुध्येत, बुध्येयाताम्, बुध्येरन्**। आ० लिँङ्—में '**लिँङ्-सिँचावात्मनेपदेषु**' (५८९) द्वारा झलादि लिँङ् के कित् होने से लघूपधगुण नहीं होता, तब भष्त्व तथा चर्त्व हो जाते हैं—**भुत्सीष्ट, भुत्सीयास्ताम्, भुत्सीरन्**।

लुँङ्—प्र० पु० के एकवचन में '**दीपजनबुध०**' (६४०) से च्लि को विकल्प से चिण् आदेश होकर लघूपधगुण तथा '**चिणो लुक्**' (६४१) से 'त' का लुक् करने पर 'अबोधि' रूप बनता है। चिण् के अभाव में च्लि को सिँच् हो जाता है। तब '**लिँङ्सिँचावात्मनेपदेषु**' (५८९) से झलादि सिँच् के कित्त्व के कारण लघूपधगुण नहीं होता। 'अबुध्+स्+त' इस स्थिति में '**झलो झलि**' (४७८) से सकार का लोप, '**झषस्तथोर्धोऽधः**' (५४९) से तकार को धकार तथा '**झलां जश्झशि**' (१९) से धातु के धकार को जश्त्व-दकार करने पर 'अबुद्ध' रूप सिद्ध होता है। द्विवचन में 'अबुध्+स्+आताम्' इस स्थिति में भष्त्व और चर्त्व होकर—अभुत्साताम्। बहुवचन में झकार को अत् आदेश होकर—अभुत्सत। थास् में 'अबुध्+स्+थास्' इस स्थिति में सकार का लोप, धत्व तथा जश्त्व करने पर—अबुद्धाः। ध्वम् में '**धि च**' (५१५) से सकार का लोप होकर भष्त्व-जश्त्व हो जाते हैं—अभुद्ध्वम्। उ० पु० में सकार का लोप न होकर भष्त्व-चर्त्व हो जाते हैं। रूपमाला यथा—**अबोधि-अबुद्ध, अभुत्साताम्, अभुत्सत। अबुद्धाः, अभुत्साथाम्, अभुद्ध्वम्। अभुत्सि, अभुत्स्वहि, अभुत्स्महि**।

लृँङ्—**अभोत्स्यत, अभोत्स्येताम्, अभोत्स्यन्त**।

उपसर्गयोग—अव√बुध्=जानना (त्वक्स्पर्शं नाऽवबुध्यते—महाभारत)। **प्र√बुध्**=जागना (लघुपतनकनामा वायसः प्रबुद्धः—हितोप० १)। **सम्√बुध्**=

होते हैं। यथा—**ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चाऽनुचिन्तयेत्** (मनु० ४.९२); **ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः** (रघु० १०.६); **ददपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः** (माघ ११.४) इत्यादि।

भली भाँति जानना (सम्भुत्सीष्ठाः सुनयनयनैर्विद्विषामीहितानि—भट्टि० १९.३०)।

[लघु०] युधँ सम्प्रहारे[1] ॥२४॥ युध्यते। युयुधे। योद्धा। अयुद्ध॥

अर्थः—युधँ (युध्) धातु 'युद्ध करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—अनुदात्तेत् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है।

लँट्—**युध्यते, युध्येते, युध्यन्ते।** लिँट्—**युयुधे, युयुधाते, युयुधिरे।** लुँट्—में लघूपधगुण होकर **'झषस्तथोर्धोऽधः'** (५४९) से धत्व तथा **'झलां जश्झशि'** (१९) से जश्त्व करने पर—**योद्धा, योद्धारौ, योद्धारः। योद्धासे—।** लृँट्—में लघूपधगुण होकर चर्त्व हो जाता है—**योत्स्यते, योत्स्येते, योत्स्यन्ते।** लोँट्—**युध्यताम्, युध्येताम् युध्यन्ताम्।** लँङ्—**अयुध्यत, अयुध्येताम्, अयुध्यन्त।** वि० लिँङ्—**युध्येत, युध्येयाताम्, युध्येरन्।** आ० लिँङ्—में **'लिङ्सिँचावात्मनेपदेषु'** (५८९) से झलादि लिँङ् के कित् होने से लघूपधगुण नहीं होता—**युत्सीष्ट, युत्सीयास्ताम्, युत्सीरन्।**

लुँङ्—**'दीप-जन-बुध०'** (६४०) सूत्र में युध् धातु का उल्लेख नहीं अतः इस से परे च्लि को चिण् नहीं होता। 'अयुध्+स्+त' इस स्थिति में **'लिङ्सिँचावात्मनेपदेषु'** (५८९) से सिँच् के कित् होने के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है। अब **'झलो झलि'** (४७८) से सकार का लोप, **'झषस्तथोर्धोऽधः** (५४९) से तकार को धकार तथा **'झलां जश्झशि'** (१९) से धातु के धकार को जश्त्व-दकार करने पर—**अयुद्ध।** इसी प्रकार थास् में—**अयुद्धाः।** ध्वम् में **'धि च'** (५१५) से सकार का लोप होकर जश्त्व करने पर—**अयुद्ध्वम्।** रूपमाला यथा—**अयुद्ध, अयुत्साताम्, अयुत्सत। अयुद्धाः, अयुत्साथाम्, अयुद्ध्वम्। अयुत्सि, अयुत्स्वहि, अयुत्स्महि।**

लृँङ्—**अयोत्स्यत, अयोत्स्येताम्, अयोत्स्यन्त।**

उपसर्गयोग—नि √ युध्=बाहुयुद्ध करना (**नियुद्धं बाहुयुद्धे स्याद्** इत्यमरः। **नियोद्धुकामे किमु बद्धवर्मणी**—नैषध १.१२३)। प्रति √ युध्=प्रतिरोध करना, जवाबी हमला करना, सामना करना (सकर्मक; **इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन**—गीता २.४)।

[लघु०] सृजँ विसर्गे ॥२५॥ सृज्यते। ससृजे। ससृजिषे॥

अर्थः—सृजँ (सृज्) धातु 'छोड़ना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2]।

---

१. सम्प्रह्रियतेऽस्मिन्निति सम्प्रहारो युद्धम्। तत्क्रियायाम् इत्यर्थः। यह धातु अकर्मकतया प्रयुक्त होती है। जिसके साथ युद्ध किया जाता है उस में 'सह' योग में तृतीया विभक्ति का विधान किया जाता है। यथा—**युध्यस्व विगतत्रासः सर्वैः सार्धं महाबल**—रामा० उत्तर० ३७.२१।

२. इस धातु के उपसर्गहीन प्रयोग क्वचित् विरल ही मिलते हैं। यथा—

व्याख्या—अनुदात्तेत् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा अनुदात्तों में परि-गणित होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र इट् हो जाता है।

लँट्—सृज्यते, सृज्येते, सृज्यन्ते। लिँट्—**ससृजे, ससृजाते, ससृजिरे। ससृजिषे, ससृजाथे, ससृजिध्वे। ससृजे, ससृजिवहे, ससृजिमहे।**

लुँट्—प्र० पु० के एकवचन में तास्, डा, टिलोप आदि होकर, 'सृज्+ता' इस स्थिति मे लघूपधगुण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६४४) सृजि-दृशोर्झल्यमकिति ।६।१।५७॥

अनयोरमागमः स्याज्झलादावकिति। स्रष्टा। स्रक्ष्यति। सृक्षीष्ट। असृष्ट। असृक्षाताम्॥

अर्थः—कित्-भिन्न झलादि प्रत्यय परे हो तो सृज् और दृश् धातुओं को अम् का आगम हो।

व्याख्या—सृजिदृशोः ।६।२। झलि ।७।१। अम् ।१।१। अकिति ।७।१। **'धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये कार्यविज्ञानम्'** अर्थात् धातु का स्वरूप ग्रहण करके यदि कोई कार्य कहा जाये तो वह कार्य उस धातु से विहित प्रत्यय के परे होने पर ही किया जाता है। इस परिभाषा के बल से यहाँ 'प्रत्यये' का अध्याहार कर उस का 'झलि' विशेषण बना लिया जाता है। तब विशेषण से तदादिविधि होकर 'झलादौ प्रत्यये' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(सृजि-दृशोः) सृज् और दृश् का अवयव (अम्) अम् हो जाता है (अकिति) कित् से भिन्न (झलि=झलादौ प्रत्यये) झलादि प्रत्यय परे हो तो। अम् के मकार की **'हलन्त्यम्'** (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा हो जाती है। 'अ' मात्र अवशिष्ट रहता है। मित् होने से यह आगम **'मिदचोऽन्त्यात्परः'** (२४०) के अनुसार सृज् और दृश् के अन्त्य अच् अर्थात् ऋवर्ण से परे होता है। तब **'इको यणचि'** (१५) से ऋकार को यण्-रेफ आदेश होकर सृज् का स्रज् तथा दृश् का द्रश् बन जाता है[1]। यह सूत्र एक प्रकार से लघूपधगुण का अपवाद है।

'सृज्+ता' यहां 'तास्' यह कित्-भिन्न झलादि प्रत्यय परे विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से सृज् को अम् का आगम हो गया—सृ अम् ज्+ता। अनुबन्ध मकार का

असृष्ट योऽस्मान् (भट्टि० ३.१३)। परन्तु 'मिलना' अर्थ में अकर्मकतया इसका सम्पूर्वक प्रयोग बहुधा देखा जाता है। यथा—(वातः) **संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिन्नैः**—रघु० ५.६९; (तया) **शिवोऽभूत् संसृज्यमानः शरदेव लोकः**—कुमार० ७.७४; **सौमित्रिणा तदनु संससृजे स चैनम्**—रघु० १३.७३ इत्यादि। यह धातु तुदादिगण के परस्मैपद में भी पढ़ी गई है, सकर्मकतया प्रायः उसी के ही प्रयोग उपलब्ध होते हैं। यथा—**सृजति तावदशेषगुणाकरं पुरुषरत्नमलङ्करणं भुवः**—नीति० ८६। वैदिक-साहित्य में तौदादिक सृज् के दोनों पदों में प्रयोग उपलब्ध हैं—**यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च** (मुण्डकोप० १.७); **अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु** (ऋग्वेद १.१९.७)।

१. दृश् के उदाहरण **'द्रष्टा, द्रक्ष्यति'** आदि हैं।

लोप कर यण् किया तो—स्रज्+ता । अब '**व्रश्चभ्रस्जसृज०**' (३०७) सूत्र से जकार को षकार तथा '**ष्टुना ष्टुः**' (६४) से तकार को ष्टुत्व-टकार करने पर 'स्रष्टा' प्रयोग सिद्ध होता है। लुंट् में रूपमाला यथा—**स्रष्टा, स्रष्टारौ, स्रष्टारः। स्रष्टासे**— ।

लृट्—में 'स्य' यह किद्भिन्न झलादि प्रत्यय परे विद्यमान रहता है अतः लघूपधगुण का बाध कर अम् का आगम कर यण् किया तो—स्रज्+स्य+ते । अब '**व्रश्चभ्रस्जसृज०**' (३०७) से षत्व, '**षढोः कः सि**' (५४८) से षकार को ककार तथा '**आदेशप्रत्यययोः**' (१५०) से स्य के सकार को मूर्धन्य षकार करने पर 'स्रक्ष्यते' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—**स्रक्ष्यते, स्रक्ष्येते, स्रक्ष्यन्ते** ।

लोँट्—**सृज्यताम्, सृज्येताम्, सृज्यन्ताम्** । लँङ्—**असृज्यत, असृज्येताम्, असृज्यन्त** । वि० लिँङ्—**सृज्येत, सृज्येयाताम्, सृज्येरन्** । आ० लिँङ्—में '**लिङ्सिचावात्म०**' (५८९) से झलादि लिँङ् (सीयुट्+सुट्+त) कित् है अतः प्रकृतसूत्र में 'अकिति' कहने के कारण अम् का आगम नहीं होता। किञ्च कित्व के कारण लघूपधगुण भी नहीं होता। तब 'सृज्+सीष्ट' इस स्थिति में '**व्रश्चभ्रस्जसृज०**' (३०७) से षत्व, '**षढोः कः सि**' (५४८) से कत्व तथा '**आदेशप्रत्यययोः**' (१५०) से प्रत्यय के अवयव सकार को षकार करने पर 'सृक्षीष्ट' रूप बनता है। रूपमाला यथा—**सृक्षीष्ट, सृक्षीयास्ताम्, सृक्षीरन्** ।

लुँङ्—में भी पूर्ववत् झलादि सिँच् के कित्त्व के कारण अम् का आगम नहीं होता। तब 'असृज्+स्+त' इस स्थिति में सकार का झलोझलिलोप होकर षत्व और ष्टुत्व करने पर 'असृष्ट' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार थास् में—असृष्ठाः। आताम् में 'असृज्+स्+आताम्' इस स्थिति में षत्व, कत्व तथा प्रत्यय के अवयव सकार को षत्व करने पर—असृक्षाताम्। इसी प्रकार उ० पु० में प्रक्रिया होती है। ध्वम् में '**धि च**' (५१५) से सकार का लोप होकर 'असृज्+ध्वम्' इस स्थिति में षत्व, जश्त्व और ष्टुत्व करने पर—असृड्ढ्वम्। रूपमाला यथा—**असृष्ट, असृक्षाताम्, असृक्षत । असृष्ठाः, असृक्षाथाम्, असृड्ढ्वम् । असृक्षि, असृक्ष्वहि, असृक्ष्महि** ।

लृँङ्—**अस्रक्ष्यत, अस्रक्ष्येताम्, अस्रक्ष्यन्त** ।

उपसर्गयोग—प्रायः उद् और वि उपसर्गों के साथ सृज् धातु का 'छोड़ना' अर्थ हुआ करता है[1], उपसर्गहीनावस्था में 'निर्माण करना या बनाना' अर्थ देखा जाता है। परन्तु यह सब तौदादिक सृज् के विषय में ही समझना चाहिये। दैवादिक सृज् के प्रयोग तो अत्यन्त विरल ही हैं।

यहां पर दिवादिगण की आत्मनेपदी धातुओं का वर्णन समाप्त होता है।

---

१. विपूर्वक का भेजना अर्थ अधिक प्रसिद्ध है—**भोजेन दूतो रघवे विसृष्टः** (रघु० ५.३९)।

अब उभयपदी धातुओं का विवेचन प्रारम्भ होता है—

[लघु०] **मृषँ तितिक्षायाम्** ॥२६॥ मृष्यति; मृष्यते। ममर्ष। ममर्षिथ; ममृषिषे। मर्षितासि; मर्षितासे। मर्षिष्यति; मर्षिष्यते॥

अर्थः—मृषँ (मृष्) धातु 'सहना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—इस धातु का अन्त्य अकार अनुनासिक तथा स्वरित है अतः इत्सञ्ज्ञक होकर लुप्त हो जाता है, 'मृष्' मात्र अवशिष्ट रहता है। स्वरितेत् होने से यह धातु उभयपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है।

लँट्—(परस्मै०) **मृष्यति, मृष्यतः, मृष्यन्ति**। (आत्मने०) **मृष्यते, मृष्येते, मृष्यन्ते**। लिँट्—(परस्मै०) **ममर्ष, ममृषतुः, ममृषुः। ममर्षिथ, ममृषथुः, ममृष। ममर्ष, ममृषिव, ममृषिम**। (आत्मने०) **ममृषे, ममृषाते, ममृषिरे**। लुँट्—(परस्मै०) **मर्षिता, मर्षितारौ, मर्षितारः। मर्षितासि**—। (आत्मने०) **मर्षिता, मर्षितारौ, मर्षितारः। मर्षितासे**—। लृँट्—(परस्मै०) **मर्षिष्यति, मर्षिष्यतः, मर्षिष्यन्ति**। (आत्मने०) **मर्षिष्यते, मर्षिष्येते, मर्षिष्यन्ते**। लोँट्—(परस्मै०) **मृष्यतु-मृष्यतात्, मृष्यताम्, मृष्यन्तु**। (आत्मने०) **मृष्यताम्, मृष्येताम्, मृष्यन्ताम्**। लँङ्—(परस्मै०) **अमृष्यत्, अमृष्यताम्, अमृष्यन्**। (आत्मने०) **अमृष्यत, अमृष्येताम्, अमृष्यन्त**। वि० लिँङ्—(परस्मै०) **मृष्येत्, मृष्येताम्, मृष्येयुः**। (आत्मने०) **मृष्येत, मृष्येयाताम्, मृष्येरन्**। आ० लिँङ्—(परस्मै०) **मृष्यात्, मृष्यास्ताम्, मृष्यासुः**। (आत्मने०) **मर्षिषीष्ट, मर्षिषीयास्ताम्, मर्षिषीरन्**। लुँङ्—(परस्मै०) **अमर्षीत्, अमर्षिष्टाम्, अमर्षिषुः**। (आत्मने०) **अमर्षिष्ट, अमर्षिषाताम्, अमर्षिषत**। लृँङ्—(परस्मै०) **अमर्षिष्यत्, अमर्षिष्यताम्, अमर्षिष्यन्**। (आत्मने०) **अमर्षिष्यत, अमर्षिष्येताम्, अमर्षिष्यन्त**।

उपसर्गयोग—परि √ मृष्=असूया करना [**मघोने परिमृष्यन्तमारमन्तं परं स्मरे**—भट्टि० ८.५२; परिमृष्यन्तम्=असूयन्तम् इति जयमङ्गला; **'परेर्मृषः'** (७४८) इति परस्मैपदमेव। **'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः'** (१.४.३७) इति सम्प्रदानसञ्ज्ञायां चतुर्थी।]

[लघु०] **णहँ बन्धने** ॥२७॥ नह्यति; नह्यते। ननाह। नेहिथ-ननद्ध। नेहे। नद्धा। नत्स्यति; नत्स्यते। अनात्सीत्; अनद्ध॥

अर्थः—णहँ (नह्) धातु 'बान्धना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2]।

---

१. 'सहन करना' अर्थ में प्रयोग यथा—**तत्किमिदमकार्यमनुष्ठितं देवेन? लोको न मृष्यतीति** (उत्तर० ३)। 'क्षमा करना' भी सहना होता है। 'क्षमा करना' अर्थ में प्रयोग यथा—**मृष्यन्तु लवस्य बालिशतां तातपादाः** (उत्तर० ६)।

२. 'बान्धना' का यहां व्यापक अर्थों में प्रयोग समझना चाहिये। भूषण आदि का धारण करना, व्यापना आदि भी 'बान्धना' ही हैं। यथा—(धारण करना)

व्याख्या—णह धातु भी पूर्ववत् स्वरितेत् होने से उभयपदी है। **'णो नः'** (४५८) से इस के आदि णकार को नकार होकर 'नह्' बन जाता है। णोपदेश का फल 'परिणाहः' (विस्तार, चौड़ाई) आदि में णत्व करना है। अनुदात्तों में परिगणित होने से यह धातु अनिट् है। लिँट् के दोनों पदों में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से वैकल्पिक इट् होता है। उपानह् (जूता), नाभि, नभस् (आकाश) आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं।

लँट्—(परस्मै०) **नह्यति, नह्यतः, नह्यन्ति**। (आत्मने०) **नह्यते, नह्येते, नह्यन्ते**। लिँट्—(परस्मै०) **ननाह, नेहतुः**[१], **नेहुः**,। **नेहिथ-ननद्ध**[२], **नेहथुः, नेह। ननाह-ननह, नेहिव, नेहिम**। (आत्मने०) **नेहे**[३], **नेहाते, नेहिरे। नेहिषे, नेहाथे, नेहिढ्वे-नेहिध्वे**[४]। **नेहे, नेहिवहे, नेहिमहे**। लुँट्—(परस्मै०) **नद्धा**[५], **नद्धारौ, नद्धारः। नद्धासि**—। (आत्मने०) **नद्धा, नद्धारौ, नद्धारः। नद्धासे**—। लृँट्—(परस्मै०) **नत्स्यति**[६], **नत्स्यतः, नत्स्यन्ति**। (आत्मने०) **नत्स्यते, नत्स्येते, नत्स्यन्ते**। लोँट्—(परस्मै०) **नह्यतु-नह्यतात्, नह्यताम्, नह्यन्तु**। (आत्मने०) **नह्यताम्, नह्येताम् नह्यन्ताम्**। लँङ्—(परस्मै०) **अनह्यत्, अनह्यताम्, अनह्यन्**। (आत्मने०) **अनह्यत, अनह्येताम्, अनह्यन्त**। वि० लिँङ्—(परस्मै०) **नह्येत्, नह्येताम्, नह्येयुः**। (आत्मने०) **नह्येत, नह्येयाताम्, नह्येरन्**। आ० लिँङ्—(परस्मै०) **नह्यात्, नह्यास्ताम्, नह्यासुः**। (आत्मने०) **नत्सीष्ट**[७], **नत्सीयास्ताम्, नत्सीरन्**। लुँङ्—(परस्मै०) **अनात्सीत्**[८], **अनाद्धाम्**[९], **अनात्सुः। अनात्सीः, अनाद्धम्, अनाद्ध। अनात्सम्**,

---

सर्वाङ्गनद्धाऽऽभरणेव नारी—रघु० १६.४१; (व्यापना) **शैलेयनद्धानि शिलातलानि**—कुमार० १.५५।

१. **'अत एकहल्मध्ये०'** (४६०) से कित् लिँट् में एत्वाभ्यासलोप हो जाता है। २. इट्पक्ष में **'थलि च सेटि'** (४६१) से एत्वाभ्यासलोप। इट् के अभाव में 'ननह्+थ' इस स्थिति में **'नहो धः'** (३५९) से धातु के हकार को धकार तथा—**'झषस्तथोः०'** (५४९) से थकार को भी धकार होकर **'झलां जश्झशि'** (१९) से जश्त्व करने पर—ननद्ध। ३. आत्मनेपद में सर्वत्र कित्त्व के कारण एत्वाभ्यासलोप हो जाता है। ४. **विभाषेटः** (५२७)।

५. 'नह्+ता' इस स्थिति में **'नहो धः'** (३५९) से हकार को धकार, **'झषस्तथोः०'** (५४९) से तकार को भी धकार तथा अन्त में जश्त्व हो जाता है।

६. **'नहो धः'** (३५९) से हकार को धकार होकर **'खरि च'** (७४) से चर्त्व हो जाता है।

७. 'नह्+सीष्ट' में हकार को धकार पुनः चर्त्व से उसे तकार हो जाता है।

८. हलन्तलक्षणा वृद्धि होकर हकार को धकार तथा चर्त्व से उसे तकार हो जाता है। ९. 'अनाह्+स्+ताम्' में झलोझलिलोप होकर **'नहो धः'** (३५८)

अनात्स्व, अनात्स्म । (आत्मने०) अनद्ध[10], अनत्साताम्, अनत्सत । अनद्धाः, अनत्साथाम्, अनद्ध्वम्[11] । अनत्सि, अनत्स्वहि, अनत्स्महि ।

लृङ्—(परस्मै०) अनत्स्यत्, अनत्स्यताम्, अनत्स्यन् (आत्मने०) अनत्स्यत, अनत्स्येताम्, अनत्स्यन्त ।

उपसर्गयोग—सम्√नह् = तैयार होना, उद्यत होना, अकर्मक (छेत्तुं वज्रमणिं शिरीषकुसुमप्रान्तेन सन्नह्यते—नीति० ५; नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः—विक्रमो० ४.७) । अपि√नह् = पिनह्[12] = ढांपना (कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्त्रोदरेण—शाकुन्तल १.१९) ।

अभ्यास (१०)

(१) निम्न प्रश्नों का संक्षिप्त उत्तर दीजिये—

(क) 'अजनि' में णिन्निमित्तक उपधावृद्धि क्यों नहीं होती ?

(ख) श्यन् को शित् करने का क्या प्रयोजन है ?

(ग) 'नंष्+ता' में 'नशेर्वा' द्वारा कुत्व क्यों नहीं होता ?

(घ) 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' में 'अकिति' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

(ङ) 'युध्यते, सृज्यते' आदि में लघूपधगुण क्यों नहीं होता ?

(२) निम्न धातुओं की लुङ् में रूपमाला लिखें—

युध्, बुध्, विद्, पद्, दीप्, जन्, दीङ्, नश्, व्यध्, शो, नृत् ।

(३) निम्न धातुओं की लृट् में रूपमाला लिखें—

नृत्, सृज्, व्यध्, बुध्, नह् ।

(४) निम्न धातुओं की लिट् में रूपमाला लिखें—

मृष्, नह्, पद्, जन्, दीङ्, डीङ्, नश्, व्यध्, षो, त्रस् ।

(५) दिवुँ में उकारानुबन्ध और दीपीँ में ईकारानुबन्ध का क्या प्रयोजन है ?

(६) 'स्थाघ्वोरिच्चे दीङः प्रतिषेधः' वार्त्तिक की निरर्थकता स्पष्ट करें ।

(७) 'वुग्युटावुवँङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ' वार्त्तिक की क्या आवश्यकता है ? सयुक्तिक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करें ।

(८) निम्न रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

जज्ञे, स्रक्ष्यते, अशात्, दीव्यति, अबोधि, सृक्षीष्ट, जायते, स्यति, त्रेसतुः, नर्त्स्यति, अपादि, ननंष्ठ, अदास्त, अपुषत्, दिदीये, नङ्क्ष्यति, ननद्ध,

---

से धत्व, 'झषस्तथोः०' (५४९) से तकार को भी धत्व होकर जश्त्व-दकार हो जाता है । १०. 'अनह्+स्+त' इस स्थिति में सकार का लोप, हकार को धकार तथा तकार को भी धकार होकर जश्त्व हो जाता है । ११. ध्वम् में 'धि च' (५१५) से सकार का लोप होकर हकार को धकार करने पर जश्त्व हो जाता है ।

१२. 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' से 'अपि' के अकार का लोप हो जाता है ।

अभुत्साताम्, डिड्ये ।

९) छायाः, सोता, अद्यः, विविध, छायासुः, स्य—ये रूप किस धातु के किस लकार में कहां बनते हैं ?

१०) सूत्रों की व्याख्या करें—

मीनातिमिनोति०, मस्जिनशोर्०, रधादिभ्यश्च, ग्रहिज्या०, सृजिदृशोर्०, सेऽसिँचि०, वा जॄभ्रमुंत्रसाम्, दीङो युडचि०, ओतः श्यनि, जनिवध्योश्च ।

इति तिङन्ते दिवादयः

(यहाँ पर दिवादिगण की धातुओं का विवेचन समाप्त होता है)

अथ तिङन्ते स्वादयः

अब तिङन्तप्रकरण में स्वादि (सु+आदि) गण की धातुओं का निरूपण किया जाता है—

[लघु०] **षुञ् अभिषवे ॥१॥**

अर्थः—षुञ् (सु) धातु 'अभिषव' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—माधवीयधातुवृत्ति में अभिषव के चार अर्थ लिखे हैं—(१) स्नान कराना, (२) निचोड़ना, (३) स्नान करना, (४) सुरासन्धान—शराब बनाना । ञित् होने से यह धातु उभयपदी है। 'धात्वादेः षः सः' (२५५) से धातु के आदि षकार को सकार करने पर 'सु' बन जाता है। षोपदेश का फल 'सुषाव, सुषुवे' आदि में षत्व करना है । 'ऊदृदन्तैः०' के अनुसार यह धातु अनिट् है । लिँट् में क्रादिनियम से इट् होता है परन्तु थल् में 'अचस्तास्वत्०' (४८०) के निषेध के कारण भारद्वाजनियम से विकल्प हो जाता है ।

लँट्—'सु+ति' इस स्थिति में 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप् प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६४५) स्वादिभ्यः श्नुः ।३।१।७३॥

शपोऽपवादः । सुनोति, सुनुतः, हुश्नुवोः० (५०१) इति यण्—सुन्वन्ति । सुन्वः-सुनुवः । सुनुते, सुन्वाते, सुन्वते । सुन्वहे-सुनुवहे । सुषाव; सुषुवे । सोता । सुनु । सुनवानि; सुनवै । सुनुयात् । सूयात् ॥

अर्थः—कर्तृवाचक सार्वधातुक परे होने पर स्वादिगण की धातुओं से परे श्नुप्रत्यय हो ।

व्याख्या—स्वादिभ्यः ।५।३। श्नुः ।१।१। कर्तरि ।७।१। ('कर्तरि शप्' से)। सार्वधातुके ।७।१। ('सार्वधातुके यक्' से) । 'प्रत्ययः, परश्च' दोनों अधिकृत हैं ।

अर्थः—(स्वादिभ्यः) सु आदि धातुओं से परे (श्नुः प्रत्ययः) श्नु प्रत्यय हो (कर्तरि) कर्तृवाचक (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे हो तो । यह सूत्र शप् का अपवाद है अतः स्वादिगणीय धातुओं से लँट्, लोँट्, लँङ् और विधिलिँङ् इन चार सार्वधातुक लकारों में शप् की बजाय श्नुप्रत्यय प्रवृत्त होता है । श्नु में शकार इत्संज्ञक है अतः शित् होने से 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' (३८६) द्वारा इस की सार्वधातुकसञ्ज्ञा होती है ।

'सु+ति' यहां 'ति' यह कर्तृवाचक सार्वधातुक परे है, अतः प्रकृतसूत्र से श्नुप्रत्यय होकर—सु+नु+ति । श्नु सार्वधातुक है परन्तु अपित् होने से 'सार्वधातुकमपित्' (५००) के अनुसार ङित् है अतः इसे मान कर 'सु' को गुण नहीं होता । तिप् पित् सार्वधातुक है इसलिये वह ङित् नहीं, इसे मान कर नु को गुण हो जाता है—सुनोति । इसी प्रकार सिप् में 'सुनोषि' और मिप् में 'सुनोमि' बनेगा । तस् आदि अपित् सार्वधातुक हैं अतः उन को मान कर 'नु' को गुण नहीं होता—सुनुतः । प्र० पु० के बहुवचन में झकार को अन्त् आदेश होकर 'सुनु+अन्ति' इस स्थिति में 'अचि श्नु०' (१९९) से प्राप्त उवँङ् आदेश का बाध कर 'हुश्नुवोः०' (५०१) से यण् करने पर 'सुन्वन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है । वस् और मस् में 'लोपश्चाऽस्यान्यतरस्यां म्वोः' (५०२) से नु के उकार का वैकल्पिक लोप हो जाता है । आत्मने० में श्नु तथा त आदि प्रत्यय दोनों अपित् सार्वधातुक होते हैं अतः ङिद्वद्भाव के कारण कहीं गुण नहीं होता । वहि और महिङ् में उकार का वैकल्पिक लोप हो जाता है । लँट् के दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) **सुनोति, सुनुतः, सुन्वन्ति । सुनोषि सुनुथः, सुनुथ । सुनोमि, सुन्वः-सुनुवः, सुन्मः-सुनुमः** । (आत्मने०) **सुनुते, सुन्वाते, सुन्वते । सुनुषे, सुन्वाथे, सुनुध्वे । सुन्वे, सुन्वहे-सुनुवहे, सुन्महे-सुनुमहे** ।

लिँट्—में द्वित्वादि कार्य होकर 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व हो जाता है । ध्यान रहे कि लिँट् आर्धधातुक लकार है अतः अजादि प्रत्ययों के परे रहते 'हुश्नुवोः०' (५०१) से यण् न होकर 'अचि श्नु०' (१९९) से उवँङ् ही होता है । रूपमाला यथा—(परस्मै०) **सुषाव, सुषुवतुः, सुषुवुः । सुषविथ-सुषोथ, सुषुवथुः, सुषुव । सुषाव-सुषव, सुषुविव, सुषुविम** । (आत्मने०) **सुषुवे, सुषुवाते, सुषुविरे । सुषुविषे, सुषुवाथे, सुषुविढ्वे-सुषुविध्वे** (विभाषेटः ५२७) । **सुषुवे, सुषुविवहे, सुषुविमहे** ।

लुँट्—में आर्धधातुक गुण हो जाता है । (परस्मै०) **सोता, सोतारौ, सोतारः । सोतासि**— । (आत्मने०) **सोता, सोतारौ, सोतारः । सोतासे**— । लृँट्—में भी गुण होकर षत्व हो जाता है । (परस्मै०) **सोष्यति, सोष्यतः, सोष्यन्ति** । (आत्मने०) **सोष्यते, सोष्येते, सोष्यन्ते** ।

लोँट्—परस्मैपद में लँट् की तरह श्नुप्रत्यय हो जाता है—सुनोतु-सुनुतात् । 'हि' में 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' (५०२) से 'हि' का लुक् हो जाता है—सुनु । उ० पु० के एकवचन में 'मि' को 'नि' आदेश तथा उसे आट् का आगम होकर 'सुनु+

आनि' इस स्थिति में गुण और अवादेश हो जाते हैं—सुनवानि । आत्मने० के उ० पु० के एकवचन में 'सुनु+आ+इ' इस दशा में इकार को एत्व और ऐत्व होकर 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि एकादेश तथा इधर आट् के पित् होने से नु को गुण और अवादेश करने पर—सुनवै । दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) सुनोतु-सुनुतात्, सुनुताम्, सुन्वन्तु । सुनु-सुनुतात्, सुनुतम्, सुनुत । सुनवानि, सुनवाव, सुनवाम । (आत्मने०) सुनुताम्, सुन्वाताम्, सुन्वताम् । सुनुष्व, सुन्वाथाम्, सुनुध्वम् । सुनवै, सुनवावहै, सुनवामहै ।

लँङ्—(परस्मै०) असुनोत्, असुनुताम्, असुन्वन् । असुनोः, असुनुतम्, असुनुत । असुनवम्, असुन्व-असुनुव, असुन्म-असुनुम । (आत्मने०) असुनुत, असुन्वाताम्, असुन्वत । असुनुथाः, असुन्वाथाम्, असुनुध्वम् । असुन्वि, असुन्वहि-असुनुवहि, असुन्महि-असुनुमहि ।

वि० लिँङ्—(परस्मै०) सुनुयात्, सुनुयाताम्, सुनुयुः । (आत्मने०) सुन्वीत, सुन्वीयाताम्, सुन्वीरन् ।

आ० लिँङ्—(परस्मै०) में 'अकृत्सार्व०' (४८३) से दीर्घ हो जाता है—सूयात्, सूयास्ताम्, सूयासुः । (आत्मने०) सोषीष्ट, सोषीयास्ताम्, सोषीरन् ।

लुँङ्—परस्मै० प्र० पु० के एकवचन में अपृक्त को ईट् का आगम होकर 'असु+स्+ईत्' इस स्थिति में धातु के अनिट् होने से सिँच् को इट् का निषेध प्राप्त होता है । इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६४६) स्तु-सु-धूञ्भ्यः परस्मैपदेषु ।७।२।७२॥

एभ्यः सिँच इट् स्यात् परस्मैपदेषु । असावीत् । असोष्ट ॥

अर्थः—स्तु (स्तुति करना), सु और धूञ् (हिलाना) धातुओं से परे सिँच् को इट् का आगम हो परस्मैपद प्रत्यय परे हो तो ।

व्याख्या—स्तु-सु-धूञ्भ्यः ।५।३। परस्मैपदेषु ।७।३। सिँचः ।६।१। ('अञ्जेः सिँचि' से विभक्तिविपरिणाम कर) इट् ।१।१। ('इडत्त्यर्तिव्ययतीनाम्' से) । अर्थः—(स्तु-सु-धूञ्भ्यः) स्तु, सु और धूञ् धातु से परे (सिँचः) सिँच् का अवयव (इट्) इट् हो जाता है (परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्यय परे हों तो । स्तु और सु अनिट् थे अतः इन से परे सिँच् को इट् का निषेध प्राप्त था तथा धूञ् से परे 'स्वरतिसूति०' (४७६) सूत्र से सिँच् को इट् का विकल्प होता था, इस पर इस सूत्र के द्वारा इट् का नित्य विधान किया गया है । स्तु और धूञ् के उदाहरण 'अस्तावीत्, अधावीत्' आदि हैं । 'सु' का उदाहरण यहां प्रकृत है—

'असु+स्+ईत्' इस स्थिति में प्रकृतसूत्र से सिँच् को इट् का आगम करने पर 'सिँचि वृद्धिः०' (४८४) से वृद्धि, सकारलोप (४४६), सवर्णदीर्घ तथा आवादेश होकर 'असावीत्' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार 'असाविष्टाम्' आदि रूप बनते हैं । प्रकृतसूत्र में 'परस्मैपदेषु' कहा गया है अतः आत्मनेपद में इट् न होगा । वहां

आर्धधातुकगुण होकर 'असोष्ट' आदि रूप बनेंगे। लुङ् के दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) **असावीत्, असाविष्टाम्, असाविषुः । असावीः, असाविष्टम्, असाविष्ट । असाविषम्, असाविष्व, असाविष्म ।** (आत्मने०) **असोष्ट, असोषाताम्, असोषत । असोष्ठाः, असोषाथाम्, असोढ्वम् । असोषि, असोष्वहि, असोष्महि ।**

लृङ्—(परस्मै०) **असोष्यत्, असोष्यताम्, असोष्यन् ।** (आत्मने०) **असोष्यत, असोष्येताम्, असोष्यन्त ।**

उपसर्गयोग—इस धातु का अभि तथा आङ् उपसर्गों के साथ बहुधा योग देखा जाता है—अभिषुणोति, **'उपसर्गात् सुनोति०'** (८.३.८६) से षत्व हो जाता है। आसुनोति। आसुति (क्तिन्नन्त) का सूत्रकार स्वयं प्रयोग करते हैं—**रजःकृष्या-सुतिपरिषदो वलच्**(५.२.११२)।

[लघु०] **चिञ् चयने** ॥२॥ चिनोति; चिनुते ॥

अर्थः—चिञ् (चि) धातु 'चयन करना—चुनना—बटोरना—संग्रह करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु द्विकर्मक है (८९२)—**वृक्षम् अवचिनोति फलानि** (वृक्ष से फलों को बटोरता है)। इसी धातु से काय, निकाय, निश्चय, उपचय, अपचय, अपचिति, चिता, चिति, सञ्चय आदि शब्द बनते हैं। ञित् होने से यह धातु उभय-पदी है। 'ऊद्दन्तैः०' के अनुसार यह अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् होता है परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प हो जाता है। लिँट् और लुङ् को छोड़ कर इसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया 'सु' धातु की तरह होती है।

लँट्—(परस्मै०) **चिनोति, चिनुतः, चिन्वन्ति । चिनोषि, चिनुथः, चिनुथ । चिनोमि, चिन्वः-चिनुवः, चिन्मः-चिनुमः ।** (आत्मने०) **चिनुते, चिन्वाते, चिन्वते । चिनुषे, चिन्वाथे, चिनुध्वे । चिन्वे, चिन्वहे-चिनुवहे, चिन्महे-चिनुमहे ।**

लिँट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में तिप् को णल् होकर द्वित्व करने पर 'चि+चि+अ' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६४७) विभाषा चेः ।७।३।५८॥

अभ्यासात्परस्य कुत्वं वा स्यात् सनि लिँटि च। चिकाय-चिचाय। चिक्ये-चिच्ये। अचैषीत्; अचेष्ट ॥

अर्थः—अभ्यास से परे चिञ् धातु को विकल्प से कुत्व हो सन् या लिँट् परे हो तो।

व्याख्या—विभाषा ।१।१। चेः ।६।१। कु ।१।१। (**'चजोः कु घिण्ण्यतोः'**) से। अभ्यासात् ।५।१। (**'अभ्यासाच्च'** से)। सल्लिँटोः ।७।२। (**'सल्लिँटोर्जेः'** से)। अर्थः—(अभ्यासात्) अभ्यास से परे (चेः) **'चि'** धातु के स्थान पर (विभाषा) विकल्प से (कु) कवर्ग आदेश हो जाता है (सन्-लिँटोः) सन् या लिँट् परे हो तो।

'चजोः' का अधिकार होने से 'चि' धातु के चकार को ही कवर्ग-ककार आदेश होता है अन्त्य अल् को नहीं। सन् परे होने के 'चिकीषति-चिचीषति' आदि उदाहरण हैं। लिँट् परे रहने का उदाहरण यथा—

'चि+चि+अ' यहां लिँट् परे है अतः अभ्यास से परे 'चि' के चकार को प्रकृतसूत्र से वैकल्पिक ककार आदेश होकर दोनों पक्षों में अजन्त अङ्ग को वृद्धि और आयादेश करने से 'चिकाय-चिचाय' दो रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार आत्मनेपद में भी कुत्व हो जाता है—चिक्ये-चिच्ये। गुण-वृद्धि के अविषय में अजादि प्रत्ययों के परे रहते इयँङ् का बाध कर 'एरनेकाचः०' (२००) से यण् हो जाता है। लिँट् के दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) कुत्वपक्षे—**चिकाय, चिक्यतुः, चिक्युः। चिकयिथ,-चिकेथ, चिक्यथुः, चिक्य। चिकाय-चिकय, चिक्यिव, चिक्यिम।** कुत्वाभावे—**चिचाय, चिच्यतुः, चिच्युः** आदि। (आत्मने०) कुत्वपक्षे—**चिक्ये, चिक्याते, चिक्यिरे। चिक्यिषे, चिक्याथे, चिक्यिढ्वे,-चिक्यिध्वे** (विभाषेटः)। **चिक्ये, चिक्यिवहे, चिक्यिमहे।** कुत्वाभावे—**चिच्ये, चिच्याते, चिच्यिरे** आदि।

लुँट्—दोनों पदों में इण्निषेध होकर गुण हो जाता है। (परस्मै०) **चेता, चेतारौ, चेतारः। चेतासि—।** (आत्मने०) **चेता, चेतारौ, चेतारः। चेतासे—।** लृँट्—(परस्मै०) **चेष्यति, चेष्यतः, चेष्यन्ति।** (आत्मने०) **चेष्यते, चेष्येते, चेष्यन्ते।** लोँट्—(परस्मै०) **चिनोतु-चिनुतात्, चिनुताम्, चिन्वन्तु। चिनु-चिनुतात्, चिनुतम्, चिनुत। चिनवानि, चिनवाव, चिनवाम।**(आत्मने०)**चिनुताम्, चिन्वाताम्, चिन्वताम्। चिनुष्व, चिन्वाथाम्, चिनुध्वम्। चिनवै, चिनवावहै, चिनवामहै।** लँङ्—(परस्मै०) **अचिनोत्, अचिनुताम्, अचिन्वन्। अचिनोः, अचिनुतम्, अचिनुत। अचिनवम्, अचिन्व-अचिनुव, अचिन्म-अचिनुम।** (आत्मने०) **अचिनुत, अचिन्वाताम्, अचिन्वत। अचिनुथाः, अचिन्वाथाम्, अचिनुध्वम्। अचिन्वि, अचिन्वहि-अचिनुवहि, अचिन्महि-अचिनुमहि।** विधिलिँङ्—(परस्मै०) **चिनुयात्, चिनुयाताम्, चिनुयुः।** (आत्मने०) **चिन्वीत, चिन्वीयाताम्, चिन्वीरन्।** आ० लिँङ्—(परस्मै०) **चीयात्, चीयास्ताम्, चीयासुः।** (आत्मने०) **चेषीष्ट, चेषीयास्ताम्, चेषीरन्।** लुँङ्—(परस्मै०) में इगन्तलक्षणा वृद्धि तथा आत्मने० में गुण हो जाता है—(परस्मै०) **अचैषीत्, अचैष्टाम्, अचैषुः।** (आत्मने०) **अचेष्ट, अचेषाताम्, अचेषत।** लृँङ्—(परस्मै०) **अचेष्यत्, अचेष्यताम्, अचेष्यन्।** (आत्मने०) **अचेष्यत, अचेष्येताम्, अचेष्यन्त।**

उपसर्गयोग—सम्√चि=सञ्चय करना, संग्रह करना (**तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः**—मनु० ४.२४२)।

आ√चि=आच्छादित करना (**आचिचाय स तैः सेनाम् आचिकाय च राघवौ**—भट्टि० १४.४६)।

सम्+आ√चि=ढेर लगाना (**यदा तु वाससां राशिः सभामध्ये समाचितः**—महा०)।

अव√चि=नीचे ठहर कर चुनना, बटोरना (गता स्यादवचिन्वाना कुसुमान्याश्रमद्रुमान्—भट्टि० ६.१०)।

उद्√चि=ऊँचा ढेर लगाना (रूपोच्चयेन विधिना विहिता कृशाङ्गी—शाकुन्तल २.१०, इसी प्रकार 'शिलोच्चयः, पुष्पोच्चयः' आदि)।

वि+निस्√चि=निश्चय करना (विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा—उत्तर० १.३५)।

उप√चि=बढ़ाना (उपचिन्वन् प्रभां तन्वीं प्रत्याह परमेश्वरः—कुमार० ६.२५; चेतःपीडामुपचिनोति—मुद्रा० २)।

अप√चि=घटाना, क्षीण करना (अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यम्—शाकुन्तल २.४)।

नोट—'उचित, अनुचित' शब्द 'उच समवाये' (दिवा० परस्मै०) धातु से बनते हैं। अपचित (पूजित) और अपचिति (पूजा) शब्द 'चायृ पूजानिशामनयोः' (भ्वा० उभय०) धातु से बनते हैं ('अपचितश्च' ७.२.३०)।

इस धातु के कर्मकर्तरि प्रयोग बहुत उपलब्ध होते हैं। यथा—अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते (हितो० २.२); राजहंस! तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते (काव्यप्रकाश १०); छिन्नोऽपि रोहति तरुः क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः (नीति० ७६); चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः (मुद्रा० ३)।

[लघु०] स्तृञ् आच्छादने ॥३॥ स्तृणोति; स्तृणुते ॥

अर्थः—स्तृञ् (स्तृ) धातु 'आच्छादन करना, ढांपना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—ञित् होने से यह धातु उभयपदी तथा 'ऊदृदन्तैः०' कारिका के अनुसार अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से इट् हो जाता है परन्तु अजन्त होने से थल् में 'अचस्तास्वत्०' (४८०) द्वारा पुनः निषेध हो जाता है। ध्यान रहे कि ऋदन्त होने से यहां भारद्वाजनियम से विकल्प नहीं होता।

लँट्—दोनों पदों में पूर्ववत् श्नु प्रत्यय तथा यथासम्भव गुण और गुणाभाव होकर 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' (वा० २१) से णत्व हो जाता है—(परस्मै०) स्तृणोति, स्तृणुतः, स्तृण्वन्ति। (आत्मने०) स्तृणुते, स्तृण्वाते, स्तृण्वते।

लिँट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में द्वित्व करने पर 'स्तृ+स्तृ+अ' इस स्थिति में 'उरत्' (४७३) द्वारा अभ्यास के ऋवर्ण को अर् होकर—स्तर्+स्तृ+अ। अब 'हलादिः शेषः' (३९६) से सकार के अतिरिक्त अभ्यास के अन्य सब हलों का लोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम अपवादसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६४८) शर्पूर्वाः खयः ।७।४।६१॥

अभ्यासस्य शर्पूर्वाः खयः शिष्यन्ते, अन्ये हलो लुप्यन्ते। तस्तार

तस्तरतुः । तस्तरे । **गुणोऽर्ति० (४९८)** इति गुणः—स्तर्यात् ॥

अर्थः—अभ्यास के शर्पूर्व (शर् है पूर्व जिन के ऐसे) खय् ही शेष रहते हैं, अन्य हल् लुप्त हो जाते हैं।

व्याख्या—शर्पूर्वाः ।१।३। खयः ।१।३। शेषाः ।१।३। (**'हलादिः शेषः'** से वचन-विपरिणाम कर के)।अभ्यासस्य ।६।१। (**'अत्र लोपोऽभ्यासस्य'** से) । शर् (शषसवर्णाः) पूर्वो येभ्यस्ते शर्पूर्वाः, अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि० । शिष्यन्त इति शेषाः, कर्मणि घञ् । इतरनिवृत्तिपूर्वकमवस्थानमेव शिषेरर्थः, तेन 'अभ्यासस्य अन्ये हलो लुप्यन्ते' इति लभ्यते । अर्थः— (अभ्यासस्य) अभ्यास के, (शर्पूर्वाः) शर् है पूर्व जिन के ऐसे (खयः) खय् वर्ण (शेषाः) शेष रहते हैं अर्थात् अभ्यास के अन्य हलों का लोप हो जाता है[1] । वर्गों के प्रथम और द्वितीय वर्ण ही खय् प्रत्याहार के अन्तर्गत आते हैं।

'स्तर्+स्तृ+अ' यहां अभ्यास का तकार खय् वर्ण है, इस से पूर्व शर् (स्) मौजूद है अतः केवल यही तकार ही अवशिष्ट रहा अन्य सब अभ्यासगत हल् लुप्त हो गये—त+स्तृ+अ । अब **'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः'** (४९६) से ऋवर्ण को गुण, रपर तथा **'अत उपधायाः'** (४५५) से उपधा के अकार को वृद्धि करने पर 'तस्तार' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'तस्तरतुः' आदि की सिद्धि समझनी चाहिये । आत्मनेपद में भी इसी तरह प्रक्रिया होती है। लिंट् में रूपमाला यथा—(परस्मै०) **तस्तार[2], तस्तरतुः, तस्तरुः । तस्तर्थ, तस्तरथुः, तस्तर । तस्तार-तस्तर, तस्तरिव, तस्तरिम ।** (आत्मने०) **तस्तरे, तस्तराते, तस्तरिरे । तस्तरिषे, तस्तराथे, तस्तरिढ्वे-तस्तरिध्वे । तस्तरे, तस्तरिवहे, तस्तरिमहे ।**

लुँट्—में इण्निषेध होकर गुण हो जाता है—(परस्मै०) **स्तर्ता, स्तर्तारौ, स्तर्तारः । स्तर्तासि—।** (आत्मने०) **स्तर्ता, स्तर्तारौ, स्तर्तारः । स्तर्तासे—।** लृँट्—में **'ऋद्धनोः स्ये'** (४९७) से इट् हो जाता है—(परस्मै०) **स्तरिष्यति, स्तरिष्यतः, स्तरिष्यन्ति ।** (आत्मने०) **स्तरिष्यते, स्तरिष्येते, स्तरिष्यन्ते ।** लोँट्—(परस्मै०) **स्तृणोतु-स्तृणुतात्, स्तृणुताम्, स्तृण्वन्तु, । स्तृणु-स्तृणुतात्—।** (आत्मने०) **स्तृणुताम्, स्तृण्वाताम्, स्तृण्वताम् । स्तृणुष्व— ।** लँङ्—(परस्मै०) **अस्तृणोत्, अस्तृणुताम्, अस्तृण्वन् ।** (आत्मने०) **अस्तृणुत, अस्तृण्वाताम्, अस्तृण्वत ।** वि० लिँङ्—(परस्मै०) **स्तृणुयात्, स्तृणुयाताम्, स्तृणुयुः ।** (आत्मने०) **स्तृण्वीत, स्तृण्वीयाताम्, स्तृण्वीरन् ।**

---

१. यहां पर **'हलादिः शेषः'** (३९६) सूत्र से **'आदिः'** पद का भी अनुवर्त्तन कर लेना चाहिये । वे खय् जहां शर्पूर्व हों वहां अभ्यास के आदि में भी स्थित होने चाहियें । अर्थात् शर् के अतिरिक्त यदि कोई अभ्यास के आदि में स्थित हो तो वह खय् ही हो । इससे 'व्रश्च्+व्रश्च्+अ=वव्रश्च' यहां पर अभ्यास का चकार शर्पूर्व होता हुआ भी शेष नहीं रहता कारण कि वह आदि में स्थित नहीं है।

२. **तस्तार सरघाव्याप्तैः सक्षौद्रपटलैरिव**—रघु० ४.६३ ।

आ० लिँङ्—(परस्मै०) में 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः' (४९८) से गुण हो जाता है—स्तर्यात्, स्तर्यास्ताम् स्तर्यासुः। (आत्मने०) में 'स्तृ+सीस्त' इस स्थिति में इट् का निषेध प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र से विकल्प विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६४९) ऋतश्च संयोगादेः[1] ।७।२।४३॥

ऋदन्तात् संयोगादेः परयोर्लिङ्सिँचोरिड् वा स्यात्तङि। स्तरिषीष्ट-स्तृषीष्ट। अस्तरिष्ट-अस्तृत॥

अर्थः—संयोग जिस के आदि में हो ऐसी ऋदन्त धातु से परे लिँङ् और सिँच् को विकल्प से इट् का आगम हो जाता है आत्मनेपद प्रत्ययों का विषय हो तो।

व्याख्या—ऋतः ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। संयोगादेः ।५।१। लिँङ्-सिँचोः ।६।२। आत्मनेपदेषु ।७।३। इट् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् ('इट् सनि वा' से)। '**अङ्गस्य**' का अधिकार आ रहा है, वह अङ्ग धातु ही हो सकता है, अतः 'धातोः' का अध्याहार कर लिया जाता है। 'ऋतः' और 'संयोगादेः' दोनों को 'धातोः' का विशेषण बना दिया जाता है। 'ऋतः' से तदन्तविधि होकर 'ऋदन्ताद् धातोः' उपलब्ध हो जाता है। संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिस्तस्मात् संयोगादेः, बहु०। अर्थः—(संयोगादेः) संयोग जिसके आदि में हो ऐसी (ऋतः=ऋदन्ताद् धातोः) ऋदन्त धातु से परे (लिँङ्-सिँचोः) लिँङ् और सिँच् का अवयव (इट्) इट् (वा) विकल्प से हो जाता है (आत्मनेपदेषु) आत्मनेपद प्रत्ययों का विषय हो तो।

'स्तृ+सीस्त' यहां 'स्तृ' यह संयोगादि ऋदन्त धातु है इस से परे आत्मनेपद में लिँङ् (सीस्त) को प्रकृतसूत्र से इट् का आगम विकल्प से हो गया। इट्पक्ष में आर्धधातुकगुण होकर 'स्तरिषीष्ट' तथा इट् के अभाव में 'उश्च' (५४४) द्वारा झलादि लिँङ् के कित्त्व के कारण गुण का निषेध होकर 'स्तृषीष्ट' रूप सिद्ध होता है। आ० लिँङ् के आत्मने० में रूपमाला यथा—इट्पक्षे—**स्तरिषीष्ट, स्तरिषीयास्ताम्, स्तरिषीरन्**। इटोऽभावे—**स्तृषीष्ट, स्तृषीयास्ताम्, स्तृषीरन्**।

लुँङ्—(परस्मै०) में इगन्तलक्षणा वृद्धि हो जाती है—**अस्तार्षीत्, अस्तार्ष्टाम्, अस्तार्षुः। अस्तार्षीः, अस्तार्ष्टम्, अस्तार्ष्ट। अस्तार्षम्, अस्तार्ष्व, अस्तार्ष्म**। (आत्मने०) में प्रकृतसूत्र से सिँच् को इट् का आगम विकल्प से हो जाता है। इट्पक्ष में गुण होकर 'अस्तरिष्ट' आदि रूप बनते हैं। इट् के अभाव में 'उश्च' (५४४) द्वारा सिँच् के कित्त्व के कारण गुण का निषेध हो जाता है। तब झलादि प्रत्ययों में 'ह्रस्वादङ्गात्' (५४५) से सिँच् के सकार का लोप हो जाता है। रूपमाला यथा—**अस्तृत, अस्तृषाताम्, अस्तृषत। अस्तृथाः, अस्तृषाथाम्, अस्तृढ्वम्। अस्तृषि, अस्तृष्वहि, अस्तृष्महि**।

---

१. 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' (७.४.१०) तथा इस 'ऋतश्च संयोगादेः' सूत्र का पृथक् पृथक् विषय है। प्रायः विद्यार्थी इन को एक समझ कर भूल कर जाते हैं।

लृङ्—के दोनों पदों में 'ऋद्धनोः स्ये' (४६७) से इट् का आगम हो जाता है—(परस्मै०) अस्तरिष्यत्, अस्तरिष्यताम्, अस्तरिष्यन्। (आत्मने०) अस्तरिष्यत, अस्तरिष्येताम्, अस्तरिष्यन्त।

नोट—अवेस्ता, ग्रीक्, लेटिन्, गोथिक्, जर्मन्, इंग्लिश आदि कई भारोपीय भाषाओं में इस धातु का अद्भुत साम्य पाया जाता है।

[लघु०] धूञ् कम्पने[1] ॥४॥ धूनोति; धूनुते। दुधाव। स्वरति० (४७६) इति वेट्—दुधविथ-दुधोथ॥

अर्थः—धूञ् (धू) धातु 'कम्पाना-हिलाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु स्वादि, तुदादि, क्र्यादि और चुरादि इन चार गणों में पढ़ी गई है। कई वैयाकरण स्वादिगण में इसे ह्रस्वान्त भी पढ़ते हैं। श्रीहलायुधकृत कविरहस्य के आठवें पद्य में इन सब का सुन्दररीत्या संकलन किया गया है—

> धूनोति चम्पक-वनानि धुनोत्यशोकं
> चूतं धुनाति धुवति स्फुटिताऽतिमुक्तम्।
> वायुर्विधूनयति चम्पक-पुष्प-रेणून्
> यत्कानने धवति चन्दन-मञ्जरीश्च॥

ञित् होने से यह धातु उभयपदी तथा ऊदन्त होने से सेट् है। परन्तु 'स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा' (४७६) सूत्र में परिगणित होने से यह वेट् हो जाती है। लिट् के विषय में विशेष बात आगे मूल में ही कही गई है।

लट्—(परस्मै०) धूनोति, धूनुतः, धून्वन्ति। (आत्मने०) धूनुते, धून्वाते, धून्वते।

लिट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में तिप्, णल्, द्वित्व और अभ्यास-कार्य करने पर—दुधू+अ। अब अजन्तलक्षणा वृद्धि और औकार को आवादेश करने से 'दुधाव' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में 'असंयोगाल्लिँट्०' (४५२) से अतुस् के कित् होने के कारण गुण नहीं होता, 'अचि श्नु०' (१९९) से उवँङ् होकर—दुधुवतुः। इसी प्रकार बहुवचन में—दुधुवुः। म० पु० के एकवचन में 'धू+थ' इस स्थिति में धातु के सेट् होने से नित्य इट् प्राप्त था पुनः 'स्वरतिसूति०' (४७६) सूत्र से उसका बाध कर वैकल्पिक इट् होकर द्वित्व, गुण और अवादेश करने पर 'दुधविथ-दुधोथ' दो रूप सिद्ध होते हैं। उ० पु० के वस् और मस् में क्रमशः व और म आदेश होकर 'धू+व, धू+म' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(६५०) श्र्युकः क्किति ।७।२।११॥

---

१. यहां 'कम्पन' का अर्थ 'कांपना या हिलना' नहीं, अपितु 'कपि चलने' धातु के णिजन्त का ल्युट् में प्रयोग बन कर 'कम्पाना या हिलाना' अर्थ है। अत एव यह धातु अकर्मक न होकर सकर्मक है।

श्रिञः, एकाच उगन्ताच्च गित्कितोरिण् न ॥

अर्थः—श्रिञ् धातु से परे या एकाच् उगन्त धातु से परे गित् कित् प्रत्ययों को इट् का आगम न हो।

व्याख्या—श्र्युकः ।५।१। क्किति ।७।१। (इस का षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है)। एकाचः ।५।१। ('एकाच उपदेशे०' से)। न इत्यव्ययपदम् । इट् ।१।१। ('नेड् वशि कृति' से)। श्रिश्च उक् च श्र्युक् । तस्मात् श्र्युकः । ग् च क् च क्कौ, क्कौ इतौ यस्य स क्कित्, तस्मिन् क्किति[1] । 'उक्' प्रत्याहार है, इस में उ, ऋ, लृ इन तीन वर्णों का समावेश होता है। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है, इस का पञ्चम्यन्त-तया विपरिणाम हो जाता है। 'उकः' यह 'अङ्गात्' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि होकर 'उगन्तादङ्गात्' बन जायेगा। 'एकाचः' को 'उगन्त' का ही विशेषण मानना उचित है इस से 'ऊर्णु' आदि अनेकाच् उगन्तों में इस सूत्र की प्रवृत्ति न होगी। अर्थः—(एकाचः श्र्युकः) श्रिधातु से परे तथा एकाच् उगन्त अङ्ग से परे (क्किति=क्कितः) गित् और कित् प्रत्ययों का अवयव (इट्) इट् (न) नहीं होता। उदाहरण यथा—श्रिञ्—(किति) श्रितः, श्रितवान्[2]; गित् का उदाहरण नहीं मिलता। एकाच् उगन्त—(किति) भूतः, भूतवान्, (गिति) भूष्णुः [ग्स्नु]।

'धू+व, धू+म' यहां एकाच् उगन्त अङ्ग 'धू' है, इस से परे व और म दोनों 'असंयोगाल्लिट् कित्' (४५२) से कित् हैं अतः प्रकृतसूत्र से इट् का निषेध हो जाता है। परन्तु यहां एक शङ्का उत्पन्न होती है कि जहां एक तरफ यह निषेध प्राप्त होता है वहां दूसरी तरफ 'स्वरतिसूति०' (४७६) से वैकल्पिक इट् भी प्राप्त होता है; दोनों ही कार्य स्वस्वस्थानों पर सावकाश हैं। 'श्र्युकः क्किति' को 'भूतः, भूतवान्' में तथा 'स्वरतिसूति०' को 'धविता-धोता' में अवकाश है। अतः दोनों के युगपत् प्राप्त होने पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) से परकार्य इट् का विकल्प (७.२.४४) होना चाहिये न कि इण्निषेध (७.२.११)। इस शङ्का के समाधान के लिये अग्रिम-फक्किका लिखते हैं—

[लघु०] परमपि स्वरत्यादिविकल्पं बाधित्वा पुरस्तात् प्रतिषेध-काण्डाऽऽरम्भसामर्थ्यादनेन निषेधे प्राप्ते क्रादिनियमान्नित्यमिट्—दुधुविव । दुधुवे ।

---

१. यहां 'क्किति' में प्रथम गकार को चर्त्व (८.४.५४) करने से ककार हो गया है। चर्त्व के असिद्ध होने से 'हशि च' (६.१.११०) को सामने गकार ही दीखेगा तो पुनः 'श्र्युको क्किति' सूत्र बनना चाहिये न कि 'श्र्युकः क्किति'। वैयाकरणों का कहना है कि यहां सौत्रत्वात् उत्व नहीं हुआ।

२. श्रिञ् धातु के लिट् में भी इस सूत्र से इट् का निषेध होकर पुनः क्रादि-नियम से इट् का नित्य विधान हो जाता है—शिश्रियिव, शिश्रियिम आदि। इसी प्रकार एकाच् उगन्त भू धातु में भी समझना चाहिये—बभूविव, बभूविम।

अधावीत् । अधविष्ट; अधोष्ट । अधविष्यत्-अधोष्यत्, अधविष्यताम्-अधोष्यताम् । अधविष्यत -अधोष्यत ।।

अर्थः—'**स्वरतिसूति०**' (४७६) द्वारा प्रतिपादित इट् का विकल्प यद्यपि निषेध (६५०) से पर है तथापि विधिकाण्ड से पूर्व प्रतिषेधकाण्ड को आरम्भ करने से निषेध की प्रधानता समझनी चाहिये, अतः निषेध ही प्रवृत्त होगा विकल्प नहीं। तब क्रादिनियम से नित्य इट् हो जायेगा ।

व्याख्या—अष्टाध्यायी के सप्तम अध्याय के द्वितीयपाद में '**नेड् वशि कृति, एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्, श्र्युकः क्किति**' आदि सूत्रों से पहले इट् का निषेध और बाद में '**आर्धधातुकस्येड् वलादेः**' अदि सूत्रों से इट् का विधान प्रारम्भ किया गया है। संसार में यह नियम है कि प्रथम किसी कार्य का विधान होता है और बाद में उस का निषेध। विधान से पूर्व निषेध संगत नहीं होता। परन्तु यहां आचार्य ने इट् के विधान से पूर्व उसके निषेध का प्रकरण आरम्भ कर दिया है। आचार्य की कोई प्रवृत्ति निष्फल नहीं होती अतः इस से प्रतीत होता है कि वे इट् के निषेध को इट् के विधान की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनकी दृष्टि में निषेध को प्राथमिकता दी जानी चाहिये न कि विधान को। बस इसी कारण 'धू+व, धू+म' में विप्रतिषेध में पर होते हुए भी '**स्वरतिसूति०**' सूत्र से विकल्प नहीं होता, निषेध ही प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार निषेध के प्रवृत्त हो जाने पर क्रादिनियम से पुनः नित्य इट् हो जाता है। तब, द्वित्व, अभ्यासकार्य और उवँङ् करने पर, 'दुधुविव, दुधुविम' रूप सिद्ध होते हैं। इसी तरह आत्मने० के वलादि स्थलों (से, ध्वे, वहे, महे) में भी प्रथम इट् का निषेध होकर बाद में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है। दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) **दुधाव, दुधुवतुः, दुधुवुः । दुधविथ-दुधोथ, दुधुवथुः, दुधुव । दुधाव-दुधव, दुधुविव, दुधुविम ।** (आत्मने०) **दुधुवे, दुधुवाते, दुधुविरे । दुधुविषे, दुधुवाथे, दुधुविढ्वे-दुधुविध्वे । दुधुवे, दुधुविवहे, दुधुविमहे ।**

लुँट्—दोनों पदों में '**स्वरतिसूति०**' (४७६) से वैकल्पिक इट् हो जाता है—(परस्मै०) इट्पक्षे—**धविता, धवितारौ, धवितारः । धवितासि— ।** इटोऽभावे—**धोता, धोतारौ, धोतारः । धोतासि— ।** (आत्मने०) इट्पक्षे—**धविता, धवितारौ, धवितारः । धवितासे— ।** इटोऽभावे—**धोता, धोतारौ, धोतारः । धोतासे — ।** लृँट्—(परस्मै०) इट्पक्षे—**धविष्यति, धविष्यतः, धविष्यन्ति ।** इटोऽभावे—**धोष्यति, धोष्यतः, धोष्यन्ति ।**

लोँट्—(परस्मै०) **धूनोतु-धूनुतात्, धूनुताम्, धून्वन्तु ।** (आत्मने०) **धूनुताम्, धून्वाताम्, धून्वताम् ।** लँङ्—(परस्मै०) **अधूनोत्, अधूनुताम्, अधून्वन् ।** (आत्मने०) **अधूनुत, अधून्वाताम्, अधून्वत ।** वि० लिँङ्—(परस्मै०) **धूनुयात्, धूनुयाताम्, धूनुयुः ।** (आत्मने०) **धून्वीत, धून्वीयाताम्, धून्वीरन् ।** । आ० लिँङ्—(परस्मै०) **धूयात्, धूयास्ताम्, धूयासुः ।** (आत्मने०) इट्पक्षे—**धविषीष्ट, धविषीयास्ताम्,**

धविषीरन् । इटोऽभावे—धोषीष्ट, धोषीयास्ताम्, धोषीरन् ।

लुँङ्—(परस्मै०) में 'स्वरतिसूति०' के विकल्प का बाध कर 'स्तु-सु-धूञ्भ्यः परस्मैपदेषु' (६४६) से नित्य इट् हो जाता है। तब इगन्तलक्षणा वृद्धि हो जाती है। रूपमाला यथा—अधावीत्, अधाविष्टाम्, अधाविषुः। (आत्मने०) में पूर्ववत् इट् का विकल्प हो जाता है। रूपमाला यथा—(इट्पक्षे) अधविष्ट, अधविषाताम्, अधविषत। (इटोऽभावे) अधोष्ट, अधोषाताम्, अधोषत।

लृँङ्—(परस्मै०) इट्पक्षे—अधविष्यत्, अधविष्यताम्, अधविष्यन्। इटोऽभावे—अधोष्यत्, अधोष्यताम्, अधोष्यन्। (आत्मने०) इट्पक्षे—अधविष्यत, अधविष्येताम्, अधविष्यन्त। इटोऽभावे—अधोष्यत, अधोष्येताम्, अधोष्यन्त।

अब निम्न-धातुओं की रूपसिद्धि में कोई कठिनाई नहीं आयेगी—

(१) टुदु उपतापे (स्वा० परस्मै० अनिट्; दुःखी करना व दुःखी होना[1])। लँट्—दुनोति। लिँट्—दुदाव, दुदुवतुः, दुदुवुः। दुदविथ-दुदोथ, दुदुवथुः, दुदुव। दुदाव-दुदव, दुदुविव, दुदुविम। लुँट्—दोता। लृँट्—दोष्यति। लोँट्—दुनोतु-दुनुतात्। लँङ्—अदुनोत्। वि० लिँङ्—दुनुयात्। आ० लिँङ्—दूयात्। लुँङ्—अदौषीत्। लृँङ्—अदोष्यत्।

(२) शक्लृँ शक्तौ (स्वा० परस्मै० अनिट्; समर्थ होना वा शक्त होना)। लँट्—शक्नोति, शक्नुतः, शक्नुवन्ति[2]। लिँट्—शशाक, शेकतुः, शेकुः। शेकिथ-शशक्थ, शेकथुः, शेक। शशाक-शशक, शेकिव, शेकिम। लुँट्—शक्ता। लृँट्—शक्ष्यति। लोँट्—शक्नोतु-शक्नुतात्। लँङ्—अशक्नोत्। वि० लिँङ्—शक्नुयात्। आ० लिँङ्—शक्यात्। लुँङ्—अशकत् (लृदित्त्वादङ् ५०७)। लृँङ्—अशक्ष्यत्।

(३) आप्लृँ व्याप्तौ (स्वा० परस्मै० अनिट्; व्याप्त करना, पाना)। लँट्—आप्नोति। लिँट्—आप, आपतुः, आपुः। आपिथ[3], आपथुः, आप। आप, आपिव, आपिम। लुँट्—आप्ता। लृँट्—आप्स्यति। लोँट्—आप्नोतु-आप्नुतात्। लँङ्—आप्नोत्। वि० लिँङ्—आप्नुयात्। आ० लिँङ्—आप्यात्। लुँङ्—आपत् (लृदित्त्वादङ्)। लृँङ्—आप्स्यत्। उपसर्गयोग—प्राप्नोति=पाता है। समाप्नोति=समाप्त करता है। व्याप्नोति=व्याप्त करता है। अवाप्नोति=पाता है। आप्नोति (आङ्)=पाता है।

---

१. दुःखी करना यथा—मुखं तव दुनोति माम् (रघु० ८.५६); दुःखी होना यथा—मन्मथेन दुनोमि (गीतगोविन्द ३.६)।

२. संयोगपूर्व होने से 'हुश्नुवोः०' (५०१) से यण् नहीं होता। इसी प्रकार 'शक्नुवः, शक्नुमः' में 'लोपश्चाऽस्यान्यतरस्यां म्वोः' (५०२) तथा 'शक्नुहि' में 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' (५०३) प्रवृत्त नहीं होता।

३. क्रादिनियमान्नित्यमिट्।

(अभ्यास ११)

(१) निम्न प्रश्नों का सप्रमाण उत्तर दीजिये—

(क) 'सुन्वन्ति' में 'शक्नुवन्ति' की तरह उवँङ् क्यों नहीं होता ?

(ख) 'शक्नुवः' की तरह 'सुन्वः' में उकारलोप का अभाव क्यों न हो ?

(ग) श्नु को शित् करने का क्या प्रयोजन है ?

(घ) 'चिनोति' में श्लुनिमित्तक गुण क्यों नहीं होता ?

(ङ) 'षुञ्' को षोपदेश करने का क्या प्रयोजन है ?

(२) 'स्वरतिसूति०' द्वारा 'दुधुविव, दुधुविम' में वैकल्पिक इट् क्यों नहीं ?

(३) निम्न सूत्रों की व्याख्या करें—

अचुकः क्क्ति; शर्पूर्वाः खयः; ऋतश्च संयोगादेः; विभाषा चेः ।

(४) निम्न रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

चिकाय; सुन्वन्ति; असावीत्; दुधुविव; स्तरिषीष्ट; तस्तरतुः; सुनु; स्तर्यात्; आपत्; आप ।

(५) 'अधावीत्' में 'स्वरतिसूति०' द्वारा इट् का विकल्प क्यों न हो ?

इति तिङन्ते स्वादयः

(यहां पर स्वादिगण की धातुओं का विवेचन समाप्त होता है)

अथ तिङन्ते तुदादयः

अब तिङन्तप्रकरण में तुदादिगण की धातुओं का निरूपण किया जाता है—

[लघु०] **तुदँ व्यथने ॥१॥**

अर्थः—तुदँ (तुद्) धातु 'दुःख देना, सताना, चुभोना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—तुदँ में अन्त्य अकार स्वरित तथा अनुनासिक है, इत्सञ्ज्ञा कर इस का लोप करने से 'तुद्' ही अवशिष्ट रहता है । स्वरितेत् होने से यह धातु उभयपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है । लिँट् में सर्वत्र (थल् में भी) क्रादिनियम से इट् हो जाता है । इसी धातु से ही 'प्रतोद, तुत्थ, अरुन्तुद, विधुन्तुद' आदि शब्द निष्पन्न होते हैं ।

लँट्—(परस्मै) प्र० पु० के एकवचन में 'तुद्+ति' इस स्थिति में 'कर्तरि शप्' (३८७) से प्राप्त शप् का बाध कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६५१) **तुदादिभ्यः शः ।३।१।७७॥**

शपोऽपवादः । तुदति; तुदते । तुतोद । तुतोदिथ । तुतुदे । तोत्ता । अतौत्सीत्; अतुत्त ॥

अर्थः—कर्तृवाचक सार्वधातुक परे होने पर तुदादिगण की धातुओं से परे 'श' प्रत्यय हो । शपोऽप०—यह सूत्र शप् का अपवाद है ।

व्याख्या—तुदादिभ्यः ।५।३। शः ।१।१। कर्त्तरि ।७।१। (**'कर्त्तरि शप्'** से)। सार्वधातुके ।७।१। (**'सार्वधातुके यक्'** से)। **'प्रत्ययः, परश्च'** दोनों अधिकृत हैं। तुद् आदिर्येषान्ते तुदादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः । अर्थः—(तुदादिभ्यः) तुद् आदि धातुओं से परे (शः प्रत्ययः) 'श' प्रत्यय हो जाता है (कर्तरि सार्वधातुके) कर्त्ता अर्थ में सार्वधातुक परे हो तो। 'श' में **'लशक्वतद्धिते'** (१३६) द्वारा शकार इत्सञ्ज्ञक है अतः 'अ' ही अवशिष्ट रहता है। सार्वधातुकसञ्ज्ञा करने के लिये इसे शित् किया गया है।

'तुद्+ति' यहां कर्तृवाचक सार्वधातुक 'ति' परे है अतः प्रकृतसूत्र से शप्रत्यय होकर अनुबन्धलोप करने से—तुद्+अ+ति । 'श' की **'तिङ्शित्सार्व०'** (३८६) से सार्वधातुकसञ्ज्ञा है अतः उस के परे रहते **'पुगन्त-लघूपधस्य च'** (४५१) से लघूपधगुण प्राप्त होता है। परन्तु 'श' अपित् है, **'सार्वधातुकमपित्'** (५००) से वह ङिद्वत् हो जाता है इस से **'क्क्ङिति च'** (४३३) द्वारा गुण का निषेध हो जाता है—तुदति ।

शप् और श में मुख्यतया यही भेद है कि शप् के परे होने पर गुण हो सकता है जो श के परे रहते नहीं होता। इस के अतिरिक्त 'वृश्चति' आदि में सम्प्रसारण[1], तथा शी और ङीप् में नुम् का विकल्प भी प्रयोजन है[2]। किञ्च वैदिक प्रयोगों में शप् और श के स्वर में भी अन्तर पड़ता है[3]।

आत्मने० में भी इसी प्रकार शप्रत्यय होकर 'तुदते' आदि रूप बनते हैं। रूपमाला यथा—(परस्मै०) **तुदति, तुदतः, तुदन्ति** । (आत्मने०) **तुदते, तुदेते, तुदन्ते** ।

लिंट्—में कुछ विशेष नहीं। रूपमाला यथा—(परस्मै०) **तुतोद, तुतुदतुः, तुतुदुः । तुतोदिथ, तुतुदथुः, तुतुद । तुतोद, तुतुदिव, तुतुदिम** । (आत्मने०) **तुतुदे, तुतुदाते, तुतुदिरे । तुतुदिषे, तुतुदाथे, तुतुदिध्वे । तुतुदे, तुतुदिवहे, तुतुदिमहे** ।

लुँट्—में इण्निषेध और गुण होकर **'खरि च'** (७४) से चर्त्व हो जाता है।

---

१. **ग्रहिज्या०** (६२४) से ङित् परे रहते सम्प्रसारण होता है।

२. शविकरण शत्रन्तों के स्त्रीलिङ्ग में 'तुदन्ती-तुदती, नुदन्ती-नुदती' इस प्रकार दो दो रूप बनते हैं, परन्तु शप्-विकरण शत्रन्तों का 'भवन्ती, गच्छन्ती' इस प्रकार एक एक रूप बनता है। इसी प्रकार नपुंसकलिङ्ग के द्विवचन शी (औ) में भी अन्तर पड़ता है। यह सब हम पूर्वार्ध में (३६६) सूत्र पर सविस्तर लिख चुके हैं वहीं देखें।

३. शप् पित् है अतः **'अनुदात्तौ सुप्पितौ'** (३.१.४) से अनुदात्त होता है, परन्तु श प्रत्यय **'आद्युदात्तश्च'** (३.१.३) से उदात्त है।

(परस्मै०) तोत्ता, तोत्तारौ, तोत्तारः। तोत्तासि—। (आत्मने०) तोत्ता, तोत्तारौ, तोत्तारः। तोत्तासे—। लृँट्—(परस्मै०) तोत्स्यति, तोत्स्यतः, तोत्स्यन्ति। (आत्मने०) तोत्स्यते, तोत्स्येते, तोत्स्यन्ते। लोँट्—(परस्मै०) तुदतु-तुदतात्, तुदताम्, तुदन्तु। (आत्मने०) तुदताम्, तुदेताम्, तुदन्ताम्। लँङ्—(परस्मै०) अतुदत्, अतुदताम्, अतुदन्। (आत्मने०) अतुदत, अतुदेताम्, अतुदन्त। वि० लिँङ्—(परस्मै०) तुदेत्, तुदेताम्, तुदेयुः। (आत्मने०) तुदेत, तुदेयाताम्, तुदेरन्। आ० लिँङ्—(परस्मै०) तुद्यात्, तुद्यास्ताम्, तुद्यासुः। (आत्मने०) 'लिँङ्सिँचावात्मनेपदेषु' (५८९) से कित्त्व के कारण लघूपधगुण नहीं होता—तुत्सीष्ट, तुत्सीयास्ताम्, तुत्सीरन्।

लुँङ्—परस्मै० में हलन्तलक्षणा (४६५) वृद्धि हो जाती है। ताम्, तम् और त में सकार का झलोझलिलोप हो जाता है। आत्मने० में 'लिँङ्सिँचावात्मने०' (५८९) से सिँच् के कित्त्व के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है। त, थास् और ध्वम् में सकार का लोप हो जाता है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) अतौत्सीत्, अतौत्ताम्, अतौत्सुः। अतौत्सीः, अतौत्तम्, अतौत्त। अतौत्सम्, अतौत्स्व, अतौत्स्म। (आत्मने०) अतुत्त, अतुत्साताम्, अतुत्सत। अतुत्थाः, अतुत्साथाम्, अतुद्ध्वम्। अतुत्सि, अतुत्स्वहि, अतुत्स्महि।

लृँङ्—(परस्मै०) अतोत्स्यत्, अतोत्स्यताम्, अतोत्स्यन्। (आत्मने०) अतोत्स्यत, अतोत्स्येताम्, अतोत्स्यन्त।

[लघु०] **णुदँ प्रेरणे** ॥२॥ नुदति; नुदते। नुनोद। नोत्ता॥

अर्थः—णुदँ (नुद्) धातु 'प्रेरणा करना, फेंकना, परे हटाना, दूर करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् स्वरितेत् होने से उभयपदी है। 'णो नः' (४५८) द्वारा इस के णकार को नकार होकर 'नुद्' बन जाता है। णोपदेश का फल 'प्रणुदति' आदि में 'उपसर्गादसमासेऽपि णोप०' (४५९) द्वारा णत्व करना है। अनुदात्तों में परिगणित होने से यह अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र (थल् में भी) इट् हो जाता है। इस की समग्र प्रक्रिया 'तुद्' धातु की तरह होती है। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) नुदति, नुदतः, नुदन्ति। (आत्मने०) नुदते, नुदेते, नुदन्ते। लिँट्—(परस्मै०) नुनोद, नुनुदतुः, नुनुदुः। (आत्मने०) नुनुदे, नुनुदाते, नुनुदिरे। लुँट्—(परस्मै०) नोत्ता, नोत्तारौ, नोत्तारः। नोत्तासि—। (आत्मने०) नोत्ता, नोत्तारौ, नोत्तारः। नोत्तासे—। लृँट्—(परस्मै०) नोत्स्यति, नोत्स्यतः, नोत्स्यन्ति। (आत्मने०) नोत्स्यते, नोत्स्येते, नोत्स्यन्ते। लोँट्—(परस्मै०) नुदतु-नुदतात्,

१. प्रेरणा करना—हयाश्च नागाश्च वहन्ति नोदिताः (हितोप०)। फेंकना—नुदति शरं योधः (कविकल्पद्रुम)। दूर करना—आत्मापराधं नुदतीं चिराय (रघु० १६.८५)।

नुदताम्, नुदन्तु। (आत्मने०) नुदताम्, नुदेताम्, नुदन्ताम्। लँङ्—(परस्मै०) अनुदत्, अनुदताम्, अनुदन्। (आत्मने०) अनुदत, अनुदेताम्, अनुदन्त। वि० लिँङ्—(परस्मै०) नुदेत्, नुदेताम्, नुदेयुः। (आत्मने०) नुदेत, नुदेयाताम्, नुदेरन्। आ० लिँङ्—(परस्मै०) नुद्यात्, नुद्यास्ताम्, नुद्यासुः। (आत्मने०) नुत्सीष्ट, नुत्सीयास्ताम्, नुत्सीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अनौत्सीत्, अनौत्ताम्, अनौत्सुः। (आत्मने०) अनुत्त, अनुत्साताम्, अनुत्सत। लृँङ्—(परस्मै०) अनोत्स्यत्, अनोत्स्यताम्, अनोत्स्यन्। अनोत्स्यत, अनोत्स्येताम्, अनोत्स्यन्त।

उपसर्गयोग—अप√नुद्=दूर हटाना (न हि प्रपश्यामि ममाऽपनुद्याद् यच्छोक-मुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्—गीता २.८)। प्र√नुद् (प्रणुद्)=भली भांति हटाना (ततोऽन्धकारं प्रणुदन्नुदतिष्ठत चन्द्रमाः—महा० वन० ३१)। परा√नुद्(पराणुद्)=दूर भगाना (तन्नः पराणुद विभो! कश्मलं मानसं महत्—भागवत ३.७.७)। वि√नुद् (णिजन्त—विनोदयति)—बहलाना (क्व खिन्नमात्मानं विनोदयामि—शाकुन्तल ३.२०), दूर भगाना (तापं विनोदय दृष्टिभिः—गीतगोविन्द १०.१३)।

[लघु०] **भ्रस्जँ पाके ॥३॥** ग्रहिज्या० (६३४) इति सम्प्रसारणम्। सस्य श्चुत्वेन शः, शस्य जश्त्वेन जः—भृज्जति; भृज्जते ॥

अर्थः—भ्रस्जँ (भ्रस्ज्) धातु 'भूनना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् स्वरितेत् होने से उभयपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से इट् हो जाता है परन्तु थल् में अकारवान् धातु होने के कारण भारद्वाजनियम से विकल्प होता है।

लँट्—परस्मै प्र० पु० के एकवचन में श-विकरण होकर—भ्रस्ज्+अ+ति। **'सार्वधातुकमपित्'** (५००) से श (अ) प्रत्यय ङित् है अतः उसके परे रहते **'ग्रहिज्या०'** (६३४) सूत्र से भ्रस्ज् के रेफ को सम्प्रसारण ऋकार और **'सम्प्रसारणाच्च'** (२५८) से पूर्वरूप एकादेश करने पर—भृस्ज्+अ+ति। अब **'स्तोः श्चुना श्चुः'** (६२) से सकार को शकार तथा **'झलां जश्झशि'**(१९) से शकार को जकार करने से 'भृज्जति' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'भृज्जतः' आदि रूप बनते हैं। आत्मने० में भी इसी तरह प्रक्रिया होती है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) भृज्जति, भृज्जतः, भृज्जन्ति। (आत्मने०) भृज्जते, भृज्जेते, भृज्जन्ते।

लिँट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में तिप् को णल् होकर 'भ्रस्ज्+अ' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

---

१. भ्रस्ज् का अर्थ यद्यपि यहां मूल में 'पाक-पकाना' लिखा है तथापि यहां साधारण पाक अभिप्रेत नहीं। 'शाकं पचति' की तरह 'शाकं भृज्जति' का प्रयोग नहीं देखा जाता। पाक से यहां चने जौ आदि का भट्ठी में भूननारूप—पाकविशेष विवक्षित है। **'बभ्रज्ज निहते तस्मिन् शोको रावणमग्निवत्'** (भट्टि० १४.८६) इत्यादि प्रयोग लाक्षणिक समझने चाहियें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६५२) भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्। ६।४।४७॥

भ्रस्जे रेफस्योपधायाश्च स्थाने रमागमो वा स्याद् आर्धधातुके। मित्त्वादन्त्यादचः परः। स्थानषष्ठीनिर्देशाद् रोपधयोर्निवृत्तिः। बभर्ज। बभर्जतुः। बभर्जिथ-बभर्ष्ठ। बभ्रज्ज। बभ्रज्जतुः। बभ्रज्जिथ। **स्कोः०** (३०९) इति सलोपः, **व्रश्च०** (३०७) इति षः—बभ्रष्ठ। बभर्ज; बभ्रज्जे। भर्ष्टा; भ्रष्टा। भर्क्ष्यति; भ्रक्ष्यति॥

अर्थः—आर्धधातुक परे होने पर भ्रस्ज् धातु के रेफ और उपधा के स्थान पर विकल्प से रम् का आगम हो। **मित्त्वाद्**—मित् होने से रम् का आगम अन्त्य अच् से परे होता है। **स्थानषष्ठी०**—'रोपधयोः' में स्थानषष्ठी का निर्देश किया गया है अतः उन दोनों की निवृत्ति (लोप) हो जाती है।

व्याख्या—भ्रस्जः।६।१। रोपधयोः।६।२। रम्।१।१। अन्यतरस्याम्।७।१। आर्धधातुके।७।१। (यह अधिकृत है)। रश्च उपधा च रोपधे, रेफादकार उच्चारणार्थः, तयोः=रोपधयोः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(भ्रस्जः) भ्रस्ज् धातु के (रोपधयोः) रेफ और उपधा के स्थान पर (रम्) रम् हो (आर्धधातुके) आर्धधातुक परे होने पर (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में। दूसरी अवस्था में रम् न होगा अतः विकल्प सिद्ध हो जायेगा। रम् में अकार उच्चारणार्थक है, म् की 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है। इस प्रकार रम् का 'र्' ही अवशिष्ट रहता है।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह 'रम्' कहां किया जाये? एक तरफ तो मित् होने से **'मिदचोऽन्त्यात्परः'** (२४०) के अनुसार इसे भ्रस्ज् के अन्त्य अच् अर्थात् 'भ्र' से परे होना चाहिये; परन्तु दूसरी ओर इसे 'रोपधयोः' अर्थात् रेफ और उपधा (स्) के स्थान पर विधान किया गया है। यहां ये दोनों बातें क्योंकर एक साथ सम्भव हो सकती हैं? यदि इसे मित् मान कर अन्त्य अच् से परे करें तो रेफ के स्थान पर आदेश नहीं हो सकता, कारण कि रेफ अन्त्य अच् से पूर्व अवस्थित है; और यदि इसे रेफ के स्थान पर आदेश करें तो यह अन्त्य अच् से परे नहीं हो सकता। दोनों में एक बात की जा सकती है, या तो इसे मित् मान कर अन्त्य अच् से परे करें या फिर आदेश मान कर रेफ और उपधा के स्थान पर कर लें। यह आदेश भी रहे और मित् के कारण आगम भी—ये दोनों बातें सम्भव नहीं। इस के समाधान में वैयाकरणों का कहना है कि 'रोपधयोः' में स्थानषष्ठी कही गई है; स्थानषष्ठी जिस से लगाई जाती है उस की निवृत्ति (लोप) अभीष्ट हुआ करती है। यथा—**'अस्तेर्भूः'** (५७६) में अस् की, **'ब्रुवो वचिः'** (५९६) में ब्रू की, तथा **'च्लेः सिच्'** (४३८) में च्लि की निवृत्ति अभीष्ट है। अतः यहां पर भी सब से पहले रेफ और उपधा की निवृत्ति कर ली जायेगी, भ्रस्ज्=भज् बन जायेगा। अब उसे रम् का आगम कर भर्ज्=भर्ज् बना लिया जायेगा। इस प्रकार पाणिनि

के दोनों कथन सार्थक हो जायेंगे कोई व्यर्थ नहीं होगा। महाभाष्य में कहा भी है—
'भ्रस्जो रोपधयोर्लोप आगमो रम् विधीयते'।

इस सूत्र के द्वारा मोटे रूप में आर्धधातुक प्रत्ययों के परे रहते भ्रस्ज् को विकल्प से भर्ज् कर दिया जाता है। इस तरह आर्धधातुक प्रत्ययों में इस के भर्ज् और भ्रस्ज् दो रूप बन जाते हैं।

'भ्रस्ज्+अ' यहां **'लिट् च'** (४००) से लिँडादेश 'अ' आर्धधातुक है। इस के परे रहते प्रकृतसूत्र से रेफ और उपधा की निवृत्ति तथा रम् का आगम विकल्प से हो गया। रम् के पक्ष में 'भर्ज्+अ' इस स्थिति में द्वित्व, हलादिशेष तथा अभ्यास के भकार को बकार करने पर 'बभर्ज' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे अतुस् आदियों में सिद्धि होती है। थल् में भारद्वाजनियम से इट् का विकल्प होता है, इट्पक्ष में—बर्भजिथ। इट् के अभाव में 'बभर्ज्+थ' इस स्थिति में **'व्रश्चभ्रस्ज०'** (३०७) से जकार को षकार तथा **'ष्टुना ष्टुः'** से थकार को ठकार होकर 'बभर्ष्ठ' रूप बनता है। व और म में क्रादिनियम से नित्य इट् होकर—बर्भजिव, बर्भजिम। यह तो हुई रम्पक्ष की प्रक्रिया। रम् के अभाव में 'भ्रस्ज्+अ' इस स्थिति में द्वित्वादि कर 'बभ्रस्ज्+अ' हुआ। अब श्चुत्व से सकार को शकार तथा **'झलां जश् झशि'** (१९) से उसे जकार करने पर 'बभ्रज्ज' रूप बनता है। इसी प्रकार 'बभ्रज्जतुः' आदि। थल् के इट्पक्ष में—बभ्रज्जिथ। इट् के अभाव में 'बभ्रस्ज्+थ' इस स्थिति में झल् परे रहने से **'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च'** (३०९) द्वारा संयोगादि सकार का लोप होकर **'व्रश्च-भ्रस्ज०'** (३०७) से जकार को षकार तथा ष्टुत्व से थकार को ठकार करने पर 'बभ्रष्ठ' रूप बनता है। लिँट् (परस्मै०) में रूपमाला यथा—(रम्पक्षे) **बभर्ज, बभर्जतुः, बभर्जुः। बर्भजिथ-बभर्ष्ठ, बभर्जथुः, बभर्ज। बभर्ज, बर्भजिव, बर्भजिम।** (रमोऽभावे) **बभ्रज्ज, बभ्रज्जतुः**[1], **बभ्रज्जुः। बभ्रज्जिथ-बभ्रष्ठ, बभ्रज्जथुः, बभ्रज्ज। बभ्रज्ज, बभ्रज्जिव, बभ्रज्जिम।**(आत्मने०)में भी इसी प्रकार रम् का आगम हो जाता है। रूपमाला यथा—(रम्पक्षे) **बभर्जे, बभर्जाते, बर्भजिरे। बर्भजिषे, बभर्जाथे, बभर्जिध्वे। बभर्जे, बर्भजिवहे, बर्भजिमहे।** (रमोऽभावे) **बभ्रज्जे, बभ्रज्जाते, बभ्रज्जिरे। बभ्रज्जिषे, बभ्रज्जाथे, बभ्रज्जिध्वे। बभ्रज्जे, बभ्रज्जिवहे, बभ्रज्जिमहे।**

लुँट्—के दोनों पदों में तास् प्रत्यय आर्धधातुक है अतः उस के परे रहते प्रकृतसूत्र से रेफ और उपधा (स्) का लोप होकर रम् का आगम हो जाता है। रम्पक्ष में 'भर्ज्+ता' इस स्थिति में **'व्रश्च-भ्रस्ज०'** (३०७) से जकार को षकार और **'ष्टुना ष्टुः'** (६४) से तकार को टकार करने पर 'भर्ष्टा' रूप बनता है। रम् के अभाव में 'भ्रस्ज्+ता' इस स्थिति में **'स्कोः०'** (३०९) से संयोगादि सकार का लोप होकर षत्व और ष्टुत्व करने पर 'भ्रष्टा' रूप बनता है। रूपमाला यथा—

---

१. ध्यान रहे कि 'भ्रस्ज्+अतुस्' में संयोग से परे अतुस् कित् नहीं अतः **'ग्रहिज्या०'** (३०७) से सम्प्रसारण नहीं होता।

(परस्मै०) रम्पक्षे—भर्ष्टा, भर्ष्टारौ, भर्ष्टारः। भर्ष्टासि—। रमोऽभावे—भ्रष्टा, भ्रष्टारौ, भ्रष्टारः। भ्रष्टासि—। (आत्मने०) रम्पक्षे—भर्ष्टा, भर्ष्टारौ, भर्ष्टारः। भर्ष्टासे—। रमोऽभावे—भ्रष्टा, भ्रष्टारौ, भ्रष्टारः। भ्रष्टासे—।

लृँट्—के दोनों पदों में स्य प्रत्यय आर्धधातुक है अतः रम् का आगम विकल्प से हो जायेगा। रम्पक्ष में—'भर्ज्+स्य+ति, भर्ज्+स्य+ते' इस दशा में '**व्रश्च भ्रस्ज०**' (३०७) से जकार को षकार, '**षढोः कः सि**' (५४८) से षकार को ककार, '**आदेशप्रत्यययोः**' (१५०) से स्य के सकार को षकार तथा क्+ष् के संयोग से क्ष् करने पर 'भर्क्ष्यति, भर्क्ष्यते' रूप सिद्ध होते हैं। रम् के अभाव में 'भ्रस्ज्+स्य+ति, भ्रस्ज्+स्य+ते' इस दशा में संयोगादि सकार का लोप होकर '**व्रश्चभ्रस्ज०**' (३०७) से जकार को षकार, उसे '**षढोः कः सि**' (५४८) से ककार तथा उस से परे स्य के सकार को मूर्धन्य षकार करने पर 'भ्रक्ष्यति, भ्रक्ष्यते' रूप सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—(परस्मै०) रम्पक्षे—**भर्क्ष्यति, भर्क्ष्यतः, भर्क्ष्यन्ति**। रमोऽभावे—**भ्रक्ष्यति, भ्रक्ष्यतः, भ्रक्ष्यन्ति**। (आत्मने०) रम्पक्षे—**भर्क्ष्यते, भर्क्ष्येते, भर्क्ष्यन्ते**। रमोऽभावे—**भ्रक्ष्यते, भ्रक्ष्येते, भ्रक्ष्यन्ते**।

लोँट्, लँङ् और वि० लिँङ् में लँट् की तरह प्रक्रिया होती है। लोँट्—(परस्मै०) **भृज्जतु-भृज्जतात्, भृज्जताम्, भृज्जन्तु**। (आत्मने०) **भृज्जताम्, भृज्जेताम्, भृज्जन्ताम्**। लँङ्—(परस्मै०) **अभृज्जत्, अभृज्जताम्, अभृज्जन्**। (आत्मने०) **अभृज्जत, अभज्जेताम्, अभृज्जन्त**। वि० लिँङ्—(परस्मै०) **भृज्जेत्, भृज्जेताम्, भृज्जेयुः**। (आत्मने०) **भृज्जेत, भृज्जेयाताम्, भृज्जेरन्**।

आ० लिँङ्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में 'भ्रस्ज्+यास्+त्' यहां यासुट् आर्धधातुक भी है और कित् भी। अतः प्रकृतसूत्र (६.४.४७) से रम् का आगम तथा '**ग्रहिज्या०**' (६.१.१६) से सम्प्रसारण दोनों युगपत् प्राप्त होते हैं। इन दोनों को अन्यत्रान्यत्र अवकाश मिल चुका है (रम् आगम को भर्ष्टा, भर्क्ष्यति आदि में तथा सम्प्रसारण को भृज्जति, भृज्जतु आदि में अवकाश प्राप्त है)। '**विप्रतिषेधे परं कार्यम्**' (११३) द्वारा पर होने से रम् का आगम होना चाहिये। परन्तु यह अनिष्ट है अतः इस के वारण के लिये अग्रिमवार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(४०) क्ङिति रमागमं बाधित्वा सम्प्रसारणं पूर्वविप्रतिषेधेन ॥

भृज्ज्यात्, भृज्ज्यास्ताम्, भृज्ज्यासुः। भर्क्षीष्ट; भ्रक्षीष्ट। अभार्क्षीत्; अभ्राक्षीत्। अभर्ष्ट; अभ्रष्ट ॥

अर्थः—कित् ङित् आर्धधातुक परे हो तो रम् के आगम का बाध कर पूर्वविप्रतिषेध से सम्प्रसारण हो जाता है[1]।

---

१. यहां कित् आर्धधातुक का उदाहरण दिया गया है; ङित् आर्धधातुक

व्याख्या—जहां जहां वैयाकरणों को विप्रतिषेध में परकार्य अभीष्ट नहीं होता वहां वहा **'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'** (११३) में 'पर' शब्द को इष्टवाचक मान कर पूर्वकार्य कर लिया जाता है। यहां पर भी रम् का आगम पर होता हुआ भी अनिष्ट होने से नहीं किया जाता अपितु पूर्वकार्य सम्प्रसारण हो जाता है। विप्रतिषेध की विस्तृत व्याख्या इस ग्रन्थ के पूर्वार्ध में (११३) सूत्र पर तथा १६वें वार्त्तिक पर कर चुके है वहीं देखें।

'भ्रस्ज्+यास्+त्' यहां कित् के परे रहते प्रकृतवार्त्तिक से रम् के आगम का बाध कर सम्प्रसारण हो जाता है। तब **'सम्प्रसारणाच्च'** (२५८) से पूर्वरूप, श्चुत्व, जश्त्व और यासुट् के सकार का संयोगादिलोप करने पर 'भृज्ज्यात्' रूप सिद्ध होता है। आ० लिँङ् परस्मै० में रूपमाला यथा—**भृज्ज्यात्, भृज्ज्यास्ताम्, भृज्ज्यासुः**।

आत्मने० के आ० लिँङ् में भ्रस्ज् से परे कित् ङित् कहीं नहीं आता अतः सम्प्रसारण का प्रसङ्ग ही नहीं होता; निर्बाधरूपेण रम् का आगम हो जाता है। रम्पक्ष में 'भर्ज् +सीय्+स्+त' इस स्थिति में जकार को षकार, **'षढोः कः सि'** (५४८) से उसे ककार, सकारों को मूर्धन्य षकार तथा ष्टुत्व से तकार को टकार होकर—'भर्क्षीष्ट' प्रयोग सिद्ध होता है। रम् के अभाव में 'भ्रस्ज्+सीष्ट' इस स्थिति में भ्रस्ज् के संयोगादि सकार का लोप होकर पूर्ववत् षत्व-कत्व आदि करने से 'भ्रक्षीष्ट' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा— (रम्पक्षे) **भर्क्षीष्ट, भर्क्षीयास्ताम्, भर्क्षीरन्**। (रमोऽभावे) **भ्रक्षीष्ट, भ्रक्षीयास्ताम्, भ्रक्षीरन्**।

लुँङ्—दोनों पदों में सिँच् आर्धधातुक है अतः रम् का आगम विकल्प से हो जाता है। परस्मै० के रम्पक्ष में 'अभर्ज् +स्+ईत्' इस दशा में **'वदव्रज०'** (४६५) से हलन्तलक्षणा वृद्धि होकर जकार को षकार, **'षढोः कः सि'** (५४८) से षकार को ककार तथा अन्त में सिँच् के सकार को मूर्धन्य करने पर—अभार्क्षीत्। रम् के अभाव में 'अभ्रस्ज्+स्+ईत्' यहां हलन्तलक्षणा वृद्धि होकर संयोगादि सकार का लोप तथा षत्व-कत्व आदि कार्य करने पर 'अभ्राक्षीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। परस्मै० में रूपमाला यथा —(रम्पक्षे) **अभार्क्षीत्, अभार्ष्टाम्**[१]**, अभार्क्षुः। अभार्क्षीः, अभार्ष्टम्**[२]**, अभार्ष्ट**[३]। **अभार्क्षम्, अभार्क्ष्व, अभार्क्ष्म**। (रमोऽभावे) **अभ्राक्षीत्, अभ्राष्टाम्**[४]**, अभ्राक्षुः। अभ्राक्षीः, अभ्राष्टम्**[५]**, अभ्राष्ट**[६]। **अभ्राक्षम्, अभ्राक्ष्व, अभ्राक्ष्म**।

लुँङ् के आत्मने० में रमागम के पक्ष में 'अभर्ज् +स्+त' इस स्थिति में **'झलो झलि'** (४७८) से सकार का लोप होकर **'व्रश्च-भ्रस्ज०'** (३०७) से जकार को

का उदाहरण सम्भव नहीं क्योंकि भ्रस्ज् से परे सर्वत्र ङित् सार्वधातुक ही आता है आर्धधातुक नहीं। दीक्षितजी ने यहां 'क्ङिति' पद विद्यार्थियों को सम्प्रसारण का झटिति बोध कराने के लिये जोड़ा प्रतीत होता है। कात्यायनजी का मूल वार्त्तिक महाभाष्य में इस प्रकार पढ़ा गया है—**भ्रस्जादेशात् सम्प्रसारणं पूर्वविप्रतिषेधेन**।

१—६. इन स्थानों पर **'झलो झलि'** (४७८) से सकार का लोप होता है।

षकार तथा ष्टुत्व से तकार को टकार करने पर—अभर्ष्ट। आताम् में 'अभर्ज्+स्+आताम्' इस स्थिति में झल् परे न होने से सकार का लोप नहीं होता, षत्व-कत्व-षत्व करने पर—अभर्क्षाताम्। इसी प्रकार बहुवचन में—अभर्क्षत। थास् में पूर्ववत् सकारलोप, षत्व और ष्टुत्व करने पर—अभर्ष्ठाः। ध्वम् में 'अभर्ज्+स्+ध्वम्' इस स्थिति में 'धि च' (५१५) से सकार का लोप होकर जकार को षकार तथा ष्टुत्व से धकार को ढकार कर 'अभर्ष्+ढ्वम्'। अब 'झलां जश्झशि' (१९) से षकार को डकार तथा 'झरो झरि सवर्णे' (७३) से डकार का वैकल्पिक लोप होकर लोपपक्ष में 'अभर्ढ्वम्' तथा लोपाभाव में 'अभर्ड्ढ्वम्' दो रूप सिद्ध होते हैं। रम् के अभावपक्ष में 'अभ्रस्ज्+स्+त' इस स्थिति में झलोझलिलोप होकर—अभ्रस्ज्+त। 'स्कोः०' (३०९) से संयोगादिलोप होकर—अभ्रज्+त। अब षत्व तथा ष्टुत्व करने पर 'अभ्रष्ट' प्रयोग सिद्ध होता है। आताम् में पूर्ववत्—अभ्रक्षाताम्। बहुवचन में—अभ्रक्षत। थास् में प्र० पु० के एकवचन की तरह—अभ्रष्ठाः। ध्वम् में पूर्ववत् सब प्रक्रिया होती है परन्तु हल् से परे न होने के कारण झरोझरिलोप प्रवृत्त नहीं होता—अभ्रड्ढ्वम्। आत्मने० में रूपमाला यथा—(रम्पक्षे) **अभर्ष्ट, अभर्क्षाताम्, अभर्क्षत। अभर्ष्ठाः, अभर्क्षाथाम्, अभर्ढ्वम्-अभर्ड्ढ्वम्। अभर्क्षि, अभर्क्ष्वहि, अभर्क्ष्महि।** (रमोऽभावे) **अभ्रष्ट, अभ्रक्षाताम्, अभ्रक्षत। अभ्रष्ठाः, अभ्रक्षाथाम्, अभ्रड्ढ्वम्। अभ्रक्षि, अभ्रक्ष्वहि, अभ्रक्ष्महि।**

लृँङ्—के दोनों पदों में लृँट् की तरह प्रक्रिया होती है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) रम्पक्षे—**अभर्क्ष्यत्, अभर्क्ष्यताम्, अभर्क्ष्यन्।** रमोऽभावे—**अभ्रक्ष्यत्, अभ्रक्ष्यताम्, अभ्रक्ष्यन्।** (आत्मने०) रम्पक्षे—**अभर्क्ष्यत, अभर्क्ष्येताम्, अभर्क्ष्यन्त।** रमोऽभावे—**अभ्रक्ष्यत, अभ्रक्ष्येताम्, अभ्रक्ष्यन्त।**

[लघु०] **कृषँ विलेखने** ॥४॥ कृषति; कृषते। चकर्ष; चकृषे ॥

अर्थः—कृषँ (कृष्) धातु '(हल) चलाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—स्वरितेत् होने से यह धातु उभयपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र (थल् में भी) इट् हो जाता है।

लँट्—(परस्मै०) **कृषति, कृषतः, कृषन्ति।** (आत्मने०) **कृषते, कृषेते, कृषन्ते।** शप्रत्यय के ङित्त्व के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है। लिँट्—

---

१. खींचना आदि अर्थों में भौवादिक कृष् धातु का ही प्रायः प्रयोग देखा जाता है। यथा—**बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति** (मनु० २.२१५), **नक्रः स्वस्थानमासाद्य गजेन्द्रमपि कर्षति** (पञ्च० ३.४६)। द्विकर्मक धातुओं के **'तथा स्यान्नी-हृकृष्वहाम्'** इस परिगणन में भी उसी कृष् धातु का ही ग्रहण समझना चाहिये। तौदादिक कृष् के प्रयोग में हल आदि की करणता तथा भूमि आदि की कर्मता प्रसिद्ध है—**कृषति भूमिं हलेन।**

(परस्मै०) **चकर्ष, चकृषतुः, चकृषुः । चकर्षिथ, चकृषथुः, चकृष । चकर्ष, चकृषिव, चकृषिम । (आत्मने०) चकृषे, चकृषाते, चकृषिरे । चकृषिषे, चकृषाथे, चकृषिध्वे । चकृषे, चकृषिवहे, चकृषिमहे ।**

लुँट्—'कृष्+ता' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६५३) अनुदात्तस्य चर्दुपधस्याऽन्यतरस्याम् । ६।१।५८॥

उपदेशेऽनुदात्तो य ऋदुपधः, तस्य अम् वा स्याज्झलादौ अकिति । क्रष्टा-कर्ष्टा । कृक्षीष्ट ॥

अर्थः—उपदेश में अनुदात्त जो ऋदुपध (ऋत् जिस की उपधा में है) धातु, उसे अम् का आगम विकल्प से हो जाता है कित्-भिन्न झलादि प्रत्यय परे हो तो ।

व्याख्या—अनुदात्तस्य ।६।१। च इत्यव्ययपदम् । ऋदुपधस्य ।६।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। उपदेशे ।७।१। (**'आदेच उपदेशे०'** से)। झलि ।७।१। अम् ।१।१। अकिति ।७।१। (**'सृजिदृशोर्झल्यमकिति'** से) । ऋद् (ह्रस्व ऋवर्णः) उपधा यस्य स ऋदुपधस्तस्य ऋदुपधस्य, बहुव्रीहि० । **'धातोः कार्यम् उच्यमानं तत्प्रत्यये भवति'** इस परिभाषा से 'प्रत्यये' पद उपलब्ध हो जाता है । तब 'झलि' को उस का विशेषण बना कर तदादि-विधि करने से 'झलादौ अकिति प्रत्यये' बन जाता है । अर्थः—(उपदेशे) उपदेश में (अनुदात्तस्य) अनुदात्त (ऋदुपधस्य) जो ऋदुपध धातु, उस का अवयव (अम्) अम् हो जाता है (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में, (झलि=झलादौ अकिति) कित्-भिन्न झलादि प्रत्यय परे हो तो । दूसरी अवस्था में अम् का आगम नहीं होता अतः विकल्प सिद्ध हो जाता है । अम् का आगम मित् होने से अन्त्य अच् अर्थात् ऋवर्ण से परे होता है । तब **'इको यणचि'** (१५) से यण् करने पर कृष् का क्रष्, सृप् का स्रप्, दृप् का द्रप् रूप बन जाता है । पक्ष में कृष्, सृप्, दृप् आदि भी रहता है ।

'उपदेशे' इस लिये कहा है कि 'स्रप्तुम्' (सृप्+तुमुन्) में तुमुन् प्रत्यय के परे रहते **'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'** (६.१.१९१) से धातु के उदात्त हो जाने पर भी अम् का आगम निर्बाध हो जाये, क्योंकि उपदेशावस्था में धातु अनुदात्त थी ।

'कृष्+ता' यहाँ पर तास् यह कित्-भिन्न झलादि प्रत्यय परे विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से अम् का आगम होकर अनुबन्धलोप और यण् करने से—क्रष्+ता='क्रष्टा' रूप सिद्ध होता है । पक्ष में लघूपधगुण होकर—कर्ष्टा । लुँट् में रूपमाला यथा—(परस्मै०) अम्पक्षे—**क्रष्टा, क्रष्टारौ, क्रष्टारः । क्रष्टासि**—। अमोऽभावे—**कर्ष्टा, कर्ष्टारौ, कर्ष्टारः । कर्ष्टासि**—। (आत्मने०) अम्पक्षे—**क्रष्टा, क्रष्टारौ, क्रष्टारः । क्रष्टासे**— । अमोऽभावे—**कर्ष्टा, कर्ष्टारौ, कर्ष्टारः । कर्ष्टासे**—।

लृँट्—में भी अम् के आगम का विकल्प हो जाता है । दोनों पक्षों में **'षढोः कः सि'** (५४८) से कत्व तथा उस से परे **'आदेशप्रत्यययोः'** (१५०) से षत्व होकर 'क्रक्ष्यति-कर्क्ष्यति' आदि रूप सिद्ध होते हैं । रूपमाला यथा—(परस्मै०) अम्पक्षे—

क्रक्ष्यति, क्रक्ष्यतः, क्रक्ष्यन्ति । अमोऽभावे—कर्क्ष्यति, कर्क्ष्यतः, कर्क्ष्यन्ति । (आत्मने०) अम्पक्षे—क्रक्ष्यते, क्रक्ष्येते, क्रक्ष्यन्ते । अमोऽभावे— कर्क्ष्यते, कर्क्ष्येते, कर्क्ष्यन्ते ।

लोट्— (परस्मै०) कृषतु-कृषतात्, कृषताम्, कृषन्तु । (आत्मने०) कृषताम्, कृषेताम्, कृषन्ताम् । लङ्—(परस्मै०) अकृषत्, अकृषताम्, अकृषन् । (आत्मने०) अकृषत, अकृषेताम्, अकृषन्त । वि० लिङ्—(परस्मै०) कृषेत्, कृषेताम्, कृषेयुः । (आत्मने०) कृषेत, कृषेयाताम्, कृषेरन् ।

आ० लिङ्—(परस्मै०) में यासुट् के कित् होने तथा झलादि न होने के कारण अम् का आगम नहीं होता—कृष्यात्, कृष्यास्ताम्, कृष्यासुः । (आत्मने०) में 'कृष्+सीष्ट' यहां 'लिङ्सिचावात्मने०' (५८९) से झलादि लिङ् के कित् हो जाने से अमागम नहीं होता । तब कत्व-षत्व हो जाता है—कृक्षीष्ट, कृक्षीयास्ताम्, कृक्षीरन् ।

लुङ्—दोनों पदों में 'शल इगुपधादनिटः क्सः' (५९०) से च्लि को क्स प्राप्त होता है । इस पर अग्रिमवार्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०]वा०(४१) स्पृश-मृश-कृष-तृप-दृपां च्लेः सिँज्वा वाच्यः ॥

अक्राक्षीत्-अकार्क्षीत्-अकृक्षत् । अकृष्ट, अकृक्षाताम्, अकृक्षत । क्सपक्षे—अकृक्षत, अकृक्षाताम्, अकृक्षन्त ॥

अर्थः—स्पृश् (छूना, तुदा० परस्मै०), मृश् (सोचना, तुदा० परस्मै०), कृष् (हल चलाना, तुदा० उभय०), तृप् (तृप्त होना वा करना, दिवा० परस्मै०), दृप् (घमण्ड करना, दिवा० परस्मै०)—इन पाञ्च धातुओं से परे च्लि के स्थान पर विकल्प से सिँच् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—स्पृश्, मृश् और कृष् से 'शल इगुपधादनिटः क्सः' (५९०) द्वारा क्स प्राप्त होने तथा तृप् और दृप् से पुषादित्वात् अङ् प्राप्त होने पर इस वार्त्तिक से वैकल्पिक सिँच् का विधान किया जा रहा है । सिँच् के अभाव में यथाप्राप्त क्स और अङ् हो जायेंगे ।

लुङ्—(परस्मै०) में 'अकृष्+च्लि+त्' इस अवस्था में प्रकृतवार्त्तिक से च्लि को सिँच् होकर अम् का पाक्षिक आगम हो जाता है । तब 'वदव्रज०' (४६५) से हलन्तलक्षणा वृद्धि होकर कत्व-षत्व करने पर अम्पक्ष में 'अक्राक्षीत्' तथा अम् के अभाव में 'अकार्क्षीत्' दो रूप सिद्ध होते हैं । सिँच् के अभाव में क्सप्रत्यय हो जाता है । क्स के कित् होने से अम् का आगम एवं लघूपधगुण नहीं होता, सिँच् परे न रहने से वृद्धि का तो प्रसङ्ग ही नहीं । तब पूर्ववत् कत्व-षत्व करने से—अकृक्षत् । इस प्रकार परस्मै० में तीन तीन रूप सिद्ध होते हैं । रूपमाला यथा—(सिँचि) अम्पक्षे—अक्राक्षीत्, अक्राष्टाम् (झलो झलि), अक्राक्षुः । अक्राक्षीः, अक्राष्टम्, अक्राष्ट । अक्राक्षम्, अक्राक्ष्व, अक्राक्ष्म । अमोऽभावे—अकार्क्षीत्, अकार्ष्टाम्,

अकार्क्षुः । अकार्क्षीः, अकार्ष्टम्, अकार्ष्ट । अकार्क्ष्म, अकार्क्ष्व, अकार्क्ष्म । (क्से) **अकृक्षत्, अकृक्षताम्, अकृक्षन् । अकृक्षः, अकृक्षतम्, अकृक्षत । अकृक्षम् अकृक्षाव, अकृक्षाम ।**

लुङ् के आत्मने० में सिँच् करने पर **'लिङ्सिँचावात्मनेपदेषु'** (५८६) से सिँच् कित् हो जाता है । तब न तो अम् का आगम और न ही लघूपधगुण हो सकता है । 'अकृष्+स्+त' इस स्थिति में सकार का झलोझलिलोप होकर ष्टुत्व करने से 'अकृष्ट' रूप बनता है । सिँच् के अभाव में क्स हो जाता है, वह स्वतः कित् है अतः अम् का आगम तथा लघूपधगुण नहीं होता । कत्व-षत्व करने पर 'अकृक्षत' रूप सिद्ध होता है । इस प्रकार आत्मने० में दो दो रूप बनते हैं । रूपमाला यथा—(सिँचि) **अकृष्ट, अकृक्षाताम्, अकृक्षत । अकृष्ठाः, अकृक्षाथाम्, अकृड्ढ्वम्**[1] **। अकृक्षि, अकृक्ष्वहि, अकृक्ष्महि ।** (क्से) **अकृक्षत, अकृक्षाताम्**[2]**, अकृक्षन्त**[3] **। अकृक्षथाः, अकृक्षाथाम्, अकृक्षध्वम् । अकृक्षि, अकृक्षावहि, अकृक्षामहि ।**

लृँङ्—में भी लृँट् की तरह प्रक्रिया होती है । रूपमाला यथा—(परस्मै०) अम्पक्षे—**अक्रक्ष्यत्, अक्रक्ष्यताम्, अक्रक्ष्यन् ।** अमोऽभावे—**अकर्क्ष्यत्, अकर्क्ष्यताम्, अकर्क्ष्यन् ।** (आत्मने०) अम्पक्षे—**अक्रक्ष्यत, अक्रक्ष्येताम् अक्रक्ष्यन्त ।** अमोऽभावे—**अकर्क्ष्यत, अकर्क्ष्येताम्, अकर्क्ष्यन्त ।**

[लघु०] **मिलँ सङ्गमे ॥ ५ ॥** मिलति; मिलते । मिमेल । मेलिता । अमेलीत् ॥

अर्थः—मिलँ (मिल्) धातु 'मिलना—संयुक्त होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[4] ।

व्याख्या—स्वरितेत् होने से मिल् धातु उभयपदी तथा अनुदात्तों मे परिगणित न होने से सेट् है । यह धातु प्रायः अकर्मक उपलब्ध होती है । जिस के साथ मिलन (संयोग) होता है उस में 'सह' योग में तृतीया विभक्ति लगाई जाती है । यथा—**मिलति तव तोयैर्मृगमदः** (गङ्गालहरी ७.४), **मिलति का न वनस्पतिना लता** (साहित्यदर्पण में अपह्नुति का उदाहरण) । इस की प्रक्रिया में कुछ विशेष नहीं ।

---

१. यहां **'धि च'** (५१५) से सकारलोप होकर ष्टुत्व तथा **'झलां जश् झशि'** (१६) से जश्त्व हो जाता है ।

२. आताम् झ (अन्त), आथाम् और इट् में क्स के अन्त्य अकार का **'क्सस्याचि'** (५६२) से लोप हो जाता है ।

३. 'झ' में पहले अन्तादेश कर बाद में अकार का लोप करना चाहिये ।

४. इस धातु का 'पाया जाना' अर्थ भी कई स्थानों पर देखा जाता है । यथा—**ये चान्ये सुहृदः समृद्धिसमये द्रव्याभिलाषाकुलाः, ते सर्वत्र मिलन्ति तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषां विपत्** (हितोप० १.२१४) ।

लँट्—(परस्मै०) मिलति, मिलतः, मिलन्ति । (आत्मने०) मिलते, मिलेते, मिलन्ते । लिँट्—(परस्मै०) मिमेल, मिमिलतुः, मिमिलुः । (आत्मने०) मिमिले, मिमिलाते, मिमिलिरे । लुँट्—(परस्मै०) मेलिता, मेलितारौ, मेलितारः । मेलितासि—(आत्मने०) मेलिता, मेलितारौ, मेलितारः । मेलितासे—। लृँट्—(परस्मै०) मेलिष्यति, मेलिष्यतः, मेलिष्यन्ति । (आत्मने०) मेलिष्यते, मेलिष्येते, मेलिष्यन्ते । लोँट्—(परस्मै०) मिलतु-मिलतात्, मिलताम्, मिलन्तु । (आत्मने०) मिलताम्, मिलेताम्, मिलन्ताम् । लँङ्—(परस्मै०) अमिलत्, अमिलताम्, अमिलन् । (आत्मने०) अमिलत, अमिलेताम्, अमिलन्त । वि० लिँङ्—(परस्मै०) मिलेत्, मिलेताम्, मिलेयुः । (आत्मने०) मिलेत, मिलेयाताम्, मिलेरन् । आ० लिँङ्—(परस्मै०) मिल्यात्, मिल्यास्ताम्, मिल्यासुः । (आत्मने०) मेलिषीष्ट, मेलिषीयास्ताम्, मेलिषीरन् । लुँङ्—(परस्मै०) अमेलीत्, अमेलिष्टाम्, अमेलिषुः । (आत्मने०) अमेलिष्ट, अमेलिषाताम्, अमेलिषत । लृँङ्—(परस्मै०) अमेलिष्यत्, अमेलिष्यताम् अमेलिष्यन् । (आत्मने०) अमेलिष्यत, अमेलिष्येताम्, अमेलिष्यन्त ।

नोट—कुछ वैयाकरण इस धातु को वैकल्पिक कुटादि मान कर **'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्'** (५८७) सूत्र से ङिद्वत् के कारण **'मिलिता, मिलिष्यति, अमिलीत्, अमिलिष्यत्'** आदि रूप भी बनाते हैं। साहित्य में इस प्रकार के प्रयोग पाये भी जाते हैं—(१) **ततो विद्याधरेन्द्रेण मिलिष्यामः सुमेरुणा** (कथासरित्सागर ४५.७), (२) **महापातकिनः पञ्च मिलितव्यं न तैः सह** (कविकल्प० दुर्गादासद्वारा उद्धृत), (३) **व्यालनिलयमिलनेन गरलमिव कलयति मलयसमीरम्** (गीतगो० ४.२), (४) **न दृष्टेः शैथिल्यं मिलनमिति चेतो दहति मे** (अमरुशतक) इत्यादि । इस धातु के आत्मनेपद प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

[लघु०] मुच्लृँ मोचने ॥६॥

अर्थः—मुच्लृँ (मुच्) धातु 'छोड़ना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—इस धातु का अन्त्य लृकार स्वरित एवम् अनुनासिक है। स्वरितेत् होने से मुच् धातु उभयपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से सब जगह (थल् में भी) इट् हो जाता है। इसे लृदित् करने का प्रयोजन परस्मै० के लुँङ् में च्लि को अङ् करना है।

---

१. 'छोड़ना' अर्थ में किसी वस्तु का छोड़ना, काम क्रोध आदि मानसिक वेगों का छोड़ना तथा अश्रु आदियों का छोड़ना-बहाना भी सम्मिलित है। यथा—**रात्रिर्गता मतिमतां वर मुञ्च शय्याम्** (रघु० ५.६), **मुञ्च मानं हि मानिनि** (साहित्यदर्पण ७), **यात्रा त्वेषा यद् विमुच्येह वाष्पं प्राप्ताऽऽनृण्या याति बुद्धिः प्रसादम्** (स्वप्नवासवदत्ता ४.७)। सिवाय (except) अर्थ में भी इस का प्रयोग देखा जाता है—**वायुं मुक्त्वा नाऽन्यस्य प्रवेशोऽस्ति**। यह धातु सकर्मक है परन्तु कर्मकर्ता में अकर्मक हो जाती है—**मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति**।

लँट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में 'श' विकरण करने पर 'मुच्+अ+ति' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६५४) शे मुचादीनाम् ।७।१।५९।।

मुच्-लिप्-विद्-लुप्-सिच्-कृत्-खिद्-पिशां नुम् स्यात् शे परे । मुञ्चति; मुञ्चते । मोक्ता । मुच्यात्; मुक्षीष्ट । अमुचत्; अमुक्त, अमुक्षाताम् ।।

अर्थः—मुच् (छोड़ना), लिप् (लीपना), विद् (पाना), लुप् (काटना), सिच् (सींचना), कृत् (काटना), खिद् (प्रहार करना), पिश् (टुकड़े करना)—इन आठ धातुओं को श परे होने पर नुम् का आगम हो ।

व्याख्या—शे ।७।१। मुचादीनाम् ।६।३। नुम् ।१।१। ('इदितो नुम् धातोः' से) अर्थः—(मुचादीनाम्) मुच् आदि धातुओं का अवयव (नुम्) नुम् हो जाता है (शे) 'श' परे हो तो । मुचादि धातु आठ है जो पाणिनिनिर्मित धातुपाठ के तुदादिगण के अन्त में पढ़ी गई हैं[1] । इन सब का लघुकौमुदी में आगे वर्णन आ रहा है । नुम् में मकार इत्सञ्ज्ञक तथा उकार उच्चारणार्थक है । मित् होने से नुम् का आगम अन्त्य अच् से परे होता है । 'श' विकरण लँट्-लोँट्-लँङ्-विधिलिँङ् तथा शतृँ-शानच् आदि प्रत्ययों में हुआ करता है अतः नुम् का आगम भी इन्हीं स्थानों पर समझना चाहिये[2] ।

'मुच्+अ+ति' यहां श (अ) परे है अतः प्रकृतसूत्र से मुच् को नुम् का आगम हो गया—मुन्च्+अ+ति[3] । अब 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' (७८) से अपदान्त नकार को अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (७९) से उसे परसवर्ण ञकार करने पर 'मुञ्चति' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार आत्मने० में 'मुञ्चते' आदि । रूपमाला यथा—(परस्मै०) मुञ्चति, मुञ्चतः, मुञ्चन्ति । (आत्मने०) मुञ्चते, मुञ्चेते, मुञ्चन्ते ।

शङ्का—इन मुचादि धातुओं को रुधादिगण में क्यों नहीं पढ़ देते, जिस से श्नम् के आ जाने से नकारघटित रूप स्वतः ही बन जायेंगे ?

---

१. इन का श्लोकबद्ध संग्रह यथा—

मुच्-सिचौ लुप्-लिपौ चेति विद्-खिदौ कृत्-पिशौ तथा ।
नुम्भाजः शे भवन्त्यष्टौ मुञ्चतीति निदर्शनम् ।।

२. अत एव 'सिञ्चनम्, कृन्तनम्, सिञ्चितः' आदि अशुद्ध हैं । इन के स्थान पर 'सेचनम्, कर्त्तनम्, सिक्तः' आदि शुद्ध प्रयोग होने चाहियें ।

३. 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से श (अ) यद्यपि ङित् है तथापि इस के परे रहते 'अनिदितां हलः०' (३३४) से नकार का लोप नहीं होता । क्योंकि तब नुम् का विधान व्यर्थ हो जायेगा ।

समाधान—तब 'मुञ्चति' के स्थान पर 'मुनक्ति' आदि अनिष्ट रूप बनने लगेंगे। अतः मुनि ने ऐसा नहीं किया।

लिँट्—(परस्मै०) मुमोच, मुमुचतुः, मुमुचुः। मुमोचिथ, मुमुचथुः, मुमुच। मुमोच, मुमुचिव, मुमुचिम। (आत्मने०) मुमुचे, मुमुचाते, मुमुचिरे। मुमुचिषे, मुमुचाथे, मुमुचिध्वे। मुमुचे, मुमुचिवहे, मुमुचिमहे। लुँट्—में लघूपधगुण होकर 'चोः कुः' (३०६) से कुत्व हो जाता है—(परस्मै०) मोक्ता, मोक्तारौ, मोक्तारः। मोक्तासि—। (आत्मने०) मोक्ता, मोक्तारौ, मोक्तारः। मोक्तासे—। लृँट्—(परस्मै०) मोक्ष्यति, मोक्ष्यतः, मोक्ष्यन्ति। (आत्मने०) मोक्ष्यते, मोक्ष्येते, मोक्ष्यन्ते। लोँट्—(परस्मै०) मुञ्चतु-मुञ्चतात्, मुञ्चताम्, मुञ्चन्तु। (आत्मने०) मुञ्चताम्, मुञ्चेताम्, मुञ्चन्ताम्। लँङ्—(परस्मै०) अमुञ्चत्, अमुञ्चताम्, अमुञ्चन्। (आत्मने०) अमुञ्चत, अमुञ्चेताम्, अमुञ्चन्त। वि० लिँङ्—(परस्मै०) मुञ्चेत्, मुञ्चेताम्, मुञ्चेयुः। (आत्मने०) मुञ्चेत, मुञ्चेयाताम्, मुञ्चेरन्। आ० लिँङ्—परस्मै० में यासुट् के कित् होने से तथा आत्मने० में 'लिँङ्सिँचावात्मनेपदेषु' (५८६) द्वारा झलादि लिँङ् के कित्त्व के कारण गुण नहीं होता। (परस्मै०) मुच्यात्, मुच्यास्ताम्, मुच्यासुः। (आत्मने०) मुक्षीष्ट, मुक्षीयास्ताम्, मुक्षीरन्।

लुँङ्—(परस्मै०) में 'पुषादिद्युताद्यॢदितः०' (५०७) से च्लि को अङ् आदेश हो जाता है। अङ् के ङित् होने से लघूपधगुण नहीं होता—अमुचत्, अमुचताम्, अमुचन्। अमुचः, अमुचतम्, अमुचत। अमुचम्, अमुचाव, अमुचाम। (आत्मने०) प्र० पु० के एकवचन में सकार का झलोझलिलोप होकर कुत्व करने पर—अमुक्त। ध्यान रहे कि यहां 'लिँङ्सिँचावात्मने०' (५८६) से सिँच् के कित्त्व के कारण लघूपधगुण नहीं होता। सिँज्लोप गुण की दृष्टि में असिद्ध है अतः लोप हो जाने पर भी गुण नहीं होता। आताम् में कुत्व-षत्व होकर—अमुक्षाताम्। इसी प्रकार—अमुक्षत। ध्वम् में 'धि च' (५१५) से सकार का लोप होकर कुत्व तथा 'झलां जश्झशि' (१६) से जश्त्व हो जाता है—अमुग्ध्वम्। रूपमाला यथा—अमुक्त, अमुक्षाताम्, अमुक्षत। अमुक्थाः, अमुक्षाथाम्, अमुग्ध्वम्। अमुक्षि, अमुक्ष्वहि, अमुक्ष्महि।

लृँङ्—(परस्मै०) अमोक्ष्यत्, अमोक्ष्यताम्, अमोक्ष्यन्। (आत्मने०) अमोक्ष्यत, अमोक्ष्येताम्, अमोक्ष्यन्त।

उपसर्गयोग—वि√मुच्=छोड़ना (चिरमश्रूणि विमुच्य राघवः—रघु० ८.२५)। प्रति√मुच्=बान्धना-पहनना-धारणकरना (यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्। आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः—पारस्कर० गृ० २.२.१०); लौटाना (अमुं तुरङ्गं प्रतिमोक्तुमर्हसि—रघु० ३.४६)। आ√मुच्=(वस्त्रादि) धारण करना (आमुञ्चद्वर्म—उसने कवच धारण किया—भट्टि० १७.६; आमुक्तः प्रतिमुक्तश्च पिनद्धश्चापिनद्धवत्—इत्यमरः); अर्पण करना (आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयम्—रघु० १३.२१)। उद्√मुच्—उतारना (विभूषणानि

उन्मुमुचुः—भट्टि० ३.२२) ।

[लघु०] लुप्लृँ छेदने ॥७॥ लुम्पति; लुम्पते । लोप्ता । अलुपत्; अलुप्त ॥

अर्थः—लुप्लृँ (लुप्) धातु 'काटना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1] ।

व्याख्या—इस धातु का भी अन्त्य लृकार अनुनासिक तथा स्वरित है । इस का लोप होकर 'लुप्' मात्र शेष रहता है । स्वरितेत् होने से यह उभयपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है । लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र (थल् में भी) इट् हो जाता है । इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया मुच् धातु की तरह होती है । लँट्, लोँट्, लँङ् और वि० लिँङ् में '**शे मुचादीनाम्**' (६५४) द्वारा नुम् का आगम होकर अनुस्वार और परसवर्ण करने पर 'लुम्प्' धातु बन जाती है । रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) **लुम्पति, लुम्पतः, लुम्पन्ति** । (आत्मने०) **लुम्पते, लुम्पेते, लुम्पन्ते** । लिँट्—(परस्मै०) **लुलोप, लुलुपतुः, लुलुपुः** । (आत्मने०) **लुलुपे, लुलुपाते, लुलुपिरे** । लुँट्—(परस्मै०) **लोप्ता, लोप्तारौ, लोप्तारः** । **लोप्तासि**— । (आत्मने०) **लोप्ता, लोप्तारौ, लोप्तारः** । **लोप्तासे**— । लृँट्—(परस्मै०) **लोप्स्यति, लोप्स्यतः, लोप्स्यन्ति** । (आत्मने०) **लोप्स्यते, लोप्स्येते, लोप्स्यन्ते** । लोँट्—(परस्मै०) **लुम्पतु-लुम्पतात्, लुम्पताम्, लुम्पन्तु** । (आत्मने०) **लुम्पताम्, लुम्पेताम्, लुम्पन्ताम्** । लँङ्—(परस्मै०) **अलुम्पत्, अलुम्पताम्, अलुम्पन्** । (आत्मने०) **अलुम्पत, अलुम्पेताम्, अलुम्पन्त** । वि० लिँङ्—(परस्मै०) **लुम्पेत्, लुम्पेताम्, लुम्पेयुः** । (आत्मने०) **लुम्पेत, लुम्पेयाताम्, लुम्पेरन्** । आ० लिँङ्—(परस्मै०) **लुप्यात्, लुप्यास्ताम्, लुप्यासुः** । (आत्मने०) **लुप्सीष्ट, लुप्सीयास्ताम्, लुप्सीरन्** (**लिङ्सिँचावात्मनेपदेषु**) । लुँङ्—(परस्मै०) **अलुपत्, अलुपताम्, अलुपन्** (लृदित्त्वादङ् ५०७) । (आत्मने०) **अलुप्त, अलुप्साताम्, अलुप्सत** । लृँङ्—(परस्मै०) **अलोप्स्यत्, अलोप्स्यताम्, अलोप्स्यन्** । (आत्मने०) **अलोप्स्यत, अलोप्स्येताम्, अलोप्स्यन्त** ।

[लघु०] विद्लृँ लाभे ॥८॥ विन्दति; विन्दते । विवेद; विविदे । व्याघ्र-भूतिमते सेट्—वेदिता । भाष्यमतेऽनिट्—परिवेत्ता ॥

अर्थः—विद्लृँ (विद्) धातु 'प्राप्त करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् लृदित् तथा स्वरितेत् है । स्वरितेत् होने से

---

१. यहां 'छेदन' से केवल 'काटना' ही नहीं अपितु 'दूर भगाना, नष्ट करना, इन्कार करना' आदि लाक्षणिक अर्थों का भी संग्रह समझना चाहिये । यथा—**बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते** (शार्ङ्गधर० ४.२१), **अनुभवं वचसा सखि लुम्पसि** (नैषध ४.१०५); **तस्य भावो न लुप्यते** (मनु० ६.२११); **लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुम्काममनसोरपि** (महाभाष्य ६.१.१४४) । व्याकरणशास्त्र का प्रसिद्ध 'लोप' शब्द इसी धातु से बनता है । यङन्ताल्लुपेरचि लोलुपः (गर्हितं लुम्पति परद्रव्यमिति लोलुपः—अत्यन्त लालची) ।

उभयपद तथा लृदित् होने से परस्मै० के लुँङ् में च्लि के स्थान पर अङ् आदेश हो जाता है। इस के अनिट् होने में मतभेद है। **महाभाष्य तथा कातन्त्र, चान्द्र** आदि व्याकरणों में इसे अनिट् माना गया है[1]। परन्तु **व्याघ्रभूति आचार्य** (काशिकागत अनिट् कारिकाओं के निर्माता) इसे सेट् मानते हैं। इस प्रकार मतभेद के कारण वलादि प्रत्ययों में इस के दो दो रूप बनते हैं। पर ध्यान रहे कि इसे अनिट् मानने वालों के पक्ष में भी थल्सहित लिँट् में इसे क्रादिनियम से नित्य इट् हो जायेगा, अतः लिँट् के वलादि-प्रत्ययों में केवल एक एक रूप ही बनेगा।

परिवेत्ता—यह परिपूर्वक '**विद्लृँ लाभे**' धातु का तृच्प्रत्ययान्त रूप है। यह धर्मशास्त्रों का पारिभाषिक शब्द है। बड़े भाई के अविवाहित रहते जब छोटा भाई विवाहित हो जाता है तो उसे 'परिवेत्तृ' कहते हैं। जैसा कि मनु० (३.१७१) में कहा है—**दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते। परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः।** यहां 'परिविद्+तृ' इस अवस्था में धातु से परे तृच् को इण्निषेध किया गया है। अतः इस से प्रतीत होता है कि यह धातु अनिट् है और भाष्यकार आदियों का मत युक्त है[2]। इस धातु की समग्र प्रक्रिया मुच् धातु की तरह समझनी चाहिये। लँट्, लोँट्, लँङ् और वि० लिँङ् में इसे भी '**शे मुचादीनाम्**' (६५४) के द्वारा नुम् का आगम हो जाता है। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) **विन्दति, विन्दतः, विन्दन्ति**। (आत्मने०) **विन्दते, विन्देते, विन्दन्ते**। लिँट्—(परस्मै०) **विवेद, विविदतुः, विविदुः**। (आत्मने०) **विविदे, विविदाते, विविदिरे**। लुँट्—(परस्मै०) **वेत्ता, वेत्तारौ, वेत्तारः। वेत्तासि**—। (आत्मने०) **वेत्ता, वेत्तारौ, वेत्तारः। वेत्तासे**—। व्याघ्रभूति के मत में—**वेदिता, वेदितारौ, वेदितारः** आदि। लृँट्—(परस्मै०) **वेत्स्यति, वेत्स्यतः, वेत्स्यन्ति**। (आत्मने०) **वेत्स्यते, वेत्स्येते, वेत्स्यन्ते**। व्याघ्रभूति के मत में—**वेदिष्यति, वेदिष्यतः, वेदिष्यन्ति** आदि। लोँट्—(परस्मै०) **विन्दतु-विन्दतात्, विन्दताम्, विन्दन्तु**। (आत्मने०) **विन्दताम्, विन्देताम्, विन्दन्ताम्**। लँङ्—(परस्मै०) **अविन्दत्, अविन्दताम्, अविन्दन्**। (आत्मने०) **अविन्दत, अविन्देताम्, अविन्दन्त**। वि० लिँङ्—(परस्मै०) **विन्देत्, विन्देताम्, विन्देयुः**। (आत्मने०) **विन्देत, विन्देयाताम्, विन्देरन्**। आ० लिँङ्—(परस्मै०) **विद्यात्, विद्यास्ताम्, विद्यासुः**। (आत्मने०) **वित्सीष्ट, वित्सीयास्ताम्, वित्सीरन्**। व्याघ्रभूति के मत में आत्मने० में—**वेदिषीष्ट, वेदिषीयास्ताम्, वेदिषीरन्**। यहां लिँङ् के झलादि न रहने से '**लिङ्सिचावात्मने०**' (५८६) से कित्त्व

---

१. **विन्दतिश्चान्द्रदौर्गादेरिष्टो भाष्येऽपि दृश्यते।**
व्याघ्रभूत्यादयस्त्वेनं नेह पेठुरिति स्थितम् ॥सि० कौ०॥

२. परन्तु इसे सेट् मानने वाले वैयाकरण यहां दैवादिक या रौधादिक विद् धातु को अर्थान्तर में गया मान कर इण्निषेध स्वीकार किया करते हैं (देखें इसी धातु पर **माधवीयधातुवृत्ति**)।

नहीं होता अतः लघूपधगुण निर्बाध हो जाता है।

लुँङ्—(परस्मै०) लृदित् होने से अङ् हो जाता है—**अविदत्, अविदताम्, अविदन्**। (आत्मने०) **अवित्त, अवित्साताम्, अवित्सत। अवित्थाः, अवित्साथाम्, अविद्ध्वम्। अवित्सि, अवित्स्वहि, अवित्स्महि**। व्याघ्रभूति के मत में—**अवेदिष्ट, अवेदिषाताम्, अवेदिषत** आदि। लृँङ् (परस्मै०) **अवेत्स्यत्, अवेत्स्यताम्, अवेत्स्यन्**। (आत्मने०) **अवेत्स्यत, अवेत्स्येताम्, अवेत्स्यन्त**। व्याघ्रभूति के मत में—**अवेदिष्यत्, अवेदिष्यताम्, अवेदिष्यन्** आदि।

[लघु०] **षिचँ क्षरणे** ॥६॥ सिञ्चति; सिञ्चते ॥

अर्थः—षिचँ (सिच्) धातु 'सींचना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु भी मुच् धातु की तरह स्वरितेत् होने से उभयपदी है। **'धात्वादेः षः सः'** (२५५) से इस के आदि षकार को सकार होकर 'सिच्' बन जाता है। षोपदेश का फल 'सिषेच' आदियों में आदेशरूप सकार को **'आदेशप्रत्यययोः'** (१५०) से षत्व करना है। अनुदात्तों में परिगणित होने से यह धातु अनिट् है। परन्तु क्रादिनियम से लिँट् में सर्वत्र (थल् में भी) इट् हो जाता है। इस की प्रक्रिया लुँङ् के सिवाय अन्यत्र मुच् धातु की तरह होती है। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) **सिञ्चति, सिञ्चतः, सिञ्चन्ति**। (आत्मने०,) **सिञ्चते, सिञ्चेते, सिञ्चन्ते**। लिँट्—(परस्मै०) **सिषेच, सिषिचतुः, सिषिचुः**। (आत्मने०) **सिषिचे, सिषिचाते, सिषिचिरे**। लुँट्—(परस्मै०) **सेक्ता, सेक्तारौ, सेक्तारः। सेक्तासि**—। (आत्मने०) **सेक्ता, सेक्तारौ, सेक्तारः। सेक्तासे**—। लृँट्—(परस्मै०) **सेक्ष्यति, सेक्ष्यतः, सेक्ष्यन्ति**। (आत्मने०) **सेक्ष्यते, सेक्ष्येते, सेक्ष्यन्ते**। लोँट्—(परस्मै०) **सिञ्चतु-सिञ्चतात्, सिञ्चताम्, सिञ्चन्तु**। (आत्मने०) **सिञ्चताम्, सिञ्चेताम्, सिञ्चन्ताम्**। लँङ्—(परस्मै०) **असिञ्चत्, असिञ्चताम्, असिञ्चन्**। (आत्मने०) **असिञ्चत, असिञ्चेताम्, असिञ्चन्त**। वि० लिँङ्—(परस्मै०) **सिञ्चेत्, सिञ्चेताम्, सिञ्चेयुः**। (आत्मने०) **सिञ्चेत, सिञ्चेयाताम्, सिञ्चेरन्**। आ० लिँङ्—(परस्मै०) **सिच्यात्, सिच्यास्ताम्, सिच्यासुः**। (आत्मने०) **सिक्षीष्ट, सिक्षीयास्ताम्, सिक्षीरन्** (**लिङ्सिँचावात्मनेपदेषु** ५८६)।

लुँङ्—लृदित् न होने से च्लि को अङ् प्राप्त नहीं होता। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६५५) **लिपि-सिचि-ह्वश्च** ।३।१।५३॥

एभ्यश्च्लेरङ् स्यात्। असिचत् ॥

अर्थः—लिप्, सिच् और ह्वा (**ह्वेञ् स्पर्धायाम्** भ्वा० उभय०) धातुओं से परे च्लि के स्थान पर अङ् आदेश हो।

व्याख्या—लिपि-सिचि-ह्वः ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। च्लेः ।६।१। ('च्लेः

सिँच्' से)। अङ् ।१।१। ('अस्यतिवक्ति०' से)। कर्तरि ।७।१। ('णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' से)।लुँङि ।७।१। ('च्लि लुँङि' से) । लिपिश्च सिचिश्च ह्वाश्च—लिपिसिचिह्वाः (समाहारेऽपि सौत्रम्पुंस्त्वम्), तस्मात्—लिपिसिचिह्वः (विश्वपः ।५।१। की तरह)[1] । लिपि और सिचि में अन्त्य इकार उच्चारणार्थक है। अर्थः—(लिपि-सिचि-ह्वः) लिप्, सिच् और ह्वेञ् धातु से परे (च्लेः) च्लि के स्थान पर (अङ्) अङ् आदेश हो जाता है (कर्तरि लुँङि) कर्तृवाचक लुँङ् परे हो तो[2] । च्लि का ल् मात्र अवशिष्ट रहता है उसे ही अङ् आदेश हो जाता है। अङ् में ङकारानुबन्ध गुणनिषेध आदि प्रयोजनों के लिये जोड़ा गया है। लिप् धातु का वर्णन आगे आ रहा है। ह्वेञ् का वर्णन लघुकौमुदी में नहीं है, इस के 'आह्वत्' आदि उदाहरण सिद्धान्त-कौमुदी में देखें। सिच् का उदाहरण प्रकृत है—

'असिच्+च्लि+त्' यहां सिच् धातु से परे प्रकृतसूत्र से च्लि को अङ् आदेश होकर ङित्त्व के कारण लघूपधगुण का निषेध करने पर 'असिचत्' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'असिचताम्' आदि। आत्मने० में भी प्रकृतसूत्र से च्लि को अङ् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से विकल्प का प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६५६) आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् ।३।१।५४।।

लिपि-सिचि-ह्वः परस्य च्लेरङ् वा स्यात्तङि। असिचत-असिक्त ।।

अर्थः—लिप्, सिच् और ह्वेञ् धातु से परे च्लि के स्थान पर विकल्प से अङ् हो आत्मनेपद परे हो तो।

व्याख्या—आत्मनेपदेषु ।७।३। अन्यतरस्याम् ।७।१। लिपिसिचिह्वः ।५।१। ('लिपिसिचिह्वश्च' से)। च्लेः ।६।१। अङ् ।१।१। कर्तरि ।७।१। (पूर्ववत् अनुवर्त्तन होता है)। अर्थः—(लिपि-सिचि-ह्वः) लिप्, सिच् और ह्वेञ् से परे (च्लेः) च्लि के स्थान पर (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में (अङ्) अङ् आदेश हो जाता है (कर्तरि आत्मनेपदेषु) कर्तृवाचक आत्मनेपद प्रत्यय परे हों तो। दूसरी अवस्था में अङ् न होगा अतः विकल्प सिद्ध हो जायेगा।

'असिच्+च्लि+त' यहां आत्मने० परे है अतः प्रकृतसूत्र से च्लि को अङ् आदेश होकर 'असिचत' प्रयोग सिद्ध होता है। अङ् के अभाव में च्लि को सिँच्,

---

१. यहां का समास भी एक समस्या है। क्योंकि यदि यहां समाहारद्वन्द्व मानते हैं तो नपुंसक होने से ह्रस्व होकर 'लिपिसिचिह्वात्' बनना चाहिये, और यदि इतरेतर-द्वन्द्व मानते हैं तो 'लिपिसिचिह्वाभ्यः' इस प्रकार बहुवचन लगाना चाहिये। पद-मञ्जरीकार ने इन दोनों से बचने के लिये 'लिपिसिचिसहितो ह्वाः—लिपिसिचिह्वाः, तस्मात्—लिपिसिचिह्वः' इस प्रकार समास माना है।

२. यहां 'कर्त्तरि' का अनुवर्त्तन करना आवश्यक है। अन्यथा कर्मवाच्य में भी अङ् होने लगेगा—असिक्षातां क्षेत्रे देवदत्तेन, अलिप्सातां वेहल्यौ कन्यया।

झलोझलिलोप तथा **'चोः कुः'** (३०६) से कुत्व करने पर 'असिक्त' प्रयोग सिद्ध होता है। लुँङ् में रूपमाला यथा—(परस्मै०) **असिचत्, असिचताम्, असिचन्।** (आत्मने०) अङ्पक्षे—**असिचत, असिचेताम्, असिचन्त।** अङोऽभावे—**असिक्त, असिक्षाताम्, असिक्षत** (**लिङ्सिचावात्मने०** ५८६)।

लृँङ्—(परस्मै०) **असेक्ष्यत्, असेक्ष्यताम्, असेक्ष्यन्।** (आत्मने०) **असेक्ष्यत, असेक्ष्येताम्, असेक्ष्यन्त।**

उपसर्गयोग—इस धातु का बहुधा अभि, नि, वि आदि उपसर्गों के साथ प्रयोग हुआ करता है। तब **'उपसर्गात् सुनोति०'** (८.४.६५) सूत्र से धातु के सकार को षत्व हो जाता है—अभिषिञ्चति, निषिञ्चति, विषिञ्चति आदि। यह षत्व अट् के व्यवधान में भी हो जाता है—अभ्यषिञ्चत्, न्यषिञ्चत्, व्यषिञ्चत् आदि (**प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि** ८.४.६३)।

[लघु०] **लिपँ उपदेहे ॥१०॥** उपदेहो वृद्धिः। लिम्पति; लिम्पते। लेप्ता। अलिपत्; अलिपत-अलिप्त ॥

अर्थः—लिपँ(लिप्) धातु 'लेप द्वारा बढ़ाना—लीपना—आच्छादित करना—चिपकना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् स्वरितेत् होने से उभयपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र (थल् में भी) इट् का आगम हो जाता है। इसकी प्रक्रिया भी पिछली सिच् धातु की तरह समझनी चाहिये। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) **लिम्पति, लिम्पतः, लिम्पन्ति।** (आत्मने०) **लिम्पते, लिम्पेते, लिम्पन्ते।** लिँट्—(परस्मै०) **लिलेप, लिलिपतुः, लिलिपुः।** (आत्मने०) **लिलिपे, लिलिपाते, लिलिपिरे।** लुँट्—(परस्मै०) **लेप्ता, लेप्तारौ, लेप्तारः। लेप्तासि—।** (आत्मने०) **लेप्ता, लेप्तारौ, लेप्तारः। लेप्तासे—।** लृँट्—(परस्मै०) **लेप्स्यति, लेप्स्यतः, लेप्स्यन्ति।** (आत्मने०) **लेप्स्यते, लेप्स्येते, लेप्स्यन्ते।** लोँट्—

---

१. लीपना—**लिप्तेषु भासा गृहदेहलीनाम्** (माघ ३.४८)। आच्छादित करना—**लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः** (मृच्छकटिक १.३४)। कर्म, पाप, फल आदि द्वारा लिप्त किये जाने पर इस के बहुधा प्रयोग देखे जाते हैं—**लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा** (गीता ५.१०), **न चालिप्यत पापेन** (मनु० १०.१०५), **न मां कर्माणि लिम्पन्ति** (गीता ४.१४), **फलेन न लिप्यते** (गीता शाङ्कर० १३.३१)। **तस्याऽलिपत शोकाग्निः स्वान्तं काष्ठमिव ज्वलन्** (भट्टि० ६.२२) इत्यादि प्रयोगों में 'जलाना' अर्थ लाक्षणिक है। इसी धातु से ही लिपि, लेप, लेपन, अवलेप (अभिमान), लिप्त आदि शब्द बनते हैं। लिप्सु, लिप्सा आदि शब्द लभ् (पाना) धातु से बने हैं इस से नहीं।

(परस्मै०) लिम्पतु-लिम्पतात्, लिम्पताम्, लिम्पन्तु। (आत्मने०) लिम्पताम्, लिम्पेताम्, लिम्पन्ताम्। लँङ्—(परस्मै०) अलिम्पत्, अलिम्पताम्, अलिम्पन्। (आत्मने०) अलिम्पत, अलिम्पेताम्, अलिम्पन्त। वि० लिँङ्—(परस्मै०) लिम्पेत्, लिम्पेताम्, लिम्पेयुः। (आत्मने०) लिम्पेत, लिम्पेयाताम्, लिम्पेरन्। आ० लिँङ्—(परस्मै०) लिप्यात्, लिप्यास्ताम्, लिप्यासुः। (आत्मने०) लिप्सीष्ट, लिप्सीयास्ताम्, लिप्सीरन् (लिङ्सिँचावात्मनेपदेषु)। लुँङ्—(परस्मै०) 'लिपिसिचिह्वश्च' (६५५) से च्लि को अङ् आदेश हो जाता है—अलिपत्, अलिपताम्, अलिपन्। (आत्मने०) 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' (६५६) से च्लि को वैकल्पिक अङ् हो जाता है। अङ्पक्षे—अलिपत, अलिपेताम्, अलिपन्त। अङोऽभावे—अलिप्त, अलिप्साताम्, अलिप्सत। लृँङ्—(परस्मै०) अलेप्स्यत्, अलेप्स्यताम्, अलेप्स्यन्। (आत्मने०) अलेप्स्यत, अलेप्स्येताम्, अलेप्स्यन्त।

यहां तक तुदादिगण की उभयपदी धातुओं का विवेचन किया गया है। ध्यान रहे कि तुदादिगण की प्रथम धातु तुद् उभयपदी थी अतः उसके अनुरोध से पहले उभयपदी धातुओं की व्याख्या की गई है।

अब परस्मैपदी धातुओं का विवेचन प्रारम्भ होता है—

[लघु०] कृतीँ छेदने ॥११॥ कृन्तति। चकर्त। कर्तिता। कर्तिष्यति-कर्त्स्यति। अकर्तीत्॥

अर्थः—कृतीँ (कृत्) धातु 'छेदन करना—काटना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—इस धातु का अन्त्य ईकार उदात्त तथा अनुनासिक है। अनुबन्ध का लोप करने पर 'कृत्' मात्र अवशिष्ट रहता है। ईदित् करने का फल निष्ठा में इट् का निषेध करना है—कृत्तः, कृत्तवान् ('श्वीदितो निष्ठायाम्' ७.२.१४)। आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है। परन्तु सिँच्-भिन्न सकारादि आर्धधातुक प्रत्ययों में 'सेऽसिँचि०' (६३०) सूत्र द्वारा इट् का विकल्प हो जाता है। मुचादि होने के कारण इसे भी शविकरण में नुम् का आगम हो जाता है (६५४)।

लँट्—कृन्तति, कृन्ततः, कृन्तन्ति। 'प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम्' (उत्तरराम० ३.३१)।

लिँट्—चकर्त, चकृततुः, चकृतुः। चकर्तिथ, चकृतथुः, चकृत। चकर्त, चकृतिव, चकृतिम। लुँट्—कर्तिता, कर्तितारौ, कर्तितारः। लृँट्—(इट्पक्षे) कर्तिष्यति, कर्तिष्यतः, कर्तिष्यन्ति। (इटोऽभावे) कर्त्स्यति, कर्त्स्यतः, कर्त्स्यन्ति। लोँट्—कृन्ततु-कृन्ततात्, कृन्तताम्, कृन्तन्तु। लँङ्—अकृन्तत्, अकृन्तताम्, अकृन्तन्। वि० लिँङ्—कृन्तेत्, कृन्तेताम्, कृन्तेयुः। आ० लिँङ्—कृत्यात्, कृत्यास्ताम्, कृत्यासुः। लुँङ्—'सेऽसिँचि०' (६३०) सूत्र में 'असिँचि' कहा गया है अतः इट् का विकल्प नहीं होता। हलन्तलक्षणा वृद्धि का 'नेटि' (४७७) से निषेध होकर लघूपधगुण हो

जाता है—**अकर्तीत्, अकर्तिष्टाम्, अकर्तिषुः**। लृँङ्—(इट्पक्षे) **अकर्तिष्यत्, अकर्तिष्यताम्, अकर्तिष्यन्**। (इटोऽभावे) **अकर्त्स्यत्, अकर्त्स्यताम्, अकर्त्स्यन्**।

उपसर्गयोग—नि √कृत् = काटना (**विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति**—पञ्च० ४.१४) **उद् √कृत्** = उखाड़ना-उधेड़ना (**उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिम्**—मालती० ५.१६)॥

[लघु०] **खिद परिघाते** ॥१२॥ खिन्दति। चिखेद। खेत्ता॥

अर्थः—खिद (खिद्) धातु 'प्रहार करना, सताना, दुःख देना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी तथा दकारान्त अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिट् में क्रादिनियम से सर्वत्र (थल् में भी) इट् का आगम हो जाता है। मुचादि होने के कारण '**शे मुचादीनाम्**' (६५४) द्वारा इसे भी शविकरण में नुम् का आगम हो जाता है। रूपमाला यथा—

लँट्—**खिन्दति, खिन्दतः, खिन्दन्ति**। लिँट्—**चिखेद, चिखिदतुः, चिखिदुः**। लुँट्—**खेत्ता, खेत्तारौ, खेत्तारः**। लृँट्—**खेत्स्यति, खेत्स्यतः, खेत्स्यन्ति**। लोँट्—**खिन्दतु-खिन्दतात्, खिन्दताम्, खिन्दन्तु**। लँङ्—**अखिन्दत्, अखिन्दताम्, अखिन्दन्**। वि० लिँङ्—**खिन्देत्, खिन्देताम्, खिन्देयुः**। आ० लिँङ्—**खिद्यात्, खिद्यास्ताम्, खिद्यासुः**। लुँङ्—**अखैत्सीत्, अखैत्ताम्, अखैत्सुः**। लृँङ्—**अखेत्स्यत्, अखेत्स्यताम्, अखेत्स्यन्**।

[लघु०] **पिश अवयवे** ॥१३॥ पिशति। पेशिता॥

अर्थः—पिश (पिश्) धातु 'अवयव करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—लोक में इस धातु के तिङन्त प्रयोग अन्वेषणीय हैं। कई लोग इसे अकर्मक मान कर 'अवयव होना' ऐसा अर्थ किया करते हैं। **त्वष्टा रूपाणि पिंशतु** (ऋग्वेद १०.१८४.१) इत्यादि वैदिक प्रयोगों में इस का अर्थ 'विभाग करना-बांटना

---

१. यह धातु दिवादि तथा रुधादि गणों में भी पढ़ी गई है—खिद्यते, खिन्ते आदि। वहां इस का अर्थ '**दैन्ये**' (दुःखी होना या खिन्न होना) है। परन्तु यहां के अर्थ के विषय में बड़ी दुर्दशा है। कई लोग इसे यहां '**खिद परितापे**' (सन्तप्त करना, दुःखी करना) पढ़ते हैं जैसा कि **क्षीरतरङ्गिणी, प्रक्रियाकौमुदी (प्रसादटीका)** आदि में लिखा है। अन्य लोग '**खिद परिघाते**' पाठ मानते हुए भी '**परिघातो दैन्यम्**' (खिन्न होना) इस प्रकार व्याख्या करते हैं जैसा कि महामहोपाध्याय **श्रीगिरिधरशर्मा**-जी ने लघुकौमुदी की अपनी टिप्पणी में किया है। मध्यकौमुदी में इस का अर्थ '**परिदेवने**' (दुःखी होना) दिया गया है। वस्तुतः इस धातु के तिङन्त प्रयोग कहीं दृग्गोचर नहीं होते, इसीलिये यह सारी अव्यवस्था है। वेद में 'खिदति' आदि का प्रयोग है परन्तु नुम्सहित का नहीं।

देना-प्रकाशित करना' आदि प्रतीत होता है। पिशित (मांस), पिशाच, पिशुन आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं। यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है। मुचादियों में पाठ होने से इसे भी शविकरण में नुम् का आगम हो जाता है। रूपमाला यथा—

लँट्—**पिंशति, पिंशतः, पिंशन्ति**। लिँट्—**पिपेश, पिपिशतुः, पिपिशुः**। लुँट्—**पेशिता, पेशितारौ, पेशितारः**। लृँट्—**पेशिष्यति, पेशिष्यतः, पेशिष्यन्ति**। लोँट्—**पिंशतु-पिंशतात्, पिंशताम्, पिंशन्तु**। लँङ्—**अपिंशत्, अपिंशताम्, अपिंशन्**। वि० लिँङ्—**पिंशेत्, पिंशेताम्, पिंशेयुः**। आ० लिँङ्—**पिश्यात्, पिश्यास्ताम्, पिश्यासुः**। लुँङ्—**अपेशीत्, अपेशिष्टाम्, अपेशिषुः**। लृँङ्—**अपेशिष्यत्, अपेशिष्यताम्, अपेशिष्यन्**।

(यहां पर मुचादि आठ धातु समाप्त हो जाते हैं)

[लघु०] **ओँव्रश्चूँ छेदने** ॥१४॥ वृश्चति। वव्रश्च। वव्रश्चिथ-वव्रष्ठ। व्रश्चिता-व्रष्ठा। व्रश्चिष्यति-व्रक्ष्यति। वृश्च्यात्। अव्रश्चीत्-अव्राक्षीत् ॥

अर्थः—ओँव्रश्चूँ (व्रश्च्) धातु 'छेदन करना—काटना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—ओँव्रश्चूँ का आदि ओकार तथा अन्त्य ऊकार दोनों अनुनासिक होने से इत्सञ्ज्ञक होकर लुप्त हो जाते हैं, इस प्रकार 'व्रश्च्' ही अवशिष्ट रहता है। 'व्रश्च्' का भी असली रूप 'व्रस्च्' ही है, चकार के कारण सकार को श्चुत्व से शकार हुआ है (देखें पृष्ठ २५० पर टिप्पण)। आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी है। इसे ओदित् करने का प्रयोजन **'ओदितश्च'** (८.२.४५) द्वारा निष्ठा के तकार को नकार करना है—वृक्णः, वृक्णवान्। ऊदित् करने का प्रयोजन **'स्वरतिसूति०'** (४७६) द्वारा इट् का विकल्प करना है।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में शविकरण होकर 'व्रश्च्+अ+ति' इस स्थिति में **'सार्वधातुकमपित्'** (५००) द्वारा श (अ) के ङित् होने के कारण **'ग्रहिज्या०'** (६३४) से व्रश्च् के रेफ को ऋकार सम्प्रसारण तथा **'सम्प्रसारणाच्च'** (२५८) से पूर्वरूप करने पर 'वृश्चति' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां **'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्'** (२९१) इस निषेध के कारण वकार को सम्प्रसारण नहीं होता। रूपमाला यथा— **वृश्चति, वृश्चतः, वृश्चन्ति** आदि।

लिँट्—प्र० पु के एकवचन में तिप् को णल् आदेश होकर द्वित्व करने पर—व्रश्च्+व्रश्च्+अ। अब **'लिँट्यभ्यासस्योभयेषाम्'** (५४६) से अभ्यास के रेफ को सम्प्रसारण ऋकार, पूर्वरूप, 'उरत्' (४७३) से ऋकार को अकार, रपर

---

१. यहां पर 'काटना' अर्थ से जहां वृक्ष आदि का काटना अर्थ अभिप्रेत है वहां बिच्छू आदि के द्वारा 'काटना-डंक मारना' अर्थ भी अभीष्ट है। इसी धातु से 'वृश्चिक, वृक्ष' आदि शब्द निष्पन्न होते हैं।

और अन्त में हलादिशेष करने पर 'वव्रश्च' प्रयोग सिद्ध होता है[1]। यहां उपधा में अकार न होने से णल्निमित्तक वृद्धि नहीं होती। द्विवचन में 'व्रश्च्+अतुस्' इस स्थिति में संयोग से परे अतुस् कित् नहीं अतः 'ग्रहिज्या०' (६३४) से सम्प्रसारण नहीं होता। पूर्ववत् द्वित्व होकर अभ्यास को सम्प्रसारण, पूर्वरूप, उरत्, रपर तथा हलादिशेष करने पर 'वव्रश्चतुः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'वव्रश्चुः'। म० पु० के एकवचन थल् में 'स्वरतिसूति०' (४७३) द्वारा इट् का विकल्प हो जाता है। इट्पक्ष में—वव्रश्चिथ। इट् के अभाव में 'वव्रश्च्+थ' इस स्थिति में झल् परे रहते 'स्कोः०' (३०९) से संयोग के आदि सकार का लोप होकर—वव्रच्+थ। अब 'व्रश्च-भ्रस्ज०' (३०७) से चकार को षकार तथा 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से थकार को ष्टुत्व ठकार करने पर 'वव्रष्ठ' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार व और म में भी इट् का विकल्प हो जाता है। रूपमाला यथा—**वव्रश्च, वव्रश्चतुः, वव्रश्चुः। वव्रश्चिथ-वव्रष्ठ, वव्रश्चथुः, वव्रश्च। वव्रश्च, वव्रश्चिव-वव्रश्च्व, वव्रश्चिम-वव्रश्च्म**[2]।

लुट्—के इट्पक्ष में 'व्रश्चिता'। इट् के अभाव में 'व्रश्च्+ता' इस स्थिति में संयोगादि सकार का लोप, षत्व तथा ष्टुत्व करने पर—व्रष्टा। रूपमाला यथा—(इट्पक्षे) **व्रश्चिता, व्रश्चितारौ, व्रश्चितारः**। (इटोऽभावे) **व्रष्टा, व्रष्टारौ, व्रष्टारः**।

लृट्—के इट्पक्ष में 'व्रश्चिष्यति'। इट् के अभाव में 'व्रश्च्+स्य+ति' इस स्थिति में संयोगादि सकार का लोप, 'व्रश्चभ्रस्ज०' (३०७) से षत्व, 'षढोः कः सि' (५४८) से षकार को ककार तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से स्य के सकार को मूर्धन्य षकार करने पर—व्रक्ष्यति। रूपमाला यथा—(इट्पक्षे) **व्रश्चिष्यति, व्रश्चिष्यतः, व्रश्चिष्यन्ति**। (इटोऽभावे) **व्रक्ष्यति, व्रक्ष्यतः, व्रक्ष्यन्ति**।

लोट्—में लट् की तरह सम्प्रसारण हो जाता है। **वृश्चतु-वृश्चतात्,**

---

१. 'व+व्रश्च्+अ' यहां लक्ष्यभेद के कारण पुनः '**लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्**' (५४६) से अभ्यास के वकार को भी सम्प्रसारण क्यों न हो? '**न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्**' (२९१) से निषेध भी नहीं हो सकता क्योंकि अब सम्प्रसारण परे नहीं रहा उसे 'उरत्' (४७३) से अत् आदेश हो चुका है। इस का उत्तर यह है कि ऋकार के स्थान पर 'उरत्' द्वारा हुआ अत् आदेश परले प्रत्यय को मान कर प्रवृत्त होने के कारण परनिमित्तक अजादेश है अतः '**अचः परस्मिन्पूर्वविधौ**' (६९६) द्वारा उसे स्थानिवत् के कारण सम्प्रसारण मान लिया जाता है। तब सम्प्रसारण के परे रहते '**न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्**' (२९१) द्वारा निर्बाध निषेध हो जाता है कोई दोष नहीं आता।

२. जो वैयाकरण '**स्वरतिसूति०**' वाले विकल्प में भी क्रादिनियम को प्रवृत्त कराते हैं उनके मत में 'वव्रश्चिथ, वव्रश्चिव, वव्रश्चिम' इस प्रकार एक एक रूप ही बनता है। परन्तु जो अनभिज्ञ टीकाकार थल् में दो रूप बनाते हुए भी वस् और मस् में क्रादिनियम लगा कर एक एक रूप सिद्ध करते हैं—वे चिन्त्य हैं।

वृश्चताम्, वृश्चन्तु । लँङ्—अवृश्चत्, अवृश्चताम्, अवृश्चन् । वि० लिँङ्—वृश्चेत्, वृश्चेताम्, वृश्चेयुः ।

आ० लिँङ्—में यासुट् के कित् होने से सम्प्रसारण हो जाता है। वृश्च्यात्, वृश्च्यास्ताम्, वृश्च्यासुः ।

लुँङ्—इट्पक्ष में 'नेटि' (४७७) द्वारा हलन्तलक्षणा वृद्धि का निषेध हो जाता है—अव्रश्चीत्, अव्रश्चिष्टाम्, अव्रश्चिषुः आदि । इट् के अभाव में 'अव्रश्च्+स्+ईत्' इस स्थिति में हलन्तलक्षणा वृद्धि निर्बाध होकर संयोगादिलोप, षत्व, कत्व और उस से परे सिँच् के सकार को मूर्धन्य षकार करने पर—अव्राक्षीत्, अव्राष्टाम् (झलो झलि), अव्राक्षुः । अव्राक्षीः, अव्राष्टम्, अव्राष्ट । अव्राक्षम्, अव्राक्ष्व, अव्राक्ष्म ।

लृँङ्—(इट्पक्षे) अव्रश्चिष्यत्, अव्रश्चिष्यताम्, अव्रश्चिष्यन् । (इटोऽभावे) अव्रक्ष्यत्, अव्रक्ष्यताम्, अव्रक्ष्यन् ।

[लघु०] **व्यच व्याजीकरणे** ॥१५॥ विचति । विव्याच । विविचतुः । व्यचिता । व्यचिष्यति । विच्यात् । अव्याचीत्-अव्यचीत् ॥

अर्थः—व्यच (व्यच्) धातु 'छलना, ठगना, धोखा देना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है। लोक में इस के प्रयोग अन्वेषणीय हैं। कविकल्पद्रुम की व्याख्या में श्रीदुर्गादास ने 'विचति सन्तं खलः' उदाहरण दिया है। ऋग्वेद (३.३६.५) में 'विव्याच' का प्रयोग देखा जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण तथा ऐतरेय आरण्यक में भी इस के प्रयोग उपलब्ध होते हैं ।

लँट्—'ग्रहिज्या०' (६३४) सूत्र में इस धातु का भी परिगणन किया गया है अतः कित् ङित् प्रत्ययों में इसे सम्प्रसारण हो जाता है। 'श' प्रत्यय 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित् है अतः उस के परे रहते व्यच् के यकार को सम्प्रसारण होकर पूर्वरूप (२५८) हो जाता है—विचति, विचतः, विचन्ति ।

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन में 'व्यच्+अ' यहां कित् ङित् परे नहीं है अतः सम्प्रसारण नहीं होता । द्वित्व करने पर 'लिँट्यभ्यासस्योभयेषाम्' (५४६) से अभ्यास को सम्प्रसारण होकर उपधावृद्धि हो जाती है—विव्याच । अतुस् कित् है अतः 'ग्रहिज्या०' से प्रथम सम्प्रसारण होकर बाद में द्वित्व हो जाता है—विविचतुः । इसी प्रकार आगे भी कितों में समझ लेना चाहिये । रूपमाला यथा—विव्याच, विविचतुः, विविचुः । विव्यचिथ, विविचथुः, विविच । विव्याच-विव्यच, विविचिव, विविचिम ।

लुँट्—व्यचिता, व्यचितारौ, व्यचितारः । लृँट्—व्यचिष्यति, व्यचिष्यतः, व्यचिष्यन्ति । लोँट्—विचतु-विचतात्, विचताम्, विचन्तु । लँङ्—अविचत्, अविच-

ताम्, अविचन् । वि० लिङ्—**विचेत्**, विचेताम्, **विचेयुः** । आ० लिङ्—यासुट् के कित्त्व के कारण सम्प्रसारण हो जाता है—**विच्यात्**, **विच्यास्ताम्**, **विच्यासुः** । लुङ्—हलन्तलक्षणा वृद्धि का **'नेटि'** (४७७) द्वारा निषेध होकर **'अतो हलादेर्लघोः'** (४५७) से वृद्धि का विकल्प हो जाता है । वृद्धिपक्षे—**अव्याचीत्, अव्याचिष्टाम्, अव्याचिषुः** । वृद्ध्यभावे—**अव्यचीत्, अव्यचिष्टाम्, अव्यचिषुः** । लृङ्—**अव्यचिष्यत्, अव्यचिष्यताम्, अव्यचिष्यन्** ।

'व्यचेः कुटादित्वम् अनसि' यह वार्त्तिक महाभाष्य में ६.१.१७ सूत्र पर पढ़ा गया है । इस का अभिप्राय यह है कि अनस् (न अस्—अनस्, नञ्तत्पुरुषः) अर्थात् अस्प्रत्यय से भिन्न प्रत्यय के परे रहते व्यच् धातु का कुटादियों में परिगणन समझना चाहिये । व्यच् धातु **धातुपाठ** में कुटादियों से मध्य में नहीं पढ़ी गई अपितु कुटादियों से बहुत पहले तुदादियों में आई है । **'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्'** (५८७) सूत्र द्वारा कुटादि धातुओं से परे ञित्-णित् से भिन्न प्रत्यय ङिद्वत् होते हैं । इस वार्त्तिक से व्यच् धातु के कुटादियों में आ जाने से इस से परे भी ञित्-णित् से भिन्न प्रत्यय ङित् हो जायेंगे । ङित् होने से उन के परे रहते व्यच् को **'ग्रहिज्या०'** (६३४) से सम्प्रसारण हो जायेगा । यथा—व्यच्+तृच्=विचिता, व्यच्+तुम्=विचितुम्, व्यच्+तव्य=विचितव्यम् आदि । अस्प्रत्यय परे होने पर व्यच् को कुटादियों में परिगणित नहीं किया जाता । यथा—**उरुव्यचाः कण्टकः** (उरुव्यचस्=बहुत विस्तृत कांटा), उरु विचतीति उरुव्यचाः ('वेधाः' की तरह प्रथमैकवचन) । यहां उरु उपपद रहते व्यच् धातु से **'मिथुनेऽसिँः पूर्ववच्च सर्वम्'** (उणादि० ६६२) इस औणादिक सूत्र से असिँ प्रत्यय किया तो व्यच् के कुटादि न होने से उस से परे अस् प्रत्यय ङित् नहीं होता, अतः सम्प्रसारण नहीं होता ।

अब इस वार्त्तिक के प्रकाश में यहां यह शंका उत्पन्न होती है कि लुँङ् में 'अव्यच्+इस्+ईत्' इस स्थिति में अस्‌भिन्न सिँच् प्रत्यय के परे रहते यदि व्यच् को कुटादि समझा जाएगा तो सिँच् के ङित् हो जाने से एक तरफ तो वृद्धि न हो सकेगी और दूसरी तरफ व्यच् को सम्प्रसारण होकर 'अविचीत्' रूप बनने लगेगा । इसी प्रकार लुँट् में 'तास्' तथा लृँट् में 'स्य' के ङित् हो जाने से सम्प्रसारण होकर 'विचिता, विचिष्यति' इस प्रकार अनिष्ट रूप बनने लगेंगे । इस शंका का समाधान करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

[लघु०] **'व्यचेः कुटादित्वम् अनसि'** इति तु नेह प्रवर्त्तते, 'अनसि' इति पर्युदासेन कृन्मात्रविषयत्वात् ॥

अर्थः—'अस्‌भिन्न प्रत्यय परे होने पर व्यच् धातु को कुटादि समझना चाहिये'—यह वार्त्तिक यहां प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि 'अनसि' में पर्युदासप्रतिषेध होने से वह केवल अस्‌भिन्न कृत्प्रत्ययों में ही प्रवृत्त होता है ।

व्याख्या—वार्त्तिक के 'अनसि' पद में नञ्समास है । न अस्—अनस्, तस्मिन्

अनसि। यहां पर नञ् पर्युदासप्रतिषेध को प्रकट करता है, क्योंकि समास में प्रायः वही हुआ करता है। पर्युदासप्रतिषेध में निषिध्यमान से भिन्न का ग्रहण होते हुए भी तत्सदृश पदार्थ ग्रहण किया जाता है। यथा किसी ने कहा—**अब्राह्मणम् आनय** (ब्राह्मण से भिन्न को लाओ), यहां ब्राह्मण से भिन्न पत्थर लकड़ी आदि भी हो सकते हैं परन्तु उन को नहीं लाया जाता अपितु ब्राह्मण से भिन्न उस जैसे किसी मनुष्य को ही लाया जाता है। वैसे यहां 'अनसि' में भी समझना चाहिये। अस् प्रत्यय औणादिक होने से कृत्प्रत्ययों के अन्तर्गत आता है अतः अस्‌भिन्न प्रत्यय भी कोई कृत्प्रत्यय ही हो सकेगा। स्य, तास्, सिँच् आदि कृत्प्रत्यय नहीं अतः उन के परे रहते व्यच् को कुटादि नहीं समझा जायेगा। जब वह कुटादि नहीं होगा तो उस से परे वे प्रत्यय ङित् भी न होंगे अतः उपर्युक्त कोई दोष प्रसक्त न होगा। प्रतिषेध दो प्रकार का होता है पर्युदास और प्रसज्य, इसका विस्तृत विवेचन प्रथमभाग में (१८) सूत्र पर कर चुके हैं विशेषजिज्ञासु उसे वहीं देखें[1]।

[लघु०] **उछिँ उञ्छे** ॥१६॥ उञ्छति। **उञ्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलम्**—इति यादवः[2] ॥

अर्थः—उछिँ (उञ्छ्) धातु 'अनाज के एक एक दाने को चुनना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—खेत के कट जाने पर जब भूस्वामी भूमि से सब अनाज उठा कर ले जा चुकते थे तब प्राचीन काल में मुनि लोग उस अबाधितस्थान पर आकर अनाज के इधर उधर बिखरे एक एक दाने को अथवा अनाज की बालों को बटोर बटोर कर अपना निर्वाह करते थे। इसे ही शास्त्रों में मुनिवृत्ति कहा गया है। अनाज के दानों का बीनना 'उञ्छ करना' तथा अनाज के कणिशों (बालों) का बीनना 'शिल करना' कहाता था। यही बात ऊपर **यादव**-प्रणीत **वैजयन्तीकोष** के प्रमाण से कही गई है। उछिँ का अन्त्य इकार उदात्तानुनासिक है अतः उदात्तेत् होने से यह धातु

---

१. इस प्रकार के विवाद छात्रोपयोगी न समझ कर वरदराजजी प्रायः लघुकौमुदी में नहीं दिया करते। इस विवाद के उल्लेख का कारण ऐतिहासिक है। **भट्टोजिदीक्षित** से पहले **श्रीरामचन्द्राचार्य**-प्रणीत **प्रक्रियाकौमुदी** तथा **श्रीबोपदेव-गोस्वामिप्रणीत मुग्धबोध** व्याकरण का आबालवृद्ध खूब प्रचार हो चुका था। उन दोनों में 'अनसि' को प्रसज्यप्रतिषेध मान कर लुँट् में 'विचिता' लृँट् में 'विचिष्यति' और लुँङ् में 'अविचीत्' रूप बनाये गये थे। अतः इन अशुद्ध रूपों का अत्यधिक प्रचार देखते हुए वरदराजजी को उनके खण्डन में कटिबद्ध होना पड़ा।

२. **यादव**प्रणीत **वैजयन्तीकोष** के मुद्रितसंस्करण में यह पाठ इस प्रकार पाया जाता है—**उञ्छो धान्यश आदानं कणिशाद्यर्जनं सिलम्**।

परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में पठित न होने से सेट् है। इदित् होने के कारण इसे नुम् का आगम होकर अनुस्वार और परसवर्ण करने पर 'उञ्छ्' बन जाता है।

लँट्—उञ्छति, उञ्छतः, उञ्छन्ति। लिँट्—में 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (५११) से आम् प्रत्यय हो कर लिँट् का लुक् तथा कृ भू और अस् का अनुप्रयोग हो जाता है—(कृपक्षे) उञ्छाञ्चकार, उञ्छाञ्चक्रतुः, उञ्छाञ्चक्रुः। (भूपक्षे) उञ्छाम्बभूव, उञ्छाम्बभूवतुः, उञ्छाम्बभूवुः। (अस्पक्षे) उञ्छामास, उञ्छामासतुः, उञ्छामासुः। लुँट्—उञ्छिता, उञ्छितारौ, उञ्छितारः। लृँट्—उञ्छिष्यति, उञ्छिष्यतः, उञ्छिष्यन्ति। लोँट्—उञ्छतु-उञ्छतात्, उञ्छताम्, उञ्छन्तु। लँङ्—में आट् का आगम होकर वृद्धि हो जाती है—औञ्छत्, औञ्छताम्, औञ्छन्। वि० लिँङ्—उञ्छेत्, उञ्छेताम्, उञ्छेयुः। आ० लिँङ्—इदित् होने के कारण 'अनिदितां हलः०' (३३४) से उपधा के नकार का लोप नहीं होता—उञ्छ्यात्, उञ्छ्यास्ताम्, उञ्छ्यासुः। लुँङ्—औञ्छीत्, औञ्छिष्टाम्, औञ्छिषुः। मा भवान् उञ्छीत् (न माङ्योगे ४४१)। लृँङ्—औञ्छिष्यत्, औञ्छिष्यताम्, औञ्छिष्यन्।

उपसर्गयोग—प्र √ उञ्छ्=पोंछना-मिटाना (विवेकप्रोञ्छनाय विषये रससेकः—नैषध० ५.३६)।

[लघु०] ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्त्तिभावेषु ॥१७॥ ऋच्छति। ऋच्छत्यृताम् (६१४) इति गुणः। द्विहल्ग्रहणस्याऽनेकहलुपलक्षणत्वान्नुट्। आनर्च्छ। आनर्च्छतुः। ऋच्छिता॥

अर्थः—ऋच्छ् धातु 'गमन करना, इन्द्रियों का बल नष्ट होना, कठिन या दृढ़ होना' अर्थों में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है। इस धातु का मूल रूप 'ऋछ्' है, 'छे च' (१०१) से छकार को तुक् का आगम होकर श्चुत्व करने से 'ऋच्छ्' बन जाता है।

लँट्—ऋच्छति, ऋच्छतः, ऋच्छन्ति।

लिँट्—'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (५११) सूत्र में 'अनृच्छः' कहने से यहां आम् नहीं होता। प्र० पु० के एकवचन में 'ऋच्छ्+अ' इस स्थिति में द्वित्व करने पर 'उरत्' (४७३) से अभ्यास के ऋकार को अत्, रपर, हलादिशेष और 'अत आदेः' (४४३) से अभ्यास के अत् को दीर्घ करने पर—आ+ऋच्छ्+अ। अब 'ऋच्छत्यृताम्' (६१४) से धातु के ऋकार को अर् गुण कर 'आ+अर् च् छ्+अ' इस स्थिति में 'तस्मान्नुड् द्विहलः' (४६४) से नुट् का आगम करना है, परन्तु यहां दो से अधिक तीन हल् (र्+च्+छ्) होने के कारण वह प्राप्त नहीं हो सकता। इस का समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि सूत्र में 'द्वि' का कथन केवल दो हलों

के लिये ही नहीं अपितु एक से अधिक हलों के उपलक्षण[1] के लिये है, इस से तीन हलों के होने पर भी नुट् हो जायेगा—आ+न् अर्च्छ्+अ=आनर्च्छ[2]। इसी प्रकार 'आनर्च्छतुः' आदि में गुण तथा नुट् कर लेना चाहिये। रूपमाला यथा—आनर्च्छ, आनर्च्छतुः, आनर्च्छुः। आनर्च्छिथ, आनर्च्छथुः, आनर्च्छ। आनर्च्छ, आनर्च्छिव, आनर्च्छिम।

लुट्—ऋच्छिता, ऋच्छितारौ, ऋच्छितारः। लृट्—ऋच्छिष्यति, ऋच्छिष्यतः, ऋच्छिष्यन्ति। लोट्—ऋच्छतु-ऋच्छतात्, ऋच्छताम्, ऋच्छन्तु। लङ्—आट् का आगम होकर वृद्धि हो जाती है[3]—आर्च्छत्, आर्च्छताम्, आर्च्छन्। वि० लिङ्—ऋच्छेत्, ऋच्छेताम्, ऋच्छेयुः। आ० लिङ्—ऋच्छ्यात्, ऋच्छ्यास्ताम्, ऋच्छ्यासुः। लुङ्—आर्च्छीत्, आर्च्छिष्टाम्, आर्च्छिषुः। लृङ्—आर्च्छिष्यत्, आर्च्छिष्यताम्, आर्च्छिष्यन्।

उपसर्गयोग—सम्√ऋच्छ्=संगत होना (समृच्छते; सम्पूर्वक अकर्मक ऋच्छ् धातु से 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' १.३.२६ सूत्र से आत्मनेपद हो जाता है)।

[लघु०] **उज्झ उत्सर्गे ॥१८॥ उज्झति ॥**

अर्थः—उज्झ (उज्झ्) धातु 'छोड़ना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है। इस धातु का मूलरूप 'उद्झ्' है, श्चुत्व होकर 'उज्झ्' बन जाता है।

लट्—उज्झति, उज्झतः, उज्झन्ति। 'मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु मनोरथः कण्ठपथं कथं सः' (नैषध ३.५६)। लिट्—में 'इजादेश्च०' (५११) से आम् प्रत्यय हो जाता है—(कृपक्षे) उज्झाञ्चकार[4], उज्झाञ्चक्रतुः, उज्झाञ्चक्रुः। (भूपक्षे)

---

१. उपलक्ष्यते स्वं स्वेतरत् चानेनेत्युपलक्षणम्। स्वप्रतिपादकत्वे सति स्वेतरप्रतिपादकत्वम् उपलक्षणत्वम्। निदर्शन या उदाहरण को 'उपलक्षण' कहते हैं। यथा—काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् (कौवों से दही बचाओ)—यहां 'काक' से तात्पर्य केवल कौवों से नहीं अपितु दही के विनाशक कुत्ते, बिल्ली, चील आदि सब से है। 'काक' पद तो मोटे तौर पर निदर्शनार्थ रखा गया है। इसी प्रकार यहां भी 'द्वि' शब्द एक से अधिक हलों को बतलाने के लिये रखा गया है केवल दो हलों से तात्पर्य नहीं।

२. 'ऋच्छाञ्चकार' इति क्वचिदुपलभ्यमानः प्रयोगो 'गुरोश्च हलः' (८६८) इत्यकारप्रत्ययान्ताद् ऋच्छाशब्दात् कर्मणि द्वितीयायाम्बोध्यः।

३. पदान्त न होने से 'ऋत्यकः' (६१) द्वारा ह्रस्वसमुच्चित प्रकृतिभाव न हुआ।

४. सपदि विगतनिद्रस्तल्पमुज्झाञ्चकार—रघु० ५.७५।

उज्झाम्बभूव, उज्झाम्बभूवतुः, उज्झाम्बभूवुः। (अस्पक्षे) उज्झामास, उज्झामासतुः, उज्झामासुः। लुँट्—उज्झिता, उज्झितारौ, उज्झितारः। लृँट्—उज्झिष्यति, उज्झिष्यतः, उज्झिष्यन्ति। लोँट्—उज्झतु-उज्झतात्, उज्झताम्, उज्झन्तु। लँङ्—औज्झत्, औज्झताम्, औज्झन्। वि० लिँङ्—उज्झेत्, उज्झेताम्, उज्झेयुः। आ० लिँङ्—उज्झ्यात्, उज्झ्यास्ताम्, उज्झ्यासुः। लुँङ्—औज्झीत्, औज्झिष्टाम्, औज्झिषुः। लृँङ्—औज्झिष्यत्, औज्झिष्यताम्, औज्झिष्यन्।

उपसर्गयोग—प्र √ उज्झ् = छोड़ना, लाङ्घना (लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः—हितोप० १.२१)।

[लघु०] लुभ विमोहने ॥१६॥ लुभति ॥

अर्थः—लुभ (लुभ्) धातु 'मोहना, आकृष्ट करना, लुभाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है।

लँट्—लुभति, लुभतः, लुभन्ति। लिँट्—लुलोभ, लुलुभतुः, लुलुभुः। लुँट्—में धातु के सेट् होने से 'लुभ्+ता' इस स्थिति में नित्य इट् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से विकल्प का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६५७) तीष-सह-लुभ-रुष-रिषः ।७।२।४८॥

इच्छत्यादेः परस्य तादेरार्धधातुकस्येड् वा स्यात्। लोभिता-लोब्धा। लोभिष्यति ॥

अर्थः—इष्, सह्, लुभ्, रुष् और रिष्—इन धातुओं से परे तकारादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् का आगम हो।

व्याख्या—ति ।७।१। इष-सह-लुभ-रुष-रिषः ।५।१। आर्धधातुकस्य ।६।१। इट् ।१।१। ('आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से)। वा इत्यव्ययपदम् ('स्वरतिसूति०' से)। 'ति' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त बना कर तदादिविधि कर ली जाती है। अर्थः—(इष-सह-लुभ-रुष-रिषः) इष्, सह्, लुभ्, रुष् और रिष् धातुओं से परे

---

१. विमोहनम् आकुलीकरणम् (लुभाना)। इस अर्थ में यह सकर्मक है। लोभनीया = आकर्षणीया (रघु० ६.५८), विलुभिताः केशाः, विलुभितः सीमन्तः, विलुभितानि पदानि (काशिका ७.२.५४) इत्यादियों में इसी धातु का प्रयोग हुआ है। 'लुभो विमोहने' (७.२.५४) सूत्र में भी इसी का ग्रहण है। पर कहीं कहीं इस का अकर्मकतया प्रयोग भी देखा जाता है, यथा—लुभति आत्मनि कामे च (कविकल्पद्रुम की टीका में दुर्गादास द्वारा हलायुध के नाम से उद्धृत)। 'लुभ्यति' आदि प्रसिद्ध प्रयोग दैवादिक 'लुभ गार्ध्ये' धातु के हैं। कथमिह 'परिलोभसे धनेन' (मृच्छ०); श्वादेरवृत्करणादिति ॥

(ति=तः=तादेः) तकारादि (आर्धधातुकस्य) आर्धधातुक का अवयव (इट्) इट् हो जाता है (वा) विकल्प से। 'इष्' से यहां तौदादिक और क्रयादिक इष् का ही ग्रहण होता है दैवादिक का नहीं, जैसा कि महाभाष्य में वार्त्तिक पढ़ा गया है— **इषेस्तकारे श्यन्प्रत्ययात् प्रतिषेधः**। इष्, सह् आदि सब धातुएं सेट् हैं अतः इन से परे तकारादि आर्धधातुक को नित्य इट् प्राप्त था, परन्तु अब इस सूत्र से विकल्प का विधान किया गया है। उदाहरण यथा—इष् (चाहना)—इष्+तृच्=एषिता, एष्टा। सह् (सहना)—सह्+तृच्=सहिता, सोढा (**सहिवहोरोदवर्णस्य** ५५१)। लुभ् (लुभाना)—लुभ्+तृच्=लोभिता, लोब्धा। रुष् (हिंसा करना)—रुष्+तृच्=रोषिता, रोष्टा। रिष् (हिंसा करना)—रिष्+तृच्=रेषिता, रेष्टा।

'लुभ्+ता' यहाँ पर 'तास्' यह तकारादि आर्धधातुक परे है अतः प्रकृतसूत्र से इट् का विकल्प हो जाता है। इट् के पक्ष में लघूपधगुण होकर—**लोभिता**। इट् के अभाव में लघूपधगुण, '**झषस्तथोर्धोऽधः**' (५४६) से तकार को धकार तथा '**झलां जश्झशि**' (१६) से धातु के भकार को जश्त्व बकार करने पर—**लोब्धा**। लुँट्—में रूपमाला यथा—(इट्पक्षे) **लोभिता, लोभितारौ, लोभितारः**। (**इटोऽभावे**) **लोब्धा, लोब्धारौ, लोब्धारः**। लृँट्—**लोभिष्यति, लोभिष्यतः, लोभिष्यन्ति**। लोँट्—**लुभतु-लुभतात्, लुभताम्, लुभन्तु**। लँङ्—**अलुभत्, अलुभताम्, अलुभन्**। वि० लिँङ्—**लुभेत्, लुभेताम्, लुभेयुः**। आ० लिँङ्—**लुभ्यात्, लुभ्यास्ताम्, लुभ्यासुः**। लुँङ्—में '**नेटि**' (४७७) से वृद्धि का निषेध होकर लघूपधगुण हो जाता है— **अलोभीत्, अलोभिष्टाम्, अलोभिषुः**। लृँङ्—**अलोभिष्यत्, अलोभिष्यताम्, अलोभिष्यन्**।

[लघु०] **तृप तृम्फ तृप्तौ** ॥२०॥२१॥ तृपति। ततर्प। तर्पिता। अतर्पीत्॥

अर्थः—तृप् और तृम्फ् धातुएं 'तृप्त होना या तृप्त करना' अर्थों में प्रयुक्त होती हैं।

व्याख्या—दोनों धातु आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् हैं। ध्यान रहे कि अनुदात्तों में परिगणित 'तृप्' धातु दिवादिगणीय है तभी तो श्यन् लगा कर 'तृप्य' इस प्रकार उस का निर्देश किया गया है। तृप् की रूपमाला यथा[1]—

लँट्—**तृपति, तृपतः तृपन्ति**। लिँट्—**ततर्प, ततृपतुः, ततृपुः**। लुँट्—**तर्पिता, तर्पितारौ, तर्पितारः**। लृँट्—**तर्पिष्यति, तर्पिष्यतः, तर्पिष्यन्ति**। लोँट्—**तृपतु-तृपतात्, तृपताम्, तृपन्तु**। लँङ्—**अतृपत्, अतृपताम्, अतृपन्**। वि० लिँङ्—**तृपेत्, तृपेताम्,**

---

१. तौदादिक तृप् धातु के प्रयोग लौकिक साहित्य में अन्वेष्टव्य हैं। '**तृपत्सोमं पाहि दह्यदिन्द्रः**' (ऋग्वेद २.११.५) में इसी धातु का प्रयोग देखा जाता है।

तृपेयुः । आ० लिङ्—तृप्यात्, तृप्यास्ताम्, तृप्यासुः । लुङ्—अतर्पीत्[1], अतर्पिष्टाम्, अतर्पिषुः । लृङ्—अतर्पिष्यत्, अतर्पिष्यताम्, अतर्पिष्यन् ।

तृम्फ् धातु[2] 'नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु' (पृष्ठ २५०) के अनुसार नकारोपध है । तृन्फ् के नकार को अनुस्वार और उसे परसवर्ण करने से 'तृम्फ्' बन जाता है । लँट् में शविकरण करने पर 'तृम्फ्+अ+ति' इस स्थिति में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से 'श' (अ) के ङित् होने से 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (३३४) द्वारा उपधा के नकार का लोप हो जाता है[3]—तृफ्+अ+ति । अब यहां अग्रिम-वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(४२) शे तृम्फादीनां नुम् वाच्यः ।।

आदिशब्दः प्रकारे, तेन येऽत्र नकाराऽनुषक्तास्ते तृम्फादयः[4] । तृम्फति । ततृम्फ । तृफ्यात् ।।

अर्थः—शविकरण परे होने पर तृम्फ् आदि धातुओं को नुम् का आगम हो । **आदिशब्दः०**—'तृम्फादि' पद में 'आदि' शब्द सादृश्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । तृम्फादि अर्थात् तृम्फ् धातु तथा तत्सदृश उपधा में नकार वाली धातुएं ।

व्याख्या—यह वार्त्तिक '**शे मुचादीनाम्**' (६५४) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है । तृम्फादि धातुओं का धातुपाठ में वृत्करण नहीं किया गया । यहां 'आदि' शब्द प्रकार अर्थात् सादृश्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । तृम्फ् के साथ सादृश्य उपधा में नकारवत्ता के कारण है अतः '**तृम्फ्सदृश अर्थात् उपधा में नकार वाली तौदादिक धातुओं को नुम् का आगम हो शविकरण परे हो तो**' यह अर्थ पर्यवसित होता है। तुदादिगण में गुम्फ्, शुम्भ्, उम्भ् प्रभृति अनेक धातु नकारोपध हैं । शविकरण में इन धातुओं का अपना नकार 'अनिदितां हलः०' (३३४) में लुप्त हो जाता है, तब इस

---

१. '**स्पृश-मृश-कृष-तृप०**' (वा० ४२) इस वार्त्तिक में दैवादिक तृप् का ही ग्रहण होता है इस तृप् का नहीं, अतः इस से परे सिँच् का वैकल्पिक विधान नहीं होता । दैवादिक तृप् से परे च्लि को सिँच् और पक्ष में पुषादित्वाद् अङ् हो जाता है—अताप्र्सीत्, अतृपत् । यदि इस तौदादिक तृप् का भी वार्तिक में ग्रहण मानते हैं तो पक्ष में च्लि का श्रवण प्रसक्त होगा जो महाभाष्य के इस वचन से विरुद्ध है—**च्लिः क्वापि न श्रूयते** (महाभाष्य ३.१.४३) ।

२. तृम्फ् धातु के प्रयोग अन्वेष्टव्य हैं ।

३. ध्यान रहे कि '**अनिदितां हलः०**' (६.४.२४) की दृष्टि में धातु में हुए अनुस्वार (८.३.२४) और परसवर्ण (८.४.५७) दोनों असिद्ध हैं अतः उसे नकार ही दीखता है मकार नहीं ।

४. नकारानुषक्ताः=नकारयुक्ताः । प्राचां मते नकारस्य 'अनुषङ्ग' इति सञ्ज्ञा ।

वार्त्तिक से दूसरा नकार आ कर अनुस्वार और परसवर्ण करने पर पुनः वैसा रूप बन जाता है। ध्यान रहे कि विधानसामर्थ्य से इस आगन्तुक नकार का पुनः लोप नहीं होता।

'तृफ्+अ+ति' यहां एकदेशविकृतन्याय से तृम्फ् धातु से परे श (अ) मौजूद है अतः प्रकृतवार्त्तिक से नुम् का आगम होकर 'नश्चापदान्तस्य झलि (७८) से नकार को अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (७९) से उसे परसवर्ण मकार करने पर 'तृम्फति' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार लोँट्, लँङ् और विधिलिँङ् में प्रक्रिया समझनी चाहिये। रूपमाला यथा—

लँट्—**तृम्फति, तृम्फतः, तृम्फन्ति।** लिँट्—**ततृम्फ, ततृम्फतुः**[1], **ततृम्फुः।** लुँट्—**तृम्फिता, तृम्फितारौ, तृम्फितारः।** लृँट्—**तृम्फिष्यति, तृम्फिष्यतः, तृम्फिष्यन्ति।** लोँट्—**तृम्फतु-तृम्फतात्, तृम्फताम्, तृम्फन्तु।** लँङ्—**अतृम्फत्, अतृम्फताम्, अतृम्फन्।** वि० लिँङ्—**तृम्फेत्, तृम्फेताम्, तृम्फेयुः।** आ० लिँङ्—में यासुट् के कित्त्व के कारण उपधा के नकार का लोप (३३४) हो जाता है, परन्तु 'श' विकरण परे न होने से पुनः नुम् का आगम नहीं होता—**तृफ्यात्, तृफ्यास्ताम्, तृफ्यासुः।** लुँङ्—**अतृम्फीत्, अतृम्फिष्टाम्, अतृम्फिषुः।** लृँङ्—**अतृम्फिष्यत्, अतृम्फिष्यताम्, अतृम्फिष्यन्।**

[लघु०] **मृड पृड सुखने** ॥२२॥ ॥२३॥ मृडति। पृडति॥

अर्थः—मृड(मृड्) और पृड(पृड्) धातुएं 'सुख देना' अर्थ में प्रयुक्त होती हैं[2]।

व्याख्या—ये दोनों धातु पूर्ववत् परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् हैं। रूपमाला यथा—

लँट्—**मृडति, मृडतः, मृडन्ति।** लिँट्—**ममर्ड, ममृडतुः, ममृडुः।** लुँट्—**मर्डिता, मर्डितारौ, मर्डितारः।** लृँट्—**मर्डिष्यति, मर्डिष्यतः, मर्डिष्यन्ति।** लोँट्—**मृडतु-मृडतात्, मृडताम्, मृडन्तु।** लँङ्—**अमृडत्, अमृडताम्, अमृडन्।** वि० लिँङ्—**मृडेत्, मृडेताम्, मृडेयुः।** आ० लिँङ्—**मृड्यात्, मृड्यास्ताम्, मृड्यासुः।** लुँङ्—**अमर्डीत्, अमर्डिष्टाम्, अमर्डिषुः।** लृँङ्—**अमर्डिष्यत्, अमर्डिष्यताम्, अमर्डिष्यन्।** इसी प्रकार पृड् की रूपमाला चलती है। लँट्—**पृडति।** लिँट्—**पपर्ड।** लुँट्—**पर्डिता।** लृँट्—**पर्डिष्यति।** लोँट्—**पृडतु-पृडतात्।** लँङ्—**अपृडत्।** वि० लिँङ्—

---

१. 'तृम्फ्+अतुस्' में संयोग से परे लिँट् को किद्वद्भाव नहीं होता (४५२) अतः कित् परे न रहने से उपधा के नकार का लोप नहीं होता।

२. मृड् धातु वेद में (**न नाथितो विन्दते मर्डितारम्**—ऋग्वेद १०.३४.३) तथा कुछ कुछ लोक में भी प्रसिद्ध है यथा—**अमृडित्वा सहस्राक्षम्**—भट्टि० ७.९७। परन्तु पृड् धातु का हमें कहीं प्रयोग नहीं मिला। **कविकल्पद्रुम** की व्याख्या में **दुर्गादास** का '**पृडति वीनं दाता**' यह उदाहरण स्वकल्पित प्रतीत होता है।

पृडेत्। आ० लिङ्—**पृड्यात्**। लुँङ्—**अपर्डीत्**। लृँङ्—**अपर्डिष्यत्**।

[लघु०] शुन गतौ ॥२४॥ शुनति ॥

अर्थः—शुन (शुन्) धातु 'गमन करना—जाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है। रूपमाला यथा—

लँट्—शुनति, शुनतः, शुनन्ति। लिँट्—शुशोन, शुशुनतुः, शुशुनुः। लुँट्—**शोनिता, शोनितारौ, शोनितारः**। लृँट्—**शोनिष्यति, शोनिष्यतः, शोनिष्यन्ति**। लोँट्—**शुनतु-शुनतात्, शुनताम्, शुनन्तु**। लँङ्—**अशुनत्, अशुनताम्, अशुनन्**। वि० लिँङ्—**शुनेत्, शुनेताम्, शुनेयुः**। आ० लिँङ्—**शुन्यात्, शुन्यास्ताम्, शुन्यासुः**। लुँङ्—**अशोनीत्, अशोनिष्टाम्, अशोनिषुः**। लृँङ्—**अशोनिष्यत्, अशोनिष्यताम्, अशोनिष्यन्**।

[लघु०] इषुँ इच्छायाम् ॥२५॥ इच्छति। एषिता-एष्टा। एषिष्यति। इष्यात्। ऐषीत् ॥

अर्थः—इषुँ (इष्) धातु 'इच्छा करना—चाहना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—इस धातु का अन्त्य उकार उदात्त तथा अनुनासिक है अतः इत्सञ्ज्ञा कर लोप करने से 'इष्' मात्र अवशिष्ट रहता है। उदात्तेत् होने से यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है। तास् में **'तीष-सह-लुभ-रुष-रिषः'** (६५७) से इट् का विकल्प हो जाता है। इसे उदित् करने का प्रयोजन **'उदितो वा'** (८८२) द्वारा क्त्वा में इट् का विकल्प करना है-**एषित्वा-इष्ट्वा**[2]।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में 'इष्+अ+ति' इस स्थिति में **'इषु-गमि-यमां छः'** (५०४) से षकार को छकार होकर **'छे च'** (१०१) से तुक् का आगम तथा **'स्तोः श्चुना श्चुः'** (६२) से श्चुत्व करने पर 'इच्छति' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार लोँट्, लँङ् और वि० लिँङ् में प्रक्रिया होती है। लँट् में रूपमाला यथा—**इच्छति, इच्छतः, इच्छन्ति**।

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन में द्वित्व, हलादिशेष तथा लघूपधगुण किया तो

---

१. इस धातु के प्रयोग अन्वेषणीय हैं। शुनक (कुत्ता) शब्द इसी धातु से बना है। श्वन् (कुत्ता) शब्द की उत्पत्ति **'टुओँश्वि गतिवृद्ध्योः'** से हुई है।

२. परन्तु क्त्वा में इट् का विकल्प तो **'तीषसह०'** (६५७) से ही सिद्ध है। अतः **'इषुगमियमां छः'** (५०४) में इसी का ग्रहण हो अन्यगणीय का नहीं इसलिये यहां उदित्करण किया गया है पर ७.२.४८ का महाभाष्य देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इस का उदित्करण अनार्ष है। भाष्य के अनुसार **'इषुगमियमां छः'** सूत्र को **'इषगमियमां छः'** पढ़ना चाहिये।

'इ+एष्+अ' हुआ। अब असवर्ण अच् परे रहते 'अभ्यासस्यासवर्णे' (५७६) सूत्र से अभ्यास के इकार को इयँङ् आदेश करने पर 'इयेष' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार थल् में—इयेषिथ। अतुस् में 'इ+इष्+अतुस्' इस स्थिति में अतुस् के कित्त्व के कारण लघूपधगुण नहीं होता, अतः असवर्ण परे न रहने से इयँङादेश भी नहीं होता, सवर्णदीर्घ होकर—ईषतुः। रूपमाला यथा—**इयेष, ईषतुः, ईषुः। इयेषिथ, ईषथुः, ईष। इयेष, ईषिव, ईषिम।**

लुँट्—में 'तीषसह०' से इट् का विकल्प हो जाता है। (इट्पक्षे) **एषिता, एषितारौ, एषितारः।** (इटोऽभावे) **एष्टा, एष्टारौ, एष्टारः।**

लृँट्—**एषिष्यति, एषिष्यतः, एषिष्यन्ति।** लोँट्—**इच्छतु-इच्छतात्, इच्छताम्, इच्छन्तु।** लँङ्—आट् का आगम होकर वृद्धि हो जाती है—**ऐच्छत्, ऐच्छताम्, ऐच्छन्।** वि० लिँङ्—**इच्छेत्, इच्छेताम्, इच्छेयुः।** आ० लिँङ्—**इष्यात्, इष्यास्ताम्, इष्यासुः।** लुँङ्— में 'नेटि' (४७७) से वृद्धि का निषेध होकर लघूपधगुण हो जाता है—एषीत्, अब आट् का आगम और वृद्धि करने से— **ऐषीत्, ऐषिष्टाम्, ऐषिषुः। ऐषीः, ऐषिष्टम्, ऐषिष्ट। ऐषिषम्, ऐषिष्व, ऐषिष्म।** लृँङ्—**ऐषिष्यत्, ऐषिष्यताम्, ऐषिष्यन्।**

[लघु०] **कुट कौटिल्ये ॥२६॥ गाङ्कुटादि० (५८७)** इति ङित्त्वम्—चुकुटिथ। चुकोट-चुकुट। कुटिता ॥

अर्थः—कुट (कुट्) धातु 'टेढ़ा होना, टेढ़ा करना, कुटिलता करना, धोखा देना' अर्थों में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है। इस धातु के तिङन्त प्रयोग साहित्य में क्वचित् ही मिलते हैं। इस से बने 'कुटिल, कुटी, कोट, कौटिल्य' आदि अनेक शब्द प्रसिद्ध हैं। व्याकरणप्रक्रिया में तुदादिगण के अन्तर्गत कुटादिगण की प्रथम धातु होने के कारण यह अत्यन्त प्रसिद्ध है[1]। **'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्'** (५८७) सूत्र द्वारा ञित्-णित् से भिन्न प्रत्यय ङिद्वत् हो जाते हैं अतः उन के परे रहते लघूपधगुण आदि नहीं होता।

लँट्—**कुटति, कुटतः, कुटन्ति।**

लिँट्—में णल् प्रत्यय के णित् होने के कारण **'गाङ्कुटादि०'** (५८७) से ङिद्वद्भाव नहीं होता, लघूपधगुण होकर—**चुकोट।** अतुस् आदि स्वतः **कित्** (४५२) हैं अतः गुण नहीं होता—**चुकुटतुः।** थल् प्रत्यय ञित्-णित्-भिन्न होने के कारण ङित् हो जाता है—**चुकुटिथ।** उ० पु० का णल् **'णलुत्तमो वा'** (४५६) से विकल्प करके

१. धातुपाठ में लगभग ४२ धातु कुटादियों के अन्तर्गत पढ़ी गई हैं, परन्तु यहां लघुकौमुदी में कुट्, पुट्, स्फुट्, स्फुर्, स्फुल् और णू इन छः धातुओं का ही वर्णन किया गया है।

णित् होता है अतः णित्त्वपक्ष में ङिद्वद्भाव के न होने से गुण हो जाता है—चुकोट। णित्त्व के अभाव में ङिद्वद्भाव हो जाने से—चुकुट। रूपमाला यथा—**चुकोट, चुकुटतुः, चुकुटुः। चुकुटिथ, चुकुटथुः, चुकुट। चुकोट-चुकुट, चुकुटिव, चुकुटिम।**

लुँट्—में तास् के ङिद्वत् हो जाने से लघूपधगुण नहीं होता—**कुटिता, कुटितारौ, कुटितारः।** लृँट्—में भी स्य के ङिद्वद्भाव के कारण लघूपधगुण नहीं होता—**कुटिष्यति, कुटिष्यतः, कुटिष्यन्ति।** लोँट्—**कुटतु-कुटतात्, कुटताम्, कुटन्तु।** लँङ्—**अकुटत्, अकुटताम्, अकुटन्।** वि० लिँङ्—**कुटेत्, कुटेताम्, कुटेयुः।** आ० लिँङ्—**कुट्यात्, कुट्यास्ताम्, कुट्यासुः।**

लुँङ्—में 'नेटि' (४७७) द्वारा हलन्तलक्षणा वृद्धि का निषेध स्वतः सिद्ध है, सिँच् के ङिद्वद्भाव के कारण लघूपधगुण भी नहीं होता—**अकुटीत्, अकुटिष्टाम्, अकुटिषुः।** लृँङ्—**अकुटिष्यत्, अकुटिष्यताम्, अकुटिष्यन्।**

उपसर्गयोग—सम् √कुट् = निश्चेष्ट होना (**केचित् सञ्चुकुटुर्भीताः—भट्टि०** १४.१०५, निष्प्रयत्नाः स्थिता इति जयमङ्गला)।

[लघु०] **पुट संश्लेषणे** ॥२७॥ पुटति। पुटिता॥

अर्थः—पुट (पुट्) धातु 'आलिङ्गन करना या मिलाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी तथा सेट् है। कुटाद्यन्तर्गत होने के कारण इस से परे भी ञित्-णित् से भिन्न प्रत्यय ङिद्वत् होते हैं। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया कुट् धातु की तरह होती है। रूपमाला यथा—

लँट्—**पुटति, पुटतः, पुटन्ति।** लिँट्—**पुपोट, पुपुटतुः, पुपुटुः। पुपुटिथ, पुपुटथुः, पुपुट। पुपोट-पुपुट, पुपुटिव, पुपुटिम।** लुँट्—**पुटिता, पुटितारौ, पुटितारः।** लृँट्—**पुटिष्यति, पुटिष्यतः, पुटिष्यन्ति।** लोँट्—**पुटतु-पुटतात्, पुटताम्, पुटन्तु।** लँङ्—**अपुटत्, अपुटताम्, अपुटन्।** वि० लिँङ्—**पुटेत्, पुटेताम्, पुटेयुः।** आ० लिँङ्—**पुट्यात्, पुट्यास्ताम्, पुट्यासुः।** लुँङ्—**अपुटीत्, अपुटिष्टाम्, अपुटिषुः।** लृँङ्—**अपुटिष्यत्, अपुटिष्यताम्, अपुटिष्यन्।**

[लघु०] **स्फुट विकसने** ॥२८॥ स्फुटति। स्फुटिता॥

अर्थः—स्फुट (स्फुट्) धातु 'विकसित होना या खिलना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2]।

---

१. इस धातु के तिङन्तप्रयोग अन्वेषणीय हैं। '**ओष्ठयौ परिपुट्येते**' यह सुश्रुत का वचन कहा जाता है। करपुट, नासापुट, पत्त्रपुट (**दुग्ध्वा पयः पत्त्रपुटे मदीयम्**—रघु० २.६५), पुटपाक आदियों में 'पुट' शब्द इसी धातु से बना है। पोटली, पुड़िया आदि हिन्दीशब्द भी इसी से बने प्रतीत होते हैं।

२. इस धातु का 'फटना-फूटना' अर्थ भी हुआ करता है वह भी एक प्रकार

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी, सेट् तथा कुटाद्यन्तर्गत है। इस की समग्र प्रक्रिया कुट्धातुवत् होती है—

लँट्— **स्फुटति, स्फुटतः, स्फुटन्ति**। लिँट्—में **'शर्पूर्वाः खयः'** (६४८) से अभ्यास का खय्-फकार शेष रहता है पुनः **'अभ्यासे चर्च'** (३९९) द्वारा उसे चर्त्व-पकार हो जाता है—**पुस्फोट, पुस्फुटतुः, पुस्फुटुः**। लुँट्—**स्फुटिता, स्फुटितारौ, स्फुटितारः**। लृँट्—**स्फुटिष्यति, स्फुटिष्यतः, स्फुटिष्यन्ति**। लोँट्—**स्फुटतु-स्फुटतात्, स्फुटताम्, स्फुटन्तु**। लँङ्—**अस्फुटत्, अस्फुटताम्, अस्फुटन्**। वि० लिँङ्—**स्फुटेत्, स्फुटेताम्, स्फुटेयुः**। आ० लिँङ्—**स्फुट्यात्, स्फुट्यास्ताम्, स्फुट्यासुः**। लुँङ्—**अस्फुटीत्, अस्फुटिष्टाम्, अस्फुटिषुः**। लृँङ्—**अस्फुटिष्यत्, अस्फुटिष्यताम्, अस्फुटिष्यन्**।

उपसर्गयोग—इसी अर्थ में प्र और वि उपसर्गों के साथ इस का बहुधा प्रयोग देखा जाता है—प्रस्फुटति, विस्फुटति।

[लघु०] **स्फुर स्फुल सञ्चलने** ॥२९॥३०॥ स्फुरति। स्फुलति ॥

अर्थः—स्फुर (स्फुर्) और स्फुल (स्फुल्) धातुओं का 'हिलना-डुलना, स्पन्दित होना, नेत्रादि का फड़कना, चेष्टा करना, प्रकाशित होना, भासना-झलकना, कांपना' आदि अर्थों में प्रयोग होता है[1]।

व्याख्या—आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण दोनों धातुएं परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् हैं। कुटादि होने से दोनों धातुओं से परे ञित्-णित्-भिन्न प्रत्यय ङित् हो जाते हैं अतः दोनों की रूपमाला कुट्धातुवत् चलती है—(स्फुर्)

लँट्—**स्फुरति, स्फुरतः, स्फुरन्ति**। लिँट्—**पुस्फोर** (६४८), **पुस्फुरतुः, पुस्फुरुः**। लुँट्—**स्फुरिता, स्फुरितारौ, स्फुरितारः**। लृँट्—**स्फुरिष्यति, स्फुरिष्यतः, स्फुरिष्यन्ति**। लोँट्—**स्फुरतु-स्फुरतात्, स्फुरताम्, स्फुरन्तु**। लँङ्—**अस्फुरत्, अस्फुरताम्, अस्फुरन्**। वि० लिँङ्—**स्फुरेत्, स्फुरेताम्, स्फुरेयुः**। आ० लिँङ्—में **'हलि च'** (६१२) से रेफान्त धातु की उपधा को दीर्घ हो जाता है—**स्फूर्यात्, स्फूर्यास्ताम्, स्फूर्यासुः**। लुँङ्—**अस्फुरीत्, अस्फुरिष्टाम्, अस्फुरिषुः**। लृँङ्—**अस्फुरिष्यत्, अस्फुरिष्यताम्, अस्फुरिष्यन्**।

का विकसन ही होता है। यथा—**हा हा देवि! स्फुटति हृदयं स्रंसते देहबन्धः** (उत्तर० ३.३८), **तेन स्वान्तं स्फुटति चटुलं हन्त भाव्यं न जाने** (कस्यचित्)।

१. फड़कना यथा—**शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य** (शाकुन्तल १.१६)। कांपना यथा—**स्फुरदधरनासापुटतया** (उत्तरराम० १.२९)। प्रकाशित होना यथा—**मुखात् स्फुरन्तीं को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम्** (मुद्रा० १.८)। शोभित होना यथा—**स्फुरति कुचकुम्भयोरुपरि मणिमञ्जरी** (गीतगो० १०.६)। स्फूर्ति, स्फुरण, स्फुलिङ्ग आदि शब्द इन्हीं धातुओं से बने हैं।

स्फुल्—(लँट्) **स्फुलति**। लिँट्—**पुस्फोल, पुस्फुलतुः, पुस्फुलुः**। लुँट्—**स्फुलिता**। लृँट्—**स्फुलिष्यति**। लोँट्—**स्फुलतु-स्फुलतात्**। लँङ्—**अस्फुलत्**। वि० लिँङ्—**स्फुलेत्**। आ० लिँङ्—**स्फुल्यात्**[1]। लुँङ्—**अस्फुलीत्**। लृँङ्—**अस्फुलिष्यत्**।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा कुछ विशिष्ट उपसर्गों के योग में स्फुर् और स्फुल् को षत्व विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६५८) स्फुरति-स्फुलत्योर्निर्निविभ्यः। ८।३।७६॥

षत्वं वा स्यात्। निःष्फुरति, निःस्फुरति॥

अर्थः—निर्, नि अथवा वि उपसर्ग से परे स्फुर् और स्फुल् धातुओं के सकार को विकल्प से षकार आदेश हो।

व्याख्या—स्फुरति-स्फुलत्योः।६।२। निर्-नि-विभ्यः।५।३। सः।६।१। (**'सहेः साडः सः'** से)। मूर्धन्यः।१।१। (**'अपदान्तस्य मूर्धन्यः'** से)। वा इत्यव्ययपदम् (**'सिवादीनां वाऽड्व्यवायेऽपि'** से)। अर्थः—(निर्-नि-विभ्यः) निर् नि अथवा वि उपसर्ग से परे (स्फुरति-स्फुलत्योः) स्फुर् और स्फुल् के अवयव (सः) सकार के स्थान पर (मूर्धन्यः) मूर्धन्य आदेश हो जाता है (वा) विकल्प से। ईषद्विवृत सकार के स्थान पर आन्तरतम्य से मूर्धन्य षकार ही आदेश होता है।

'निस्+स्फुरति' यहां निस् के सकार को रुँत्व-विसर्ग होकर या निर् उपसर्ग के रेफ को ही विसर्ग होकर 'निः+स्फुरति' इस दशा में प्रकृतसूत्र से स्फुर् धातु के सकार को विकल्प से षकार करने पर 'निःष्फुरति, निःस्फुरति' दो रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार—निष्फुरति-निस्फुरति; विष्फुरति-विस्फुरति; निःष्फुलति-निःस्फुलति; विष्फुलति-विस्फुलति आदि रूप समझने चाहियें। निस् या निर् की विसर्ग का **'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः'** वार्त्तिक से पाक्षिक लोप भी हो जाता है।

[लघु०] **णू स्तवने**॥३१॥ **परिणूत-गुणोदयः**। नुवति। नुनाव। नुविता॥

अर्थः—णू (नू) धातु 'स्तुति करना—प्रशंसा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है। यह धातु उदन्त नहीं, ऊदन्त है, तभी तो **'परिणूत-गुणोदयः'** प्रयोग में **'परिणूत'** पद प्रयुक्त किया गया है[2]।

---

१. धातु के रेफान्त या वान्त न होने से **'हलि च'** (६१२) द्वारा उपधादीर्घ नहीं होता। **'रलयोरभेदः'** पाणिनीयव्याकरण में नहीं चलता। तभी तो मुनि ने **'अतो ल्रान्तस्य'** (७.२.२) में दोनों का ग्रहण किया है।

२. परिणूतः=स्तुतः गुणानाम् उदयो यस्येति बहुव्रीहिः। इस वचन का मूल हमें नहीं मिल सका। **श्रीमद्भागवत** (१.८.४) में इसी प्रकार का **'परिणूताऽखिलोदयः'** पाठ उपलब्ध होता है। शायद वह पाठ यहां भ्रष्ट हो गया हो। **श्रीधरीटीका** में वहां **'दीर्घश्छन्दोऽनुरोधेन'** लिखा है।

व्याख्या—णू धातु के णकार को **'णो नः'** (४५८) से नकार होकर 'नू' बन जाता है। ऊदन्त होने से यह धातु **'ऊदृदन्तैः०'** के अनुसार सेट् तथा आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण परस्मैपदी है। कुटादि होने के कारण इस में भी **'गाङ्कुटादिभ्यः०'** (५८७) सूत्र की प्रवृत्ति होती है। **आत्रेय** आदि कुछ प्राचीन वैयाकरण इस धातु को ह्रस्वान्त (नु) पढ़ते हैं (देखें इसी धातु पर **माधवीयधातुवृत्ति**)। परन्तु यह मत ठीक नहीं क्योंकि **'गाङ्कुटादि०'** (१.२.१) सूत्र के **महाभाष्य** में स्पष्ट कहा है—**तस्माद् नूत्वा धूत्वा इत्येव भवितव्यम्।** इस से प्रमाणित होता है कि यह धातु दीर्घान्त ही है ह्रस्वान्त नहीं। लघुकौमुदीकार **श्रीवरदराज** ने इस की पुष्टि में किसी काव्य का वचन उद्धृत किया है। उन का आशय यह है कि धातु यदि ह्रस्वान्त होती तो क्तप्रत्यय में **'श्र्युकः क्किति'** (६५०) द्वारा इण्निषेध होकर **'परिणुत'** प्रयोग बनना चाहिये था न कि 'परिणूत'। परन्तु वहां 'परिणूत' के प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह धातु दीर्घान्त ही है ह्रस्वान्त नहीं। यहां लकारों में धातु को ह्रस्वान्त मानें या दीर्घान्त दोनों अवस्थाओं में एक से रूप बनते हैं कोई अन्तर नहीं आता[1]—यह सोचकर **वरदराज** जी ने क्तान्त का उदाहरण दिया है, किसी लकार का नहीं।

लँट्—में **'सार्वधातुकमपित्'** (५००) द्वारा शविकरण के ङिद्वत् हो जाने से कहीं गुण नहीं होता, **'अचि श्नु०'** (१९९) से सर्वत्र उवँङ् आदेश हो जाता है—**नुवति, नुवतः, नुवन्ति।**

लिँट्—में णल् के णित् होने से 'गाङ्कुटादिभ्यः०' (५८७) से ङिद्वद्भाव नहीं होता अतः ऊकार को औकार वृद्धि तथा उसे आवादेश होकर—नुनाव। इसी प्रकार उ० पु० के णल् के णित्त्वपक्ष में समझना चाहिये। अन्यत्र निर्बाध ङिद्वद्भाव हो जाता है—**नुनाव, नुनुवतुः, नुनुवुः। नुनुविथ, नुनुवथुः, नुनुव। नुनाव-नुनुव, नुनुविव, नुनुविम।**

लुँट्—**नुविता, नुवितारौ, नुवितारः।** लृँट्—**नुविष्यति, नुविष्यतः, नुविष्यन्ति।** लोँट्—**नुवतु-नुवतात्, नुवताम्, नुवन्तु।** लँङ्—**अनुवत्, अनुवताम्, अनुवन्।** वि० लिँङ्—**नुवेत्, नुवेताम्, नुवेयुः।** आ० लिँङ्—**नूयात्, नूयास्ताम्, नूयासुः।** लुँङ्—**अनुवीत्, अनुविष्टाम्, अनुविषुः।** लृँङ्—**अनुविष्यत्, अनुविष्यताम्, अनुविष्यन्।**

---

१. क्योंकि धातु के सेट् होने से वलादि आर्धधातुक प्रत्ययों में सर्वत्र इट् का आगम होकर कुटादित्वात् ङित् होने से ह्रस्व या दीर्घ दोनों उकारों को उवँङ् आदेश करने पर 'नुविता, नुविष्यति' आदि एक से प्रयोग बन जाते हैं। आ० लिँङ् में **'अकृत्सार्व०'** (४८३) से दीर्घ होकर ह्रस्वान्त का भी 'नूयात्' प्रयोग बन सकता है। किञ्च लँट्, लोँट्, लँङ् और वि० लिँङ् में भी शविकरण के ङित् होने से दोनों में उवँङ् होकर एक समान रूप बनेगा।

उपसर्गयोग—धातु के णोपदेश होने के कारण 'परि + नूतः = परिणूतः' इत्यादियों में **'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य'** (४५६) से णत्व हो जाता है।

(यहां पर लघुकौमुद्यन्तर्गत कुटादि धातु समाप्त होते हैं)।

[लघु०] **टुमस्जों शुद्धौ ॥ ३२ ॥** मज्जति । ममज्ज । **मस्जिनशोः०** (६३६) इति नुम् ॥

अर्थः—टुमस्जों (मस्ज्) धातु 'शुद्ध होना—नहाना—डुबकी लगाना' आदि अर्थों में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—इस धातु के 'टु' की **'आदिर्ञिटुडवः'** (४६२) से तथा अन्त्य ओकार की **'उपदेशेऽजनुनासिक इत्'** (२८) से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है। अतः उन दोनों का लोप कर 'मस्ज्' ही अवशिष्ट रहता है। 'टु' के इत् करने का प्रयोजन **'ट्वितोऽथुच्'** (८५६) द्वारा अथुच् प्रत्यय करना है—मज्जथुः (स्नान)। ओदित् करने का प्रयोजन **'ओदितश्च'** (८२०) द्वारा निष्ठा के तकार को नकार करना है—मग्नः, मग्नवान्। उदात्तेत् होने से यह धातु परस्मैपदी तथा जकारान्त अनुदात्तों में पठित होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से इट् हो जाता है परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में श विकरण करने पर 'मस्ज् + अ + ति' इस स्थिति में **'स्तोः श्चुना श्चुः'** (६२) से सकार को शकार तथा **'झलां जश् झशि'** (१९) से शकार को जश्त्व-जकार करने पर 'मज्जति' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—**मज्जति, मज्जतः, मज्जन्ति**।

लिँट्—में द्वित्व, हलादिशेष तथा पूर्ववत् श्चुत्व और जश्त्व होकर—ममज्ज, ममज्जतुः, ममज्जुः। थल् में भारद्वाजनियम से इट् का विकल्प हो जाता है। इट्पक्ष में—ममज्जिथ। इट् के अभाव में 'मस्ज् + थ' यहां **'मस्जिनशोर्झलि'** (६३६) से मस्ज् को नुम् का आगम करना है। नुम् मित् है अतः **'मिदचोऽन्त्यात्परः'** (२४०) से वह अन्त्य अच् से परे होना चाहिये। परन्तु इस प्रकार करने से इष्ट रूप सिद्ध नहीं हो सकता। अतः इस के लिये अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(४३) मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम् वाच्यः ॥

संयोगादिलोपः (३०९)— ममङ्क्थ-ममज्जिथ। मङ्क्ता। मङ्-क्ष्यति। अमाङ्क्षीत्, अमाङ्क्ताम्, अमाङ्क्षुः ॥

अर्थः—मस्ज् धातु के अन्त्य वर्ण अर्थात् जकार से पूर्व नुम् का आगम कहना चाहिये।

व्याख्या—इस वार्त्तिक से नुम् का आगम मस्ज् के अकार से परे न होकर उसके अन्त्य जकार से पूर्व अर्थात् सकार से परे हो जाता है—मस्न्ज् + थ। द्वित्व तथा हलादिशेष होकर—ममस्न्ज् + थ। **'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च'** (३०९) द्वारा

संयोग (स्न्ज्) के आदि सकार का लोप करने पर—ममन्ज्+थ । अब **'चोः कुः'** (३०६) सूत्र से जकार को कुत्व-गकार, **'खरि च'** (७४) से गकार को ककार तथा अपदान्त नकार को अनुस्वार-परसवर्ण करने पर 'ममङ्क्थ' प्रयोग सिद्ध होता है। लिँट् में रूपमाला यथा—**ममज्ज, ममज्जतुः, ममज्जुः । ममज्जिथ-ममङ्क्थ, ममज्जथुः, ममज्ज । ममज्ज, ममज्जिव, ममज्जिम ।**

लुँट्—में पूर्ववत् अन्त्य वर्ण से पूर्व नुम् का आगम होकर 'मस्न्ज्+ता' इस स्थिति में संयोगादि सकार का लोप, कुत्व, चर्त्व तथा नकार को अनुस्वार और परसवर्ण करने पर—**मङ्क्ता, मङ्क्तारौ, मङ्क्तारः ।**

लृँट्—में भी पूर्ववत् नुम् होकर 'मस्न्ज्+स्य+ति' इस स्थिति में संयोगादिलोप, कुत्व, **'आदेशप्रत्यययोः'** (१५०) से स्य के सकार को षकार, चर्त्व तथा अपदान्त नकार को अनुस्वार और परसवर्ण करने पर—**मङ्क्ष्यति, मङ्क्ष्यतः, मङ्क्ष्यन्ति ।**

लोँट्—**मज्जतु-मज्जतात्, मज्जताम्, मज्जन्तु ।** लँङ्—**अमज्जत्, अमज्जताम्, अमज्जन् ।** वि० लिँङ्—**मज्जेत्, मज्जेताम्, मज्जेयुः ।** आ० लिँङ्—**मज्ज्यात्, मज्ज्यास्ताम्, मज्ज्यासुः ।**

लुँङ्—में 'अमस्ज्+स्+ईत्' इस स्थिति में नुम् का आगम तथा हलन्तलक्षणा वृद्धि करने पर— अमास्न्ज्+स्+ईत् । अब संयोगादिलोप, कुत्व, षत्व, चर्त्व तथा नकार को अनुस्वार-परसवर्ण करने पर—अमाङ्क्षीत् । ताम् में भी इसी तरह नुम् और वृद्धि होकर 'अमास्न्ज्+स्+ताम्' इस स्थिति में **'झलो झलि'** (४७८) से सकार का लोप, संयोगादिलोप, कुत्व, चर्त्व तथा नकार को अनुस्वार-परसवर्ण करने पर—अमाङ्क्ताम् । रूपमाला यथा—**अमाङ्क्षीत्, अमाङ्क्ताम्, अमाङ्क्षुः । अमाङ्क्षीः, अमाङ्क्तम्, अमाङ्क्त । अमाङ्क्षम्, अमाङ्क्ष्व, अमाङ्क्ष्म ।**

लृँङ्—**अमङ्क्ष्यत्, अमङ्क्ष्यताम्, अमङ्क्ष्यन् ।**

उपसर्गयोग—उद्√मस्ज्=पानी से बाहर आना, उभरना, ऊपर आना (**वन्यः सरित्तो गज उन्ममज्ज**—रघु० ५.४३) ।

नि√मस्ज्=डूबना, अन्तर्लीन होना । कालिदास की उक्ति यथा—

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥

(कुमार० १.३) की इस सुन्दर उक्ति पर किसी कवि की सुन्दर चुटकी यथा—

एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोरिति यो बभाषे ।
नूनं न दृष्टः कविनाऽपि तेन दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी ॥

[लघु०] **रुजोँ भङ्गे** ॥३३॥ रुजति । रोक्ता । रोक्ष्यति । अरौक्षीत् ॥

अर्थः—रुजोँ (रुज्) धातु 'तोड़ना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1] ।

---

१. तोड़ना अर्थ यथा—**नदी कूलानि रुजति** (नदी किनारों को तोड़ती है,

व्याख्या—रुजोँ में अनुनासिक ओकार इत्सञ्ज्ञक है अतः लोप होकर 'रुज्' ही अवशिष्ट रहता है। उदात्तेत् होने से यह धातु परस्मैपदी तथा जकारान्त अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र (थल् में भी) इट् हो जाता है। धातु को ओदित् करने का प्रयोजन **'ओदितश्च'** (८२०) द्वारा निष्ठा में तकार को नकार करना है—**रुग्णः, रुग्णवान्**।

लँट्—**रुजति, रुजतः, रुजन्ति**। लिँट्—**रुरोज, रुरुजतुः, रुरुजुः। रुरोजिथ, रुरुजथुः, रुरुज। रुरोज, रुरुजिव, रुरुजिम**। लुँट्—**रोक्ता, रोक्तारौ, रोक्तारः**। लृँट्—**रोक्ष्यति, रोक्ष्यतः, रोक्ष्यन्ति**। लोँट्—**रुजतु-रुजतात्, रुजताम्, रुजन्तु**। लँङ्—**अरुजत्, अरुजताम्, अरुजन्**। वि० लिँङ्—**रुजेत्, रुजेताम्, रुजेयुः**। आ० लिँङ्—**रुज्यात्, रुज्यास्ताम्, रुज्यासुः**। लुँङ्—में हलन्तलक्षणा वृद्धि होकर कुत्व षत्व और चर्त्व हो जाते हैं—**अरौक्षीत्, अरौक्ताम्** (झलो झलि), **अरौक्षुः**। लृँङ्—**अरोक्ष्यत्, अरोक्ष्यताम्, अरोक्ष्यन्**।

[लघु०] **भुजोँ कौटिल्ये ॥३४॥** रुजिवत् ॥

अर्थः—भुजोँ (भुज्) धातु 'टेढ़ा करना, मरोड़ना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—यह धातु भी **'रुजोँ भङ्गे'** धातु की तरह ओदित्, परस्मैपदी तथा अनिट् है। ओदित् करने का फल भी पूर्ववत् **'ओदितश्च'** (८२०) द्वारा निष्ठा के तकार को नकार करना है—भुग्नः, भुग्नवान्। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया वा रूपमाला रुज्धातु की तरह होती है—

लँट्—**भुजति, भुजतः, भुजन्ति**। लिँट्—**बुभोज, बुभुजतुः, बभुजुः**। लुँट्—**भोक्ता, भोक्तारौ, भोक्तारः**। लृँट्—**भोक्ष्यति, भोक्ष्यतः, भोक्ष्यन्ति**। लोँट्—**भुजतु-भुजतात्, भुजताम्, भुजन्तु**। लँङ्—**अभुजत्, अभुजताम्, अभुजन्**। वि० लिँङ्—**भुजेत्, भुजेताम्, भुजेयुः**। आ० लिँङ्—**भुज्यात्, भुज्यास्ताम्, भुज्यासुः**। लुँङ्—**अभौक्षीत्, अभौक्ताम्, अभौक्षुः**। लृँङ्—**अभोक्ष्यत्, अभोक्ष्यताम्, अभोक्ष्यन्**।

उपसर्गयोग—विभुजति=मर्दन करता है, लताड़ता है (**मूलानि विभुजति=विमर्दयतीति मूलविभुजो रथः**—देखें ३.२.५ पर वार्त्तिक)।

महाभाष्य २.३.५४); **वायु-रुग्णान्**—वायुना भग्नान् (रघु० ९.६३ पर मल्लिनाथ)। 'तोड़ना' के लाक्षणिक अर्थ—दुःख देना, सताना, रोगयुक्त करना आदि भी यहां ग्रहण किये जाते हैं, यथा—**रावणस्येह रोक्ष्यन्ति कपयो भीमविक्रमाः** (भट्टि० ८.१२०), **तस्य धर्मरते रोगा न रुजन्ति प्रजामपि** (हलायुधवचन, श्रीदुर्गादास द्वारा कविकल्पद्रुम में उद्धृत)। इस धातु की विशेष चर्चा **'रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः'** (२.३.५४) सूत्र पर देखनी चाहिये। रोग, रुज्, रुजा आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं।

१. प्रयोग यथा—**भुजति लतां वायुः** (दुर्गादास)। **पीने भटस्योरसि वीक्ष्य भुग्नान्** (भट्टि० ११.८; भुग्नान्=कुञ्चितान् इति जयमङ्गला)।

[लघु०] **विश प्रवेशने ॥३५॥** विशति ॥

अर्थः—विश (विश्) धातु 'प्रवेश करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु पूर्ववत् परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र (थल् में भी) इट् हो जाता है—

लँट्—**विशति, विशतः, विशन्ति**। लिँट्—**विवेश, विविशतुः, विविशुः**। लुँट्—में लघूपधगुण होकर **'व्रश्चभ्रस्ज०'** (३०७) से षत्व तथा **'ष्टुना ष्टुः'** (६४) से ष्टुत्व हो जाता है—**वेष्टा, वेष्टारौ, वेष्टारः**। लृँट्—में लघूपधगुण तथा षत्व करने पर **'षढोः कः सि'** (५४८) से षकार को ककार और **'आदेशप्रत्यययोः'** (१५०) से स्य के सकार को षकार हो जाता है—**वेक्ष्यति, वेक्ष्यतः, वेक्ष्यन्ति**। लोँट्—**विशतु-विशतात्, विशताम्, विशन्तु**। लँङ्—**अविशत्, अविशताम्, अविशन्**। वि० लिँङ्—**विशेत्, विशेताम्, विशेयुः**। आ० लिँङ्—**विश्यात्, विश्यास्ताम्, विश्यासुः**। लुँङ्—में **'शल इगुप०'** (५६०) से च्लि को क्स (स) आदेश होकर षत्व, कत्व, तथा क्स के सकार को भी षत्व हो जाता है—**अविक्षत्, अविक्षताम्, अविक्षन्**। लृँङ्—**अवेक्ष्यत्, अवेक्ष्यताम्, अवेक्ष्यन्**।

उपसर्गयोग—प्र+विश्=प्रवेश करना (**न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः**—हितोप० प्रस्तावना ३७)।

उप√ विश्=बैठना (**इहाऽऽसन उपविशन्तु भवन्तः; उपवेश्य तु तान् विप्रानासनेष्वजुगुप्सितान्**—मनु० ३.२०९)।

आ√विश्=प्राप्त करना (**शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च। दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्**—हितोप० १.३)।

उप+आ√विश्=बैठना (**रथोपस्थ उपाविशत्**—गीता १.४७)।

नि√विश्=प्रविष्ट होना—चुभना [**निविशते यदि शूकशिखा पदे**—नैषध ४.११; यहां पर **'नेर्विशः'** (७३३) से आत्मनेपद हो जाता है]।

अभि+नि√विश्=आग्रह रखना, प्रवेश करना, कदम रखना आदि [**अभिनिविशते सन्मार्गम्**—सि० कौ०; **भयं तावत्सेव्यादभिनिविशते सेवकजनम्**—मुद्रा० ५; **सैव धन्या गणिकादारिका यामेवं भवन्मनोऽभिनिविशते**—दशकुमार० ५७; **'अभिनिविशश्च'** (१.४.४७) से इस के आधार कारक की कर्मसञ्ज्ञा हो जाती है]।

सम्√विश्=मैथुन करना (सकर्मक; **तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्त्तवे स्त्रियम्**—मनु० ३.४८)। शयन करना (**नाश्नीयात् सन्धिवेलायां न गच्छेन्नापि संविशेत्**—मनु० ४.५५)।

अनु+प्र√विश्=अनुसरण करना (**अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत्**—हितोप० २.५४)।

निर्√विश्=भोगना—अनुभव करना (**एवमिन्द्रियसुखानि निर्विशन्नन्यकार्यविमुखः स पार्थिवः**—रघु० १९.४७)।

[लघु०] **मृश आमर्शने** ॥३६॥ आमर्शनं स्पर्शः । **अनुदात्तस्य चर्दुपधस्याऽन्यतरस्याम् (६५३)**—अम्राक्षीत्-अमार्क्षीत्, अमृक्षत् ॥

अर्थः—मृश (मृश्) धातु 'छूना—स्पर्श करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है । लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र (थल् में भी) इट् हो जाता है ।

लँट्—**मृशति, मृशतः, मृशन्ति** । लिँट्—**ममर्श, ममृशतुः ममृशुः । ममर्शिथ, ममृशथुः, ममृश । ममर्श, ममृशिव, ममृशिम** । लुँट्—में धातु के अनिट् होने से इट् का निषेध होकर 'मृश्+ता' इस स्थिति में झलादि प्रत्यय परे होने के कारण '**अनुदात्तस्य चर्दुप०**' (६५३) द्वारा विकल्प से अम् का आगम, अनुबन्धलोप तथा '**इको यणचि**' (१५) से ऋकार को रेफ आदेश करने से—म्रश्+ता । अब '**व्रश्च-भ्रस्ज०**' (३०७) से षत्व और अन्त में ष्टुत्व करने पर 'म्रष्टा' रूप बनता है । अम् के अभाव में लघूपधगुण, षत्व और ष्टुत्व करने पर—मर्ष्टा । रूपमाला यथा—(अम्पक्षे) **म्रष्टा, म्रष्टारौ, म्रष्टारः** ।(अमोऽभावे) **मर्ष्टा, मर्ष्टारौ, मर्ष्टारः** । लृँट्—में भी पूर्ववत् विकल्प से अम् आगम, अम्पक्ष में यण्, षत्व, '**षढोः कः सि**' (५४८) से षकार को कत्व तथा '**आदेशप्रत्यययोः**' (१५०) से स्य के सकार को षकार करने पर—म्रक्ष्यति । अम् के अभाव में लघूपधगुण होकर—मर्क्ष्यति । रूपमाला यथा—(अम्पक्षे) **म्रक्ष्यति, म्रक्ष्यतः, म्रक्ष्यन्ति** । (अमोऽभावे) **मर्क्ष्यति, मर्क्ष्यतः, मर्क्ष्यन्ति** । लोँट्—**मृशतु-मृशतात्, मृशताम्, मृशन्तु** । लँङ्—**अमृशत्, अमृशताम्, अमृशन्** । वि० लिँङ्—**मृशेत्, मृशेताम्, मृशेयुः** । आ० लिँङ्—**मृश्यात्, मृश्यास्ताम्, मृश्यासुः** । लुँङ्—में '**स्पृश-मृश-कृष०**' (वा० ४२) वार्त्तिक द्वारा क्स का बाध कर च्लि के स्थान पर वैकल्पिक सिँच् आदेश हो जाता है । सिँच्पक्ष में अम् का विकल्प तथा यण् आदेश होकर—अम्रश्+स्+ईत् । अब हलन्तलक्षणा वृद्धि, षत्व, कत्व तथा उस से परे सिँच् के सकार को भी षत्व करने से—अम्राक्षीत् । अम् के अभाव में वृद्धि होकर—अमार्क्षीत् । सिँच् के अभाव में '**शल इगुपधादनिटः क्सः**' (५९०) से च्लि को क्स आदेश हो जाता है । क्स के कित् होने से अम् का आगम नहीं होता । इसी प्रकार लघूपधगुण का भी निषेध हो जाता है[1]—अमृक्षत् । रूपमाला यथा—(सिँच्पक्षे) अमागमे—**अम्राक्षीत्, अम्राष्टाम्, अम्राक्षुः । अम्राक्षीः, अम्राष्टम्, अम्राष्ट । अम्राक्षम्, अम्राक्ष्व, अम्राक्ष्म** । अमोऽभावे—**अमार्क्षीत्, अमार्ष्टाम्, अमार्क्षुः । अमार्क्षीः, अमार्ष्टम्, अमार्ष्ट । अमार्क्षम्, अमार्क्ष्व, अमार्क्ष्म** । (क्सपक्षे) **अमृक्षत्, अमृक्षताम्, अमृक्षन्** आदि । लृँङ्—(अम्पक्षे) **अम्रक्ष्यत्, अम्रक्ष्यताम्, अम्रक्ष्यन्** । (अमोऽभावे) **अमर्क्ष्यत्, अमर्क्ष्यताम्, अमर्क्ष्यन्** ।

---

१. ध्यान रहे कि हलन्तलक्षणा वृद्धि सिँच् परे होने पर ही हुआ करती है अतः यहां उसका प्रसङ्ग नहीं ।

उपसर्गयोग—वि √ मृश्=भली भांति विचार करना (वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः—किरात० १.३०; इति विमृशन्तः सन्तः सन्तप्यन्ते न विप्लुता लोके—नीति० ७६)।

परा √ मृश्=छूना-स्पर्श करना (परामृशन् हर्षजडेन पाणिना—रघु० ३.६८); सोचना-विचारना-चिन्ता करना (किंभवितेति सशङ्कं पङ्कजनयना परामृशति—भामिनी० २.५३); ध्यान करना—स्तुति करना (ग्रन्थारम्भे इष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति—काव्यप्रकाश १); व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः—तर्कसंग्रह।

आ √ मृश्=छूना (शरासनज्यां मुहुराममर्श—कुमार० ३.६४); आक्रमण करना (आमृष्टं न परैः पदम्—कुमार० २.३१)।

अभि √ मृश्=अनैतिक व्यभिचार करना (परदाराभिमर्शेषु—मनु० ८.३५२)।

[लघु०] षद्लृँ विशरण-गत्यवसादनेषु ॥३७॥ सीदतीत्यादि ॥

अर्थः—षद्लृँ (सद्) धातु 'विशीर्ण होना, जाना, नाश होना' अर्थों में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—इस धातु के आदि षकार को 'धात्वादेः षः सः' (२५५) से सकार हो जाता है। इस का अन्त्य लृकार उदात्त तथा अनुनासिक होने से इत्सञ्ज्ञक होकर लुप्त हो जाता है। उदात्तेत् होने से यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प। लृदित् होने से लुँङ् में च्लि को अङ् आदेश हो जाता है।

---

१. विशरणम् अवयवानां विश्लेषः, अवसादनं नाश इति ज्ञानेन्द्रस्वामी। अवसादनं विषाद आकुलीभाव इति दुर्गादासो रामतारण-शिरोमणिश्च। अवसादोऽनुत्साहः (शिथिल होना)—इति क्षीरस्वामी। इस धातु के कुछ प्रयोग यथा—

दुःखी होना—सीदति राधा वासगृहे (गीतगोविन्द ६.५)।
शिथिल होना—सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति (गीता १.२६)।
नाश होना—विपन्नायां नीतौ सकलमवशं सीदति जगत् (हितोप० २.७७)।
निमग्न होना, फंसना—तेन त्वं विदुषां मध्ये पङ्के गौरिव सीदसि (हितोप० २५)।
जाना-गमन करना—सीदन्ति=गच्छन्ति अवश्यम् इति सादिनः (अश्वारोहाः)।
बैठना—अमदाः सेदुरेकस्मिन्नितम्बे निखिला गिरेः (भट्टि० ७.५८)।

धातुपाठ के भ्वादिगण में भी इस धातु का पाठ आया है। इस का यहां पुनः पाठ स्वरभेद के लिये तथा नुम् के विकल्प के लिये किया गया है—सीदती-सीदन्ती (पीछे तुद् धातु पर एतद्विषयक टिप्पण देखें)।

लँट्—सार्वधातुक लकारों में श प्रत्यय के परे होने पर 'पाघ्राध्मा०' (४८७) सूत्र से सद् को सीद् आदेश हो जाता है—सीदति, सीदतः, सीदन्ति ।

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन में उपधावृद्धि होकर—ससाद । अतुस् आदि कित्प्रत्ययों में 'अत एकहल्मध्ये०' (४६०) से एत्त्वाभ्यासलोप हो जाता है—सेदतुः, सेदुः । थल् के इट्पक्ष में 'थलि च सेटि' (४६१) से एत्त्वाभ्यासलोप हो जाता है—सेदिथ । इट् के अभाव में चर्त्व होकर—ससत्थ । रूपमाला यथा—ससाद, सेदतुः, सेदुः । सेदिथ-ससत्थ, सेदथुः, सेद । ससाद-ससद, सेदिव, सेदिम ।

लुँट्—में चर्त्व हो जाता है—सत्ता, सत्तारौ, सत्तारः । लृँट्—सत्स्यति, सत्स्यतः, सत्स्यन्ति । लोँट्—सीदतु-सीदतात्, सीदताम्, सीदन्तु । लँङ्—असीदत्, असीदताम्, असीदन् । वि० लिँङ्—सीदेत्, सीदेताम्, सीदेयुः । आ० लिँङ्—सद्यात्, सद्यास्ताम्, सद्यासुः । लुँङ्—में 'पुषादिद्युता०' (५०७) सूत्र से च्लि को अङ् आदेश हो जाता है—असदत्, असदताम्, असदन् । लृँङ्—असत्स्यत्, असत्स्यताम्, असत्स्यन् ।

उपसर्गयोग—उद्√सद्=नष्ट होना (उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्—गीता ३.२४) ।

प्र√सद्=प्रसन्न होना, स्वच्छ होना (प्रसीद देवेश ! जगन्निवास !—गीता ११.२५; दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः—रघु० ३.१४) ।

नि√सद्=बैठना [उष्णालुः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी—विक्रमो० २.२२; 'सदिरप्रतेः' (८.३.६६) इति षत्वम्] ।

वि√सद्=दुःखी होना [विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः—गीता २.१; 'सदिरप्रतेः' (८.३.६६) इति षत्वम्] ।

अव√सद्=दुःखी होना (न हीङ्गितज्ञोऽवसरेऽवसीदति—किरात० ४.२०); नष्ट होना (सर्वमस्मत्कुटुम्बमवसीदेत्—दशकुमार० ६०) ।

उप√सद्=गुरु मान कर सेवा करना (उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्—महाभाष्य ३.२.१०८); निकट जाना (उपसेदुर्दशग्रीवं गृहीत्वा राक्षसाः कपिम्—भट्टि० ६.६२) ।

आ√सद्=निकट जाना, पाना (आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यम्—पञ्च० १.३६; हिमालयस्यालयमाससाद—कुमार० ७.६६) ।

प्रति+आ√सद्=अतिनिकट आना (प्रत्यासीदति परीक्षा त्वञ्च पाठेऽनवहितः) ।

[लघु०] शद्लृँ शातने ॥३८॥

अर्थः—शद्लृँ (शद्) धातु 'नष्ट होना, बरबाद होना, मुरझाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1] ।

---

१. णिजन्त शद् धातु से भाव में ल्युट् करने पर 'शातन' शब्द सिद्ध होता

व्याख्या—उदात्तेत् होने से यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है परन्तु थल् मे भारद्वाजनियम से विकल्प। लृदित् करने का फल लुँङ् में च्लि को अङ् करना है। विकरण (श) में अग्रिमसूत्र द्वारा इस धातु से आत्मनेपद का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६५६) शदेः शितः ।१।३।६०।।

शिद्भाविनोऽस्मात्तङानौ स्तः। शीयते । शीयताम् । अशीयत । शीयेत । शशाद । शत्ता । शत्स्यति । अशदत् । अशत्स्यत् ।।

अर्थः—शिद्भावी अर्थात् जब शित्प्रत्यय आने वाला हो तब शद् धातु से तङ् और आन प्रत्यय हों।

व्याख्या—शदेः ।५।१। शितः ।६।१। आत्मनेपदम् ।१।१। (**'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** से)। श् इत् यस्य स शित्, तस्य शितः, बहुव्रीहि०। अर्थः—(शितः) शित्प्रत्ययसम्बन्धी (शदः) शद् धातु से परे (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद हो। शित्प्रत्यय के साथ शद् धातु का सम्बन्ध दो प्रकार से हो सकता है—या तो शित्प्रत्यय परे हो अथवा शित्प्रत्यय का विषय हो। यहां दूसरा सम्बन्ध ही सम्भव है पहला नहीं, क्योंकि शित्प्रत्यय (श) तब आता है जब सार्वधातुक (तिङ्) परे हो यदि सार्वधातुक परे आ गया तो पदव्यवस्था हो चुकी पुनः उस के लिये आत्मनेपद लाने का यत्न कैसा ? अतः जब शित्प्रत्यय परे न आया हो किन्तु उस का विषय हो तब इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। यहां तुदादिगण में **'तुदादिभ्यः शः'** (६५१) से होने वाला श-प्रत्यय शित् है अतः जब वह आने वाला होगा तब शद् धातु से आत्मनेपद किया जायेगा। श विकरण लँट्, लोँट्, लँङ् और वि० लिँङ् इन चार लकारों में किया जाता है अतः इन लकारों में शद् धातु से परे लकार के स्थान पर आत्मनेपद (**तङानावात्मनेपदम्** ३७७) प्रत्यय किये जायेंगे।

है (**'शदेरगतौ तः'** ७.६.४२ इति तकारादेशः)। यहां णिच् का प्रयोग स्वार्थ में समझना चाहिए अतः 'शातन' का अर्थ 'नाश करना' न होकर 'नष्ट होना, बरबाद होना, विशीर्ण होना' आदि समझना चाहिये। इस अर्थ में शातन शब्द का प्रयोग देखा भी जाता है, यथा—**वसन्ते सर्वशस्यानां जायते पत्रशातनम्** (सारमञ्जरी)। अत एव यह धातु सकर्मक न होकर अकर्मक ही है। धातुपाठ के भ्वादिगण में पठित इस धातु का पुनः यहां पाठ स्वरभेद के लिये ही समझना चाहिये। ध्यान रहे कि नुम् के विकल्प के लिये यहां इसका पाठ नहीं किया गया, क्योंकि **'शदेः शितः'** (६५६) द्वारा इससे शतृ न होकर शानच् ही हुआ करता है। **'शदेरगतौ तः'** (७.३.४२) में **'अगतौ'** ग्रहण के कारण इस धातु का गत्यर्थ में भी प्रयोग अनुमत है, यथा—**गाः शादयति गोपालकः'** (काशिका ७.३.४२)। इसी धातु से ही शत्रु, शद, शाद, शाद्वल आदि शब्द बनते हैं।

लँट्—में शित्प्रत्यय (श) किया जाना है अतः प्रकृतसूत्र द्वारा शिद्भावी शद् से परे आत्मनेपदप्रत्यय 'त' आकर उस की सार्वधातुकसञ्ज्ञा और तन्निमित्तक श प्रत्यय किया तो—शद्+अ+त। अब 'पा-घ्रा-ध्मा०' (४८७) सूत्र से शद् को शीय् आदेश तथा टि को एत्व (५०८) करने पर 'शीयते' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार लोँट्, लँङ् और वि० लिँङ् में प्रक्रिया समझनी चाहिये। लँट् में रूपमाला यथा—शीयते[1], शीयेते, शीयन्ते। शीयसे, शीयेथे, शीयध्वे। शीये, शीयावहे, शीयामहे।

लिँट्—में षद्लृँ धातु की तरह प्रक्रिया होती है—शशाद, शेदतुः, शेदुः। शेदिथ-शशत्थ, शेदथुः, शेद। शशाद-शशद, शेदिव, शेदिम। लुँट्—में 'खरि च' (७४) से चर्त्व हो जाता है—शत्ता, शत्तारौ, शत्तारः। लृँट्—शत्स्यति, शत्स्यतः, शत्स्यन्ति। लोँट्—शीयताम्, शीयेताम्, शीयन्ताम्। लँङ्—अशीयत, अशीयेताम्, अशीयन्त। वि० लिँङ्—शीयेत, शीयेयाताम्, शीयेरन्। आ० लिँङ्—शद्यात्, शद्यास्ताम्, शद्यासुः। लुँङ्—में च्लि को अङ् हो जाता है (५०७)—अशदत्, अशदताम्, अशदन्। लृँङ्—अशत्स्यत्, अशत्स्यताम्, अशत्स्यन्।

[लघु०] कॄ विक्षेपे ॥३९॥

अर्थः—कॄ धातु 'बखेरना, फेंकना, आच्छादित करना, व्याप्त करना' अर्थों में प्रयुक्त होती है[2]।

व्याख्या—आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी तथा ॠदन्त होने से सेट् है।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में 'श' विकरण लाने पर 'कॄ+अ+ति' इस स्थिति में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा शप्रत्यय के ङित् हो जाने से गुण का निषेध हो जाता है। अब अग्रिमसूत्र से ॠकार के स्थान पर इर् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६०) ॠत इद् धातोः ।७।१।१००॥

ॠदन्तस्य धातोरङ्गस्य इत् स्यात्। किरति। चकार, चकरतुः, चकरुः। करीता-करिता। कीर्यात्॥

अर्थः—अङ्गसञ्ज्ञक ॠदन्त धातु को ह्रस्व इकार आदेश हो।

व्याख्या—ॠतः ।६।१। इत् ।१।१। धातोः ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। (यह

---

१. वैरायते महद्भिश्च शीयते वृद्धिमानपि—भट्टि० १८.९।

२. बखेरना यथा—किरति मकरन्दं दिशि दिशि (साहित्यदर्पण ८); फेंकना—किरति शरतुषारं कोऽप्ययं वीरपोतः (उत्तर० ५.२); आच्छादित करना या व्याप्त करना—सौमित्रिमकिरद् बाणैः परितो रावणिस्ततः (भट्टि० १७.४२); विशश्च पुष्पैश्चकरुर्विचित्रैः (भट्टि० ३.५)।

अधिकृत है)। 'ॠतः' यह 'धातोः' का विशेषण है अतः तदन्तविधि होकर 'ॠदन्तस्य धातोः' बन जायेगा। अर्थः—(ॠतः=ॠदन्तस्य) दीर्घ ॠकार जिस के अन्त में हो ऐसी (अङ्गस्य) अङ्गसञ्ज्ञक (धातोः) धातु के स्थान पर (इत्) ह्रस्व इकार आदेश होता है। अलोऽन्त्य-परिभाषा से यह इकारादेश ॠदन्त धातु के अन्त्य अल् ॠकार के स्थान पर ही किया जाता है। ध्यान रहे कि इत्त्व और उत्त्व (६११) को परत्व के कारण अथवा '**इत्त्वोत्त्वाभ्यां गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेन**' इस वार्त्तिक के कारण गुण और वृद्धि बाध लेते हैं अतः गुण और वृद्धि के अविषय में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

'कॄ+अ+ति' यहाँ गुण का विषय नहीं है अतः प्रकृतसूत्र से कॄ के ॠकार को इकार और साथ ही '**उरण्रपरः**' (२९) से रपर करने पर 'किरति' प्रयोग सिद्ध होता है। लँट् में रूपमाला यथा—**किरति, किरतः, किरन्ति। किरसि, किरथः, किरथ। किरामि, किरावः, किरामः।**

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन में तिप् को णल्, द्वित्व, अभ्यासह्रस्व, उरत्, रपर, हलादिशेष और '**कुहोश्चुः**' (४५४) से ककार को चकार होकर—चकॄ+अ। अब '**ऋच्छत्यॄताम्**' (६१४) से गुण तथा '**अत उपधायाः**' (४५५) से उपधावृद्धि करने पर 'चकार' रूप सिद्ध होता है। अतुस् आदियों में भी इसी प्रकार गुण हो जाता है। रूपमाला यथा—**चकार, चकरतुः, चकरुः। चकरिथ, चकरथुः, चकर। चकार-चकर, चकरिव, चकरिम।**

लुँट्—में गुण होकर '**वॄतो वा**' (६१५) से इट् को वैकल्पिक दीर्घ हो जाता है। (दीर्घपक्षे) **करीता, करीतारौ, करीतारः।** (दीर्घाभावे) **करिता, करितारौ, करितारः।** लृँट्—(दीर्घपक्षे) **करीष्यति, करीष्यतः, करीष्यन्ति।** (दीर्घाभावे) **करिष्यति, करिष्यतः, करिष्यन्ति।** लोँट्—**किरतु-किरतात्, किरताम्, किरन्तु।** लँङ्—**अकिरत्, अकिरताम्, अकिरन्।** वि० लिँङ्—**किरेत्, किरेताम्, किरेयुः।**

आ० लिँङ्—यासुट् के कित्त्व के कारण गुण का विषय नहीं अतः प्रकृतसूत्र से इत्त्व तथा रपर होकर '**हलि च**' (६१२) से दीर्घ हो जाता है—**कीर्यात्, कीर्यास्ताम्, कीर्यासुः।**

लुँङ्—में इगन्तलक्षणा वृद्धि होकर '**सिँचि च परस्मैपदेषु**' (६१६) द्वारा इट् को दीर्घ करने का निषेध हो जाता है। **अकारीत्, अकारिष्टाम्, अकारिषुः।** लृँङ्—(दीर्घपक्षे) **अकरीष्यत्, अकरीष्यताम्, अकरीष्यन्।** (दीर्घाऽभावे) **अकरिष्यत्, अकरिष्यताम्, अकरिष्यन्।**

उपसर्गयोग—वि√कॄ=विकीर्ण करना, फैलाना (**तण्डुलकणान् विकीर्य—हितोप० १**); उखाड़ कर फेंकना (**द्रुमान् विचकरुस्तथा—भट्टि० १४.२५**)।

उद्√**कॄ**=ऊपर फेंकना (**रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैः—रघु० १.४३**); पत्थर आदि पर खोदना (**उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशानिद्रालसा बर्हिणः—विक्रमो० ३.२**)।

सम्√कॄ=संकीर्ण करना, मिलाना (**वर्णाः संकीर्णाः**—मनु० १.११६; **क्षत्रिया वैश्या संकीर्यन्ते परस्परम्**—महाभारत)।

अव√कॄ=आच्छादित करना (**कपिं बाणैरवाकिरत्**—भट्टि० ६.३४; **अवाकिरन् तं लाजैः**—रघु० ४.२८)। अवस्करः=कूड़ा-करकट (**'वर्चस्केऽवस्करः'** ६.१.१४३)। अपस्करः=पहियों को छोड़ रथ का कोई अङ्ग (**'अपस्करो रथाङ्गम्'** ६.१.१४४)। **विष्किरः-विकिरः**=मुर्गा-तित्तिर-बटेर जाति का पक्षी Gallinaceous bird (**'विष्किरः शकुनौ वा'** ६.१.१४५)।

अप+कॄ—नखों से खरोंच कर बखेरना (**अपस्किरते वृषभो हृष्टः, अपस्किरते कुक्कुटो भक्ष्यार्थी, अपस्किरते श्वाऽऽश्रयार्थी**[1], **गजोऽपकिरति, छायाऽपस्किरमाण-विष्किर-मुख-व्याकृष्ट-कीट-त्वचः**—उत्तर० २.९)।

उप√कॄ—काटना, हिंसा करना। यहां अग्रिमसूत्रों से विशेष कार्य का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६१) किरतौ लवने ।।६।१।१३५।।

उपात् किरतेः सुट् छेदने। उपस्किरति ।।

अर्थः—'उप' से परे कॄ धातु को सुट् का आगम हो जाता है काटने का विषय हो तो।

व्याख्या—किरतौ ।७।१। लवने ।७।१। उपात् ।५।१। (**'उपात्प्रतियत्न०'** से) सुट् ।१।१। कात् ।५।१। पूर्वः ।१।१। (**'सुट् कात् पूर्वः'** से)। **अर्थः**—(उपात्) 'उप' से (किरतौ) कॄ धातु परे हो तो (कात्) उस के ककार से (पूर्वः) पूर्व (सुट्) सुट् हो जाता है (लवने) काटने अर्थ का विषय हो तो। सुट् में टकार इत्सञ्ज्ञक (१) तथा उकार उच्चारणार्थ है अतः 'स्' ही अवशिष्ट रहता है।

'उप+किरति' यहाँ कॄ धातु काटना अर्थ के विषय में प्रयुक्त है अतः प्रकृत सूत्र से कॄ धातु के ककार से पूर्व सुट् आ कर 'उपस्किरति' प्रयोग सिद्ध होता है। उपस्किरति=काटता है[2]।

इस सूत्र को 'उपस्किरति' आदियों में सीधा 'उप' से परे ककार मिल जाता है अतः वह 'उप+अकिरत्, उप+चकार' आदियों में अट् या अभ्यास के व्यवधान में प्रवृत्त नहीं हो सकता। अतः इस के लिये अग्रिमवार्तिक द्वारा यत्न करते हैं—

---

१. **'अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने'** (६.१.१३७) इति कात्पूर्वः सुट्। **'किरतेर्हर्ष-जीविका-कुलायकरणेष्विति वाच्यम्'** इति वार्तिकेनात्मनेपदम्। सुडप्यत्रैवेष्टः, तेन 'गजोऽपकिरति' इत्यादौ न।

२. वस्तुतः ससुट्कस्य किरतेर्लवनं नार्थः। लवने विषये सुड् विधीयते। अत एव **'उपस्कारं काश्मीरका लुनन्ति, विक्षिप्य लुनन्तीत्यर्थः'** इति वृत्तिग्रन्थः संगच्छते।

[लघु०] वा०—(४४) अडभ्यासव्यवायेऽपि सुट् कात्पूर्व इति वक्तव्यम् ॥

उपास्किरत् । उपचस्कार ॥

अर्थः—अट् अथवा अभ्यास के व्यवधान में भी ककार से पूर्व यथाविहित सुट् हो जाता है—ऐसा कहना चाहिये ।

व्याख्या—यह वार्त्तिक **'सुट् कात्पूर्वः'** (६.१.१३१) सूत्र पर पढ़ा गया है । अट् से यहां **'लुंङ्लँङ्लृँङ्क्ष्वडुदात्तः'** (४२३) वाला अट् ही लिया जाता है न कि अट्-प्रत्याहार । अट् के व्यवधान का उदाहरण यथा—'उप+अकिरत्' यहां प्रकृतवार्त्तिक की सहायता से **'किरतौ लवने'** (६६१) द्वारा अट् के व्यवधान में भी ककार से पूर्व सुट् आ कर—उप+अस्किरत्—'उपास्किरत्' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार अभ्यास के व्यवधान में भी उप+चकार='उपचस्कार' रूप बनता है ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६२) हिंसायां प्रतेश्च ।६।१।१३६॥

उपात् प्रतेश्च किरतेः सुट् स्याद् हिंसायाम् । उपस्किरति । प्रतिस्किरति ॥

अर्थः—'उप' अथवा 'प्रति' उपसर्ग से परे कॄ धातु को सुट् का आगम हो हिंसा अर्थ में ।

व्याख्या—हिंसायाम् ।७।१। प्रतेः ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । उपात् ।५।१। (**'उपात्प्रतियत्न०'** से)। किरतौ ।७।१। (**'किरतौ लवने'** से)। **'सुट् कात् पूर्वः'** का अधिकार आ रहा है । अर्थः—(प्रतेः उपात् च) प्रति या उप उपसर्ग से परे (हिंसायाम्) हिंसा अर्थ में (किरतौ) कॄ धातु हो तो (कात्) उस के ककार से (पूर्वः) पूर्व (सुट्) सुट् का आगम हो जाता है । उदाहरण यथा—उप+किरति—उपस्किरति (हिंसा करता है) । प्रति+किरति—प्रतिस्किरति (हिंसा करता है) । ध्यान रहे कि यहां सकार को षकार करने वाला कोई सूत्र नहीं है ।

यह सूत्र भी पूर्ववार्त्तिक की सहायता से अट् या अभ्यास के व्यवधान में भी प्रवृत्त होता है—उप+अकिरत्—उपास्किरत्, प्रति+अकिरत्—प्रत्यस्किरत्, उप+चकार—उपचस्कार, प्रति+चकार— प्रतिचस्कार[1] ।

[लघु०] **गॄ निगरणे ॥४०॥**

अर्थः—गॄ धातु 'निगलना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2] ।

---

१. **उरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः—माघ १.४७ । प्रतिचस्करे=हृतः, कर्मणि लिँट् । विधानमानुश्राविकं गृहेषु नः प्रतिस्किरन्ती किमियं प्रतीक्ष्यते—अनर्घ० २.५६ ।** प्रतिस्किरन्ती=नाशयन्ती ।

२. उच्चारण करना या बोलना अर्थ में भी इस का प्रयोग देखा जाता है—

व्याख्या—यह धातु भी कॄ धातु की तरह परस्मैपदी तथा सेट् है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया कॄ धातु की तरह होती है परन्तु अग्रिमसूत्र द्वारा लत्व ही इस में विशेष है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६३) अचि विभाषा ।८।२।२१॥

गिरते रेफस्य लोऽजादौ प्रत्यये। गिरति-गिलति। जगार- जगाल। जगरिथ-जगलिथ। गरीता-गरिता, गलीता-गलिता[1]॥

अर्थः—अजादि प्रत्यय परे होने पर गॄ धातु के रेफ को विकल्प से लकार हो।

व्याख्या—अचि ।७।१। विभाषा ।१।१। ग्रः ।६।१। (**'ग्रो यङि'** से) रः ।६।१। लः ।१।१। (**'कृपो रो लः'** से; लकारादकार उच्चारणार्थः)। **'धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति'** इस परिभाषा से यहां 'प्रत्यये' पद प्राप्त हो जाता है। 'अचि' को 'प्रत्यये' का विशेषण बना कर तदादिविधि करने से 'अजादौ प्रत्यये' बन जाता है। **अर्थः**—(अचि=अजादौ प्रत्यये) अजादि प्रत्यय परे होने पर (ग्रः) गॄ धातु के (रः) रेफ के स्थान पर (विभाषा) विकल्प से (लः) ल् आदेश हो जाता है[2]।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में शविकरण करने पर **'ऋत इद् धातोः'** (६६०) से इत्व तथा **'उरण्रपरः'** (२९) से रपर करने पर 'गिरति' बना। अब

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं
कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थ-नीडान्तर — सन्निरुद्धा
जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः॥ (शङ्करदिग्विजय ८.६)

हिन्दी की 'गिरना' क्रिया का मूल भी सम्भवतः यही धातु रही होगी।

१. यहां मूल में लत्वघटित रूप पहले और रेफघटितरूप बाद में लिखे जाने चाहियें जैसा कि कौमुदीकार सर्वत्र करते आये हैं।

२. **प्रश्न**—पीछे हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में आप क्विबन्त गिर् (वाणी) शब्द को इसी गॄ धातु से निष्पन्न बता चुके हैं। **'क्विबन्ता विडन्ता विजन्ता धातुत्वं न जहति'** परिभाषा के अनुसार उस का धातुत्व अक्षुण्ण है। तो भला 'गीः, गिरौ, गिरः' में 'औ' आदि अजादि प्रत्ययों के परे रहते प्रकृत सूत्र से वैकल्पिक लत्व क्यों नहीं होता?

उत्तर—**'धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति'** (जब धातु को कोई कार्य विधान करें तो वह कार्य उस धातु से विहित प्रत्ययों के परे होने पर हुआ करता है) इस परिभाषा से यह सूत्र 'गिरौ' आदि में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि यहां 'औ' आदि प्रत्यय धातु से परे नहीं आये किन्तु प्रातिपदिक से परे आये हैं।

प्रकृतसूत्र से अजादिप्रत्यय श (अ) के परे रहते रेफ को लत्व होकर—'गिलति, गिरति' दो रूप बन जाते हैं। इसी प्रकार आगे भी सर्वत्र प्रक्रिया समझनी चाहिये। 'अजादौ प्रत्यये' इसलिये कहा है कि 'गीर्यात्' आदि में हलादि प्रत्ययों के परे रहते लत्व न हो जाये। लँट् में रूपमाला यथा—(लत्वपक्षे) **गिलति, गिलतः, गिलन्ति।** (लत्वाभावे) **गिरति, गिरतः, गिरन्ति।**

लिँट्—(लत्वपक्षे) **जगाल, जगलतुः, जगलुः।** (लत्वाभावे) **जगार, जगरतुः, जगरुः।** लुँट्—में 'वृतो वा' (६१५) से इट् को वैकल्पिक दीर्घ होकर पुनः लत्व का भी विकल्प करने से चार चार रूप बन जाते हैं—(दीर्घे लत्वपक्षे) **गलीता, गलीतारौ, गलीतारः।** (दीर्घे लत्वाऽभावे) **गरीता, गरीतारौ, गरीतारः।** (दीर्घाऽभावे लत्वपक्षे) **गलिता, गलितारौ, गलितारः।** (दीर्घाभावे लत्वाभावपक्षे) **गरिता, गरितारौ, गरितारः।** लृँट्—(दीर्घे लत्वपक्षे) **गलीष्यति, गलीष्यतः, गलीष्यन्ति।** (दीर्घे लत्वाऽभावे) **गरीष्यति, गरीष्यतः, गरीष्यन्ति।** (दीर्घाऽभावे लत्वे) **गलिष्यति, गलिष्यतः, गलिष्यन्ति।** (दीर्घाऽभावे लत्वाभावे) **गरिष्यति, गरिष्यतः, गरिष्यन्ति।** लोँट्—(लत्वे) **गिलतु-गिलतात्, गिलताम्, गिलन्तु।** (लत्वाभावे) **गिरतु-गिरतात्, गिरताम्, गिरन्तु।** लँङ्—(लत्वे) **अगिलत्, अगिलताम्, अगिलन्।** (लत्वाभावे) **अगिरत्, अगिरताम्, अगिरन्।** वि० लिँङ्—(लत्वे) **गिलेत्, गिलेताम्, गिलेयुः।** (लत्वाभावे) **गिरेत्, गिरेताम्, गिरेयुः।** आ० लिँङ्—**गीर्यात्, गीर्यास्ताम्, गीर्यासुः।** लुँङ्—(लत्वे) **अगालीत्, अगालिष्टाम्, अगालिषुः।** (लत्वाभावे) **अगारीत्, अगारिष्टाम्, अगारिषुः।** लृँङ्—(दीर्घे लत्वे) **अगलीष्यत्, अगलीष्यताम्, अगलीष्यन्।** (दीर्घे लत्वाभावे) **अगरीष्यत्, अगरीष्यताम्, अगरीष्यन्।** (दीर्घाभावे लत्वे) **अगलिष्यत्, अगलिष्यताम्, अगलिष्यन्।** (दीर्घाभावे लत्वाभावे) **अगरिष्यत्, अगरिष्यताम्, अगरिष्यन्।**

उपसर्गयोग—उद्√गॄ=बाहर निकालना, वमन करना (**उद्गीर्णदर्भकवला मृगी**—शाकुन्तल ४.१४; **सहाम्भसैवापदमुद्गिरन्ति**—पञ्च० ५.६७), अनिच्छापूर्वक मुंह से निकालना (**महीपतेः शासनमुज्जगार**—रघु० १४.५३)।

नि√गॄ=निगलना (**सर्वानेव गुणान् इयं निगिरति श्रीखण्ड ! ते सुन्दरान्। उज्झन्ती खलु कोटरेषु गरलज्वालां द्विजिह्वावली**—भामिनी० १.३८)।

अव√गॄ=निगलना, हड़प्प करना (**'अवाद् ग्रः'** १.३.५१ से आत्मने०। **तथाऽवगिरमाणैश्च पिशाचैर्मांसशोणितम्**—भट्टि० ८.३०)।

सम्√गॄ=प्रतिज्ञा करना (**नित्यं शब्दं सङ्गिरन्ते वैयाकरणाः**—माधवीयधातुवृत्ति पृष्ठ ३४०; **'समः प्रतिज्ञाने'** १.३.५२ से आत्मने०।)

[लघु०] **प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्**[1] ॥ ४१ ॥ **ग्रहिज्या०** (६३४) इति सम्प्रसा-

---

१. ज्ञपयितुम्=ज्ञातुम् इच्छा ज्ञीप्सा। ज्ञपिरत्र ज्ञानार्थे वर्तते।

रणम्—पृच्छति । पप्रच्छ, पप्रच्छतुः, पप्रच्छुः । प्रष्टा । प्रक्ष्यति । अप्राक्षीत् ।।

अर्थः—प्रच्छ (प्रछ) धातु 'पूछना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—इस धातु का वास्तविक रूप 'प्रछ' है । अन्तरङ्ग होने से सब से पहले 'छे च' (१०१) द्वारा तुक् का आगम होकर श्चुत्व करने से 'प्रच्छ्' रूप बन जाता है । आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण अथवा उदात्तेत् होने से यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है । लिट् में क्रादि-नियम से नित्य इट् हो जाता है परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प ।

लट्— प्र० पु० के एकवचन में 'प्रच्छ्+अ+ति' इस स्थिति में **'सार्व-धातुकमपित्'** (५००) द्वारा श (अ) के ङित् हो जाने से **'ग्रहिज्या०'** (६३४) सूत्र द्वारा रेफ को सम्प्रसारण ऋकार तथा **'सम्प्रसारणाच्च'** (२५८) से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'पृच्छति' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार लोट्, लङ् और विधिलिङ् में सम्प्रसारण की प्रक्रिया समझनी चाहिये । लट् में रूपमाला यथा—**पृच्छति, पृच्छतः, पृच्छन्ति ।**

लिट्—में सर्वत्र द्वित्व होकर **'लिटयभ्यासस्योभयेषाम्'** (५४६) से अभ्यास के रेफ को सम्प्रसारण ऋकार, पूर्वरूप, उरत्, रपर तथा हलादिशेष हो जाता है—**पप्रच्छ, पप्रच्छतुः**[1], **पप्रच्छुः । पप्रच्छिथ-पप्रष्ठ**[2], **पप्रच्छथुः, पप्रच्छ । पप्रच्छ, पप्रच्छिव, पप्रच्छिम ।** लुट्—में 'प्रच्छ्+ता' इस स्थिति में **'व्रश्चभ्रस्ज०'** (३०७) सूत्र से षत्व, तुगागम का अपाय (नाश)[3] तथा **'ष्टुना ष्टुः'** (६४) से ष्टुत्व करने पर—**प्रष्टा, प्रष्टारौ, प्रष्टारः ।** लृट्—में 'प्रच्छ्+स्य+ति' इस स्थिति में छकार को षत्व, तुगागम का अपाय **'षढोः कः सि'** (५४८) से षकार को ककार तथा उस से परे 'स्य' के सकार को मूर्धन्य हो जाता है—**प्रक्ष्यति, प्रक्ष्यतः, प्रक्ष्यन्ति ।** लोट्—**पृच्छतु-पृच्छतात्, पृच्छताम्, पृच्छन्तु ।** लङ्—**अपृच्छत्, अपृच्छताम्, अपृच्छन् ।** वि० लिङ्—**पृच्छेत्, पृच्छेताम्, पृच्छेयुः ।** आ० लिङ्—में यासुट् के कित् होने से **'ग्रहिज्या०'** (६३४) द्वारा सम्प्रसारण होकर पूर्वरूप हो जाता है—**पृच्छ्यात्, पृच्छ्यास्ताम्, पृच्छ्यासुः ।**

---

१. यहां संयोग से परे अतुस् आदि कित् नहीं होते अतः **'ग्रहिज्या०'** (६३४) से सम्प्रसारण नहीं होता । अभ्यास सम्प्रसारण में कित् ङित् की शर्त नहीं है अतः वह निर्बाध हो जाता है ।

२ अनिट्पक्ष में 'पप्रच्छ्+थ' इस स्थिति में **'व्रश्च-भ्रस्ज०'** (३०७) से छकार को षकार होकर **'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः'** से तुक् के चले जाने पर ष्टुत्व हो जाता है—पप्रष्ठ ।

३. कई वैयाकरण तुक्सहित छकार को **'व्रश्च-भ्रस्ज०'** सूत्रद्वारा षकारादेश किया करते हैं (देखें **बृ० शब्देन्दुशेखर** पृ० १७८९) ।

लुँङ्—प्र० पु० के एकवचन में 'अप्रच्छ्+स्+ईत्' इस स्थिति में हलन्त-लक्षणा वृद्धि होकर छकार को षकार, कत्व तथा सिँच् के सकार को भी षत्व करने पर--अप्राक्षीत् । द्विवचन में 'अप्रच्छ्+स्+ताम्' यहां वृद्धि होकर **'झलो झलि'** (४७८) से सकार का लोप तथा षत्व और ष्टुत्व करने पर—अप्राष्टाम् । रूपमाला यथा—**अप्राक्षीत्, अप्राष्टाम्, अप्राक्षुः । अप्राक्षीः, अप्राष्टम्, अप्राष्ट । अप्राक्षम्, अप्राक्ष्व, अप्राक्ष्म । लृँङ्—अप्रक्ष्यत्, अप्रक्ष्यताम्, अप्रक्ष्यन् ।**

यह धातु द्विकर्मक है । जिस से पूछा जाये तथा जो पूछा जाये उन दोनों की कर्मसञ्ज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हो जाती है—**माणवकं पन्थानं पृच्छति** (लड़के से मार्ग पूछता है; देखें कारकप्रकरण सूत्र ८९२) ।

उपसर्गयोग—आ√प्रच्छ्='श्रीमन् ! मैं जाता हूं' इस प्रकार कह कर जाने के लिये विदाई लेना[1] (**आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमाश्लिष्य सानुम्**—मेघदूत १०; **'आङि नु-प्रच्छ्योः'** वार्त्तिक से आत्मने०) । सम्√प्रच्छ्=निश्चय करना (**सम्पृच्छते;** कर्मणोऽविवक्षायां **'विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसङ्ख्यानम्'** इत्यात्मनेपदम्) ।

यहां पर तुदादिगण की परस्मैपदी धातुओं का विवेचन समाप्त होता है ।

अब आत्मनेपदी धातुओं का वर्णन किया जायेगा—

[लघु०] **मृङ् प्राणत्यागे ।।४२।।**

अर्थः—मृङ् (मृ) धातु 'प्राणों को छोड़ना अर्थात् मरना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2] ।

व्याख्या—ङित् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा **'ऊदृदन्तैः०'** में परिगणित न होने से अनुदात्त अर्थात् अनिट् है । लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है परन्तु ऋदन्त होने से थल् में उसका सर्वथा निषेध हो जाता है, भारद्वाजनियम प्रवृत्त नहीं होता । इस धातु से सर्वत्र आत्मनेपद प्रत्ययों के प्राप्त होने पर अग्रिम-सूत्र से नियम का विधान करते हैं—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—(६६४) **म्रियतेर्लुँङ्-लिँङोश्च ।१।३।६१।।**

लुँङ्-लिँङोः शितश्च प्रकृतिभूताद् मृङस्तङ्[3] नाऽन्यत्र । रिङ्(५४३), इयँङ् (१९९)—म्रियते । ममार । मर्ता । मरिष्यति । मृषीष्ट । अमृत ।।

अर्थः—लुँङ् लिँङ् वा शित्प्रत्यय की प्रकृतिभूत जो मृङ् धातु, उस से परे आत्मनेपद प्रत्यय ही हों अन्यत्र न हों ।

---

१. देखें **मेघदूत** श्लोक १० पर **मल्लिनाथटीका** ।

२. यहां 'प्राण' कर्म धात्वर्थ के अन्तर्गत आ जाते हैं अतः धातु सकर्मक न होकर अकर्मक ही रहती है ।

३. 'तङ्' इत्यात्मनेपदस्योपलक्षणम् । तेन 'म्रियमाणः' इत्यत्र आनोऽपि सिध्यति ।

व्याख्या—म्रियतेः ।५।१। लुङ्-लिङोः ।६।२। च इत्यव्ययपदम् । शितः ।६।१। (**'शदेः शितः'** से) आत्मनेपदम् ।१।१।(**'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** से)। 'प्रकृतिभूतात्' पद का यहां अध्याहार किया जाता है। अर्थः—(लुङ्-लिङोः) लुङ् और लिङ् की (च) अथवा (शितः) शित्प्रत्यय की (प्रकृतिभूतात्) प्रकृति बनी हुई (म्रियतेः) मृङ् धातु से परे (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद प्रत्यय हों। मृङ् धातु ङित् है, **'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** (३७८) द्वारा उस से परे आत्मनेपद स्वतः सिद्ध है अतः **'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः'** के अनुसार यह सूत्र नियमार्थ है—जब मृङ् धातु से लुङ् लिङ् या शित्प्रत्यय करना हो तभी आत्मनेपद हो अन्यथा उससे परस्मैपद। लँट्, लोँट्, लँङ् और विधिलिङ् इन चार लकारों में शित्प्रत्यय (श) किया जाता है, इस प्रकार इन चार लकारों तथा लुङ् और लिङ् (आशीर्लिङ्) कुल मिला कर छः लकारों में मृङ् धातु से आत्मनेपद तथा अन्यत्र (लिँट्, लुँट्, लृँट्, लृँङ्) परस्मैपद प्रत्यय होंगे।

लँट्—में आत्मनेपद तथा शविकरण होकर 'मृ+अ+त' इस स्थिति में **'रिङ् शयग्लिङ्क्षु'** (५४३) सूत्र से ऋकार को रिङ् आदेश, **'अचि श्नु०'** (१६६) से रिङ् के इकार को इयँङ् आदेश तथा टि को एत्व करने पर 'म्रियते' रूप सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—**म्रियते**[1], **म्रियेते, म्रियन्ते। म्रियसे, म्रियेथे, म्रियध्वे। म्रिये, म्रियावहे, म्रियामहे।**

लिँट्—में पूर्वोक्त नियमानुसार परस्मैपद का प्रयोग होता है—**ममार**[2], **मम्रतुः, मम्रुः। ममर्थ, मम्रथुः, मम्र। ममार-ममर, मम्रिव, मम्रिम।** लुँट्— में परस्मैपद का प्रयोग होता है—**मर्ता, मर्तारौ, मर्तारः। मर्तासि**—। लृँट्—में परस्मैपद होकर **'ऋद्धनोः स्ये'** (४६७) से स्य को इट् का आगम हो जाता है—**मरिष्यति, मरिष्यतः, मरिष्यन्ति।** लोँट्—में आत्मने० का प्रयोग तथा रिङ् और इयँङ् हो जाते हैं—**म्रियताम्, म्रियेताम्, म्रियन्ताम्। म्रियस्व, म्रियेथाम्, म्रियध्वम्। म्रियै, म्रियावहै, म्रियामहै।** लँङ्—में आत्मनेपद—**अम्रियत, अम्रियेताम्, अम्रियन्त। अम्रियथाः, अम्रियेथाम्, अम्रियध्वम्। अम्रिये, अम्रियावहि, अम्रियामहि।** वि०लिँङ्—**म्रियेत, म्रियेयाताम्, म्रियेरन्।** आ० लिँङ्—में आत्मनेपद का प्रयोग होकर **'उश्च'** (५४४) द्वारा झलादि लिँङ् के किद्वत् हो जाने से गुण नहीं होता—**मृषीष्ट, मृषीयास्ताम्, मृषीरन्।** लुँङ्—**अमृत** (**उश्च, ह्रस्वादङ्गात्**), **अमृषाताम्, अमृषत। अमृथाः, अमृषाथाम्, अमृढ्वम्। अमृषि, अमृष्वहि, अमृष्महि।** लृँङ्—**अमरिष्यत्, अमरिष्यताम्, अमरिष्यन्।**

[लघु०] पृङ् व्यायामे ॥४३॥ प्रायेणायं व्याङ्पूर्वः। व्याप्रियते। व्यापप्रे,

---

१. 'म्रियते' में यकार इयँङ् का है। यकार को देखकर धातु को दिवादिगणीय समझने की भूल नहीं करनी चाहिये। **मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति। अपि निर्वाणमायाति नानलो याति शीतताम्** (हितोप० १.१३३)।

२. **पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति**—अथर्ववेद १०.८.३२।

व्यापप्राते । व्यापरिष्यते । व्यापृत, व्यापृषाताम् ॥

अर्थः—पृङ् (पृ) धातु 'प्रवृत्त होना, चेष्टा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]। इस का प्रयोग प्रायः वि और आङ् इन दो उपसर्गों को पूर्व में लगा कर किया जाता है।

व्याख्या—ङित् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा 'ऊद्दन्तैः०' में परिगणित न होने से अनुदात्त अर्थात् अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है। इस की प्रक्रिया प्रायः मृङ् धातु की तरह होती है।

लँट्—**व्याप्रियते, व्याप्रियेते, व्याप्रियन्ते**। लिँट्—**व्यापप्रे, व्यापप्राते, व्यापप्रिरे**। लुँट्—**व्यापर्ता, व्यापर्तारौ, व्यापर्तारः। व्यापर्तासे**—। लृँट्—**व्यापरिष्यते, व्यापरिष्येते, व्यापरिष्यन्ते**। लोँट्—**व्याप्रियताम्, व्याप्रियेताम्, व्याप्रियन्ताम्**। लँङ्—**व्याप्रियत, व्याप्रियेताम्, व्याप्रियन्त**। वि० लिँङ्—**व्याप्रियेत, व्याप्रियेयाताम्, व्याप्रियेरन्**। आ० लिँङ्—**व्यापृषीष्ट, व्यापृषीयास्ताम्, व्यापृषीरन्**। लुँङ्—**व्यापृत, व्यापृषाताम्, व्यापृषत**। लृँङ्—**व्यापरिष्यत, व्यापरिष्येताम्, व्यापरिष्यन्त**।

इसी प्रकार—**दृङ् आदरे** (प्रायेण आङ्पूर्वः, आदर करना, तुदा०, आत्मने०, अनिट्, सकर्मक) धातु के प्रयोग बनते हैं। लँट्—**आद्रियते**। लिँट्—**आदद्रे**। लुँट्—**आदर्ता**। लृँट्—**आदरिष्यते**। लोँट्—**आद्रियताम्**। लँङ्—**आद्रियत**। वि० लिँङ्—**आद्रियेत**। आ० लिँङ्—**आदृषीष्ट**। लुँङ्—**आदृत**। लृँङ्—**आदरिष्यत**। **वाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनः**—वैराग्य० ७३। इस के कर्मणिप्रयोग बहुत प्रचलित हैं, यथा—**द्वितीयाऽऽद्रियते सदा**—हितोप० प्रस्तावना।

[लघु०] **जुषीँ प्रीति-सेवनयोः** ॥४४॥ जुषते। जुजुषे ॥

अर्थः—जुषीँ (जुष्) धातु 'प्रसन्न होना और सेवन करना' अर्थों में प्रयुक्त होती है[2]।

---

१. **व्यायाम उद्योगः** (क्षीरस्वामी)। यहां 'व्यायाम' का अर्थ उद्यम करना, चेष्टा करना, लगना, प्रवृत्त होना आदि है। इस धातु के साथ प्रायः सप्तमी का प्रयोग देखा जाता है—'**अधिज्यमिदमन्यस्मिन् कर्मणि व्यापृतं धनुः**' (शाकुन्तल ६.३२)। इस के णिजन्त प्रयोगों का साहित्य में खूब प्रचलन है—'**उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि**' (कुमार० ३.६७), '**व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्ति**' (रघु० २.३८), '**व्यापारितं शिरसि शस्त्रमशस्त्रपाणेः**' (वेणी० ३.१९)।

२. 'प्रसन्न होना' अर्थ में यह अकर्मक है, यथा—**यत्र देवासो अजुषन्त विश्वे** (यजु० ४.१, अजुषन्त=अप्रीयन्त इति महीधरः)। इस अर्थ में इस के विरल प्रयोग हैं। 'सेवन करना' ही इसका सुप्रसिद्ध अर्थ है। 'सेवन करना' का भी व्यापक अर्थों में प्रयोग देखा जाता है। रथ पर बैठना भी रथ का सेवन करना है—**रथञ्च जुजुषे**

व्याख्या—इस धातु का अन्त्य ईकार अनुदात्तानुनासिक होने से इत्सञ्ज्ञक होकर लुप्त हो जाता है। 'जुष्' मात्र ही अवशिष्ट रहता है। अनुदात्तेत् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है। इसे ईदित् करने का प्रयोजन '**श्वीदितो निष्ठायाम्**' (७.२.१४) द्वारा निष्ठा में इट् का निषेध करना है—जुष्टः, जुष्टवान्। **अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन**—गीता २.२।

लँट्—**जुषते, जुषेते, जुषन्ते**। लिँट्—**जुजुषे, जुजुषाते, जुजुषिरे**। लुँट्—**जोषिता, जोषितारौ, जोषितारः। जोषितासे**—। लृँट्—**जोषिष्यते, जोषिष्येते, जोषिष्यन्ते**। लोँट्—**जुषताम्, जुषेताम्, जुषन्ताम्**। लँङ्—**अजुषत, अजुषेताम्, अजुषन्त**। वि०लिँङ्—**जुषेत, जुषेयाताम्, जुषेरन्**। आ०लिँङ्—**जोषिषीष्ट, जोषिषीयास्ताम्, जोषिषीरन्**। लुँङ्—**अजोषिष्ट, अजोषिषाताम्, अजोषिषत**। लृँङ्—**अजोषिष्यत, अजोषिष्येताम्, अजोषिष्यन्त**।

इसी प्रकार—**लस्जँ व्रीडायाम्** (लज्जित होना, तुदा० आत्मने० सेट् अकर्मक) धातु के रूप बनते हैं। इस में मस्ज् धातु की तरह श्चुत्व से सकार को शकार तथा जश्त्व से शकार को जकार हो जाता है। लँट्—**लज्जते**। लिँट्—**ललज्जे**। लुँट्—**लज्जिता**। लृँट्—**लज्जिष्यते**। लोँट्—**लज्जताम्**। लँङ्—**अलज्जत**। वि० लिँङ्—**लज्जेत**। आ० लिँङ्—**लज्जिषीष्ट**। लुँङ्—**अलज्जिष्ट**। लृँङ्—**अलज्जिष्यत**।

[लघु०] **ओँविजीँ भय-चलनयोः** ॥४५॥ प्रायेणायमुत्पूर्वः। उद्विजते ॥

अर्थः—ओँविजीँ (विज्) धातु 'डरना या डर से कांपना' अर्थों में प्रयुक्त होती है। इस धातु का प्रायः 'उद्' उपसर्ग पूर्व में लगाकर प्रयोग किया जाता है[1]।

व्याख्या—ओँविजीँ का आदि ओकार तथा अन्त्य ईकार दोनों इत्सञ्ज्ञक होकर लुप्त हो जाते हैं, अतः 'विज्' ही शेष रहता है। अनुदात्तेत् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है। इसे ईदित् करने का प्रयोजन '**श्वीदितो निष्ठायाम्**' (७.२.७४) से निष्ठा में इट् का निषेध करना तथा ओदित करने का प्रयोजन '**ओदितश्च**' (८२०) द्वारा निष्ठा के तकार को नकार करना है—उद्विग्नः, उद्विग्नवान्।

शुभम् (भट्टि० १४.६५), किसी स्थान का निवास या गमन भी सेवन ही है—**जुषन्ते पर्वतश्रेष्ठमृषयः पर्वसन्धिषु** (महाभारत), दुःख को पाना भी दुःख का सेवन करना है—**पौलस्त्योऽजुषत शुचं विपन्नबन्धुः** (भट्टि० १७.११२), परलोक में जाना भी परलोक का सेवन करना है—**परलोकजुषाम्** (रघु० ८.८५), **रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये** (कादम्बरी १)।

१. 'प्रायः' इस लिये कहा है कि कहीं कहीं इसका उल्लङ्घन भी देखा जाता है। यथा—**चक्रन्द विग्ना कुररीव दीना**—रघु० १४,६८, विग्ना=उद्विग्ना। **आयभ्यो विजमानः प्राङ्केवेति**—ऐ० ब्रा० ७.१६। विजमानः=उद्विजमानः।

लँट्—उद्विजते[1], उद्विजेते, उद्विजन्ते। लिँट्—उद्विविजे, उद्विविजाते, उद्विविजिरे। लुँट्—में इट् का आगम होकर 'विज्+इता' इस स्थिति में लघूपधगुण प्राप्त होता है। इस का अग्रिमसूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(६६५) विज इट् ।१।२।२॥

विजः पर इडादिप्रत्ययो ङिद्वत्। उद्विजिता॥

अर्थः—विज् (ओँविजीँ) धातु से परे इडादि प्रत्यय ङिद्वत् हों।

व्याख्या—विजः ।५।१। इट् ।१।१। ('गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' से)। विज् से यहां ओँविजीँ धातु तथा इट् से इडादिप्रत्यय अभिप्रेत हैं [देखें—न्यास-पदमञ्जरी आदि]। अर्थः—(विजः) ओँविजीँ धातु से परे (इट्) इडादि प्रत्यय (ङित्) ङिद्वत् होता है। ङिद्वत् करने का प्रयोजन गुण का निषेध करना है।

'विज्+इता' यहां प्रकृतसूत्र से इडादि प्रत्यय के ङिद्वत् हो जाने से 'क्क्ङिति च' (४३३) द्वारा लघूपधगुण का निषेध हो जाता है—विजिता=उद्विजिता[2]। लुँट् में रूपमाला यथा—उद्विजिता, उद्विजितारौ, उद्विजितारः। उद्विजितासे—। लृँट्—में भी इडादि प्रत्यय के ङिद्वत् हो जाने से गुण का निषेध हो जाता है—उद्विजिष्यते, उद्विजिष्येते, उद्विजिष्यन्ते। लोँट्—उद्विजताम्, उद्विजेताम्, उद्विजन्ताम्। लँङ्—उदविजत, उदविजेताम्, उदविजन्त। वि० लिँङ्—उद्विजेत[3], उद्विजेयाताम्, उद्विजेरन्। आ० लिँङ्—उद्विजिषीष्ट, उद्विजिषीयास्ताम्, उद्विजिषीरन्। लुँङ्—उदविजिष्ट, उदविजिषाताम्, उदविजिषत। लृँङ्—उदविजिष्यत, उदविजिष्येताम्, उदविजिष्यन्त।

अभ्यास (१२)

(१) सोदाहरण स्पष्ट व्याख्या करें—

(क) व्यचेः कुटादित्वमनसीति तु नेह प्रवर्त्तते०।

(ख) द्विहल्ग्रहणस्यानेकहलुपलक्षणत्वान्नुट्—आनर्च्छ।

(ग) आदिशब्दः प्रकारे, तेन येऽत्र नकारानुषक्तास्ते तृम्फादयः।

(घ) मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम् वाच्यः।

(ङ) अडभ्यासव्यवायेऽपि सुट् कात्पूर्व इति वक्तव्यम्।

(च) स्थानषष्ठीनिर्देशाद् रोपधयोर्निवृत्तिः।

(छ) व्याघ्रभूतिमते सेट्, भाष्यमतेऽनिट्।

(२) निम्न प्रश्नों का सप्रमाण उत्तर दीजिए—

(क) उद्विजिता और कुटिता में लघूपधगुण क्यों नहीं होता ?

१. यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः—गीता १२.१५।

२. 'उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते' इत्यादियों में णिजन्त का प्रयोग है। णिच् इडादिप्रत्यय नहीं है अतः उस के परे रहते गुण निर्बाध हो जाता है।

३. सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव—मनु० २.१६२।

(ख) मुचादि कौन कौन से हैं और उन में क्या विशिष्ट कार्य होता है ?
(ग) 'मुञ्चति' में 'अनिदितां हल:०' से नकारलोप क्यों नहीं होता ?
(घ) 'स्फूर्याद्' की तरह 'स्फूल्यात्' क्यों नहीं बनता ?
(ङ) 'णू' धातु को दीर्घान्त मानने का क्या प्रयोजन है ?
(च) 'अकृक्षत' यह एकवचन है या बहुवचन, अथवा दोनों ? कैसे ?

(३) शप् और श विकरण में प्रधानतया क्या अन्तर पड़ता है ? स्पष्ट करें ।
(४) कर्तृवाच्य में मृङ् और शद्लृ धातु के किस किस लकार में कौन कौन सा पद होता है ? क्या कर्मवाच्य में भी इसी प्रकार व्यवस्था होगी ?
(५) सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
अस्जो रोपध०, अनुदात्तस्य चर्दुप०, ऋत इद् धातोः, म्रियतेर्लुङ्०, शदेः शितः, स्फुरतिस्फुलत्योः०, अचि विभाषा ।
(६) लुङ् के प्र० पु० के एकवचन में रूप सिद्ध करें—
प्रच्छ, मृङ्, गॄ, मृश, रुज्, मस्ज्, इष्, व्यज, व्रश्च्, सिच्, कृष्, भ्रस्ज् ।
(७) थल् में रूप सिद्ध करें—
भ्रस्ज्, व्रश्च्, इष्, गॄ, मस्ज्, कुट् ।
(८) मुचादियों को रुधादियों में ही क्यों नहीं पढ़ देते, जिस से नुमागम करना ही न पड़े ?
(९) सार्वधातुक लकारों में रूपमाला लिखें—
शद्, षद्, मृङ्, व्रश्च, भ्रस्ज्, प्रच्छ्, इष् ।
(१०) आर्धधातुक लकारों में रूपमाला लिखें—
कुट्, मस्ज्, गॄ, व्रश्च्, भ्रस्ज्, प्रच्छ्, इष् ।

इति तिङन्ते तुदादयः

(यहां पर तुदादिगण की धातुओं का विवेचन समाप्त होता है)

अथ तिङन्ते रुधादयः

अब तिङन्तप्रकरण में रुधादिगण की धातुओं का निरूपण किया जाता है—

[लघु०] **रुधिँर् आवरणे ॥१॥**

अर्थः—रुधिँर् (रुध्) धातु 'रोकना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1] ।

---

१. 'आवरणे' का यहां व्यापक अर्थों में प्रयोग हुआ है । यथा—
(१) आच्छादन करना—रुध्यते (आव्रियते) चर्मणेति रुधिरम् (उणा० १.५१)।
(२) घेरना—अरुणद् यवनः साकेतम् (महाभाष्य ३.२.१११) ।

व्याख्या—रुधिँर् धातु में 'इर इत्सञ्ज्ञा वाच्या' (वा० ३८) द्वारा इर् की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है तब उस का लोप होकर 'रुध्' मात्र अवशिष्ट रहता है। इर् में इकार स्वरित है अतः स्वरितेत् होने से यह धातु उभयपदी है। इसे इरित् करने का प्रयोजन परस्मैपद के लुँङ् में 'इरितो वा' (६२८) द्वारा च्लि को वैकल्पिक अङ् करना है। अनुदात्तों में परिगणित होने से यह धातु अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र (थल् में भी) नित्य इट् हो जाता है।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में 'रुध्+ति' इस अवस्था में सार्वधातुक परे होने से 'कर्तरि शप्' (३८७) द्वारा शप् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम अपवादसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६६) रुधादिभ्यः श्नम् ।३।१।७८।।

शपोऽपवादः। रुणद्धि। श्नसोरल्लोपः (५७४) रुन्धः, रुन्धन्ति। रुणत्सि, रुन्धः, रुन्ध। रुणध्मि, रुन्ध्वः, रुन्ध्मः। रुन्धे, रुन्धाते, रुन्धते। रुन्त्से, रुन्धाथे, रुन्ध्वे। रुन्धे, रुन्ध्वहे, रुन्ध्महे। रुरोध; रुरुधे। रोद्धासि; रोद्धासे। रोत्स्यति; रोत्स्यते। रुणद्धु-रुन्धात्, रुन्धाम्, रुन्धन्तु। रुन्धि। रुणधानि, रुणधाव, रुणधाम। रुन्धाम्, रुन्धाताम्, रुन्धताम्। रुन्त्स्व। रुणधै, रुणधावहै, रुणधामहै। अरुणत्-अरुणद्, अरुन्धाम्, अरुन्धन्। अरुणः-अरुणत्-अरुणद्। अरुन्ध, अरुन्धाताम्, अरुन्धत। अरुन्धाः। रुन्ध्यात्; रुन्धीत। रुध्यात्; रुत्सीष्ट। अरुधत्-अरौत्सीत्। अरुद्ध, अरुत्साताम्, अरुत्सत। अरोत्स्यत्; अरोत्स्यत।।

अर्थः—कर्तृवाचक सार्वधातुक परे हो तो रुधादि धातुओं से परे श्नम् प्रत्यय हो। यह शप् का अपवाद है।

व्याख्या—रुधादिभ्यः ।५।३। श्नम् ।१।१। कर्तरि ।७।१। ('कर्तरि शप्' से)। सार्वधातुके ।७।१।('सार्वधातुके यक्' से)। रुध् आदिर्येषान्ते रुधादयः[1], तद्गुणसंविज्ञान-बहु०। अर्थः—(कर्तरि) कर्ता अर्थ में (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे हो तो (रुधादिभ्यः) रुध् आदि धातुओं से परे (श्नम्) श्नम् होता है। 'प्रत्ययः' (३.१.१) के अधिकार में आने से श्नम् एक प्रत्यय है अतः 'लशक्वतद्धिते' (१३६) द्वारा इस के आदि

---

(३) बान्धना—व्यालं बालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धुं समुज्जृम्भते (नीति० ५)।

(४) रोकना—अहो विधे ! त्वां करुणा रुणद्धि नो (नैषध १.१३५)।

(५) बन्द करना—व्रजम् अवरुणद्धि गाम् (देखें कारकप्रकरण)।

(६) थामना—सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि (मेघदूत ६)।

इन सब अर्थों में कुछ न कुछ 'रोकने' का भाव विद्यमान है।

१. जश्त्वमाचरितं नाऽत्र सुस्पष्टप्रतिपत्तये।

शकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है[1]। मकार की '**हलन्त्यम्**' (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा होती है। इत्सञ्ज्ञकों का लोप करने पर 'न' मात्र अवशिष्ट रहता है। ध्यान रहे कि श्नम् में नकारोत्तर अकार अनुनासिक न होने से इत्सञ्ज्ञक नहीं होता। मित् होने से श्नम् '**मिदचोऽन्त्यात्परः**' (२४०) द्वारा अन्त्य अच् से परे किया जाता है। यह सूत्र '**कर्त्तरि शप्**' (३८७) द्वारा प्राप्त शप् का अपवाद है।

'रुध्+ति' यहां 'ति' यह कर्तृवाचक सार्वधातुक परे विद्यमान है अतः प्रकृत सूत्र से शप् का बाध कर श्नम् प्रत्यय हो जाता है। श्नम् मित् है अतः रुध् के अन्त्य अच् उकार से परे होकर 'रुनध्+ति' हुआ। अब '**झषस्तथोर्धोऽधः**' (५४९) से 'ति' के तकार को धकार, '**झलां जश् झशि**' (१९) से धातु के धकार को जश्त्व-दकार तथा '**अट्कुप्वाङ्०**' (१३८) से नकार को णकार करने पर 'रुणद्धि' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्र० पु० के द्विवचन तस् में श्नम् होकर—रुनध्+तस्। '**सार्वधातुकमपित्**' (५००) द्वारा तस् ङित् है। अतः सार्वधातुक ङित् के परे रहते '**श्नसोरल्लोपः**' (५७४) से श्नम् के अकार का लोप होकर—रुन्ध्+तस्। '**झषस्तथोः०**' (५४९) से तस् के तकार को धकार करने पर—रुन्ध्+धस्। अब णत्व (८.४.२) के असिद्ध होने से अपदान्त नकार को अनुस्वार (८.३.२४), जश्त्व से धातु के धकार को दकार तथा परसवर्ण से अनुस्वार को पुनः नकार होकर—रुन्द्+धस्। परसवर्ण के असिद्ध होने से '**अट्कुप्वाङ्०**' (१३८) द्वारा पुनः णत्व की प्राप्ति नहीं होती। तब '**झरो झरि सवर्णे**' (७३) से द् का वैकल्पिक लोप करने पर लोपपक्ष में 'रुन्धः' और लोप के अभाव में 'रुन्द्धः' इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं।

प्र० पु० के बहुवचन झि में श्नम् तथा '**झोऽन्तः**' (३८९) से झ् को अन्त् आदेश होकर—रुनध्+अन्ति। अब पूर्ववत् श्नम् के अकार का लोप तथा अनुस्वार और परसवर्ण करने पर 'रुन्धन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है। णत्व का वारण यहां भी पहले की तरह समझ लेना चाहिये। लँट् के परस्मैपद में आगे भी इसी तरह यथा-सम्भव प्रक्रिया होती है। आत्मने० में श्नम् होकर सर्वत्र ङिद्वद्भाव के कारण श्नम् के अकार का लोप करने पर पूर्ववत् प्रक्रिया होती है—रुन्धे-रुन्द्धे। लँट् के दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) **रुणद्धि, रुन्धः-रुन्द्धः, रुन्धन्ति। रुणत्सि, रुन्धः-रुन्द्धः, रुन्ध-रुन्द्ध। रुणध्मि, रुन्ध्वः, रुन्ध्मः,।** (आत्मने०) **रुन्धे-रुन्द्धे, रुन्धाते, रुन्धते,। रुन्त्से, रुन्धाथे, रुन्ध्वे-रुन्द्ध्वे,। रुन्धे, रुन्ध्वहे, रुन्ध्महे।**

लिँट्—(परस्मै०) **रुरोध, रुरुधतुः, रुरुधुः। रुरोधिथ, रुरुधथुः, रुरुध। रुरोध,**

---

१. श्नम् का शित्करण '**श्नसोरल्लोपः**' (५७४), '**श्नान्नलोपः**' (६६८) आदि में श्नम् की पहचान के लिये है सार्वधातुक-सञ्ज्ञा के लिये नहीं, क्योंकि सार्व-धातुकसञ्ज्ञा का रुधादियों में कुछ उपयोग नहीं। श्नम् के परे रहने पर 'रु' आदि के अङ्ग न होने से गुण प्राप्त ही नहीं हो सकता।

रुरुधिव, रुरुधिम । (आत्मने०) रुरुधे, रुरुधाते, रुरुधिरे । लुँट्—में लघूपधगुण होकर धत्व और जश्त्व हो जाता है— (परस्मै०) रोद्धा, रोद्धारौ, रोद्धारः । रोद्धासि— । (आत्मने०) रोद्धा, रोद्धारौ, रोद्धारः । रोद्धासे— । लृँट्—में लघूपध-गुण होकर चर्त्व हो जाता है— (परस्मै०) रोत्स्यति, रोत्स्यतः, रोत्स्यन्ति । (आत्मने०) रोत्स्यते, रोत्स्येते, रोत्स्यन्ते ।

लोँट्— (परस्मै०) रुणद्धु-रुन्धात्-रुन्द्धात्, रुन्धाम्-रुन्द्धाम्, रुन्धन्तु । रुन्धि-रुन्द्धि-रुन्धात्-रुन्द्धात्[1], रुन्धम्-रुन्द्धम्, रुन्ध-रुन्द्ध । रुणधानि, रुणधाव, रुणधाम । (आत्मने०) रुन्धाम्-रुन्द्धाम्, रुन्धाताम्, रुन्धताम् । रुन्त्स्व, रुन्धाथाम्, रुन्ध्वम्-रुन्द्ध्वम् । रुणधै[2], रुणधावहै, रुणधामहै ।

लँङ्—परस्मै० प्र० पु० के एकवचन में 'अरुनध्+त्' इस स्थिति में 'हल्ङ्याब्भ्यः०' (१७९) से अपृक्त तकार का लोप होकर पदान्त में जश्त्व(६७) तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने पर 'अरुणत्-अरुणद्' दो रूप सिद्ध होते हैं । म० पु० के एकवचन सिप् में भी इसी प्रकार अपृक्त सकार का लोप तथा जश्त्व होकर 'अरुणद्' इस स्थिति में प्रत्ययलक्षणद्वारा सिप् को मान कर 'दश्च' (५७३) सूत्र से पदान्त दकार को विकल्प से रुँत्व हो जाता है । रुँत्वपक्ष में रेफ को विसर्ग होकर—अरुणः, रुँत्वाभाव में वैकल्पिक चर्त्व करने पर—अरुणत्-अरुणद् । परस्मै० में अन्यत्र तथा आत्मने० में कुछ विशेष नहीं । रूपमाला यथा—(परस्मै०) अरुणत्-अरुणद्, अरुन्धाम्-अरुन्द्धाम्, अरुन्धन् । अरुणः-अरुणत्-अरुणद्, अरुन्धम्-अरुन्द्धम्, अरुन्ध-अरुन्द्ध । अरुणधम्, अरुन्ध्व, अरुन्ध्म ।(आत्मने०) अरुन्ध-अरुन्द्ध, अरुन्धाताम्, अरुन्धत । अरुन्धाः-अरुन्द्धाः, अरुन्धाथाम्, अरुन्ध्वम्-अरुन्द्ध्वम् । अरुन्धि, अरुन्ध्वहि, अरुन्ध्महि ।

वि० लिँङ्—(परस्मै०) रुन्ध्यात्, रुन्ध्याताम्, रुन्ध्युः । रुन्ध्याः, रुन्ध्यातम्,

---

१. लोँट् के म० पु० के एकवचन में सिप् को 'हि' आदेश, श्नम् तथा 'झलभ्यः०' (५५६) से 'हि' को 'धि' आदेश होकर—रुनध्+धि । 'हि' के अपित् होने से उसके स्थान पर होने वाला 'धि' आदेश भी अपित् है, अतः 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से वह ङिद्वत् हो जाता है । ङित् सार्वधातुक के परे रहते 'श्नसोरल्लोपः' (५७४) से श्नम् के अकार का लोप हो जाता है—रुन्ध्+धि । अत्र अपदान्त नकार को अनुस्वार, जश्त्व तथा परसवर्ण करने पर सवर्ण झर् का वैकल्पिक लोप किया तो 'रुन्धि-रुन्द्धि' दो रूप सिद्ध हुए । आ० लोँट् में 'हि' को तातङ् होकर अल्लोप, धत्व, अनुस्वार, जश्त्व, परसवर्ण तथा झर् का वैकल्पिक लोप करने पर 'रुन्धात्-रुन्द्धात्' दो रूप सिद्ध होते हैं ।

२. लोँट् के उ० पु० में आट् आगम के पित् होने से ङिद्वद्भाव नहीं होता अतः अकार का लोप नहीं होता ।

रुन्ध्यात । रुन्ध्याम्, रुन्ध्याव, रुन्ध्याम । (आत्मने०) रुन्धीत, रुन्धीयाताम्, रुन्धीरन् । रुन्धीथाः, रुन्धीयाथाम्, रुन्धीध्वम् । रुन्धीय, रुन्धीवहि, रुन्धीमहि ।

आ० लिँङ्—(परस्मै०) रुध्यात्, रुध्यास्ताम्, रुध्यासुः । (आत्मने०) रुत्सीष्ट, रुत्सीयास्ताम्, रुत्सीरन् ('लिङ्सिँचावात्मनेपदेषु' ५८९) ।

लुँङ्—परस्मै० में 'इरितो वा' (६२८) से च्लि को विकल्प से अङ् आदेश हो जाता है । अङ् के ङित् होने से लघूपधगुण नहीं होता—अरुधत् । अङ् के अभाव में च्लि को सिँच् होकर हलन्तलक्षणा वृद्धि तथा 'खरि च' (७४) से चर्त्व हो जाता है—अरौत्सीत् । आत्मने० में च्लि को केवल सिँच् होता है । 'अरुध्+स्+त' इस स्थिति में सकार का झलोझलिलोप होकर धत्व और जश्त्व करने पर—अरुद्ध । ध्यान रहे कि आत्मने० में 'लिङ्सिँचावात्मनेपदेषु' (५८९) से सिँच् के कित् होने के कारण लघूपधगुण नहीं होता । रूपमाला यथा—(परस्मै०) अङ्पक्षे—अरुधत्, अरुधताम्, अरुधन् । सिँच्पक्षे—अरौत्सीत्, अरौद्धाम्, अरौत्सुः । (आत्मने०) अरुद्ध, अरुत्साताम्, अरुत्सत । अरुद्धाः, अरुत्साथाम्, अरुद्ध्वम् । अरुत्सि, अरुत्स्वहि, अरुत्स्महि ।

लृँङ्—(परस्मै०) अरोत्स्यत्, अरोत्स्यताम्, अरोत्स्यन् । (आत्मने०) अरोत्स्यत, अरोत्स्येताम्, अरोत्स्यन्त ।

उपसर्गयोग—सम्√रुध्=काबू करना, वश में करना (अधिगतपरमार्थान् पण्डितान् माऽवमंस्थास्तृणमिव लघुलक्ष्मीर्नैव तान् संरुणद्धि—नीति० १३) ।

अव√रुध्=बन्द करना (व्रजमवरुणद्धि गाम्—कारकप्रकरण); धारण करना (शोकं चित्तमवारुधत्—भट्टि० ६.९, शोक को चित्त में धारण किया); अवरोधः=घेरा (दुर्गावरोधः—पञ्च०), राजा की स्त्रियां (अवरोधे महत्यपि—रघु० १.३२) ।

उप√रुध्=आग्रह करना, अनुरोध करना (अभ्युत्सहे सम्प्रति नोपरोद्धुमल्पेतरत्वाच्छ्रुतनिष्क्रयस्य—रघु० ५.२२); घेरना (उपरुध्यारिमासीत—मनु० ७.१९५); विघ्न डालना (ममान्वेषिणः सैनिकास्तपोवनमुपरुन्धन्ति—शाकुन्तल प्रथमाङ्क); रोकना (उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिम्—शाकुन्तल ४.१७) ।

आ√रुध्=दूर करना, हटाना (बन्धुता शुचमारुणत्—भट्टि० १७.४९, बन्धुसमूह ने शोक को दूर भगाया) ।

नि√रुध्=निरोध करना, नियमन करना, रोकना (न्यरुन्धन्नस्य पन्थानम्—भट्टि० १७.४९) ।

वि√रुध्=विरोध करना (श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी—स्मृति) ।

प्रति√रुध्=प्रतिरोध करना, मुकाबला करना, विरुद्ध आचरण करना (प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव—मनु० ३.१५३) ।

नोट—शत्रन्त रुध् का स्त्रीलिङ्ग में—रुन्धती, नुम् नहीं होता । इसी प्रकार

अदादि (हलन्त), जुहोत्यादि, स्वादि, रुधादि, तनादि एवं क्र्यादिगण में समझ लेना चाहिये—अदती, जुह्वती, सुन्वती, रुन्धती, कुर्वती, जानती आदि । इसी तरह इन गणों की धातुओं के शानच् में मुक् (८३२) नहीं होता—आचक्षाणः, ददानः, अश्नुवानः, रुन्धानः, कुर्वाणः, जानानः आदि ।

[लघु०] भिदिँर् विदारणे ॥२॥

अर्थः—भिदिँर् (भिद्) धातु 'तोड़ना-फाड़ना-चीरना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1] ।

व्याख्या—भिदिँर् में भी पूर्ववत् इर् इत्सञ्ज्ञक है, अतः भिद् ही अवशिष्ट रहता है । स्वरितेत् होने से यह धातु उभयपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है । लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र इट् का आगम हो जाता है । इस की प्रक्रिया रुध् धातु की तरह होती है परन्तु झषन्त न होने से इस में **'झषस्तथोर्धोऽधः'** (५४९) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । इसी प्रकार जश्त्व की भी अप्रवृत्ति समझ लेनी चाहिये । रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) **भिनत्ति**[2], **भिन्तः-भिन्त्तः, भिन्दन्ति । भिनत्सि, भिन्थः-भिन्त्थः, भिन्थ-भिन्त्थ । भिनद्मि, भिन्द्वः, भिन्द्मः** । (आत्मने०) **भिन्ते-भिन्त्ते, भिन्दाते, भिन्दते । भिन्त्से, भिन्दाथे, भिन्ध्वे-भिन्द्ध्वे । भिन्दे, भिन्द्वहे, भिन्द्महे ।** लिँट्—(परस्मै०) **बिभेद, बिभिदतुः, बिभिदुः** । (आत्मने०) **बिभिदे, बिभिदाते, बिभिदिरे** । लुँट्—(परस्मै०) **भेत्ता, भेत्तारौ, भेत्तारः । भेत्तासि**— । (आत्मने०) **भेत्ता, भेत्तारौ, भेत्तारः । भेत्तासे**— । लृँट्—(परस्मै०) **भेत्स्यति, भेत्स्यतः, भेत्स्यन्ति** । (आत्मने०) **भेत्स्यते, भेत्स्येते, भेत्स्यन्ते** । लोँट्—(परस्मै०) **भिनत्तु-भिन्तात्-भिन्त्तात्, भिन्ताम्-भिन्त्ताम्, भिन्दन्तु । भिन्धि-भिन्द्धि-भिन्तात्-भिन्त्तात्, भिन्तम्-भिन्त्तम्, भिन्त-भिन्त्त । भिनदानि, भिनदाव, भिनदाम** । (आत्मने०) **भिन्ताम्-भिन्त्ताम्, भिन्दाताम्, भिन्दताम् । भिन्त्स्व, भिन्दाथाम्, भिन्ध्वम्-भिन्द्ध्वम् । भिनदै, भिनदावहै, भिनदामहै** । लँङ्—(परस्मै०) **अभिनत्-अभिनद्, अभिन्ताम्-अभिन्त्ताम्, अभिन्दन् । अभिनः-अभिनत्-अभिनद्, अभिन्तम्-अभिन्त्तम्, अभिन्त-अभिन्त्त । अभिनदम्, अभिन्द्व, अभिन्द्म** । (आत्मने०) **अभिन्त-अभिन्त्त, अभिन्दाताम्, अभिन्दत** ।

---

१. इस धातु का लाक्षणिक अर्थों में भी खूब प्रयोग होता है—(१) **षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः**—हितो० । (२) **तेषां कथं न हृदयं न भिनत्ति लज्जा**—मुद्रा० ३.३३ । (३) **सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्**—कुमार० १.३२ । (४) **शुष्ककाष्ठञ्च मूर्खश्च भिद्यते न तु नम्यते**—सुभाषित । (५) **बूत एव हि सन्धत्ते भिनत्त्येव च संहतान्**—मनु० ७.६६ । (६) **भिन्न-सारङ्ग-यूथः**—शाकु० १.३५ । (७) **सुभग ! त्वत्कथारम्भे भिनत्त्यङ्गानि साऽङ्गना**—साहित्यदर्पण ३.११९ ।

२. **अतिशीतलमप्यम्भः किं भिनत्ति न भूभृतः**—सुभाषित ।

अभिन्त्थाः, अभिन्दाथाम्, अभिन्ध्वम्-अभिन्द्ध्वम् । अभिन्दि, अभिन्द्वहि, अभिन्द्महि । वि० लिङ्—(परस्मै०) भिन्द्यात्, भिन्द्याताम्, भिन्द्युः । (आत्मने०) भिन्दीत, भिन्दीयाताम्, भिन्दीरन् । आ० लिङ्—(परस्मै०) भिद्यात्, भिद्यास्ताम्, भिद्यासुः । (आत्मने०) भित्सीष्ट, भित्सीयास्ताम्, भित्सीरन् । लुँङ्—(परस्मै०) अङ्पक्षे—अभिदत्, अभिदताम्, अभिदन् । सिँच्पक्षे—अभैत्सीत्, अभैत्ताम्, अभैत्सुः । (आत्मने०) अभित्त, अभित्साताम्, अभित्सत । लृँङ्—(परस्मै०) अभेत्स्यत्, अभेत्स्यताम्, अभेत्स्यन् । (आत्मने०) अभेत्स्यत, अभेत्स्येताम्, अभेत्स्यन्त ।

उपसर्गयोग—सम्√भिद्=भली भांति भेदन करना (**भ्रुवोर्मध्यं तु सम्भिद्य याति शीतांशुमण्डलम्**—योगकुण्डल्युपनिषत् १.६६); मिलाना (**कदम्बसम्भिन्नः पवनः**—भट्टि० ७.५, कदम्बगन्धसंश्लिष्ट इति जयमङ्गला; **अन्योऽन्यसम्भिन्नदृशां सखीनाम्**—मालती० १.३६) ।

निर्√भिद्=तोड़ना (**निर्भिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्यालीयते षट्पदः**—विक्रमो० २.२२); खोलना-प्रकट करना (**निर्भिन्नप्रायं रहस्यम्**—दशकुमार०) ।

प्रति√भिद्=भर्त्सना करना—निराकरण करना—तिरस्कार करना (**प्रत्यभैत्सुरवदन्त्य एव तम्**—रघु० १९.२२, प्रत्यभैत्सुः=तिरश्चक्रुरिति मल्लिनाथः) ।

उद्√भिद्=(कर्मणि) उभरना—ऊपर आना—उठना (**उद्भिन्नपयोधरया**—कादम्बरी; **यावन्नोद्भिद्येते स्तनौ**—स्मृति) ।

[लघु०] छिदिँर् द्वैधीकरणे[1] ॥३॥

अर्थः—छिदिँर् (छिद्) धातु 'दो टुकड़े करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—यह धातु पूर्ववत् इरित् है । स्वरितेत् होने से इसे उभयपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् समझना चाहिये । क्रादिनियम से लिँट् में सर्वत्र इट् हो जायेगा । इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया भिद् धातु की तरह होती है । रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) छिनत्ति, छिन्तः-छिन्त्तः, छिन्दन्ति[2] । छिनत्सि, छिन्थः-छिन्त्थः, छिन्थ-छिन्त्थ । छिनद्मि, छिन्द्वः, छिन्द्मः । (आत्मने०) छिन्ते-छिन्त्ते,

---

१. 'द्वैधीकरणे' में च्विप्रत्यय का अभूततद्भाव में प्रयोग किया गया है । जो द्वैध (द्विविध) नहीं उसे द्विविध अर्थात् टुकड़े करने का नाम 'द्वैधीकरण' है । इस धातु का लाक्षणिक अर्थों में भी खूब प्रयोग होता है—

(१) **तृष्णां छिन्धि भज क्षमाम्**—नीति० ६६ ।

(२) **छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत**—गीता ४.४२ ।

(३) **न नः किञ्चिच्छिद्यते**—हमारी कुछ भी हानि नहीं होती—श्रीभाष्य । हिन्दी का 'छीनना' भी इसी धातु का विकृत रूप है ।

२. **नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि**—गीता २.२३ ।

छिन्दाते, छिन्दते। छिन्त्से, छिन्दाथे, छिन्ध्वे-छिन्द्ध्वे। छिन्दे, छिन्द्वहे, छिन्महे। लिँट्— (परस्मै०) चिच्छेद, चिच्छिदतुः, चिच्छिदुः। (आत्मने०) चिच्छिदे, चिच्छिदाते, चिच्छिदिरे। 'छे च' (१०१) से सर्वत्र तुक् का आगम हो जाता है[1]। लुँट्—(परस्मै०) छेत्ता, छेत्तारौ, छेत्तारः। छेत्तासि—। (आत्मने०) छेत्ता, छेत्तारौ, छेत्तारः। छेत्तासे—। लृँट्—(परस्मै०) छेत्स्यति, छेत्स्यतः, छेत्स्यन्ति। (आत्मने०) छेत्स्यते, छेत्स्येते, छेत्स्यन्ते। लोँट्—(परस्मै०) छिनत्तु-छिन्तात्-छिन्त्तात्, छिन्ताम्-छिन्त्ताम्, छिन्दन्तु। छिन्धि-छिन्द्धि-छिन्तात्-छिन्त्तात्, छिन्तम्-छिन्त्तम्, छिन्त-छिन्त्त। छिनदानि, छिनदाव, छिनदाम। (आत्मने०) छिन्ताम्-छिन्त्ताम्, छिन्दाताम्, छिन्दताम्। छिन्त्स्व, छिन्दाथाम्, छिन्ध्वम्-छिन्द्ध्वम्। छिनदै, छिनदावहै, छिनदामहै। लँङ्—(परस्मै०) अच्छिनत्-अच्छिनद्, अच्छिन्ताम्-अच्छिन्त्ताम्, अच्छिन्दन्। अच्छिनः-अच्छिनत्-अच्छिनद्, अच्छिन्तम्-अच्छिन्त्तम्, अच्छिन्त-अच्छिन्त्त। अच्छिनदम्, अच्छिन्द्व, अच्छिन्द्म। (आत्मने०) अच्छिन्त-अच्छिन्त्त, अच्छिन्दाताम्, अच्छिन्दत। अच्छिन्थाः-अच्छिन्त्थाः, अच्छिन्दाथाम्, अच्छिन्ध्वम्-अच्छिन्द्ध्वम्। अच्छिन्दि, अच्छिन्द्वहि, अच्छिन्द्महि। वि० लिँङ्—(परस्मै०) छिन्द्यात्, छिन्द्याताम्, छिन्द्युः। (आत्मने०) छिन्दीत, छिन्दीयाताम्, छिन्दीरन्। आ० लिँङ्—(परस्मै०) छिद्यात्, छिद्यास्ताम्, छिद्यासुः। (आत्मने०) छित्सीष्ट, छित्सीयास्ताम्, छित्सीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अङ्पक्षे—अच्छिदत्, अच्छिदताम्, अच्छिदन्। सिँच्पक्षे—अच्छैत्सीत्, अच्छैत्ताम्, अच्छैत्सुः। (आत्मने०) अच्छित्त, अच्छित्साताम्, अच्छित्सत। लृँङ्—(परस्मै०) अच्छेत्स्यत्, अच्छेत्स्यताम्, अच्छेत्स्यन्। (आत्मने०) अच्छेत्स्यत, अच्छेत्स्येताम्, अच्छेत्स्यन्त।

उपसर्गयोग—आ √ छिद् = छीनना (मातुर्हस्तादाच्छिद्य—शिवराज० पृष्ठ १४); काटना (आच्छेत्स्याम्येतस्य धनुर्ज्याम्—महाभारत; 'आङ्माङोश्च' इति तुक्)।

उद् √ छिद् = उच्छेद करना—काटना—नष्ट करना—जड़ से उखाड़ना (नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलम्—मनु० ७.१३९; किं वा रिपूंस्तव गुरुः स्वयमुच्छिनत्ति—रघु० ५.७१; एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन—मनु० ३.१०१, कर्मकर्तरि प्रयोगः)।

वि √ छिद् = विच्छेद करना—अलग करना—काटना (यदर्धे विच्छिन्नं भवति कृतसन्धानमिव तत्—शाकुन्तल १.३२; विच्छिद्यमानेऽपि कुले परस्य पुंसः कथं स्यादिह पुत्रकाम्या—भट्टि० ३.५२)।

सम् √ छिद्—उच्छेद करना (ज्ञानसञ्छिन्नसंशयः—गीता ४.४१)।

अव √ छिद्—सीमित करना (दिक्कालाद्यनवच्छिन्नाऽनन्तचिन्मात्रमूर्तये—

---

१. अभ्यास का हलादिशेष करने पर 'चि+छिद्+अतुस्' इस स्थिति में 'छे च' द्वारा तुक् का आगम होता है। ध्यान रहे कि यह तुक् ह्रस्व का अवयव बनता है न कि 'चि' का। अत एव अभ्यास का अवयव न होने से उस का पुनः हलादिशेष से लोप नहीं होता (देखें ६.१.७१ सूत्र पर काशिका)।

नीति० १); निश्चय करना (शब्दार्थस्याऽनवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः—वाक्यपदीय २.३१६); नव्यन्याय के अवच्छेदक, अवच्छिन्न (देखें न्यायकोष)।

परि √छिद्—इयत्ता का निश्चय करना (परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः—मालती० १.३३); निश्चय करना—अवधारण करना—निर्णय करना (परात्मनोः परिच्छिद्य शक्त्यादीनां बलाऽबलम्—रघु० १७.५९; परिच्छेदो हि पाण्डित्यं यदापन्ना विपत्तयः। अपरिच्छेदकर्तॄणां विपदः स्युः पदे पदे—हितोप० १.१४८)।

[लघु०] युजिँर् योगे ॥४॥

अर्थः—युजिँर् (युज्) धातु 'जोड़ना-मिलाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—युजिँर् में इर् की इत्सञ्ज्ञा होकर 'युज्' शेष रहता है। स्वरितेत् होने से यह धातु उभयपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है। इस की प्रक्रिया में कुछ विशेष नहीं। यथास्थान 'चोः कुः' (३०६) की प्रवृत्ति कर लेनी चाहिये। किञ्च सवर्ण झर् परे न रहने के कारण इस में 'झरो झरि सवर्णे' (७३) की प्रवृत्ति नहीं होती। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) **युनक्ति, युङ्क्तः, युञ्जन्ति । युनक्षि, युङ्क्थः, युङ्क्थ । युनज्मि, युञ्ज्वः, युञ्ज्मः ।** (आत्मने०) **युङ्क्ते, युञ्जाते, युञ्जते । युङ्क्षे, युञ्जाथे, युङ्ग्ध्वे । युञ्जे, युञ्ज्वहे, युञ्ज्महे ।** लिँट्—(परस्मै०) **युयोज, युयुजतुः, युयुजुः । युयोजिथ—।** (आत्मने०) **युयुजे, युयुजाते, युयुजिरे ।** लुँट्—(परस्मै०) **योक्ता, योक्तारौ, योक्तारः । योक्तासि—।** (आत्मने०) **योक्ता, योक्तारौ, योक्तारः । योक्तासे—।** लृँट्—(परस्मै०) **योक्ष्यति, योक्ष्यतः, योक्ष्यन्ति ।** (आत्मने०) **योक्ष्यते, योक्ष्येते, योक्ष्यन्ते ।** लोँट्—(परस्मै०)**युनक्तु-युङ्क्तात्, युङ्क्ताम्, युञ्जन्तु । युङ्ग्धि-युङ्क्तात्, युङ्क्तम्, युङ्क्त । युनजानि, युनजाव, युनजाम ।** (आत्मने०) **युङ्क्ताम्, युञ्जाताम्, युञ्जताम् । युङ्क्ष्व, युञ्जाथाम्, युङ्ग्ध्वम् । युनजै, युनजावहै, युनजामहै ।** लँङ्—(परस्मै०) **अयुनक्-अयुनग्, अयुङ्क्ताम्, अयुञ्जन् । अयुनक्-अयुनग्**[1]**, अयुङ्क्तम्, अयुङ्क्त । अयुनजम्, अयुञ्ज्व, अयुञ्ज्म ।** (आत्मने०) **अयुङ्क्त, अयुञ्जाताम्, अयुञ्जत । अयुङ्क्थाः, अयुञ्जाथाम्, अयुङ्ग्ध्वम् । अयुञ्जि, अयुञ्ज्वहि, अयुञ्ज्महि ।** वि० लिँङ्—(परस्मै०) **युञ्ज्यात्, युञ्ज्याताम्, युञ्ज्युः ।** (आत्मने०) **युञ्जीत, युञ्जीयाताम्, युञ्जीरन् ।** आ० लिँङ्—(परस्मै०) **युज्यात्, युज्यास्ताम्, युज्यासुः ।** (आत्मने०) **युक्षीष्ट, युक्षीयास्ताम्, युक्षीरन् ।** लुँङ्—(परस्मै०) अङ्पक्षे—**अयुजत्, अयुजताम्, अयुजन् ।** सिँच्पक्षे—**अयौक्षीत्, अयौक्ताम्, अयौक्षुः ।** (आत्मने०) **अयुक्त, अयुक्षाताम्, अयुक्षत ।** लृँङ्—(परस्मै०) **अयोक्ष्यत्, अयोक्ष्यताम्, अयोक्ष्यन् ।** (आत्मने०) **अयोक्ष्यत, अयोक्ष्येताम्, अयोक्ष्यन्त ।**

---

१. ध्यान रहे कि यहां दकार न होने से '**दश्च**' (५७३) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती।

उपसर्गयोग—प्र √ युज्=प्रयोग करना (**यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद्व्यवहारकाले**—महाभाष्य पस्पशा०)।

अनु √ युज्=पूछना (**किं वस्तु विद्वन्! गुरवे प्रदेयं त्वया कियद्वेति तमन्वयुङ्क्त**—रघु० ५.१८)।

उप √ युज्=उपयोग करना (**षाड्गुण्यमुपयुञ्जीत**—माघ २.९३); भोगना (**फलान्युपायुङ्क्त स दण्डनीतेः**—रघु० १३.४६)।

वि √ युज्=वियुक्त करना—अलग करना—छोड़ना (**मदमानसमुद्धतं नृपं न वियुङ्क्ते नियमेन मूढता**—किराता० २.४८)।

नि √ युज्=नियुक्त करना (**कार्ये गुरुण्यात्मसमं नियोक्ष्ये**—कुमार० ३.१३)।

वि+नि √ युज्=लगाना—प्रवृत्त करना (**यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते**—प्रश्नोपनिषद् ३.४)।

उद् √ युज्=उद्यम करना—प्रयत्न करना (**भवन्तमभियोक्तुम् उद्युङ्क्ते**—दशकुमार०)।

अभि √ युज्=ढूंढना, आक्रमण करना (**मन्त्रिव्यसनम् अभियुञ्जानस्य शत्रुम् अभियोक्तुर्नैकान्तिकी सिद्धिर्भवति**—मुद्रा० ४)।

आ √ युज्=नियुक्त करना, लगाना (**आयुक्तो दूतकर्मणि**—भट्टि० ८.११५)।

सम् √ युज्=मिलाना, युक्त करना (**स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु**—श्वेता० उप० ३.४)।

नोट—यज्ञपात्रों का विषय न हो तो अजादि वा अजन्त उपसर्ग से परे युज् धातु से सदा आत्मनेपद होता है—**स्वराद्यन्तोपसर्गादिति वक्तव्यम्** (वा०)।

[लघु०] **रिचिँर् विरेचने** ॥५॥ रिणक्ति; रिङ्क्ते। रिरेच। रेक्ता। रेक्ष्यति। अरिणक्। अरिचत्। अरैक्षीत्; अरिक्त॥

अर्थः—रिचिँर् (रिच्) धातु 'निकालना वा खाली करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

---

१. **विरेचनं निस्सारणम्** इति क्षीरस्वामी। कुछ आचार्यों ने '**विरेकः—पौनःपुन्येन पुरीषोत्सर्गः**' (इति चतुर्भुजः—देखें कविकल्पद्रुमटीका) अर्थात् 'बार बार टट्टी करना' इस का अर्थ माना है। उन के मतानुसार यह धातु अकर्मक है—**रिणक्ति रिङ्क्ते वा अतिसारकी** (वही टीका)। परन्तु भट्टि आदियों ने इस का 'खाली करना, निकालना' अर्थ में सकर्मकतया प्रयोग किया है—**रिणच्मि जलधेस्तोयम्** (मैं समुद्र को जलरहित करता हूं—भट्टि० ६.३६)। कर्मवाच्य में इस के प्रयोग बहुधा उपलब्ध होते हैं—**आविर्भूते शशिनि तमसा रिच्यमानेव रात्रिः** (विक्रमो० १.९), **रिक्ता भवन्ति भरिता भरिताश्च रिक्ताः** (सुभाषित)। आयुर्वेद में प्रसिद्ध विरेचन, विरेचक, विरेच्य आदि शब्द इसी धातु से निष्पन्न होते हैं। पाणिनीय धातुपाठ के चुरादिगणान्तर्गत आधृषीयों में भी यह धातु पढ़ी गई है—**रिच वियोजन-सम्पर्चनयोः**।

व्याख्या—रिचिँर् में इर् इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाता है, रिच् ही अवशिष्ट रहता है। स्वरितेत् होने से यह धातु उभयपदी तथा चकारान्त अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र (थल् में भी) इट् का आगम हो जाता है। इस की प्रक्रिया भी युज् धातु की तरह समझनी चाहिये। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) **रिणक्ति, रिङ्क्तः, रिञ्चन्ति** । (आत्मने०) **रिङ्क्ते, रिञ्चाते, रिञ्चते** । लिँट्—(परस्मै०) **रिरेच, रिरिचतुः, रिरिचुः** । (आत्मने०) **रिरिचे, रिरिचाते, रिरिचिरे** । लुँट्—(परस्मै०) **रेक्ता, रेक्तारौ, रेक्तारः** । **रेक्तासि**—। (आत्मने०) **रेक्ता, रेक्तारौ, रेक्तारः** । **रेक्तासे**—। लृँट्—(परस्मै०) **रेक्ष्यति, रेक्ष्यतः, रेक्ष्यन्ति** । (आत्मने०) **रेक्ष्यते, रेक्ष्येते, रेक्ष्यन्ते** । लोँट्—(परस्मै०) **रिणक्तु-रिङ्क्तात्, रिङ्क्ताम्, रिञ्चन्तु** । (आत्मने०) **रिङ्क्ताम्, रिञ्चाताम्, रिञ्चताम्** । लँङ्—(परस्मै०) **अरिणक्-अरिणग्, अरिङ्क्ताम्, अरिञ्चन्** । (आत्मने०) **अरिङ्क्त, अरिञ्चाताम्, अरिञ्चत** । वि० लिँङ्—(परस्मै०) **रिञ्च्यात्, रिञ्च्याताम्, रिञ्च्युः** । (आत्मने०) **रिञ्चीत, रिञ्चीयाताम्, रिञ्चीरन्** । आ० लिँङ्—(परस्मै०) **रिच्यात्, रिच्यास्ताम्, रिच्यासुः** । (आत्मने०) **रिक्षीष्ट, रिक्षीयास्ताम्, रिक्षीरन्** (लिँङ्सिँचावात्मनेपदेषु) । लुँङ्—(परस्मै०) अङ्पक्षे—**अरिचत्, अरिचताम्, अरिचन्** । सिँचपक्षे—**अरैक्षीत्, अरैक्ताम्, अरैक्षुः** । (आत्मने०) **अरिक्त, अरिक्षाताम्, अरिक्षत** । लृँङ्—(परस्मै०) **अरेक्ष्यत्, अरेक्ष्यताम्, अरेक्ष्यन्** । (आत्मने०) **अरेक्ष्यत, अरेक्ष्येताम्, अरेक्ष्यन्त** ।

उपसर्गयोग—अति √ रिच (कर्मणि) = बढ़-चढ़ कर होना, लाङ्घा हुआ होना, अधिक होना, (प्रायः पञ्चम्यन्त के साथ प्रयोग देखे जाते हैं। यथा—**अश्वमेध-सहस्रेभ्यः सत्यमेवाऽतिरिच्यते**—हितोप० ४.१३१)। अतिरेकः = अधिकता, अतिशय। व्यतिरेकः = आधिक्य (**उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः**—काव्यप्रकाश १०)। अतिरिक्त = अतिशयाधिक्ययुक्त (**सर्वाऽतिरिक्तसारेण**—रघु० १.१४)।

[लघु०] **विचिँर् पृथग्भावे** ॥६॥ विनक्ति; विङ्क्ते ॥

अर्थः—विचिँर् (विच्) धातु 'अलग करना, पृथक् करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—इस धातु को पूर्णतया रिचिँर् धातुवत् समझना चाहिए। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) **विनक्ति, विङ्क्तः, विञ्चन्ति** । (आत्मने०) **विङ्क्ते, विञ्चाते, विञ्चते** । लिँट्—(परस्मै०) **विवेच, विविचतुः, विविचुः** । (आत्मने०) **विविचे, विविचाते, विविचिरे** । लुँट्—(परस्मै०) **वेक्ता, वेक्तारौ, वेक्तारः** । **वेक्तासि**—। (आत्मने०) **वेक्ता, वेक्तारौ, वेक्तारः** । **वेक्तासे**—। लृँट्—(परस्मै०) **वेक्ष्यति, वेक्ष्यतः, वेक्ष्यन्ति** । (आत्मने०) **वेक्ष्यते, वेक्ष्येते, वेक्ष्यन्ते** । लोँट्—

(परस्मै०) विनक्तु-विङ्क्तात्, विङ्क्ताम्, विञ्चन्तु । (आत्मने०) विङ्क्ताम्, विञ्चाताम्, विञ्चताम् । लँङ्—(परस्मै०) अविनक्-अविनग्, अविङ्क्ताम्, अविञ्चन् । (आत्मने०) अविङ्क्त, अविञ्चाताम्, अविञ्चत । वि० लिँङ्—(परस्मै०) विञ्च्यात्, विञ्च्याताम्, विञ्च्युः । (आत्मने०) विञ्चीत, विञ्चीयाताम्, विञ्चीरन् । आ० लिँङ्—(परस्मै०) विच्यात्, विच्यास्ताम्, विच्यासुः । (आत्मने०) विक्षीष्ट, विक्षीयास्ताम्, विक्षीरन् । लुँङ्—(परस्मै०) अङ्पक्षे—अविचत्, अविचताम्, अविचन् । सिँच्पक्षे—अवैक्षीत्, अवैक्ताम्, अवैक्षुः ।(आत्मने०) अविक्त, अविक्षाताम्, अविक्षत । लृँङ्—(परस्मै०) अवेक्ष्यत्, अवेक्ष्यताम्, अवेक्ष्यन् ।(आत्मने०) अवेक्ष्यत, अवेक्ष्येताम्, अवेक्ष्यन्त ।

नोट—इस धातु का लोक और वेद में प्रायः 'वि' पूर्वक प्रयोग ही उपलब्ध होता है। यथा—**विविञ्चन्ति वनस्पतीन्**—ऋग्वेद १.३९.५; **विविनक्तु देवो वः सविता**—यजु० १.१६; **विविनच्मि दिवः सुरान्**—भट्टि० ६.३६ । विवेक, विवेकिन्, विवेचन, विवेचना आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं।

[लघु०] **क्षुदिँर् सम्पेषणे** ॥ ७ ॥ क्षुणत्ति; क्षुन्ते । क्षोत्ता । अक्षुदत्-अक्षौत्सीत्; अक्षुत्त ॥

अर्थः—क्षुदिँर् (क्षुद्) धातु 'मसलना—पीसना—रौंदना—चूर्ण करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1] ।

व्याख्या—यह धातु भी इरित् तथा स्वरितेत् है। स्वरितेत् होने से इसे उभयपदी, तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् समझना चाहिये। लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र (थल् में भी) इट् हो जाता है। इस की समग्र प्रक्रिया तथा रूपमाला 'छिदिँर्' धातुवत् चलती है—

लँट्—(परस्मै०) क्षुणत्ति, क्षुन्तः-क्षुन्त्तः, क्षुन्दन्ति । (आत्मने०) क्षुन्ते-क्षुन्त्ते, क्षुन्दाते, क्षुन्दते । लिँट्—(परस्मै०) चुक्षोद, चुक्षुदतुः, चुक्षुदुः । (आत्मने०) चुक्षुदे, चुक्षुदाते, चुक्षुदिरे। लुँट्—(परस्मै०) क्षोत्ता, क्षोत्तारौ, क्षोत्तारः । क्षोत्तासि—। (आत्मने०) क्षोत्ता, क्षोत्तारौ, क्षोत्तारः । क्षोत्तासे— । लृँट्—(परस्मै०) क्षोत्स्यति, क्षोत्स्यतः, क्षोत्स्यन्ति । (आत्मने०) क्षोत्स्यते, क्षोत्स्येते, क्षोत्स्यन्ते । लोँट्—(परस्मै०) क्षुणत्तु-क्षुन्तात्-क्षुन्त्तात्, क्षुन्ताम्-क्षुन्त्ताम्, क्षुन्दन्तु । (आत्मने०) क्षुन्ताम्-क्षुन्त्ताम्, क्षुन्दाताम्, क्षुन्दताम् । लँङ्—(परस्मै०)अक्षुणत्-अक्षुणद्, अक्षुन्ताम्-अक्षुन्त्ताम्, अक्षुन्दन् । (आत्मने०) अक्षुन्त-अक्षुन्त्त, अक्षुन्दाताम्, अक्षुन्दत । वि० लिँङ्—(परस्मै०) क्षुन्द्यात्, क्षुन्द्याताम्, क्षुन्द्युः । (आत्मने०) क्षुन्दीत, क्षुन्दीयाताम्,

---

१. इसी धातु से क्षोद(धूलि), क्षुण्ण(लताड़ा गया, पीसा गया), क्षुद्र, क्षौद्र (क्षुद्राभिः सरघाभिर्निर्वृत्तं क्षौद्रं मधु, अण्), क्षोदीयस्(ईयसुन्), क्षोदिष्ठ (इष्ठन्), क्षोदिमन् (पुं०, क्षुद्रता, सूक्ष्मता) आदि शब्द सिद्ध होते हैं।

क्षुन्दीरन् । आ० लिँङ्—(परस्मै०) क्षुद्यात्, क्षुद्यास्ताम्, क्षुद्यासुः । (आत्मने०) क्षुत्सीष्ट, क्षुत्सीयास्ताम्, क्षुत्सीरन् । लुँङ्—(परस्मै०) अङ्पक्षे—अक्षुदत्, अक्षुदताम्, अक्षुदन् । सिँच्पक्षे—अक्षौत्सीत्, अक्षौत्ताम्, अक्षौत्सुः । (आत्मने०) अक्षुत्त, अक्षुत्साताम्, अक्षुत्सत । लृँङ्—(परस्मै०) अक्षोत्स्यत्, अक्षोत्स्यताम्, अक्षोत्स्यन् । (आत्मने०) अक्षोत्स्यत, अक्षोत्स्येताम्, अक्षोत्स्यन्त ।

[लघु०] **उँच्छृदिँर् दीप्ति-देवनयोः ॥ ८ ॥** छृणत्ति; छृन्ते । चच्छर्द । **सेऽसिँचि०** (६३०) इति वेट्—चच्छृदिषे-चच्छृत्से । छर्दिता । छर्दिष्यति-छर्त्स्यति । अच्छृदत्-अच्छर्दीत्; अच्छर्दिष्ट ॥

अर्थः—उँच्छृदिँर् (छृद्) धातु 'चमकना और खेलना' अर्थों में प्रयुक्त होती है[1] ।

व्याख्या—उँच्छृदिँर् के आदि में उकार अनुनासिक होने से इत्सञ्ज्ञक है । अन्त्य इर् की भी पूर्ववत् इत्सञ्ज्ञा हो जाती है । अतः 'छृद्' मात्र अवशिष्ट रहता है । स्वरितेत् होने से इसे उभयपदी समझना चाहिये । इसे उदित् करने का प्रयोजन **'उदितो वा'** (८८२) द्वारा क्त्वा में इट् का विकल्प करना है—छृत्वा-छर्दित्वा [इट्पक्षे **'न क्त्वा सेट्'** (८८०) इति कित्त्वनिषेधाद् गुणः] । अनुदात्तों में परिगणित न होने से यह धातु सेट् है, परन्तु सिँच्भिन्न सकारादि आर्धधातुक प्रत्ययों में **'सेऽसिँचि कृतचृत०'** (६३०) द्वारा इट् का विकल्प हो जाता है ।

लँट्—(परस्मै०) **छृणत्ति, छृन्तः-छृन्त्तः, छृन्दन्ति** । (आत्मने०) **छृन्ते-छृन्त्ते, छृन्दाते, छृन्दते** । लिँट्—(परस्मै०) **चच्छर्द, चच्छृदतुः, चच्छृदुः** । (आत्मने०) **चच्छृदे, चच्छृदाते, चच्छृदिरे । चच्छृदिषे-चच्छृत्से**[2], **चच्छृदाथे, चच्छृदिध्वे । चच्छृदे, चच्छृदिवहे, चच्छृदिमहे** । लुँट्—(परस्मै०) **छर्दिता, छर्दितारौ, छर्दितारः । छर्दितासि**— । (आत्मने०) **छर्दिता, छर्दितारौ, छर्दितारः । छर्दितासे**— । लृँट्—(परस्मै०) **छर्दिष्यति-छर्त्स्यति** । (आत्मने०) **छर्दिष्यते-छर्त्स्यते** । लोँट्—(परस्मै०) **छृणत्तु-छृन्तात्-छृन्त्तात्, छृन्ताम्-छृन्त्ताम्, छृन्दन्तु** । (आत्मने०) **छृन्ताम्-छृन्त्ताम्, छृन्दाताम्, छृन्दताम्** । लँङ्—(परस्मै०) **अच्छृणत्, अच्छृन्ताम्-अच्छृन्त्ताम्, अच्छृन्दन्** । (आत्मने०) **अच्छृन्त-अच्छृन्त्त, अच्छृन्दाताम्, अच्छृन्दत** । वि० लिँङ्—(परस्मै०) **छृन्द्यात्, छृन्द्याताम्, छृन्द्युः** । (आत्मने०) **छृन्दीत, छृन्दीयाताम्, छृन्दीरन्** । आ०

---

१. शाकटायन, बोपदेव, तथा हेमचन्द्र आदि आचार्य इस धातु का 'वमन करना' अर्थ भी मानते हैं । आयुर्वेद के छर्दि (वमन) आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं ।

२. **'सेऽसिँचि०'** (६३०) से इट् का विकल्प हो जाता है, परन्तु जो लोग 'वा' के विषय में भी क्रादिनियम की प्रवृत्ति स्वीकार करते हैं उन के मत में केवल एक ही रूप बनेगा—चच्छृदिषे । ध्यान रहे कि लिँट्, लँङ्, लुँङ् और लृँङ् में **'छे च'** (१०१) द्वारा तुक् का आगम होकर श्चुत्व करने पर उसे चकार हो जाता है ।

लिङ्—(परस्मै०) छृद्यात्, छृद्यास्ताम्, छृद्यासुः । (आत्मने०) में 'सेऽसिचि०' से इट् का विकल्प, इट् के अभाव में 'लिङ्सिचावात्मने०' (५८६) से झलादि लिङ् के कित्त्व के कारण लघूपधगुण नहीं होता । इट्पक्ष में झलादि न रहने से कित्त्व नहीं होता अतः गुण निर्बाध हो जाता है। इट्पक्षे—**छर्दिषीष्ट, छर्दिषीयास्ताम्, छर्दिषीरन्** । इटोऽभावे—**छृत्सीष्ट, छृत्सीयास्ताम्, छृत्सीरन्** । लुङ्—(परस्मै०) अङ्पक्षे—**अच्छृदत्, अच्छृदताम्, अच्छृदन्** । सिँच्पक्षे—**अच्छर्दीत्, अच्छर्दिष्टाम्, अच्छर्दिषुः** । (आत्मने०) **अच्छर्दिष्ट, अच्छर्दिषाताम्, अच्छर्दिषत** । लृङ्—(परस्मै०) **अच्छर्दिष्यत्-अच्छर्त्स्यत्** । (आत्मने०) **अच्छर्दिष्यत-अच्छर्त्स्यत** ।

[लघु०] **उँतृदिँर् हिंसाऽनादरयोः ॥९॥ तृणत्ति, तृन्ते ॥**

अर्थः—उँतृदिँर् (तृद्) धातु 'हिंसा करना और अनादर करना' अर्थों में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्वपठित उँच्छृदिँर् धातु की तरह उदित्, इरित्, उभयपदी तथा सेट् है । इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया पूर्ववत् जाननी चाहिये ।

लँट्—(परस्मै०) **तृणत्ति** । (आत्मने०) **तृन्ते** । लिँट्—(परस्मै०) **ततर्द** । (आत्मनै०) **ततृदे** । लुँट्—(परस्मै०) **तर्दिता, तर्दितारौ, तर्दितारः** । **तर्दितासि**—। (आत्मने०) **तर्दिता, तर्दितारौ, तर्दितारः** । **तर्दितासे**—। लृँट्—(परस्मै०) **तर्दिष्यति-तर्त्स्यति**[1] । (आत्मने०) **तर्दिष्यते-तर्त्स्यते** । लोँट्—(परस्मै०) **तृणत्तु-तृन्तात्** । (आत्मने०) **तृन्ताम्** । लँङ्—(परस्मै०) **अतृणत्-अतृणद्** ।(आत्मने०) **अतृन्त-अतृन्त** । वि० लिँङ्—(परस्मै०) **तृन्द्यात्** । (आत्मने०) **तृन्दीत** । आ० लिँङ्—(परस्मै०) **तृद्यात्** । (आत्मने०) **तर्दिषीष्ट-तृत्सीष्ट** । लुँङ्—(परस्मै०) **अतृदत्-अतर्दीत्** । (आत्मने०) **अतर्दिष्ट** । लृँङ्—(परस्मै०) **अतर्दिष्यत्-अतर्त्स्यत्** । (आत्मने०) **अतर्दिष्यत-अतर्त्स्यत** ।

यहां तक रुध् के अनुरोध से पहले उभयपदी धातुओं का वर्णन किया गया है। अब परस्मैपदी धातुओं का वर्णन प्रारम्भ होता है—

[लघु०] **कृतीँ वेष्टने ॥१०॥ कृणत्ति ॥**

अर्थः—कृतीँ (कृत्) धातु 'वेष्टन करना या लपेटना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2] ।

---

१. 'सेऽसिचि०' (६३०) से पूर्ववत् इट् का विकल्प होता है ।

२. यहाँ 'वेष्टन' का अभिप्राय 'कातना' ही है । कातने में रुई आदि का वेष्टन ही होता है । वर्तमान लौकिकसाहित्य में इसके प्रयोग कम मिलते हैं । पर वैदिक साहित्य में इस का कई स्थानों पर प्रयोग देखा जाता है । यथा—**या अकृन्तन् अवयन्—परिधत्स्व वासः** (अथर्ववेद १४.१.४५) । तर्कु (तकला, कातने के साधन चर्खे की शलाका) शब्द इसी धातु से वर्णव्यत्ययद्वारा निष्पन्न होता है ।

व्याख्या—इस धातु का अन्त्य ईकार उदात्त तथा अनुनासिक है, इत्सञ्ज्ञा कर लोप करने से 'कृत्' मात्र अवशिष्ट रहता है। उदात्तेत् होने से यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है। परन्तु 'सेऽसिँचि कृतचृत०' (६३०) सूत्र में उल्लेख होने से सिँच्-भिन्न सकारादि आर्धधातुक प्रत्ययों में इस से परे वैकल्पिक इट् हो जाता है।

लँट्—कृणत्ति, कृन्त्तः-कृन्तः, कृन्तन्ति। लिँट्—चकर्त, चकृततुः, चकृतुः। लुँट्—कर्तिता, कर्तितारौ, कर्तितारः। लृँट्—(इट्पक्षे) कर्तिष्यति, कर्तिष्यतः, कर्तिष्यन्ति। (इटोऽभावे) कर्त्स्यति, कर्त्स्यतः, कर्त्स्यन्ति। लोँट्—कृणत्तु-कृन्त्तात्-कृन्तात्, कृन्ताम्-कृन्त्ताम्, कृन्तन्तु। लँङ्—अकृणत्-अकृणद्, अकृन्ताम्-अकृन्त्ताम्, अकृन्तन्। वि० लिँङ्—कृन्त्यात्, कृन्त्याताम्, कृन्त्युः। आ० लिँङ्—कृत्यात्, कृत्यास्ताम्, कृत्यासुः। लुँङ्—अकर्तीत्, अकर्तिष्टाम्, अकर्तिषुः। लृँङ्—(इट्पक्षे) अकर्तिष्यत्। (इटोऽभावे) अकर्त्स्यत्।

[लघु०] तृह हिसिँ हिंसायाम् ॥११॥१२॥

अर्थः—तृह (तृह्) और हिसिँ (हिन्स्) धातु 'हिंसा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती हैं।

व्याख्या—तृह में अन्त्य अकार उच्चारणार्थ अथवा उदात्तानुनासिक है। परन्तु हिसिँ का अन्त्य इकार उदात्तानुनासिक ही है। इस प्रकार 'तृह्' और 'हिस्' मात्र अवशिष्ट रह जाता है। आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण दोनों धातुएं परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् हैं। प्रथम तृह् धातु की प्रक्रिया यथा—

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में श्नम् करने पर 'तृनह्+ति' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६७) तृणह इम् ।७।३।९२॥

तृहः श्नमि कृते इमागमो हलादौ पिति सार्वधातुके। तृणेढि, तृण्ढः। ततर्ह। तर्हिता। अतृणेट्॥

अर्थः—हलादि पित् सार्वधातुक परे होने पर तृह् धातु से श्नम् कर चुकने पर इम् का आगम हो।

व्याख्या—तृणहः ।६।१। इम् ।१।१। पिति ।७।१। सार्वधातुके ।७।१। ('नाऽभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' से)। हलि ।७।१। ('उतो वृद्धिर्लुकि हलि' से)। 'हलि' यह 'सार्वधातुके' का विशेषण है अतः तदादिविधि होकर 'हलादौ सार्वधातुके' बन जाता है। 'तृणहः' यह श्नम् की हुई तृह् धातु (तृणह्) का षष्ठ्यन्त रूप है। श्नम्-युक्त के ग्रहण का तात्पर्य यह है कि श्नम् प्रत्यय हो चुकने पर इस सूत्र से इम् का

आगम हो[1] । अर्थः—(तृणहः) श्नम्युक्त जो तृह् उस का अवयव (इम्) इम् हो जाता है (हलादौ पिति सार्वधातुके) हलादि पित् सार्वधातुक परे हो तो । इम् में मकार इत्सञ्ज्ञक है अतः मित् होने से यह अन्त्य अच् से परे किया जायेगा ।

'तृनह् + ति' यहां 'तिप्' यह हलादि पित् सार्वधातुक परे विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से श्नम्युक्त तृह् अर्थात् तृनह् को इम् का आगम करने पर—तृन + इम् + ह् + ति । इम् के मकार का लोप कर **'आद् गुणः'** (२७) से गुण किया तो—तृनेह् + ति । **'हो ढः'** (२५१) से हकार को ढकार, **'झषस्तथोर्धोऽधः'** (५४९) से 'ति' के तकार को धकार तथा **'ष्टुना ष्टुः'** (६४) से ष्टुत्व द्वारा धकार को भी ढकार करने पर—तृनेढ् + ढि । अब **'ढो ढे लोपः'** (५५०) से प्रथम ढकार का लोप होकर **'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्'** (वा० २१) से णत्व किया यो 'तृणेढि' रूप सिद्ध हुआ ।

तस् प्रत्यय पित् नहीं अतः इस के परे रहते तृनह् को इम् का आगम नहीं होता—तृनह् + तस् । **'श्नसोरल्लोपः'** (५७४) से श्नम् के अकार का लोप होकर—तृन्ह् + तस् । पूर्ववत् ढत्व, धत्व और ष्टुत्व करने पर—तृन्ढ् + ढस् । अब ढोढेलोप कर नकार को अनुस्वार तथा परसवर्ण किया तो 'तृण्ढः' प्रयोग सिद्ध हुआ ।

प्र० पु० के बहु० में झि के झकार को अन्त् आदेश, श्नम् के अकार का लोप तथा नकार को अनुस्वार करने पर—तृंहन्ति । म० पु० के एक० सिप् में इम् का आगम होकर 'तृनेह् + सि' इस स्थिति में ढत्व, **'षढोः कः सि'** (५४८) से ढकार को ककार, **'आदेशप्रत्यययोः'** (१५०) से सिप् के सकार को षकार तथा क्ष् योग से क्ष् करने पर—तृणेक्षि । इसी प्रकार मिप् में = तृणेह्मि । लँट् में रूपमाला यथा—**तृणेढि, तृण्ढः, तृंहन्ति । तृणेक्षि, तृण्ढः, तृण्ढ । तृणेह्मि[2], तृंह्वः, तृंह्मः ।**

लिँट्—**ततर्ह, ततृहतुः, ततृहुः । ततर्हिथ, ततृहथुः, ततृह । ततर्ह, ततृहिव ततृहिम ।** लुँट्—**तर्हिता, तर्हितारौ, तर्हितारः ।** लृँट्—**तर्हिष्यति, तर्हिष्यतः, तर्हिष्यन्ति ।** लोँट्—**तृणेढु[3]-तृण्ढात्[4], तृण्ढाम्, तृंहन्तु । तृण्ढि[5]-तृण्ढात्, तृण्ढम्, तृण्ढ ।**

---

१. यदि श्नम् का बीच में ग्रहण न करते तो इम् को श्नम् का अपवाद समझा जा सकता था । अथवा अपवाद न भी समझा जाता तो भी पहले इम् और बाद में श्नम् करने पर अनिष्ट रूप बन सकता था । अब श्नम्युक्त निर्देश के कारण पहले श्नम् और बाद में इम् का होना सुस्पष्ट हो जाता है ।

२. **न तृणेह्मीति लोकोऽयं मां विन्ते निष्पराक्रमम्**—भट्टि० ६.३९ ।

३. **तृणेढु रामः सह लक्ष्मणेन**—भट्टि० १.१९ ।

४. तातङ् ङित् है, अतः **'ङिच्च पिन्न'** के अनुसार वह पित् नहीं । पित् परे न होने से इम् का आगम नहीं होता, 'तृण्ढः' की तरह प्रक्रिया होती है ।

५. यहां **'सेर्ह्यपिच्च'** (४१५) से 'हि' अपित् है अतः इम् का आगम नहीं होता । 'तृण्ढः' की तरह 'तृण्ढि' की सिद्धि होती है ।

तृणहानि, तृणहाव, तृणहाम[1]।

लँङ्—में 'अतृनह्+त्' इस स्थिति में 'हल्ङ्याब्भ्यः०' (१७६) से अपृक्त तकार का लोप हो जाता है। तब प्रत्ययलक्षण द्वारा उसे मान कर इम् का आगम होकर पदान्त में ढत्व, जश्त्व, णत्व तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने पर 'अतृणेट्-अतृणेड्' दो रूप सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—**अतृणेट्-अतृणेड्**[2], **अतृण्ढाम्, अतृंहन्। अतृणेट्-अतृणेड्, अतृण्ढम्, अतृण्ढ। अतृणहम्, अतृंह्व, अतृंह्म।**

वि० लिँङ्—में यासुट् ङित् होता है। 'ङिच्च पिन्न' के अनुसार वह पित् नहीं होता अतः तिप्, सिप् और मिप् में इम् आगम का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता—**तृंह्यात्, तृंह्याताम्, तृंह्युः।**

आ० लिँङ्—**तृह्यात्, तृह्यास्ताम्, तृह्यासुः।** लुँङ्—**अतर्हीत्, अतर्हिष्टाम्, अतर्हिषुः।** लृँङ्—**अतर्हिष्यत्, अतर्हिष्यताम्, अतर्हिष्यन्।**

अब 'हिसिँ' धातु की प्रक्रिया आरम्भ करते हैं। यह धातु इदित् है अतः 'इदितो नुम् धातोः' (४६३) से सर्वप्रथम इसे नुम् का आगम होकर 'हिन्स्' बन जाता है।

लँट्—प्र० पु के एकवचन में 'हिन्स्+ति' इस दशा में 'रुधादिभ्यः श्नम्' (६६६) से श्नम् प्रत्यय होकर 'हिनन्स्+ति' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६८) श्नान्नलोपः ।६।४।२३॥

श्नमः परस्य नस्य लोपः स्यात्। हिनस्ति। जिहिंस। हिंसिता॥

अर्थः—श्नम् से परे नकार का लोप हो।

व्याख्या—श्नात् ।५।१। नलोपः ।१।१। नस्य लोपः—नलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः। श्नम् के मकार अनुबन्ध का लोप होकर 'श्न' रह जाता है, इसी का पञ्चम्यन्तरूप 'श्नात्' कहा गया है। **अर्थः**—(श्नात्) श्नम् से परे (नलोपः) नकार का लोप हो जाता है।

'हिनन्स्+ति' यहां प्रकृतसूत्र से श्नम् से परे नुम् वाले नकार का लोप होकर 'हिनस्ति' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी सार्वधातुक लकारों में श्नम् से परे नकार का लोप हो जाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यह सूत्र यहां सार्वधातुक लकारों में 'इदितो नुम् धातोः' (४६३) के किये कार्य पर पानी फेर देता है, वहां नुम् का सर्वथा लोप हो जाता है। लँट् में रूपमाला यथा—

---

१. समग्र उ० पु० में 'आडुत्तमस्य पिच्च' (४१८) द्वारा आट् का आगम पित् तो है परन्तु हलादि नहीं, अतः इम् का आगम नहीं होता।

२. अतृणेट् शक्रजिच्छत्रून्—भट्टि० १७.१५।

हिनस्ति[1], हिंस्तः, हिंसन्ति । हिनस्सि, हिंस्थः, हिंस्थ । हिनस्मि, हिंस्वः, हिंस्मः ।

लिँट्—जिहिंस, जिहिंसतुः, जिहिंसुः । जिहिंसिथ— । लुँट्—हिंसिता, हिंसितारौ, हिंसितारः । लृँट्—हिंसिष्यति, हिंसिष्यतः, हिंसिष्यन्ति । लोँट्—हिनस्तु-हिंस्तात्, हिंस्ताम्, हिंसन्तु । हिन्धि[2]-हिंस्तात्, हिंस्तम्, हिंस्त । हिनसानि, हिनसाव, हिनसाम ।

लँङ्—प्र० पु० के एकवचन में नुम्, श्नम् और नकार का लोप होकर 'अहिनस्+त्' इस स्थिति में अपृक्त तकार का हल्ङ्यादिलोप करने पर—'अहिनस्' हुआ। अब पदान्त में 'ससजुषो रुँः' (१०५) से रुँत्व प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम अपवादसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६६) तिप्यनस्तेः ।८।२।७३॥

पदान्तस्य सस्य दः स्यात् तिपि न तु अस्तेः । 'ससजुषो रुँः' (१०५) इत्यस्याऽपवादः । अहिनत्-अहिनद्, अहिंस्ताम्, अहिंसन् ॥

अर्थः—तिप् परे होने पर पदान्त सकार को दकार हो परन्तु अस् धातु के सकार को न हो । यह सूत्र 'ससजुषो रुँः' (१०५) का अपवाद है ।

व्याख्या—तिपि ।७।१। अनस्तेः ।६।१। सः ।६।१। ('ससजुषो रुँः' से)।पदस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। दः ।१।१। ('वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः' से)। दकारादकार उच्चारणार्थः । 'सः' यह 'पदस्य' का विशेषण है अतः तदन्तविधि होकर 'सान्तस्य पदस्य' बन जाता है । न अस्तिः—अनस्तिः, तस्य—अनस्तेः । अर्थः—(अनस्तेः) अस्भिन्न (सः=सान्तस्य) सकारान्त (पदस्य) पद के स्थान पर (दः) द् आदेश हो जाता है (तिपि) तिप् परे हो तो । अलोऽन्त्यपरिभाषा से सकारान्त पद के अन्त्य अल्—सकार के स्थान पर ही दकार आदेश होगा । यह सूत्र 'ससजुषो रुँः' से प्राप्त रुँत्व का अपवाद है ।

'अहिनस्' यहां प्रत्ययलक्षण द्वारा तिप् परे मौजूद है । अतः पदान्त सकार को प्रकृतसूत्र से दकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व-तकार करने पर 'अहिनत्-अहिनद्' दो रूप सिद्ध होते है ।

'पदान्त' कहने से 'हिनस्ति' आदियों में दत्व नहीं होता । 'अस्भिन्न' कहने से 'सलिलं सर्वम् आ इदम्' (ऋग्वेद १०.१२९.३) इत्यादि वैदिक प्रयोगों में तिप्

---

१. न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम्—गीता १३.२८ ।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः—मनु० २.१८० ।

२. नुम्, श्नम्, हित्व, धित्व तथा 'श्नान्नलोपः'(६६८)से नकार का लोप होकर 'हिनस्+धि' इस स्थिति में 'श्नसोरल्लोपः' (५७४) से अकार का लोप, 'धि च' (५१५) से सकार का लोप तथा अपदान्त नकार को अनुस्वार और परसवर्ण करने पर 'हिन्धि' प्रयोग सिद्ध होता है ।

परे रहते दत्व नहीं होता[1]।

लँङ्—प्र० पु० के द्विवचन और बहुवचन में—अहिंस्ताम्, अहिंसन्। यहां पूर्ववत् 'श्नसोरल्लोपः' (५७४) से श्नम् के अकार का लोप होकर नकार को अनुस्वार हो जाता है।

लँङ् म० पु० के एकवचन सिप् में 'अहिनस्+स्' यहां भी अपृक्त सकार का हल्ङ्यादिलोप हो जाता है—अहिनस्। परन्तु यहां तिप् परे नहीं अतः पूर्वसूत्रद्वारा दत्व नहीं हो सकता, रुँत्व ही प्राप्त है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६७०) सिपि धातो रुँर्वा ।८।२।७४॥

पदान्तस्य धातोः सस्य रुँः स्याद् वा (सिपि)। पक्षे दः। अहिनः-अहिनत्-अहिनद्॥

अर्थः—सिप् परे हो तो धातु के पदान्त सकार को विकल्प कर रुँ आदेश हो। **पक्षे दः**—पक्ष में दकारादेश भी हो।

व्याख्या—सिपि ।७।१। धातोः ।६।१। रुँः ।१।१। वा इत्यव्ययपदम्। पदस्य ।६।१। (इत्यधिकृतम्)।सः ।६।१। (**'ससजुषो रुँः'** से)। 'सः' यह 'धातोः' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि होकर 'सकारान्तस्य धातोः' बन जाता है। अर्थः—(सिपि) सिप् परे होने पर (पदस्य) पदसञ्ज्ञक (सः—सकारान्तस्य) सकारान्त (धातोः) धातु के स्थान पर (वा) विकल्प से (रुँः) रुँ आदेश हो[2]। अलोऽन्त्यपरिभाषा से सकारान्त धातु के अन्त्य अल्-सकार के स्थान पर ही रुँ आदेश किया जायेगा। रुँत्व के अभाव में सकार को दकार आदेश हो जायेगा[3]।

---

१. 'आः' यह वैदिक प्रयोग अस् धातु के लँङ् में प्र० पु० का एकवचन है। यहां अपृक्त तकार को **'अस्तिसिचोऽपृक्ते'** (४४५) से ईट् का आगम प्राप्त था जिस का **'बहुलं छन्दसि'** (७.३.९७) से निषेध हो गया। तब आट् का आगम, वृद्धि तथा पदान्त सकार को रुँत्व-विसर्ग करने पर 'आः' प्रयोग सिद्ध होता है।

२. यदि यहां **'सिपि वा'** सूत्र बना देते तो भी काम चल सकता था, क्योंकि पूर्वसूत्र में जिस दत्व का विधान किया गया था वह सिप् में विकल्प हो जाता और दत्व के अभाव में अपने आप **'ससजुषो रुँः'** (१०५) से रुँत्व हो कर यथेष्ट रूप सिद्ध हो सकते थे। इस का उत्तर यह है कि यहां तो काम चल सकता था परन्तु आगे **'दश्च'** आदि सूत्रों में 'धातोः' और 'रुँः' पदों के अनुवर्त्तन की आवश्यकता थी अतः मुनि ने वैसा न कर यह मार्ग अपनाया है।

३. मूल में **'पक्षे दः'** लिखा है। इस की विद्वान् लोग दो प्रकार से व्याख्या करते हैं। प्राचीन वैयाकरणों के अनुसार यहां **'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः'** (२६२) सूत्र से 'दः' का भी अनुवर्त्तन होता है, अतः सूत्रगत 'वा' को समुच्चयवाचक मानकर 'पर्याय से रुँत्व और दत्व हों' ऐसा अर्थ कर लिया जाता है। परन्तु नागेशभट्ट आदि नवीन

'अहिनस्' यहाँ प्रत्ययलक्षण के द्वारा सिप् प्रत्यय परे विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से पदान्त सकार को विकल्प से रुँत्व होकर उकारानुबन्ध का लोप तथा **'खरवसानयोः०'** (९३) से रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'अहिनः' रूप सिद्ध होता है। रुँत्व के अभाव में **'झलां जशोऽन्ते'** (६७) से पदान्त सकार को जश्त्व-दकार तथा **'वाऽवसाने'** (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व-तकार करने पर 'अहिनत्-अहिनद्' रूप सिद्ध होते हैं। लँङ् में रूपमाला यथा—**अहिनत्-अहिनद्, अहिंस्ताम्, अहिंसन्। अहिनः-अहिनत्-अहिनद्, अहिंस्तम्, अहिंस्त। अहिनसम्, अहिंस्व, अहिंस्म।**

वि० लिँङ्—**हिंस्यात्**[1], **हिंस्याताम्, हिंस्युः**। आ० लिँङ्—धातु के इदित् होने के कारण नुम् के नकार का 'अनिदितां हलः०'(३३४) से लोप नहीं होता—**हिंस्यात्**[2], **हिंस्यास्ताम्, हिंस्यासुः**। लुँङ्—**अहिंसीत्, अहिंसिष्टाम्, अहिंसिषुः**। लृँङ्—**अहिंसिष्यत्, अहिंसिष्यताम्, अहिंसिष्यन्**[3]।

[लघु०] **उन्दी॑ क्लेदने** ॥१३॥ उनत्ति, उन्तः, उन्दन्ति। उन्दाञ्चकार। औनत्-औनद्, औन्ताम्, औन्दन्। औनः-औनत्-औनद्। औनदम्॥

अर्थः—उन्दी॑ (उन्द्) धातु 'गीला करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[4]।

व्याख्या—यह धातु ईदित् है। उदात्तेत् होने से परस्मपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है। इसे ईदित् करने का फल **'श्वीदितो निष्ठायाम्'**

वैयाकरणों का कहना है कि यहां 'दः' के अनुवर्त्तन की आवश्यकता नहीं, जिस पक्ष में रुँत्व न होगा वहाँ **'झलां जशोऽन्ते'** (६७) से अपने आप दत्व हो जायेगा। इस लिये कहीं कहीं लघुकौमुदी के संस्करणों में **'पक्षे दः'** न होकर **'पक्षे झलां जशोऽन्त इति दत्वम्'** ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता है।

वेदाङ्गप्रकाश (आख्यातिक) के संशोधकों को यहां महती भ्रान्ति हुई है। वे यहां 'पक्ष में पूर्वसूत्र (**तिप्यनस्तेः**) से दकार होता है' ऐसा लिखते हैं जो नितान्त अशुद्ध है। सौभाग्य से **श्रीपं०युधिष्ठिर मीमांसक जी** द्वारा संशोधित संस्करण में वह पाठ हटा कर विद्यार्थियों का परमोपकार किया गया है।

१. **मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि**—साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी।

२. ध्यान रहे कि विधिलिँङ् के 'हिंस्यात्' में अनुस्वार श्नम् से उत्पन्न होता हैं परन्तु आशीर्लिँङ् में नुम् से।

३. इसी धातु से हिंसा, हिंसक, हिंस्र, सिंह (हिनस्तीति सिंहः, अच्, पृषोदरादित्वाद् वर्णविपर्ययः) आदि शब्द निष्पन्न होते हैं।

४. इस धातु के तिङन्त प्रयोग लोक में विरल है (**याः पृथिवीं पयसोन्दन्ति**—आप्टे; **पयसा वस्त्रमुनत्ति**—**कविकल्पद्रुम**) परन्तु इस धातु से बने उदक, उदधि, ओदन, इन्दु आदि शब्द बहुत प्रचलित हैं। इस से बने शब्द भारोपीय भाषाओं में भी पाये जाते हैं।

(७.२. ४१) द्वारा निष्ठा में इट् का निषेध करना है—उत्तः, उन्नः ('नुदविदोन्दत्रा-घ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम्' ८.२.५६ इति वा नत्वम्)। सार्वधातुक लकारों में श्नम् करने पर इस के अपने नकार का 'श्नान्नलोपः' (६६८) से लोप हो जाता है।

लँट्—उनत्ति, उन्तः-उन्त्तः, उन्दन्ति। लिँट्—में 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (५११) से आम् हो जाता है—उन्दाञ्चकार-उन्दाम्बभूव-उन्दामास आदि। लुँट्—उन्दिता, उन्दितारौ, उन्दितारः। लृँट्—उन्दिष्यति, उन्दिष्यतः, उन्दिष्यन्ति। लोँट्—उनत्तु-उन्तात्-उन्त्तात्, उन्ताम्-उन्त्ताम्, उन्दन्तु। उन्धि-उन्द्धि-उन्तात्-उन्त्तात्—। लँङ्—में आट् का आगम हो कर 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि हो जाती है—औनत्-औनद्[1], औन्ताम्-औन्त्ताम्, औन्दन्। औनः[2]-औनत्-औनद्, औन्तम्-औन्त्तम्, औन्त-औन्त्त। औनदम्, औन्द्व, औन्द्म। वि० लिँङ्—उन्द्यात्, उन्द्याताम्, उन्द्युः। आ० लिँङ्—यह धातु इदित् नहीं अतः 'अनिदितां हलः०' (३३४) से उपधा के नकार का लोप हो जाता है—उद्यात्, उद्यास्ताम्, उद्यासुः। लुँङ्—औन्दीत्, औन्दिष्टाम्, औन्दिषुः। लृँङ्—औन्दिष्यत्, औन्दिष्यताम्, औन्दिष्यन्।

[लघु०] **अञ्जूँ व्यक्ति-म्रक्षण-कान्ति-गतिषु** ॥१४॥ अनक्ति, अङ्क्तः, अञ्जन्ति। आनञ्ज। आनञ्जिथ-आनङ्क्थ। अञ्जिता-अङ्क्ता। अङ्ग्धि। अनजानि। आनक्॥

अर्थः—अञ्जूँ (अन्ज्) धातु 'विवेचन करना, स्निग्ध करना, चमकना, गमन करना' अर्थों में प्रयुक्त होती है[3]।

व्याख्या—यह धातु ऊदित् है अतः 'स्वरतिसूति०' (४७६) द्वारा वेट् है। उदात्तेत् होने से इसे परस्मैपदी समझना चाहिये। ध्यान रहे कि इस धातु की उपधा में नकार है जो श्चुत्व के कारण ञकार बना हुआ है (नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु—देखें पीछे पृष्ठ-२५०)। सार्वधातुक लकारों (लँट्, लोँट्, लँङ् और वि० लिँङ्) में श्नम् से परे 'श्नान्नलोपः' (६६८) द्वारा इस के अपने नकार का लोप हो जाता है।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में श्नम् और 'श्नान्नलोपः' (६६८) से नकार

---

१. औनत्-द्—हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्.. हल्ङ्यादिलोप, श्नान्नलोपः, वाऽवसाने।

२. औनः—'दश्च' (५७३) से वैकल्पिक रुँत्व, पक्ष में 'वाऽवसाने' से चर्त्व।

३. क्षीरस्वामी इस का 'कान्ति' अर्थ नहीं पढ़ते। जैनेन्द्र, शाकटायन और बोपदेव के व्याकरणों में भी यह अर्थ पढ़ा नहीं गया। सम्भवतः वे लोग 'म्रक्षण' में 'कान्ति' का अन्तर्भाव मानते होंगे। इसी धातु से ही अञ्जलि, अञ्जन, अञ्जना, व्यञ्जन, व्यञ्जना, व्यङ्ग्य, व्यक्त, व्यक्ति, आदि शब्द बनते हैं। लेटिन् जर्मन आदि भारोपीय भाषाओं में भी इस धातु के म्रक्षणार्थ में प्रयोग पाये जाते हैं। हिन्दी के 'आञ्जना' में भी यही धातु काम कर रही है।

का लोप होकर 'चोः कुः' (३०६) से कुत्व तथा 'खरि च' (७४) से चर्त्वं करने पर—अनक्ति। द्विवचन में 'अनज्+तस्' इस स्थिति में 'श्नसोरल्लोपः' (५७४) से श्न के अकार का लोप, जकार को कुत्व, चर्त्व तथा नकार को अनुस्वार और परसवर्ण करने पर—अङ्क्तः। बहुवचन में—अञ्जन्ति, कुत्व और चर्त्व नहीं होता। रूपमाला यथा—**अनक्ति, अङ्क्तः, अञ्जन्ति। अनक्षि, अङ्क्थः, अङ्क्थ। अनज्मि, अञ्ज्वः, अञ्ज्मः।**

लिँट्—में 'अत आदेः' (४४३) से अभ्यास के अत् को दीर्घ होकर 'आ+अञ्ज्+अ' इस स्थिति में 'तस्मान्नुड् द्विहलः' (४६४) से नुट् का आगम हो जाता है—**आनञ्ज, आनञ्जतुः, आनञ्जुः। आनञ्जिथ-आनङ्क्थ, आनञ्जथुः, आनञ्ज। आनञ्ज, आनञ्जिव-आनञ्ज्व, आनञ्जिम-आनञ्ज्म**[1]।

लुँट्—(इट्पक्षे) **अञ्जिता, अञ्जितारौ, अञ्जितारः।** (इटोऽभावे) **अङ्क्ता, अङ्क्तारौ, अङ्क्तारः।** लृँट्—(इट्पक्षे) **अञ्जिष्यति, अञ्जिष्यतः, अञ्जिष्यन्ति।** (इटोऽभावे) **अङ्क्ष्यति, अङ्क्ष्यतः, अङ्क्ष्यन्ति।** लोँट्—**अनक्तु-अङ्क्तात्, अङ्क्ताम्, अञ्जन्तु। अङ्ग्धि-अङ्क्तात्—।** लँङ्—**आनक्-आनग्, आङ्क्ताम्, आञ्जन्। आनक्-आनग्—।** वि० लिँङ्—**अञ्ज्यात्, अञ्ज्याताम्, अञ्ज्युः।** आ० लिँङ्—में श्नम् नहीं होता। धातु के उपधाभूत नकार का 'अनिदितां हल:०' (३३४) से लोप हो जाता है—**अज्यात्, अज्यास्ताम्, अज्यासुः।**

लुँङ्—में 'स्वरतिसूति०' (४७६) द्वारा इट् का विकल्प प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से नित्य विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६७१) अञ्जेः सिँचि ।७।२।७१॥

अञ्जेः सिँचो नित्यमिट् स्यात्। आञ्जीत्॥

अर्थः—अञ्ज् धातु से परे सिँच् को नित्य इट् का आगम हो।

व्याख्या—अञ्जेः ।५।१। सिँचि ।७।१। इट् ।१।१। ('इडत्त्यर्ति०' से)। इट् का आगम वलादि आर्धधातुक को ही हुआ करता है अतः 'सिँचि' का विभक्ति-विपरिणाम कर 'सिँचः' बना लिया जाता है। अर्थः—(अञ्जेः) अञ्ज् धातु से परे (सिँचः) सिँच् का अवयव (इट्) इट् हो जाता है। ऊदित् होने से अञ्ज् धातु से परे पाक्षिक इट् तो प्राप्त है ही अतः इस के विधानसामर्थ्य से नित्य इट् हो जायेगा।

'अञ्ज्+स्+ईत्' यहां प्रकृतसूत्र से सिँच् को नित्य इट् हो कर 'इट ईटि' (४४६) से सकार का लोप, उस के सिद्धवत् होने से सवर्णदीर्घ, आट् का आगम तथा

---

१. 'स्वरतिसूति०' (४७६) से इट् का विकल्प हो जाता है। जो लोग 'वा' के विषय में भी क्रादिनियम को बलवान् मानते हैं उन के मत में थल्, वस् और मस् में केवल एक एक रूप बनेगा—आनञ्जिथ, आनञ्जिव, आनञ्जिम। एतद्विषयक टिप्पण पीछे पृष्ठ १६२ पर देखें।

वृद्धि करने पर[1] 'आञ्जीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—आञ्जीत्, आञ्जिष्टाम्, आञ्जिषुः।

लृँङ्—(इट्पक्षे) आञ्जिष्यत्, आञ्जिष्यताम्, आञ्जिष्यन्। (इटोऽभावे) आङ्क्ष्यत्, आङ्क्ष्यताम्, आङ्क्ष्यन्।

उपसर्गयोग—वि√अञ्ज्=व्यक्त करना, प्रकट करना, ज़ाहिर करना (अकिञ्चनत्वं मखजं व्यनक्ति—रघु० ५.१६)।

अभि√अञ्ज्=मालिश करना, चुपड़ना, तैलादि से स्निग्ध करना। यथा—

स्नेहाभ्यङ्गाद् यथा कुम्भश्चर्म स्नेहविमर्दनात्।

तथा शरीरमभ्यङ्गाद् दृढं सुत्वक् प्रजायते—चरक सूत्र० अ० ५।

[लघु०] तञ्चूँ सङ्कोचने ॥१५॥ तनक्ति। तङ्क्ता-तञ्चिता॥

अर्थः—तञ्चूँ (तन्च्) धातु 'संकुचित करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् ऊदित्, नकारोपध, परस्मैपदी तथा 'स्वरति-सूति०' (४७६) से वेट् है। इस की प्रक्रिया भी अञ्ज् धातु की तरह होती है, परन्तु 'खरि च' (७४) से चर्त्व तथा लुँङ् में इट् का नित्यत्व नहीं होता। रूपमाला यथा—

लँट्—तनक्ति, तङ्क्तः, तञ्चन्ति[2]। लिँट्—ततञ्च, ततञ्चतुः, ततञ्चुः। लुँट्—तञ्चिता-तङ्क्ता। लृँट्—तञ्चिष्यति-तङ्क्ष्यति। लोँट्—तनक्तु-तङ्क्तात्, तङ्क्ताम्, तञ्चन्तु। तङ्ग्धि-तङ्क्तात्—। लँङ्—अतनक्-अतनग्, अतङ्क्ताम्, अतञ्चन्। वि० लिँङ्—तञ्च्यात्, तञ्च्याताम्, तञ्च्युः। आ० लिँङ्—तच्यात्, तच्यास्ताम्, तच्यासुः। लुँङ्—अतञ्चीत्-अताङ्क्षीत्[3]। लृँङ्—अतञ्चिष्यत्-अतङ्क्ष्यत्।

उपसर्गयोग—आ√तञ्च्=कड़ा करना (सोमेनातनच्मि—यजु० १.४; आतनक्ति [दुग्धं दध्ना]—कात्या० श्रौ० ४.३.२३)।

[लघु०] ओँविजीँ भयचलनयोः ॥१६॥ विनक्ति। 'विज इट्' (६६५) इति ङित्त्वम्—विविजिथ। विजिता। अविनक्। अविजीत्॥

अर्थः—ओँविजीँ (विज्) धातु 'डरना या डर से कांपना' अर्थों में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—इस धातु का वर्णन तुदादिगण के अन्त में किया जा चुका है। वहां यह धातु अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी थी परन्तु यहां उदात्तेत् होने से परस्मैपदी

---

१. आटश्च (१९७)। हलन्तलक्षणा वृद्धि का तो 'नेटि' (४७७) द्वारा निषेध हो जाता है— मा भवान् अञ्जीत्।

२. तनच्मि व्योम विस्तृतम्—भट्टि० ६.३८।

३. इट् के अभाव में 'वदव्रज०' (४६५) से वृद्धि हो जाती है, परन्तु इट्पक्ष में 'नेटि' (४७७) से निषेध होता है।

है । सार्वधातुक लकारों को छोड़ कर इस की प्रक्रिया उसी तरह चलती है । सार्वधातुक लकारों में श्नम् विकरण विशेष है । ध्यान रहे कि यहां भी पूर्ववत् **'विज इट्'** (६६५) द्वारा इडादिप्रत्यय ङिद्वत् हो जाते हैं । अतः उन के परे रहते लघूपधगुण का निषेध हो जाता है । रूपमाला यथा—

लँट्—**विनक्ति, विङ्क्तः, विञ्जन्ति** । लिँट्—**विवेज, विविजतुः, विविजुः** । लुँट्—**विजिता** । लृँट्—**विजिष्यति** । लोँट्—**विनक्तु-विङ्क्तात्, विङ्क्ताम्, विञ्जन्तु । विङ्ग्धि-विङ्क्तात्**— । लँङ्—**अविनक्-अविनग्, अविङ्क्ताम्, अविञ्जन्** । वि० लिँङ्—**विञ्ज्यात्, विञ्ज्याताम् विञ्ज्युः** । आ० लिँङ्—**विज्यात्, विज्यास्ताम्, विज्यासुः** । लुँङ्—**अविजीत्, अविजिष्टाम्, अविजिषुः** । लृँङ्—**अविजिष्यत्** ।

उपसर्गयोग—इस का प्रयोग भी प्रायः उद्पूर्वक हुआ करता है—**उद्विनक्ति च संसारात्** (कविकल्पद्रुमटीका) ।

[लघु०] **शिष्लृँ विशेषणे ॥१७॥** शिनष्टि, शिंष्टः, शिंषन्ति । शिनक्षि । शिशेष । शिशेषिथ । शेष्टा । शेक्ष्यति । हेर्धिः—शिण्ढि । शिनषाणि । अशिनट् । शिष्यात् । शिष्यात् । अशिषत् ॥

अर्थः—शिष्लृँ (शिष्) धातु 'विशेषित करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1] ।

व्याख्या—शिष्लृँ में अन्त्य लृकार अनुनासिक है, अतः इत्सञ्ज्ञक होकर लुप्त हो जाता है, 'शिष्' मात्र अवशिष्ट रहता है । उदात्तेत् होने से यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है । लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र (थल् में भी) इट् का आगम हो जाता है । लृदित् करने का प्रयोजन लुँङ् में **'पुषादि०'** (५०७) से च्लि को अङ् आदेश करना है—अशिषत् ।

लँट्—प्र०पु० के एकवचन में तिप्, श्नम्, अनुबन्धलोप और ष्टुत्व करने पर—शिनष्टि । द्विवचन में तस्, **'श्नसोरल्लोपः'** (५७४) से श्नम् के अकार का लोप होकर 'शिन्ष्+तस्' इस स्थिति में ष्टुत्व तथा नकार को अनुस्वार करने पर—शिंष्टः । बहुवचन में झि, श्नम्, **'झोऽन्तः'** (३८९) से अन्त् आदेश, अकार का लोप तथा अनुस्वार होकर—शिंषन्ति । सिप् में 'शिनष्+सि' इस स्थिति में **'षढोः कः सि'** (५४८) से षकार को ककार तथा उस से परे प्रत्यय के सकार को षकार होकर—शिनक्षि । रूपमाला यथा—**शिनष्टि, शिंष्टः, शिंषन्ति । शिनक्षि, शिंष्ठः, शिंष्ठ । शिनष्मि, शिंष्वः, शिंष्मः** ।

लिँट्—**शिशेष, शिशिषतुः, शिशिषुः । शिशेषिथ**— । लुँट्—में लघूपधगुण होकर ष्टुत्व हो जाता है—**शेष्टा, शेष्टारौ, शेष्टारः** । लृँट्—में लघूपधगुण, **'षढोः कः सि'** (५४८) से षकार को ककार तथा उससे परे स्य के सकार को मूर्धन्य षकार हो जाता है—**शेक्ष्यति, शेक्ष्यतः, शेक्ष्यन्ति** ।

---

१. यह धातु भ्वादिगण में 'हिंसा करना' अर्थ में तथा चुरादिगण में असर्वोपयोग (बाकी बचाना) अर्थ में पढ़ी गई है ।

लोँट्—प्र० पु० में लँट् की तरह प्रक्रिया होकर लोँट् के अपने विशिष्ट-कार्य उत्वादि हो जाते हैं—शिनष्टु-शिष्टात्, शिष्टाम्, शिषन्तु । म० पु० के एकवचन में सिप्, श्नम्, सि को हि आदेश तथा हि को अपित् होने के कारण ङिद्वत् मानकर श्नम् के अकार का लोप होकर—शिन्ष्+हि । अब 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (५५६) से हि को धि आदेश, ष्टुत्व से उसके धकार को ढकार, नकार को अनुस्वार तथा 'झलां जश् झशि' (१८) से षकार को डकार करने पर—शिंड्+ढि । अब अनुस्वार को परसवर्ण णकार और अन्त में—'झरो झरि सवर्णे' (७३) से डकार का वैकल्पिक लोप करने पर लोपपक्ष में 'शिण्ढि' तथा लोपाभावपक्ष में 'शिण्ड्ढि' ये दो रूप सिद्ध होते हैं[1] । रूपमाला यथा—शिनष्टु-शिष्टात्, शिष्टाम्, शिषन्तु । शिण्ढि-शिण्ड्ढि-शिष्टात्, शिष्टम्, शिष्ट । शिनषाणि, शिनषाव, शिनषाम ।

लँङ्—प्र० पु० के एकवचन में अपृक्त तकार का हल्ङ्यादिलोप होकर 'अशिनष्' इस स्थिति में 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से पदान्त षकार को डकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व-टकार करने पर— 'अशिनट्-अशिनड्' दो रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार सिप् में भी समझने चाहियें । रूपमाला यथा—अशिनट्-अशिनड्, अशिष्टाम्, अशिषन् । अशिनट्-अशिनड्, अशिष्टम्, अशिष्ट । अशिनषम्, अशिष्व, अशिष्म ।

वि० लिँङ्—शिष्यात्, शिष्याताम्, शिष्युः । आ० लिँङ्—शिष्यात्, शिष्यास्ताम्, शिष्यासुः । लुँङ्—(लृदित्त्वादङ्) अशिषत्, अशिषताम्, अशिषन् । लृँङ्—अशेक्ष्यत्, अशेक्ष्यताम्, अशेक्ष्यन् ।

उपसर्गयोग—वि √ शिष् = विशिष्ट करना, विशेषणयुक्त करना (यथा—तमेवाश्वं विशिनष्टि—मल्लिनाथः); युक्त करना (विशिनष्टि स्मरं मूर्त्या—कविकल्पद्रुमटीका); बढ़ाना, तेज़ करना (पुनरकाण्डविवर्त्तनदारुणो विधिरहो विशिनष्टि मनोरुजम्—मालतीमाधव ४.७; विशेषको वा विशिशेष यस्याः श्रियं त्रिलोकीतिलकः स एव—माघ ३.६३; कर्मणि—श्रेष्ठ होना, उत्तम होना, अच्छा होना (सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते—मनु० ४.२३३; तस्माद् दुर्गं विशिष्यते—हितोप० ३.५०; मौनात्सत्यं विशिष्यते—मनु० २.८३); णिजन्त—लांघना, अतिक्रमण करना (मदनमपि गुणैर्विशेषयन्ती—मृच्छकटिक ४.४) ।

---

१. अष्टाध्यायी का क्रम छूट जाने के कारण सूत्रों के पूर्वापर का बोध न रहने से अच्छे अच्छे वैयाकरण भी 'शिण्ढि, पिण्ढि' की सिद्धि में सूत्रों का प्रवृत्तिक्रम अशुद्ध कर बैठते हैं । शुद्धक्रम के लिये यह श्लोक कण्ठस्थ कर लेना चाहिये—

धित्वे ष्टुत्वेऽप्यनुस्वारे जश्त्वे परसवर्णता ।
सवर्णे च झरो लोपे शिण्ढि-पिण्ढीति जायते ॥

नागेशभट्ट के मत में यहां अष्टाध्यायी का क्रम कुछ भिन्न है । अतः उन के मत में अनुस्वार को परसवर्ण नहीं होता—शिंढि (देखें लघुशब्देन्दुशेखर) ।

अव √ शिष् (कर्मणि)=बाकी बचना, पीछे रह जाना, अवशिष्ट होना (पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते—उपनि०; यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते—गीता ७.२)।

उद् √ शिष् (कर्मणि)=जूठा किया जाना, उच्छिष्ट होना (नोच्छिष्टं कस्यचिद् दद्यात्—मनु० २.५६)।

निर् √ शिष् (णिजन्त)=निःशेष करना, समाप्त करना (निःशेषयति दानेन भाण्डागारं दिने दिने—कविकल्पद्रुमटीका)।

[लघु०] एवम्—पिष्लृँ सञ्चूर्णने ॥१८॥

अर्थः—पिष्लृँ (पिष्) धातु 'पीसना' अर्थ में प्रयुक्त होती है। इस के रूप भी 'शिष्लृँ' धातु की तरह चलते हैं।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् लृदित्, परस्मैपदी, अनिट् तथा क्रादिनियम से लिँट् में सेट् है। इसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया 'शिष्लृँ' धातु की तरह होती है कुछ भी विशेष नहीं। रूपमाला यथा—

लँट्—पिनष्टि[1], पिंष्टः, पिंषन्ति। लिँट्—पिपेष, पिपिषतुः, पिपिषुः। पिपेषिथ—। लुँट्—पेष्टा, पेष्टारौ, पेष्टारः। लृँट्—पेक्ष्यति, पेक्ष्यतः, पेक्ष्यन्ति। लोँट्—पिनष्टु-पिंष्टात्, पिंष्टाम्, पिंषन्तु। पिण्ढि-पिण्ड्ढि-पिंष्टात्—। लँङ्—अपिनट्-अपिनड्, अपिंष्टाम्, अपिंषन्। वि० लिँङ्—पिंष्यात्, पिंष्याताम्, पिंष्युः। आ० लिँङ्—पिष्यात्, पिष्यास्ताम्, पिष्यासुः। लुँङ्—अपिषत्, अपिषताम्, अपिषन्। लृँङ्—अपेक्ष्यत्, अपेक्ष्यताम्, अपेक्ष्यन्।

[लघु०] भञ्जोँ आमर्दने ॥ १९ ॥ श्नान्नलोपः (६६८)—भनक्ति। बभञ्जिथ-बभङ्क्थ। भङ्क्ता। भङ्ग्धि। अभाङ्क्षीत् ॥

अर्थः—भञ्जोँ (भन्ज्) धातु 'तोड़ना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु ओदित् है, 'भञ्ज्' मात्र अवशिष्ट रहता है। ओदित् करने का फल 'ओदितश्च' (८२०) द्वारा निष्ठा में तकार को नकार करना है—भग्नः, भग्नवान्। उदात्तेत् होने से यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है परन्तु अकार वाली धातु होने के कारण थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प होता है। यह धातु नकारोपध है, श्चुत्व से नकार को ञकार हुआ है (नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु—देखें पृष्ठ २५०)। अतः सार्वधातुक लकारों में श्नम् करने पर उस से परे 'श्नान्नलोपः' (६६८) द्वारा इस नकार का लोप हो जाता है।

लँट्—भनक्ति, भङ्क्तः, भञ्जन्ति। लिँट्—बभञ्ज, बभञ्जतुः[2], बभञ्जुः।

---

१. अथवा भवतः प्रवर्त्तना न कथं पिष्टमियं पिनष्टि नः—नैषध २.६१।

२. धातु संयोगान्त है अतः अतुस् आदि कित् नहीं होते। इसलिये 'अनिदितां

बभञ्जिथ-बभङ्क्थ— । लुँट्—भङ्क्ता । लृँट्—भङ्क्ष्यति । लोँट्—भनक्तु-भङ्क्तात्, भङ्क्ताम्, भञ्जन्तु । भङ्ग्धि[1]-भङ्क्तात्— । लँङ्—अभनक्-अभनग्, अभङ्क्ताम्, अभञ्जन् । वि० लिँङ्—भञ्ज्यात्, भञ्ज्याताम्, भञ्ज्युः । आ० लिँङ्—में 'अनिदितां हल:०' (३३४) से उपधा के नकार का लोप हो जाता है—भज्यात्, भज्यास्ताम्, भज्यासुः । लुँङ्—हलन्तलक्षणा वृद्धि होकर कुत्व और चर्त्व हो जाते हैं—अभाङ्क्षीत्, अभाङ्क्ताम्, अभाङ्क्षुः । लृँङ्—अभङ्क्ष्यत्, अभङ्क्ष्यताम्, अभङ्क्ष्यन् ।

[लघु०] भुज पालनाऽभ्यवहारयोः ॥२०॥ भुनक्ति । भोक्ता । भोक्ष्यति । अभुनक् ॥

अर्थः—भुज (भुज्) धातु 'पालन करना तथा भक्षण करना' अर्थों में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—भुज् में अन्त्य अकार उच्चारणार्थ वा उदात्त है । आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी है । परन्तु इस का परस्मैपदित्व केवल 'पालना' अर्थ तक सीमित है । 'भक्षण करना' अर्थ में 'भुजोऽनवने' (६७२) सूत्र द्वारा आत्मनेपद कहेंगे । अनुदात्तों में परिगणित होने से यह धातु अनिट् है परन्तु लिँट् में सर्वत्र (थल् में भी) क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है । परस्मै० में समस्त रूपमाला लुँङ् को छोड़ कर अन्यत्र 'युजिँर्' धातु की तरह होती है—

लँट्—भुनक्ति, भुङ्क्तः, भुञ्जन्ति । लिँट्—बुभोज, बुभुजतुः, बुभुजुः । लुँट्—भोक्ता । लृँट्—भोक्ष्यति । लोँट्—भुनक्तु-भुङ्क्तात्, भुङ्क्ताम्, भुञ्जन्तु । लँङ्—अभुनक्-अभुनग्, अभुङ्क्ताम्, अभुञ्जन् । वि० लिँङ्—भुञ्ज्यात्, भुञ्ज्याताम्, भुञ्ज्युः । आ० लिँङ्—भुज्यात्, भुज्यास्ताम्, भुज्यासुः । लुँङ्—में हलन्तलक्षणा वृद्धि हो जाती है—अभौक्षीत्, अभौक्ताम्, अभौक्षुः । लृँङ्—अभोक्ष्यत्, अभोक्ष्यताम्, अभोक्ष्यन् ।

यहां तक रुधादिगण की परस्मैपदी धातुओं का वर्णन किया गया है ।

अब आत्मनेपदी धातुओं का विवेचन प्रारम्भ होता है । सबसे पहले इसी भुज् धातु से आत्मनेपद का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६७२) भुजोऽनवने ।१।३।६६॥

तङानौ स्तः । ओदनं भुङ्क्ते । अनवने किम् ? महीं भुनक्ति ॥

अर्थः—'पालन करना' से भिन्न अर्थ में भुज् धातु से आत्मनेपद प्रत्यय हो ।

हल:०' (३३४) से उपधा के नकार का लोप भी नहीं होता ।

१. श्नम् तथा उस से परे नकार का लोप होकर 'भनज्+सि' इस अवस्था में 'सि' को 'हि', अकार का लोप, धित्व, कुत्व, अनुस्वार तथा परसवर्ण करने पर 'भङ्ग्धि' रूप सिद्ध होता है ।

व्याख्या—भुजः ।५।१। अनवने ।७।१। आत्मनेपदम् ।१।१। ('अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से) । अवनम् पालनम्, न अवनम्—अनवनम्, तस्मिन् अनवने । पालन-भिन्नेऽर्थ इति भावः । अर्थः—(अनवने) 'पालन करना' अर्थ से भिन्न अर्थ में (भुजः) भुज् धातु से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद हो । धातुपाठ में भुज् धातु के दो अर्थ कहे गये हैं—(१) पालन करना, (२) भक्षण करना । पालन अर्थ से भिन्न अर्थ अर्थात् भक्षण करना आदि अर्थों में भुज् धातु से आत्मनेपद का प्रयोग होता है । यथा —ओदनं भुङ्क्ते (भात खाता है) । यहां भुज् धातु का 'पालन करना' अर्थ नही अपितु 'भक्षण करना' अर्थ है अतः आत्मनेपद का प्रयोग हुआ है[1] । 'पालन करना' अर्थ में यथाप्राप्त परस्मैपद ही होगा । यथा—(नृपः) महीं भुनक्ति (राजा पृथिवी को पालता है) । यहां भुज् का 'पालन करना' अर्थ है अतः परस्मैपद हुआ है[2] । आत्मनेपद में भुज् की प्रक्रिया युज् के आत्मनेपदवत् होता है—

लँट्—भुङ्क्ते, भुञ्जाते, भुञ्जते[3] । लिँट्—बुभुजे, बुभुजाते, बुभुजिरे । लुँट्—भोक्ता, भोक्तारौ, भोक्तारः । भोक्तासे— । लृँट्—भोक्ष्यते । लोँट्—भुङ्क्ताम्, भुञ्जाताम्, भुञ्जताम् । भुङ्क्ष्व[4]— । लँङ्—अभुङ्क्त, अभुञ्जाताम्, अभुञ्जत । वि० लिँङ्—भुञ्जीत, भुञ्जीयाताम्, भुञ्जीरन् । आ० लिँङ्—भुक्षीष्ट, भुक्षीयास्ताम्, भुक्षीरन् । लुँङ्—अभुक्त, अभुक्षाताम्, अभुक्षत । लृँङ्—अभोक्ष्यत, अभोक्ष्येताम्, अभोक्ष्यन्त ।

उपसर्गयोग—उप√भुज्=उपभोग करना (किञ्चित्कालोपभोग्यानि यौवनानि धनानि च—पञ्च० २.११४); खाना-पीना (दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश—रघु० २.६५); भोग करना (या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते—पञ्च० २.१४१)।

---

१. 'भुजोऽनवने' की बजाय 'भुजोऽवने' भी कह सकते थे, इस में लाघव भी था । परन्तु आचार्य का यह अभिप्राय है कि धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं, पालन से भिन्न चाहे कोई अर्थ हो भुज् से आत्मनेपद ही हो । अतः—'वृद्धो नरो दुःखशतानि भुङ्क्ते' इत्यादियों में भुज् के 'सहना' अर्थ में भी आत्मनेपद सिद्ध हो जाता है । इसी प्रकार 'बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम्' (रघु० १५.१) इत्यादियों में समझना चाहिये ।

२. 'सह नौ भुनक्तु' (स परमात्मा नौ=आवां गुरुशिष्यौ, सह=युगपत्, भुनक्तु=पालयतु) इस औपनिषदप्रयोग में भी परस्मैपद के कारण पालन अर्थ है खाना वा भोगना अर्थ नहीं । 'सह नौ अवतु' में 'अव्' धातु तृप्ति आदि अर्थों में प्रयुक्त है रक्षणार्थ में नहीं । ध्यान रहे कि अव्धातु के धातुपाठ में १९ अर्थ दिये हुए हैं ।

३. भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्—गीता ३.१३ ।

४. हरीतकीं भुङ्क्ष्व राजन् मातेव हितकारिणीम् ।

[लघु०] **ञिइन्धी॑ दीप्तौ ॥२१॥** इन्धे, इन्धाते, इन्धते । इन्त्से । इन्ध्वे । इन्धाञ्चक्रे । इन्धिता । इन्धाम्, इन्धाताम् । इनधै । ऐन्ध, ऐन्धाताम् । ऐन्धाः ॥

अर्थः—ञिइन्धी॑ (इन्ध्) धातु 'दीप्त होना, चमकना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1] ।

व्याख्या—ञिइन्धी॑ के आदि में 'ञि' की **'आदिर्ञिटुडवः'** (४६२) से तथा अन्त्य अनुनासिक ईकार की **'उपदेशेऽजनु०'** (२८) से इत्सञ्ज्ञा होकर लोप हो जाता है । इस प्रकार 'इन्ध्' मात्र अवशिष्ट रहता है । अनुदात्तेत् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है । 'ञि' को इत् करने का प्रयोजन **'ञीतः क्तः'** (३.२.१८७) से वर्त्तमानकाल में क्तप्रत्यय करना तथा ईकार को इत् करने का प्रयोजन **'श्वीदितो निष्ठायाम्'** (७.२.१४) द्वारा निष्ठा में इट् का निषेध करना है—**इद्धः, समिद्धः** आदि । इस धातु में अपना नकार विद्यमान है अतः सार्वधातुक लकारों में श्नम् करने के बाद **'श्नान्नलोपः'** (६६८) द्वारा उस नकार का लोप होकर श्नम् के अकार का भी **'श्नसोरल्लोपः'** (५७४) से लोप हो जायेगा । तब यथासम्भव धत्व, जश्त्व तथा **'झरो झरि सवर्णे'** (७३) से झर् का वैकल्पिक लोप किया जायेगा । रूपमाला यथा—

लट्—**इन्धे-इन्द्धे, इन्धाते, इन्धते । इन्त्से, इन्धाथे, इन्ध्वे-इन्द्ध्वे । इन्धे, इन्ध्वहे, इन्ध्महे** । लिट्—में **'इजादेश्च०'** (५११) से आम् हो जाता है—**इन्धाञ्चक्रे-इन्धाम्बभूव-इन्धामास** आदि । लुट्—**इन्धिता, इन्धितारौ, इन्धितारः । इन्धितासे**—। लृट्—**इन्धिष्यते** । लोट्—**इन्धाम्-इन्द्धाम्, इन्धाताम्, इन्धताम् । इन्त्स्व, इन्धाथाम् इन्द्धाथाम्, इन्ध्वम्-इन्द्ध्वम् । इनधै, इनधावहै, इनधामहै** । लङ्—में आट् का आगम होकर **'आटश्च'** (१९७) से वृद्धि हो जाती है—**ऐन्ध-ऐन्द्ध, ऐन्धाताम्, ऐन्धत । ऐन्धाः-ऐन्द्धाः, ऐन्धाथाम्, ऐन्ध्वम्-ऐन्द्ध्वम् । ऐन्धि, ऐन्ध्वहि, ऐन्ध्महि** । वि० लिङ्—**इन्धीत, इन्धीयाताम्, इन्धीरन्** । आ० लिङ्—**इन्धिषीष्ट, इन्धिषीयास्ताम्, इन्धिषीरन्** । लुङ्—**ऐन्धिष्ट, ऐन्धिषाताम्, ऐन्धिषत** । लृङ्—**ऐन्धिष्यत, ऐन्धिष्येताम्, ऐन्धिष्यन्त** ।

नोट—इस धातु का प्रायः सम्पूर्वक प्रयोग देखा जाता है । यथा—**यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन**—गीता ४.३७; **समिन्धानोऽस्त्रकौशलम्**—भट्टि० ६.६७।

---

१. यह धातु वैदिकसाहित्य में बहुत प्रसिद्ध है (**पुत्र ईधे अथर्वणः**—ऋग्वेद ६.१६.१४) । लोक में इस का कहीं कहीं प्रयोग देखा जाता है (**असमिध्य च पावकम्**—मनु० २.१०७) । इद्ध, समिद्ध, समिध्, समिधा, एधस् (लकड़ी) आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं । हिन्दी के 'ईन्धन' शब्द का मूल भी यही धातु है । इस के लोक में अकर्मकतया प्रयोग अन्वेष्टव्य हैं ।

[लघु०] **विदँ विचारणे ॥२२॥ विन्ते । वेत्ता ॥**

अर्थः—विदँ (विद्) धातु 'विचार करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—विद् धातु अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है । लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र इट् हो जाता है । इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया तथा रूपमाला भिद् (आत्मने०) के समान समझनी चाहिये ।

लँट्—**विन्ते**[1]-**विन्त्ते, विन्दाते, विन्दते** । लिँट्—**विविदे, विविदाते, विविदिरे** । लुँट्—**वेत्ता, वेत्तारौ, वेत्तारः** । **वेत्तासे**—। लृँट्—**वेत्स्यते, वेत्स्येते, वेत्स्यन्ते** । लोँट्—**विन्ताम्-विन्त्ताम्, विन्दाताम्, विन्दताम्** । लँङ्—**अविन्त-अविन्त्त, अविन्दाताम्, अविन्दत** । वि० लिँङ्—**विन्दीत, विन्दीयाताम्, विन्दीरन्** । आ० लिँङ्—**वित्सीष्ट, वित्सीयास्ताम्, वित्सीरन्** । लुँङ्—**अवित्त, अवित्साताम्, अवित्सत** । लृँङ्—**अवेत्स्यत, अवेत्स्येताम्, अवेत्स्यन्त** ।

नोट—ध्यान रहे कि अब तक चार विभिन्न स्थानों पर विद् धातु आ चुकी है । (१) **विद ज्ञाने** (अदा० परस्मै० सेट्); (२) **विदँ सत्तायाम्** (दिवा० आत्मने० अनिट्); (३) **विद्लृँ लाभे** (तुदा० उभय० अनिट्, **व्याघ्रभूतिमते सेट्**); (४) **विदँ विचारणे** (रुधा० आत्मने० अनिट्) । इन सब का श्लोकबद्ध संग्रह यथा—

सत्तायां विद्यते, ज्ञाने वेत्ति, विन्ते विचारणे ।
विन्दते विन्दति प्राप्तौ, श्यन्-लुक्-श्नम्-शेष्विदं क्रमात् ॥

इन सब के उदाहरणों का सुन्दर संग्रह यथा—

वेत्ति सर्वाणि शास्त्राणि, गर्वस्तस्य न विद्यते ।
विन्ते धर्मं सदा सद्भिस्तेषु पूजां च विन्दति ॥

अभ्यास (१३)

(१) निम्न-प्रश्नों का समुचित उत्तर दीजिये—

(क) 'दश्च' सूत्र लघुकौमुदी में कितनी बार कहां कहां आया है ?

(ख) 'विद्' धातु लघुकौमुदी में किस किस अर्थ में कहां कहां पढ़ी गई है ?

(ग) 'रुणद्धि' में श्नम् को मानकर धातु के उकार को गुण क्यों नहीं होता ?

(घ) 'रुत्सीष्ट, युक्षीष्ट' आदि में लघूपधगुण का वारण कैसे होगा ?

(ङ) 'तृणह इम्' में श्नम्युक्त निर्देश का क्या प्रयोजन है ?

(च) 'पक्षे च दः' से क्या तात्पर्य है स्पष्ट करें ।

(छ) श्नम् को किस लिये शित् किया गया है ?

(ज) भञ्जोँ और ओँविजीँ धातुओं को किस लिये ओदित् किया गया है ?

(झ) 'भुजोऽनवने' के स्थान पर 'भुजोऽदने' सूत्र क्यों नहीं बनाया गया ?

(२) श्नम् से परे धातु के नकार का जब लोप ही करना है तो धातु में उसके ग्रहण का क्या प्रयोजन ?

---

१. **मां विन्ते निष्पराक्रमम्**—भट्टि० ६.३६ ।

(३) 'इन्धे' आदि में जब 'अनिदितां हलः०' से नकार का लोप हो सकता है तो पुनः 'श्नान्नलोपः' से नकार का लोप क्यों ?

(४) सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
सिपि धातो रुर्वा, श्नान्नलोपः, तिप्यनस्तेः, तृणह इम्, भुजोऽनवने ।

(५) निम्न धातुओं के लँङ् के प्र० पु० और म० पु० के एकवचन में रूप सिद्ध करें—
रुध्, भुज्, शिष्, अञ्ज, हिन्स्, तृह्, उन्द्, इन्ध्, भिद् ।

(६) निम्न धातुओं के लुँङ् प्र० पु० के एकवचन में रूप सिद्ध करें—
रुध्, छृद्, हिन्स्, अञ्ज्, विज्, शिष्, भुज् ।

(७) निम्न धातुओं के लोँट् म० पु० के एकवचन में रूप सिद्ध करें—
रुध्, पिष्, शिष्, अञ्ज्, भञ्ज्, भुज्, हिन्स्, छिद् ।

(८) लँट्, लोँट्, लँङ् और वि० लिँङ् में रूपमाला लिखें—
रुध्, अञ्ज्, हिन्स्, शिष्, तृह्, उन्द्, इन्ध्, भुज् ।

(९) निम्न रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—
तृणेढि, हिनस्ति, आनङ्क्थ, उनत्ति, शिनष्टि, ऐन्ध, पिष्टः, शिष्यात्, चच्छृत्से, शिण्ढि, अनजानि ।

इति तिङन्ते रुधादयः

(यहां पर रुधादिगण की धातुओं का विवेचन समाप्त होता है)

अथ तिङन्ते तनादयः

अब तिङन्तप्रकरण में तनादिगण की धातुओं का निरूपण किया जाता है—

[लघु०] तनुँ विस्तारे ॥१॥

अर्थः—तनुँ (तन्) धातु 'विस्तार करना, फैलाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—यह धातु उदित् भी है और स्वरितेत् भी । स्वरितेत् होने से उभयपद तथा उदित् होने से 'उदितो वा' (८८२) द्वारा क्त्वा में इट् का विकल्प सिद्ध हो जाता है—तनित्वा-तत्वा । अनुदात्तों में परिगणित न होने से इस धातु को सेट् समझना चाहिये । इसी धातु से तनय, तनु, तन्वी, तन्तु, तितउ, तात, सन्तति, सन्तान, वितान, प्रतान आदि शब्द बनते हैं ।

लँट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में 'तन्+ति' यहां सार्वधातुक प्रत्यय के परे होने पर 'कर्त्तरि शप्' (३८७) से शप् विकरण प्राप्त होता है । इस पर अग्रिम अपवादसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६७३) तनादि-कृञ्भ्य उः ।३।१।७९॥

शपोऽपवादः। तनोति; तनुते। ततान; तेने। तनितासि; तनितासे। तनिष्यति; तनिष्यते। तनोतु; तनुताम्। अतनोत्; अतनुत। तनुयात्; तन्वीत। तन्यात्; तनिषीष्ट। अतानीत्-अतनीत्॥

अर्थः—कर्ता अर्थ में सार्वधातुक परे हो तो तनादिगण की धातुओं से तथा कृञ् धातु से 'उ' प्रत्यय होता है। यह शप् का अपवाद है।

व्याख्या—इस सूत्र की व्याख्या पीछे पृष्ठ ३१५ पर की जा चुकी है। यहां स्मरण कराने के लिये इस का पुनरुल्लेख किया गया है।

'तन्+ति' यहां 'ति' यह कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे विद्यमान है अतः प्रकृत-सूत्र से शप् का बाध कर 'उ' प्रत्यय किया तो—तन्+उ+ति। तिप पित्सार्वधातुक है अतः उसे मान कर उकार को **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** (३८८) से गुण होकर 'तनोति' रूप सिद्ध होता है। द्विवचन में **'सार्वधातुकमपित्'** (५००) से तस् ङिद्वत् हो जाता है अतः गुण का निषेध हो जाता है—तनुतः। बहुवचन में 'तनु+अन्ति' यहां **'इको यणचि'** (१५) से यण् होकर[1]—तन्वन्ति। वस् और मस् में **'लोपश्चा-ऽस्यान्यतरस्यां म्वोः'** (५०२) से उकार का वैकल्पिक लोप हो जाता है—तन्वः-तनुवः, तन्मः-तनुमः। आत्मने० में सब प्रत्यय अपित् होने से ङिद्वत् हो जाते हैं अतः गुण का सर्वत्र निषेध हो जाता है। दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) **तनोति[2], तनुतः, तन्वन्ति। तनोषि, तनुथः, तनुथ। तनोमि, तन्वः-तनुवः, तन्मः-तनुमः।** (आत्मने०) **तनुते, तन्वाते, तन्वते। तनुषे, तन्वाथे, तनुध्वे। तन्वे, तन्वहे-तनुवहे, तन्महे-तनुमहे।**

लिँट्—परस्मै० के णल् में **'अत उपधायाः'** (४५५) से उपधावृद्धि होकर—ततान। अतुस् में 'तन्+तन्+अतुस्' इस स्थिति में कित् लिँट् के परे रहते **'अत एकहल्मध्ये०'** (४६०) से एत्वाभ्यासलोप होकर—तेनतुः। इसी प्रकार—तेनुः। थल् में इट् का आगम होकर—**'थलि च सेटि'** (४६१) से एत्वाभ्यासलोप हो जाता है—तेनिथ। इसी प्रकार आगे भी यथासम्भव समझना चाहिये। आत्मने० में किद्वद्भाव सर्वत्र रहता है अतः सब जगह एत्वाभ्यासलोप हो जाता है। दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) **ततान[3], तेनतुः, तेनुः। तेनिथ, तेनथुः, तेन। ततान-ततन, तेनिव, तेनिम।** (आत्मने०) **तेने, तेनाते, तेनिरे। तेनिषे, तेनाथे, तेनिध्वे। तेने, तेनिवहे, तेनिमहे।**

लुँट्—(परस्मै०) **तनिता, तनितारौ, तनितारः। तनितासि—।** (आत्मने०)

---

१. कई विद्यार्थी यहां **'हुश्नुवोः०'** (५०१) से यण् किया करते हैं, यह ठीक नहीं, क्योंकि यहां 'श्नु' नहीं 'उ' है। अत एव यहां **'अचि श्नु०'** (१९९) से उवँङ् भी प्राप्त नहीं होता।

२. **तनोति भानोः परिवेषकैतवात्**—नैषध १.१४।

३. **पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः**—रघु० ३.२५।

तनिता, तनितारौ, तनितारः, तनितासे—। लृट्—(परस्मै०) तनिष्यति, तनिष्यतः, तनिष्यन्ति। (आत्मने०) तनिष्यते, तनिष्येते, तनिष्यन्ते। लोट्—(परस्मै०) तनोतु-तनुतात्, तनुताम्, तन्वन्तु। तनु[1]-तनुतात्, तनुतम्, तनुत। तनवानि, तनवाव, तनवाम। (आत्मने०) तनुताम्, तन्वाताम्, तन्वताम्। तनुष्व, तन्वाथाम्, तनुध्वम्। तनवै, तनवावहै, तनवामहै। लङ्—(परस्मै०) अतनोत्, अतनुताम्, अतन्वन्। अतनोः, अतनुतम्, अतनुत। अतनवम्, अतन्व-अतनुव, अतन्म-अतनुम। (आत्मने०) अतनुत, अतन्वाताम्, अतन्वत। अतनुथाः, अतन्वाथाम्, अतनुध्वम्। अतन्वि, अतन्वहि-अतनुवहि, अतन्महि-अतनुमहि। वि० लिङ्—(परस्मै०) तनुयात्, तनुयाताम्, तनुयुः। (आत्मने०) तन्वीत, तन्वीयाताम्, तन्वीरन्। आ० लिङ्—(परस्मै०) तन्यात्, तन्यास्ताम्, तन्यासुः। (आत्मने०) तनिषीष्ट, तनिषीयास्ताम्, तनिषीरन्।

लुङ्—परस्मै० में 'अतन्+इस्+ईत्' इस स्थिति में हलन्तलक्षणा वृद्धि का 'नेटि' (८७७) द्वारा निषेध हो जाता है। तब 'अतो हलादेर्लघोः' (४५७) से वैकल्पिक वृद्धि होकर दोनों पक्षों में सकार का लोप और सवर्णदीर्घ करने पर 'अतानीत्-अतनीत्' दो रूप सिद्ध होते हैं। (परस्मै०) में रूपमाला यथा—(वृद्धिपक्षे) अतानीत्, अतानिष्टाम्, अतानिषुः। (वृद्ध्यभावे) अतनीत्, अतनिष्टाम्, अतनिषुः।

लुङ् के आत्मने० में 'अतन्+स्+त' इस स्थिति में इडागम से पूर्व अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६७४) तनादिभ्यस्तथासोः ।२।४।७९॥

तनादेः सिँचो वा लुक् स्यात् तथासोः। अतत-अतनिष्ट। अतथाः-अतनिष्ठाः। अतनिष्यत्; अतनिष्यत॥

अर्थः—तनादिगण की धातुओं से परे सिँच् का विकल्प से लुक् हो, 'त' अथवा 'थास्' परे हो तो।

व्याख्या—तनादिभ्यः।५।३। तथासोः।७।२। सिँचः।६।१। ('गातिस्था०' से)। लुक्।१।१। ('ण्यक्षत्रियार्ष०' से)। विभाषा।१।१। ('विभाषा घ्राधेट्०' से)। 'तथासोः' में थास् के साहचर्य के कारण आत्मनेपद के एकवचन 'त' प्रत्यय का ही ग्रहण होता है, परस्मै० म० पु० के बहु० 'थ' के स्थान पर आदेश होने वाले 'त' का नहीं। अर्थः—(तनादिभ्यः) तनादिगण की धातुओं से परे (सिँचः) सिँच् का (विभाषा) विकल्प से (लुक्) लुक् हो जाता है (त-थासोः) 'त' या 'थास्' प्रत्यय परे हो तो।

'अतन्+स्+त' यहां 'त' प्रत्यय परे है अतः प्रकृतसूत्र से सकार का वैकल्पिक लुक् हो जाता है। लुक्पक्ष में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा झलादि ङित् के परे होने से 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' (५५९)

---

1. 'तनु+हि' यहां 'उतश्च प्रत्ययादसंयोग०' (५०३) से 'हि' का लुक् हो जाता है।

द्वारा धातु के नकार का भी लोप करने पर 'अतत' प्रयोग सिद्ध होता है । लुक् के अभाव में सिँच् को इट् का आगम होकर षत्व और ष्टुत्व करने पर 'अतनिष्ट' रूप बनता है । इसी प्रकार थास् में—अतथाः-अतनिष्ठाः । लुँङ् आत्मने० में रूपमाला यथा—अतत-अतनिष्ट, अतनिषाताम्, अतनिषत । अतथाः-अतनिष्ठाः, अतनिषाथाम्, अतनिढ्वम् । अतनिषि, अतनिष्वहि, अतनिष्महि ।

लृँङ्—(परस्मै०) अतनिष्यत्, अतनिष्यताम्, अतनिष्यन् । (आत्मने०) अतनिष्यत, अतनिष्येताम्, अतनिष्यन्त ।

उपसर्गयोग—प्र √ तन्=विस्तृत करना (तद्दूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते—माघ २.३०) ।

वि √ तन्=प्रारम्भ करना(तस्य कर्म व्यतानीत्—भट्टि० १.११, प्रारब्धवान् इत्यर्थः । वितते्ष्वध्वरेषु सः—कुमार० २.४६, प्रवृत्तेष्वित्यर्थः); उत्पन्न करना—पैदा करना (वितनोति च यः स्त्रीणां हृदये मन्मथव्यथाम्—कविकल्पद्रुमटीका; चिल्ला चढ़ाना (वितत्य शार्ङ्गं कवचं पिनह्य—भट्टि० ३.४७) ।

वि + आ √ तन्=निर्माण करना (व्यातेने किरणावलीमुदयनः—किरणावली)

आ √ तन्=व्याप्त करना (आतेने वनगहनानि वाहिनी सा—किराता० ७.२५); उत्पन्न करना(आनन्दनेन जडतां पुनरातनोति—उत्तर० ३.१२); धनुष पर डोरी चढ़ाना (शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता—रघु० १.१९) ।

सम् √ तन्=भली भान्ति विस्तार करना (यथा—सन्तानः, सन्ततिः, सन्ततम् आदि) ।

[लघु०] षणुँ दाने ॥२॥ सनोति; सनुते ॥

अर्थः—षणुँ (सन्) धातु 'देना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1] ।

व्याख्या—यह धातु उदित् तथा स्वरितेत् है । स्वरितेत् होने से उभयपद तथा उदित् होने से 'उदितो वा' (८८२) द्वारा क्त्वा में इट् का विकल्प सिद्ध हो जाता है—सनित्वा-सात्वा । इस के आदि षकार को 'धात्वादेः षः सः' (२५५) से सकारादेश हो जाता है, तब 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' के अनुसार णकार को भी नकार होकर 'सन्' बन जाता है । अनुदात्तों में परिगणित न होने से यह धातु सेट् है । आ० लिंङ् और लुंङ् को छोड़कर अन्य लकारों में इसकी प्रक्रिया तन् धातु की तरह होती है । रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) सनोति, सनुतः, सन्वन्ति । (आत्मने०) सनुते, सन्वाते, सन्वते । लिँट्—(परस्मै०) ससान, सेनतुः, सेनुः । (आत्मने०) सेने, सेनाते, सेनिरे । लुँट्—(परस्मै०) सनिता, सनितारौ, सनितारः । सनितासि—। (आत्मने०) सनिता, सनितारौ, सनितारः । सनितासे—। लृँट्—(परस्मै०) सनिष्यति, (आत्मने०)

---

१. यह धातु प्रायः वैदिकसाहित्य में ही प्रयुक्त देखी जाती है । यथा—अग्निः सनोति वीर्याणि (ऋग्वेद ३.२५.२) ।

सनिष्यते । लोँट्—(परस्मै०) सनोतु-सनुतात्, सनुताम्, सन्वन्तु । सनु-सनुतात्—। (आत्मने०) सनुताम्, सन्वाताम्, सन्वताम् । लँङ्—(परस्मै०) असनोत्, असनुताम्, असन्वन् । (आत्मने०) असनुत, असन्वाताम्, असन्वत । वि० लिँङ्—(परस्मै०) सनुयात्, सनुयाताम्, सनुयुः । (आत्मने०) सन्वीत, सन्वीयाताम्, सन्वीरन् ।

आ० लिँङ्—(परस्मै०) में 'सन्+यास्+त्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६७५) ये विभाषा ।६।४।४३।।

जन-सन-खनाम् आत्वं वा यादौ क्ङिति । सायात्-सन्यात् । असानीत्-असनीत् ।।

अर्थः—जन्, सन् और खन् धातुओं के नकार को विकल्प से आकार आदेश होता है यकारादि कित् ङित् प्रत्यय परे हो तो ।

व्याख्या—ये ।७।१। (यकारादकार उच्चारणार्थः)। विभाषा ।१।१। जन-सन-खनाम् ।६।३। (**'जनसनखनां सञ्झलोः'** से)। आत् ।१।१। (**'विड्वनोरनुनासिकस्यात्'** से)। क्ङिति ।७।१। (**'अनुदात्तोपदेश०'** से)। 'ये' यह 'क्ङिति' का विशेषण है अतः तदादिविधि होकर 'यादौ क्ङिति' बन जाता है । अर्थः—(ये=यादौ, क्ङिति) यकारादि कित् ङित् प्रत्यय परे हों तो (जन-सन-खनाम्) जन्, सन् और खन् धातुओं के स्थान पर (विभाषा) विकल्प से (आत्) आकार आदेश हो जाता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह आकारादेश धातु के अन्त्य अल्-नकार के स्थान पर होकर फिर सवर्णदीर्घ हो जाता है । उदाहरण यथा—

जन् (पैदा होना)—जायते-जन्यते (भावे लँट्[1])। यहां 'यक्' यह यकारादि कित् प्रत्यय परे है । जाजायते-जञ्जन्यते—यहां 'यङ्' यह यकारादि ङित् प्रत्यय परे है । इसी प्रकार—**सन्** (देना)—सायते-सन्यते, सासायते-संसन्यते । **खन्**(खोदना)—खायते-खन्यते, चाखायते-चङ्खन्यते आदि ।

'सन्+यास्+त्' यहां सन् धातु से परे यासुट् प्रत्यय **'किदाशिषि'** (४३२) के अनुसार कित् है अतः यकारादि कित् के परे रहते प्रकृतसूत्र से नकार को आकारादेश होकर सवर्णदीर्घ तथा यास् के सकार का संयोगादिलोप करने पर 'सायात्' रूप सिद्ध होता है । आकार के अभावपक्ष में 'सन्यात्' बनता है । आत्मने० में यकारादि प्रत्यय नहीं है अतः आत्व नहीं होता—सनिषीष्ट । दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) आत्वपक्षे—**सायात्, सायास्ताम्, सायासुः** । आत्वाभावे—**सन्यात्, सन्यास्ताम्, सन्यासुः** । (आत्मने०) **सनिषीष्ट, सनिषीयास्ताम्, सनिषीरन्** ।

---

१. ध्यान रहे कि **'जनीँ प्रादुर्भावे'** के कर्तृवाच्य के लँट् में भी श्यन् प्रत्यय यद्यपि यकारादि ङित् परे स्थित रहता है तथापि वहां इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । **'ज्ञाजनोर्जा'** (६३६) सूत्र निरवकाश होने से इस का बाध कर लेता है ।

लुँङ्—(परस्मै०) में पूर्ववत् 'अतो हलादेर्लघोः' (४५७) से वैकल्पिक वृद्धि हो जाती है। वृद्धिपक्षे—**असानीत्, असानिष्टाम्, असानिषुः**। वृद्ध्यभावे—**असनीत्, असनिष्टाम्, असनिषुः**।

(आत्मने०) प्र० पु० के एकवचन में 'असन्+स्+त' इस अवस्था में **'तनादिभ्यस्तथासोः'** (६७४) से सिँच् के सकार का वैकल्पिक लोप हो जाता है। लोपपक्ष में 'असन्+त' इस स्थिति में **'अनुदात्तोपदेशवनति०'** (५५९) से अनुनासिक नकार का लोप प्रसक्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६७६) जन-सन-खनां सञ्झलोः ।६।४।४२।।

एषाम् आकारोऽन्तादेशः स्यात् सनि झलादौ क्ङिति च। असात-असनिष्ट। असाथाः-असनिष्ठाः।।

अर्थः—सन् प्रत्यय अथवा झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर जन्, सन् और खन् धातुओं के अन्त्य अल् को आकार आदेश हो।

व्याख्या—जन-सन-खनाम् ।६।३। सञ्झलोः ।७।२। आत् ।१।१। (**'विड्वनोर-नुनासिकस्यात्'** से)। क्ङिति ।७।१। (**'अनुदात्तोपदेश०'** से)। सन् च झल् च सञ्झलौ, तयोः=सञ्झलोः। 'सञ्झलोः' के अन्तर्गत 'झल्' अंश 'क्ङिति' का विशेषण है अतः 'झलादौ क्ङिति' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(सञ्झलोः, क्ङिति) सन् प्रत्यय परे हो या झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे हो तो (जन-सन-खनाम्) जन्, सन् और खन् धातुओं के स्थान पर (आत्) आकार आदेश होता है[1]। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह आकारादेश धातु के अन्त्य अल्-नकार के स्थान पर ही होगा। उदाहरण यथा—

'असन्+त' यहां **'सार्वधातुकमपित्'** (५००) से 'त' प्रत्यय ङित् है अतः झलादि ङित् के परे रहते प्रकृतसूत्र से सन् धातु के नकार को आकारादेश होकर सवर्णदीर्घ करने से 'असात' रूप सिद्ध होता है। जहां सिँच् का लुक् नहीं होता वहां इट् का आगम होकर—असनिष्ट। इसी तरह थास् में भी—असाथाः-असनिष्ठाः। लुँङ् आत्मने० में रूपमाला यथा—**असात-असनिष्ट, असनिषाताम्, असनिषत। असाथाः-असनिष्ठाः, असनिषाथाम्, असनिढ्वम्। असनिषि, असनिष्वहि, असनिष्महि**।

लृँङ्—(परस्मै०) **असनिष्यत्**। (आत्मने०) **असनिष्यत**।

[लघु०] क्षणुँ हिंसायाम् ।।३।। क्षणोति; क्षणुते। ह्म्यन्त० (४६६) इति न वृद्धिः—अक्षणीत्; अक्षत-अक्षणिष्ट। अक्षथाः-अक्षणिष्ठाः।।

---

१. वस्तुतः यहां 'अनुदात्तोपदेशवनति०' सूत्र से 'झलि' की भी अनुवृत्ति आती है। उस का सम्बन्ध 'सनि' से कर लिया जाता है। इस प्रकार झलादि सन् में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। 'जिजनिषति' आदि में सन् झलादि नहीं अतः वहां आत्व नहीं होता।

अर्थः—क्षणुँ (क्षण्) धातु 'हिंसा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—यह धातु भी उदित् तथा स्वरितेत् है। स्वरितेत् होने से उभयपद तथा उदित् होने से 'उदितो वा' (८८२) द्वारा क्त्वा में इट् का विकल्प सिद्ध हो जाता है—क्षत्वा-क्षणित्वा। अनुदात्तों में परिगणित न होने से इसे सेट् समझना चाहिये। इस की प्रक्रिया लुँङ् के सिवाय अन्य लकारों में **'तनुँ विस्तारे'** धातु की तरह होती है। लुँङ् के विषय में **'ह्म्यन्तक्षण०'** (४६६) से वृद्धि का निषेध विशेष कार्य है। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) **क्षणोति, क्षणुतः, क्षण्वन्ति**। (आत्मने०) **क्षणुते, क्षण्वाते, क्षण्वते**। लिँट्—(परस्मै०) **चक्षाण, चक्षणतुः**[2], **चक्षणुः**। (आत्मने०) **चक्षणे, चक्षणाते, चक्षणिरे**। लुँट्—(परस्मै०) **क्षणिता, क्षणितारौ, क्षणितारः**। **क्षणितासि**—। (आत्मने०) **क्षणिता, क्षणितारौ, क्षणितारः**। **क्षणितासे**—। लृँट्—(परस्मै०) **क्षणिष्यति**। (आत्मने०) **क्षणिष्यते**। लोँट्—(परस्मै०) **क्षणोतु-क्षणुतात्, क्षणुताम्, क्षण्वन्तु**। (आत्मने०) **क्षणुताम्, क्षण्वाताम्, क्षण्वताम्**। लँङ्—(परस्मै०) **अक्षणोत्, अक्षणुताम्, अक्षण्वन्**। (आत्मने०) **अक्षणुत, अक्षण्वाताम्, अक्षण्वत**। वि० लिँङ्—(परस्मै०) **क्षणुयात्, क्षणुयाताम्, क्षणुयुः**। (आत्मने०) **क्षण्वीत, क्षण्वीयाताम्, क्षण्वीरन्**। आ० लिँङ्—(परस्मै०) **क्षण्यात्, क्षण्यास्ताम्, क्षण्यासुः**। (आत्मने०) **क्षणिषीष्ट, क्षणिषीयास्ताम्, क्षणिषीरन्**। लुँङ्—(परस्मै०) **अक्षणीत्, अक्षणिष्टाम्, अक्षणिषुः**। (आत्मने०) **अक्षत-अक्षणिष्ट, अक्षणिषाताम्, अक्षणिषत**। **अक्षथाः-अक्षणिष्ठाः**—। लृँङ्—(परस्मै०) **अक्षणिष्यत्**। (आत्मने०) **अक्षणिष्यत**।

उपसर्गयोग—परा, परि और वि उपसर्गों के साथ भी इस धातु का इसी अर्थ में प्रयोग देखा जाता है।

[लघु०] **क्षिणुँ च ॥४॥** उप्रत्यये लघूपधस्य गुणो वा—क्षेणोति-क्षिणोति। क्षेणिता। अक्षेणीत्। अक्षित-अक्षेणिष्ट ॥

अर्थः—क्षिणुँ (क्षिण्) धातु भी 'हिंसा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है। **उप्रत्यये**—'उ' प्रत्यय के परे होने पर लघूपधगुण का विकल्प हो जाता है।

व्याख्या—यह धातु भी 'क्षणुँ' धातु की तरह उदित्, उभयपदी तथा सेट् है।

---

१. यहां 'हिंसा करना' का व्यापक अर्थों में प्रयोग समझना चाहिये। हानि पहुँचाना, चोट करना, ज़ख्मी करना, तोड़ना, दूर भगाना इत्यादि भी 'हिंसा करना' ही हैं। तोड़ना अर्थ में प्रयोग यथा—**मैथिलस्य धनुरन्यपार्थिवैस्त्वं किलाऽनमितपूर्वमक्षणोः** (रघु० ११.७२)। इसी धातु से क्षति (हानि), क्षत (ज़ख्मी-लहूलुहान), विक्षत, क्षण (क्षणोति दुःखमिति क्षण उत्सवः) आदि शब्द बनते हैं।

२. यहां अत् के असंयुक्त हलों के मध्य स्थित न रहने से तथा लिँट् को मान कर अभ्यास को आदेश (चुत्व) हो जाने से **'अत एकहल्मध्ये०'** (४६०) द्वारा एत्वाभ्यासलोप नहीं होता।

इस की प्रक्रिया प्रायः 'तनु विस्तारे' धातु की तरह होती है परन्तु 'उ' प्रत्यय के परे रहते अर्थात् कर्तृवाच्य के लँट्, लोँट्, लँङ् और वि० लिँङ् में लघूपधगुण का विकल्प होकर दो दो रूप बनते हैं—क्षिणोति-क्षेणोति; क्षिणुते-क्षेणुते आदि। ध्यान रहे कि 'उ' प्रत्यय 'आर्धधातुकं शेषः' (४०४) के अनुसार आर्धधातुक है, आर्धधातुक के परे रहते 'पुगन्त-लघूपधस्य च' (४५१) से लघूपधगुण होना चाहिये। परन्तु लघूपध-गुणघटित प्रयोग कहीं उपलब्ध न होने से आत्रेय, मैत्रेय आदि प्राचीन आचार्य 'सञ्ज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इस परिभाषा का आश्रय लेकर 'उ' प्रत्यय के परे रहते लघूपधगुण नहीं करते[1]। अन्य वैयाकरणों का कथन है कि महाभाष्य में इस प्रकार का कहीं उल्लेख न होने से 'उ' प्रत्यय के परे होने पर भी लघूपधगुण निर्बाध हो जाता है। इस प्रकार मतभेद के कारण 'उ' प्रत्यय में लघूपधगुण का विकल्प पर्यवसित होता है। इसी को लघुकौमुदीकार ने 'उप्रत्यये लघूपधस्य गुणो वा' द्वारा निर्दिष्ट किया है। याद रहे कि 'पुगन्तलघूपधस्य च' (४५१) का यह अनित्यत्व केवल 'उ' प्रत्यय तक ही सीमित है, अन्यत्र तास्, स्य, सीयुट्, सिँच् आदियों में तो नित्य ही लघूपधगुण हो जाता है वहां कोई मतभेद नहीं। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) गुणपक्षे—क्षेणोति, क्षेणुतः, क्षेण्वन्ति। गुणाभावे—क्षिणोति[2], क्षिणुतः, क्षिण्वन्ति। (आत्मने०) गुणपक्षे—क्षेणुते, क्षेण्वाते, क्षेण्वते। गुणाभावे—क्षिणुते, क्षिण्वाते, क्षिण्वते। लिँट्—(परस्मै०) चिक्षेण, चिक्षिणतुः, चिक्षिणुः। (आत्मने०) चिक्षिणे, चिक्षिणाते, चिक्षिणिरे। लुँट्—(परस्मै०) क्षेणिता, क्षेणितारौ, क्षेणितारः। क्षेणितासि—। (आत्मने०) क्षेणिता, क्षेणितारौ. क्षेणितारः। क्षेणितासे—। लृँट्—(परस्मै०) क्षेणिष्यति। (आत्मने०) क्षेणिष्यते। लोँट्—(परस्मै०)गुणपक्षे—क्षेणोतु-क्षेणुतात्, क्षेणुताम्, क्षेण्वन्तु। गुणाभावे—क्षिणोतु-क्षिणुतात्,

---

१. इस परिभाषा का तात्पर्य यह है कि जो कार्य सीधा विधान न होकर सञ्ज्ञा के द्वारा विधान किया जाये वह अनित्य होता है। यथा—'ओर्गुणः'(६.४.१४६; भसञ्ज्ञक उकार के स्थान पर गुण हो) सूत्र की बजाय 'ओरोत्' भी कह सकते थे इसमें लाघव भी था, परन्तु सीधा ओकार का विधान न कर 'गुणः' इस सञ्ज्ञा के द्वारा ओकार का विधान किया गया है अतः सञ्ज्ञापूर्वक होने से यह कार्य अनित्य है। अनित्यत्व का अभिप्राय यह है कि कहीं कहीं वह नहीं भी होता। जैसे—'धाम स्वायम्भुवं ययौ' में 'स्वयम्भुव इदम्—स्वायम्भुवम्' यहां 'स्वयम्भू+अण्' इस अवस्था में भसञ्ज्ञक उकार को 'ओर्गुणः' (१००२) से गुण नहीं हुआ किन्तु उवँङ् हो गया है। इसी प्रकार प्रकृत में 'पुगन्तलघूपधस्य च' द्वारा प्रतिपादित कार्य गुणसञ्ज्ञा के द्वारा प्रवृत्त होता है अतः वह अनित्य है। इसलिये वह कहीं कहीं प्रवृत्त नहीं भी होगा। इस से 'उ' प्रत्यय के परे रहते लघूपधगुण नहीं होता—'क्षिणोति' आदि रूप बनते हैं।

२. शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्ष्यं न तद् यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति—रघु० २.४०।

क्षिणुताम्, क्षिण्वन्तु । (आत्मने०) गुणपक्षे—क्षेणुताम्, क्षेण्वाताम्, क्षेण्वताम् । गुणाभावे—क्षिणुताम्, क्षिण्वाताम्, क्षिण्वताम् । लँङ्—(परस्मै०)गुणपक्षे—अक्षेणोत्, अक्षेणुताम्, अक्षेण्वन् । गुणाभावे—अक्षिणोत्, अक्षिणुताम्, अक्षिण्वन् । (आत्मने०) गुणपक्षे—अक्षेणुत, अक्षेण्वाताम्, अक्षेण्वत । गुणाभावे—अक्षिणुत, अक्षिण्वाताम्, अक्षिण्वत । वि० लिँङ्—(परस्मै०) गुणपक्षे—क्षेणुयात्, क्षेणुयाताम्, क्षेणुयुः । गुणाभावे—क्षिणुयात्, क्षिणुयाताम्, क्षिणुयुः । (आत्मने०) गुणपक्षे—क्षेण्वीत, क्षेण्वीयाताम्, क्षेण्वीरन् । गुणाभावे—क्षिण्वीत, क्षिण्वीयाताम्, क्षिण्वीरन् । आ० लिँङ्—(परस्मै०) क्षिण्यात्, क्षिण्यास्ताम्, क्षिण्यासुः । (आत्मने०) क्षेणिषीष्ट, क्षेणिषीयास्ताम्, क्षेणिषीरन् । लुँङ्—(परस्मै०) अक्षेणीत्, अक्षेणिष्टाम्, अक्षेणिषुः । (आत्मने०) अक्षित-अक्षेणिष्ट, अक्षेणिषाताम्, अक्षेणिषत । लृँङ्—(परस्मै०) अक्षेणिष्यत् । (आत्मने०) अक्षेणिष्यत ।

[लघु०] **तृणुँ अदने ॥५॥** तृणोति-तर्णोति; तृणुते-तर्णुते ॥

अर्थः—तृणुँ (तृण्) धातु 'खाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—इस धातु के प्रयोग अन्वेषणीय हैं । तृण (तिनका) शब्द इसी धातु से बनता है । यह धातु भी पूर्ववत् उदित्, उभयपदी तथा सेट् है । इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'क्षिणुँ' धातु की तरह होती है । यहां भी 'उ' प्रत्यय के परे रहते लघूपधगुण का विकल्प हो जाता है ।

लँट्—(परस्मै०) **तर्णोति-तृणोति** । (आत्मने०) **तर्णुते-तृणुते** । लिँट्—(परस्मै०) **ततर्ण, ततृणतुः, ततृणुः** । (आत्मने०) **ततृणे, ततृणाते, ततृणिरे** । लुँट्—(परस्मै०) **तर्णिता-तर्णितारौ, तर्णितारः** । **तर्णितासि**— । (आत्मने०) **तर्णिता, तर्णितारौ, तर्णितारः** । **तर्णितासे**— । लृँट्—(परस्मै०) **तर्णिष्यति** । (आत्मने०) **तर्णिष्यते** । लोँट्—(परस्मै०) **तर्णोतु-तर्णुतात्, तृणोतु-तृणुतात्** । (आत्मने०) **तर्णुताम्-तृणुताम्** । लँङ्—(परस्मै०) **अतर्णोत्-अतृणोत्** । (आत्मने०) **अतर्णुत-अतृणुत** । वि० लिँङ्—(परस्मै०) **तर्णुयात्-तृणुयात्** । (आत्मने०) **तर्ण्वीत-तृण्वीत** । आ० लिँङ्—(परस्मै०) **तृण्यात्** । (आत्मने०) **तर्णिषीष्ट** । लुँङ्—(परस्मै०) **अतर्णीत्, अतर्णिष्टाम्, अतर्णिषुः** । (आत्मने०) **अतृत-अतर्णिष्ट, अतर्णिषाताम्, अतर्णिषत** । लृँङ्—(परस्मै०) **अतर्णिष्यत्** । (आत्मने०) **अतर्णिष्यत** ।

[लघु०] **डुकृञ् करणे ॥६॥** करोति ॥

अर्थः—डुकृञ् (कृ) धातु 'करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—इस धातु के आदि 'डु' की '**आदिर्ञिटुडवः**' (४६२) से तथा अन्त्य ञकार की '**हलन्त्यम्**' (१) से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है । इत्सञ्ज्ञकों का लोप करने पर 'कृ' मात्र अवशिष्ट रहता है । 'डु' के इत् हो जाने के कारण '**ड्वितः क्त्रिः**' (८५७) से क्त्रि प्रत्यय हो कर '**क्त्रेर्मम् नित्यम्**' (८५८) से मप्प्रत्यय हो जाता है—**कृत्रिमम्**

(बना हुआ—बनावटी)। ञित् होने से यह धातु उभयपदी तथा 'ऊद्‍दन्तै:०' के अनुसार अनिट् है। क्रादियों में परिगणित होने से लिट् में भी यह अनिट् रहती है।

लँट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में 'तनादिकृञ्भ्य उः' (६७३) से 'उ' प्रत्यय होकर 'कृ+उ+ति' इस स्थिति में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (३८८) द्वारा उप्रत्यय को मान कर धातु के ऋकार को अर् गुण तथा तिप्प्रत्यय को मान कर उकार को ओकार गुण हो जाता है—करोति।

द्विवचन में 'कृ+उ+तस्' इस स्थिति में उप्रत्यय को मानकर तो गुण हो ही जाता है परन्तु तस् को मानकर उकार को गुण नहीं होता कारण कि 'सार्वधातुक-मपित्'(५००)से तस् ङिद्वत् है। 'करु+तस्' इस दशा में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६७७) अत उत्सार्वधातुके ।६।४।११०॥

उप्रत्ययान्तस्य कृञोऽकारस्य उः स्यात् सार्वधातुके क्ङिति। कुरुतः॥

अर्थः—सार्वधातुक कित् वा ङित् परे होने पर उप्रत्ययान्त कृञ् धातु के अकार के स्थान पर ह्रस्व उकार आदेश हो।

व्याख्या—इस सूत्र की व्याख्या पीछे (३१७)पृष्ठ पर कर चुके हैं वहीं देखें।

'करु+तस्' यहां 'तस्' यह ङित् सार्वधातुक परे मौजूद है अतः उप्रत्ययान्त कृञ् के अकार को प्रकृतसूत्र से उकार होकर पदान्त सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग करने पर 'कुरुतः' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्र० पु० के बहुवचन में उप्रत्यय, झि के झकार को अन्त् आदेश, गुण, अकार को उकार आदेश तथा 'इको यणचि' (१५) से विकरण के उकार को यण् करने पर 'कुर्+व्+अन्ति' हुआ। अब यहां धातु के रेफान्त हो जाने से 'हलि च' (६१२) सूत्र द्वारा उपधा को दीर्घ प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(६७८) न भकुर्छुराम् ।८।२।७६॥

भस्य कुर्छुरोरुपधाया न दीर्घः। कुर्वन्ति॥

अर्थः—भसञ्ज्ञकों की उपधा को तथा कुर् और छुर् की उपधा को दीर्घ नहीं होता।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। भ-कुर्-छुराम् ।६।३। उपधायाः ।६।१। दीर्घः। १।१। ('र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' से)। भं च कुर् च छुर् च—भ-कुर्-छुरः, तेषाम्—भकुर्छुराम्, इतरेतरद्वन्द्वः। **अर्थः**—(भ-कुर्-छुराम्) भसञ्ज्ञकों की तथा कुर् और छुर् की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ (न) नहीं होता। यथा—

भसञ्ज्ञक—धुर्+य=धुर्यः [धुरं वहतीति विग्रहे 'धुरो यड्ढकौ' (११३२) इति यत्। यहां 'यचि भम्' (१६५) से धुर् की भसञ्ज्ञा है]। छुर्—छुर्यात् (छुर छेदने तुदा० परस्मै० इसे सिद्धान्तकौमुदी में देखें)। कुर्[1] का उदाहरण प्रकृत है—

---

१. 'कुर्' से यहां 'कुर शब्दे' (तुदा०) धातु का ग्रहण नहीं होता अपितु 'कृ' से

'कुर्+व्+अन्ति' यहां प्रकृतसूत्र से 'कुर्' की उपधा को दीर्घ का निषेध होकर 'कुर्वन्ति प्रयोग सिद्ध होता है।

म० पु० के एकवचन में गुण होकर—करोषि। द्विवचन और बहुवचन में अकार को उकार होकर—कुरुथः, कुरुथ। उ० पु० के एकवचन में गुण होकर—करोमि। द्विवचन और बहुवचन में अकार को उकार हो कर 'कुरु+वस्, कुरु+मस्' इस स्थिति में **'लोपश्चाऽस्यान्यतरस्यां म्वोः'** (५०२) से प्रत्यय उकार का वैकल्पिक लोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से लोप का नित्यत्व विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६७९) नित्यं करोतेः ।६।४।१०८।।

करोतेः प्रत्ययोकारस्य नित्यं लोपो म्वोः परयोः । कुर्वः, कुर्मः । कुरुते । चकार; चक्रे । कर्त्ता । करिष्यति; करिष्यते । करोतु, कुरुताम् । अकरोत्; अकुरुत ।।

अर्थः—कृ धातु से परे प्रत्यय के उकार का नित्य लोप हो मकार वकार परे हो तो।

व्याख्या—नित्यम् इति क्रियाविशेषणं द्वितीयैकवचनान्तम्। करोतेः ।५।१। प्रत्ययस्य ।६।१। उतः ।६।१। (**'उतश्च प्रत्ययाद्०'** से विभक्तिविपरिणाम कर के) लोपः ।१।१। (**'लोपश्चास्यान्य०'** से)। अर्थः—(करोतेः) कृ धातु से परे (प्रत्ययस्य उतः) प्रत्यय के उकार का (नित्यम्) नित्य (लोपः) लोप हो जाता है (म्वोः) मकार या वकार परे हो तो[2]। यह सूत्र **'लोपश्चाऽस्यान्य०'** (५०२) का अपवाद है।

'कुर्+उ+वस्, कुर्+उ+मस्' यहाँ क्रमशः वकार मकार परे हैं अतः कृ धातु से परे उकार का प्रकृतसूत्र से नित्य लोप होकर 'कुर्वः, कुर्मः' रूप सिद्ध होते हैं[3]।

आत्मने० में सर्वत्र ङिद्वद्भाव के कारण 'त' आदि प्रत्ययों को मानकर उकार को कहीं गुण नहीं होता। किञ्च **'अत उत्सार्वधातुके'** से सर्वत्र अकार को उकार हो जाता है। दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) **करोति, कुरुतः, कुर्वन्ति। करोषि, कुरुथः, कुरुथ। करोमि, कुर्वः, कुर्मः।** (आत्मने०) **कुरुते, कुर्वाते, कुर्वते। कुरुषे, कुर्वाथे, कुरुध्वे। कुर्वे, कुर्वहे, कुर्महे।**

लिँट्—(परस्मै०) **चकार, चक्रतुः, चक्रुः। चकर्थ, चक्रथुः, चक्र। चकार-चकर, चकृव, चकृम।** (आत्मने०) **चक्रे, चक्राते, चक्रिरे। चकृषे, चक्राथे, चकृढ्वे। चक्रे, चकृवहे, चकृमहे।** लुँट्—(परस्मै०) **कर्ता, कर्तारौ, कर्तारः। कर्तासि—।**

बने 'कुर्' का ही ग्रहण अभीष्ट है (देखें **सिद्धान्त-कौमुदी** तथा उस पर **बृ० शब्देन्दु-शेखर**)।

२. आरम्भसामर्थ्यादेव नित्यत्वे सिद्धे नित्यग्रहणं स्पष्टार्थम्।

३. यहां पर भी **'हलि च'**(६१२)से प्राप्त उपधादीर्घ का **'न भ-कुर्-छुराम्'** (६७८) **से निषेध हो जाता है।**

(आत्मने०) कर्ता, कर्तारौ, कर्तारः । कर्तासि—। लृट्—दोनों पदों में 'ऋद्धनोः स्ये' (४९७) से 'स्य' को इट् का आगम हो जाता है । (परस्मै०) करिष्यति, करिष्यतः, करिष्यन्ति । (आत्मने०) करिष्यते, करिष्येते, करिष्यन्ते । लोट्—(परस्मै०) करोतु-कुरुतात्, कुरुताम्, कुर्वन्तु । कुरु[1]-कुरुतात्, कुरुतम्, कुरुत । करवाणि, करवाव, करवाम । (आत्मने०) कुरुताम्, कुर्वाताम्, कुर्वताम् । कुरुष्व, कुर्वाथाम्, कुरुध्वम् । करवै, करवावहै, करवामहै । लङ्—(परस्मै०) अकरोत्, अकुरुताम्, अकुर्वन् । अकरोः, अकुरुतम्, अकुरुत । अकरवम्, अकुर्व, अकुर्म । (आत्मने०) अकुरुत, अकुर्वाताम्, अकुर्वत । अकुरुथाः, अकुर्वाथाम्, अकुरुध्वम् । अकुर्वि, अकुर्वहि, अकुर्महि ।

वि० लिङ्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में उविकरण, गुण तथा अकार को उकार करने पर—कुर्+उ+यास्+त् । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६८०) ये च ।६।४।१०९।।

कृञ उलोपो यादौ प्रत्यये परे । कुर्यात्, कुर्वीत । क्रियात्, कृषीष्ट । अकार्षीत्, अकृत । अकरिष्यत्, अकरिष्यत ।।

अर्थः—कृञ् धातु से परे 'उ' का लोप हो यकारादि प्रत्यय परे हो तो ।

व्याख्या—ये ।७।१। (यकारादकार उच्चारणार्थः) च इत्यव्ययपदम् । करोतेः ।५।१। ('नित्यं करोतेः' से) प्रत्ययस्य ।६।१। उतः ।६।१। ('उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' से) लोपः ।१।१। ('लोपश्चाऽस्यान्य०' से) । 'अङ्गस्य' के अधिकृत होने से 'प्रत्यये' का अध्याहार कर लिया जाता है । तब 'ये' को 'प्रत्यये' का विशेषण बना कर तदादिविधि करने से 'यकारादौ प्रत्यये' उपलब्ध हो जाता है । अर्थः—(करोतेः) कृ धातु से परे (प्रत्ययस्य उतः) प्रत्यय के उकार का (लोपः) लोप हो जाता है (ये=यकारादौ प्रत्यये) यकारादि प्रत्यय परे हो तो ।

'कुर्+उ+यास्+त्' यहां 'यास्' यह यकारादि प्रत्यय परे विद्यमान है अतः कृ धातु से परे उकार का प्रकृतसूत्रद्वारा लोप होकर 'लिङः सलोपः०' (४२७) से अनन्त्य सकार का लोप करने पर 'कुर्यात्' रूप सिद्ध होता है । वि० लिङ् में रूपमाला यथा—(परस्मै०) कुर्यात्, कुर्याताम्, कुर्युः । कुर्याः, कुर्यातम्, कुर्यात । कुर्याम्, कुर्याव, कुर्याम । (आत्मने०) कुर्वीत, कुर्वीयाताम्, कुर्वीरन् । कुर्वीथाः, कुर्वीयाथाम्, कुर्वीध्वम् । कुर्वीय, कुर्वीवहि, कुर्वीमहि ।

आ० लिङ्—(परस्मै०) में 'रिङ् श-यग्-लिङ्क्षु' (५४३) से धातु के ऋकार को रिङ् आदेश हो जाता है—क्रियात्, क्रियास्ताम्, क्रियासुः । (आत्मने०) में 'उश्च' (५४४) सूत्र द्वारा झलादि लिङ् के कित् हो जाने से धातु के ऋकार को गुण नहीं होता—कृषीष्ट, कृषीयास्ताम्, कृषीरन् ।

लुङ्—(परस्मै०) में 'सिचि वृद्धिः०' (४८४) द्वारा इगन्तलक्षणा वृद्धि हो जाती है—अकार्षीत्, अकार्ष्टाम्, अकार्षुः । अकार्षीः, अकार्ष्टम्, अकार्ष्ट । अकार्षम्,

---

१. 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' (५०३) से 'हि' का लुक् हो जाता है ।

अकार्ष्व, अकार्ष्म । (आत्मने०) में प्र० पु० के एकवचन में 'अकृ+स्+त' इस स्थिति में **'तनादिभ्यस्तथासोः'** (६७४) से सिच् का वैकल्पिक लुक् हो जाता है। लुक्पक्ष में **'सार्वधातुकमपित्'** (५००) द्वारा 'त' के ङिद्वत् होने से गुण नहीं होता—अकृत। लुक् के अभाव में भी **'उश्च'** (५४४) से झलादि सिँच् कित् हो जाता है तब **'ह्रस्वादङ्गात्'** (५४५) से उस का लोप करने पर 'अकृत' वैसा रूप बनता है। इसी प्रकार थास् में भी दोनों पक्षों में एक सा रूप बनता है। रूपमाला यथा—**अकृत, अकृषाताम्, अकृषत । अकृथाः, अकृषाथाम्, अकृढ्वम्** (धि च, इणः षीध्वम्०)। **अकृषि, अकृष्वहि, अकृष्महि ।** लृँङ्—(परस्मै०) **अकरिष्यत्** । (आत्मने०) **अकरिष्यत ।**

उपसर्गयोग—सम् परि और उप उपसर्गों के साथ कृञ् धातु में विशेष कार्य हुआ करता है। **अतः अग्रिम तीन सूत्रों में** उसका निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (६८१) सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे । ६।१।१३२॥

विधि-सूत्रम्— (६८२) समवाये च ।६।१।१३३॥

सम्परिपूर्वस्य करोतेः सुट् स्याद् भूषणे सङ्घाते चार्थे। सँस्स्करोति—अलङ्करोतीत्यर्थः । संस्स्कुर्वन्ति—सङ्घीभवन्तीत्यर्थः । सम्पूर्वस्य क्वचिद-भूषणेऽपि सुट्—**'संस्कृतं भक्षाः'** (१०४०) इति ज्ञापकात् ॥

अर्थः—सम् और परि उपसर्गों से परे कृञ् धातु को सुट् का आगम हो 'सजाना' या 'इकट्ठा होना' अर्थ हो तो।

व्याख्या—इन दोनों सूत्रों का एक ही विषय है अतः इन की एक साथ व्याख्या करते हैं। सम्परिभ्याम् ।५।२। करोतौ ।७।१। भूषणे ।७।१। समवाये ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । **'सुट् कात् पूर्वः'** (६.१.१३१) का अधिकार आ रहा है। अर्थः—(सम्परिभ्याम्) सम् अथवा परि उपसर्ग से परे (करोतौ) कृ धातु हो तो (कात् पूर्वः) उस के ककार से पूर्व (सुट्) सुट् का आगम हो (भूषणे) सजाना (च) तथा (समवाये) इकट्ठा होना अर्थ में। सुट् में टकार इत्सञ्ज्ञक तथा उकार उच्चारणार्थक है। अतः 'स्' ही अवशिष्ट रहता है। सुट् का स्थान ककार से पूर्व निश्चित कर दिया गया है अतः **'आद्यन्तौ टकितौ'** (८५) की सहायता नहीं लेनी पड़ती[1]।

उदाहरण यथा—

'सम्+करोति' यहां सम्पूर्वक कृ धातु का 'सजाना' अर्थ है अतः प्रकृतसूत्र से कृ धातु के ककार से पूर्व सुट् का आगम होकर 'सम्+स्करोति' बना। अब

---

१. यदि **'आद्यन्तौ टकितौ'** (८५) सूत्र की सहायता नहीं लेनी थी तो सुट् को टित् क्यों किया गया है? इस का समाधान यह है कि **'परिनिविभ्यः सेव-सित-सय-सिवु-सह-सुट्-स्तु-स्वञ्जाम्'** (८.३.७०) में सुट् के विशेषणार्थ इसे टित् किया गया है। अन्यथा 'सु' मात्र का ग्रहण करते तो 'सु' धातु समझ ली जाती इस से अनिष्ट हो जाता।

'संस्कर्ता' की तरह **'समः सुटि'** (९०) से सम् के मकार को रुँत्व, उस से पूर्व वर्ण को अनुनासिक (९१) तथा पक्ष में अनुस्वार का आगम (९२), रेफ को विसर्ग और **'सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः'** (वा० १५) से विसर्ग को सकार करने पर 'सँस्करोति-संस्करोति' ये दो रूप सिद्ध होते हैं[1]। सँस्करोति=सजाता है। इसी प्रकार—सम्+कुर्वन्ति=सँस्स्कुर्वन्ति-संस्स्कुर्वन्ति (इकट्ठे होते हैं); परि+करोति=परिष्करोति (सजाता है; यहां **'परिनिविभ्यः सेव-सित०'** ८.३.७० से 'सुट्' के सकार को षकार हो जाता है)। **'अडभ्यासव्यवायेऽपि सुट् कात्पूर्व इति वक्तव्यम्'** (वा० ४४) इस वार्त्तिक से अट् या अभ्यास का व्यवधान होने पर भी कृञ् के ककार से पूर्व सुट् का आगम निर्बाध हो जाता है—समस्कार्षीत्, समस्करोत्, सचस्कार आदि।

कहीं कहीं भूषण (सजाना) आदि अर्थों के विना भी सम्पूर्वक कृ को सुट् का आगम देखा जाता है। इस में **'संस्कृतं भक्षाः'** (१०३७) यह पाणिनि का सूत्र ज्ञापक है। यहां 'संस्कृतम्' में 'सजाना' अर्थ नहीं अपितु 'भूनना' आदि अर्थ है, यहां पाणिनिजी ने स्वयं सुट् का आगम किया है अतः इस से प्रतीत होता है कि भूषण आदि अर्थों के विना भी क्वचित् सुट् हो जाता है। कुछ लोगों का विचार है कि 'भूनना' आदि भी भक्ष्यपदार्थों का एक प्रकार से भूषण है अतः यहां भी भूषण अर्थ विद्यमान होने से सुट् हो गया है कुछ नवीन बात नहीं हुई।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६८३) उपात् प्रतियत्न-वैकृत-वाक्याध्याहारेषु च ।६।१।१३४॥

उपात् कृञः सुट् स्याद् एष्वर्थेषु, चात् प्रागुक्तयोरर्थयोः। प्रतियत्नो गुणाऽऽधानम्। विकृतमेव वैकृतं विकारः। वाक्याऽध्याहार आकाङ्क्षितैकदेशपूरणम्। उपस्कृता कन्या। उपस्कृता ब्राह्मणाः। एधो दकस्योपस्कुरुते। उपस्कृतं भुङ्क्ते। उपस्कृतं ब्रूते॥

अर्थः—'उप' से परे कृञ् के ककार को सुट् का आगम हो प्रतियत्न, वैकृत अथवा वाक्याध्याहार गम्यमान हो तो। चकारग्रहण से पूर्वोक्त 'सजाना' और 'इकट्ठा होना' अर्थों में भी सुट् हो जायेगा।

व्याख्या—उपात् ।५।१। प्रतियत्न-वैकृत-वाक्याध्याहारेषु ।७।३। च इत्यव्ययपदम्। करोतौ ।७।१। भूषणे ।७।१। (**'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे'** से)। समवाये ।७।१। (**'समवाये च'** से) **'सुट् कात्पूर्वः'** यह अधिकृत है। अर्थः—(उपात्) उप से परे

---

१. ये दो सकार वाले रूप हैं। एक सकार वाले रूप भी बनते हैं। 'सम्+स्करोति' में **'समो वा लोपमेके'** इस भाष्यवार्तिक से मकार का लोप हो जाता है। इस लोप के भी रुँप्रकरणस्थित होने से अनुनासिक-अनुस्वार हो जाते हैं। रुँ न होने से विसर्ग और सकार नहीं होता, अतः एक सकार वाले रूप होते हैं—सँस्करोति-संस्करोति। इस प्रकार 'संस्कृत' आदि एकसकारवाले रूप जान लेने चाहियें।

(करोतौ) कृ धातु हो तो (कात् पूर्वः) उस के ककार से पूर्व (सुट्) सुट् का आगम हो जाता है (प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु) प्रतियत्न, वैकृत, वाक्याध्याहार (च) तथा (भूषणे समवाये) भूषण और समवाय अर्थ गम्यमान हो तो ।

प्रतियत्नो गुणाऽऽधानम् । किसी वस्तु में नये गुण का आधान करना—उत्पन्न करना 'प्रतियत्न' कहाता है । यथा—**एधो दकस्योपस्कुरुते**[1] (लकड़ी पानी को उपस्कृत करती है अर्थात् उसे गरम या गुणयुक्त करती है[2])—यहां जल में उष्णता न थी, उस के नीचे ईन्धन के जलाने से उस में उष्णतारूप गुण का आधान हुआ है अतः 'कृ' के ककार से पूर्व सुट् का आगम हो गया । इसी प्रकार **काण्डं गुडस्योपस्कुरुते** (भिण्डी आदि की लकड़ी गुड़ को उपस्कृत अर्थात् गुणयुक्त करती है । गुड़ बनाते समय भिण्डी आदि की लकड़ी डालने से विशेष गुण आ जाते हैं ऐसी प्रसिद्धि है), **विभ्रमो रूपस्योपस्कुरुते** (विलास रूप में नया गुण लाता है), **शोधनादिसंस्कारजातं सूतस्योपस्कुरुते** (शोधनादि संस्कारों से पारद में नया गुण उत्पन्न हो जाता है) ।

विकृतमेव वैकृतम्—विकारः । विकृतशब्द से स्वार्थ में अण् प्रत्यय करने पर 'वैकृत' शब्द सिद्ध होता है[3] । इस प्रकार वैकृत का अर्थ है—विकार । **उपस्कृतं भुङ्क्ते** । उपस्कृतं (सविकारं) यथा भवति तथा भुङ्क्ते । अर्थात् ठीक ढंग से नहीं खाता, विकृत रीति से खाता है । यहां 'उपस्कृत' शब्द क्रियाविशेषण होने से नपुंसकलिङ्ग में द्वितीया का एकवचनान्त प्रयुक्त हुआ है ।

वाक्याऽध्याहार आकाङ्क्षितैकदेशपूरणम् । आकाङ्क्षित (अभीष्ट) वाक्य

---

१. एधस् (नपुं०) या एध (पुं०) शब्द ईन्धन के वाचक हैं । प्रथमाविभक्ति के एकवचन में दोनों का 'एधः' रूप बनता है अतः यहां किसी का भी प्रयोग समझा जा सकता है । 'दक' (नपुं०) शब्द जलवाचक है—**जीवनं भुवनं दकम्** (अमरकोष)। 'दकस्य' में '**कृञः प्रतियत्ने**' (२.३.५३) सूत्रद्वारा कर्म में शेषत्व की विवक्षा होने पर षष्ठीविभक्ति हुई है । 'उपस्कुरुते' में आत्मनेपद का विधान '**गन्धनावक्षेपण०**' (१.३.३२) सूत्र से किया गया है अतः परस्मैपद का प्रयोग वर्जित है । यह वाक्य बहुत प्राचीन है । इस का मूल अन्वेष्टव्य है । प्राचीन वैयाकरण 'एधोदकस्य' को समस्त पद मानते हैं । 'एध+उदक' अथवा 'एधस्+दक' दोनों प्रकार से समाहारद्वन्द्व करने पर 'एधोदक' बनता है । उनके मत में अर्थ है—लकड़ी और जल को उपस्कृत अर्थात् शुद्ध करता है (यज्ञ के लिये समिधाओं और जल की शुद्धि का शास्त्र में विधान है) ।

२. निम्ब करञ्ज आदि ईन्धनविशेष के परिताप से जल में अनेक प्रकार के गुणों का आधान होना चिकित्साशास्त्र में प्रसिद्ध है । अथवा—क्वाथ के जल में निम्बादि काष्ठौषधों के योग से नाना प्रकार के गुणों का समावेश सर्वविदित है ।

३. '**प्रज्ञादिभ्यश्च**' (१२४०) से स्वार्थ में अण् प्रत्यय हुआ है । जिस प्रकार प्रज्ञ से प्राज्ञ, चोर से चौर, बन्धु से बान्धव, मरुत् से मारुत, देवता से दैवत, पिशाच से

के एकदेश अर्थात् पदों के अध्याहार करने को 'वाक्याध्याहार' कहते हैं[1]। **उपस्कृतम्** (उपस्कृतं यथा भवति तथा) **ब्रूते**। वाक्यगत पदों का अध्याहार करते हुए बोलता है। यहां भी पूर्ववत् 'उपस्कृतम्' को क्रियाविशेषण समझना चाहिये।

भूषण (सजाना) अर्थ यथा—उपस्कृता कन्या (सजी हुई कन्या)। यहां उपपूर्वक कृ धातु का क्तान्त प्रयोग किया गया है।

समवाय (समुदाय—इकट्ठा होना) अर्थ यथा–उपस्कृता ब्राह्मणाः (इकट्ठे हुए ब्राह्मण)। यहां भी क्तान्त प्रयोग है।

उपसर्गों के साथ कृ धातु के कुछ अन्य प्रयोग यथा—

अधि √कृ = अधिकारी बनाना, प्रधान नियुक्त करना (**पाण्डवेन ह्ययं तात ! अश्वेष्वधिकृतः पुरा**—महाभारत); विषय बनाना (**किरातार्जुनौ अधिकृत्य कृतं काव्यं** किरातार्जुनीयम्, **'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे'** ११०३); दबाना, वश में करना (**अधिचक्रे न यं हरिः**—भट्टि० ८.२०, **'अधेः प्रसहने'** १.३.३३ से आत्मनेपद); समर्थ होने पर भी सहन करना (**भवादृशाश्चेदधिकुर्वते परान्**—पदमञ्जरी १.३.३३ पर); प्रारम्भ करना (**अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते**—महाभाष्य)।

अनु √कृ = नकल करना, अनुकरण करना (**न गुरोरनुकुर्वीत[2] गतिभाषित-चेष्टितम्**—मनु० २.१९९); सदृश होना (**ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रोष्ठ-पर्यस्तरुचः स्मितस्य**—कुमार० १.४४)।

अप √कृ = अपकार करना, बदला चुकाना (**आपदि येनाऽपकृतं येन च हसितं दशासु विषमासु। अपकृत्य तयोरुभयोः पुनरपि जातं नरं मन्ये**—पञ्च० ४.१६)।

प्रति √कृ = प्रतिकार करना, हटाने का उपाय करना (**आगतं तु भयं वीक्ष्य प्रतिकुर्याद् यथोचितम्**—हितोप० १.५७; **व्याधिमिच्छामि ते ज्ञातुं प्रतिकुर्यां हि तत्र वै**—महाभारत)।

वि √कृ = विकृत करना, बिगाड़ना, दूषित करना (**चित्तं विकरोति कामः**—सि० कौ०; **विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः**—कुमार० १.५९); उच्चारण करना (**स्वरान् विकुरुते**, उच्चारयतीत्यर्थः। **'वेः शब्दकर्मणः'** १.३.३४ इत्यात्मनेपदम्); विकृत होना, व्यर्थ चेष्टा करना (**छात्रा विकुर्वते**, विकारं लभन्त इति सि० कौ०, **ओदनस्य पूर्णाश्छात्रा विकुर्वते**, निष्फलं चेष्टन्त इति काशिका। **'अकर्मकाच्च'** १.३.३५ इत्यात्मनेपदम्)।

प्र √कृ = करना (**जानन्नपि नरो दैवात् प्रकरोति विगर्हितम्**—पञ्च०

पैशाच, मनस् से मानस आदि शब्द बनते हैं वैसे यहां विकृत से वैकृत शब्द बना है।

१. **'समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते'** इस न्याय के अनुसार यहां वाक्यशब्द वाक्यांश में प्रयुक्त हुआ है। वाक्यांश पद हुआ करते हैं अतः पदों के अध्याहार का नाम वाक्याध्याहार है।

२. **आत्मनेपदमार्षम्। 'अनुपराभ्यां कृञः'** (६४६) इति परस्मैपदविधानात्।

४.३५); कहना (**गाथाः प्रकुरुते, जनापवादान् प्रकुरुते, प्रकर्षेण** कथयतीति काशिका। '**…प्रकथनोपयोगेषु कृञः**' १.३.३२ इत्यात्मनेपदम्); दुःसाहस करना, व्यभिचारार्थ वशीभूत करना (**परदारान् प्रकुरुते**—काशिका। पूर्ववत् १.३.३२ इत्यात्मनेपदम्); उपयोग करना (**शतं प्रकुरुते, सहस्रं प्रकुरुते,** धर्मार्थं विनियुङ्क्त इत्यर्थ इति काशिका। १.३.३२ इत्यात्मनेपदम्)।

उप√कृ—उपकार करना (**सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम्**—किरात० ७.२८); लाभ पहुँचाना (**न हि दीपौ परस्परस्योपकुरुतः**—शाङ्करभाष्य); सेवा करना (**आचार्यमुपकुरुते**। '**गन्धनावक्षेपणसेवन०**' १.३.३२ इत्यात्मनेपदम्)।

अप+आ√कृ—नाश करना, दूर भगाना (**मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति**—नीति० १९)।

वि+आ√कृ—व्याख्या करना, विवेचन करना (**ग्रन्थानधीत्य व्याकर्तुमिति दुर्मेधसोऽप्यलम्**—माघ २.२७; **व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति** व्याकरणम्)।

परा√कृ=परे हटाना, दूर करना, छोड़ना (**ता हनूमान् पराकुर्वन्नगमत् पुष्पकं प्रति**—भट्टि० ८.५०, '**अनुपराभ्यां कृञः**' ७४५ इति परस्मैपदम्)।

आ√कृ (णिजन्त)=पुकारना (**रदनिकाम् आकारय**–मृच्छ० ३); बुलाना (**प्रहितः प्रधनाय माधवान् अहमाकारयितुं महीभृता**—माघ १६.५२)।

निर्+आ√कृ=निराकरण करना, हटाना, दूर करना, खण्डन करना (**तेन भ्राता निराकृतः**—भट्टि० ६.१०१; **निराकरिष्णुः**—३.२.१३६)।

उपसर्गयोग के अतिरिक्त अन्य निपातों के साथ भी कृ धातु के विविध प्रयोग देखे जाते हैं—

(१) **साक्षात्करोति**=**साक्षात्कार करता है,** दर्शन करता है। साक्षात्कृत्य।

(२) **ऊरीकरोति**=स्वीकार करता है। ऊरीकृत्य=स्वीकार कर के।

(३) **उररीकरोति**=स्वीकार करता है। उररीकृत्य=स्वीकार कर के।

(४) **नमस्करोति**=नमस्कार करता है। **मुनित्रयं नमस्कृत्य**—सि० कौ०।

(५) **पुरस्करोति**=आगे करता है (**हते जरति गाङ्गेये पुरस्कृत्य शिखण्डिनम्**—वेणी० २.१८)।

(६) **आविष्करोति**=प्रकट करता है। आविष्कृत्य=प्रकट कर के।

(७) **तिरस्करोति**=छिपाता है, निरादर करता है। तिरस्कृत्य=छिपा कर, निरादर कर[1]। (**गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभिस्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम्**—भामिनी०)।

---

१. निरादर भी एक प्रकार से अन्तर्धि है (देखें वामनकाव्यसूत्र ५.२.११)। अतः इस अर्थ में '**तिरोऽन्तर्धौ**' (१.४.७०) से '**अन्तर्धौ**' की अनुवृत्ति आने पर '**विभाषा कृञि**' (१.४.७१) से वैकल्पिक गतिसञ्ज्ञा हो जाती है। गतिपक्ष में '**कुगतिप्रादयः**' (९४९) से समास तथा '**तिरसोऽन्यतरस्याम्**' (८.३.४२) से विसर्ग को विकल्प से सकारादेश हो जाता है।

(८) **सत्करोति**=सत्कार करता है। सत्कृत्य=सत्कार कर के।

(९) **अलङ्करोति**=अलंकृत करता है, सजाता है। **अलङ्कृत्य**=सजा कर।

कृ धातु के साथ कुछ च्विप्रत्ययान्त तथा सातिप्रत्ययान्त प्रयोग भी बहुत प्रसिद्ध हैं। यथा—**स्वीकरोति**=स्वीकार करता है। **अङ्गीकरोति**=अङ्गीकार करता है (**अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति**—सुभाषित)। **आकुलीकरोति**=व्याकुल करता है। **सनाथीकरोति**=सनाथित करता है। **सफलीकरोति**=सफल करता है। **विफलीकरोति**=विफल करता है। **प्रमाणीकरोति**=प्रमाण मानता है। **सज्जीकरोति**=तैयार करता है। **धूलीकरोति**=धूलि में मिलाता है। **भस्मसात्करोति**=भस्म करता है। **अग्निसात्करोति**=आग लगाता है। **आत्मसात्करोति**=अपने अधीन करता है[1]।

यहां तक तनादिगण की उभयपदी धातुओं का वर्णन समाप्त हुआ।

अब आत्मनेपदी धातुओं का विवेचन प्रारम्भ करते हैं—

[लघु०] **वनुँ याचने** ॥७॥ वनुते। ववने॥

अर्थः—वनुँ (वन्) धातु 'मांगना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2]।

व्याख्या—यह धातु अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है। उदित्करण '**उदितो वा**' (८८२) द्वारा क्त्वा में इट् के विकल्प के लिए किया गया है—वत्वा, वनित्वा। इस की प्रक्रिया प्राय: '**तनुँ विस्तारे**' के आत्मनेपद की तरह होती है।

लँट्—**वनुते, वन्वाते, वन्वते**। लिँट्—में एत्त्वाभ्यासलोप (४६०) का '**न शस-दद-वादि-गुणानाम्**' (५४१) से निषेध हो जाता है—**ववने, ववनाते, ववनिरे**। लुँट्—**वनिता, वनितारौ, वनितारः**। **वनितासे**—। लृँट्—**वनिष्यते**। लोँट्—**वनुताम्, वन्वाताम्, वन्वताम्**। लँङ्—**अवनुत, अवन्वाताम्, अवन्वत**। वि० लिँङ्—**वन्वीत, वन्वीयाताम्, वन्वीरन्**। आ० लिँङ्—**वनिषीष्ट, वनिषीयास्ताम्, वनिषीरन्**। लुँङ्—**अवत-अवनिष्ट, अवनिषाताम्, अवनिषत**। **अवथाः-अवनिष्ठाः, अवनिषाथाम्, अवनिढ्वम्**। **अवनिषि, अवनिष्वहि, अवनिष्महि**। लृँङ्—**अवनिष्यत**॥

[लघु०] **मनुँ अवबोधने** ॥८॥ मनुते। मेने। मनिता। मनिष्यते। मनुताम्। अमनुत। मन्वीत। मनिषीष्ट। अमत-अमनिष्ट। अमनिष्यत॥

अर्थः—मनुँ (मन्) धातु 'जानना-मानना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्वोक्त '**वनुँ याचने**' धातु की तरह उदित्, आत्मनेपदी तथा सेट् है। उदित् करने का फल '**उदितो वा**' (८८२) से क्त्वा में इट् का

---

१. च्वि तथा साति प्रत्ययों का विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ के तद्धितप्रकरणान्तर्गत स्वार्थिक प्रत्ययों में किया जायेगा।

२. यह धातु द्विकर्मक है। जिस से मांगा जाये और जो मांगा जाये उन दोनों में द्वितीया विभक्ति आती है—**न विना तोयदादितरं वनुते चातको जलम्**।

विकल्प करना है—मत्वा-मनित्वा। लिँट् के सिवाय अन्यत्र इस की प्रक्रिया वनुँ धातु की तरह होती है। लिँट् में 'अत एकहल्मध्ये०' (४६०) से एत्त्वाभ्यासलोप हो जाता है।

लँट्—मनुते, मन्वाते, मन्वते। लिँट्—मेने, मेनाते, मेनिरे। लुँट्—मनिता, मनितारौ, मनितारः। मनितासे—। लृँट्—मनिष्यते। लोँट्—मनुताम्, मन्वाताम्, मन्वताम्। लँङ्—अमनुत, अमन्वाताम्, अमन्वत। वि० लिँङ्—मन्वीत, मन्वीयाताम्, मन्वीरन्। आ० लिँङ्—मनिषीष्ट, मनिषीयास्ताम्, मनिषीरन्। लुँङ्—अमत-अमनिष्ट, अमनिषाताम्, अमनिषत। अमथाः-अमनिष्ठाः, अमनिषाथाम्, अमनिढ्वम्। अमनिषि, अमनिष्वहि, अमनिष्महि। लृँङ्—अमनिष्यत।

अभ्यास (१४)

(१) उत्तर दीजिये—

(क) डुकृञ् में डु को इत् करने का क्या प्रयोजन है?

(ख) 'तनुँ' धातु को उदित् करने का क्या प्रयोजन है?

(ग) 'कुर्वः, कुर्मः' में 'लोपश्चास्या०' से उकार का वैकल्पिक लोप क्यों नहीं?

(घ) 'ववने' में एत्त्वाभ्यासलोप क्यों नहीं होता?

(ङ) 'अक्षणीत्' में वृद्धि क्यों नहीं होती?

(२) सप्रसङ्ग सोदाहरण विस्तृत व्याख्या करें—

(क) उप्रत्यये लघूपधस्य गुणो वा।

(ख) क्वचिदभूषणेऽपि सुट्, 'सँस्कृतं भक्षाः' इति निर्देशात्।

(ग) सञ्ज्ञापूर्वको विधिरनित्यः।

(घ) एधो दकस्योपस्कुरुते।

(३) निम्न रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

क्रियात्, कृषीष्ट, अतत, सायात्, कुर्वन्ति, क्षिणोति-क्षेणोति, कुर्मः, करिष्यति, उपस्कृतं ब्रूते।

(४) तनादिगण में लुँङ् (आत्मनेपद) प्रथम वा मध्यम पु० के एकवचन में प्रत्येक धातु के दो दो रूप बनते हैं परन्तु कृञ् का एक रूप क्यों? सहेतुक बताएं।

(५) 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' वाला सुट् कहां करना चाहिये?

(६) सूत्रों की व्याख्या करें—

न भकुर्छुराम्, उपात्प्रतियत्न०, नित्यं करोतेः, जनसनखनां सञ्झलोः, तनादिभ्यस्तथासोः, ये विभाषा।

इति तिङन्ते तनादयः

(यहां पर तनादिगण की धातुओं का विवेचन समाप्त होता है)

अथ तिङन्ते क्र्यादयः

अब तिङन्तप्रकरण में क्र्यादिगण की धातुओं का निरूपण किया जाता है—

[लघु०] **डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये ॥१॥**

अर्थः—डुक्रीञ् (क्री) धातु 'द्रव्यों का परिवर्त्तन करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—किसी वस्तु को देकर कोई अन्य वस्तु लेना द्रव्यविनिमय कहलाता है। दूसरे शब्दों में इसे 'खरीदना' कह सकते हैं। यद्यपि 'बेचना' भी द्रव्यविनिमय ही है तथापि उस अर्थ की विवक्षा में इस धातु से पूर्व 'वि' उपसर्ग लगाया जाता है, शुद्ध धातु खरीदना अर्थ में ही प्रयुक्त होती है। इस धातु में **'आदिर्ञिटुडवः'** (४६२) से 'डु' की तथा **'हलन्त्यम्'** (१) से अन्त्य ञकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है। दोनों इतों का लोप होकर 'क्री' मात्र अवशिष्ट रहता है। ञित् होने से यह धातु उभयपदी है। डु को इत् करने का प्रयोजन **'ड्वितः क्त्रिः'**(८५७) से क्त्रिप्रत्यय कर **'क्त्रेर्मम् नित्यम्'** (८५८) द्वारा मप् करना है—क्रीत्रिमम् (खरीद से उत्पन्न)। **'ऊदृदन्तैः०'** के अनुसार अनुदात्त होने से यह धातु अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है परन्तु अजन्त होने से थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प।

लँट्—परस्मैपद प्र० पु० के एकवचन में 'क्री+ति' इस स्थिति में **'कर्तरि शप्'** (३८७) से शप् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम अपवादसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६८४) क्र्यादिभ्यः श्ना ।३।१।८१॥

शपोऽपवादः। क्रीणाति। **ई हल्यघोः (६१८)**—क्रीणीतः। **श्नाऽभ्यस्तयोरातः (६१९)**—क्रीणन्ति। क्रीणासि, क्रीणीथः, क्रीणीथ। क्रीणामि, क्रीणीवः, क्रीणीमः। क्रीणीते, क्रीणाते, क्रीणते। क्रीणीषे, क्रीणाथे, क्रीणीध्वे। क्रीणे, क्रीणीवहे, क्रीणीमहे। चिक्राय, चिक्रियतुः, चिक्रियुः। चिक्रयिथ-चिक्रेथ। चिक्रिये। क्रेता। क्रेष्यति। क्रेष्यते। क्रीणातु-क्रीणीतात्, क्रीणीताम्। अक्रीणात्। अक्रीणीत। क्रीणीयात्। क्रीणीत। क्रीयात्। क्रेषीष्ट। अक्रैषीत्। अक्रेष्ट। अक्रेष्यत्। अक्रेष्यत॥

अर्थः—कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे हो तो क्री आदि धातुओं से परे श्नाप्रत्यय हो जाता है।

व्याख्या—क्र्यादिभ्यः ।५।३। श्ना ।१।१। (लुप्तविभक्तिको निर्देशः)। कर्तरि ।७।१। (**'कर्तरि शप्'** से)। सार्वधातुके ।७।१। (**'सार्वधातुके यक्'** से)। **'प्रत्ययः, परश्च'** दोनों अधिकृत हैं। क्रीरादिर्येषान्ते क्र्यादयस्तेभ्यः=क्र्यादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(कर्तरि) कर्ता अर्थ में (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे हो तो (क्र्यादिभ्यः) क्री आदि धातुओं से (परः) परे (श्ना) श्ना (प्रत्ययः)

प्रत्यय हो जाता है। यह सूत्र शप् का अपवाद है । 'श्ना' के शकार की **'लशक्वतद्धिते'** (१३६) से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है अतः उस का लोप कर 'ना' मात्र अवशिष्ट रहता है । श्ना को शित् करने का प्रयोजन **'तिङ्शित्सार्वधातुकम्'** (३८६) से सार्वधातुक-सञ्ज्ञा करना है । सार्वधातुकसञ्ज्ञा के कारण **'ई हल्यघोः'** (६१८) आदि सूत्रों की प्रवृत्ति होती है तथा **'सार्वधातुकमपित्'** (५००) से ङिद्वद्भाव हो कर धातु में गुण का भी निषेध हो जाता है ।

'क्री+ति' यहां पर 'ति' यह कर्त्रर्थ सार्वधातुक परे विद्यमान है अतः प्रकृत-सूत्र से श्नाप्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से 'क्री+ना+ति' हुआ । श्नाप्रत्यय शित्त्वात् सार्वधातुक है और साथ ही अपित् भी है अतः **'सार्वधातुकमपित्'** (५००) से ङिद्वद्भाव के कारण इस के परे रहते **'सार्वधातुकाऽऽर्धधातुकयोः'** (३८८) द्वारा क्री के ईकार को गुण नहीं होता । अब **'अट्कुप्वाङ्०'** (१३८) से श्ना के नकार को णकार आदेश करने पर 'क्रीणाति' प्रयोग सिद्ध होता है ।

प्र० पु० के द्विवचन में 'क्री+ना+तस्' इस स्थिति में 'तस्' यह हलादि ङित् सार्वधातुक परे है अतः **'ई हल्यघोः'** (६१८) से श्ना के आकार को ईकार आदेश हो जाता है—क्रीणीतः ।

प्र० पु० के बहुवचन में झि के झकार को अन्त् आदेश हो जाता है—क्री+ना+अन्ति । अब 'अन्ति' इस अजादि ङित् सार्वधातुक के परे होने से **'श्नाऽभ्यस्तयोरातः'** (६१९) द्वारा आकार का लोप हो कर 'क्रीणन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार आगे भी हलादि ङित् सार्वधातुक के परे रहते ईत्व तथा अजादि ङित् सार्वधातुक के परे होने पर आकार का लोप होता जायेगा। लँट् में रूपमाला यथा—(परस्मै०) **क्रीणाति, क्रीणीतः, क्रीणन्ति । क्रीणासि, क्रीणीथः, क्रीणीथ । क्रीणामि, क्रीणीवः, क्रीणीमः ।** (आत्मने०) **क्रीणीते, क्रीणाते, क्रीणते** (**आत्मनेपदेष्वनतः** ५२४) **क्रीणीषे, क्रीणाथे, क्रीणीध्वे । क्रीणे, क्रीणीवहे, क्रीणीमहे ।**

लिँट्—परस्मै० प्र० पु० के एकवचन में णल्, द्वित्व, **'कुहोश्चुः'** (४५४) से अभ्यास को चुत्व, **'अचो ञ्णिति'** (१८२) से वृद्धि और अन्त में ऐकार को आय् आदेश करने पर 'चिक्राय' प्रयोग सिद्ध होता है । अतुस् आदि **'असंयोगाल्लिँट् कित्'** (४५२) से कित् हैं अतः गुण का निषेध होकर **'अचि श्नु०'** (१९९) से धातु के ईकार को इयँङ् आदेश हो जाता है—चिक्रियतुः[1] । इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिये । थल् में भारद्वाजनियम से इट् का विकल्प हो कर दोनों पक्षों में गुण हो जाता है—चिक्रयिथ-चिक्रेथ । रूपमाला यथा—(परस्मै०) **चिक्राय, चिक्रियतुः, चिक्रियुः । चिक्रयिथ-चिक्रेथ, चिक्रियथुः, चिक्रिय । चिक्राय-चिक्रय, चिक्रियिव, चिक्रियिम ।** (आत्मने०) **चिक्रिये, चिक्रियाते, चिक्रियिरे । चिक्रियिषे, चिक्रियाथे, चिक्रियिढ्वे-चिक्रियिध्वे** (**विभाषेटः** ५२७) **। चिक्रिये, चिक्रियिवहे, चिक्रियिमहे ।**

१. संयोगपूर्व होने से **'एरनेकाचः०'** (२००) से यण् नहीं होता ।

लुँट्—(परस्मै०) **क्रेता, क्रेतारौ, क्रेतारः। क्रेतासि—।** (आत्मने०) **क्रेता, क्रेतारौ, क्रेतारः। क्रेतासे—।** लृँट्—(परस्मै०) **क्रेष्यति।** (आत्मने०) **क्रेष्यते।** लोँट्—(परस्मै०) **क्रीणातु-क्रीणीतात्, क्रीणीताम्, क्रीणन्तु। क्रीणीहि-क्रीणीतात्, क्रीणीतम्, क्रीणीत। क्रीणानि, क्रीणाव, क्रीणाम।** (आत्मने०) **क्रीणीताम्, क्रीणाताम्, क्रीणताम्। क्रीणीष्व, क्रीणाथाम्, क्रीणीध्वम्। क्रीणै, क्रीणावहै, क्रीणामहै।** ध्यान रहे कि लोँट् के उ० पु० में आट् का आगम पित् होता है अतः **'सार्वधातुकमपित्'** (५००) से ङिद्वद्भाव नहीं होता। ङित् न होने से ईत्व अथवा आकारलोप कहीं नहीं होता।

लँङ्—(परस्मै०) **अक्रीणात्, अक्रीणीताम्, अक्रीणन्। अक्रीणाः, अक्रीणीतम्, अक्रीणीत। अक्रीणाम्, अक्रीणीव, अक्रीणीम।** (आत्मने०) **अक्रीणीत, अक्रीणाताम्, अक्रीणत। अक्रीणीथाः, अक्रीणाथाम्, अक्रीणीध्वम्। अक्रीणि, अक्रीणीवहि, अक्रीणीमहि।** वि० लिँङ्—(परस्मै०) में यासुट् के ङित् होने से सर्वत्र ईत्व हो जाता है—**क्रीणीयात्, क्रीणीयाताम्, क्रीणीयुः।** (आत्मने०) में सर्वत्र अजादि ङित् परे होने से आकार का लोप हो जाता है—**क्रीणीत, क्रीणीयाताम्, क्रीणीरन्।** आ० लिँङ्—(परस्मै०) **क्रीयात्, क्रीयास्ताम्, क्रीयासुः** (आत्मने०) **क्रेषीष्ट, क्रेषीयास्ताम्, क्रेषीरन्।**

लुँङ्—(परस्मै०) में इगन्तलक्षणा वृद्धि (४८४) हो जाती है—**अक्रैषीत्, अक्रैष्टाम्, अक्रैषुः।** (आत्मने०) में आर्धधातुकलक्षण गुण (३८८) हो जाता है—**अक्रेष्ट, अक्रेषाताम्, अक्रेषत।** लृँङ्—(परस्मै०) **अक्रेष्यत्।** (आत्मने०) **अक्रेष्यत।**

उपसर्गयोग—परि, वि और अव उपसर्गों के साथ क्री धातु का बहुधा प्रयोग देखा जाता है। तब **'परिव्यवेभ्यः क्रियः'** (७३४) सूत्रद्वारा केवल आत्मनेपद का ही प्रयोग होता है[1]।

परि√क्री=नियतसमय के लिये खरीदना (**शतेन शताय वा परिक्रीतोऽश्वः**—सि० कौमुदी; **'परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्'** १.४.४४ से करण की विकल्प से सम्प्रदानसञ्ज्ञा हो जाती है)।

वि√क्री=बेचना (**रामं सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थे, विक्रीणीते यो नरस्तञ्च धिग्धिक्। अस्मिन्पद्ये योऽपशब्दं न वेत्ति, व्यर्थप्रज्ञं पण्डितं तं च धिग्धिक्**[2])।

अव√क्री=खरीदना (**ब्राह्मणं क्षत्त्रियं वा सहस्रेण शताश्वेनाऽवक्रीय**—साङ्ख्यायनश्रौत० १५.१०.१)।

उप√क्री=खरीदना (**घटशरावादीन् उपक्रीय**—हितोप० देवशर्मकथा)

सम्√क्री=खरीदना (**न च मे विद्यते वित्तं संक्रेतुं पुरुषं क्वचित्**—महाभारत)।

---

१. **'नाऽकस्माच्छाण्डिली मातर्विक्रीणाति तिलैस्तिलान्**—पञ्चतन्त्र का यह प्रयोग उस के अन्य अनेक प्रयोगों की तरह असाधु ही समझना चाहिये।

२. अत्र **'इवे प्रतिकृतौ'** (१२३८) इति विहितस्य कनः **'जीविकार्थे चाऽपण्ये'** (५.३.९९) इति लुपोऽभावाद् 'हस्तिकान् विक्रीणीते' इत्यादिवद् 'रामकं सीतिकां **लक्ष्मणकम्'** इत्येवं साधुत्वमवसेयम्।

[लघु०] **प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च** ।।२।। प्रीणाति; प्रीणीते ।।

अर्थः—प्रीञ् (प्री) धातु 'तृप्त करना, तृप्त होना, चमकना' अर्थों में प्रयुक्त होती है[1] ।

व्याख्या—यह धातु भी 'क्रीञ्' धातु की तरह ञित् होने से उभयपदी तथा उदात्तों में परिगणित न होने से अनुदात्त है । लिँट् में क्रादिनियम से इट् हो जाता है परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प । इस की रूपमाला तथा प्रक्रिया पूर्णतया क्रीञ् धातु की तरह समझनी चाहिये ।

लँट्—(परस्मै०) **प्रीणाति, प्रीणीतः, प्रीणन्ति** । (आत्मने०) **प्रीणीते, प्रीणाते, प्रीणते** । लिँट्—(परस्मै०) **पिप्राय, पिप्रियतुः, पिप्रियुः** । **पिप्रयिथ-पिप्रेथ**— । (आत्मने०) **पिप्रिये, पिप्रियाते, पिप्रियिरे** । लुँट्—(परस्मै०) **प्रेता, प्रेतारौ, प्रेतारः** । **प्रेतासि**— । (आत्मने०) **प्रेता, प्रेतारौ, प्रेतारः** । **प्रेतासे**— । लृँट्—(परस्मै०) **प्रेष्यति** । (आत्मने०) **प्रेष्यते** । लोँट्—(परस्मै०) **प्रीणातु-प्रीणीतात्, प्रीणीताम्, प्रीणन्तु** । (आत्मने०) **प्रीणीताम्, प्रीणाताम्, प्रीणताम्** । लँङ्—(परस्मै०) **अप्रीणात्, अप्रीणीताम्, अप्रीणन्** । (आत्मने०) **अप्रीणीत, अप्रीणाताम्, अप्रीणत** । वि० लिँङ्—(परस्मै०) **प्रीणीयात्, प्रीणीयाताम्, प्रीणीयुः** । (आत्मने०) **प्रीणीत, प्रीणीयाताम्, प्रीणीरन्** । आ० लिँङ्—(परस्मै०) **प्रीयात्, प्रीयास्ताम्, प्रीयासुः** । (आत्मने०) **प्रेषीष्ट, प्रेषीयास्ताम्, प्रेषीरन्** । लुँङ्—(परस्मै०) **अप्रैषीत्, अप्रैष्टाम्, अप्रैषुः** । (आत्मने०) **अप्रेष्ट, अप्रेषाताम्, अप्रेषत** । लृँङ्—(परस्मै०) **अप्रेष्यत्** । (आत्मने०) **अप्रेष्यत** ।

[लघु०] **श्रीञ् पाके** ।।३।। श्रीणाति; श्रीणीते ।।

अर्थः—श्रीञ् (श्री) धातु 'पकाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2] ।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् उभयपदी तथा अनुदात्त है । इस की प्रक्रिया भी क्रीञ् धातु की तरह समझनी चाहिये ।

लँट्—(परस्मै०) **श्रीणाति** । (आत्मने०) **श्रीणीते** । लिँट्—(परस्मै०) **शिश्राय, शिश्रियतुः, शिश्रियुः** । **शिश्रयिथ-शिश्रेथ**— । (आत्मने०) **शिश्रिये, शिश्रियाते, शिश्रियिरे** । लुँट्—(परस्मै०) **श्रेता, श्रेतारौ, श्रेतारः** । **श्रेतासि**— । (आत्मने०)

---

१. 'तर्पण' से यहां 'तृप्त होना और तृप्त करना' दोनों अर्थों का ग्रहण किया जाता है (देखें **कविकल्पद्रुम** की व्याख्या में **श्रीदुर्गादास**) । **प्रभुः प्रीणातु विश्वभुक्**—दुर्गादास; **कच्चिन्मनस्ते प्रीणाति वनवासे**—महाभारत; **प्रीणाति यः सुचरितैः पितरं स पुत्रः**—नीति० । 'कान्ति' का भी यहां कई लोग 'चाहना' अर्थ करते हैं परन्तु **जैनेन्द्रव्याकरण** में इस का 'दीप्ति' अर्थ दिया गया है । 'कान्ति' अर्थ में इस के प्रयोग अन्वेष्टव्य हैं ।

२. **गोभिः श्रीणीत मत्सरम्**—ऋग्वेद ७.१.३ ।

श्रेता, श्रेतारौ, श्रेतारः। श्रेतासे—। लृँट्—(परस्मै०) श्रेष्यति। (आत्मने०) श्रेष्यते। लोँट्—(परस्मै०) श्रीणातु-श्रीणीतात्। (आत्मने०) श्रीणीताम्। लँङ्—(परस्मै०) अश्रीणात्। (आत्मने०) अश्रीणीत। वि० लिँङ्—(परस्मै०) श्रीणीयात्। (आत्मने०) श्रीणीत। आ० लिँङ्—(परस्मै०) श्रीयात्। (आत्मने०) श्रेषीष्ट। लुँङ्—(परस्मै०) अश्रैषीत्। (आत्मने०) अश्रेष्ट। लृँङ्—(परस्मै०) अश्रेष्यत्। (आत्मने०) अश्रेष्यत।

[लघु०] मीञ् हिंसायाम् ॥४॥

अर्थः—मीञ् (मी) धातु 'हिंसा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् ञित् होने से उभयपदी तथा उदात्तों में परिगणित न होने से अनुदात्त है। लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प होता है।

लँट्—(परस्मै०) **मीनाति, मीनीतः, मीनन्ति**। (आत्मने०) **मीनीते, मीनाते, मीनते**।

'प्र+मीनाति' इत्यादियों में णत्व करना अभीष्ट है परन्तु अखण्डपद न होने से वह '**अट्कुप्वाङ्०**' (१३८) से प्राप्त नहीं होता, अतः इस के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६८५) हिनु-मीना ।८।४।१५॥

उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य एतयोर्नस्य णः स्यात्। प्रमीणाति-प्रमीणीते। **मीनाति०** (६३८) इत्यात्त्वम्। ममौ, मिम्यतुः। ममिथ-ममाथ। मिम्ये। माता। मास्यति। मीयात्; मासीष्ट। अमासीत्; अमासिष्टाम्। अमास्त॥

अर्थः—उपसर्गस्थ निमित्त से परे हिनु और मीना के नकार को णकार आदेश हो।

व्याख्या—उपसर्गात् ।५।१। ('**उपसर्गादसमासेऽपि०**' से)। रषाभ्याम् ।५।२। ('**रषाभ्यां नो णः०**' से)। हिनुमीना ।६।२। (लुप्तविभक्तिको निर्देशः)। नः ।६।१। णः ।१।१। (णकारादकार उच्चारणार्थः)। स्वादिगणीय '**हि गतौ**' धातु से श्नुप्रत्यय करने पर 'हिनु' तथा क्र्यादिगणीय प्रकृत मीञ् धातु से श्ना विकरण करने पर 'मीना' रूप बनता है। कृतविकरण इन दोनों धातुओं का ही यहां ग्रहण अभीष्ट है। **अर्थः**—(उपसर्गात्) उपसर्गस्थ (रषाभ्याम्) रेफ या षकार से परे (हिनु-मीना) हिनु और मीना के (नः) नकार के स्थान पर (णः) णकार आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

हिनु—प्र+हिनोति=प्रहिणोति। प्र+हिनुतः=प्रहिणुतः।
मीना—प्र+मीनाति=प्रमीणाति। प्र+मीनीते=प्रमीणीते[1]।

---

१. प्र+हिनोति, प्र+मीनीते इत्यादि में यद्यपि अब हिनु और मीना नहीं हैं

मीञ् धातु से जब एज्निमित्त प्रत्यय अर्थात् कोई ऐसा प्रत्यय करना होता है जिस के कारण 'मी' के ईकार को एच् (गुण या वृद्धि) प्राप्त होता हो तो **'मीनाति-मिनोति-दीङां ल्यपि च'** (६३८) सूत्रद्वारा मीञ् के ईकार को आकार आदेश होकर **'मा'** रूप बन जाता है।

लिँट्—(परस्मै०) के प्र० पु० के एकवचन में णल् एज्निमित्तक प्रत्यय है क्योंकि इस के परे रहते वृद्धि प्राप्त होती है अतः णल् के विषय में आत्व होकर 'मा' बन जाता है। अब 'पपौ' की तरह **'आत औ णलः'** (४८८) द्वारा णल् को औकार आदेश कर द्वित्व और वृद्धि करने पर 'ममौ' रूप सिद्ध होता है। अतुस् के कित् हो जाने से गुण नहीं हो सकता अतः वह एज्निमित्त नहीं इस लिये उस के विषय में आत्व नहीं होता—'मिमी+अतुस्' इस स्थिति में **'एरनेकाचः०'** (२००) से यण् होकर **'मिम्यतुः'** प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार उस् में—मिम्युः। थल् भी एज्निमित्त प्रत्यय है क्योंकि उस के परे होने पर गुण हो जाता है अतः आत्व होकर भारद्वाजनियम से इट् का विकल्प तथा आकारलोप (४८९) करने पर—ममिथ-ममाथ। इसी प्रकार आगे भी एज्निमित्तों में यथासम्भव आत्व कर लेना चाहिये। परस्मैपद में रूपमाला यथा—**ममौ, मिम्यतुः, मिम्युः। ममिथ-ममाथ, मिम्यथुः, मिम्य। ममौ, मिम्यिव, मिम्यिम**। आत्मने० में सर्वत्र कित्त्व के कारण कोई प्रत्यय एज्निमित्त नहीं अतः वहां आत्व नहीं होता—**मिम्ये, मिम्याते, मिम्यिरे। मिम्यिषे, मिम्याथे, मिम्यिढ्वे-मिम्यिध्वे। मिम्ये, मिम्यिवहे, मिम्यिमहे।**

लुँट्—में तास् के परे रहते गुण प्राप्त होता है अतः वह एज्निमित्त है, उस के विषय में आत्व हो जाता है—(परस्मै०) **माता, मातारौ, मातारः। मातासि**—। (आत्मने०) **माता, मातारौ, मातारः। मातासे**—।

लृँट्—में स्यप्रत्यय एज्निमित्त है अतः आत्व हो जाता है—(परस्मै०) **मास्यति, मास्यतः, मास्यन्ति**। (आत्मने०) **मास्यते, मास्येते, मास्यन्ते**।

लोँट्—में श्नाप्रत्यय **'सार्वधातुकमपित्'** (५००) से ङित् है, इस के परे रहते 'मी' को गुण प्राप्त नहीं, अतः एज्निमित्त न होने से आत्व नहीं होता—(परस्मै०) **मीनातु-मीनीतात्, मीनीताम्, मीनन्तु। मीनीहि**—। (आत्मने०) **मीनीताम्, मीनाताम्, मीनताम्**। लँङ्—में श्ना एज्निमित्त नहीं अतः आत्व नहीं होता—(परस्मै०) **अमीनात्, अमीनीताम्, अमीनन्**। (आत्मने०) **अमीनीत, अमीनाताम्, अमीनत**। वि० लिँङ्—(परस्मै०) **मीनीयात्, मीनीयाताम्, मीनीयुः**। (आत्मने०) **मीनीत, मीनीयाताम्, मीनीरन्**। आ० लिँङ्—(परस्मै०) यासुट् कित् है वह एज्निमित्त

उन में परिवर्तन आ चुका है तथापि **'एकदेशविकृतमनन्यवत्'** से उन को हिनु और मीना मान का णत्व हो जाता है। अथवा—ऐसे स्थलों पर **'अचः परस्मिन्पूर्वविधौ'** (६९९) से स्थानिवद्भाव के कारण कोई दोष उत्पन्न नहीं होता। विशेषजिज्ञासु **न्यास और पदमञ्जरी** का अवलोकन करें।

नहीं अतः आत्व नहीं होता—**मीयात्, मीयास्ताम्, मीयासुः**। (आत्मने०) में सीयुडादियों में आर्धधातुक गुण प्राप्त है अतः एज्निमित्त हो जाने से आत्व हो जाता है—**मासीष्ट, मासीयास्ताम्, मासीरन्**।

लुँङ्—(परस्मै०) में सिँच् को मान कर वृद्धि प्राप्त है अतः एज्निमित्त में आत्व हो कर 'मा' बन जाता है। अब **'यम-रम-नमातां सक् च'** (४६५) द्वारा सक् और इट् का आगम हो कर यथेष्ट रूप सिद्ध होते हैं—**अमासीत्, अमासिष्टाम्, अमासिषुः**। (आत्मने०) में सिँच् गुण का निमित्त है अतः एज्निमित्त होने से आत्व हो जाता है—**अमास्त, अमासाताम्, अमासत**।

लृँङ्—(परस्मै०) **अमास्यत्**। (आत्मने०) **अमास्यत**।

[लघु०] **षिञ् बन्धने** ॥५॥ सिनाति; सिनीते। सिषाय; सिष्ये। सेता॥

अर्थः—षिञ् (सि) धातु 'बान्धना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—धातु के आदि षकार को **'धात्वादेः षः सः'** (२५५) से सकारादेश हो जाता है। षोपदेश का फल 'सिषाय' आदि में षत्व करना है। ञित् होने से यह धातु उभयपदी तथा **'ऊदृदन्तैः०'** के अनुसार उदात्तों में परिगणित न होने से अनुदात्त है। लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् का आगम हो जाता है परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से इट् का विकल्प होता है। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) **सिनाति, सिनीतः, सिनन्ति**। (आत्मने०) **सिनीते, सिनाते, सिनते**। लिँट्—(परस्मै०) **सिषाय, सिष्यतुः**[2], **सिष्युः**। **सिषयिथ-सिषेथ**—। (आत्मने०) **सिष्ये, सिष्याते, सिष्यिरे**। लुँट्—(परस्मै०) **सेता, सेतारौ, सेतारः**। **सेतासि**—। (आत्मने०) **सेता, सेतारौ, सेतारः**। **सेतासे**—। लृँट्—(परस्मै०) **सेष्यति**। (आत्मने०) **सेष्यते**। लोँट्—(परस्मै०) **सिनातु-सिनीतात्, सिनीताम्, सिनन्तु**। (आत्मने०) **सिनीताम्, सिनाताम्, सिनताम्**। लँङ्—(परस्मै०) **असिनात्, असिनीताम्, असिनन्**। (आत्मने०) **असिनीत, असिनाताम्, असिनत**। वि० लिँङ्—(परस्मै०) **सिनीयात्, सिनीयाताम्, सिनीयुः**। (आत्मने०) **सिनीत, सिनीयाताम्, सिनीरन्**। आ० लिँङ्—(परस्मै०) **सीयात्, सीयास्ताम्, सीयासुः**। (आत्मने०) **सेषीष्ट, सेषीयास्ताम्, सेषीरन्**। लुँङ्—(परस्मै०) **असैषीत्, असैष्टाम्, असैषुः**। (आत्मने०) **असेष्ट, असेषाताम्, असेषत**। लृँङ्—(परस्मै०) **असेष्यत्**। (आत्मने०) **असेष्यत**।

---

१. यह धातु श्नुविकरण स्वादिगण में भी पढ़ी गई है। लोक में अधिकतर उसी का प्रयोग देखा जाता है। परन्तु इस क्रैयादिक षिञ् के प्रयोग वेद में अनेक स्थानों पर पाये जाते हैं। **उत्सिनाति**—ऋग्वेद १.१२५.२। **सिनीथः**—ऋग्वेद ७.८४.२। **सिनामि**—अथर्व० ६.१३३.३। **सिनातु**—अथर्व० ३.६.५।

२. **'एरनेकाचः०'** (२००) इति यण्।

[लघु०] स्कुञ् आप्रवणे[1] ।।६।।

अर्थः—स्कुञ् (स्कु) धातु 'कूदना, उछल कर जाना या ऊपर उठाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2] ।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् उभयपदी तथा उदात्तों में परिगणित न होने से अनुदात्त है। लिट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है। परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प। इस धातु से श्ना और श्नु दोनों विकरणों का पर्याय से विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६८६) स्तन्भुँ-स्तुन्भुँ-स्कन्भुँ-स्कुन्भुँ-स्कुञ्भ्यः श्नुश्च ।३।१।८२।।

चात् श्ना। स्कुनोति, स्कुनाति। स्कुनुते, स्कुनीते। चुस्काव, चुस्कुवे। स्कोता। अस्कौषीत्। अस्कोष्ट। स्तन्भ्वादयश्चत्वारः सौत्राः। सर्वे रोधनार्थाः परस्मैपदिनः ।।

अर्थः—कर्त्रर्थ सार्वधातुक परे हो तो स्तन्भुँ, स्तुन्भुँ, स्कन्भुँ, स्कुन्भुँ और स्कुञ् धातुओं से परे श्नु प्रत्यय होता है और पक्ष में श्ना भी।

व्याख्या—स्तन्भुँ-स्तुन्भुँ-स्कन्भुँ-स्कुन्भुँ-स्कुञ्भ्यः ।५।३। श्नुः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। श्ना ।१।१। ('क्र्यादिभ्यः श्ना' से, लुप्तविभक्तिको निर्देशः) कर्तरि ।७।१। ('कर्तरि शप्' से)। सार्वधातुके ।७।१। ('सार्वधातुके यक्' से)। अर्थः—(कर्तरि) कर्ता अर्थ में (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे हो तो (स्तन्भुँ-स्तुन्भुँ-स्कन्भुँ-स्कुन्भुँ-स्कुञ्भ्यः) स्तन्भुँ, स्तुन्भुँ, स्कन्भुँ, स्कुन्भुँ और स्कुञ् धातु से परे (श्नुः) श्नुप्रत्यय (च) तथा (श्ना) श्ना प्रत्यय हो जाते हैं। दोनों प्रत्ययों का युगपत् होना लोक में कहीं नहीं देखा जाता अतः पर्याय हो जाता है। स्कुञ् को छोड़ कर अन्य स्तन्भुँ आदि चारों धातु सौत्र हैं अर्थात् इन धातुओं का उल्लेख केवल सूत्र में ही उपलब्ध होता है, धातुपाठ में नहीं। किञ्च ये चारों धातु लोक में परस्मैपदी तथा रोधनार्थक (रोकना अर्थ वाली) देखी जाती हैं। इन चारों का वर्णन आगे आ रहा है।

---

१. 'आप्रवणे' के स्थान पर 'आप्लवने' पाठ भी उपलब्ध होता है।

२. आप्रवणम् उत्प्लवनम्, उत्प्लुत्य गमनं चेति तरङ्गिणी, उद्धरणम् इति भोजः (देखें माधवीय-धातुवृत्ति पृष्ठ ४१)। उद्धरण अर्थात् ऊपर उठाना अर्थ में यह सकर्मक है। आप्रवण अर्थ वाली धातुओं का संग्रह यथा—

स्कुनाति च स्कुनीते च स्कुनोत्याप्लवतेऽपि च।
स्कन्दते स्कुन्दते चापि षडाप्लवनवाचिनः ।। (भट्टमल)

भट्टि ने इस धातु का प्रयोग आवरण (आच्छादित करना) अर्थ में किया है—'राममभ्यद्रवज्जिष्णुरस्कुनाच्चेषुवृष्टिभिः' (भट्टि० १७.८२), स्कुञ् आवरणे इति जयमङ्गला।

स्कुञ् धातु से श्नुविकरण करने पर स्वादिगणीय षुञ् धातु की तरह रूप चलने लगते हैं। श्नाविकरण करने पर डुक्रीञ् धातु की तरह। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) श्नुपक्षे—स्कुनोति, स्कुनुतः, स्कुन्वन्ति। श्नापक्षे—स्कुनाति, स्कुनीतः, स्कुनन्ति। (आत्मने०) श्नुपक्षे—स्कुनुते, स्कुन्वाते, स्कुन्वते। श्नापक्षे—स्कुनीते, स्कुनाते, स्कुनते।

लिँट्—(परस्मै०) चुस्काव[1], चुस्कुवतुः, चुस्कुवुः। चुस्कविथ-चुस्कोथ—। (आत्मने०) चुस्कुवे, चुस्कुवाते, चुस्कुविरे। लुँट्—(परस्मै०) स्कोता, स्कोतारौ, स्कोतारः। स्कोतासि—। (आत्मने०) स्कोता, स्कोतारौ, स्कोतारः। स्कोतासे—। लृँट्—(परस्मै०) स्कोष्यति। (आत्मने०) स्कोष्यते।

लोँट्—(परस्मै०) श्नुपक्षे—स्कुनोतु-स्कुनुतात्, स्कुनुताम्, स्कुन्वन्तु। श्नापक्षे—स्कुनातु-स्कुनीतात्, स्कुनीताम्, स्कुनन्तु। (आत्मने०) श्नुपक्षे—स्कुनुताम्, स्कुन्वाताम्, स्कुन्वताम्। श्नापक्षे—स्कुनीताम्, स्कुनाताम्, स्कुनताम्। लँङ्—(परस्मै०) श्नुपक्षे—अस्कुनोत्, अस्कुनुताम्, अस्कुन्वन्। श्नापक्षे—अस्कुनात्, अस्कुनीताम्, अस्कुनन्। (आत्मने०) श्नुपक्षे—अस्कुनुत, अस्कुन्वाताम्, अस्कुन्वत। श्नापक्षे—अस्कुनीत, अस्कुनाताम्, अस्कुनत। वि० लिँङ्—(परस्मै०) श्नुपक्षे—स्कुनुयात्। श्नापक्षे—स्कुनीयात्। (आत्मने०) श्नुपक्षे—स्कुन्वीत। श्नापक्षे—स्कुनीत, स्कुनीयाताम्, स्कुनीरन्।

आ० लिँङ्—(परस्मै०) स्कूयात्, स्कूयास्ताम्, स्कूयासुः (अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ४८३)। (आत्मने०) स्कोषीष्ट, स्कोषीयास्ताम्, स्कोषीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अस्कौषीत्, अस्कौष्टाम्, अस्कौषुः। (आत्मने०) अस्कोष्ट, अस्कोषाताम्, अस्कोषत। लृँङ्—(परस्मै०) अस्कोष्यत्। (आत्मने०) अस्कोष्यत।

अब स्तन्भुँ आदि चार सौत्र परस्मैपदी धातुओं का वर्णन करते हैं। ये चारों धातु उदित् तथा सेट् हैं। उदित् होने से 'उदितो वा' (८८२) द्वारा क्त्वा में इट् का विकल्प तथा निष्ठा में 'यस्य विभाषा' (७.२.१५) से इट् का निषेध सिद्ध हो जाता है—स्तम्भित्वा-स्तब्ध्वा; स्तब्धः-स्तब्धवान्। इन धातुओं से परे श्नु या श्ना दोनों विकरण 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित् हो जाते हैं तब 'अनिदितां हल उपधायाः०' (३३४) सूत्र से इन के उपधाभूत नकार का लोप हो जाता है—

लँट्—(श्नुपक्षे) स्तभ्नोति, स्तभ्नुतः, स्तभ्नुवन्ति[2]। (श्नापक्षे) स्तभ्नाति, स्तभ्नीतः, स्तभ्नन्ति।

लिँट्—में 'स्तन्भ्+स्तन्भ्+अ' इस स्थिति में 'शर्पूर्वाः खयः' (६४८) द्वारा अभ्यास का तकार शेष रहता है। तब उपधा के नकार को अनुस्वार (७८) तथा अनुस्वार को परसवर्ण (७९) करने से 'तस्तम्भ' आदि रूप होते हैं। तस्तम्भ, तस्तम्भतुः,

१. शर्पूर्वाः खयः (६४८), कुहोश्चुः (४५४)।

२. संयोगपूर्व होने से 'हुश्नुवोः०' (५०१) से यण् नहीं होता। एवं वस् और मस् में 'लोपश्चास्या०' (५०२) की भी प्रवृत्ति नहीं होती—स्तभ्नुवः, स्तभ्नुमः।

तस्तम्भुः[1] । तस्तम्भिथ— । लुँट्—अनुस्वार-परसवर्ण हो जाते हैं—स्तम्भिता, स्तम्भितारौ, स्तम्भितारः । स्तम्भितासि—। लृँट्—स्तम्भिष्यति । लोँट्—(श्नुपक्षे) स्तभ्नोतु-स्तभ्नुतात्, स्तभ्नुताम्, स्तभ्नुवन्तु । स्तभ्नुहि[2]-स्तभ्नुतात्—। श्नापक्ष के म० पु० के एकवचन में उपधा के नकार का लोप होकर 'स्तभ्+श्ना+हि' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६८७) हलः श्नः शानज्झौ ।३।१।८३॥

हलः परस्य श्नः शानजादेशः स्याद् हौ परे। स्तभान॥

अर्थः—हल् से परे श्ना के स्थान पर शानच् आदेश हो, 'हि' परे हो तो ।

व्याख्या—हलः ।५।१। श्नः ।६।१। शानच् ।१।१। हौ ।७।१। अर्थः—(हलः) हल् से परे (श्नः) श्ना के स्थान पर (शानच्) शानच् आदेश हो जाता है (हौ) 'हि' परे हो तो । शानच् में शकार और चकार इत्सञ्ज्ञक हैं, 'आन' मात्र शेष रहता है । अनेकाल् होने से यह आदेश सम्पूर्ण श्ना के स्थान पर होता है । श्रीहरदत्तमिश्र का कथन है कि श्ना के शित्त्व के कारण स्थानिवद्भाव से आदेश में स्वतः ही शित्त्व आ जाता है अतः शानच् को शित् करने की आवश्यकता नहीं[3] ।

'स्तभ्+श्ना+हि' यहां 'हि' के परे रहते भकार हल् से परे श्ना को शानच् आदेश होकर अनुबन्धलोप तथा 'अतो हेः' (४१६) से 'हि' का लुक् करने पर 'स्तभान' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'हल् से परे' कहने के कारण 'क्रीणीहि' आदियों में शानच् आदेश नहीं होता। इसी प्रकार 'हि' परे न होने से 'स्तभ्नाति' आदि में इस की प्रवृत्ति नहीं होती ।

लोट्—(श्नापक्षे) स्तभ्नातु-स्तभ्नीतात्, स्तभ्नीताम्, स्तभ्नन्तु । स्तभान-स्तभ्नीतात्, स्तभ्नीतम्, स्तभ्नीत । स्तभ्नानि, स्तभ्नाव, स्तभ्नाम ।

लँङ्—(श्नुपक्षे)अस्तभ्नोत्, अस्तभ्नुताम्, अस्तभ्नुवन् । (श्नापक्षे)अस्तभ्नात्, अस्तभ्नीताम्, अस्तभ्नन् । वि० लिँङ्—(श्नुपक्षे) स्तभ्नुयात् । (श्नापक्षे) स्तभ्नीयात् । आ० लिँङ्—में यासुट् के कित् होने से उपधा के नकार का लोप हो जाता है—स्तभ्यात्, स्तभ्यास्ताम्, स्तभ्यासुः ।

लुँङ्—में स्तन्भ् से परे च्लि को वैकल्पिक अङ् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६८८) जॄ-स्तन्भुँ-म्रुचुँ-म्लुचुँ-ग्रुचुँ-ग्लुचुँ-ग्लुञ्चुँ-श्विभ्यश्च ।३।१।५८॥

च्लेरङ् वा स्यात् ॥

---

१. धातु के संयोगान्त होने से अतुस् आदि कित् नहीं हाते अतः उपधा के नकार का लोप प्रसक्त ही नहीं होता ।

२. संयोगपूर्व होने से 'उतश्च प्रत्ययाद्०'(५०३)से 'हि' का लुक् नहीं होता ।

३. इस स्थान के विशेषस्पष्टीकरण के लिये सि०कौमुदी के स्त्रीप्रत्ययप्रकरण में 'वक्ष्यमाणा' की सिद्धि देखनी चाहिये ।

अर्थः—जॄ (जीर्ण होना), स्तन्भुं (रोकना), म्रुचुं (जाना), म्लुचुं (जाना), ग्रुचुं (चुराना), ग्लुचुं (चुराना), ग्लुञ्चुं (जाना) श्वि (जाना, बढ़ना)—इन आठ धातुओं से परे च्लि के स्थान पर विकल्प से अङ् आदेश हो।

व्याख्या—जॄ—श्विभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । च्लेः ।६।१। (च्लेः सिंच्' से) अङ् ।१।१। ('अस्यतिवक्ति०' से) वा इत्यव्ययपदम् ('इरितो वा' से)। अर्थः—(जॄ—श्विभ्यः) जॄ, स्तन्भुं, म्रुचुं, म्लुचुं, ग्रुचुं, ग्लुचुं, ग्लुञ्चुं और श्वि—इन आठ धातुओं से परे (च्लेः) च्लि के स्थान पर (वा) विकल्प से (अङ्) अङ् आदेश हो जाता है। च्लि का ल् अवशिष्ट रहता है उस के स्थान पर अङ् आदेश हो जाता है। अङ् में ङकार इत् है, इसे ङित् करने का प्रयोजन 'अम्रुचत्' आदि में उपधा के नकार का लोप करना आदि है। जिस पक्ष में अङ् नहीं होता वहां 'च्लेः सिँच्'(४३८)से सिँच् आदेश हो जाता है। इस सूत्र के 'अजरत्' आदि उदाहरण काशिका में देखने चाहियें।

लुँङ्—स्तन्भ् धातु से लुँङ्, तिप्, इकारलोप, च्लि, च्लि के लकार को प्रकृतसूत्र से अङ् आदेश, अङ् के ङित् होने से 'अनिदितां हलः०' (३३४) द्वारा उपधा के नकार का लोप तथा अन्त में अङ्ग को अट् का आगम करने पर 'अस्तभत्' प्रयोग सिद्ध होता है। अङ् के अभाव में च्लि को सिँच्, इट्, ईट्, सकारलोप, सवर्णदीर्घ तथा नकार को अनुस्वार और परसवर्ण करने से 'अस्तम्भीत्' रूप बनता है। रूपमाला यथा—(अङ्पक्षे) अस्तभत्, अस्तभताम्, अस्तभन्। (सिँच्पक्षे) अस्तम्भीत्, अस्तम्भिष्टाम्, अस्तम्भिषुः।

लृँङ्—अस्तम्भिष्यत्, अस्तम्भिष्यताम्, अस्तम्भिष्यन्।

उपसर्गयोग—'वि' आदि उपसर्गों के योग में स्तन्भ् के सकार को षत्व का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६८६) स्तन्भेः ।८।३।६७॥

स्तन्भेः सौत्रस्य सस्य षः स्यात्। व्यष्टभत्। अस्तम्भीत्॥

अर्थः—उपसर्गस्थनिमित्त से परे सौत्रधातु स्तन्भ् के सकार को मूर्धन्य आदेश हो।

व्याख्या—उपसर्गात् ।५।१। ('उपसर्गात् सुनोति०' से)। स्तन्भेः ।६।१। सः ।६।१। ('सहेः साडः सः' से)। मूर्धन्यः ।१।१। ('अपदान्तस्य मूर्धन्यः' से)। षत्वप्रकरण में 'इण्कोः' (८.३.५७) अधिकृत है। उपसर्गों में कवर्ग सम्भव नहीं अतः केवल 'इणः' का ही सम्बन्ध समझना चाहिये। अर्थ :—(उपसर्गात्) उपसर्गस्थ निमित्त इण् से परे (स्तन्भेः) स्तन्भ् धातु के (सः) स् के स्थान पर (मूर्धन्यः) मूर्धा स्थान वाला अर्थात् ष् आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—प्रति+स्तभ्नाति=प्रतिष्टभ्नाति[1], परिष्टभ्नाति, विष्टभ्नाति। षत्व होने पर 'ष्टुना ष्टुः'(६४) से तकार को टकार हो जाता है। इसी प्रकार—वि+अस्तभत्=व्य्+अस्तभत्=व्यष्टभत्। ध्यान रहे कि यहां अट् के व्यवधान में भी षत्व हो जाता है—प्राक् सितादड्व्यवायेऽपि(८.३.६३)। इसी प्रकार

१. बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युः—रघु० २.३२।

अभ्यास के व्यवधान में भी समझ लेना चाहिये (स्थादिष्वभ्यासेन चाऽभ्यासस्य ८.३.६४)—वि+तस्तम्भ=वितष्टम्भ, परितष्टम्भ।

स्तुन्भुँ, स्कन्भुँ और स्कुन्भुँ धातुओं की प्रक्रिया भी लुङ् और उपसर्गयोग को छोड़ कर स्तन्भुँ धातु की तरह होती है। रूपमाला यथा—

स्तुन्भुँ—लँट्—स्तुभ्नोति-स्तुभ्नाति। लिँट्—तुस्तुम्भ। लुँट्—स्तुम्भिता। लृँट्—स्तुम्भिष्यति। लोँट्—स्तुभ्नोतु-स्तुभ्नुतात्; स्तुभ्नातु-स्तुभ्नीतात्। लँङ्—अस्तुभ्नोत्-अस्तुभ्नात्। वि० लिँङ्—स्तुभ्नुयात्-स्तुभ्नीयात्। आ० लिँङ्—स्तुभ्यात्। लुँङ्—अस्तुम्भीत्, अस्तुम्भिष्टाम्, अस्तुम्भिषुः। लृँङ्—अस्तुम्भिष्यत्।

स्कन्भुँ—लँट्—स्कभ्नोति-स्कभ्नाति। लिँट्—चस्कम्भ। लुँट्—स्कम्भिता। लृँट्—स्कम्भिष्यति। लोँट्—स्कभ्नोतु-स्कभ्नुतात्, स्कभ्नातु-स्कभ्नीतात्। लँङ्—अस्कभ्नोत्-अस्कभ्नात्। वि० लिँङ्—स्कभ्नुयात्-स्कभ्नीयात्। आ० लिँङ्—स्कभ्यात्। लुँङ्—अस्कम्भीत्। लृँङ्—अस्कम्भिष्यत्।

स्कुन्भुँ—लँट्—स्कुभ्नोति-स्कुभ्नाति। लिँट्—चुस्कुम्भ। लुँट्—स्कुम्भिता। लृँट्—स्कुम्भिष्यति। लोँट्—स्कुभ्नोतु-स्कुभ्नुतात्, स्कुभ्नातु-स्कुभ्नीतात्। लँङ्—अस्कुभ्नोत्-अस्कुभ्नात्। वि० लिँङ्—स्कुभ्नुयात्-स्कुभ्नीयात्। आ० लिँङ्—स्कुभ्यात्। लुँङ्—अस्कुम्भीत्। लृँङ्—अस्कुम्भिष्यत्।

[लघु०] युञ् बन्धने ॥११॥ युनाति, युनीते। योता॥

अर्थः—युञ् (यु) धातु 'बान्धना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् ञित् होने से उभयपदी तथा 'ऊदॄदन्तैः०' में परिगणित न होने से अनुदात्त अर्थात् अनिट् है[2]। लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'क्री' धातु की तरह होती है।

लँट्—(परस्मै०) युनाति। (आत्मने०) युनीते। लिँट्—(परस्मै०) युयाव, युयुवतुः। युयुवुः। युयविथ-युयोथ—। (आत्मने०) युयुवे, युयुवाते, युयुविरे। लुँट्—(परस्मै०) योता, योतारौ, योतारः। योतासि—। (आत्मने०) योता, योतारौ, योतारः। योतासे—। लृँट्—(परस्मै०) योष्यति। (आत्मने०) योष्यते। लोँट्—(परस्मै०) युनातु-युनीतात्। (आत्मने०) युनीताम्। लँङ्—(परस्मै०) अयुनात्। (आत्मने०) अयुनीत। वि० लिँङ्—(परस्मै०) युनीयात्। (आत्मने०) युनीत। आ० लिँङ्—(परस्मै०) यूयात् (अकृत्सार्वधातु० ४८३)। (आत्मने०) योषीष्ट। लुँङ्—(परस्मै०) अयौषीत्। (आत्मने०) अयोष्ट। लृँङ्—(परस्मै०) अयोष्यत्। (आत्मने०) अयोष्यत।

---

१. इस धातु के प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

२. ध्यान रहे कि 'ऊदॄदन्तैः०' में परिगणित 'यौति' से अदादिगणीय 'यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः' धातु का ग्रहण होता है इस का नहीं।

[लघु०] क्नूञ् शब्दे ॥१२॥ क्नूनाति, क्नूनीते । क्नविता[1] ॥

अर्थः—क्नूञ् (क्नू) धातु 'शब्द करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2]।

व्याख्या—ञित् होने से यह धातु उभयपदी तथा ऊदन्त होने से उदात्त अर्थात् सेट् है। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) क्नूनाति। (आत्मने०) क्नूनीते। लिँट्—(परस्मै०) चुक्नाव, चुक्नुवतुः, चुक्नुवुः। चुक्नविथ—। (आत्मने०) चुक्नुवे, चुक्नुवाते, चुक्नुविरे। लुँट्—(परस्मै०) क्नविता, क्नवितारौ, क्नवितारः। क्नवितासि—। (आत्मने०) क्नविता, क्नवितारौ, क्नवितारः। क्नवितासे। लृँट्—(परस्मै०) क्नविष्यति। (आत्मने०) क्नविष्यते। लोँट्—(परस्मै०) क्नूनातु-क्नूनीतात्। (आत्मने०) क्नूनीताम्। लँङ्—(परस्मै०) अक्नूनात्। (आत्मने०) अक्नूनीत। वि० लिँङ्—(परस्मै०) क्नूनीयात्। (आत्मने०) क्नूनीत। आ० लिँङ्—(परस्मै०) क्नूयात्। (आत्मने०) क्नविषीष्ट। लुँङ्—(परस्मै०) अक्नावीत्। (आत्मने०) अक्नविष्ट। लृँङ्—(परस्मै०) अक्नविष्यत्। (आत्मने०) अक्नविष्यत।

[लघु०] द्रूञ् हिंसायाम् ॥१३॥ द्रूणाति, द्रूणीते ॥

अर्थः—द्रूञ् (द्रू) धातु 'हिंसा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[3]।

व्याख्या—यह धातु भी क्नूञ् धातु की तरह उभयपदी तथा सेट् है। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) द्रूणाति। (आत्मने०) द्रूणीते। लिँट्—(परस्मै०) दुद्राव, दुद्रुवतुः, दुद्रुवुः। दुद्रविथ—। (आत्मने०) दुद्रुवे, दुद्रुवाते, दुद्रुविरे। लुँट्—(परस्मै०) द्रविता, द्रवितारौ, द्रवितारः। द्रवितासि—। (आत्मने०) द्रविता, द्रवितारौ, द्रवितारः। द्रवितासे—। लृँट्—(परस्मै०) द्रविष्यति। (आत्मने०) द्रविष्यते। लोँट्—(परस्मै०)

---

१. प्रायः सब लघुकौमुदी के संस्करणों में इस के बाद 'दृञ् हिंसायाम्' धातु पढ़ी गई है, जो स्पष्टतः प्रमाद है। क्योंकि सिद्धान्तकौमुदी, माधवीयधातुवृत्ति, क्षीरतरङ्गिणी, धातुप्रदीप आदि आकरग्रन्थों में इस प्रकार की किसी धातु का क्र्यादिगण में उल्लेख नहीं। गीताप्रेस के संस्करण में सम्पादक ने इसे हटा कर जहां अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है वहां 'पूञ् पवने' धातु के बाद 'दॄ विदारणे' धातु का पाठ दे कर अनधिकार चेष्टा भी की है। लघुकौमुदी के सब संस्करणों में 'पूञ् पवने' के बाद 'लूञ् छेदने' ही पढ़ी गई है जो 'प्वादीनां ह्रस्वः'(६९०) सूत्र पर दी गई वृत्ति के क्रम से सर्वथा अनुकूल है। पूञ् और लूञ् के बीच में 'दॄ' का पढ़ना अनुचित भी लगता है।

२. इस धातु के प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

३. वैदिक साहित्य में इस धातु के प्रयोग अनेक स्थानों पर उपलब्ध होते हैं। द्रूणाति—मै० ३.७.३; द्रूणानः—ऋग्वेद ४.४.१; द्रूतः—काठक० १६.१५। कुछ कोषों में द्रु (पुं०, सुवर्ण), द्रूघण (पुं०, मुद्गर), द्रूण (पुं०, बिच्छू) आदि शब्द इसी धातु से बनाये गये हैं।

ब्रूतात्-ब्रूणीतात् । (आत्मने०) ब्रूणीताम् । लँङ्—(परस्मै०) अब्रूणात् । (आत्मने०) अब्रूणीत । वि० लिँङ्—(परस्मै०) ब्रूणीयात् । (आत्मने०) ब्रूणीत । आ० लिँङ्—(परस्मै०) ब्रूयात् । (आत्मने०) ब्रविषीष्ट । लुँङ्—(परस्मै०) अब्रावीत् । (आत्मने०) अब्रविष्ट । लृँङ्—(परस्मै०) अब्रविष्यत् । (आत्मने०) अब्रविष्यत ।

[लघु०] पूञ् पवने ॥१४॥

अर्थः—पूञ् (पू) धातु 'पवित्र करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—ञित् होने से यह धातु उभयपदी तथा ऊदन्त होने से 'ऊदृदन्तैः०' के अनुसार सेट् है । श्ना प्रत्यय के परे रहते इसे ह्रस्वविधान करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६९०) प्वादीनां ह्रस्वः ।७।३।८०॥

पूञ्-लूञ्-स्तॄञ्-कॄञ्-वॄञ्-धूञ्-शॄ-पॄ-वॄ-भॄ-मॄ-दॄ-जॄ-झॄ-धॄ-नॄ-कॄ-ॠ-गॄ-ज्या-री-ली-व्ली-प्लीनां चतुर्विंशतेः शिति ह्रस्वः । पुनाति; पुनीते । पविता ॥

अर्थः—शित् परे होने पर पूञ् आदि चौबीस धातुओं के अन्त्य अच् को ह्रस्व हो जाता है ।

व्याख्या—प्वादीनाम् ।६।३। ह्रस्वः ।१।१। शिति ।७।१। ('ष्ठिवुँ-क्लमुँ-चमां शिति' से) । पूधातुरादिर्येषान्ते प्वादयः, तेषाम्—प्वादीनाम् । तद्गुणसंविज्ञानबहु० । अर्थः—(प्वादीनाम्) पू आदि धातुओं के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश हो जाता है (शिति) शित् परे हो तो । धातुपाठ के क्र्यादिगण के अन्तर्गत पू आदि चौबीस धातुएं पढ़ी गई हैं, उन का ही यहां ग्रहण अभीष्ट है । 'अचश्च' (१.२.२८) और 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) परिभाषाओं के बल से पू आदि धातुओं के अन्त्य अच् को ह्रस्व हो जायेगा । पू आदि चौबीस धातुएं निम्नलिखित हैं—

(१) पूञ् पवने (पवित्र करना) ।
(२) लूञ् छेदने (काटना) ।
(३) स्तॄञ् आच्छादने (ढांपना) ।
(४) कॄञ् हिंसायाम् (हिंसा करना) ।
(५) वॄञ् वरणे (स्वीकार करना) ।
(६) धूञ् कम्पने (कम्पाना) ।
(७) शॄ हिंसायाम् (हिंसा करना) ।
(८) पॄ पालनपूरणयोः (पालना, भरना)
(९) वॄ वरणे (स्वीकार करना) ।
(१०) भॄ भर्त्सने (झिड़कना) ।
(११) मॄ हिंसायाम् (हिंसा करना) ।
(१२) दॄ विदारणे (फाड़ना) ।
(१३) जॄ वयोहानौ (जीर्ण होना) ।
(१४) झॄ वयोहानौ (जीर्ण होना) ।
(१५) धॄ वयोहानौ (जीर्ण होना) ।
(१६) नॄ नये (ले जाना) ।
(१७) कॄ हिंसायाम् (हिंसा करना) ।
(१८) ॠ गतौ (गमन करना) ।
(१९) गॄ शब्दे (शब्द करना) ।
(२०) ज्या वयोहानौ (बूढ़ा होना) ।
(२१) री गतिरेषणयोः (जाना, शब्द करना) ।
(२२) ली श्लेषणे (मिलाना) ।
(२३) व्ली वरणे (स्वीकार करना) ।
(२४) प्ली गतौ (गमन करना) ।

लँट्, लोँट्, लँङ् और वि० लिँङ् इन चार लकारों में श्नाविकरण किया जाता है अतः इन में ही शित् सम्भव होने से ह्रस्व की प्रवृत्ति होती है अन्यत्र नहीं।

लँट्—'पू+ना+ति' इस स्थिति में 'श्ना' इस शित् प्रत्यय के परे रहते प्रकृतसूत्र से 'पू' के ऊकार को ह्रस्व होकर 'पुनाति' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। रूपमाला यथा—(परस्मै०) **पुनाति, पुनीतः, पुनन्ति**। (आत्मने०) **पुनीते, पुनाते, पुनते**। लिँट्—(परस्मै०) **पुपाव, पुपुवतुः, पुपुवुः**। **पुपविथ**—। (आत्मने०) **पुपुवे, पुपुवाते, पुपुविरे**। लुँट्—(परस्मै०) **पविता, पवितारौ, पवितारः**। **पवितासि**—। (आत्मने०) **पविता, पवितारौ, पवितारः**। **पवितासे**—। लृँट्—(परस्मै०) **पविष्यति**। (आत्मने०) **पविष्यते**। लोँट्—(परस्मै०) **पुनातु-पुनीतात्, पुनीताम्, पुनन्तु**। **पुनीहि-पुनीतात्**—। (आत्मने०) **पुनीताम्, पुनाताम्, पुनताम्**। **पुनीष्व**—। लँङ्—(परस्मै०) **अपुनात्, अपुनीताम्, अपुनन्**। (आत्मने०) **अपुनीत, अपुनाताम्, अपुनत**। वि० लिँङ्—(परस्मै०) **पुनीयात्, पुनीयाताम्, पुनीयुः**। (आत्मने०) **पुनीत, पुनीयाताम्, पुनीरन्**। आ० लिँङ्—(परस्मै०) **पूयात्, पूयास्ताम्, पूयासुः**। (आत्मने०) **पविषीष्ट, पविषीयास्ताम्, पविषीरन्**। लुँङ्—(परस्मै०) **अपावीत्, अपाविष्टाम्, अपाविषुः**। (आत्मने०) **अपविष्ट, अपविषाताम्, अपविषत**। लृँङ्—(परस्मै०) **अपविष्यत्**। (आत्मने०) **अपविष्यत**।

[लघु०] **लूञ् छेदने** ॥१५॥ लुनाति। लुनीते॥

अर्थः—लूञ् (लू) धातु 'काटना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु भी '**पूञ् पवने**' धातु की तरह उभयपदी तथा सेट् है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया तथा रूपमाला भी उसी तरह होती है। प्वादियों के अन्तर्गत होने से इसे भी शित्प्रत्ययों में (६६०) सूत्र से ह्रस्व हो जाता है। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) **लुनाति, लुनीतः, लुनन्ति**। (आत्मने०) **लुनीते, लुनाते, लुनते**। लिँट्—(परस्मै०) **लुलाव, लुलुवतुः, लुलुवुः**। (आत्मने०) **लुलुवे, लुलुवाते, लुलुविरे**। लुँट्—(परस्मै०) **लविता, लवितारौ, लवितारः**। **लवितासि**—। (आत्मने०) **लविता, लवितारौ, लवितारः**। **लवितासे**—। लृँट्—(परस्मै०) **लविष्यति**। (आत्मने०) **लविष्यते**। लोँट्—(परस्मै०) **लुनातु-लुनीतात्, लुनीताम्, लुनन्तु**। **लुनीहि**—। (आत्मने०) **लुनीताम्, लुनाताम्, लुनताम्**। लँङ्—(परस्मै०) **अलुनात्, अलुनीताम्, अलुनन्**। (आत्मने०) **अलुनीत, अलुनाताम्, अलुनत**। वि० लिँङ्—(परस्मै०) **लुनीयात्**। (आत्मने०) **लुनीत**। आ० लिँङ्—(परस्मै०) **लूयात्**। (आत्मने०) **लविषीष्ट**। लुँङ्—(परस्मै०) **अलावीत्**। (आत्मने०) **अलविष्ट**। लृँङ्—(परस्मै०) **अलविष्यत्**। (आत्मने०) **अलविष्यत**।

[लघु०] **स्तॄञ् आच्छादने** ॥१६॥ स्तृणाति। **शर्पूर्वाः खयः** (६४८)—तस्तार, तस्तरतुः। तस्तरे। स्तरीता-स्तरिता। स्तृणीयात्। स्तृणीत। **स्तीर्यात्**॥

अर्थः—स्तृञ् (स्तृ) धातु 'आच्छादन करना, ढांपना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—ञित् होने से यह धातु उभयपदी तथा ॠदन्त होने से सेट् है। प्वादियों के अन्तर्गत होने के कारण श्नाविकरण में इसे ह्रस्व हो जाता है।

लँट्—(परस्मै०) स्तृणाति। (आत्मने०) स्तृणीते।

लिँट्—परस्मै० प्र० पु० के एकवचन में 'स्तॄ+स्तॄ+अ' इस स्थिति में 'ह्रस्वः' (३९७) से अभ्यास को ह्रस्व, 'उरत्' (४७३) से अभ्यास के ऋकार को अर् आदेश तथा 'शर्पूर्वाः खयः' (६४८) से तकार शेष रह कर—त+स्तॄ+अ। अब 'ऋच्छत्यॄताम्' (६१४) से गुण तथा 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि करने पर 'तस्तार' प्रयोग सिद्ध होता है। अतुस् आदियों में 'ऋच्छत्यॄताम्' (६१४) से गुण हो जाता है। इसी प्रकार आत्मनेपद में भी सर्वत्र गुण समझना चाहिये। रूपमाला यथा—(परस्मै०) तस्तार, तस्तरतुः, तस्तरुः। तस्तरिथ, तस्तरथुः, तस्तर। तस्तार-तस्तर, तस्तरिव, तस्तरिम। (आत्मने०) तस्तरे, तस्तराते, तस्तरिरे।

लुँट्—में इट्, लघूपधगुण तथा 'वॄतो वा' (६१५) से इट् को वैकल्पिक दीर्घ हो जाता है। (परस्मै०) दीर्घपक्षे—स्तरीता, स्तरीतारौ, स्तरीतारः। स्तरीतासि—। दीर्घाभावे—स्तरिता, स्तरितारौ, स्तरितारः। स्तरितासि—। (आत्मने०) दीर्घपक्षे—स्तरीता, स्तरीतारौ, स्तरीतारः। स्तरीतासे—। दीर्घाऽभावे—स्तरिता, स्तरितारौ, स्तरितारः। स्तरितासे—। लृँट्—(परस्मै०) स्तरीष्यति-स्तरिष्यति। (आत्मने०) स्तरीष्यते-स्तरिष्यते। लोँट्—(परस्मै०) स्तृणातु-स्तृणीतात्। (आत्मने०) स्तृणीताम्। लँङ्—(परस्मै०) अस्तृणात्। (आत्मने०) अस्तृणीत। वि० लिँङ्—(परस्मै०) स्तृणीयात्। (आत्मने०) स्तृणीत।

आ० लिँङ्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में 'स्तॄ+यास्+त्' इस स्थिति में यासुट् के कित् होने से गुण का निषेध हो जाता है। तब 'ॠत इद् धातोः' (६६०) से इत्व, रपर और 'हलि च' (६१२) से रेफ की उपधा को दीर्घ हो कर संयोगादि सकार का लोप करने पर—स्तीर्यात्, स्तीर्यास्ताम्, स्तीर्यासुः। आत्मने० में 'स्तॄ+सीय्+स्+त' इस स्थिति में धातु के सेट् होने से इट् का आगम नित्य प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र से विकल्प का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६१) लिँङ्-सिँचोरात्मनेपदेषु[1] ।७।२।४२॥

वृङ्-वृञ्भ्याम् ॠदन्ताच्च परयोर्लिँङ्सिँचोरिड् वा स्यात्तङि॥

अर्थः—वृङ्, वृञ् और ॠदन्त धातु से परे लिँङ् और सिँच् को विकल्प से इट् हो आत्मनेपद में।

व्याख्या—लिँङ्-सिँचोः ।६।२। आत्मनेपदेषु ।७।३। वॄतः ।५।१। ('वॄतो वा' से)।

---

१. कई विद्यार्थी इस सूत्र को तथा 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' (५८९) सूत्र को एक समझ कर भूल कर बैठते हैं। अतः यहां दोनों सूत्रों के अन्तर को हृदयंगम कर लेना चाहिये।

इट् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् । ('इट् सनि वा' से)। 'वृतो वा' (६१५) की तरह यहां पर भी 'वृतः' पद का 'वृ+ऋतः=वृतः' इस प्रकार का छेद समझना चाहिये । निरनुबन्धग्रहण के कारण 'वृ' से 'वृङ्' और 'वृञ्' दोनों का ग्रहण होता है । अर्थः—(वृतः) वृङ्, वृञ् या ऋदन्त धातु से परे (लिङ्-सिँचोः) लिङ् और सिँच् का अवयव (इट्) इट् (वा) विकल्प से हो जाता है (आत्मनेपदेषु) आत्मनेपद प्रत्यय परे हों तो ।

'स्तृ+सीय्+स्+त' यहां पर 'स्तृ' धातु ऋदन्त है अतः प्रकृतसूत्र से आत्मनेपद के लिङ् (सीय्+स्+त) को विकल्प से इट् का आगम हो जाता है । इट्पक्ष में आर्धधातुकगुण होकर सामान्य कार्य करने से 'स्तरिषीष्ट' रूप सिद्ध होता है । इट् के अभाव में 'उश्च' (५४४) सूत्र द्वारा झलादि लिङ् कित् हो जाता है अतः गुण का निषेध हो जाता है । तब **'ऋत इद् धातोः'** (६६०) से इत्व, रपर और **'हलि च'** (६१२) से रेफ की उपधा को दीर्घ करने पर 'स्तीर्षीष्ट' रूप बनता है ।

अब इट्पक्ष के 'स्तरिषीष्ट' आदि रूपों में **'वृतो वा'** (६१५) द्वारा इट् को वैकल्पिक दीर्घ प्राप्त होता है । इस पर अग्रिमसूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(६९२) न लिँङि ।७।२।३९॥

वृत इटो लिँङि न दीर्घः । स्तरिषीष्ट । **उश्च (५४४)** इत्यनेन कित्त्वम्—स्तीर्षीष्ट । **सिँचि च परस्मैपदेषु** (६१६)—अस्तारीत्, अस्तारिष्टाम्, अस्तारिषुः । अस्तरीष्ट-अस्तरिष्ट-अस्तीर्ष्ट ॥

अर्थः—वृङ्, वृञ् और ऋदन्त धातु से परे इट् को दीर्घ न हो लिँङ् परे हो तो।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम् । लिँङि ।७।१। वृतः ।५।१। (**'वृतो वा'** से)।इट् ।१।१। (**'आर्धधातुकस्येड्०'** से)।दीर्घः ।१।१। (**'ग्रहोऽलिँटि दीर्घः'** से)। अर्थः—(वृतः) वृङ्, वृञ् और ऋदन्त धातु से परे (इट्) इट् (दीर्घः) दीर्घ (न) नहीं होता (लिँङि) लिँङ् परे हो तो ।

'स्तरिषीष्ट' यहां लिँङ् परे विद्यमान है अतः ऋदन्त स्तृ धातु से परे इट् को दीर्घ नहीं होता । आ० लिँङ् के आत्मने० में रूपमाला यथा—(इट्पक्षे) **स्तरिषीष्ट, स्तरिषीयास्ताम्, स्तरिषीरन्**। (इटोऽभावे) **स्तीर्षीष्ट, स्तीर्षीयास्ताम्, स्तीर्षीरन्**।

लुँङ्—(परस्मै०) में इगन्तलक्षणा वृद्धि हो जाती है, **'सिँचि च परस्मैपदेषु'** (६१६) से इट् को दीर्घ नहीं होता—**अस्तारीत्, अस्तारिष्टाम्, अस्तारिषुः**। आत्मने० में **'लिँङ्सिँचोरात्मनेपदेषु'** (६९१) से सिँच् को विकल्प से इट् का आगम होता है। इट्पक्ष में आर्धधातुकगुण होकर **'वृतो वा'** (६१५) से इट् को वैकलिपक दीर्घ हो जाता है—**अस्तरीष्ट, अस्तरिष्ट**। इट् के अभाव में **'उश्च'** (५४४) द्वारा सिँच् के किद्वत् हो जाने से गुण का निषेध हो जाता है । तब इत्व (६६०), रपर और **'हलि च'** (६१२) से उपधा को दीर्घ करने पर—**अस्तीर्ष्ट**। लुँङ् के आत्मने० में रूपमाला यथा—(इट्पक्षे) दीर्घे कृते—**अस्तरीष्ट, अस्तरीषाताम्, अस्तरीषत**। दीर्घाऽभावे—

अस्तरिष्ट, अस्तरिषाताम्, अस्तरिषत । (इटोऽभावे)अस्तीर्ष्ट, अस्तीर्षाताम्, अस्तीर्षत । लृङ्—(परस्मै०) अस्तरीष्यत्-अस्तरिष्यत् । (आत्मने०) अस्तरीष्यत-अस्तरिष्यत ।

नोट—पीछे स्वादिगण में 'स्तृञ् आच्छादने' धातु आ चुकी है । उस की प्रक्रिया और इस धातु की प्रक्रिया का प्रायः सब लकारों में अन्तर पड़ता है । विद्यार्थियों को यह अन्तर सदा ध्यान में रखना चाहिये ।

[लघु०] **कॄञ् हिंसायाम्** ॥१७॥ कृणाति; कृणीते । चकार; चकरे ॥

अर्थः—कॄञ् (कॄ) धातु 'हिंसा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1] ।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् उभयपदी, सेट् तथा प्वाद्यन्तर्गत है । श्ना-विकरण में **'प्वादीनां ह्रस्वः'** (६९०) से इसे ह्रस्व हो जाता है । इस की प्रक्रिया **'स्तॄञ् आच्छादने'** धातु की तरह समझनी चाहिये ।

लँट्—(परस्मै०) **कृणाति** । (आत्मने०) **कृणीते** । लिँट्—(परस्मै०) **चकार, चकरतुः, चकरुः । चकरिथ**—। (आत्मने०) **चकरे, चकराते, चकरिरे** । सर्वत्र **'ऋच्छत्यॄताम्'** (६१४) से गुण हो जाता है । लुँट्—(परस्मै०) **करीता-करिता, करीतारौ-करितारौ, करीतारः-करितारः, करीतासि-करितासि**—। (आत्मने०) **करीता-करिता, करीतारौ-करितारौ, करीतारः-करितारः । करीतासे-करितासे**—। लृँट्—(परस्मै०) **करीष्यति-करिष्यति** । (आत्मने०) **करीष्यते-करिष्यते** । लोँट्—(परस्मै०)**कृणातु-कृणीतात्** । (आत्मने०) **कृणीताम्** । लँङ्—(परस्मै०) **अकृणात्** । (आत्मने०) **अकृणीत** । वि० लिँङ्—(परस्मै०) **कृणीयात्** । (आत्मने०) **कृणीत** । आ० लिँङ्—(परस्मै०) **कीर्यात्** । (आत्मने०)**करिषीष्ट-कीर्षीष्ट** । लुँङ्—(परस्मै०) **अकारीत्, अकारिष्टाम्, अकारिषुः** । (आत्मने०) **अकरीष्ट-अकरिष्ट-अकीर्ष्ट** । लृँङ्—(परस्मै०) **अकरीष्यत्-अकरिष्यत्** । (आत्मने०) **अकरीष्यत-अकरिष्यत** ।

[लघु०] **वॄञ् वरणे** ॥१८॥ वृणाति; वृणीते । ववार; ववरे । वरीता-वरिता । **उदोष्ठ्य०** (५११) इत्युत्त्वम्—वूर्यात् । वरिषीष्ट-वूर्षीष्ट । अवारीत्, अवारिष्टाम् । अवरीष्ट-अवरिष्ट-अवूर्ष्ट ॥

अर्थः—वॄञ्(वॄ)धातु 'वरण करना, स्वीकार करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—यह धातु भी ञित् होने से उभयपदी तथा ॠदन्त होने से सेट् है । प्वाद्यन्तर्गत होने से इसे भी श्नाविकरण में ह्रस्व हो जाता है । इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'स्तॄञ्' धातुवत् होती है परन्तु इस में इतना अन्तर है कि ओष्ठ्यपूर्व होने से ॠकार को यहां इत्त्व न होकर **'उदोष्ठ्यपूर्वस्य'** (६११) द्वारा उत्त्व हो जाता है ।

लँट्—(परस्मै०) **वृणाति, वृणीतः, वृणन्ति** । (आत्मने०) **वृणीते, वृणाते, वृणते** । लिँट्—(परस्मै०) **ववार, ववरतुः, ववरुः । ववरिथ**—। (आत्मने०) **ववरे, ववराते, ववरिरे** । लुँट्—(परस्मै०) **वरीता-वरिता, वरीतारौ-वरितारौ, वरीतारः-**

---

१. क्रैयादिक कॄ धातु के प्रयोग अन्वेषणीय हैं । **ताण्ड्यमहाब्राह्मण** (१२.६.३) में **'कृणीमसि'** प्रयोग देखा जाता है ।

वरितारः । वरीतासि-वरितासि—। (आत्मने०) वरीता-वरिता, वरीतारौ-वरितारौ, वरीतारः-वरितारः । वरीतासे-वरितासे—। लृँट्—(परस्मै०) वरीष्यति-वरिष्यति । (आत्मने०) वरीष्यते-वरिष्यते । लोँट्—(परस्मै०) वृणातु-वृणीतात् । (आत्मने०) वृणीताम् । लँङ्—(परस्मै०) अवृणात्, अवृणीताम्, अवृणन् । (आत्मने०) अवृणीत, अवृणाताम्, अवृणत । वि० लिँङ्—(परस्मै०) वृणीयात् । (आत्मने०) वृणीत । आ० लिँङ्—(परस्मै०) वूर्यात्, वूर्यास्ताम्, वूर्यासुः । (आत्मने०) वरिषीष्ट-वूर्षीष्ट । लुँङ्—(परस्मै०) अवारीत्, अवारिष्टाम्, अवारिषुः । (आत्मने०) अवरीष्ट-अवरिष्ट-अवूर्ष्ट । लृँङ्—(परस्मै०) अवरीष्यत्-अवरिष्यत् । (आत्मने०) अवरीष्यत-अवरिष्यत ।

[लघु०] धूञ् कम्पने ॥१९॥ धुनाति; धुनीते । धविता-धोता । अधावीत्; अधविष्ट-अधोष्ट ॥

अर्थः—धूञ् (धू) धातु 'कम्पाना या हिलाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—ञित् होने से यह धातु उभयपदी तथा ऊदन्त होने से सेट् है । परन्तु 'स्वरतिसूति०' (४७६) सूत्र में परिगणित होने से यह वेट् हो जाती है । प्वादियों के अन्तर्गत होने से श्नाविकरण में इसे भी ह्रस्व हो जाता है । सार्वधातुक लकारों में इस की प्रक्रिया 'पूञ् पवने' धातु की तरह तथा आर्धधातुक लकारों में स्वादिगणोक्त धूञ् धातु की तरह चलती है ।

लँट्—(परस्मै०) धुनाति । (आत्मने०) धुनीते । लिँट्—(परस्मै०) दुधाव, दुधुवतुः, दुधुवुः । (आत्मने०) दुधुवे, दुधुवाते, दुधुविरे । लुँट्—(परस्मै०) धविता-धोता, धवितारौ-धोतारौ, धवितारः-धोतारः । धवितासि-धोतासि—। (आत्मने०) धविता-धोता, धवितारौ-धोतारौ, धवितारः-धोतारः । धवितासे-धोतासे—। लृँट्—(परस्मै०) धविष्यति-धोष्यति । (आत्मने०) धविष्यते-धोष्यते । लोँट्—(परस्मै०) धुनातु-धुनीतात् । (आत्मने०) धुनीताम् । लँङ्—(परस्मै०) अधुनात् । (आत्मने०) अधुनीत । वि० लिँङ्—(परस्मै०) धुनीयात् । (आत्मने०) धुनीत । आ० लिँङ्—(परस्मै०) धूयात् । (आत्मने०) धविषीष्ट-धोषीष्ट । लुँङ्—(परस्मै०) स्वरत्यादिविकल्प का बाध कर 'स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु' (६४६) द्वारा नित्य इट् हो जाता है—अधावीत्, अधाविष्टाम्, अधाविषुः । (आत्मने०) अधविष्ट-अधोष्ट । लृँङ्—(परस्मै०) अधविष्यत्-अधोष्यत् । (आत्मने०) अधविष्यत-अधोष्यत ।

(लघुकौमुदी में यहां पर प्वादि धातु समाप्त होते हैं)

[लघु०] ग्रहँ उपादाने ॥२०॥ गृह्णाति; गृह्णीते । जग्राह; जगृहे ॥

अर्थः—ग्रहँ (ग्रह्) धातु 'ग्रहण करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1] ।

---

१. 'ग्रहण' यद्यपि मुख्यतया हस्त आदि के द्वारा हुआ करता है तथापि इस के लाक्षणिक प्रयोग भी अत्यन्त प्रचलित हैं—

(क) नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः—मनु० ८.२६ ।

व्याख्या—ग्रहँ धातु में अन्त्य अकार स्वरितानुनासिक है । अतः 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा होकर इस का लोप हो जाता है, 'ग्रह्' मात्र अवशिष्ट रहता है । स्वरितेत् होने से यह धातु उभयपदी तथा हकारान्त अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है ।

लँट्—परस्मै० प्र० पु० के एकवचन में 'ग्रह्+ना+ति' इस स्थिति में श्ना के 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा ङित् होने के कारण 'ग्रहिज्या०' (६३४) से रेफ को ऋकार सम्प्रसारण और 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप एकादेश कर णत्व करने से 'गृह्णाति' सिद्ध होता है । इसी प्रकार 'गृह्णीतः' आदि । आत्मने० में भी इसी तरह सम्प्रसारण हो जाता है । रूपमाला यथा—(परस्मै०) गृह्णाति, गृह्णीतः, गृह्णन्ति । गृह्णासि, गृह्णीथः, गृह्णीथ । गृह्णामि, गृह्णीवः, गृह्णीमः ।(आत्मने०) गृह्णीते, गृह्णाते, गृह्णते । गृह्णीषे, गृह्णाथे, गृह्णीध्वे । गृह्णे, गृह्णीवहे, गृह्णीमहे ।

लिँट्—परस्मै० के णल् में द्वित्व, 'लिँटचभ्यासस्योभयेषाम्' (५४६) से अभ्यास को सम्प्रसारण, उरत्, हलादिशेष, 'कुहोश्चुः' (४५४) से अभ्यास को चुत्व-जकार तथा 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि करने पर 'जग्राह' रूप सिद्ध होता है । अतुस् आदि अपित् लिँट् में 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से कित्त्व के कारण 'ग्रहिज्या०' (६३४) द्वारा सर्वप्रथम सम्प्रसारण होकर पूर्वरूप हो जाता है—गृह्+अतुस् । अब द्वित्व, उरत्, हलादिशेष और अभ्यास को चुत्व करने पर 'जगृहतुः' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं । इसी प्रकार आत्मने० में सर्वत्र कित्त्व के कारण प्रथम सम्प्रसारण होकर बाद में द्वित्वादि कार्य होते हैं । रूपमाला यथा—(परस्मै०) जग्राह, जगृहतुः, जगृहुः । जग्रहिथ, जगृहथुः, जगृह । जग्राह-जग्रह, जगृहिव, जगृहिम । (आत्मने०) जगृहे, जगृहाते, जगृहिरे । जगृहिषे, जगृहाथे, जगृहिढ्वे-जगृहिध्वे (विभाषेटः ५२७) । जगृहे, जगृहिवहे, जगृहिमहे ।

लुँट्—धातु के सेट् होने से इट् का आगम होकर 'ग्रह्+इता' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र द्वारा दीर्घविधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६३) ग्रहोऽलिँटि दीर्घः ।७।२।३७।।

(ख) दत्त्वा कटाक्षमेणाक्षी जग्राह हृदयं मम ।
मया तु हृदयं दत्त्वा गृहीतो मदनज्वरः ।। (साहित्यदर्पण)।

(ग) तयोर्जगृहतुः पादान् राजा राज्ञी च मागधी—रघु० १.५७ ।

(घ) प्राणानग्रहीद् द्विषः—भट्टि० ६.६ ।

(ङ) न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य च—मनु० ५.१५३ ।

(च) गृह्णाति चक्षुः सम्बन्धादालोकोद्भूतरूपयोः—भाषापरिच्छेद ५५ ।

(छ) गुणदोषौ बुधो गृह्णन् इन्दुक्ष्वेडाविवेश्वरः ।
शिरसा श्लाघते पूर्वं परं कण्ठे नियच्छति ।। (कुवलयानन्द)

(ज) न वेत्स मम गृह्णीयाद्वचः—महाभारत ।

एकाचो ग्रहेर्विहितस्य इटो दीर्घः, न तु लिँटि । ग्रहीता । गृह्णातु । **हलः श्नः शानज्झौ** (६८७)—गृहाण । गृह्यात् । ग्रहीषीष्ट । **ह्यचन्त०** (४६६) इति न वृद्धिः—अग्रहीत् । अग्रहीष्टाम् । अग्रहीष्ट । अग्रहीषाताम् ॥

अर्थः—एक अच् वाली ग्रह् धातु से परे विधान किये गये इट् को दीर्घ हो परन्तु लिँट् परे होने पर न हो ।

व्याख्या—ग्रहः ।५।१। अलिँटि ।७।१। दीर्घः ।१।१। इटः ।६।१। (**'आर्धधातुकस्येड् वलादेः'** से विभक्तिविपरिणाम कर के)। एकाचः ।५।१। (**'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्'** से) । 'विहितस्य' का अध्याहार किया जाता है । अर्थः—(एकाचः) एक अच् वाली (ग्रहः) ग्रह् धातु से परे (विहितस्य) विधान किये गये (इटः) इट् के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश हो जाता है (अलिँटि) परन्तु लिँट् परे होने पर नहीं होता । इट् के स्थान पर आन्तरतम्य से ईकार ही दीर्घ आदेश होता है । उदाहरण यथा—ग्रह् + इट् + तव्य = ग्रहीतव्यम् । ग्रह् + इट् + तुम् = ग्रहीतुम् । क्त्वा में सम्प्रसारण हो जाता है—गृहीत्वा। इसी प्रकार निष्ठा में भी—गृहीतः, गृहीतवान् ।

'अलिँटि' कहने से 'जग्रहिथ, जगृहिव, जगृहिम, जगृहिषे' आदि में दीर्घ नहीं होता। 'एकाचः' कहने से 'जाग्रहिता' आदि यङ्लुगन्तप्रयोगों में दीर्घ नहीं होता।

'विहितस्य' का अध्याहार करने से 'ग्राहितम्' आदि में इट् को दीर्घ नहीं होता[1] । यहां पर 'ग्रह्' से इट् का विधान नहीं किया गया अपितु 'ग्राहि' इस ण्यन्त धातु से किया गया है।

'ग्रह् + इता' यहां 'ग्रह्' धातु एकाच् है, लिंट् भी परे नहीं है अतः इस से परे विधान किये गये इट् को प्रकृतसूत्र से दीर्घ होकर 'ग्रहीता' प्रयोग सिद्ध होता है । लुँट् में रूपमाला यथा—(परस्मै०) **ग्रहीता, ग्रहीतारौ, ग्रहीतारः । ग्रहीतासि—** । (आत्मने०) **ग्रहीता, ग्रहीतारौ, ग्रहीतारः । ग्रहीतासे** । लृँट्—में भी इट् को दीर्घ हो जाता है। (परस्मै०) **ग्रहीष्यति** । (आत्मने०) **ग्रहीष्यते** । लोँट्—(परस्मै०) **गृह्णातु-गृह्णीतात्, गृह्णीताम्, गृह्णन्तु । गृहाण[2]-गृह्णीतात्, गृह्णीतम्, गृह्णीत । गृह्णानि, गृह्णाव, गृह्णाम** । (आत्मने०) **गृह्णीताम्, गृह्णाताम्, गृह्णताम् । गृह्णीष्व, गृह्णाथाम्, गृह्णीध्वम् । गृह्णै, गृह्णावहै, गृह्णामहै** । लँङ्—(परस्मै०) **अगृह्णात्, अगृह्णीताम्, अगृह्णन् । अगृह्णाः, अगृह्णीतम्, अगृह्णीत । अगृह्णाम्, अगृह्णीव, अगृह्णीम** । (आत्मने०) **अगृह्णीत, अगृह्णाताम्, अगृह्णत । अगृह्णीथाः, अगृह्णाथाम्, अगृह्णीध्वम् । अगृह्णि, अगृह्णीवहि, अगृह्णीमहि** । वि० लिँङ्—(परस्मै०) **गृह्णीयात्, गृह्णीयाताम्, गृह्णीयुः** ।

---

१. 'ग्राहि + इट् + क्त' यहां **'निष्ठायां सेटि'** (८२४) से णिच् का लोप हो जाता है । न च णिलोपस्य स्थानिवत्त्वेन ग्रहेः परस्य इटोऽभावाद् दीर्घत्वं सुतरां न भविष्यतीति किमनेन विहितविशेषणनियोजनेनेति वाच्यम्, पूर्वविधावेव स्थानिवत्त्वनियमाद् अथवा दीर्घविधौ स्थानिवत्त्वप्रतिषेधाच्चेत्यन्यत्र विस्तरः ।

२. यहां पर 'स्तभान' की तरह **'हलः श्नः शानज्झौ'** (६८७) से श्ना को शानच् आदेश होकर 'हि' का लुक् हो जाता है ।

(आत्मने०) गृह्णीत, गृह्णीयाताम्, गृह्णीरन् । आ० लिङ्—(परस्मै०) यासुट् के कित् होने से सम्प्रसारण हो जाता है—गृह्यात्, गृह्यास्ताम्, गृह्यासुः । (आत्मने०) में इट् को दीर्घ (६६३) हो जाता है—ग्रहीषीष्ट[1], ग्रहीषीयास्ताम्, ग्रहीषीरन् ।

लुँङ्—(परस्मै०) में हलन्तलक्षणा वृद्धि को 'नेटि' (४७७) रोक देता है । अब 'अतो हलादेर्लघोः' (४५७) से वैकल्पिक वृद्धि प्राप्त होती है, इस का भी 'ह्यचन्तक्षण०' (४६६) से निषेध हो जाता है । तब 'ग्रहोऽलिँटि दीर्घः' (६६३) से इट् को निर्बाध दीर्घ हो जाता है—अग्रहीत्[2], अग्रहीष्टाम्, अग्रहीषुः । (आत्मने०) अग्रहीष्ट, अग्रहीषाताम्, अग्रहीषत । लृङ्—(परस्मै०) अग्रहीष्यत् । (आत्मने०) अग्रहीष्यत ।

उपसर्गयोग—आ √ ग्रह् = आग्रह करना, हठ करना (इत्याग्रहाद्वदन्तं तं स पिता तत्र नीतवान्—कथासरित्सागर २५.६६) ।

उद् √ ग्रह् = ऊपर उठाना (शक्तिञ्चोग्रामुदग्रहीत्—भट्टि० १५.२२) ।

अनु √ ग्रह् = अनुग्रह करना, कृपा करना (अनुगृहीतोऽस्म्यहमुपदेशाद् भवतः—विद्धशाल०; महात्मानोऽनुगृह्णन्ति भजमानानरीनपि—माघ २.१०४; कतरत्कुलमनुगृहीतं भगवत्या जन्मना—कादम्बरी); अनुसरण करना (आकृतिमनुगृह्णन्ति गुणाः—विद्धशाल०; क्षात्रधर्मश्चाऽनुगृहीतो भवति—उत्तरराम०); स्वीकार करना (शिलातलैकदेशमनुगृह्णातु वयस्यः—शाकुन्तल) ।

परि √ ग्रह् = स्वीकार करना (आसनपरिग्रहं करोतु देवः—उत्तरराम० ३); ब्याहना, विवाह करना (प्रथमपरिगृहीतं स्यान्नवेत्यध्यवस्यन्—शाकुन्तल ५.२०); सञ्चालित करना (राक्षसमतिपरिगृहीतः—मुद्रा०); शिष्यरूप में स्वीकार करना (ज्ञानेन परिगृह्य तान्—मनु० २.१५१, शिष्यान् कृत्वेति कुल्लूकः) ।

प्रति √ ग्रह् = दानरूप में किसी वस्तु को स्वीकार करना (बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह—मनु० १०.१०७; तदहं प्रतिग्रहार्थं ग्रामान्तरं यास्यामि—पञ्च०); विवाहरूप में कन्या को स्वीकार करना (विधिवत् प्रतिगृह्यापि त्यजेत्कन्यां विगर्हिताम्—मनु०

---

१. यहां पर 'न लिँङि' (६६२) से दीर्घ का निषेध नहीं होता क्योंकि वहां 'वॄतः' की अनुवृत्ति आती है । ग्रह् धातु वृङ्, वृञ् या ॠदन्तों के अन्तर्गत नहीं आती ।

२. इट् को दीर्घ कर लेने पर 'अग्रह्+ई+स्+ई+त्' इस स्थिति में 'इट ईटि' (४४६) से सकार का लोप कैसे हो सकता है क्योंकि इट् तो अब रहा नहीं, वहां दीर्घ ईकार आ चुका है ? इसका समाधान यह है कि इट् के इकार को ही दीर्घ ईकार किया गया है अतः 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' से वह भी इट् ही है अन्य नहीं । इस प्रकार उससे परे सकार के लोप में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती । इसीलिये तो 'ग्रह ईडलिँटि' सूत्र न बना कर 'ग्रहोऽलिँटि दीर्घः' इतना बड़ा सूत्र बनाया गया है, अन्यथा ग्रह् से परे ईट् का आगम कर देने से कई मात्राओं का लाघव स्पष्ट था ही । आ० लिङ् के ग्रहीषीढ्वम्-ग्रहीषीध्वम् तथा लुंङ् के अग्रहीढ्वम्-अग्रहीध्वम् में 'विभाषेटः' (५२७) सूत्र की प्रवृत्ति भी इसी प्रकार समझ लेनी चाहिये ।

६.७२); मानना, स्वीकार करना (**तथेति प्रतिजग्राह प्रीतिमान् सपरिग्रहः—रघु० १.९२**); मुकाबले में युद्ध करना (**प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तमस्त्रैर्गजसाधनः—रघु० ४.४०**); ग्रहण करना (**ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति—पञ्च०**)।

नि+ग्रह्=रोकना, नियमन करना (**तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम्**—रघु० २.३३; **अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति**—याज्ञवल्क्य०)।

सम्√ग्रह्=संग्रह करना (**चतुर्विधांश्च वैद्यान् वै संगृह्णीयाद् विशेषतः**—महाभारत शान्ति०); समेटना, सिकोड़ना, इकट्ठा करना (**संगृह्णती कौशिकमुत्तरीयम्**—महाभारत वन०)। **ग्रहो मल्लस्य संग्राहः, संग्रहो धान्यस्य**—काशिका ३.३.३६।

वि√ग्रह्=झगड़ा करना, विरोध करना, युद्ध करना (**सन्दधीत न चाऽनार्यै विगृह्णीयान्न बन्धुभिः**—महाभारत शान्ति० अ० ७६; **विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः**—माघ १.५१); फोड़ना, अलग अलग करना (**विगृह्य शत्रून् कौन्तेय जेयः क्षितिपतिस्तदा**—महाभारत आ० अ० ६); विशेष ग्रहण करना (**न विगृह्णाति वैषम्यम्**—श्रीमद्भागवत ३.३२.२४; **अविग्रहा गताविस्था यथा ग्रामा विकर्मभिः**—वै० भूषणसार१६)। विग्रहो देहः(**रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च**—वेणी० १), विग्रहो युद्धम् (**अस्त्रियां समरानीकरणाः कलहविग्रहौ**—इत्यमरः), **विग्रहो वृत्त्यर्थविवरणम्** (सि० कौ०)।

प्र√ग्रह्=अच्छी तरह पकड़ना, खींचना (**प्रगृह्यन्तामभीषवः**—शाकुन्तल); **प्रगृह्यं पदम्, ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् १.१.११**।

यहां तक क्र्यादिगण के उभयपदी धातुओं का विवेचन किया गया है।

अब परस्मैपदी धातुओं का वर्णन प्रारम्भ करते हैं—

[लघु०] **कुष निष्कर्षे** ॥२१॥ कुष्णाति। कोषिता॥

अर्थः—कुष (कुष्) धातु 'बाहर निकालना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी तथा षकारान्त अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है। रूपमाला यथा—

लँट्—कुष्णाति, कुष्णीतः, कुष्णन्ति। लिँट्—चुकोष, चुकुषतुः, चुकुषुः। चुकोषिथ—। लुँट्—कोषिता। लृँट्—कोषिष्यति। लोँट्—कुष्णातु-कुष्णीतात्, कुष्णीताम्, कुष्णन्तु। कुषाण[2]-कुष्णीतात्—। लँङ्—अकुष्णात्, अकुष्णीताम्, अकुष्णन्।

---

१. **निष्कर्षो बहिर्निस्सारणम् इति माधवः, बहिष्करणम् इति क्षीरस्वामी, इयत्तापरिच्छेद इति दुर्गादासः**। 'बाहर निकालना' अर्थ में प्रयोग यथा—**ततोऽकुष्णाद् दशग्रीवः क्रुद्धः प्राणान् वनौकसाम्** (भट्टि० १७.८०)। परन्तु 'नोचना' अर्थ में यह धातु साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्ध है। यथा—**जीवन्तमेव कुष्णाति काकीव कुटुम्बिनी** (कथासरित्सागर २३.२७); **शिवाः कुष्णन्ति मांसानि** (भट्टि० १८.१०)। श्रीमद्भागवत में यह धातु 'नोचना' अर्थ में तौदादिकरूपेण प्रयुक्त हुई है—**गृध्रा रुषा मम कुषन्त्यधिदण्डनेतुः** (भागवत ३.१०)।

२. **'हलः श्नः शानज्झौ'** (६७८) से श्ना को शानच् आदेश हो जाता है।

वि० लिँङ्—कुष्णीयात् । आ० लिँङ्—कुष्यात् । लुँङ्—अकोषीत्, अकोषिष्टाम्, अकोषिषुः । लृँङ्—अकोषिष्यत् ।

उपसर्गयोग—निस् या निर् उपसर्ग के योग में 'निरः कुषः' (७.२.४६) सूत्र द्वारा कुष् धातु वेट् हो जाती है—निष्कोष्टा, निष्कोषिता; निष्कोष्टुम्, निष्कोषितुम् । परन्तु निष्ठा में 'इण्निष्ठायाम्' (७.२.४७) से नित्य इट् का आगम होता है—निष्कुषितम्, निष्कुषितवान् । निस् या निर् की विसर्ग को 'इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य' (८.३.४१) से षत्व हो जाता है । निष्कुष्=भक्षण करना या खण्डित करना (उपान्तयोर्निष्कुषितं विहङ्गैः—रघु० ७.५०, निष्कुषितम्=खण्डितम् इति मल्लिनाथः); कुरेदना (दन्तस्य निष्कोषणकेन नित्यं कर्णस्य कण्डूयनकेन वाऽपि । तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां किमङ्ग ! वाग्हस्तवता नरेण—पञ्च० १.७७); नोचना (काकैर्निष्कुषितं श्वभिः कवलितं गोमायुभिर्लुण्ठितम्—गङ्गाष्टक) ।

[लघु०] **अश भोजने** ।।२२।। अश्नाति । आश । अशिता । अशिष्यति । अश्नातु । अशान ।।

अर्थः—अश (अश्) धातु 'भोजन करना, खाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी तथा शकारान्त अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है । इस की प्रक्रिया में विशेष अन्तर नहीं । रूपमाला यथा—

लँट्—अश्नाति, अश्नीतः, अश्नन्ति । लिँट्—में 'अत आदेः' (४४३) से अभ्यास के अत् को दीर्घ होकर सवर्णदीर्घ हो जाता है—आश, आशतुः, आशुः । आशिथ—। लुँट्—अशिता । लृँट्—अशिष्यति । लोँट्—अश्नातु-अश्नीतात्, अश्नीताम्, अश्नन्तु । अशान[1]-अश्नीतात्—। लँङ्—आश्नात्, आश्नीताम्, आश्नन् । वि० लिँङ्—अश्नीयात् । आ० लिँङ्—अश्यात् । लुँङ्—आशीत्, आशिष्टाम्, आशिषुः । लृँङ्—आशिष्यत् ।

उपसर्गयोग—इस धातु का प्र, सम् अथवा उप उपसर्ग के साथ कई स्थानों पर प्रयोग देखा जाता है परन्तु अर्थ यही रहता है ।

[लघु०] **मुष स्तेये** ।।२३।। मोषिता । मुषाण ।।

अर्थः—मुष (मुष्) धातु 'चुराना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2] ।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी तथा सेट् है । रूपमाला यथा—

---

१. 'हलः श्नः शानज्झौ' (६८७) से श्ना को शानच् आदेश हो जाता है ।

२. 'प्र' उपसर्ग के साथ इस धातु का 'छीनना और लूटना' अर्थ में प्रयोग देखा जाता है—मा न आयुः प्रमोषीः—ऋग्वेद १.२४.११ (हमारी आयु न छीनिये), हा प्रमुषिताः स्मः (हाय हम लुट गये) । कारकप्रकरण में यह धातु द्विकर्मकों में गिनाई गई है—देवदत्तं (गौणकर्म) शतं (प्रधानकर्म) मुष्णाति—देवदत्त से सौ रु० छीनता है । परन्तु साहित्य में इस का द्विकर्मकत्वेन विरल ही प्रयोग देखा जाता है । ध्यान रहे कि भाष्यकार ने इसे द्विकर्मकों में नही गिनाया ।

लँट्—मुष्णाति, मुष्णीतः, मुष्णन्ति । लिँट्—मुमोष, मुमुषतुः, मुमुषुः । मुमोषिथ—। लुँट्—मोषिता । लृँट्—मोषिष्यति । लोँट्—मुष्णातु-मुष्णीतात्, मुष्णीताम्, मुष्णन्तु । मुषाण-मुष्णीतात् । लँङ्—अमुष्णात्, अमुष्णीताम्, अमुष्णन् । वि० लिँङ्—मुष्णीयात् । आ० लिँङ्—मुष्यात् । लुँङ्—अमोषीत्, अमोषिष्टाम्, अमोषिषुः । लृँङ्—अमोषिष्यत् ।

[लघु०] ज्ञा अवबोधने ॥२४॥ जज्ञौ ॥

अर्थः—ज्ञा धातु 'जानना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—आत्मनेपद के निमित्तों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी है । 'ऊद्ऋदन्तैः०' में परिगणित न होने से यह अनुदात्त अर्थात् अनिट् है । लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है परन्तु धातु के अजन्त होने के कारण थल् में भारद्वाजनियम से इट् का विकल्प होता है । 'ज्ञा-जनोर्जा' (६३९) सूत्र द्वारा श्ना-प्रत्यय में इसे 'जा' आदेश हो जाता है । रूपमाला यथा—

लँट्—जानाति, जानीतः, जानन्ति । लिँट्—'पा पाने' धातु की तरह प्रक्रिया होती है । जज्ञौ, जज्ञतुः, जज्ञुः । जज्ञिथ-जज्ञाथ, जज्ञथुः, जज्ञ । जज्ञौ, जज्ञिव, जज्ञिम । लुँट्—ज्ञाता । लृँट्—ज्ञास्यति । लोँट्—जानातु-जानीतात्, जानीताम्, जानन्तु । जानीहि-जानीतात्, जानीतम्, जानीत । जानानि, जानाव, जानाम । लँङ्—अजानात्, अजानीताम्, अजानन् । वि० लिँङ्—जानीयात् । आ० लिँङ्—'वाऽन्यस्य संयोगादेः' (४९४) से वैकल्पिक एत्व हो जाता है—ज्ञेयात्-ज्ञायात् । लुँङ्—'यमरमनमातां सक् च' (४९५) से सक् और इट् हो जाते हैं—अज्ञासीत्, अज्ञासिष्टाम्, अज्ञासिषुः । लृँङ्—अज्ञास्यत् ।

उपसर्गहीनावस्था में यदि क्रिया का फल कर्ता को मिले तो ज्ञा धातु 'अनुपसर्गाज्ज्ञः' (१.३.७६) द्वारा आत्मनेपदी हुआ करती है । आत्मनेपद के अन्य निमित्त आत्मनेपद-प्रक्रिया में देखें । आत्मने० में ज्ञाधातु की रूपमाला यथा—

लँट्—जानीते, जानाते, जानते । लिँट्—जज्ञे, जज्ञाते, जज्ञिरे । लुँट्—ज्ञाता, ज्ञातारौ, ज्ञातारः । ज्ञातासे—। लृँट्—ज्ञास्यते । लोँट्—जानीताम्, जानाताम्, जानताम् । जानीष्व—। लँङ्—अजानीत । वि० लिँङ्—जानीत, जानीयाताम्, जानीरन् । आ० लिँङ्—ज्ञासीष्ट । लुँङ्—अज्ञास्त, अज्ञासाताम्, अज्ञासत । लृँङ्—अज्ञास्यत ।

उपसर्गयोग—वि √ ज्ञा = जानना-समझना-बूझना (विजानन्तोऽप्येतद् वयमिह विपज्जालजटिलान् । न मुञ्चामः कामान् अहह गहनो मोहमहिमा—वैराग्य० २०); विशेष जानना (यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति । तथा तथा विजानाति विज्ञानं चाऽस्य रोचते—मनु० ४.२०; यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके । तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः—गीता २.४६); शिल्पशास्त्रविषयक ज्ञान रखना (मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोरित्यमरः) । णिजन्त (विज्ञापयति) = निवेदन करना, प्रार्थना करना (समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद् गुरुदक्षिणायै—रघु० ५.२०) ।

सम्√ज्ञा=आध्यान करना, उत्कण्ठापूर्वक स्मरण करना (**मातुः सञ्जानाति, पितुः सञ्जानाति**—काशिका १.३.४६; कर्मणः शेषत्वविवक्षायां षष्ठी)। आध्यान से भिन्न अन्य किसी भी अर्थ में सम्पूर्वक ज्ञा धातु से '**सम्प्रतिभ्यामनाध्याने**' (१.३.४६) द्वारा आत्मनेपद का विधान है—अवेक्षा करना, सम्भाल रखना, ख्याल रखना (**शतं सञ्जानीते**—सि० कौ०, अवेक्षत इत्यर्थः[1]); अच्छी तरह मानना या आज्ञा में रहना (**पित्रा पितरं वा सञ्जानीते**—सि० कौ०, पिता को अच्छी तरह मानता है—पिता के साथ एक मत वाला है—पिता की आज्ञा में रहता है। '**सञ्ज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि**' २.३.२२ इति कर्मणि वा तृतीया); सावधान रहना, चेतना (**सञ्जानानान् परिहरन् रावणानुचरान् बहून्**—भट्टि० ८.२७, सञ्जानानान्=चेतयत इति जयमङ्गला)।

प्रति√ज्ञा=प्रतिज्ञा करना (**प्रतिजज्ञे स्वयं चैव सुग्रीवो रक्षसां वधम्**—भट्टि० १४.६४; **शतं प्रतिजानीते**[2]—काशिका १.३.४६, '**सम्प्रतिभ्यामनाध्याने**' से आत्मने० हो जाता है)।

प्र√ज्ञा=सम्यक् जानना (**स्त्रियं नैव प्रजानाति क्वचिदप्राप्तयौवनः**—महाभारत)।

परि√ज्ञा=पहचानना (**सखे! तपस्विभिः कैश्चित् परिज्ञातोऽस्मि**—शाकुन्तल २); भली भांति जानना (**शब्दहेतुं परिज्ञाय**—पञ्च०); जानना (**वृषभोऽयमिति परिज्ञाय**—पञ्च०)।

अनु√ज्ञा=अनुज्ञा देना, अनुमति देना (**सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्**—शाकुन्तल ४; **ततोऽनुजज्ञे गमनं सुतस्य**—भट्टि० १.२३, कर्मणि लकारः); क्षमा करना (**अनुप्रवेशे यद्वीर कृतवांस्त्वं ममाऽप्रियम्। सर्वं तदनुजानामि**—महाभारत)।

अभि+अनु√ज्ञा=अनुमति देना (**पपौ वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः**—रघु० २.६९)।

उप√ज्ञा=उपदेश के विना स्वयं जानना (**पाणिनिना उपज्ञातं पाणिनीयमकालकं व्याकरणम्**—काशिका ४.३.११५; **अथ प्राचेतसोपज्ञं रामायणमितस्ततः। मैथिलेयौ कुशलवौ जगतुर्गुरुचोदितौ**—रघु० १५.६३; **उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्याद्** इत्यमरः)।

अप√ज्ञा=छुपाना, इन्कार करना (**शतमपजानीते**—काशिका १.३.४४, '**अपह्नवे ज्ञः**' इत्यात्मनेपदम्। **आत्मानमपजानानः शशमात्रोऽनयद् दिनम्**—भट्टि० ८.२६)।

अव√ज्ञा=अवज्ञा करना, हीन समझना, अवमान करना, परवाह न करना (**अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति। मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा**—रघु० १.७७; **अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्**—गीता ९.११; **आत्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार**—रघु० २.४१; **भक्तं शक्तं च मां राजन् नाऽवज्ञातुं त्वमर्हसि**—पञ्च० १.१०६)।

---

१. यह **भट्टोजिदीक्षित** का अर्थ है। परन्तु अन्य लोग इसका अर्थ करते हैं—**सौ देने** की प्रतिज्ञा करता है।

२. **दीक्षितजी** इसका **अर्थ** करते हैं—शतमङ्गीकरोतीत्यर्थः।

अभि √ ज्ञा = पहचानना (**नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले । नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्**—रामायण); जानना (**यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राऽप्यभिज्ञो जनः**—उत्तरराम० ५.३५); स्मरण करना (**अभिजानासि देवदत्त ! काश्मीरेषु वत्स्यामः**—काशिका, '**अभिज्ञावचने लृट्**' ३.२.११२ इति लृट्)।

प्रति + अभि √ ज्ञा = पहचानना (**स्वयूथ्यस्वरान् प्रत्यभिजानते**—अनर्घ०)।

आ √ ज्ञा (णिजन्त = आज्ञापयति) = आज्ञा देना (**यथाऽऽज्ञापयत्यायुष्मान्**—शाकुन्तल १)।

यहां तक क्र्यादिगण की परस्मैपदी धातुओं का विवेचन किया गया है।

अब एक आत्मनेपदी धातु का वर्णन करते हैं—

[लघु०] **वृङ् सम्भक्तौ ॥२५॥** वृणीते। ववृषे। ववृढ्वे। वरिता-वरीता। अवरिष्ट-अवरीष्ट-अवृत ॥

अर्थः—वृङ् (वृ) धातु 'पूजा करना, सेवा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु ङित् होने से आत्मनेपदी तथा '**ऊदृदन्तैः०**' में परिगणित होने से उदात्त अर्थात् सेट् है। रूपमाला यथा—

लँट्—**वृणीते, वृणाते, वृणते**[1]। लिँट्—में किस्व के कारण '**असंयोगाल्लिट् कित्**' (६५०) से इडागम का निषेध हो जाता है। क्रादिनियम से भी इट् नहीं होता क्योंकि क्रादियों में 'वृ' का साक्षात् उल्लेख है। ऋदन्त न होने से '**ऋच्छत्यृताम्**' (६१४) द्वारा अजादिप्रत्ययों में गुण नहीं होता, '**इको यणचि**' (१५) से यण् ही होता है—**वव्रे, वव्राते, वव्रिरे। ववृषे, वव्राथे, ववृढ्वे। वव्रे, ववृवहे, ववृमहे।**

लुँट्—में इट् का आगम निर्बाध हो जाता है। '**वृतो वा**' में 'वृ' धातु साक्षात् पढ़ी गई है अतः इट् को वैकल्पिक दीर्घ हो जाता है—**वरीता-वरिता। लृँट्—वरीष्यते-वरिष्यते।**

लोँट्—**वृणीताम्, वृणाताम्, वृणताम्। वृणीष्व**—। लँङ्—**अवृणीत, अवृणाताम्, अवृणत।** वि० लिँङ्—**वृणीत, वृणीयाताम्, वृणीरन्।**

आ० लिँङ्—में '**लिङ्सिँचोरात्मनेपदेषु**' (६६१) से इट् का विकल्प हो जाता है। इट्पक्ष में '**न लिँङि**' (६६२) से इट् को दीर्घ नहीं होता और आर्धधातुकगुण हो जाता है—**वरिषीष्ट, वरिषीयास्ताम्, वरिषीरन्।** इट् के अभाव में '**उश्च**' (५४४) द्वारा कित्त्व के कारण गुण नहीं होता। तब धातु के ऋदन्त न होने से '**उदोष्ठ्यपूर्वस्य**' (६११) द्वारा उत्त्व भी नहीं होता—**वृषीष्ट, वृषीयास्ताम्, वृषीरन्।**

लुँङ्—में सिँच् को भी '**लिङ्सिँचोरात्मनेपदेषु**' (६६१) से इट् का विकल्प हो जाता है। इट्पक्ष में '**वृतो वा**' (६१५) द्वारा इट् को वैकल्पिक दीर्घ तथा आर्धधातुकगुण हो जाता है। इट् के अभाव में '**उश्च**' (५४४) द्वारा सिँच् कित् हो जाता

---

१. **सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।**
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥ (किराता० २.३०)
यहां पर '**वृणुते**' लिखने वाले अनभिज्ञों से सावधान रहना चाहिये।

है अतः तन्निमित्तक गुण नहीं होता। तब 'ह्रस्वादङ्गात्' (५४५) से झल् परे रहते सिँच् का लुक् हो जाता है। (इट्पक्षे दीर्घे कृते) अवरीष्ट, अवरीषाताम्, अवरीषत। (इट्पक्षे दीर्घाऽभावे) अवरिष्ट, अवरिषाताम्, अवरिषत। (इटोऽभावे) अवृत, अवृषाताम्, अवृषत। अवृथाः—। लृँङ्—अवरीष्यत-अवरिष्यत।

अभ्यास (१५)

(१) निम्न-रूपों में मौलिक अन्तर बताएँ—

वव्रे-ववरे; चक्रतुः-चकरतुः; क्रीणाताम्-क्रीणीताम्; अक्रीणात्-अक्रीणीत।

(२) निम्न-प्रश्नों का उत्तर दीजिये—

(क) 'क्रीणाति' में श्नानिमित्तक गुण क्यों नहीं होता?

(ख) 'विक्रीणाति' प्रयोग शुद्ध है या अशुद्ध? सहेतुक लिखें।

(ग) 'पुनाति' की तरह 'क्नूनाति' में ह्रस्व क्यों नहीं होता?

(घ) 'स्तभान' की तरह 'क्रीणीहि' में शानच् क्यों नहीं होता?

(ङ) 'ग्रहीता' की तरह 'जग्रहिथ' में इट् को दीर्घ क्यों नहीं होता?

(च) 'वव्रे' में 'ऋच्छत्यॄताम्' से गुण क्यों न हो?

(छ) 'प्रमीणीते' में 'मीना' न होते हुए भी णत्व कैसे हो जाता है?

(ज) 'वरिषीष्ट' में 'वॄतो वा' द्वारा इट् को दीर्घ क्यों नहीं होता?

(झ) श्ना परे होने पर स्तन्भ् के नकार को क्या हो जायेगा?

(३) 'वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः'—क्या यह उक्ति शुद्ध है? सहेतुक स्पष्ट करें।

(४) प्वादिधातु कौन कौन सी हैं? लघुकौमुदी में किस किस का वर्णन किया गया है?

(५) सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—

हलः श्नः शानज्झौ, ग्रहोऽलिँटि दीर्घः, हिनुमीना, लिँङ्सिँचोरात्मनेपदेषु, जॄस्तन्भुँ०, स्तन्भुँ-स्तुन्भुँ०।

(६) निम्न-रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

जगृहे, जानाति, क्रीणन्ति, वूर्यात्, तस्तरतुः, गृहाण, ववृषे, स्तभ्नोति, मिम्यतुः, व्यष्टभत्, अग्रहीत्, गृह्णीते, ग्रहीता, स्तीर्यात्, अवृत।

(७) रूपमाला लिखें—

मीञ्, वृञ्, वृङ्, स्तन्भ्, ग्रह्, ज्या ······(लुँङ् में)।

स्तॄञ्, वृञ्, वृङ्, ज्ञा ······(आ० लिँङ् में)।

ग्रह्, स्तन्भ्, पूञ् ······(लँट् और लोँट् में)।

क्री, ग्रह ······(सब लकारों में)।

इति तिङन्ते क्र्यादयः

(यहां पर क्र्यादिगण की धातुओं का विवेचन समाप्त होता है)

अथ तिङन्ते चुरादयः

अब तिङन्तप्रकरण में चुरादिगण की धातुओं का निरूपण किया जाता है—

[लघु०] **चुर स्तेये** ॥१॥

अर्थः—चुर (चुर्) धातु 'चुराना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—'चुर' में अन्त्य अकार उच्चारण के लिये जोड़ा गया है, इसे इत् करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि इस से पदव्यवस्था नहीं की जाती। पदव्यवस्था के लिये आगे '**णिचश्च**' (६९५) सूत्र कहा जायेगा। अब अग्रिमसूत्र द्वारा चुरादियों से स्वार्थ में णिच् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६९४) सत्याप-पाश-रूप-वीणा-तूल-श्लोक-सेना-लोम-त्वच-वर्म-वर्ण-चूर्ण-चुरादिभ्यो णिच् ।३।१।२५॥

एभ्यो णिच् स्यात्। चूर्णान्तेभ्यः '**प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे०**' (गणसूत्रम्) इत्येव सिद्धे तेषामिह ग्रहणं प्रपञ्चार्थम्। चुरादिभ्यस्तु स्वार्थे। **पुगन्त०** (४५१) इति गुणः, **सनाद्यन्ताः०** (४६८) इति धातुत्वम्। तिप्-शबादि, गुणायादेशौ—चोरयति॥

अर्थः—सत्य (सत्याप्), पाश, रूप, वीणा, तूल, श्लोक, सेना, लोमन्, त्वच, वर्मन्, वर्ण और चूर्ण—इन बारह प्रातिपदिकों से तथा चुर् आदि धातुओं से परे णिच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—सत्याप—चुरादिभ्यः ।५।३। णिच् ।१।१। '**प्रत्ययः, परश्च**' दोनों का अधिकार आ रहा है। सत्यशब्द से णिच् करने पर सत्यशब्द को आपुक् का आगम निपातन करने के लिये 'सत्याप्' ऐसा कहा गया है। सूत्रगत 'सत्याप' के अन्त्य में अकार उच्चारणार्थ है। 'त्वच' यह अदन्त नपुंसक शब्द यहां गृहीत होता है। अर्थः—(सत्याप—चुरादिभ्यः) सत्याप्, पाश, रूप, वीणा, तूल, श्लोक, सेना, लोमन्, त्वच, वर्मन्, वर्ण, चूर्ण तथा चुर् आदि धातुओं से[1] (परः) परे (णिच्) णिच् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो। यहां अर्थ का निर्देश नहीं किया गया अतः लोकप्रसिद्ध्यनुसार अर्थ लिया जायेगा। सत्य से लेकर चूर्ण तक प्रथम बारह शब्द प्रातिपदिक हैं, इन से विभिन्न धात्वर्थों में प्रत्यय होता है। यथा—

(१) **सत्यं करोति आचष्टे वा—सत्यापयति** (सत्य को करता व कहता है)।

---

१. यहां पर '**धातोरेकाचो हलादेः०**' से '**धातोः**' पद का भी अनुवर्त्तन होता है। वचनविपरिणाम करके इसे 'चुरादिभ्यः' से सम्बद्ध कर लिया जाता है। यदि यहां इस का अनुवर्त्तन नहीं करेंगे तो 'धातोः' कह कर विहित न होने से चुरादियों से परे णिच् की '**आर्धधातुकं शेषः**' (४०४) से आर्धधातुकसञ्ज्ञा न होगी, तब आर्धधातुक-निमित्तक लघूपधगुण न हो सकेगा।

(२) **पाशं विमुञ्चति—विपाशयति** (पाश को छोड़ता है)[1]।
(३) **रूपं पश्यति—रूपयति** (रूप को देखता है)।
(४) **वीणया उपगायति—उपवीणयति** (वीणा द्वारा या वीणा के साथ गाता है)।
(५) **तूलेन अनुकुष्णाति—अनुतूलयति** (तूल द्वारा तृणाग्र को लपेटता है[2])।
(६) **श्लोकैरुपस्तौति—उपश्लोकयति** (श्लोकों द्वारा स्तुति करता है)।
(७) **सेनया अभियाति—अभिषेणयति** (सेना द्वारा अभियान करता है)[3]।
(८) **लोमानि अनुमार्ष्टि—अनुलोमयति** (लोमों को साफ करता है)।
(९) **त्वचं गृह्णाति—त्वचयति** (वृक्षादि की त्वचा को ग्रहण करता है)।
(१०) **वर्मणा सन्नह्यति—संवर्मयति** (कवच से सन्नद्ध होता है)।
(११) **वर्णं गृह्णाति—वर्णयति** (लाल पीला आदि रंग ग्रहण करता है)।
(१२) **चूर्णैरवध्वंसते—अवचूर्णयति** (चूर्णों से रोगादि का नाश करता है)।

ये सब नामधातु हैं। जिस प्रकार धातुओं से लँट् आदि लकार करने पर रूप चला करते हैं वैसे कुछ शब्दों (प्रातिपदिकों व सुबन्तों) से भी लकार आकर रूप चला करते हैं। नामधातुओं का विवेचन **'नामधातुप्रक्रिया'** में आगे करेंगे। ये सब शब्द आचार्य पाणिनि ने अपने से पूर्ववर्त्ती साहित्य में से चुने होंगे, इस में सन्देह नहीं; परन्तु इस समय के उपलब्ध साहित्य में इन में से कुछ शब्दों का ही प्रयोग देखा जाता है[4]।

यहां पर कौमुदीकार (वस्तुतः न्यासकार आदि) का कहना है कि **'प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवत्'** (धात्वर्थ में प्रातिपदिक से परे बहुल करके णिच् प्रत्यय हो और उस णिच् को इष्ठन् प्रत्यय की तरह मान कर सब कार्य हों) इस गण-सूत्र से ही 'सत्यापयति' आदि रूप सिद्ध हो सकते हैं अतः इस सूत्र में इन के उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं। इस तरह यहां इसे प्रपञ्चमात्र अर्थात् स्पष्टता के लिये विस्तार-मात्र ही समझना उचित है। परन्तु अन्य वैयाकरणों का कहना है कि सत्य आदि सापेक्ष शब्दों से भी णिच्प्रत्यय का विधान करने के लिये इन का विशेषतया पृथक् उल्लेख किया गया है। अन्यथा जैसे 'रमणीयं घटं करोति' इस विग्रह में घट शब्द से णिच् की उत्पत्ति नहीं होती वैसे 'रमणीयं रूपयति' में भी णिच् की उत्पत्ति न हो सकती। इस विषय का विस्तार **सिद्धान्तकौमुदी** की नामधातु प्रक्रिया में देखना चाहिये।

'चुरादिभ्यो णिच्' (चुर् आदि धातुओं से णिच् प्रत्यय हो) इतना सूत्रांश ही यहां चुरादिगण में उपयोगी है। चुरादियों से णिच् प्रत्यय किसी अर्थविशेष में विधान

---

१. कहीं कहीं पर **'पाशं विमोचयति'** ऐसा भी विग्रह देखा जाता है।

२. तृणादि पर कपास लपेट कर कर्ण आदि का मल निकाला जाता है।

३. **'उपसर्गात्सुनोतिसुवति०'** (८.३.६५) इति षत्वम्।

४. यथा—**कः सिन्धुराजमभिषेणयितुं समर्थः**—वेणी० २.२५।
भैमीमुपावीणयदेत्य यत्र कलिप्रियस्य प्रियशिष्यवर्गः—नैषध ६.६५।
संवर्मयति वज्रेण धैर्यं हि महतां मनः—अनर्घ० ५.१५।
समुत्तेजनसमर्थैः श्लोकैरुपश्लोकयितव्यः—मुद्रा० ४।

नहीं किया गया अपितु **'अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति'** के अनुसार स्वार्थ में ही हुआ है। स्वार्थिक प्रत्ययों के आने से प्रकृति के अर्थ में कुछ अन्तर नहीं आया करता किन्तु रूपसिद्धि में परिनिष्ठितता हुआ करती है।

इस प्रकार चुर् धातु से स्वार्थ में णिच् प्रत्यय आकर **'चुर्+णिच्'** इस स्थिति में णिच् के णकार की **'चुटू'** (१२९) द्वारा तथा चकार की **'हलन्त्यम्'** (१) द्वारा इत्संज्ञा होकर लोप करने से 'चुर्+इ' हुआ। अब **'आर्धधातुकं शेषः'** (४०४) से णिच् के आर्धधातुकसञ्ज्ञक होने के कारण **'पुगन्तलघूपधस्य च'** (४५१) से लघूपध-गुण होकर 'चोरि' बन जाता है। **'सनाद्यन्ता धातवः'** (४६८) से 'चोरि' की नये सिरे से धातुसंज्ञा हो जाती है। अब इस धातु से कर्त्रादिविवक्षा में लँट् आदि लकारों की उत्पत्ति होती है। कर्तृविवक्षा में—चोरि+लँट्=चोरि+ल्, प्र० पु० के एकवचन में 'चोरि+ति' इस स्थिति में 'ति' इस सार्वधातुक के परे रहते **'कर्तरि शप्'** (३८७) से शप्, शप् को मान कर **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** (३८८) से गुण तथा **'एचोऽयवायावः'** (२२) से एकार को अयादेश हो कर 'चोरयति' प्रयोग सिद्ध होता है। परन्तु यहां एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'चोरि' धातु के आगे परस्मैपद और आत्मनेपद में से किस पद का प्रयोग किया जाये? वैसे न्यायानुसार **'शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्'** (३८०) द्वारा परस्मैपद का ही प्रयोग होना चाहिये। परन्तु लोक में कर्त्रभिप्राय क्रियाफल के होने पर इस से आत्मनेपद का प्रयोग देखा जाता है। अतः इस की सिद्धि के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६९५) णिचश्च ।१।३।७४।।

णिजन्तादात्मनेपदं स्यात्कर्तृगामिनि क्रियाफले। चोरयते। चोरयामास। चोरयिता। चोर्यात्। चोरयिषीष्ट। **णिश्रि०** (५२८) इति चङ्। **णौ चङि०** (५३०) इति ह्रस्वः। **चङि** (५३१) इति द्वित्वम्। **हलादिः शेषः** (३९६)। **दीर्घो लघोः** (५३४)—इत्यभ्यासस्य दीर्घः—अचूचुरत्; अचूचुरत ।।

अर्थः—क्रिया का फल कर्त्ता को प्राप्त हो तो णिजन्त धातु से परे आत्मनेपद प्रत्यय हों।

व्याख्या—णिचः ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। आत्मनेपदम् ।१।१। (**'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** से)। कर्त्रभिप्राये ।७।१। क्रियाफले ।७।१। (**'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले'** से)। 'णिच्' एक प्रत्यय है अतः **'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः'** (प०) के अनुसार इस से तदन्तविधि हो कर 'णिजन्तात्' बन जाता है। अर्थः—(णिचः=णिजन्तात्) णिच् प्रत्यय जिसके अन्त में है ऐसी धातु से परे (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद प्रत्यय हो (कर्त्रभिप्राये क्रियाफले) क्रिया का फल कर्त्ता को मिलता हो तो। इस सूत्र की व्याख्या भी **'स्वरितञितः'** (३७९) सूत्र की तरह समझनी चाहिये। इस प्रकार चुरादि धातुओं से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद तथा अन्यत्र परस्मैपद का प्रयोग

होता है[1]। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) चोरयति, चोरयतः, चोरयन्ति । (आत्मने०) चोरयते, चोरयेते, चोरयन्ते ।

लिँट्—चुर् धातु से पूर्ववत् स्वार्थ में णिच् प्रत्यय होकर 'चोरि' धातु बन जाती है । इस से परे लिँट् लकार ला कर धातु के अनेकाच् होने से 'कास्यनेकाच आम् वक्तव्यो लिँटि' (वा० ३४) से आम्, 'अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु' (५२६) से इकार को अयादेश, आम् से परे लिँट् का लुक् तथा लिँट्परक कृ भू और अस् का अनुप्रयोग करने पर चोरयाञ्चकार-चोरयाम्बभूव-चोरयामास आदि रूप बनते हैं । इसी प्रकार आत्मने० में 'चोरयाञ्चक्रे' आदि समझ लेने चाहियें ।

लुँट्—चुरादिगण में णिच् के आ जाने से सब धातु अनेकाच् होने के कारण सेट् हो जाती हैं । अतः तास् आदि में इट् का आगम निर्बाध हो जाता है । इट् होकर गुण और अयादेश हो जाता है—(परस्मै०) चोरयिता, चोरयितारौ, चोरयितारः । चोरयितासि—। (आत्मने०) चोरयिता, चोरयितारौ, चोरयितारः । चोरयितासे—।

लृँट्—(परस्मै०) चोरयिष्यति । (आत्मने०) चोरयिष्यते । लोँट्—(परस्मै०) चोरयतु-चोरयतात्, चोरयताम्, चोरयन्तु । चोरय-चोरयतात्, चोरयतम्, चोरयत । चोरयाणि, चोरयाव, चोरयाम । (आत्मने०) चोरयताम्, चोरयेताम्, चोरयन्ताम् । लँङ्—(परस्मै०) अचोरयत्, अचोरयताम्, अचोरयन् । (आत्मने०) अचोरयत, अचोरयेताम्, अचोरयन्त । वि० लिँङ्—(परस्मै०) चोरयेत्, चोरयेताम्, चोरयेयुः । (आत्मने०) चोरयेत, चोरयेयाताम्, चोरयेरन् ।

आ० लिँङ्—परस्मै० में 'चोरि+यास्+त्' इस स्थिति में 'णेरनिटि' (५२९) से णि का लोप होकर संयोगादिलोप करने से 'चोर्यात्' रूप सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि यहां णि का लोप हो जाने पर 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' से लघूपधगुण का अपाय (नाश) नहीं होता । इस का कारण यह है कि प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी प्रत्ययलक्षण में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती । रूपमाला यथा—(परस्मै०) चोर्यात्, चोर्यास्ताम्, चोर्यासुः । (आत्मने०) यहां आर्धधातुक अनिट् नहीं

---

१. चुरादिगणान्तर्गत 'लक्ष दर्शनाङ्कनयोः' धातु को स्वरितेत् कहा गया है—स्वरितेत् स्याद् ग्रहिः क्र्यादौ लक्षिश्चेष्टश्चुरादिषु (क्षीरतरङ्गिणी में उद्धृत प्राचीन वचन)। इस से कुछ वैयाकरण इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'णिचश्च' (६९५) सूत्र चुरादिणिजन्तों के लिये नहीं अपितु हेतुमण्णिजन्तों के लिये बनाया गया है । उन के मतानुसार चुरादि धातुओं से केवल परस्मैपद ही होता है । परन्तु आकरग्रन्थों में इस प्रकार का कहीं निर्देश न होने से बहुत से वैयाकरण इसे अप्रामाणिक मानते हैं । लक्ष धातु का स्वरितेत् पाठ भी अनार्ष समझा जाता है । जैसाकि पदमञ्जरीकार ने कहा है— (दोधकवृत्तम्)

"एव विधिर्न चुरादिणिजन्तात् स्यादिति कश्चन निश्चिनुते स्म ।
आप्तवचोऽत्र न किञ्चिदद्दृष्टं लक्षयतेः स्वरितेत्त्वमनार्षम् ॥"

होता अतः णि का लोप न होकर गुण और अयादेश हो जाता है—**चोरयिषीष्ट, चोरयिषीयास्ताम्, चोरयिषीरन्** ।

लुंङ्—'चोरि' धातु से लुंङ्, तिप्, च्लि तथा च्लि के स्थान पर **'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्'** (५२८) से चङ्प्रत्यय होकर 'अचोरि+अ+त्' हुआ । अब **'णेरनिटि'** (५२९) से णि का लोप, **'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः'** (५३०) से उपधा को ह्रस्व और **'चङि'** (५३१) से चुर् को द्वित्व हो जाता है—अचुर्+चुर्+अ+त् । पुनः हलादिशेष तथा सन्वद्भाव के विषय में[1] **'दीर्घो लघोः'** (५३४) से अभ्यास को दीर्घ करने पर 'अचूचुरत्' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार आत्मनेपद में प्रक्रिया समझनी चाहिये । रूपमाला यथा—(परस्मै०) अचूचुरत्[2], **अचूचुरताम्, अचूचुरन् । अचूचुरः, अचूचुरतम्, अचूचुरत । अचूचुरम्, अचूचुराव, अचूचुराम** । (आत्मने०) **अचूचुरत, अचूचुरेताम्, अचूचुरन्त । अचूचुरथाः, अचूचुरेथाम्, अचूचुरध्वम् । अचूचुरे, अचूचुरावहि, अचूचुरामहि** ।

लृङ्—(परस्मै०) **अचोरयिष्यत्** । (आत्मने०) **अचोरयिष्यत** ।

नोट—चुरादिगण में प्रायः लुंङ् लकार की प्रक्रिया ही विशेष ध्यातव्य हुआ करती है । इस में च्लि को चङ्, उपधाह्रस्व तथा द्वित्व आदि कार्य हुआ करते हैं । परन्तु विशेष द्रष्टव्य सन्वद्भाव होता है । वह कहां होता और कहां नहीं होता—इस के लिये **'सन्वल्लघुनि०'** (५३२) सूत्र के अर्थ का मनन करना चाहिये । यदि अभ्यास में अकार हो और सन्वद्भाव का विषय (लघुपरक) भी हो तो प्रथम अभ्यास के अकार को **'सन्यतः'** (५३३) से इत्व और बाद में उस इकार को **'दीर्घो लघोः'** (५३४) से दीर्घ हो जाता है । यथा—(तड्) अतीतडत्, (पाल्) अपीपलत् आदि । यदि अभ्यास में अकार नहीं और सन्वद्भाव का विषय है तो इत्व न होकर **'दीर्घो लघोः'** (५३४) से उस स्वर को दीर्घ हो जाता है । यथा—(चुर्) अचूचुरत्, (तुल्) अतूतुलत् आदि । सन्वद्भाव का विषय न होने पर अभ्यास के अकार वा इकार में कोई परिवर्त्तन नहीं होता । तथा—(कथ) अचकथत्, (चिन्त्) अचिचिन्तत्, (लक्ष्) अललक्षत्, (भक्ष्) अबभक्षत् आदि ।

[लघु०] **कथ वाक्यप्रबन्धे** ॥२॥ अल्लोपः ॥

अर्थः—कथ धातु 'कहना, बोलना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[3] ।

---

१. यहां पर **'सन्वल्लघुनि०'** (५३२) से सन्वद्भाव करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि **'दीर्घो लघोः'** (५३४) सूत्र सन्वद्भाव के विषय में ही प्रवृत्त हो जाता है उस की अपेक्षा नहीं करता अत एव भट्टोजिदीक्षित ने प्रौढमनोरमा में लिखा है—**प्रसादकृता सन्वल्लघुनीति सन्वद्भाव इत्युक्तम् । तस्य प्रकृते क उपयोग इति स एव प्रष्टव्यः** (पृष्ठ ६१४) ।

२. **अचूचुरच्चन्द्रमसोऽभिरामताम्**—माघ १.१६ ।

३. कथित, अकथित, कथा, कथन, कथक आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं ।

व्याख्या—चुरादिगण में कथ आदि कुछ धातु अदन्त पढ़े गये हैं। इन में अन्त्य अकार चुर धातु की तरह उच्चारणार्थ नहीं अपितु धातु का अङ्ग है। अनुनासिक न होने से इस की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती। कथ धातु से पूर्ववत् **'सत्यापपाश०'** (६९४) से स्वार्थ में णिच् प्रत्यय कर अनुबन्धलोप करने से 'कथ+इ' इस स्थिति में णिच् आर्धधातुक के परे रहते **'अतो लोपः'** (४७०) सूत्र से अत् का लोप हो जाता है—कथ्+इ। अब यहां णित् के परे होने से 'अत उपधायाः' (४५५) द्वारा उपधावृद्धि प्राप्त होती है जो अनिष्ट है। अतः इस के वारण के लिये अग्रिमसूत्र द्वारा स्थानिवद्भाव का निरूपण करते हैं—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(६९६) अचः परस्मिन्पूर्वविधौ ।१।१।५६॥

परनिमित्तोऽजादेशः स्थानिवत् स्यात् स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ कर्त्तव्ये। इति स्थानिवत्त्वान्नोपधावृद्धिः—कथयति। अग्लोपित्वाद् दीर्घसन्वद्भावौ न—अचकथत्॥

अर्थः—पर को निमित्त मान कर हुआ अजादेश (अच् के स्थान पर आदेश) स्थानिवत् हो, यदि उस स्थानिभूत अच् से पूर्व देखे गये के स्थान पर कार्य करना हो तो।

व्याख्या—अचः ।६।१। परस्मिन् ।७।१। पूर्वविधौ ।७।१। स्थानिवत् इत्यव्ययपदम्। आदेशः ।१।१। (**'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ'** से)। 'परस्मिन्' में निमित्तसप्तमी है। पूर्वस्य विधिः, तस्मिन् पूर्वविधौ। 'अचः' का सम्बन्ध 'आदेशः' के साथ है। **अर्थः**—(परस्मिन्) पर को निमित्त मानकर (अचः) अच् के स्थान पर हुआ (आदेशः) आदेश (स्थानिवत्) स्थानी की तरह होता है (पूर्वविधौ) यदि स्थानी से पूर्व[1] के स्थान पर विधि अर्थात् कार्य करना हो तो। उदाहरण यथा—

'कथ्+इ' यहां पर णिच् को मान कर थकारोत्तर अकार का 'अतो लोपः' (४७०) से लोप किया गया है। यह लोप अच् के स्थान पर होने से अजादेश है। यह अजादेश (लोप) स्थानिवत् अर्थात् स्थानी अच् के तुल्य होगा, उस स्थानी अच् के आश्रय जो जो कार्य सिद्ध होते हैं वे इस लोप के होने पर भी सिद्ध हो जायेंगे। यहां हमें इस स्थानी अच् से पूर्व उपधावृद्धि का निषेधरूप कार्य करना है। इस प्रकार प्रकृतसूत्र के पूरा पूरा घट जाने पर स्थानिवद्भाव के कारण बीच में अच् के आ जाने से व्यवधान पड़ने से णित् परे नहीं रहता अतः **'अत उपधायाः'** (४५५) से उपधावृद्धि नहीं होती, 'कथि' ही रहता है। अब इस की धातुसञ्ज्ञा होकर लँट्, तिप्, शप्, गुण और अयादेश करने पर 'कथयति' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यह स्थानिवद्भाव **'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ'** (१४४) से सिद्ध नहीं होता था क्योंकि वहां 'अनल्विधौ' (स्थानी जो

---

१. यहां 'पूर्व' किस से लिया जाये—स्थानी से, आदेश से या निमित्त से ? यहां पर स्थानी से ही पूर्व लिया जाना निर्दुष्ट है, आदेश और निमित्त से नहीं; इस विषय का विस्तार आकरग्रन्थों में देखें।

अल् उस के आश्रय विधि न करनी हो तो) की शर्त्त है। यहां पुनः अल्विधि में स्थानि-वद्भाव का प्रतिपादन किया गया है। इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

अवधीत्—लुंङ् लकार में हन् धातु को **'लुंङि च'** (५६५) सूत्र से 'वध' यह अदन्त आदेश हो जाता है। 'अवध+इस्+ईत्' इस स्थिति में पर आर्धधातुक को मान कर **'अतो लोपः'** (४७०) से वध के अन्त्य अकार का लोप होकर **'अतो हलादेर्लघोः'** (४५७) से वैकल्पिक वृद्धि प्राप्त होती है परन्तु प्रकृतसूत्र से परनिमित्तक अजादेश (लोप) के स्थानिवद्भाव के कारण इडादि सिंच् परे न रहने से पूर्वविधि (वृद्धि) नहीं होती, 'अवधीत्' सिद्ध हो जाता है।

वव्रश्च—व्रश्च् धातु से लिंट् प्र० पु० के एकवचन में द्वित्व करने पर 'व्रश्च्+व्रश्च्+अ' इस स्थिति में **'लिंटयभ्यासस्योभयेषाम्'** (५४६) से अभ्यास के रेफ को ऋकार सम्प्रसारण तथा **'सम्प्रसारणाच्च'** (२५८) से पूर्वरूप हो जाता है—वृश्च्+व्रश्च्+अ। 'उरत्' (४७३) सूत्र से अभ्यास के ऋकार को अत्, रपर और हलादि-शेष होकर—व+व्रश्च्+अ। अब यहां लक्ष्यभेद से **'लिटयभ्यासस्योभयेषाम्'** (५४६) से वकार को भी सम्प्रसारण प्राप्त होता है, परन्तु **'उरत्'** (४७३) द्वारा किये अजा-देश अकार को प्रकृतसूत्र से स्थानिवत् अर्थात् ऋवर्णवत् मान कर सम्प्रसारण परे होने के कारण **'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्'** (२६१) से उसे सम्प्रसारण नहीं होता निषेध हो जाता है—वव्रश्च।

इस सूत्र की प्रवृत्ति में मुख्यतया तीन बातों का ध्यान रखना चाहिये—

(१) यह सूत्र अच् के स्थान पर होने वाले आदेश को ही स्थानिवत् करता है, हलादेश को नहीं। यथा—आगत्य। यहां आङ्पूर्वक गम् धातु से परे क्त्वा को ल्यप् आदेश होकर **'वा ल्यपि'** (६.४.३८) से अनुनासिक मकार का वैकल्पिक लोप हो जाता है—आग+य। अब यहां **'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्'** (७७७) द्वारा तुक् का आगम कर 'आगत्य' बनाने में अनुनासिकलोप स्थानिवत् होकर बाधा उपस्थित नहीं कर सकता, क्योंकि वह हलादेश है अजादेश नहीं।

(२) उस अजादेश का परनिमित्तक होना आवश्यक है। यदि वह पर को निमित्त मान कर उत्पन्न नहीं हुआ तो स्थानिवत् न होगा। यथा—आदीध्ये। यह आङ्पूर्वक अदादिगण की आत्मनेपदी दीधीङ् धातु के लँट् लकार के उ० पु० का एक-वचन है। यहां 'आङ्+दीधी+इट्' इस स्थिति में **'टित आत्मनेपदानां टेरे'** (५०८) से उ० पु० के इकार को एकार हो जाता है—आदीधी+ए। अब यहां एकार को स्थानिवत् अर्थात् इकार मान कर **'यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः'** (७.४.५३) से धातु के ईकार का लोप नही होता; क्योंकि यह एकार अजादेश होते हुए भी पर को निमित्त मान कर उत्पन्न नहीं हुआ। अतः **'एरनेकाचः०'** (२००) से यण् करने पर 'आदीध्ये' प्रयोग सिद्ध होता है।

(३) यदि स्थानिभूत अच् से पूर्व के स्थान पर विधि (कार्य) करनी हो तभी अजादेश स्थानिवत् होगा अन्यथा नहीं। यथा—हे गौः ! । यहां गोशब्द से

सम्बुद्धि में **'गोतो णित्'** (२१३) से णिद्वद्भाव के कारण ओकार के स्थान पर औकार वृद्धि होकर सकार को रुँत्व-विसर्ग हो जाते हैं। यदि यहां ओकार के स्थान पर हुए औकार को स्थानिवत् अर्थात् ओकार मान लें तो **'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः'** (१३४) से सम्बुद्धि का लोप प्राप्त होगा। परन्तु सम्बुद्धि का लोप पूर्वविधि न होकर परविधि है अतः यहां स्थानिवद्भाव न होगा, इस प्रकार अभीष्ट रूप सिद्ध हो जायेगा।

नोट—यह सूत्र व्याकरण का मर्म जानने वालों के लिये बड़े महत्त्व का है। अतः इसे उपर्युक्त उदाहरणों और प्रत्युदाहरणों द्वारा अच्छी तरह हृदयङ्गम कर लेना चाहिये।

कथ धातु की रूपमाला यथा—लँट्—(परस्मै०) **कथयति, कथयतः, कथयन्ति**। (आत्मने०) **कथयते, कथयेते, कथयन्ते**। लिँट्—(परस्मै०) **कथयाञ्चकार-कथयाम्बभूव, कथयामास** आदि। (आत्मने०) **कथयाञ्चक्रे** आदि। लुँट्—(परस्मै०) **कथयिता, कथयितारौ, कथयितारः**। **कथयितासि**—। (आत्मने०) **कथयिता, कथयितारौ, कथयितारः**। **कथयितासे**—। लृँट्—(परस्मै०) **कथयिष्यति**। (आत्मने०) **कथयिष्यते**। लोँट्—(परस्मै०) **कथयतु-कथयतात्, कथयताम्, कथयन्तु**। (आत्मने०) **कथयताम्, कथयेताम्, कथयन्ताम्**। लँङ्—(परस्मै०) **अकथयत्**। (आत्मने०) **अकथयत**। वि० लिँङ्—(परस्मै०) **कथयेत्**। (आत्मने०) **कथयेत**। आ० लिँङ्—(परस्मै०) **कथ्यात्** (**अतो लोपः** ४७०)। (आत्मने०) **कथयिषीष्ट**। लुँङ्—यहां 'णि' को मान कर अक्-अकार का लोप हो चुका है अतः सन्वद्भाव न होने से **'सन्यतः'** (५३३) से इत्व और **'दीर्घो लघोः'** (५३४) से दीर्घ नहीं होता। (परस्मै०) **अचकथत्, अचकथताम्, अचकथन्**। (आत्मने०) **अचकथत, अचकथेताम्, अचकथन्त**। लृँङ्—(परस्मै०) **अकथयिष्यत्**। (आत्मने०) **अकथयिष्यत**।

नोट—चुरादिगण में धातुओं को अदन्त करने के दो फल ध्यान में रखने चाहियें—(१) गुण वृद्धि का निषेध[1], (२) अग्लोपी हो जाने से सन्वद्भाव का न होना।

[लघु०] **गण संख्याने ॥३॥** गणयति ॥

अर्थः—गण धातु 'गिनना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2]।

---

१. गुणनिषेध का उदाहरण—(स्पृह) स्पृहयति। यहां अकारलोप को स्थानिवत् मान लेने से लघूपधगुण नहीं होता। वृद्धिनिषेध के उदाहरण—कथयति, गणयति आदि मूल में ही दिये गये हैं।

२. इस धातु का 'जानना, मानना, समझना, परवाह करना' आदि अर्थों में भी खूब प्रयोग होता है। यथा—

(१) **अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्**—पञ्च०।

(२) **न हि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम्**—नीति० ८।

(३) **मनस्वी कार्यार्थी न च गणयति दुःखं न च सुखम्**—नीति० ७३।

व्याख्या—यह धातु भी 'कथ' धातु की तरह अदन्त है। स्वार्थ में णिच् करने पर **'अतो लोपः'** (४७०) से इस के अन्त्य अकार का लोप हो जाता है—गण्+इ। अब यहां **'अत उपधायाः'** (४५५) से उपधावृद्धि प्राप्त होती है परन्तु **'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ'** (६६६) सूत्र द्वारा अल्लोप के स्थानिवद्भाव के कारण णित् परे न रहने से वह नहीं होती। इस प्रकार 'गणि' की **'सनाद्यन्ता धातवः'** (४६८) से धातुसञ्ज्ञा होकर 'कथि' धातु की तरह प्रायः रूप चलते हैं।

लँट्–(परस्मै०) **गणयति, गणयतः, गणयन्ति**। (आत्मने०) **गणयते, गणयेते, गणयन्ते**। लिँट्–(परस्मै०) **गणयाञ्चकार, गणयाम्बभूव, गणयामास**। (आत्मने०) **गणयाञ्चक्रे** आदि। लुँट्–(परस्मै०) **गणयिता, गणयितारौ, गणयितारः। गणयितासि**–। (आत्मने०) **गणयिता, गणयितारौ, गणयितारः। गणयितासे**। लृँट्–(परस्मै०) **गणयिष्यति**। (आत्मने०) **गणयिष्यते**। लोँट्–(परस्मै०) **गणयतु-गणयतात्, गणयताम्, गणयन्तु**। (आत्मने०) **अगणयत्**। (आत्मने०) **गणयताम्, गणयेताम्, गणयन्ताम्**। लँङ्–(परस्मै०) **अगणयत्**। (आत्मने०) **अगणयत**। वि० लिँङ्–(परस्मै०) **गणयेत्**। (आत्मने०) **गणयेत**। आ० लिँङ्–(परस्मै०) **गण्यात्**। (आत्मने०) **गणयिषीष्ट**।

लुँङ्—में च्लि, चङ्, णिलोप, द्वित्व तथा अभ्यास को चुत्व होकर 'अजगण्+अ+त्' इस स्थिति में अग्लोपी होने के कारण 'सन्वल्लघुनि०' (५३२) से सन्वद्भाव नहीं हो पाता, इस से इत्वादि नहीं हो सकते। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६७) ई च गणः ।७।४।९७।।

गणयतेरभ्यासस्य ईत् स्याच्चङ्परे णौ, चाद् अत्। अजीगणत्-अजगणत् ।।

अर्थः—चङ्परक णि के परे होने पर गणधातु के अभ्यास को ईकार आदेश हो, 'च' के ग्रहण से अत् आदेश भी हो जायेगा।

व्याख्या—ई ।१।१। (**लुप्तविभक्तिको निर्देशः**)। च इत्यव्ययपदम्। **गणः** ।६।१। अभ्यासस्य ।६।१। (**'अत्र लोपोऽभ्यासस्य'** से)। चङ्परे ।७।१। (**'सन्वल्लघुनि चङ्परे०'** से)। चङ्परो यस्माद् असौ चङ्परस्तस्मिन् चङ्परे। यहां बहु० समास में अन्यपदार्थ 'णि' ही सम्भव है अतः 'णौ' का अध्याहार किया जाता है। इस सूत्र से पीछे अष्टाध्यायी में **'अत्स्मृदृत्वर०'** (८.४.९५) सूत्र में अभ्यास को अत् आदेश करने का विधान चल रहा था अब ईत्व का विधान कर रहे हैं। चकार के ग्रहण से पक्ष में अत् भी हो जायेगा। अर्थः—(चङ्परे णौ) चङ् जिस से परे है ऐसे 'णि'

---

(४) तां भक्तिमेवागणयत् पुरस्तात्—रघु० ५.२०।

(५) प्रणयमगणयित्वा यन्ममापद्गतस्य—विक्रमो० ४.४३।

गणित, गणना, गण, गणक (ज्योतिर्विद्) आदि शब्द इसी धातु से निष्पन्न होते हैं।

के परे होने पर (गणः) गण धातु के (अभ्यासस्य) अभ्यास के स्थान पर (ई) ईकार आदेश (च) भी हो जाता है। पक्ष में अत् भी हो जायेगा। अलोऽन्त्यपरिभाषा से ये दोनों आदेश अभ्यास के अन्त्य अकार के स्थान पर होंगे।

'अजगण्+अ+त्' यहां पर स्थानिवद्भाव से चङ्परक णि परे विद्यमान है अतः अभ्यास 'ज' के अन्त्य अकार को ईकार तथा पक्ष में अकार करने पर 'अजीगणत्-अजगणत्' दो रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार आत्मने० में भी दो-दो रूप समझ लेने चाहियें। रूपमाला यथा—(परस्मै०) ईत्वपक्षे—**अजीगणत्, अजीगणताम्, अजीगणन्**। अत्वपक्षे—**अजगणत्, अजगणताम्, अजगणन्**। (आत्मने०) ईत्वपक्षे—**अजीगणत, अजीगणेताम्, अजीगणन्त**। अत्वपक्षे—**अजगणत, अजगणेताम्, अजगणन्त**।

लृङ्—(परस्मै०) **अगणयिष्यत्**। (आत्मने०) **अगणयिष्यत**।

उपसर्गयोग—वि√गण=जानना (**अदूरर्वात्तनीं सिद्धि राजन् विगणयात्मनः**—रघु० १.८७; **किमपि विगणयन्तो बुद्धिमन्तः सहन्ते**—पञ्च० ३.४१)। **अव√गण**=अपमान करना, तिरस्कार करना, परवाह न करना (**अस्त्रवेदविदयं महीपतिः पर्वतीय इति माऽवजीगणः**—किराता० १३.६७)।

लघुकौमुदी के चुरादिगण में उपर्युक्त तीन धातु ही दिये गये हैं जो स्पष्टतः विद्यार्थियों की ज्ञानवृद्धि के लिये अपर्याप्त हैं। हम अनुवादादि के उपयोगार्थ इस गण की कुछ अन्य धातुओं का सार्थ संग्रह प्रस्तुत कर रहे हैं। इन की रूपमाला भी उपर्युक्तप्रकारेण समझनी चाहिये। प्रत्येक धातु के साथ लँट् और लुंङ् का रूप दे रहे हैं, शेष रूप स्वयं सरलता से समझ में आ सकते हैं—

(१) **भक्ष अदने** (खाना)। लँट्—भक्षयति-ते[1]। लुंङ्—अबभक्षत्-त।
(२) **तड आघाते** (पीटना)। ताडयति-ते। अतीतडत्-त।
(३) **तुल उन्माने** (तोलना)। तोलयति-ते। अतूतुलत्-त।
(४) **पूज पूजायाम्** (पूजा करना)। पूजयति-ते। अपूपुजत्-त।
(५) **श्रण दाने** (प्रायेण विपूर्वः, देना)। विश्राणयति-ते। व्यशिश्रणत्-त।
(६) **लुण्ठ स्तेये** (चुराना-लूटना)। लुण्ठयति-ते। अलुलुण्ठत्-त।
(७) **मडिँ भूषायाम्** (सजाना)। मण्डयति-ते। अममण्डत् त।
(८) **क्षल शौचकर्मणि** (धोना)। क्षालयति-ते। अचिक्षलत्-त।
(९) **पीड अवगाहने** (पीड़ित करना, निचोड़ना)। पीडयति-ते। अपिपीडत्-त[2]।
(१०) **चितिँ स्मृत्याम्** (चिन्तन करना)। चिन्तयति-ते। अचिचिन्तत्-त।
(११) **यत्रि सङ्कोचने** (रोकना, नियन्त्रित करना)। यन्त्रयति-ते। अययन्त्रत्-त।
(१२) **षान्त्व सामप्रयोगे** (शान्त करना, सान्त्वना देना)। सान्त्वयति-ते। असमान्त्वत्-त।

---

१. **'निगरणचलनार्थेभ्यश्च'** (१.३.८७) से आत्मनेपद र्वाजत है।

२. **'भ्राजभास०'** (७.४.३) इत्युपधाह्रस्वविकल्पः। तेन ह्रस्वपक्षे 'अपीपिडत्-त' इत्यपि बोध्यम्।

(१३) पचिँ विस्तारवचने (विस्तार से कहना)। प्रपञ्चयति-ते। प्रापपञ्चत्-त।
(१४) पाल रक्षणे (पालन करना)। पालयति-ते। अपीपलत्-त।
(१५) मार्ग अन्वेषणे (ढूंढना)। मार्गयति-ते। अममार्गत्-त।
(१६) गर्ह निन्दायाम् (निन्दा करना)। गर्हयति-ते। अजगर्हत्-त।
(१७) वृजीँ वर्जने (छोड़ना)। वर्जयति-वर्जयते। अवीवृजत्-त, अववर्जत्-त[1]।
(१८) लक्ष दर्शनाङ्कनयोः (देखना, चिह्नित करना)। लक्षयति-ते। अललक्षत्-त।
(१९) प्रीञ् तर्पणे (प्रसन्न करना)। प्रीणयति-ते[2]। अपिप्रिणत्-त।
(२०) चर संशये (विपूर्वः, विचार करना)। विचारयति-ते। व्यचीचरत्-त।
(२१) वच परिभाषणे (बांचना)। वाचयति-ते। अवीवचत्-त।
(२२) मान पूजायाम् (सम्मान करना)। मानयति-ते। अमीमनत्-त।
(२३) चर्च अध्ययने (चर्चा करना)। चर्चयति-ते। अचचर्चत्-त।
(२४) रच प्रतियत्ने (रचना, बनाना)। रचयति-ते। अररचत्-त।
(२५) स्पृह ईप्सायाम् (चाहना)। स्पृहयति-ते। अपस्पृहत्-त।
(२६) सूच पैशुन्ये (सूचित करना)। सूचयति-ते। असुसूचत्-त।
(२७) गवेष मार्गणे (ढूंढना)। गवेषयति-ते। अजगवेषत्-त।
(२८) दण्ड दण्डनिपातने (दण्ड देना, जुर्माना करना)। दण्डयति-ते। अददण्डत्-त।
(२९) शील उपधारणे (अभ्यास करना)। शीलयति-ते। अशिशीलत्-त।
(३०) वर्ण वर्णक्रियाविस्तारगुणवचनेषु (वर्णन करना आदि)। वर्णयति-ते। अववर्णत्-त।

अभ्यास (१६)

(१) क्या कारण है कि चुरादिगण में कोई धातु अनिट् नहीं ?
(२) चुरादिगण में कथ आदि धातुओं को अदन्त करने का क्या प्रयोजन है ? लुंङ् और लँट् को दृष्टि में रखते हुए विवेचन करें।
(३) चुरादिगण की पदव्यवस्था पर एक नोट लिखें।
(४) चुरादिगण में णिच् के आने पर भी शप् कैसे हो जाता है ? श्यन् आदि में ऐसा क्यों नहीं होता ?
(५) 'अचः परस्मिन्पूर्वविधौ' की सोदाहरण व्याख्या करते हुए निम्न प्रश्नों का उत्तर दीजिये—

(क) अजादेश को ही स्थानिवत् क्यों किया गया है ?
(ख) पूर्वविधि में ही स्थानिवत् क्यों हो ?
(ग) परनिमित्तक कौन होना चाहिये, आदेश या विधि ?

---

१. 'उर्ऋत्' (७.४.७) उपधाया ऋवर्णस्य स्थाने ऋद्वा चङ्परे णौ।
२. 'धूञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः' (वा०)।

(६) यदि 'ई च गणः' न होता तो गण धातु का लुंङ् में क्या रूप बनता ?

(७) 'सन्वल्लघुनि०' सूत्र की प्रवृत्ति के बिना 'अचूचुरत्' में 'दीर्घो लघोः' सूत्र प्रवृत्त होता है—इस कथन को स्पष्ट करें।

(८) निम्न रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

अजीगणत्, अचूचुरत्, अचकथत्, चोरयाम्बभूव, कथयति, चोर्यात्, चोरयिता ।

(९) 'चोर्यात्' में 'णि' का लोप हो जाने पर लघूपधगुण का अपाय क्यों नहीं होता ?

(१०) 'सत्याप-पाश०' सूत्र में प्रातिपदिकों का ग्रहण क्यों किया गया है? स्पष्ट करें।

इति तिङन्ते चुरादयः

(यहां पर चुरादिगण का धातुओं का विवेचन समाप्त होता है)

इति भैमीव्याख्ययोपेतायां
लघु-सिद्धान्त-कौमुद्यां
दशगणी पूर्तिम्
अगात् ॥

❀ विद्वज्जनों से सानुरोध निवेदन ❀

धात्वर्थसम्बन्धी विवेचन के लिये वैयाकरण-भूषण-सार (धात्त्वर्थप्रकरण) पर इसी ग्रन्थ के लेखक का भैमीभाष्य अवश्य पढ़ें। यह ग्रन्थ मुद्रित हो चुका है। इस में अभिनव वैज्ञानिक रीति का अवलम्बन करते हुए हिन्दी भाषा के माध्यम द्वारा धात्वर्थप्रकरण को स्पष्ट किया गया है ॥

अथ ण्यन्तप्रक्रिया (Causals)

अब तिङन्तप्रकरण में णिजन्त (संक्षिप्त नाम—ण्यन्त) प्रक्रिया का प्रारम्भ करते हैं। इस प्रक्रिया में पूर्वोक्त दशगणीय धातुओं से प्रेरणा (कराना) अर्थ में णिच् प्रत्यय किया जाता है। जैसे हिन्दी में पढ़ने से पढ़ाना, लिखने से लिखाना, खाने से खिलाना, देखने से दिखाना, पीने से पिलाना, जाने से भेजना आदि क्रियाएँ बनती हैं वैसे इस प्रकरण में संस्कृत धातुओं से णिच् प्रत्यय का विधान कर प्रेरणावाचक नई धातु बना ली जाती है। यथा—पठ् धातु का अर्थ है पढ़ना, परन्तु णिच् प्रत्यय करने पर (पठ्+णिच्=पाठि) इस का अर्थ 'पढ़ाना' हो जाता है। अब सर्वप्रथम एतत्प्रकरणोपयोगी हेतुसञ्ज्ञा को समझाने के लिये कर्तृसञ्ज्ञा का विधान करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(६६८) स्वतन्त्रः कर्ता ।१।४।५४।।

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात् ।।

अर्थः—क्रिया की सिद्धि में स्वतन्त्रतया=मुख्यतया विवक्षित (कहा जाने वाला) कारक कर्तृसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—स्वतन्त्रः ।१।१। कर्ता ।१।१। पीछे अष्टाध्यायी में 'कारके' का अधिकार चलाया जा चुका है। **क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्**—क्रिया के जनक को कारक कहते हैं। इस प्रकार 'क्रियायाम्' पद उपलब्ध हो जाता है। **'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति'**—कारक वक्ता की इच्छा के अधीन हुआ करते हैं, इस से 'विवक्षितोऽर्थः' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(क्रियायाम्) क्रिया की सिद्धि में (स्वतन्त्रः) स्वतन्त्र-रूपेण (विवक्षितोऽर्थः) कहा जाने वाला कारक (कर्ता) कर्तृसञ्ज्ञक होता है।

क्रिया की सिद्धि (निष्पत्ति) में जो जो साधक-जनक-निमित्त होते हैं उन को कारक कहते हैं। कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण आदि क्रिया के साधक होने से कारक कहाते हैं। परन्तु इन सब कारकों (क्रियानिष्पादकों) में जो कारक स्वतन्त्रतया-मुख्यतया-प्रधानतया-अगौणतया विवक्षित (वक्ता को अभीष्ट) होता है उस की प्रकृतसूत्र से कर्तृसञ्ज्ञा की जाती है। तात्पर्य यह है कि जैसे अन्य कारक कर्ता से प्रेरित होकर क्रिया का निष्पादन करते हैं वैसे कर्ता अन्य कारकों से प्रेरित होकर क्रिया का निष्पादन नहीं करता अपितु स्वतन्त्रतया क्रिया का जनक होता है। कर्ता के स्वातन्त्र्य पर भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में अत्यन्त सुन्दर कहा है—

> **प्रागन्यतः शक्तिलाभान्न्यग्भावापादनादपि ।**
> **तदधीनप्रवृत्तित्वात् प्रवृत्तानां निवर्त्तनात् ।।** (३.७.१०१)
> **अदृष्टत्वात् प्रतिनिधेः प्रविवेकेऽपि दर्शनात् ।**
> **आरादप्युपकारित्वात् स्वातन्त्र्यं कर्तुरिष्यते ।।** (३.७.१०२)

अर्थात् अन्य कारक तो कर्ता से युक्त होकर क्रिया की सिद्धि में करणादिशक्ति को प्राप्त करते हैं परन्तु कर्ता पहले ही उन की अपेक्षा किये विना स्वतन्त्ररूपेण

क्रिया का जनक होता है । अन्य कारकों की प्रवृत्ति वा निवृत्ति कर्त्ता के अधीन होती है परन्तु कर्ता स्वतन्त्र होता है । अन्य कारकों का प्रतिनिधि हो सकता है किन्तु कर्ता का नहीं । अन्य कारकों के न होने पर कर्ता की प्रवृत्ति देखी जाती है (यथा—देवदत्त आस्ते, देवदत्तः शेते आदि) परन्तु कर्ता के अभाव में करणादि की नहीं—इन सब कारणों से कर्ता को 'स्वतन्त्र' कहा जाता है ।

'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति' अर्थात् कारक वक्ता की इच्छा के अधीन होते हैं । अतः पचनक्रिया में जब देवदत्त की स्वतन्त्रता-प्रधानता विवक्षित होगी तो 'देवदत्तः पचति' में देवदत्त की, स्थाली की स्वतन्त्रता विवक्षित होगी तो 'स्थाली पचति' में स्थाली की कर्तृसञ्ज्ञा हो जायेगी । इसी प्रकार काष्ठ आदियों की प्रधानता विवक्षित होने पर 'काष्ठानि पचन्ति, अग्निः पचति' आदि में काष्ठ आदियों की कर्तृसञ्ज्ञा हो जाती है ।

अन्य वैयाकरण क्रिया में स्वातन्त्र्य का अभिप्राय धातु के अर्थ फलानुकूल व्यापार का आश्रय होना मानते हैं । धात्वर्थ व्यापार अनेक व्यापारों का समूह होता है । वक्ता को जिस व्यापार की प्रधानता कहनी अभीष्ट होती है उस व्यापार के आश्रय की कर्तृसञ्ज्ञा हो जाती है । जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—**धातूपात्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृतेष्यते**[1] । देवदत्तः पचति, स्थाली पचति, काष्ठानि पचन्ति, अग्निः पचति आदि में तत्तद्व्यापार के भेद से ही कर्तृसञ्ज्ञा का भेद हुआ है ।

कर्तृसञ्ज्ञा के कारण 'रामेण बाणेन हतो वाली' आदि में **'कर्तृकरणयोस्तृतीया'** (८९५) द्वारा अनभिहित कर्ता (राम) में तृतीया विभक्ति हो जाती है । प्रकृत में कर्तृसञ्ज्ञा का उपयोग अग्रिमसूत्र द्वारा प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(६९९) तत्प्रयोजको हेतुश्च ।१।४।५५।।

कर्तुः प्रयोजको हेतुसञ्ज्ञः कर्तृसञ्ज्ञश्च स्यात् ।।

अर्थः—कर्ता का प्रेरक, हेतु और कर्तृ दोनों सञ्ज्ञक होता है ।

व्याख्या—तत्प्रयोजकः ।१।१। हेतुः ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । कर्ता ।१।१। (**'स्वतन्त्रः कर्त्ता'** से)। तस्य=कर्तुः प्रयोजकः, तत्प्रयोजकः । षष्ठीतत्पुरुषः[2] । **अर्थः**—(तत्प्रयोजकः) उस कर्त्ता का प्रेरक (हेतुः) हेतुसञ्ज्ञक (च) तथा (कर्ता) कर्तृसञ्ज्ञक दोनों होता है ।

प्रेरणा दे कर किसी से कार्य करवाने वाले को प्रयोजक और प्रेरित होकर

---

१. यह श्लोकार्ध **शब्दकौस्तुभ** (१.३.३) में भर्तृहरि के नाम से उद्धृत है । परन्तु वर्तमान **वाक्यपदीय** में उपलब्ध नहीं । **कुमारिलभट्ट** की **मीमांसाश्लोकवार्त्तिक** (वाक्याधिकरण—श्लोक ७१) में यह अंश उपलब्ध है (देखें चौखम्बा संस्करण पृष्ठ—८६५) ।

२. यद्यपि **'तृजकाभ्यां कर्तरि'** (२.२.१५) से षष्ठीसमास का निषेध प्राप्त है, तथापि यहां कृत्षष्ठी न मानकर शेषषष्ठी मानने से उस का निर्वाह करना चाहिये ।

कार्य करने वाले को प्रयोज्य कहते हैं। यथा—यज्ञदत्तो देवदत्तेन ओदनं पाचयति (यज्ञदत्त देवदत्त के द्वारा भात पकवाता है) यहां प्रेरणा देने वाला यज्ञदत्त प्रयोजक तथा प्रेरित होने वाला देवदत्त प्रयोज्य है। प्रयोजक (प्रेरणा देने वाले) की इस सूत्र से हेतु और कर्ता दो संज्ञाएं की गई हैं। हेतु सञ्ज्ञा के कारण **'हेतुमति च'** (७००) सूत्र से प्रयोजक के व्यापार में णिच्प्रत्यय सिद्ध हो जाता है तथा कर्तृसञ्ज्ञा होने से **'लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः'** (३७३) द्वारा कर्त्ता में लँट् आदि हो जाते हैं।

ध्यान रहे कि प्रयोजक (प्रेरणा देने वाला) यद्यपि चेतन ही हो सकता है क्योंकि उस में ही प्रेरणा देने का सामर्थ्य सम्भव है तथापि औपचारिक रीति से यहां अचेतन को भी प्रयोजक मान लिया जाता है। यथा—भिक्षा वासयन्ति(भिक्षा निवास करवा रही हैं[1]), कारीषोऽग्निरध्यापयति (कण्डों की अग्नि पढ़ाती है[2]) आदि।

प्रश्न—'यज्ञदत्तो देवदत्तेन ओदनं पाचयति' इत्यादि वाक्यों में प्रयोजक (प्रेरक) होने से यज्ञदत्त की हेतु और कर्तृसञ्ज्ञा तो ठीक है परन्तु प्रयोजक से प्रेरित होने के कारण देवदत्त का स्वातन्त्र्य जाता रहेगा क्योंकि वह अपनी इच्छा से नहीं वरन् प्रयोजक की इच्छा से कार्य कर रहा होगा, कई बार वह भय या डर से भी कार्य करता होगा तो ऐसी अवस्था में **'स्वतन्त्रः कर्त्ता'** (६६८) से उसकी कर्तृसञ्ज्ञा न होगी। इस से **'कर्तृकरणयोस्तृतीया'** (८९५) द्वारा उस में तृतीया विभक्ति न हो सकेगी।

उत्तर—प्रयोजक से प्रेरणा पाकर भी प्रयोज्य कार्य करे या न करे यह उस की इच्छा पर निर्भर है जब वह कार्य करने लगता है तभी 'पाचयति' आदि णिजन्तों का प्रयोग किया जाता है। इसीलिये तो 'पचन्तं प्रेरयति—पाचयति, कुर्वन्तं प्रेरयति—कारयति' इस प्रकार णिजन्तों का विग्रह किया जाता है। अतः प्रयोज्य की प्रवृत्ति पहले होने से उस का स्वातन्त्र्य अक्षुण्ण रहता है इस से उस की कर्तृसञ्ज्ञा करने में कोई दोष नहीं आता।

नोट—यह सूत्र अष्टाध्यायी में **'आकडारादेका सञ्ज्ञा'** (१.४.१) के अधिकार में पढ़ा गया है। इस अधिकार में एक की एक ही सञ्ज्ञा हुआ करती है। परन्तु यहां चकार के बल से दो संज्ञाओं का समावेश सिद्ध हो जाता है।

अब अग्रिमसूत्र में हेतुसञ्ज्ञा का फल दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७००) हेतुमति च ।३।१।२६॥

प्रयोजकव्यापारे—प्रेषणादौ वाच्ये धातोर्णिच् स्यात्। भवन्तं प्रेरयति—भावयति ॥

अर्थः—प्रयोजक के व्यापार प्रेषण आदि के वाच्य होने पर धातु से णिच् प्रत्यय होता है।

---

१. भिक्षा हि प्रचुरव्यञ्जनवत्यो लभ्यमाना रसानुकूलं तृप्तिविशेषमुपजनयन्त्यो वासहेतव इत्यर्थः।

२. कारीषोऽग्निर्निर्वातप्रदेशेषु सुप्रज्वलितोऽध्ययनविरोधिनं शीतादिकृतमुपद्रव-

व्याख्या—हेतुमति ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । धातोः ।५।१। (**धातोरेकाचो हलादेः०**' से)। णिच् ।१।१। ('**सत्यापपाश०**' से)। '**प्रत्ययः**' और '**परश्च**' दोनों अधिकृत हैं । हेतुः—हेतुसञ्ज्ञोऽस्त्यस्येति हेतुमान्, तस्मिन् हेतुमति । हेतुमत् शब्द से यहाँ व्याख्यानद्वारा हेतु का व्यापार (प्रेरणा) ही अभिप्रेत है, अन्य नहीं । अर्थः—(हेतुमति) हेतु अर्थात् प्रयोजक के व्यापार के वाच्य होने पर (धातोः) धातु से (परः)परे (णिच्) णिच् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है ।

हेतु अर्थात् प्रयोजक का व्यापार होता है—प्रेरणा देना । वह अपनी प्रेरणा द्वारा प्रयोज्य से कार्य करवाता है[1] । इस प्रेरणा अर्थ में किसी भी धातु से णिच् प्रत्यय आकर चुरादिगणवत् प्रक्रिया चलने लगती है । उदाहरणार्थ भू धातु से प्रेरणा अर्थ में णिच् प्रत्यय होकर णकार-चकार अनुबन्धों का लोप तथा णिच् को निमित्त मान कर '**अचो ञ्णिति**' (१८२) से अजन्तलक्षणा वृद्धि करने से 'भावि' बन जाता है । भूधातु का अर्थ था—होना । णिच् के आ जाने से 'भावि' का अर्थ हो गया है—हुवाना । अब '**सनाद्यन्ता धातवः**' (४६८) से 'भावि' की धातु सञ्ज्ञा होकर लँट् आदियों की उत्पत्ति होती है । कर्तृविवक्षा में लँट्, प्र० पु० के एकवचन की विवक्षा में तिप्, शप्, गुण और अयादेश करने पर 'भावयति' प्रयोग सिद्ध होता है । रूपमाला यथा—**भावयति, भावयतः, भावयन्ति** । क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर '**णिचश्च**' (६९५) सूत्र द्वारा आत्मनेपद का भी प्रयोग होता है—**भावयते, भावयेते, भावयन्ते** । णिजन्त का विग्रह 'भवन्तं[2] प्रेरयति इति भावयति' इस प्रकार किया जाता है ।

लिँट्—(परस्मै०) **भावयाञ्चकार[3]-भावयाम्बभूव-भावयामास** आदि । (आत्मने०) **भावयाञ्चक्रे** आदि । लुँट्—(परस्मै०) **भावयिता, भावयितारौ,**

मुपशमयन् अध्ययनानुकूलं सामर्थ्यमादधातीत्यर्थः ।

१. प्रेरणा के मुख्यतया प्रेषण, अध्येषण, अनुमति, उपदेश और अनुग्रह ये पाञ्च भेद माने गये हैं । सेवक आदि छोटे को प्रेरित करना '**प्रेषण**' कहाता है । गुरु आदि बड़ों को या समानवयस्क मित्र आदि को प्रेरित करना '**अध्येषण**' कहलाता है । जब अनुमति से कोई कार्य हो तो वहां **अनुमतिरूपा** प्रेरणा होती है । जैसे राजा की अनुमतिरूप प्रेरणा से याग आदि होते हैं । 'ज्वर ग्रस्त को क्वाथ पीना चाहिये' इत्यादिप्रकारेण वैद्यवचन आदि **उपदेशरूपा** प्रेरणा कहलाते हैं । किसी की सहायता रूपी प्रेरणा का नाम **अनुग्रहरूपा** प्रेरणा है । जैसे किसी घातक के भय से भागते हुए पुरुष को पकड़ कर उसे घातक द्वारा मरवा देना आदि । मूल वृत्ति में '**प्रेषणादौ**' पद में आदि शब्द से इन अध्येषण आदियों का संग्रह समझना चाहिये ।

२. यहां पर 'भवन्तम्' का अर्थ 'आप को' नहीं है अपितु 'होते हुए को' इस प्रकार जानना चाहिये ।

३. 'भावि' के अनेकाच् होने से आम् प्रत्यय हो जाता है (वा० ३४) । आम् अनिडादि आर्धधातुक है, इस में णिलोप(५२९)का बाधकर '**अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु**' (५२६) से णि को अय् हो जाता है ।

भावयितारः । भावयितासि—[1]। (आत्मने०) भावयिता, भावयितारौ, भावयितारः । भावयितासे—। लृट्—(परस्मै०) भावयिष्यति । (आत्मने०) भावयिष्यते । लोट्—(परस्मै०)भावयतु-भावयतात् । (आत्मने०) भावयताम् । लङ्—(परस्मै०) अभावयत् । (आत्मने०) अभावयत । वि० लिङ्—(परस्मै०) भावयेत् । (आत्मने०) भावयेत । आ० लिङ्—(परस्मै०) भाव्यात्[2] । (आत्मने०) भावयिषीष्ट ।

लुङ्—(परस्मै०) भू धातु से प्रेरणा अर्थ में णिच् करने पर 'भू+इ' इस स्थिति में **'णिच्यच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्त्तव्ये'** (द्वित्व करना हो तो णिच् को मान कर अच् के स्थान पर आदेश नहीं करना चाहिये) इस परिभाषा से सर्वप्रथम द्वित्व करने तक अजन्तलक्षणा वृद्धि (१८२) का निषेध हो जाता है। अब धातुसंज्ञा होकर लुङ् प्र० पु० के एकवचन की विवक्षा में तिप्, च्लि, चङ् (५२८) और द्वित्वादि करने से—'अबु+भू+इ+अ+त्' हुआ । अब अभ्यास से उत्तर 'भू' को वृद्धि और आवादेश होकर—अबु+भाव्+इ+अ+त् । **'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः'** (५२०) से उपधा को ह्रस्व तथा **'णेरनिटि'** (५२९) से णि का लोप करने पर—अबु+भव्+अ+त् । अब यहां **'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे'** (५३२) द्वारा सन्वद्भाव होकर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७०१) ओः पुयण्ज्यपरे ।७।४।८०॥

सनि परे यदङ्गं तदवयवाभ्यासस्योकारस्य इत् स्यात् पवर्ग-यण्-जकारेषु अवर्णपरेषु परतः । अबीभवत् ॥

अर्थः—सन् परे होने पर जो अङ्ग, उस के अवयव अभ्यास के उकार के स्थान पर इकार आदेश हो जाता है यदि पवर्ग यण् जकार में से कोई परे हो और इन से परे भी अकार हो ।

व्याख्या—ओः ।६।१। (यह 'उ' शब्द के षष्ठी का एकवचन है)। पु-यण्-जि । ७।१। अपरे ।७।१। अभ्यासस्य ।६।१।(**'अत्र लोपोऽभ्यासस्य'** से)। इत् ।१।१।(**'भृञामित्'** से)। सनि ।७।१। (**'सन्यतः'** से)। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। पुश्च (पवर्गश्च) यण् च ज् च एषां समाहारः, तस्मिन्=पु-यण्-जि । अः (अकारः) परो यस्मात् तस्मिन्=अपरे । 'अपरे' यह 'पु-यण्-जि' का विशेषण है । अर्थः—(सनि) सन् परे होने पर (अङ्गस्य) जो अङ्ग, उस के अवयव (अभ्यासस्य) अभ्यास के (ओः) उकार के स्थान पर (इत्) ह्रस्व इकार आदेश हो जाता है (अपरे पुयण्जि) यदि अकार-परक पवर्ग यण्-जकार परे हो तो ।

'अबु+भव्+अ+त्' यहां सन्वद्भाव के कारण सन् परे है; इस के परे रहते अङ्ग है—अबुभव् । इस अङ्ग के अभ्यास 'बु' के उकार के स्थान पर इकार हो जाता है क्योंकि इस से परे भव् का भकार अकारपरक पवर्ग है—अबि+भव्+

---

१. इडादि में गुण और अयादि सन्धि होती है ।

२. **'णेरनिटि'** (५२९) से णिलोप हो जाता है ।

अ+त् । अब अन्त में 'दीर्घो लघोः' (५३४) से अभ्यास के लघु को दीर्घ करने पर 'अबीभवत्' प्रयोग सिद्ध होता है[1] । रूपमाला यथा—अबीभवत्, अबीभवताम्, अबीभवन् । अबीभवः, अबीभवतम्, अबीभवत । अबीभवम्, अबीभवाव, अबीभवाम । इसी प्रकार आत्मने० में—अबीभवत, अबीभवेताम्, अबीभवन्त आदि ।

लृङ्—(परस्मै०) अभावयिष्यत् । (आत्मने०) अभावयिष्यत ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा— (लूञ् छेदने) अलीलवत् । (पूञ् पवने) अपीपवत् ।(यु मिश्रणामिश्रणयोः) अयीयवत् । (रु शब्दे) अरीरवत् । अवर्ण-परक न होने से 'बुभूषति' आदि में इत्त्व नहीं होता । 'पुयण्जि' कहने से 'अनूनवत्' आदि में इत्त्व नहीं होता ।

प्रश्न—'णिच्यच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्त्तव्ये' इस परिभाषा को मानने की आवश्यकता ही क्या है ? 'भू+इ' में वृद्धि और आव् आदेश कर 'भावि' बना लेने पर लुंङ् में चङ्, द्वित्व, उपधाह्रस्व आदि होकर सन्वद्भाव में 'सन्यतः' (५३३) से इत्त्व और 'दीर्घो लघोः' (५३४) से दीर्घ करने से 'अबीभवत्' रूप सुतरां बन जाता है; 'ओः पुयण्ज्यपरे' (७०१) सूत्र के आश्रय की तनिक भी आवश्यकता नहीं पड़ती ।

उत्तर—यदि 'णिच्यच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्त्तव्ये' परिभाषा न होती तो 'तु' धातु का 'अतूतवत्' तथा 'नु धातु का 'अनूनवत्' आदि न बन सकता । तब 'अतीतवत्, अनीनवत्' इस प्रकार अनिष्ट रूप बनते अतः यह परिभाषा परमावश्यक है । इस प्रकार इस परिभाषा के प्रकाश में मनमाने ढंग से 'अबीभवत्' की सिद्धि नहीं हो सकती थी ।

नोट—ध्यान रहे कि णिजन्त धातुओं के दो कर्त्ता होते हैं प्रयोजक और प्रयोज्य । लकार द्वारा प्रयोजक कर्त्ता कहा जाता है अतः उस में प्रथमा विभक्ति होती है । दूसरा प्रयोज्य कर्त्ता लकार द्वारा अनुक्त रहता है, उसमें 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (८९५) से तृतीया विभक्ति हुआ करती है । यथा—देवदत्त ओदनं पचति, तं यज्ञदत्तः प्रेरयति—यज्ञदत्तो देवदत्तेन ओदनं पाचयति । यहां यज्ञदत्त प्रयोजक कर्त्ता और देवदत्त प्रयोज्य कर्त्ता है । परन्तु यदि मूलधातु गत्यर्थक, ज्ञानार्थक, भक्षणार्थक, शब्दकर्मक या अकर्मक हो तो णिजन्तावस्था में प्रयोज्यकर्त्ता में तृतीया न होकर द्वितीया विभक्ति आया करती है ('गतिबुद्धिप्रत्यवसान०' १.४.५२) । यथा—(गत्यर्थक) देवदत्तो ग्रामं

---

१. यदि 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' (५३०) द्वारा किये गये परनिमित्तक उपधाह्रस्व को 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' (६९६) से स्थानिवत् मान लें तो लघुपरक न होने से सन्वद्भाव न होगा । जब सन्वद्भाव ही न होगा तो पुनः 'ओः पुयण्ज्यपरे' (७०१) सूत्र द्वारा इत्त्व कैसा ? इस का समाधान यह है कि यदि ऐसा करने लगें तो 'ओः पुयण्ज्यपरे' (७०१) सूत्र को कहीं अवकाश ही न मिल सके और वह व्यर्थ हो जाये । अतः इस सूत्र के निर्माणसामर्थ्य से ऐसे स्थानों पर स्थानिवत् नहीं होता—यही समझना चाहिये ।

गच्छति, तं यज्ञदत्तः प्रेरयति—यज्ञदत्तो देवदत्तं ग्रामं गमयति। (ज्ञानार्थक) छात्रा वेदार्थं विदन्ति, तान् गुरुः प्रेरयति—गुरुः छात्रान् वेदार्थं वेदयति। (भक्षणार्थक) बालो भोजनम् अश्नाति, तं माता प्रेरयति—माता बालं भोजनम् आशयति। (शब्दकर्मक) शिष्यो वेदम् अधीते, तं गुरुः प्रेरयति—गुरुः शिष्यं वेदम् अध्यापयति। (अकर्मक) शिशुः शेते, तं माता प्रेरयति—माता शिशुं शाययति। इसमें कुछ अपवाद भी हैं जो व्याकरण के उच्चग्रन्थों में देखे जा सकते हैं।

[लघु०] ष्ठा गतिनिवृत्तौ ॥

अर्थः—ष्ठा (स्था) धातु 'ठहरना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह भ्वादिगण की परस्मैपदी धातु है। 'धात्वादेः षः सः' (२५५) से इस के आदि षकार को सकार तथा 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' से ठकार को थकार हो जाता है—स्था। इस का उल्लेख मूल में पहले नहीं आया। हम इस की रूपमाला तथा प्रक्रिया पीछे पृष्ठ (१८७) पर लिख चुके हैं वहीं देखें। इस धातु से प्रेरणा अर्थ में पूर्ववत् णिच् आकर 'स्था+इ' हुआ। अब यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७०२) अर्ति-ह्री-व्ली-री-क्नूयी-क्ष्माय्यातां पुङ्णौ ।७।३।३६॥

स्थापयति ॥

अर्थः—ऋ, ह्री, व्ली, री, क्नूयी, क्ष्मायी इन धातुओं को तथा आकारान्त धातुओं को पुक् का आगम हो 'णि' परे हो तो।

व्याख्या—अर्ति-ह्री-व्ली-री-क्नूयी-क्ष्माय्याताम् ।६।३। पुक् ।१।१। णौ ।७।१। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। अर्थः—(णौ) णि परे होने पर (अर्ति—क्ष्माय्याताम्) ऋ, ह्री, व्ली, री, क्नूयी, क्ष्मायी और आकारान्त अङ्गों का अवयव (पुक्) पुक् हो जाता है। पुक् में ककार इत्संज्ञक तथा उकार उच्चारणार्थक है। उदाहरण यथा—

ऋ गतिप्रापणयोः (जाना, पहुंचाना, भ्वा० परस्मै०) अथवा **ऋ गतौ** (जाना, जुहो० परस्मै०)—अर्पयति ('पुगन्तलघूपधस्य च' इति पुगन्तत्वाद् गुणः)। **ह्री लज्जायाम्** (शरमाना, जुहो० परस्मै०) ह्रेपयति=शर्मिन्दा करता है। **व्ली वरणे** (स्वीकार करना, क्र्या० परस्मै०) व्लेपयति। **री गतिरेषणयोः** (गमन करना या वृक द्वारा शब्द करना) अथवा **रीङ् श्रवणे** (सुनना, दिवा० आत्मने०) रेपयति। **क्नूयी शब्दे** (शब्द करना, भ्वा० आत्मने०) क्नोपयति ('लोपो व्योर्वलि' इति यकारलोपः)। **क्ष्मायी विधूनने** (कांपना, भ्वा० आत्मने०) क्ष्मापयति। आकारान्त—(डुदाञ्) दापयति, (डुधाञ्) धापयति, (ज्ञा) ज्ञापयति।

'स्था+इ' यहां आकारान्त अङ्ग को प्रकृतसूत्र से पुक् का आगम होकर—स्थापि। अब 'सनाद्यन्ता धातवः' (४६८) से पूर्ववत् धातुसञ्ज्ञा होकर लट् आदियों की उत्पत्ति होती है—स्थापयति (तिष्ठन्तम्प्रेरयतीति स्थापयति=ठहराता है)। लट्—

(परस्मै०) स्थापयति, स्थापयतः, स्थापयन्ति।(आत्मने०) स्थापयते। लिँट्—(परस्मै०) स्थापयाञ्चकार-स्थापयाम्बभूव-स्थापयामास।(आत्मने०)स्थापयाञ्चक्रे आदि। लुँट्—(परस्मै०) स्थापयिता, स्थापयितारौ, स्थापयितारः। (आत्मने०) स्थापयिता, स्थापयितारौ, स्थापयितारः। स्थापयितासे—। लृँट्—(परस्मै०) स्थापयिष्यति। (आत्मने०) स्थापयिष्यते। लोँट्—(परस्मै०) स्थापयतु-स्थापयतात्। (आत्मने०) स्थापयताम्। लँङ्—(परस्मै०) अस्थापयत्। (आत्मने०) अस्थापयत। वि० लिँङ्—(परस्मै०) स्थापयेत्। (आत्मने०) स्थापयेत। आ० लिँङ्—(परस्मै०) स्थाप्यात्। (आत्मने०) स्थापयिषीष्ट। लुँङ्—में विशेष कार्य का विधान करने के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७०३) तिष्ठतेरित् ।७।४।५।।

उपधाया इदादेशः स्याच्चङ्परे णौ। अतिष्ठिपत् ।।

अर्थः—चङ्परक णि परे हो तो स्था धातु की उपधा के स्थान पर ह्रस्व इकार आदेश हो।

व्याख्या—तिष्ठतेः ।६।१। इत् ।१।१। णौ ।७।१। चङि ।७।१। उपधायाः ।६।१। (**'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः'** से)। अर्थः—(चङि) चङ् परे होने पर (णौ) जो णि, उस के परे होने पर (तिष्ठतेः) स्था धातु की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (इत्) ह्रस्व इकार आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

'स्थापि' इस णिजन्त धातु से लुँङ् परस्मै० प्र० पु० के एकवचन में तिप्, च्लि, चङ् तथा णि का लोप होकर—अस्थाप्+अ+त्। अब यहां चङ्परक णि के परे होने से स्था (स्थाप्) की उपधा को ह्रस्व इकार आदेश होकर 'अस्थिप्+अ+त्' हुआ। अब 'चङि' (५३१) से स्थिप् को द्वित्व, 'शर्पूर्वाः खयः' (६४८) से खय्-थकार का शेष तथा चर्त्व करने से—अति+स्थिप्+अ+त्। अन्त में 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से सकार को मूर्धन्य-षकार करने पर 'अतिष्ठिपत्' प्रयोग सिद्ध होता है[1]। रूपमाला यथा—(परस्मै०) अतिष्ठिपत्, अतिष्ठिपताम्, अतिष्ठिपन्। (आत्मने०) अतिष्ठिपत, अतिष्ठिपेताम्, अतिष्ठिपन्त।

लृँङ्—(परस्मै०) अस्थापयिष्यत्। (आत्मने०) अस्थापयिष्यत।

[लघु०] घटँ चेष्टायाम् ।।

अर्थः—घटँ (घट्) धातु 'चेष्टा करना, प्रयत्न करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2]।

---

१. हम ने लघुकौमुदी की बालोपयोगी शैली का अनुसरण करते हुए इसकी सिद्धि दर्शाई है। नवीन वैयाकरण पहले द्वित्व कर बाद में इत्त्व किया करते हैं। इस विषय का विस्तार व्याकरण के उच्चग्रन्थों में देखना चाहिये।

२. चेष्टा करना अर्थ यथा—

क्व च ख्यातो रघोर्वंशः क्व त्वं परगृहोषिता।
अन्यस्मै हृदयं देहि नाऽनभीष्टे घटामहे ।। (भट्टि० २०.२४)

व्याख्या—घटँ धातु भ्वादिगण में अनुदात्तेत् पढ़ी गई है, अतः आत्मनेपदी है। अनुदात्तों में परिगणित न होने से यह सेट् है। कर्तृवाच्य में इस के रूप यथा—(लँट्) घटते; (लिँट्) जघटे; (लुँट्) घटिता; (लृँट्) घटिष्यते; (लोँट्) घटताम्; (लँङ्) अघटत; (वि० लिँङ्) घटेत; (आ० लिँङ्) घटिषीष्ट; (लुँङ्) अघटिष्ट; (लृँङ्) अघटिष्यत।

यहां प्रयोजक के व्यापार में **'हेतुमति च'** (७००) से णिच् प्रत्यय करने पर घट्+णिच्=घट्+इ इस स्थिति में **'अत उपधायाः'** (४५५) से उपधावृद्धि हो जाती है—घाट्+इ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७०४) मितां ह्रस्वः ।६।४।९२॥

घटादीनां ज्ञपादीनां चोपधाया ह्रस्वः स्याण्णौ। घटयति॥

अर्थः—णि के परे होने पर मितों अर्थात् घटादियों तथा ज्ञपादियों की उपधा के स्थान पर ह्रस्व आदेश हो।

व्याख्या—मिताम् ।६।३। ह्रस्वः ।१।१। उपधायाः ।६।१। (**'ऊदुपधाया गोहः'** से)। णौ ।७।१। (**'दोषो णौ'** से)। अर्थः—(मिताम्) मितों की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश हो जाता है (णौ) णि परे हो तो। धातुपाठ में कुछ धातुओं को दो स्थानों पर मित् अतिदेश किया गया है—(१) घट् आदि धातु। (२) चुरादिगणीय ज्ञप् आदि धातु। अत एव ऊपर वृत्ति में **'घटादीनां ज्ञपादीनाञ्च'** कहा गया है।

'घाट्+इ' यहां पर णि परे मौजूद है अतः प्रकृतसूत्र से घट् (घाट्) की उपधा को ह्रस्व होकर 'घटि' बन जाता है। अब **'सनाद्यन्ता धातवः'** (४६८) से धातुसञ्ज्ञा होकर चुरादिगणवत् लँट् आदियों की उत्पत्ति होती है। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) घटयति[1]। (आत्मने०) **घटयते**। लिँट्—(परस्मै०) **घटयाञ्चकार-घटयाम्बभूव-घटयामास**। (आत्मने०) **घटयाञ्चक्रे** आदि। लुँट्—(परस्मै०) **घटयिता, घटयितारौ, घटयितारः। घटयितासि**—। (आत्मने०) **घटयिता, घटयितारौ, घटयितारः। घटयितासे**—। लृँट्—(परस्मै०) **घटयिष्यति**। (आत्मने०) **घटयिष्यते**। लोँट्—(परस्मै०) **घटयतु-घटयतात्**। (आत्मने०) **घटयताम्**। लँङ्—(परस्मै०) **अघटयत्**। (आत्मने०) **अघटयत**। वि० लिँङ्—(परस्मै०) **घटयेत्**। (आत्मने०) **घटयेत**। आ० लिँङ्—(परस्मै०) **घट्यात्**। (आत्मने०) **घटयिषीष्ट**। लुँङ्—(परस्मै०)**अजीघटत्**।(आत्मने०)**अजीघटत**। लृँङ्—(परस्मै०)**अघटयिष्यत्**। (आत्मने०) **अघटयिष्यत**।

घटित होना, सम्भव होना, सिद्ध होना—इत्यादि अर्थ भी घट् धातु के बहुत प्रचलित हैं— **कृत्यं घटेत सुहृदो यदि तत्कृतं स्यात्**—मालती० १.९;
उभयथाऽपि घटते—वेणी० ३।

१. **क्रुधा सन्धिं भीमो विघटयति यूयं घटयत**—वेणी० १.१०।

[लघु०] **ज्ञप ज्ञाने ज्ञापने च ॥** ज्ञपयति । अजिज्ञपत् ॥

अर्थः—ज्ञप् धातु 'जानना या जनाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—यह धातु धातुपाठ के चुरादिगण में पढ़ी गई है । वहां '**ज्ञप मिच्च**' (ज्ञप् धातु णि के परे होने पर मित् होती है) इस प्रकार का पाठ आया है, अर्थ-निर्देश नहीं किया गया । मूलोक्त अर्थ प्रयोगों को देखकर निश्चित किया गया है । '**अच्छ ज्ञीप्साथाम्**' में ज्ञप् धातु का अर्थ जानना तथा '**श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः**' (१.४.३४) सूत्र में इस का अर्थ 'जनाना' देखा जाता है ।

कर्तृवाच्य में ज्ञप् धातु से चुरादित्वात् '**सत्यापपाश०**' (६९४) द्वारा णिच् प्रत्यय करने पर उपधावृद्धि हो जाती है—ज्ञाप्+इ । मित्व के कारण (७०४) से उपधा को ह्रस्व होकर 'ज्ञपि' बन जाता है । अब इस से लँट्, तिप्, शप्, गुण और अयादेश करने पर 'ज्ञपयति' रूप सिद्ध होता है । लुँङ् में च्लि को चङ्, द्वित्व, णिलोप तथा सन्वद्भाव होकर '**सन्यतः**' (५३३) से इत्व हो जाता है—अजिज्ञपत् । ध्यान रहे कि अभ्यास में लघु न रहने से '**दीर्घो लघोः**' (५३४) द्वारा दीर्घ नहीं होता ।

लँट्—(परस्मै०) **ज्ञपयति** । (आत्मने०) **ज्ञपयते** । लिँट्—(परस्मै०) **ज्ञपयाञ्चकार, ज्ञपयाम्बभूव, ज्ञपयामास** । (आत्मने०) **ज्ञपयाञ्चक्रे** । लुँट्—(परस्मै०) **ज्ञपयिता, ज्ञपयितारौ, ज्ञपयितारः । ज्ञपयितासि**— । (आत्मने०) **ज्ञपयिता, ज्ञपयितारौ, ज्ञपयितारः । ज्ञपयितासे**— । लृँट्—(परस्मै०) **ज्ञपयिष्यति** । (आत्मने०) **ज्ञपयिष्यते** । लोँट्—(परस्मै०) **ज्ञपयतु-ज्ञपयतात्** । (आत्मने०) **ज्ञपयताम्** । लँङ्—(परस्मै०) **अज्ञपयत्** । (आत्मने०) **अज्ञपयत** । वि० लिँङ्—(परस्मै०) **ज्ञपयेत्** । (आत्मने०) **ज्ञपयेत** । आ० लिँङ्—(परस्मै०) **ज्ञप्यात्** । (आत्मने०) **ज्ञपयिषीष्ट** । लुँङ्—(परस्मै०) **अजिज्ञपत्** । (आत्मने०) **अजिज्ञपत** । लृँङ्—(परस्मै०) **अज्ञपयिष्यत्** । (आत्मने०) **अज्ञपयिष्यत** ।

ध्यातव्य—चुरादिगणीय धातुओं से जब हेतुमण्णिच् किया जाता है तब वहां दो णिच् उपस्थित हो जाते हैं—एक स्वार्थ में आया णिच् और दूसरा प्रयोजक-व्यापरवाचक णिच् । यथा—चुर्+इ+इ=चोर्+इ+इ । परन्तु स्वार्थ वाले णिच् का '**णेरनिटि**' (५२९) से लोप होकर पुनः चुरादिगणवत् एक णिच् वाली 'चोरि' धातु बन जाती है । अब इस की रूपमाला तथा प्रक्रिया चुरादिगणवत् चलने लगती है कुछ भी अन्तर नहीं होता[1] । इस प्रकार 'ज्ञप' धातु से हेतुमण्णिच् करने पर भी उपर्युक्तप्रकारेण प्रक्रिया तथा रूपमाला समझनी चाहिये । इसी बात को जनाने के लिये वरदराजजी ने चुरादिगणीय ज्ञप धातु हेतुमण्णिच् प्रकरण के अन्त में दी है ।

लघुकौमुदी की ण्यन्तप्रक्रिया में उपर्युक्त चार धातु ही दर्शाए गये हैं जो विद्या-

---

१. लुँङ् में प्रयोजकणिच् को मान कर स्वार्थणिच् का तथा चङ् को मान कर प्रयोजकणिच् का '**णेरनिटि**' (५२९) से लोप हो जाता है । दोनों णिचों को एक जाति का मान कर सन्वद्भाव आदि में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती । विशेष व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें ।

र्थियों की ज्ञानवृद्धि के लिये स्पष्टतः अपर्याप्त हैं अतः छात्रों के बोध के लिये हम अत्यन्त प्रसिद्ध सौ धातुओं का ण्यन्तशतक प्रस्तुत कर रहे हैं। इन धातुओं का मूल अर्थ न देकर णिच् करने पर जो अर्थ बनता है वही कोष्ठकों में दिया गया है। यहां लँट् और लुँङ् के रूप ही दिए गए हैं और वे भी परस्मैपद में। आत्मनेपद तथा अन्य लकारों में रूप स्वयं कल्पना कर लेने चाहियें।

अट् (घुमाना) आटयति। आटिटत्।
अद् (खिलाना) आदयति। आदिदत्।
प्र √ आप् (प्राप्त कराना) प्रापयति। प्रापिपत्।
अधि √ इङ् (पढ़ाना) अध्यापयति। अध्यापिपत्-अध्यजीगपत्।
इण् (भेजना) गमयति। अजीगमत्।
इष् (इच्छा कराना) एषयति। ऐषिषत्।
ऋ (अर्पण करना) अर्पयति। आर्पिपत्।
एध् (बढ़ाना) एधयति। ऐदिधत्।
कम्प् (कम्पाना) कम्पयति। अचकम्पत्।
कुप् (कुपित करना) कोपयति। अचूकुपत्।
कृ (कराना) कारयति। अचीकरत्।
क्री (खरीदवाना) क्रापयति। अचीक्रपत्।
क्रीड् (क्रीड़ा कराना) क्रीडयति। अचिक्रीडत्।
क्रुध् (क्रुद्ध करना) क्रोधयति। अचुक्रुधत्।
खन् (खुदाना) खानयति। अचीखनत्।
खाद् (खिलाना) खादयति। अचखादत्।
गम् (भिजवाना) गमयति। अजीगमत्।
ग्रह् (ग्रहण कराना) ग्राहयति। अजिग्रहत्।
चल् (चलाना) चलयति। अचीचलत्।
कम्पने—चलयति।
जन् (पैदा करना) जनयति। अजीजनत्।
जप् (जप् कराना) जापयति। अजीजपत्।
जागृ (जगाना) जागरयति। अजजागरत्।
जि (जिताना) जापयति। अजीजपत्।
जीव् (जिलाना) जीवयति। अजीजिवत्-अजिजीवत्।
ज्ञा (बोध कराना) ज्ञापयति। अजिज्ञपत्।

तप् (तपाना) तापयति। अतीतपत्।
तुष् (प्रसन्न करना) तोषयति। अतूतुषत्।
त्यज् (छुड़ाना) त्याजयति। अतित्यजत्।
दह् (दग्ध कराना) दाहयति। अदीदहत्।
दा (दिलवाना) दापयति। अदीदपत्।
दीप् (चमकना) दीपयति। अदीदिपत्।
दृश् (दिखाना) दर्शयति। अदीदृशत्-अददर्शत्।
द्युत् (चमकाना) द्योतयति। अदिद्युतत्।
धा (धारण कराना) धापयति। अदीधपत्।
धे (पिलाना) धापयति। अदीधपत्।
ध्यै (ध्यान कराना) ध्यापयति। अदिध्यपत्।
नम् (झुकाना) नमयति-नामयति। अनीनमत्।
नश् (नष्ट करना) नाशयति। अनीनशत्।
निन्द् (निन्दा कराना) निन्दयति। अनिनिन्दत्।
नी (उठवाना) नाययति। अनीनयत्।
नुद् (प्रेरित कराना) नोदयति। अनूनुदत्।
नृत् (नचाना) नर्तयति। अनीनृतत्-अननर्तत्।
पच् (पकवाना) पाचयति। अपीपचत्।
पठ् (पढ़ाना) पाठयति। अपीपठत्।
पत् (गिराना) पातयति। अपीपतत्।
पा (पिलाना) पाययति। अपीप्यत्।
पा (रक्षा कराना) पालयति। अपीपलत्।
पिष् (पिसवाना) पेषयति। अपीपिषत्।
पुष् (पुष्ट करना) पोषयति। अपूपुषत्।
पू (पवित्र कराना) पावयति। अपीपवत्।
बुध् (बोध कराना) बोधयति। अबूबुधत्।

भाष् (बुलवाना) भाषयति । अबीभषत्-अबभाषत् ।
भिद् (फड़वाना) भेदयति । अबीभिदत् ।
भुज् (खिलाना) भोजयति । अबूभुजत् ।
मिल् (मिलाना) मेलयति । अमीमिलत् ।
मील् (बंद कराना) मीलयति । अमीमिलत्-अमिमीलत् ।
मुच् (छुड़वाना) मोचयति । अमूमुचत् ।
मुद् (प्रसन्न करना) मोदयति । अमूमुदत् ।
मुह् (मुग्ध करना) मोहयति । अमूमुहत् ।
मृ (मरवाना) मारयति । अमीमरत् ।
मृज् (साफ कराना) मार्जयति । अमीमृजत्-अममार्जत् ।
यज् (यज्ञ कराना) याजयति । अयीयजत् ।
यत् (यत्न कराना) यातयति । अयीयतत् ।
या (भेजना) यापयति । अयीयपत् ।
युज् (मिलाना) योजयति । अयूयुजत् ।
युध् (युद्ध कराना) योधयति । अयूयुधत् ।
रक्ष् (रक्षा कराना) रक्षयति । अररक्षत् ।
आ √ रभ् (आरम्भ कराना) आरम्भयति । आररम्भत् ।
रम् (रमण कराना) रमयति । अरीरमत् ।
रुच् (पसन्द कराना) रोचयति । अरूरुचत् ।
रुद् (रुलाना) रोदयति । अरूरुदत् ।
रुध् (रुकवाना) रोधयति । अरूरुधत् ।
रुह् (उगाना) रोहयति-रोपयति । अरूरुहत्-अरूरुपत् ।
लभ् (प्राप्त कराना) लम्भयति । अललम्भत् ।
लस्ज् (लज्जित करना) लज्जयति । अललज्जत् ।
लिख् (लिखाना) लेखयति । अलीलिखत् ।
लिप् (लेप कराना) लेपयति । अलीलिपत् ।
लुभ् (लुभाना) लोभयति । अलूलुभत् ।
लू (कटवाना) लावयति । अलीलवत् ।
वच् (कहलवाना) वाचयति । अवीवचत् ।
वप् (कटवाना) वापयति । अवीवपत् ।
वस् (वास कराना) वासयति । अवीवसत् ।
वह् (उठवाना) वाहयति । अवीवहत् ।
विद् (बोध कराना) वेदयति । अवीविदत् ।
वृध् (बढ़ाना) वर्धयति । अवीवृधत्-अववर्धत् ।
शी (सुलाना) शाययति । अशीशयत् ।
शुच् (शोक कराना) शोचयति । अशूशुचत् ।
शुध् (शुद्ध करना) शोधयति । अशूशुधत् ।
शुष् (सुखाना) शोषयति । अशूशुषत् ।
श्रु (सुनाना) श्रावयति । अशुश्रवत्-अशिश्रवत् ।
सिच् (सिंचवाना) सेचयति । असीषिचत् ।
स्था (ठहराना) स्थापयति । अतिष्ठिपत् ।
स्ना (स्नान कराना) स्नापयति-स्नपयति । असिष्णपत् ।
स्मृ (स्मरण कराना) स्मारयति । असस्मरत् ।
उत्कण्ठापूर्वकस्मरणे—स्मरयति ।
स्वप् (सुलाना) स्वापयति । असूषुपत् ।
हन् (मरवाना) घातयति । अजीघतत् ।
हस् (हँसाना) हासयति । अजीहसत् ।
हा (छुड़वाना) हापयति । अजीहपत् ।
हिंस् (मरवाना) हिंसयति । अजिहिंसत् ।
हृ (हरण कराना) हारयति । अजीहरत् ।

नोट—चुरादिगण के धातु इस तालिका में नहीं दिये गये । हेतुमण्णिच् में उन की रूपमाला चुरादिगणवत् चलती है—यह पीछे बता चुके हैं ।

इति ण्यन्तप्रक्रिया

(यहां पर ण्यन्त-प्रक्रिया समाप्त होती है)

अथ सन्नन्तप्रक्रिया (Desideratives)

अब तिङन्तप्रकरण में सन्नन्तप्रक्रिया का प्रारम्भ किया जाता है। किसी भी धातु से इच्छा अर्थ में सन् प्रत्यय कर द्वित्वादि करने से नई सन्नन्त धातु बना ली जाती है। जैसे—पठ्+सन्=पिपठिष (पढ़ने की इच्छा), भू+सन्=बुभूष (होने की इच्छा), कृ+सन्=चिकीर्ष (करने की इच्छा) आदि। सर्वप्रथम सन् और उस के अर्थ का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७०५) धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा ।३।१।७॥

इषिकर्मण इषिणैककर्तृकाद् धातोः सन्प्रत्ययो वा स्यादिच्छायाम् ॥

अर्थः—जो इष् धातु का कर्म हो और इष् धातु के साथ समानकर्तृक भी हो उस धातु से इच्छा अर्थ में विकल्प कर के सन् प्रत्यय हो।

व्याख्या—धातोः ।५।१। कर्मणः ।५।१। समानकर्तृकात् ।५।१। इच्छायाम् ।७।१। वा इत्यव्ययपदम्। सन् ।१।१। ('गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' से)। 'प्रत्ययः, परश्च' दोनों अधिकृत हैं। इस सूत्र में 'इच्छायाम्' पद पढ़ा गया है अतः इष् धातु का ही कर्म और इष् धातु के साथ ही समानकर्तृकता ग्रहण की जाती है। समानः कर्त्ता यस्य स समानकर्तृकः, तस्मात्=समानकर्तृकात्। अर्थः—(कर्मणः) इष् धातु की कर्म (समानकर्तृकात्) तथा इष् धातु के साथ समान कर्त्ता वाली (धातोः) धातु से परे (इच्छायाम्) इच्छा अर्थ में (वा) विकल्प से (सन्) सन् प्रत्यय हो जाता है। सन् का नकार इत्सञ्ज्ञक होकर लुप्त हो जाता है, 'स' यह सस्वर अवशिष्ट रहता है[1]।

किसी भी धातु से इच्छा (चाहना) अर्थ में विकल्प से सन् प्रत्यय हो सकता है यदि वह धातु दो शर्त्तों को पूरा करती हो—

(१) इष् (चाहना) का कर्म होना।

(२) इष् का जो कर्त्ता उस क्रिया का भी वही कर्त्ता होना।

उदाहरण यथा—देवदत्तः पठितुमिच्छति इति पिपठिषति देवदत्तः (देवदत्त पढ़ने को चाहता है)। यहां पठ् धातु से इच्छा अर्थ में सन् प्रत्यय हुआ है। पठ् धातु यहां अर्थरूप से इष् (इच्छा करना) की कर्म है तथा इष् के साथ समानकर्तृक भी है अर्थात् इष् का जो कर्त्ता है वही पठ् का भी कर्त्ता है (देवदत्त)।

इन दो शर्तों में से किसी एक का भी उल्लङ्घन होने पर सन् प्रत्यय नहीं

---

१. यद्यपि सन् के 'स' को सस्वर मान कर हमें आर्धधातुकों में 'अतो लोपः' (४७०) से उस के अकार का लोप और सार्वधातुकों में 'अतो गुणे' से पररूप करना पड़ता है, तथापि 'प्रत्येतुमिच्छतीति प्रतीषिषति' इत्यादि स्थलों में जहां 'स' को द्वित्व होता है वहां सस्वर माने विना काम नहीं चल सकता, अतः इसे सस्वर माना जाता है।

होता। यथा—पठनेन इच्छति (पढ़ने से सुख आदि की अभिलाषा करता है) यहां पठ् धातु इष् धातु का कर्म नहीं अपितु करण है अतः समानकर्तृकता होते हुए भी पठ् से सन् नहीं होता। इसी प्रकार—शिष्याः पठन्तु इतीच्छति गुरुः (गुरु चाहता है कि शिष्य पढ़ें), यहां पठ् धातु का कर्त्ता शिष्य हैं तथा इष् धातु का कर्त्ता गुरु है, इसलिये भिन्नकर्तृक होने के कारण पठ् धातु से सन् नहीं होता।

सन्नन्त का विग्रह (अर्थ) प्रकट करने के लिये उस धातु को तुमुन्प्रत्ययान्त बना कर उस के आगे 'इच्छति' लगा कर लिखा जाता है। यथा—पठितुम् इच्छति इति पिपठिषति। कर्तुम् इच्छति इति चिकीर्षति। भवितुम् इच्छति इति बुभूषति। बीच में 'इति' पद समता (=) का द्योतक है। यह सन् विकल्प से विधान किया गया है अतः पक्ष में 'पठितुम् इच्छति' आदि वाक्य का भी प्रयोग हो सकता है।

[लघु०] **पठ व्यक्तायां वाचि॥**

अर्थः—पठ (पठ्) धातु 'व्यक्त वाणी बोलना अर्थात् पढ़ना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—पठ् धातु धातुपाठ के भ्वादिगण में पढ़ी गई है। आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है। लघुकौमुदी में पीछे मूल में इसका वर्णन नहीं आया। हम ने कर्तृवाच्य में इसकी रूपमाला पृष्ठ (१२१) पर दी है वहीं देखें। सन्नन्तप्रक्रिया में 'पिपठिषति' उदाहरण के अत्यन्त प्रसिद्ध तथा सरल होने के कारण ग्रन्थकार ने इस धातु का यहां अवतरण किया है।

पठितुमिच्छति—इस विग्रह में पठ् धातु इष्धातु की कर्म है तथा इष् के साथ समानकर्तृक भी है अतः **'धातोः कर्मणः०'** (७०५) सूत्रद्वारा पठ् से सन् प्रत्यय हो कर—पठ्+सन्=पठ्+स। सन् प्रत्यय **'धातोः'** इस प्रकार कह कर विधान किया गया है अतः **'आर्धधातुकं शेषः'** (४०४) से आर्धधातुक है[1]। **'आर्धधातुकस्येड् वलादेः'** (४०१) से इसे इट् का आगम हो जाता है—पठ्+इस। अब यहां द्वित्व करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७०६) सन्यङोः।६।१।६॥

सन्नन्तस्य यङन्तस्य च प्रथमस्यैकाचो द्वे स्तोऽजादेस्तु द्वितीयस्य। **सन्यतः** (५३३)। पठितुमिच्छति—पिपठिषति। कर्मणः किम्? गमनेनेच्छति। समानकर्तृकात् किम्? शिष्याः पठन्तु इतीच्छति गुरुः। 'वा'—ग्रहणाद् वाक्यमपि। **लुङ्सनोर्घस्लृ** (५५८)॥

अर्थः—सन्नन्त और यङन्त धातु के प्रथम एकाच् को द्वित्व हो जाता है, यदि वे अजादि हों तो उन के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है।

---

१. इसीलिये तो **'धातोः कर्मणः समान०'** (७०५) सूत्र में 'धातोः' पद का ग्रहण किया गया था, अन्यथा उस के बिना भी काम चल सकता था।

व्याख्या—सन्यङोः ।६।२। '**एकाचो द्वे प्रथमस्य**' तथा '**अजादेर्द्वितीयस्य**' का अधिकार आ रहा है। सन् और यङ् दोनों प्रत्यय हैं अतः '**प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः**' (प०) से सन्नन्त और यङन्त का ग्रहण होता है। **अर्थः**— (सन्यङोः) सन्नन्त तथा यङन्त के (प्रथमस्य एकाचः) प्रथम एकाच् भाग के (द्वे) दो रूप हो जाते हैं (अजादेः) परन्तु यदि ये अजादि हों तो इन के (द्वितीयस्य) द्वितीय एकाच् भाग के दो रूप होते हैं[1]।

'पठ्+इस' यह सन्नन्त है, अतः प्रकृतसूत्र से इस के प्रथम एकाच् भाग 'पठ्' को द्वित्व कर हलादिशेष करने से—'प+पठ्+इस' हुआ। अब सन् परे होने से '**सन्यतः**' (५३३) सूत्र द्वारा अभ्यास के अकार को इकार होकर षत्व (१५०) किया तो—'पिपठिष' बना। 'पिपठिष' की '**सनाद्यन्ता धातवः**' (४६८) से धातु-सञ्ज्ञा है अतः इस से लँट् आदियों की उत्पत्ति होती है। लँट् प्र० पु० के एकवचन में 'पिपठिष+ति' इस स्थिति में शप् होकर '**अतो गुणे**' (२७४) से पररूप करने से 'पिपठिषति' प्रयोग सिद्ध होता है। लँट् में रूपमाला यथा—**पिपठिषति, पिपठिषतः, पिपठिषन्ति**।

लिँट्—'पिपठिष' धातु के अनेकाच् होने से लिँट् परे होने पर आम्प्रत्यय (वा० ३४) हो जाता है। तब '**अतो लोपः**' (४७०) से अकार का लोप होकर समग्र-प्रक्रिया 'गोपायाञ्चकार' की तरह चलने लगती है—**पिपठिषाञ्चकार, पिपठिषाम्बभूव, पिपठिषामास** आदि। लुँट् में भी '**अतो लोपः**' (४७०) से सन् के अ का लोप हो जाता है—**पिपठिषिता, पिपठिषितारौ, पिपठिषितारः**। लृँट्—**पिपठिषिष्यति, पिपठिषिष्यतः, पिपठिषिष्यन्ति**। लोँट्—**पिपठिषतु-पिपठिषतात्**। लँङ्—**अपिपठिषत्**। वि० लिँङ्—**पिपठिषेत्**। आ० लिँङ्—**पिपठिष्यात्** (अतो लोपः ४७०)। लुँङ्—**अपिपठिषीत्, अपिपठिषिष्टाम्, अपिपठिषिषुः**। लृँङ्—**अपिपठिषिष्यत्**।

नोट—सन्नन्त प्रक्रिया में सन्नन्त रूप बनाने तक की प्रक्रिया कठिन होती है आगे लकारों की प्रक्रिया सरल होती है। सन्नन्त रूप बनाने में सब से पहले सन्

---

१. **प्रश्न**—'**सन्यङोः**' (७०६) में सप्तमी मानकर 'सन् और यङ् परे होने पर द्वित्व हो' ऐसा सरल अर्थ क्यों नहीं करते ?

उत्तर—यदि ऐसा करें तो 'प्रत्येतुमिच्छति इति प्रतीषिषति' इत्यादि की सिद्धि न हो सकेगी। यहां पर प्रतिपूर्वक '**इण् गतौ**' धातु से सन् किया गया है—इ+स। षष्ठी मानने से 'इस' अजादि के द्वितीय एकाज्भाग 'स' को द्वित्व कर इषिषति=प्रतीषिषति रूप सिद्ध हो जाता है, यदि सप्तमी मानते तो 'इस' में केवल 'इ' को ही द्वित्व होता 'स' को कदापि नहीं, इससे यथेष्ट रूप न बन सकता। किञ्च षष्ठी मानने से ही यङ्लुक्प्रक्रिया में द्वित्व सिद्ध हो जाता है अन्यथा सप्तमी मान कर प्रत्ययलक्षण का '**न लुमताऽङ्गस्य**' (१९१) से निषेध होकर द्वित्व दुर्लभ हो जाता—यह सब उसी प्रक्रिया में स्पष्ट है वहीं देखें।

प्रत्यय कर इट् का निर्णय करना चाहिये । यदि मूल धातु सेट् हो तो इट्, अन्यथा इट् का निषेध हो जायेगा । सन् आर्धधातुक प्रत्यय है—यह नहीं भूलना चाहिये । इट् करने के बाद समूचे सन्नन्त को एक धातु मान कर द्वित्व करना मुख्य कार्य होता है । सन्नन्त के प्रथम एकाच् को द्वित्व होता है परन्तु यदि वह अजादि अनेकाच् है तो दूसरे एकाज्भाग को द्वित्व होता है । तब लँट् आदियों की उत्पत्ति होती है । सन्नन्त-प्रक्रिया में पदव्यवस्था मूल धातु के समान होती है, यदि वह परस्मैपदी है तो सन्नन्त से परस्मैपद और यदि वह आत्मनेपदी है तो आत्मनेपद होता है । इस के लिये वक्ष्यमाण (७४२) सूत्र की व्याख्या देखनी चाहिये ।

अत्तुम् इच्छति—जिघत्सति (खाने की इच्छा करता है)। यहां अद् धातु इष् धातु की कर्म है तथा इष् के साथ समानकर्तृक भी है अतः 'धातोः कर्मण०:' (७०५) द्वारा अद् से सन् प्रत्यय होकर 'अद्+स' हुआ । अब 'लुँङ्सनोर्घस्लृ' (५५८) से अद् को घस्लृ आदेश हो जाता हैं—घस्+स । धातु के अनुदात्त होने से इट् का **'एकाच उपदेशे०'**(४७५)से निषेध हो जाता है । अब यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७०७) सः स्यार्धधातुके ।७।४।४६।।

सस्य तः स्यात् सादावार्धधातुके । अत्तुमिच्छति—जिघत्सति । **एकाचः० (४७५)** इति नेट् ।।

अर्थः—सकारादि आर्धधातुक परे हो तो सकार को तकार आदेश हो जाता है ।

व्याख्या—सः ।६।१। सि ।७।१। आर्धधातुके ।७।१। तः ।१।१। (**'अच उपसर्गात्तः'** से । तकारादकार उच्चारणार्थः) 'सि' यह 'आर्धधातुके' का विशेषण है अतः तदादिविधि होकर 'सकारादौ आर्धधातुके' बन जाता है । अर्थः—(सि=सकारादौ) सकारादि (आर्धधातुके) आर्धधातुक परे होने पर (सः) स् के स्थान पर (तः) त् आदेश हो जाता है । उदाहरण यथा—वस्+लृँट्=वस्+स्य+ति=वत्स्यति ।

'घस्+स' यहां पर सन् यह सकारादि आर्धधातुक परे विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से घस् के सकार को तकार आदेश होकर 'घत्स' बना । **'सन्यङोः'** (७०६) से सन्नन्त के प्रथम एकाज्भाग 'घत्' को द्वित्व, हलादिशेष, घकार को चुत्व-झकार, पुनः **'अभ्यासे चर्च'** (३९९) से उसे जश्त्व-जकार होकर—जघत्स । अब **'सन्यतः'** (५३३) से अभ्यास के अकार को इकार होकर 'जिघत्स' यह सन्नन्त धातु बन जाती हैं । अब इससे लँट्, तिप्, शप्, और **'अतो गुणे'** (२७४) से पररूप करने पर 'जिघत्सति' रूप सिद्ध होता है । इस की रूपमाला यथा—

लँट्—**जिघत्सति** । लिँट्—**जिघत्साञ्चकार-जिघत्साम्बभूव-जिघत्सामास** । लुँट्—**जिघत्सिता** । लृँट्—**जिघत्सिष्यति** । लोँट्—**जिघत्सतु-जिघत्सतात्** । लँङ्—**अजिघत्सत्** । वि० लिँङ्—**जिघत्सेत्** । आ० लिँङ्—**जिघत्स्यात्** । लुँङ्—**अजिघत्सीत्** । लृँङ्—**अजिघत्स्यत्** ।

कर्तुमिच्छति—चिकीर्षति (करने की इच्छा करता है) । **'डुकृञ् करणे'** धातु

से इच्छा अर्थ में 'धातोः कर्मणः०' (७०५) द्वारा सन् प्रत्यय करने पर अनुबन्धलोप करने से 'कृ+स' हुआ। आर्धधातुक होने से सन् को इट् का आगम प्राप्त होता है परन्तु 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (४७५) से उसका निषेध हो जाता है। अब अग्रिम-सूत्र के द्वारा दीर्घ का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७०८) अज्झनगमां सनि ।६।४।१६।।

अजन्तानां हन्तेरजादेशगमेश्च दीर्घो झलादौ सनि ।।

अर्थः—अजन्त धातुओं को, हन् को तथा अच् (स्वर) के स्थान पर आदेश होने वाली गम् धातु को दीर्घ हो जाता है झलादि सन् परे हो तो।

व्याख्या—अज्झनगमाम् ।६।३। सनि ।७।१। झलि ।७।१। (**'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति'** से)। दीर्घः ।१।१। (**'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः'** से)। **'अङ्गस्य'** यह अधिकृत है, इस का सम्बन्ध 'अच्' अंश के साथ जोड़ कर तदन्तविधि करने से 'अजन्तानामङ्गानाम्' बन जाता है। 'झलि' यह 'सनि' का विशेषण है, इस से तदादि-विधि होकर 'झलादौ सनि' बन जाता है। अच् च हन् च गम् च—अज्झनगमः, तेषाम्=अज्झनगमाम्। इतरेतरद्वन्द्वः। **महाभाष्य** में स्पष्ट किया गया है कि यहां 'गम्' से इण्, इक् आदि के स्थान पर आदेश होने वाले गम् का ही ग्रहण अभीष्ट है **'गम्लृ गतौ'** का नहीं। अर्थः—(झलि=झलादौ) झलादि (सनि) सन् परे होने पर (अज्झनगमाम्) अजन्त अङ्गों तथा हन् और गम् धातुओं के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश हो जाता है। **'अचश्च'** (१.२.२८) परिभाषा के अनुसार इन धातुओं के अच् के स्थान पर ही दीर्घ किया जायेगा। जब सन् को इट् का आगम नहीं होता तब वह झलादि सन् रहता है।

'कृ+स' यहां सन् को इट् के आगम का निषेध हो चुका है अतः वह झलादि है। उसके परे रहते प्रकृतसूत्र से अजन्त अङ्ग 'कृ' के ऋकार को दीर्घ होकर 'कॄ+स' हुआ। अब सन् आर्धधातुक को मान कर **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** (३८८) से गुण प्राप्त होता है। इस की निवृत्ति के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(७०९) इको झल् ।१।२।९।।

इगन्ताज्झलादिः सन् कित् स्यात्। **ऋत इद् धातोः** (६६०)। कर्तु-मिच्छति—चिकीर्षति ।।

अर्थः—इगन्त से परे झलादि सन् कित् हो।

व्याख्या—इकः ।५।१। झल् ।१।१। सन् ।१।१। (**'रुदविदमुष०'** से)। कित् ।१।१। (**'असंयोगाल्लिट् कित्'** से)। यहां पर सन् के कारण 'धातोः' का आक्षेप कर लिया जाता है। 'इकः' को 'धातोः' का विशेषण बना लेने से 'इगन्ताद् धातोः' बन जायेगा। 'झल्' यह 'सन्' का विशेषण है अतः तदादिविधि होकर 'झलादिः सन्' बन जाता है। अर्थः—(इकः=इगन्ताद् धातोः) इगन्त धातु से परे (झल्=झलादिः) झलादि (सन्) सन् (कित्) कित् अर्थात् किद्वत् होता है। जिन के अन्त में

इक् (इ, उ, ऋ, लृ) हों वे इगन्त धातु कहलाते हैं। जि, नु, भू, कृ आदि इगन्त धातु हैं। सन् को कित् करने का प्रयोजन गुण का निषेध करना आदि है।

'कृ+स' यहां इगन्त धातु 'कृ' है, इससे परे झलादि सन् 'स' विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से वह कित् हो जाता है। इस के कित् होने से इसके परे रहते प्राप्त हुए गुण का **'क्क्ङिति च'** (४३३) से निषेध हो जाता है। तब गुण के अविषय में **'ऋत इद् धातोः'** (६६०) से ऋकार को इत्व, रपर, **'हलि च'** (६१२) से उपधा को दीर्घ तथा **'आदेशप्रत्यययोः'**(१५०) से षत्व करने पर 'कीर्ष' बना। पुनः **'सन्यङोः'** (७०६) से सन्नन्त धातु के प्रथम एकाच् कीर् को द्वित्व, हलादिशेष, ह्रस्व तथा चुत्वादि हो कर 'चिकीर्ष' यह सन्नन्त रूप निष्पन्न होता है। अब इस से लँट्, तिप्, शप् और पररूप करने पर 'चिकीर्षति' सिद्ध होता है। चिकीर्ष धातु की रूपमाला यथा—

लँट्—**चिकीर्षति**। लिँट्—**चिकीर्षाञ्चकार, चिकीर्षाम्बभूव, चिकीर्षामास**। लुँट्—**चिकीर्षिता**। लृँट्—**चिकीर्षिष्यति**। लोँट्—**चिकीर्षतु-चिकीर्षतात्**। लँङ्—**अचिकीर्षत्**। वि० लिँङ्—**चिकीर्षेत्**। आ० लिँङ्—**चिकीर्ष्यात्**। लुँङ्—**अचिकीर्षीत्**। लृँङ्—**अचिकीर्षिष्यत्**। कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मने० का प्रयोग होगा—**चिकीर्षते**।

भवितुमिच्छति—बुभूषति (होना चाहता है)। **'भू सत्तायाम्'** धातु से इच्छा अर्थ में सन् होकर 'भू+स' हुआ। भू धातु ऊदन्त होने से सेट् है। अतः इस से परे सन् को इट् का आगम प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से निषेध प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(७१०) सनि ग्रह-गुहोश्च ।७।२।१२॥

ग्रहेर्गुहेरुगन्ताच्च सन इण्न स्यात्। बुभूषति ॥

अर्थः—ग्रह् (ग्रहण करना), गुह् (छिपाना, आच्छादित करना) तथा उगन्त धातुओं से परे सन् को इट् का आगम नहीं होता।

व्याख्या—सनि ।७।१। ग्रह-गुहोः ।६।२। च इत्यव्ययपदम्। न इत्यव्ययपदम्। इट् ।१।१। (**'नेड् वशि कृति'** से)। उकः ।६।१। (**'श्र्युकः किति'** से)। इट् का आगम सन् को किया जाता है न कि धातु को, अतः 'सनि' का षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम कर 'सनः' बना लिया जाता है। इसी प्रकार 'ग्रह-गुहोः' और 'उकः' का पञ्चम्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है। **'अङ्गस्य'** का अधिकार होने से 'उकः' को उस का विशेषण बना कर तदन्तविधि करने से 'उगन्तादङ्गात्' बन जाता है। अर्थः—(ग्रह-गुहोः=ग्रह-गुहाभ्याम्) ग्रह् और गुह् धातु से परे तथा (उकः—उगन्ताद् अङ्गात्) उगन्त अङ्ग से परे (सनि—सनः) सन् का अवयव (इट्) इट् (न) नहीं होता। ग्रह् और गुह् के उदाहरण—जिघृक्षति, जुघुक्षति आदि **सिद्धान्तकौमुदी** या **काशिका** में देखें। उगन्त (उक् प्रत्याहार—उ, ऋ, लृ ये वर्ण जिस के अन्त में हैं) का उदाहरण यहां प्रकृत है—

'भू+स' में भू धातु उगन्त है अतः इस से परे सन् को इट् का निषेध हो जाता है। पुनः आर्धधातुकगुण प्राप्त होता है उस का भी **'इको झल्'** (७०९) द्वारा

झलादि सन् के किस्व के कारण निषेध हो जाता है। अब 'सन्यङोः' (७०६) से द्वित्व तथा ह्रस्व-जश्त्व आदि अभ्यासकार्य होकर 'बुभूष' यह सन्नन्तरूप निष्पन्न होता है। इस से लँट्, तिप्, शप् और पररूप आदि करने से 'बुभूषति' रूप सिद्ध होता है[1]।

लँट्—बुभूषति। लिँट्—बुभूषाञ्चकार- बुभूषाम्बभूव-बुभूषामास। लुँट्—बुभूषिता। लृँट्—बुभूषिष्यति। लोँट्—बुभूषतु-बुभूषतात्। लँङ्—अबुभूषत्। वि० लिँङ्—बुभूषेत्। आ० लिँङ्—बुभूष्यात्। लुँङ्—अबुभूषीत्। लृँङ्—अबुभूषिष्यत्।

लघुकौमुदी में सन्नन्तप्रक्रिया के उपर्युक्त चार उदाहरण ही दिये गये हैं। यह प्रक्रिया पर्याप्त जटिल है। इस में अनेक प्रकार के उत्सर्गापवाद तथा विशिष्ट कार्य हुआ करते हैं। विशेषजिज्ञासु इस प्रक्रिया का सिद्धान्तकौमुदी में अवलोकन कर सकते हैं। हम यहां विशिष्ट कार्यों का उल्लेख किये विना विद्यार्थियों के लिये सन्नन्तरूपों का सार्थ शतक दे रहे हैं—

(अर्च्) अर्चिचिषति=पूजना चाहता है।
(आप्) ईप्सति=पाना चाहता है।
(इङ्) अधिजिगांसते=पढ़ना चाहता है।
(एध्) एदिधिषते=बढ़ना चाहता है।
(कथ) चिकथयिषति-ते=कहना चाहता०
(कम्प्) चिकम्पिषते=कांपना चाहता है
(कुप्) चुकोपिषति=कोप करना चाहता०
(कृ) चिकीर्षति-ते=करना चाहता है।
(कॄ) चिकरिषति=बखेरना चाहता है।
(क्रन्द्) चिक्रन्दिषति=चिल्लाना चाहता०
(क्रीड्) चिक्रीडिषति=खेलना चाहता है
(क्षि) चिक्षीषति=नष्ट होना चाहता है
(खन्) चिखनिषति=खोदना चाहता है।
(खाद्) चिखादिषति=खाना चाहता है
(गण्) जिगणयिषति-ते=गिनना चाहता०
(गद्) जिगदिषति=कहना चाहता है।
(गम्) जिगमिषति=जाना चाहता है
(गुह्) जुघुक्षति-ते=ढांपना चाहता है।
(गॄ) जिगरि(लि)षति=निगलना चाह०
(ग्रह्) जिघृक्षति-ते=ग्रहण करना चाह०
(घ्रा) जिघ्रासति=सूंघना चाहता है।

(चर्) चिचरिषति=चरना चाहता है।
(चल्) चिचलिषति=चलना चाहता है।
(चि) चिकी(ची)षति-ते=चुनना चाह०
(छिद्) चिच्छित्सति-ते=काटना चाहता०
(चुर्) चुचोरयिषति-ते=चुराना चाहता०
(जन्) जिजनिषते=पैदा होना चाहता है
(जि) जिगीषति=जीतना चाहता है।
(जीव्) जिजीविषति=जीना चाहता है।
(ज्ञप्) ज्ञीप्सति-ते=जानना चाहता है।
(ज्ञा) जिज्ञासते=जानना चाहता है।
(तन्) तितनिषति-ते, तितांसति-ते } विस्तार करना चाहता है।
(तॄ) तितीर्षति=तैरना चाहता है।
(त्यज्) तित्यक्षति=छोड़ना चाहता है।
(दम्भ्) धिप्सति=दम्भ करना चाहता है
(दह्) दिधक्षति=जलाना चाहता है।
(दा) दित्सति-ते=देना चाहता है।
(दिव्) दिदेविषति, दुद्यूषति } जुआ खेलना चाहता है।
(दुह्) दुधुक्षति-ते=दोहना चाहता है।
(दृश्) दिदृक्षते=देखना चाहता है।

---

१. ध्यान रहे कि यहां सन् परे है लिँट् नहीं। अतः 'भवतेरः' (३९८) सूत्र द्वारा अभ्यास के उकार को अकार आदेश नहीं होता।

(धा) धित्सति-ते=धारण करना चाहता०
(वि √ धा) विधित्सति-ते=करना चाह०
(धाव्) दिधाविषति=दौड़ना चाहता है।
(ध्यै) दिध्यासति=ध्यान करना चाहता०
(नम्) निनंसति=झुकना चाहता है।
(नश्) निनङ्क्षति=मष्ट होना चाहता है
(नी) निनीषति-ते=ले जाना चाहता हैं
(नु) नुनूषति=स्तुति करना चाहता है।
(नृत्) निनृत्सति=नाचना चाहता हैं।
(पच्) पिपक्षति-ते=पकाना चाहता है।
(पठ्) पिपठिषति=पढ़ना चाहता है।
(पत्) पिपतिषति=गिरना चाहता है या उस के गिरने की आशंका है।
(पा) पिपासति=पीना चाहता हैं।
(पूञ्) पुपूषति-ते=पवित्र करना चाहता०
(प्रच्छ्) पिपृच्छिषति=पूछना चाहता है।
(बुध्) बुभुत्सते=जानना चाहता है।
(ब्रू) विवक्षति-ते=कहना चाहता हैं।
(भिद्) बिभित्सति-ते=तोड़ना चाहता है
(भुज्) बुभुक्षते=खाना चाहता है।
(भुज्) बुभुक्षति=पालना चाहता है।
(भू) बुभूषति=होना चाहता है।
(भृ) बुभूर्षति-ते=पालना चाहता है।
(भ्रस्ज्) विभ्रज्जिषति-ते=भूनना चाहता०
(मन्थ्) मिमन्थिषति=मथना चाहता है।
(मुच्) मुमुक्षते=स्वयं छूटना चाहता है।
(मुच्) मोक्षते=स्वयं छूटना चाहता है।
(मुच्) मुमुक्षति-ते=छोड़ना चाहता है।
(मुद्) मुमोदिषते=प्रसन्न होना चाहता०
(मुष्) मुमुषिषति=चुराना चाहता है।
(मृ) मुमूर्षति=मरना चाहता है या उस के मरने की आशंका है।
(यज्) यियक्षति-ते=यज्ञ करना चाहता०
(यत्) यियतिषते=यत्न करना चाहता है
(या) यियासति=जाना चाहता है।
(युज्) युयुक्षति-ते=जोड़ना चाहता हैं।
(रभ्) आरिप्सते=आरम्भ करना चाहता०
(रम्) रिरंसते=खेलना चाहता है।
(रुद्) रुरुदिषति=रोना चाहता है।
(आ √ रुह्) आरुरुक्षति=चढ़ना चाहता०
(लभ्) लिप्सते=पाना चाहता है।
(लिख्) लिलिखिषति=लिखना चाहता०
(लिह्) लिलिक्षति-ते=चाटना चाहता है
(लूञ्) लुलूषति-ते=काटना चाहता है।
(वन्द्) विवन्दिषते=नमना चाहता है।
(वस्) विवत्सति=रहना चाहता है।
(शङ्क्) शिशङ्किषते=शंका करना चाह०
(शीङ्) शिशयिषते=सोना चाहता है।
(शुच्) शुशोचिषति=शोक करना चाहता०
(श्रि) शिश्रीषति=सेवा करना चाहता है
(श्रु) शुश्रूषते=सुनना चाहता है।
(सह्) सिसहिषते=सहना चाहता है।
(सृज्) सिसृक्षति=पैदा करना चाहता है
(स्तु) तुष्टूषति=स्तुति करना चाहता हैं।
(स्था) तिष्ठासति=ठहरना चाहता है।
(स्वप्) सुषुप्सति=सोना चाहता है।
(हन्) जिघांसति=मारना चाहता है।
(हस्) जिहसिषति=हँसना चाहता है।
(हा) जिहासति=छोड़ना चाहता है।
(हु) जुहूषति=होम करना चाहता है।
(हृ) जिहीर्षति-ते=हरना चाहता है।
(ह्री) जिह्रीषति=लज्जित होना चाह०

इति सन्नन्तप्रक्रिया

(यहां पर सन्नन्तप्रक्रिया समाप्त होती है)

अथ यङन्तप्रक्रिया (Intensives)

अब तिङन्तप्रकरण में यङन्तप्रक्रिया का प्रारम्भ किया जाता है। क्रिया के बार बार करने या अतिशय करने (frequency or intensity of action) में हलादि एकाच् धातुओं से परे यङ्प्रत्यय किया जाता है। यथा—भू+यङ्=बोभूय (बार बार होना या अतिशय होना); कृ+यङ्=चेक्रीय (बार बार करना या अतिशय करना)। अब सर्वप्रथम यङ्विधायक सूत्र का उल्लेख करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७११)

धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् ।३।१।२२॥

पौनःपुन्ये भृशार्थे च द्योत्ये धातोरेकाचो हलादेर्यङ् स्यात् ॥

अर्थः—क्रिया के बार बार होने अथवा अतिशय होने के द्योत्य होने पर एकाच् हलादि धातु से परे यङ् प्रत्यय हो।

व्याख्या—धातोः ।५।१। एकाचः ।५।१। हलादेः ।५।१। क्रियासमभिहारे ।७।१। यङ् ।१।१। '**प्रत्ययः, परश्च**' दोनों अधिकृत हैं। पौनःपुन्यं भृशार्थो वा क्रियासमभिहारः, क्रिया के बार बार किये जाने या अतिशय (अत्यन्त) किये जाने को 'क्रियासमभिहार' कहते हैं। अर्थः—(क्रियासमभिहारे) क्रिया का बार बार होना या अतिशय होना द्योत्य हो तो (एकाचो हलादेः) एक अच् वाली हलादि धातु से परे (यङ्) यङ् प्रत्यय होता है[1]।

सार यह है कि यङ् प्रत्यय के करने में तीन बातों का होना आवश्यक है। (१) धातु का एकाच् होना। (२) धातु का हलादि होना। (३) क्रियासमभिहार अर्थ का द्योतित होना। यदि इन तीनों में से कोई एक भी शर्त पूरी न होगी तो यङ् प्रत्यय न होगा[2]।

यङ् प्रत्यय के अन्त्य ङकार की इत्सञ्ज्ञा होकर 'य' यह सस्वर शेष रहता है। इसे यदि सस्वर न रखेंगे तो 'अटाटयते' आदि में द्वितीय एकाच्-भाग 'टय' को द्वित्व न हो सकेगा।

---

१. ध्यान रहे कि सन् प्रत्यय इच्छा का वाचक माना गया है परन्तु यहां यङ्प्रत्यय क्रियासमभिहार का द्योतक स्वीकार किया गया है। वाचक स्वीकार करने में प्रत्ययार्थ के प्राधान्य के कारण क्रियासमभिहार की विशेष्यता-प्रधानता माननी पड़ती जो प्रत्यक्षतः शाब्दबोध के विरुद्ध है। विस्तृत विवेचन व्याकरण के उच्चग्रन्थों में देखें।

२. पुनः पुनः भृशं वा जागर्ति—यहां जागृधातु के एकाच् न होने से शेष दोनों शर्तों के पूर्ण होने पर भी यङ् नहीं होता। पौनःपुन्येन भृशं वा ईक्षते—यहां 'ईक्ष्' धातु के हलादि न होने से शेष दोनों शर्त्तों के पूर्ण होने पर भी यङ् नहीं होता। क्रियासमभिहार अर्थ द्योतित न होने पर धातु के एकाच् हलादि होते हुए भी यङ् नहीं होता—भवति, पठति आदि।

भू सत्तायाम् (होना) धातु एक अच् वाली है तथा हलादि भी है अतः क्रिया-समभिहार में इस से परे यङ् प्रत्यय होकर—भू+यङ्='भू+य' हुआ। यङ् प्रत्यय **'धातोः'** से विहित होने के कारण आर्धधातुक है अतः इस के परे होने पर **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'**(३८८)से गुण प्राप्त होता है। परन्तु यङ् के ङित्त्व के कारण **'क्क्ङिति च'** (४३३) से उसका निषेध हो जाता है। अब **'सन्यङोः'** (७०६) से यङन्त के प्रथम एकाच् 'भू' को द्वित्व और अभ्यासह्रस्व-जश्त्व होकर—बु+भूय। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७१२) गुणो यङ्-लुकोः ।७।४।८२॥

अभ्यासस्य गुणो यङि यङ्लुकि च परतः। ङिदन्तत्वाद् आत्मनेपदम्। पुनः पुनरतिशयेन वा भवति—बोभूयते। बोभूयाञ्चक्रे। अबोभूयिष्ट॥

अर्थः—यङ् या यङ् का लुक् परे होने पर अभ्यास के स्थान पर गुण हो।

व्याख्या—गुणः।१।१। यङ्-लुकोः।७।२। अभ्यासस्य।६।१। (**'अत्र लोपोऽभ्यासस्य'** से)। यङ् च लुक् च यङ्लुक्, तस्मिन् यङ्लुकि। यङ् के सन्निहित होने से लुक् भी यहां यङ् का ही लिया जाता है। अर्थः—(यङ्-लुकोः) यङ् या यङ् का लुक् परे होने पर (अभ्यासस्य) अभ्यास के स्थान पर (गुणः) गुण हो जाता है। **'इको गुणवृद्धी'** (१.१.३) परिभाषा से गुण और वृद्धि इक् के स्थान पर हुआ करते हैं अतः यहां अभ्यास के इक् (इ, उ, ऋ, लृ) को ही गुण होगा। यङ्लुक् के उदाहरण अगली यङ्लुक्प्रक्रिया में आयेंगे, यहां यङ् परे होने के उदाहरण प्रकृत हैं—

'बु+भूय' यहां यङ् परे है अतः 'बु' अभ्यास के इक्-उकार को ओकार गुण होकर 'बोभूय' यह यङन्त रूप निष्पन्न होता है। अब **'सनाद्यन्ता धातवः'** (४६८) से 'बोभूय' की धातुसञ्ज्ञा होकर लँट् आदियों की उत्पत्ति होती है। यङ् के ङित् होने के कारण यङन्त धातु ङिदन्त होती है अतः **'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** (३७८) से इस से परे आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं[1]। लँट् प्र० पु० के एकवचन में त, शप्, **'अतो गुणे'** (२७४) से पररूप तथा टि को एत्व करने पर—**बोभूयते, बोभूयेते, बोभूयन्ते**।

लिँट्—में 'बोभूय' के अनेकाच् होने के कारण आम् प्रत्यय होकर **'अतो लोपः'** (४७०) से अकार का लोप हो जाता है—**बोभूयाञ्चक्रे, बोभूयाम्बभूव, बोभूयामास** आदि।

लुँट्—**'अतो लोपः'** (४७०) से अकार का लोप हो जाता है—**बोभूयिता**।

---

१. पीछे **'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** (३७८) सूत्र द्वारा अनुदात्तेत् अथवा ङित् धातु से आत्मनेपद का विधान किया गया है परन्तु यहां ङित् तो यङ् है न कि यङन्त, तो भला कैसे यङन्त से आत्मनेपद हो सकेगा? इस का समाधान यह है कि **'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** सूत्र के ङित् अंश में तदन्तविधि हो कर **'ङित् जिस के अन्त में हो ऐसी धातु से आत्मनेपद हो'** इस प्रकार का अर्थ करने से आत्मनेपद की सिद्धि की जाती है। इसीलिये तो यहां मूल में **'ङिदन्तत्वाद् आत्मनेपदम्'** कहा गया है।

लृँट्---**बोभूयिष्यते**। लोँट्---**बोभूयताम्**। लँङ्---**अबोभूयत**। वि० लिँङ्---**बोभूयेत**। आ० लिँङ्---**बोभूयिषीष्ट**। लुँङ्---**अबोभूयिष्ट**। लृँङ्---**अबोभूयिष्यत**।

सन्नन्तप्रक्रिया की तरह इस प्रक्रिया में भी यङन्तरूप बनाने तक प्रक्रिया जटिल होती है। आगे लँडादिप्रक्रिया में कुछ कठिनाई नहीं होती।

'बोभूयते' आदि का अर्थ प्रकट करने के लिये 'पुनः पुनर्भवति, अतिशयेन भवति, पौनःपुन्येन भवति, भृशं भवति' आदि वाक्यों का प्रयोग किया जाता है[1]।

अब गत्यर्थक धातुओं से अर्थविशेष में यङ् का विधान करते हैं—

[लघु०] नियम--सूत्रम्—(७१३) नित्यं कौटिल्ये गतौ ।३।१।२३॥

गत्यर्थात् कौटिल्य एव यङ् स्यात्, न तु क्रियासमभिहारे॥

अर्थः—गत्यर्थक धातु से कुटिलगमन अर्थ द्योत्य होने पर ही यङ् प्रत्यय हो, क्रियासमभिहार (क्रिया का पुनः पुनः होना या अतिशय होना) अर्थ में नहीं।

व्याख्या—नित्यम् इति द्वितीयैकवचनान्तं क्रियाविशेषणम्। कौटिल्ये ।७।१। गतौ ।७।१। धातोः ।५।१। यङ् ।१।१। (**'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्'** से)। 'नित्यम्' शब्द यहां अवधारणार्थक अर्थात् 'एव' (ही) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। **अर्थः**—(गतौ) गति अर्थ में जो (धातोः) धातु, उस से परे (कौटिल्ये) कुटिलगमन अर्थ में (नित्यम्=एव) ही (यङ्) यङ् प्रत्यय हो। 'एव' कहने से गत्यर्थ धातु से पूर्वसूत्र द्वारा क्रियासमभिहार अर्थ में यङ् न होगा। अत एव गत्यर्थ धातुओं का 'पुनः पुनर्गच्छति, अतिशयेन गच्छति' इत्यादिप्रकारेण विग्रह न होगा[2]।

व्रज गतौ (जाना, भ्वा० परस्मै०)। व्रज् धातु गत्यर्थक है अतः कुटिलगमन (टेढ़ा-मेढ़ा चलना) अर्थ में इस से परे यङ् होकर 'व्रज्+य' हुआ। अब **'सन्यङोः'** (७०६) से द्वित्व तथा अभ्यासकार्य हलादिशेष करने पर 'व+व्रज्+य' इस स्थिति

---

१. यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'बोभूयते' आदि का विग्रह इन वाक्यों से कैसे प्रकट किया जा सकता है क्योंकि सन्विधायक सूत्र की तरह यङ्विधायकसूत्र में 'वा' का तो कहीं उल्लेख किया नहीं गया। 'वा' की अनुवृत्ति मान कर भी यङ् से मुक्त होने पर पक्ष में **'क्रियासमभिहारे लोँट् लोँटो हिस्वौ वा च तध्वमोः'** (३.४.२) सूत्र की प्रवृत्ति होकर 'भव भवेति भवति' आदि बनेगा उपर्युक्त विग्रहवाक्य नहीं बन सकेंगे। इस का उत्तर यह है कि 'पुनः पुनर्भवति' आदि 'बोभूयते' आदि यङन्तों के विग्रहवाक्य नहीं हैं अपितु अर्थप्रदर्शनमात्र हैं। इस अर्थप्रदर्शन में 'भू' आदि धातु क्रियासमभिहार का द्योतन नहीं कर रही, साधारण अर्थ में प्रयुक्त है। क्रियासमभिहार का प्रकटीकरण हम 'पुनः पुनः' 'भृशम्' शब्दों से पृथक्शः कर रहे हैं।

२. **नागेशभट्ट** आदि कुछ मूर्धन्यतम वैयाकरण इस मत से सहमत नहीं हैं। वे गत्यर्थकों से क्रियासमभिहार में भी यङ् मानते है। अत एव लोक में 'स्थावर' का प्रतियोगी 'जङ्गम' शब्द प्रसिद्ध है। भट्टि ने गत्यर्थक अट् धातु का क्रियासमभिहार अर्थ में प्रयोग किया भी है—**अटाटयमानोऽरण्यानीं ससन्ति सहलक्ष्मणः** (४.२)।

में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७१४) दीर्घोऽकितः ।७।४।८४।।

अकितोऽभ्यासस्य दीर्घो यङि यङ्लुकि च । कुटिलं व्रजति—वाव्रज्यते ।।

अर्थः—अकित् अभ्यास के स्थान पर दीर्घ हो यङ् या यङ्लुक् परे हो तो ।

व्याख्या—दीर्घः ।१।१। अकितः ।६।१। अभ्यासस्य ।६।१।('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से)। यङ्-लुकोः ।७।२। ('गुणो यङ्लुकोः' से)। नास्ति कित् (किदागमः) यस्य असौ=अकित्, तस्य=अकितः, नञ्बहु० । अर्थः—(यङ्-लुकोः) यङ् या यङ्लुक् परे होने पर (अकितः) जिसे कित् का आगम नहीं हुआ ऐसे (अभ्यासस्य) अभ्यास के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश हो जाता है । 'अचश्च' (१.२.२८) परिभाषा से अभ्यास के अच् को दीर्घ किया जायेगा । अभ्यास को जब नुक् आदि का आगम होता है तब अभ्यास अकित् नहीं रहता, ऐसी स्थिति में प्रकृतसूत्र से अभ्यास को दीर्घ नहीं होता (यथा—यंयम्यते, जंगम्यते आदि) ।

'व+व्रज्+य' यहां यङ् परे विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से 'व' इस अकित् अभ्यास के अच् को दीर्घ होकर 'वाव्रज्य' यह यङन्त धातु निष्पन्न हो जाती है । अब इस से लँट्, आत्मनेपद प्र० पु० का एकवचन त, शप्, पररूप और एत्व करने पर 'वाव्रज्यते' प्रयोग सिद्ध होता है । कुटिलं व्रजति इति वाव्रज्यते (कुटिल गमन करता है) । लँट्—वाव्रज्यते, वाव्रज्येते, वाव्रज्यन्ते ।

लिँट् आदि आर्धधातुकप्रत्ययों में हल् से परे यङ् के लोप का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७१५) यस्य हलः ।६।४।४६।।

यस्येति सङ्घातग्रहणम् । हलः परस्य यशब्दस्य लोप आर्धधातुके । **आदेः परस्य (७२), अतो लोपः (४७०)**—वाव्रजाञ्चक्रे । वाव्रजिता ।।

अर्थः—हल् से परे 'य' का लोप हो आर्धधातुक परे हो तो ।

व्याख्या—यस्य ('य' शब्द के षष्ठी का एकवचन है) । हलः ।५।१। लोपः । १।१। ('अतो लोपः' से)।आर्धधातुके ।७।१। (यह अधिकृत है) । अर्थः—(हलः) हल् से परे (यस्य) 'य' का (लोपः) लोप हो (आर्धधातुके) आर्धधातुक परे हो तो । यहां सम्पूर्ण 'य' अर्थात् सस्वर यकार का लोप प्राप्त होने पर 'आदेः परस्य' (७२) द्वारा केवल आदि के यकार का ही लोप हो जायेगा ।

लिँट् में 'वाव्रज्य' से 'कास्यनेकाच आम् वक्तव्यो लिँटि' (वा०३४) द्वारा आम् प्रत्यय होकर 'वाव्रज्य+आम्+लिँट्' इस स्थिति में जकार हल् से परे 'य' के आदि यकार का प्रकृतसूत्र से लोप हो जाता है—वाव्रज् अ+आम्+लिँट् । शेष बचे 'अ' का 'अतो लोपः' (४७०) से लोप होकर—वाव्रजाम्+लिँट् । अब 'आमः' (४७१) से लिँट् का लुक् कर लिँट्परक कृ, भू और अस् का अनुप्रयोग करने से—वाव्रजाञ्चक्रे-वाव्रजाम्बभूव-वाव्रजामास आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

इसी प्रकार लुँट् आदि में भी आर्धधातुक प्रत्यय के परे होने पर यकार और

अकार का लोप हो जाता है । लुँट्—**वाव्रजिता, वाव्रजितारौ, वाव्रजितारः** । लृँट्—**वाव्रजिष्यते** । लोँट्—**वाव्रज्यताम्** । लँङ्—**अवाव्रज्यत** । वि० लिँङ्—**वाव्रज्येत** । आ० लिँङ्—**वाव्रजिषीष्ट** । लुँङ्—**अवाव्रजिष्ट** । लृँङ्—**अवाव्रजिष्यत** ।

ध्यान रहे कि हल् से परे 'य' का लोप विधान किया गया है अतः **'बोभूयाञ्चक्रे, बोभूयिता'** आदि में यकार का लोप नहीं होता । **वाव्रज्यते, वाव्रज्यताम्** आदि में आर्धधातुक परे न होने से यकार का लोप नहीं होता ।

अब ऋदुपध (ह्रस्व ऋकार जिन की उपधा में है) धातुओं से यङ् करने पर अभ्यास को विशेष कार्य का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७१६) रीगृदुपधस्य च ।७।४।९०॥

ऋदुपधस्य धातोरभ्यासस्य रीगागमो यङि यङ्लुकि च । वरीवृत्यते । वरीवृताञ्चक्रे । वरीवृतिता ॥

अर्थः—उपधा में ह्रस्व ऋकार वाली धातु के अभ्यास को रीक् का आगम हो जाता है यङ् या यङ्लुक् परे हो तो ।

व्याख्या—रीक् ।१।१। ऋदुपधस्य ।६।१। च इत्यव्ययपदम् । अभ्यासस्य ।६।१। (**'अत्र लोपोऽभ्यासस्य'** से) । यङ्लुकोः ।७।२। (**'गुणो यङ्लुकोः'** से) । **'अङ्गस्य'** के अधिकृत होने से 'धातोः' पद उपलब्ध हो जाता है । ऋत् (ह्रस्व ऋकारः) उपधा यस्य स ऋदुपधः, तस्य ऋदुपधस्य । **अर्थः**—(ऋदुपधस्य धातोः) ह्रस्व ऋकार जिसकी उपधा में है ऐसी धातु के (अभ्यासस्य) अभ्यास का अवयव (रीक्) रीक् हो जाता है (यङ्-लुकोः) यङ् या यङ्लुक् परे हो तो । 'रीक्' में ककार इत्सञ्ज्ञक है, 'री' मात्र अवशिष्ट रहता है । कित् होने से रीक् अभ्यास का अन्तावयव बन जाता है ।

वृतुँ वर्तने (होना, भ्वा० आत्मने०) धातु ऋदुपध है । क्रियासमभिहार में वृत् धातु से यङ् होकर द्वित्व, उरत् तथा हलादिशेष करने पर—व+वृत्+य । अब यहां अभ्यास को प्रकृतसूत्र से रीक् का आगम होकर वरी+वृत्+य='वरीवृत्य' यह यङन्त धातुरूप निष्पन्न होता है । इस से पूर्ववत् लँट् आदियों की उत्पत्ति होती है । लँट्—**वरीवृत्यते, वरीवृत्येते, वरीवृत्यन्ते** । पुनः पुनरतिशयेन वा वर्त्तत इति वरीवृत्यते (पुनः पुनः या अत्यन्त होता है) । 'वरीवर्तते' आदि लिखना ठीक नहीं ।

लिँट् आदि में आर्धधातुकप्रत्ययों के परे रहते **'यस्य हलः'** (७१५) द्वारा हल् से परे यङ् के यकार का तथा **'अतो लोपः'** (४७०) से अवशिष्ट अकार का लोप हो जाता है । लिँट्—**वरीवृताञ्चक्रे-वरीवृताम्बभूव-वरीवृतामास** आदि । लुँट्—**वरीवृतिता** । लृँट्—**वरीवृतिष्यते** । लोँट्—**वरीवृत्यताम्** । लँङ्—**अवरीवृत्यत** । वि० लिँङ्—**वरीवृत्येत** । आ० लिँङ्—**वरीवृतिषीष्ट** । लुँङ्—**अवरीवृतिष्ट** । लृँङ्—**अवरीवृतिष्यत** ।

नृत् (नाचना) धातु की प्रक्रिया भी वृत् धातु की तरह होती है । यङ्, द्वित्व, उरत्, हलादिशेष तथा रीक् का आगम होकर 'नरीनृत्य' इस स्थिति में **'अट्कुप्वाङ्०'**

(१३८) से णत्व प्राप्त होता है । इस का अग्रिमसूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(७१७) क्षुभ्नादिषु च ।८।४।३८।।

णत्वं न । नरीनृत्यते । जरीगृह्यते ।।

अर्थः—क्षुभ्ना आदि गणपठित शब्दों में नकार को णकार नहीं होता ।

व्याख्या—क्षुभ्नादिषु ।७।३। च इत्यव्ययपदम् । नः ।६।१। णः ।१।१। (**'रषाभ्यां नो णः समानपदे'** से)। न इत्यव्ययपदम् (**'न भाभूपू०'** से) । क्षुभ्नाशब्द आदिर्येषान्ते क्षुभ्नादयः, तेषु—क्षुभ्नादिषु । तद्गुणसंविज्ञानबहु०। अर्थः—(क्षुभ्नादिषु) क्षुभ्ना आदि शब्दों में (च) भी (नः) न् के स्थान पर (णः) णकार आदेश (न) नहीं होता ।

क्षुभ्नादि एक गण है । क्रैयादिक **'क्षुभ सञ्चलने'** धातु से श्नाविकरण करने पर 'क्षुभ्ना' शब्द निष्पन्न होता है । क्षुभ्ना आदि गणपठित शब्दों में किसी न किसी सूत्र से नकार को णकार आदेश प्राप्त होता है परन्तु अब इस सूत्र से उस का निषेध हो जाता है । यथा—क्षुभ्नाति, यहां **'अट्कुप्वाङ्०'**(१३८) से णत्व प्राप्त होता था परन्तु अब इस निषेध के कारण नहीं होता[1] ।

'नरीनृत्य' शब्द भी क्षुभ्नादियों में पढ़ा गया है अतः इस में भी प्रकृतसूत्र से णत्व का निषेध हो जाता है । अब इस की रूपमाला 'वरीवृत्य' की तरह चलने लगती है । लँट्—**नरीनृत्यते** । लिँट्—**नरीनृताञ्चक्रे-नरीनृताम्बभूव-नरीनृतामास** । लुँट्—**नरीनृतिता** । लृँट्—**नरीनृतिष्यते** । लोँट्—**नरीनृत्यताम्** । लँङ्—**अनरीनृत्यत** । वि० लिँङ्—**नरीनृत्येत** । आ० लिँङ्—**नरीनृतिषीष्ट** । लुँङ्—**अनरीनृतिष्ट** । लृँङ्—**अनरीनृतिष्यत** ।

पुनः पुनरतिशयेन वा गृह्णातीति जरीगृह्यते । **ग्रह उपादाने** (ग्रहणकरना, क्र्या० परस्मै०) धातु से क्रियासमभिहार में यङ् करने पर **'ग्रहिज्यावयि०'** (६३४) से सम्प्रसारण तथा **'सम्प्रसारणाच्च'** (२५८) से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'गृह्+य' इस स्थिति में द्वित्व, उरत्, हलादिशेष, चुत्व और धातु के ऋदुपध हो जाने से **'रीगृदुपधस्य च'** (७१६) से अभ्यास को रीक् का आगम करने से 'जरीगृह्य' यह यङन्त रूप निष्पन्न होता है । अब **'सनाद्यन्ता धातवः'**(४६८) द्वारा धातुसञ्ज्ञा होकर 'वरीवृत्य'

---

१. क्षुभ्नादिगण यथा—

क्षुभ्ना, नृनमन, नन्दिन्, नन्दन, नगर (नन्दिन् आदि शब्द उत्तरपद में हों तथा वह संज्ञा होनी चाहिये, यथा—हरिनन्दिन्, हरिनन्दन, गिरिनगर) । नरीनृत्य, तृप्नु, नर्त्तन, गहन, नन्दन, निवेश, निवास, अग्नि, अनूप (नर्त्तन आदि शब्द उत्तरपद में होने चाहियें, यथा—परिनर्त्तन, परिगहन, परिनन्दन, शरनिवेश, शरनिवास, शराग्नि, दर्भानूप) । इरिकावन, तिमिरवन, समीरवन, कुबेरवन, हरिवन, कर्मारवन । (**आचार्यादणत्वं च**) आचार्यभोगीन, आचार्यानी । क्षुभ्नादि आकृतिगण है अर्थात् जिस शब्द में णत्व प्राप्त तो हो पर वह अभीष्ट न हो उसे क्षुभ्नादिगण में समझ लेना चाहिये ।

की तरह रूपमाला चलती है ।

लँट्—**जरीगृह्यते** । लिँट्—**जरीगृहाञ्चक्रे-जरीगृहाम्बभूव-जरीगृहामास** । लुँट्—**जरीगृहिता** । लृँट्—**जरीगृहिष्यते** । लोँट्—**जरीगृह्यताम्** । लँङ्—**अजरीगृह्यत** । वि० लिँङ्—**जरीगृह्येत** । आ० लिँङ्—**जरीगृहिषीष्ट** । लुँङ्—**अजरीगृहिष्ट** । लृँङ्—**अजरीगृहिष्यत** ।

यङन्तप्रक्रिया में अभ्यास को प्राय: निम्नलिखित पाञ्च कार्यों में से कोई एक कार्य अवश्य हुआ करता है—

(१) अभ्यास के इकार उकार को गुण हो जाता है । यथा—(भिद्) बेभिद्यते=बार बार या अत्यन्त तोड़ता है; (छिद्) चेच्छिद्यते=बार बार या अत्यन्त काटता है; (भू) बोभूयते; (रुद्) रोरुद्यते आदि ।

(२) अभ्यास के ह्रस्व अकार को दीर्घ हो जाता है । यथा—(पच्) पापच्यते=बार बार या अत्यन्त पकाता है; (पठ्) पापठ्यते=बार बार या अतिशय पढ़ता है ।

(३) ऋदुपध या ऋकार वाली धातु के अभ्यास को रीक् का आगम हो जाता है । यथा—(नृत्) नरीनृत्यते; (वृत्) वरीवृत्यते; (दृश्) दरीदृश्यते; (प्रच्छ्) परीपृच्छ्यते आदि[1] ।

(४) अनुनासिकान्त धातुओं के अभ्यास को नुक् का आगम हो जाता है । यथा—(जन्) जञ्जन्यते; (नम्) नंनम्यते; (रम्) रंरम्यते; (यम्) यंयम्यते; (तन्) तन्तन्यते आदि ।

(५) पत्, पद्, स्रंसुँ, ध्वंसुँ, भ्रंसुँ आदि कुछ विशिष्ट धातुओं को नीक् का आगम हो जाता है । यथा—(पत्) पनीपत्यते; (पद्) पनीपद्यते; (स्रंस्) सनीस्रस्यते आदि ।

अब हम नीचे अत्यन्त प्रसिद्ध एक सौ धातुओं के अर्थ सहित यङन्तरूप दे रहे हैं । विद्यार्थी यदि इस शतक का अच्छा अभ्यास कर लेंगे तो अनुवाद आदि में उन को बड़ी सुविधा होगी ।

(कम्प्)चाकम्प्यते=बार २ कांपता है ।
(काङ्क्ष्)चाकाङ्क्ष्यते=बार २ चाहता है
(कूर्द्) चोकूर्द्यते=बार २ कूदता है ।
(क्रन्द्)चाक्रन्द्यते=बार २ चिल्लाता है ।
(क्रम्)चंक्रम्यते=बार २ क्रमण करता है ।
(कृ)चेक्रीयते—बार २ करता है ।
(क्री)चेक्रीयते=बार २ खरीदता है ।
(क्रीड्)चेक्रीड्यते=बार २ खेलता है ।
(क्षि)चेक्षीयते=बार २ क्षीण होता है ।
(खन्) चंखन्यते / **चाखायते** } बार २ खोदता है ।
(खाद्)चाखाद्यते=बार २ खाता है ।
(गद्)जागद्यते=बार २ कहता है ।
(गम्)जङ्गम्यते=कुटिल गमन करता है ।
(गै)जेगीयते=बार २ गाता है ।
(ग्रह्)जरीगृह्यते=बार २ लेता है ।

१. परन्तु ऋदन्त धातु हो तो प्रथम रीङ् (रीङ् ऋतः १०४२) होकर बाद में द्वित्वादि होते हैं—(कृ) चेक्रीयते, (भृ) बेभ्रीयते आदि ।

(घुष्) जोघुष्यते=बार २ घोषणा करता है
(घ्रा) जेघ्रीयते=बार २ सूंघता है ।
(चर्) चञ्चूर्यते=बुरी तरह से चरता है ।
(चल्) चाचल्यते=कुटिलता से चलता है ।
(चि) चेचीयते=बार २ चुनता है ।
(छिद्) चेच्छिद्यते=बार २ काटता है ।
(जन्) जञ्जन्यते=बार २ पैदा होता है ।
(जप्) जञ्जप्यते=बुरी तरह जपता है ।
(जि) जेजीयते=बार २ जीतता है ।
(जीव्) जेजीव्यते=बार २ जीता है
(ज्ञा) जाज्ञायते=बार २ जानता है ।
(ज्वल्) जाज्वल्यते=बार २ प्रज्वलित होता है ।
(तन्) तन्तन्यते=बार २ विस्तार करता है
(तप्) तातप्यते=बार २ तपता है ।
(तुद्) तोतुद्यते=बार २ दुःखी करता है ।
(तॄ) तेतीर्यते=बार २ तैरता है ।
(त्यज्) तात्यज्यते=बार २ छोड़ता है ।
(दह्) दन्दह्यते=बुरी तरह से जलाता है
(दा) देदीयते=बार २ देता है ।
(दीप्) देदीप्यते=बार २ चमकता है ।
(दुह्) दोदुह्यते=बार २ दोहता है ।
(दू) दोदूयते=बार २ दुःखी होता है ।
(दंश्) दंदश्यते=बुरी तरह डसता है ।
(दृश्) दरीदृश्यते=बार २ देखता है ।
(द्युत्) देद्युत्यते=बार २ चमकता है ।
(द्विष्) देद्विष्यते=बार २ द्वेष करता है ।
(धा) देधीयते=बार २ धारण करता है
(धाव्) दाधाव्यते=कुटिलता से दौड़ता है
(धू) दोधूयते=बार २ कम्पाता है ।
(ध्यै) दाध्यायते=बार २ ध्यान करता है
(ध्वंस्) दनीध्वस्यते=बार २ नष्ट होता है
(नम्) नंनम्यते=बार २ नमता है ।
(पच्) पापच्यते=बार २ पकाता है ।
(पठ्) पापठ्यते=बार २ पढ़ता है ।

(पत्) पनीपत्यते=बार २ गिरता है ।
(पा) पेपीयते=बार २ पीता है ।
(पूञ्) पोपूयते=बार २ पवित्र करता है ।
(प्रच्छ्) परीपृच्छ्यते=बार २ पूछता है
(बुध्) बोबुध्यते=बार २ जानता है ।
(भिद्) बेभिद्यते=बार २ तोड़ता है ।
(भुज्) बोभुज्यते=बार २ खाता है ।
बोभुज्यते=बार २ पालता है ।
(भ्रम्) बम्भ्रम्यते=बार २ घूमता है ।
(मन्थ्) मामथ्यते=बार २ मथता है ।
(मृज्) मरीमृज्यते=बार २ मांजता है ।
(यज्) यायज्यते=बार २ यज्ञ करता है ।
(यत्) यायत्यते=पुनः २ यत्न करता है ।
(युज्) योयुज्यते=बार २ जोड़ता है ।
(रक्ष्) रारक्ष्यते=बार २ बचाता है ।
(आ √ रभ्) आरारभ्यते=बार २ आरम्भ करता है ।
(रम्) रंरम्यते=बार २ रमण करता है ।
(राज्) राराज्यते=बार २ चमकता है ।
(रुद्) रोरुद्यते=बार २ रोता है ।
(रुध्) रोरुध्यते=बार २ रोकता है ।
(रुह्) रोरुह्यते=बार २ उगता है ।
(लभ्) लालभ्यते=बार २ पाता है ।
(लिख्) लेलिख्यते=बार २ लिखता है ।
(लिह्) लेलिह्यते=बार २ चाटता है ।
(लू) लोलूयते=बार २ काटता है ।
(वच्) वावच्यते=बार २ बांचता है ।
(वद्) वावद्यते=बार २ बोलता है ।
(वन्द्) वावन्द्यते=बार २ झुकता है ।
(वप्) वावप्यते=बार २ बोता है ।
(वस्) वावस्यते=बार २ रहता है ।
(वह्) वावह्यते=बार २ ढोता है ।
(वाञ्छ्) वावाञ्छ्यते=बार २ चाहता है
(विश्) वेविश्यते=बार २ प्रविष्ट होता है
(वृत्) वरीवृत्यते=बार २ होता है ।

(व्रश्च्) वरीवृश्च्यते=बार २ काटता है।
(शङ्क्) शाशङ्क्यते=बार २ शङ्का करता०
(शुच्) शोशुच्यते=बार २ शोक करता है।
(शीङ्) शाशय्यते=बार २ सोता है।
(श्रु) शोश्रूयते=बार २ सुनता है।
(सह्) सासह्यते=बार २ सहता है।
(सिच्) सेषिच्यते=बार २ सींचता है।
(सृज्) सरीसृज्यते=बार २ पैदा करता है
(सृप्) सरीसृप्यते=कुटिलता से रेंगता है।
(स्तु) तोष्टूयते=बार २ स्तुति करता है।
(स्था) तेष्ठीयते=बार २ ठहरता है।
(स्पर्ध्) पास्पर्ध्यते=बार २ स्पर्धा करता०
(स्मृ) सास्मर्यते=बार २ स्मरण करता है।
(स्रंस्) सनीस्रस्यते=बार २ स्रस्त होता है
(स्वप्) सोषुप्यते=बार २ सोता है।
(हन्) जेघ्नीयते=बार २ हनन करता है।
जङ्घन्यते=कुटिल गमन करता है।
(हा) जेहीयते=बार २ छोड़ता है।
(हिंस्) जेहिंस्यते=बार २ हनन करता है

नोट—'चाकम्प्यते' आदि का केवल 'बार बार कांपता है' इतना ही अर्थ नहीं है अपितु 'अतिशय (अत्यन्त) कांपता है' आदि अर्थ भी समझना चाहिये।

इति यङन्तप्रक्रिया

(यहां पर यङन्तप्रक्रिया समाप्त होती है)

अथ यङ्लुगन्तप्रक्रिया

अब तिङन्तप्रकरण में यङ्लुगन्तप्रक्रिया का प्रारम्भ होता है। इस प्रक्रिया में पूर्ववत् किये गये यङ्प्रत्यय का लुक् कर लिया जाता है, अर्थ में कोई परिवर्त्तन नहीं होता। क्रियासमभिहार आदि जो यङन्त के अर्थ हैं वे यङ्लुगन्त के भी समझने चाहियें। बोभूयते (यङन्तप्रक्रिया) और बोभवीति (यङ्लुगन्त) के अर्थों में कुछ भेद नही, दोनों समानार्थक हैं।

यङ्लुगन्तों के प्रयोग के विषय में वैयाकरणों में मतभेद है। **काशिकाकार** तथा उस के अनुयायी यङ्लुगन्तों का लोक वेद दोनों में प्रयोग मानते हैं। **सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित** भी इसी मार्ग के अनुयायी हैं। **भागवृत्तिकार** तथा **नागेशभट्ट** आदि वैयाकरण यङ्लुगन्तों का केवल वेद में ही प्रयोग मानते हैं लोक में नहीं। **नागेशभट्ट** के अनुसार (६.४.८७) सूत्र के **महाभाष्य** द्वारा केवल 'बेभिदीति' और 'चेच्छिदीति' इन दो रूपों की ही लोक में अनुमति प्राप्त होती है। **लघुकौमुदीकार श्रीवरदराजजी** ने मध्यम मार्ग अपनाया है। वे इस का क्वचित् प्रयोग ही स्वीकार करते हैं जैसा कि उन्होंने वक्ष्यमाण (७१८) सूत्र पर '**क्वचित्**' लिख कर प्रकट किया है।

इस प्रक्रिया को प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम यङ् के लुक् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७१८) यङोऽचि च ।२।४।७४॥

यङोऽचि प्रत्यये लुक् स्यात्। चकारात्तं विनापि क्वचित्॥

अर्थः—अच् प्रत्यय परे होने पर यङ् का लुक् हो जाता है। चकारग्रहण से अच् प्रत्यय के विना भी कहीं २ यङ् का लुक् हो जाता है।

व्याख्या—यङः ।६।१। अचि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । लुक् ।१।१। ('**ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः**' से)। इस सूत्र से पूर्व अष्टाध्यायी में '**बहुलं छन्दसि**' सूत्र पढ़ा गया है। यहां पर 'च' के ग्रहण के कारण 'बहुलम्' की अनुवृत्ति आती है। अर्थः—(अचि) अच् प्रत्यय के परे होने पर (यङः) यङ् का (बहुलम्) बहुल कर (लुक्) लुक् हो जाता है। '**प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः**' (१९०) के अनुसार प्रत्यय के अदर्शन को लुक् कहते हैं अतः यहां सम्पूर्ण यङ् प्रत्यय का अदर्शन होगा अलोऽन्त्यविधि प्रवृत्त न होगी।

अच् एक प्रत्यय है जो '**अज्विधिः सर्वधातुभ्यः**' वार्त्तिक के अनुसार कर्त्ता अर्थ में सब धातुओं से किया जाता है। यथा—चि+अच्=चे+अ=चयः (चुनने वाला), जि+अच्=जे+अ=जयः (जीतने वाला)। इस अच् प्रत्यय के परे होने पर यङ् का लुक् हो जाता है। उदाहरण यथा—लोलुवः, पोपुवः। लोलूय और पोपूय इन यङन्त धातुओं से परे अच् प्रत्यय करने पर 'लोलूय+अ, पोपूय+अ' हुआ। अब प्रकृतसूत्र से सम्पूर्ण यङ् का लुक् होकर 'लोलू+अ, पोपू+अ' इस स्थिति में आर्धधातुकगुण (३८८) प्राप्त होता है, पर इस का '**न धातुलोप आर्धधातुके**' (१.१.४) से निषेध हो जाता है। पुनः '**अचि श्नु०**' (१९९) से ऊकार को उवँङ् आदेश कर विभक्ति लाने से 'लोलुवः' (बार बार काटने वाला) और 'पोपुवः' (बार बार पवित्र करने वाला) सिद्ध होते हैं।

इस सूत्र में 'च' के बल से 'बहुलम्' पद का अनुवर्त्तन होता है। '**बहून् अर्थान् लातीति बहुलम्**' इस विग्रह से 'बहुलम्' के कारण अनेक नई बातों का समावेश हुआ करता है[1]। अतः कहीं कहीं अच् प्रत्यय के परे रहते हुए भी यङ् का लुक् न होगा तथा कहीं कहीं अच् प्रत्यय के विना भी लुक् हो जायेगा[2]।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब अच् प्रत्यय न हो तब यङ् का लुक् कब करना चाहिये? द्वित्वादि से पहले या बाद में? इस का उत्तर देते हुए लघुकौमुदीकार लिखते हैं—

[लघु०] अनैमित्तिकोऽयम् अन्तरङ्गत्वाद् आदौ भवति ॥

अर्थः—(अच् प्रत्यय परे न रहने की स्थिति में) यह लुक् अन्तरङ्ग होने से सब कार्यों से प्रथम हो जाता है।

---

१. 'बहुलम्' पद की विशेष व्याख्या आगे सूत्र (७७२) पर देखें।

२. ध्यान रहे कि यह लुक् कहीं २ होगा सर्वत्र नहीं। अतः जो लोग प्रत्येक धातु को यङ्लुगन्त प्रक्रिया में साधते हैं वे चिन्त्य हैं। कहीं २ शिष्ट प्रयोगों में ही यङ् का लुक् समझना चाहिये। **श्रीहरदत्तमिश्र** का यह वचन यहां विशेष अनुसन्धेय है—**प्रयोगश्च पद्ये गद्ये च काव्याऽऽख्यायिकादौ विकटपदोपन्यासप्रधानैरपि कविभिर्न कृतो दृश्यते** (२.४.७४ पर पदमञ्जरी)।

व्याख्या—जो कार्य किसी का आश्रय नहीं करता या अपेक्षाकृत कम करता है वह कार्य अन्तरङ्ग होता है। अन्तरङ्ग से भिन्न कार्य बहिरङ्ग होता है। **असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे** (प०) अर्थात् अन्तरङ्ग कार्य करना हो तो बहिरङ्ग कार्य असिद्ध हो जाता है। यहां अच् के अभावस्थल में यङ् का लुक् किसी का आश्रय न करने से अन्तरङ्ग होता है। द्वित्व एकाच्-अनेकाच् आदि कई बातों का आश्रय करने से बहिरङ्ग होता है। इसलिये अन्तरङ्ग होने से यङ्लुक् द्वित्वादि की अपेक्षा पहले होगा, बाद में द्वित्वादि होंगे।

अब यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि यदि यङ्लुक् पहले कर दिया जाये तो यङ् के परे न होने से '**सन्यङोः**' (७०६) द्वारा द्वित्व कैसे हो सकेगा? इस का समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

[लघु०] ततः प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वाद् द्वित्वम् अभ्यासकार्यम्॥

अर्थः—तदनन्तर प्रत्ययलक्षण से यङन्त हो जाने के कारण द्वित्व हो जायेगा। पुनः अभ्यासकार्य होगा।

व्याख्या—'**प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्**' (१९०) द्वारा प्रत्यय के चले जाने पर भी प्रत्ययलक्षण (प्रत्यय के आश्रित कार्य) हो सकता है। अतः लुक् हुए यङ् को मान कर शेष अंश को यङन्त मान लेने से द्वित्व हो जायेगा, कोई दोष नहीं आयेगा।

शङ्का—यहां पर लु वाले 'लुक्' शब्द से यङ् का अदर्शन हुआ है तो क्या '**न लुमताऽङ्गस्य**' (१९१) से प्रत्ययलक्षण का निषेध नहीं हो जायेगा?

समाधान—यदि अङ्ग के स्थान पर कार्य करना हो तभी प्रत्ययलक्षण का निषेध हुआ करता है वरना नहीं। यहां पर यङ् परे होने पर द्वित्व नहीं करना अपितु सम्पूर्ण यङन्त को द्वित्व करना है अतः यह अङ्गकार्य नहीं, इसलिये यहां प्रत्ययलक्षण का निषेध नहीं होता।

भू धातु से यङ् का लुक् होकर द्वित्व तथा अभ्यासकार्य करने पर 'बोभू' बनता है। अब इस से परे लँट् आदियों को लाना है परन्तु विना धातुसञ्ज्ञा किये वे आ नहीं सकते। अतः ग्रन्थकार कहते हैं—

[लघु०] धातुत्वाल्लँडादयः॥

अर्थः—धातुसञ्ज्ञा होने से लँट् आदियों की उत्पत्ति होती है।

व्याख्या—'बोभू' की धातुसञ्ज्ञा सिद्ध है। किस से? 'बोभूय' के एक अंश 'य' का लुक् हो जाने पर 'बोभू' बना है। यङन्त की '**सनाद्यन्ता धातवः**' (४६८) से धातुसञ्ज्ञा अक्षुण्ण थी अतः '**एकदेशविकृतमनन्यवत्**' (प०) से 'बोभू' भी धातुसञ्ज्ञक है। अथवा—'**चर्करीतं च**' (गणसूत्र—पृष्ठ ३६२) द्वारा यङ्लुगन्तों का अदादिगण में पाठ स्वीकृत होने के कारण '**भूवादयो धातवः**' (३६) से ही धातुत्व सिद्ध हो जाएगा।

धातुसञ्ज्ञा हो कर 'बोभू' से लँट् आदियों की उत्पत्ति होती है—बोभू+लँट्

=बोभू+ल् । अब यङ्लुगन्त से कौन सा पद किया जाये? परस्मैपद या आत्मनेपद ? इस पर ग्रन्थकार लिखते हैं—

[लघु०] **शेषात्कर्त्तरि०** (३८०) इति परस्मैपदम् । **चर्करीतं च** (गणसूत्रम्) इत्यदादौ पाठाच्छपो लुक् ॥

अर्थः—'शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम्' (३८०) सूत्र से परस्मैपद का प्रयोग होता है । **'चर्करीतञ्च'** (गणसूत्र पृष्ठ ३६२) द्वारा यङ्लुगन्त के अदादिगणान्तर्गत होने के कारण शप् का लुक् हो जाता है ।

व्याख्या—ग्रन्थकार का कहना है कि यङ्लुगन्तों से **'शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम्'** (३८०) द्वारा परस्मैपद करना चाहिये । परन्तु यङ्लुगन्त तो प्रत्ययलक्षण से यङन्त है । यङन्त ङिदन्त होगा अतः इस से **'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** (३७८) द्वारा आत्मनेपद होना चाहिये न कि परस्मैपद—इस शङ्का का समाधान तीन प्रकार से किया जाता है—

(१) प्रत्ययलक्षण द्वारा यङ्लुगन्त को ङिदन्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि **'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्'** (१६०) द्वारा लुप्त हुए प्रत्यय को मान कर वही कार्य किया जा सकता है जो केवल उस प्रत्यय के आश्रित हो । यहां यङ्प्रत्यय के ङित्त्व को लेकर यङ्लुगन्त को ङिदन्त मानना रूप कार्य है । यह ङित्त्व धर्म केवल प्रत्यय के आश्रित नहीं । ङित् तो प्रत्यय अप्रत्यय कोई भी हो सकता है; यथा—शीङ् आदि धातु ङित् हैं, चित्रङ् आदि प्रातिपदिक ङित् हैं । अतः यहां प्रत्ययलक्षण द्वारा ङित्त्व धर्म नहीं लाया जा सकता । यङ्लुगन्त में जब ङित्त्व न आया तो **'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** (३७८) से आत्मनेपद कैसा ? अतः आत्मनेपद के निमित्तों से हीन होने के कारण **'शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम्'** (३८०) से परस्मैपद ही होगा ।

(२) धातुपाठ में **'चर्करीतञ्च'** यह गणसूत्र परस्मैपदी धातुओं के अन्दर पढ़ा गया है । इसे इन के अन्त में भी पढ़ सकते थे । परन्तु वैसा न करना इस बात का द्योतक है कि 'यङ्लुगन्तों से परस्मैपद होता है, आत्मनेपद नहीं' ।

(३) **'दाधर्ति-दर्धर्ति-दर्धर्षि-बोभूतु-तेतिक्ते०'** (७.४.६५) इस सूत्र के द्वारा वेद में 'तेतिक्ते' में आत्मनेपद का निपातन किया गया है । यदि यङ्लुगन्त से आत्मनेपद सिद्ध था तो उस का निपातन कैसा ? इससे प्रतीत होता है कि **'तेतिक्ते'** के सिवाय अन्यत्र यङ्लुगन्त में आत्मनेपद नहीं होता ।

इस प्रकार यङ्लुगन्त से परस्मैपद का ही प्रयोग होता है—यह निश्चित हुआ । अब इस से कौन सा विकरण किया जाये ? इसका निश्चय करते हैं । श्यन् आदि विकरण दिवादिगण आदि धातुओं से हुआ करते हैं । यङ्लुगन्त का **'चर्करीतञ्च'** (गणसूत्र, पृष्ठ ३६२) द्वारा अदादिगण में पाठ स्वीकार किया गया है । अतः **'कर्त्तरि शप्'** (३८७) से शप् हो कर **'अदिप्रभृतिभ्यः शपः'** (५५२) से उस का लुक् हो जायेगा ।

भू धातु से क्रियासमभिहार में **'धातोरेकाचो हलादेः०'** (७११) से यङ् होकर

'**यङोऽचि च**' (७१८) से उस का लुक् हो गया। पुनः प्रत्ययलक्षण से उसे मान कर '**सन्यङोः**'(७०६) से द्वित्व, अभ्यासकार्य तथा '**गुणो यङ्लुकोः**'(७१२) से अभ्यास को गुण हो कर 'बोभू' बना। अब '**चर्करीतं च**' द्वारा यङ्लुगन्त का अदादिगण में पाठ मानने से भौवादिकत्वात् '**भूवादयो धातवः**' (३६) से धातुसञ्ज्ञा हो कर लँट् आदियों की उत्पत्ति होती है। 'तेतिक्ते' इस वैदिक आत्मनेपद निपातन के कारण यङ्लुगन्त से परस्मैपद का प्रयोग सिद्ध होता है अतः लँट् के स्थान पर प्र० पु० के एकवचन में तिप् हो कर '**कर्त्तरि शप्**' (३८७) से शप् हो जाता है। यङ्लुगन्त के अदाद्यन्तर्गत होने के कारण '**अदिप्रभृतिभ्यः शपः**' (५५२) से शप् का लुक् हो जाता है। अब 'बोभू+ति' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७१९) **यङो वा** ।७।३।९४।।

यङ्लुगन्तात् परस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्य ईड् वा स्यात्। **भूसुवोः०** (४४०) इति गुणनिषेधो यङ्लुकि भाषायां न, **बोभूतु-तेतिक्ते०** (७.४.६५) इति छन्दसि निपातनात्। बोभवीति-बोभोति। बोभूतः। **अदभ्य-स्तात्** (६०६)—बोभुवति। बोभवाञ्चकार, बोभवामास। बोभविता। बोभविष्यति। बोभवीतु-बोभोतु-बोभूतात्, बोभूताम्, बोभुवतु। बोभूहि। बोभवानि। अबोभवीत्-अबोभोत्, अबोभूताम्, अबोभवुः। बोभूयात्, बोभूयाताम्, बोभूयुः। बोभूयात्, बोभूयास्ताम्, बोभूयासुः। **गातिस्था०** (४३९) इति सिँचो लुक्। **यङो वा** (७१९) इतीट्पक्षे गुणं बाधित्वा नित्यत्वाद् वुक्—अबोभूवीत्-अबोभोत्, अबोभूताम्, अबोभूवुः। अबोभविष्यत्।।

अर्थः—यङ्लुगन्त से परे हलादि पित् सार्वधातुक को विकल्प से ईट् का आगम हो जाता है।

व्याख्या—यङः।५।१। वा इत्यव्ययपदम्। हलि।७।१। ('**उतो वृद्धिर्लुकि हलि**' से) पिति।७।१। सार्वधातुके।७।१। ('**नाऽभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके**' से)। ईट्।१।१। ('**ब्रुव ईट्**' से)। 'हलि' यह 'सार्वधातुके' का विशेषण है अतः तदादिविधि होकर 'हलादौ पिति सार्वधातुके' बन जाता है। 'यङः' में पञ्चमी तथा 'हलादौ पिति सार्वधातुके' में सप्तमी है। '**उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्**'(प०) के अनुसार पञ्चमी का निर्देश बलवान् होता है अतः 'हलादौ पिति सार्वधातुके' के स्थान पर विभक्ति-विपरिणाम से 'हलादेः पितः सार्वधातुकस्य' बन जायेगा। अर्थः—(यङः) यङ् से परे (हलादेः पितः सार्वधातुकस्य) हलादि पित् सार्वधातुक का अवयव (ईट्) ईट् (वा) विकल्प से हो जाता है।

यङन्त से सदा आत्मनेपद हुआ करता है अतः वहां हलादि पित् सार्वधातुक का मिलना असम्भव है। इस लिये यङ्लुगन्त के ही उदाहरण सम्भव हैं। अत एव वरदराज जी ने वृत्ति में '**यङ्लुगन्तात्०**' लिखा है। ध्यान रहे कि यङ् का लुक् हो जाने पर भी प्रत्ययलक्षण से यङ् बना रहता है।

'बोभू+ति' यहां पर 'तिप्' यह हलादि पित् सार्वधातुक परे विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से वैकल्पिक ईट् का आगम होकर 'बोभू+ईति' इस स्थिति में (**'यदागमास्तद्गुणीभूताः०'** द्वारा ईट् भी पित् का अवयव होने से)**'सार्वधातुकाऽऽर्धधातुकयोः'** (३८८) से सार्वधातुकगुण होकर ओकार को अवादेश करने पर 'बोभवीति' प्रयोग सिद्ध होता है। जहां ईट् का आगम न होगा वहां भी सार्वधातुकगुण होकर 'बोभोति' रूप बनेगा। अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'बोभवीति' या 'बोभोति' में सार्वधातुकगुण का **'भूसुवोस्तिङि'**(४४०) से निषेध क्यों न हो? इस का उत्तर यह है कि अष्टाध्यायी के **'दार्धर्ति-दर्धर्ति-दर्धर्षि-बोभूतु०'** (७.४.६५) सूत्र में 'बोभूतु' इस वैदिक रूप में गुण का अभाव निपातन किया गया है। इस से सिद्ध होता है कि यह निषेध यङ्लुक् में केवल वेद तक ही सीमित है, लौकिक यङ्लुगन्त रूपों में यह निषेध प्रवृत्त नहीं होता अतः 'बोभवीति-बोभोति' आदि रूपों में **'भूसुवोस्तिङि'** (४४०) से निषेध नहीं हुआ।

प्र० पु० के द्विवचन में—बोभूतः। यहां तस् के हलादि होते हुए भी पित् न होने के कारण ईट् का आगम नहीं होता। ध्यान रहे कि यहां सार्वधातुकगुण का निषेध **'भूसुवोस्तिङि'** (४४०) से नहीं हुआ अपितु **'सार्वधातुकमपित्'** (५००) द्वारा ङिद्वद्भाव के कारण हुआ है। बहुवचन में 'बोभू+झि' इस स्थिति में **'उभे अभ्यस्तम्'** (३४४) द्वारा 'बोभू' के अभ्यस्तसञ्ज्ञक होने से **'अदभ्यस्तात्'** (६०६) से झि के झकार को अत् आदेश होकर **'अचि श्नु०'** (१९९) से ऊकार को उवँङ् आदेश हो जाता है—बोभुवति[1]। सिप् और मिप् में पूर्ववत् ईट् का विकल्प होकर गुण हो जायेगा। लँट् में रूपमाला यथा—**बोभवीति-बोभोति, बोभूतः, बोभुवति। बोभवीषि-बोभोषि, बोभूथः, बोभूथ। बोभवीमि-बोभोमि, बोभूवः, बोभूमः।**

लिँट्—में 'बोभू' धातु के अनेकाच् होने से आम्प्रत्यय, आर्धधातुकगुण तथा अवादेश हो जाता है—**बोभवाञ्चकार-बोभवाम्बभूव-बोभवामास** आदि।

लुँट्—में भी आर्धधातुकगुण होकर अवादेश हो जाता है—**बोभविता, बोभवितारौ, बोभवितारः। बोभवितासि**—। लृँट्—**बोभविष्यति, बोभविष्यतः, बोभविष्यन्ति।** लोँट्—**बोभवीतु-बोभोतु-बोभूतात्, बोभूताम्, बोभुवतु** (६०६)। **बोभूहि-बोभूतात्, बोभूतम्, बोभूत। बोभवानि, बोभवाव, बोभवाम।** लँङ्—**अबोभवीत्-अबोभोत्, अबोभूताम्, अबोभवुः** (अभ्यस्तत्वाज्जुस्, **जुसि च**)। **अबोभवीः-अबोभोः, अबोभूतम्, अबोभूत। अबोभवम्, अबोभूव, अबोभूम।** वि० लिँङ्—**बोभूयात्, बोभूयाताम्, बोभूयुः।** आ० लिँङ्—**बोभूयात्, बोभूयास्ताम्, बोभूयासुः।**

लुँङ्—'अबोभू+स्+त्' यहां पर **'गातिस्था०'**(४३९) से सिँच् का लुक् तथा **'यङो वा'** (७१९) से वैकल्पिक ईट् का आगम हो कर 'अबोभू+ईत्' इस स्थिति में **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** (३८८) से सार्वधातुकगुण और **'भुवो वुग्लुँङ्लिँटोः'**(३९३)

---

१. यङन्त (बोभूयन्ते)में यङ् के व्यवधान के कारण अत् आदेश नहीं होता।

से वुक् का आगम युगपत् प्राप्त होते हैं। परत्व के कारण गुण होना चाहिये। परन्तु वुक् नित्य है और गुण अनित्य है[1]। नित्य और अनित्य कार्यों में नित्य कार्य हुआ करता है; अतः भू को वुक् का आगम करने पर अबोभूव्+ईत्='अबोभूवीत्' रूप सिद्ध होता है। ईट् के अभाव में अजादि न होने से वुक् नहीं हो सकता अतः सार्वधातुकगुण हो कर—अबोभोत्। रूपमाला यथा—**अबोभूवीत्-अबोभोत्, अबोभूताम्, अबोभूवुः[2]। अबोभूवीः-अबोभोः, अबोभूतम्, अबोभूत। अबोभूवम्, अबोभूव, अबोभूम।**

लृङ्—**अबोभविष्यत्, अबोभविष्यताम्, अबोभविष्यन्।**

यङ्लुगन्त धातुओं के रूप प्रायः जटिल होते हैं किञ्च इनके प्रयोग भी अत्यन्त विरल होते हैं अतः इन का शतक न देकर हम यहां कुछ अत्यन्त प्रसिद्ध धातुओं के लट् प्र० पु० के एकवचन में रूप दे रहे हैं—

१. (**गम्**) **जङ्गमीति-जङ्गन्ति**=कुटिलता से जाता है।
२. (**पूञ्**) **पोपवीति-पोपोति**=बार बार पवित्र करता है।
३. (**लूञ्**) **लोलवीति-लोलोति**=बार बार काटता है।
४. (**ग्रह्**) **जाग्रहीति-जाग्राढि**=बार बार ग्रहण करता है।
५. (**दा**) **दादेति-दादाति**=बार बार देता है।
६. (**प्रच्छ्**) **पाप्रच्छीति-पाप्रष्टि**=बार बार पूछता है।
७. (**विश्**) **वेविशीति[3]-वेवेष्टि**=बार बार प्रवेश करता है।
८. (**भ्रम्**) **बम्भ्रमीति-बम्भ्रन्ति**=बार बार घूमता है।
९. (**चल्**) **चाचलीति-चाचल्ति**=बार बार चलता है।
१०. (**तन्**) **तन्तनीति-तन्तन्ति**=बार बार विस्तार करता है।
११. (**पा पाने**) **पापेति-पापाति**=बार बार पीता है।
१२. (**जि**) **जेजयीति-जेजेति**=बार बार जीतता है।
१३. (**कृ**) **चर्करीति-चरिकरीति-चरीकरीति, चर्कर्ति-चरिकर्ति-चरीकर्ति** =बार बार करता है।[4]
१४. (**नृत्**) **नर्नृतीति-नरिनृतीति-नरीनृतीति, नर्नर्ति-नरिनर्ति-नरीनर्ति** =बार बार नाचता है।

---

१. विरोधी के प्रवृत्त होने पर भी जिस की प्राप्ति बनी रहे उसे नित्य कहते हैं। यथा यहां यदि वुक् का विरोधी गुण प्रवृत्त हो भी जाये तो भी वुक् की प्राप्ति बनी रहती है अतः वुक् नित्य है। परन्तु इधर यदि वुक् कर दें तो गुण नहीं हो सकता अतः गुण अनित्य है।

२. अभ्यस्ताश्रयो जुस् (४४७), नित्यत्वाद् वुक् (३९३)।

३. 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके (६२७) इति लघूपधगुणनिषेधः।

४. यङ्लुक्प्रक्रिया में ऋदुपध या ऋदन्त धातुओं के अभ्यास को रुक्, रिक् तथा रीक् के आगम हो जाते हैं—**रुग्रिकौ च लुकि** (७.४.९१), **ऋतश्च** (७.४.९२)।

१५. (तॄ) तातरीति-तार्तति[1]=बार बार तैरता है ।

१६. (वृत्) वर्वृतीति-वरिवृतीति-वरीवृतीति
वर्वर्ति-वरिवर्ति-वरीवर्ति } =बार बार होता है ।

१७. (ज्ञा) जाज्ञेति-जाज्ञाति—बार बार जानता है ।

१८. (द्विष्) देद्विषीति-देद्वेष्टि—बार बार द्वेष करता है ।

१९. (मुद्) मोमुदीति-मोमोत्ति—बार बार प्रसन्न होता है ।

२०. (लिह्) लेलिहीति-लेलेढि—बार बार चाटता है ।

इति यङ्लुगन्तप्रक्रिया

(यहां पर यङ्लुगन्तप्रक्रिया समाप्त होती है)

अथ नामधातवः

(Denominatives or Nominal Verbs)

अब तिङन्तप्रकरण में नामधातु प्रक्रिया का प्रारम्भ किया जाता है । इस प्रकरण में नाम अर्थात् सुबन्त या प्रातिपदिक से धातु बनाने की विधि बताई गई है; अतः इस प्रकरण को नामधातुप्रकरण कहते हैं । जैसे हिन्दी में हाथ से 'हथियाना', पत्थर से 'पत्थराना', धिक्कार से 'धिक्कारना', फिल्म से 'फिल्माना', बड़बड़ से 'बड़बड़ाना', अपना से 'अपनाना' इत्यादि प्रकारेण शब्दों से क्रियाएं बनती हैं वैसे संस्कृत में भी पुत्र से 'पुत्रीयति' (अपने लिये पुत्र चाहता है), जल से 'जलायते' (जल की तरह आचरण करता है), शिला से 'शिलायते' (शिला की तरह आचरण करता है), शब्द से 'शब्दायते' (शब्द करता है), कृष्ण से 'कृष्णति' (कृष्ण की तरह आचरण करता है), विष्णु से 'विष्णूयति' (विष्णु समझ कर व्यवहार करता है) इत्यादिप्रकारेण नाम से तिङन्तरूप बनाये जाते हैं ।

अब सर्वप्रथम नामधातुप्रकरण में सुप्रसिद्ध क्यच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७२०) सुप आत्मनः क्यच् ।३।१।८।।

इषिकर्मण एषितुः सम्बन्धिनः सुबन्ताद् इच्छायामर्थे क्यच् प्रत्ययो वा स्यात् ।।

अर्थः—इष् (चाहना) धातु के कर्म तथा इच्छुक के सम्बन्धी सुबन्त से 'चाहना' अर्थ में विकल्प से क्यच् प्रत्यय हो ।

---

१. कुछ लोग 'तरीतर्ति' रूप लिखा करते हैं वे चिन्त्य हैं; क्योंकि तॄ धातु न तो ऋदुपध है और न ही ऋदन्त, अतः रुक्-रिक्-रीक् किसी आगम का प्रश्न ही नहीं उठता ।

व्याख्या—सुपः ।५।१। आत्मनः ।६।१। क्यच् ।१।१। 'प्रत्ययः, परश्च' दोनों अधिकृत हैं । कर्मणः, इच्छायाम्, वा—इन पदों का 'धातोः कर्मणः०' (७०५) सूत्र से अनुवर्त्तन होता है । 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' परिभाषा के अनुसार 'सुपः' से तदन्तविधि होकर 'सुबन्तात्' बन जाता है । इस सूत्र में 'आत्मन्' शब्द 'स्व' (अपना) का वाचक है । 'इच्छायाम्' के सन्निहित होने से आत्मन् (स्व=अपना) शब्द से इच्छा करने वाले का तथा 'कर्मणः' से इष् धातु के कर्म का ग्रहण किया जाता है । अर्थः—(कर्मणः) इष् धातु के कर्म (आत्मनः) तथा इच्छा करने वाले के सम्बन्धी (सुपः=सुबन्तात्) सुबन्त से (इच्छायाम्) 'चाहना' अर्थ में (वा) विकल्प से (क्यच् प्रत्ययः) क्यच् प्रत्यय हो जाता है । क्यच् प्रत्यय के ककार की 'लशक्वतद्धिते' (१३६) से तथा चकार की 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञा होकर लोप हो जाता है अतः 'य' यह शेष बचता है[1] ।

इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि चाहने वाला व्यक्ति यदि अपने लिये कोई वस्तु चाहता है तो इस अर्थ को प्रकट करने के लिये अभीष्ट वस्तु के वाचक सुबन्त से वैकल्पिक क्यच् प्रत्यय हो जाता है । यथा—आत्मनः पुत्रम् इच्छति—पुत्रीयति (अपने लिये पुत्र चाहता है); यहां 'पुत्रम्' यह अभीष्ट वस्तुवाचक सुबन्त है, यह सुबन्त 'इच्छति' का कर्म है किञ्च यह चाहने वाले का सम्बन्धी भी है क्योंकि चाहने वाला इसे अपने लिये चाह रहा है अतः 'पुत्रम्' से वैकल्पिक क्यच् प्रत्यय हो कर वक्ष्यमाणप्रकार से 'पुत्रीयति' रूप सिद्ध होता है । क्यच्प्रत्यय वैकल्पिक है अतः पक्ष में 'आत्मनः पुत्रमिच्छति' इस वाक्य का भी प्रयोग हो सकेगा । ध्यान रहे कि चाहने वाला यदि दूसरे के लिये किसी वस्तु की कामना करेगा तो क्यच् प्रत्यय न होगा । यथा—राज्ञः पुत्रमिच्छति (राजा के लिये पुत्र चाहता है) यहां पुत्र को राजा के लिये चाहा जाता है अपने लिये नहीं, अतः क्यच् नहीं होता ।

'पुत्रम्' इस सुँबन्त से क्यच् प्रत्यय करना है । 'पुत्रम्' यह परिनिष्ठित अवस्था में है । व्याकरण की प्रक्रिया अपरिनिष्ठित अवस्था में हुआ करती है । अतः इस के

---

१. 'नः क्ये' (७२३) सूत्र में 'क्य' से क्यच् और क्यङ् दोनों का ग्रहण हो सके इसलिये क्यच् में ककार अनुबन्ध जोड़ा गया है । चकार अनुबन्ध जोड़ने का प्रयोजन यह है कि यह भी दो अनुबन्धों वाला हो जाये अन्यथा 'एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य' (एक अनुबन्ध वाले का ग्रहण हो तो दो अनुबन्ध वाले का ग्रहण नहीं होता) इस परिभाषा से 'नः क्ये' में केवल क्यच् का ही ग्रहण होता क्यङ् का नहीं । क्यच् का 'य' यह सस्वर शेष रहता है, अनुनासिक न होने से इस के अकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती । यद्यपि सार्वधातुकप्रत्ययों में 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप तथा आर्धधातुकप्रत्ययों में 'अतो लोपः' (४७०) से अकार का लोप करना पड़ता है तथापि यदि यह सस्वर न होता तो 'आत्मनो मृदमिच्छति स्म—मृद्याञ्चकार' इत्यादि में 'मृद्य्' के अनेकाच् न होने से आम् न हो सकता अतः इसे सस्वर विधान किया गया है ।

कच्चे रूप 'पुत्र+अम्' से क्यच् प्रत्यय किया जायेगा—पुत्र+अम्+क्यच्=पुत्र+अम्+य। अब 'सनाद्यन्ता धातवः' (४६८) से समूचे क्यजन्त की धातुसञ्ज्ञा होकर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७२१) सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः।२।४।७१॥

एतयोरवयवस्य सुपो लुक् ॥

अर्थः—धातु और प्रातिपदिक के अवयव सुँप् का लुक् हो।

व्याख्या—सुँपः।६।१। धातु-प्रातिपदिकयोः।६।२। लुक्।१।१।(**'ण्यक्षत्रियार्ष०'** से)। अर्थः—(धातुप्रातिपदिकयोः) धातु अथवा प्रातिपदिक के अवयव (सुँपः) सुँप् का (लुक्) लुक् हो जाता है। **'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः'** (१८६) के अनुसार प्रत्यय के अदर्शन की लुक्सञ्ज्ञा की गई है अतः यहां सम्पूर्ण सुँप् प्रत्यय का लुक् होगा अलोऽन्त्य-विधि प्रवृत्त न होगी। प्रातिपदिक के अवयव सुँप् के लुक् के उदाहरण 'राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः' आदि आगे समासप्रकरण में देखें[1]।

'पुत्र+अम्+य' इस समूचे समुदाय की धातुसञ्ज्ञा की जा चुकी है। अतः इस धातु के अवयव 'अम्' का लुक् हो जाता है—पुत्र+य। अब यहां पर **'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः'** (४८३) से दीर्घ प्राप्त होता है। इस पर इस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७२२) क्यचि च।७।४।३३॥

अवर्णस्य ईः। आत्मनः पुत्रमिच्छति—पुत्रीयति ॥

अर्थः—क्यच् परे होने पर अवर्ण के स्थान पर ईकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—क्यचि।७।१। च इत्यव्ययपदम्। अस्य।६।१।(**'अस्य च्वौ'** से) ई। १।१। (**'ई घ्राध्मोः'** से। लुप्तविभक्तिको निर्देशः)। अर्थः—(क्यचि) क्यच् परे हो तो (अस्य) अवर्ण के स्थान पर (ई) ईकार आदेश होता है। यहां 'अस्य' कहा गया है तपर नहीं किया गया अतः ह्रस्व या दीर्घ दोनों प्रकार के अवर्णों के स्थान पर ईकार हो जायेगा (दीर्घ के उदाहरण—आत्मनो मालामिच्छति—मालीयति आदि हैं)।

'पुत्र+य' यहां पर क्यच् परे है अतः पुत्रशब्द के अन्त्य अकार को ईकार होकर 'पुत्रीय' यह क्यजन्त धातु निष्पन्न हुई। अब इस से कर्तृ आदि की विवक्षा में लँट् आदियों की उत्पत्ति होती है। आत्मनेपद के निमित्तों से हीन होने के कारण **'शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्'** (३८०) से परस्मैपद का प्रयोग होता है। लँट् प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप् और **'अतो गुणे'** (२७४) से पररूप होकर 'पुत्रीयति' रूप सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—

---

१. राम+सुँ=रामः, हरि+सुँ=हरिः, इन में प्रातिपदिक से परे सुँप्-सुँ का लुक् क्यों नहीं होता? समाधान स्पष्ट है कि इन में सुँप् प्रत्यय प्रातिपदिक से परे किया गया है प्रातिपदिक का अवयव नहीं, अतः सुँप् का लुक् नहीं हुआ।

लँट्—**पुत्रीयति, पुत्रीयतः, पुत्रीयन्ति**। लिँट्—में धातु के अनेकाच् होने से आम् प्रत्यय होकर **'अतो लोपः'** (४७०) से अकार का लोप हो जाता है—**पुत्रीयाञ्चकार-पुत्रीयाम्बभूव-पुत्रीयामास** आदि। लुँट्—**पुत्रीयिता**। लृँट्—**पुत्रीयिष्यति**। लोँट्—**पुत्रीयतु-पुत्रीयतात्**। लँङ्—**अपुत्रीयत्**। वि० लिँङ्—**पुत्रीयेत्**। आ० लिँङ्—**पुत्रीय्यात्**। लुँङ्—**अपुत्रीयीत्**। लृँङ्—**अपुत्रीयिष्यत्**।

नोट—साहित्य में नामधातुओं के प्रायः लँट् लकार के रूप ही पाये जाते हैं।

अब इस प्रकरण में उपयोगी पदसञ्ज्ञा के नियम का विधान करते हैं—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—(७२३) **नः क्ये** ।१।४।१५।।

क्यचि क्यङि च नान्तमेव पदं नान्यत्। नलोपः। राजीयति। नान्तमेवेति किम्? वाच्यति। **हलि च** (६१२)—गीर्यति, पूर्यति। धातोरित्येव, नेह—दिवमिच्छति—दिव्यति।।

अर्थः—क्यच् अथवा क्यङ् परे होने पर नकारान्त ही पदसञ्ज्ञक हो अन्य नहीं।

व्याख्या—नः।१।१। (नकारादकार उच्चारणार्थः)। क्ये। ७।१। पदम्।१।१। (**'सुँप्तिङन्तं पदम्'** से)। शब्दानुशासन का अधिकार होने से 'शब्दस्वरूपम्' उपलब्ध हो जाता है। 'नः' को 'शब्दस्वरूपम्' का विशेषण बना कर तदन्तविधि करने से 'नान्तं शब्दस्वरूपम्' उपलब्ध हो जाता है। 'क्य' से क्यच्, क्यङ् और क्यष् तीनों का ग्रहण हो सकता है परन्तु क्यष् प्रत्यय से पूर्व कभी नकारान्त शब्द सम्भव नहीं अतः उसे छोड़ शेष क्यच् और क्यङ् का ग्रहण किया जाता है। अर्थः—(क्ये) क्यच् अथवा क्यङ् परे हो तो (नान्तं शब्दस्वरूपम्) नकारान्त शब्दस्वरूप (पदम्) पदसञ्ज्ञक होता है। क्यच् अथवा क्यङ् परे होने पर सुँप्विभक्ति का लुक् होने के कारण नकारान्त शब्द स्वतः ही प्रत्ययलक्षण द्वारा **'सुँप्तिङन्तं पदम्'** (१४) से पदसञ्ज्ञक हुआ करता है पुनः इस सूत्र से पदसञ्ज्ञा के विधान की आवश्यकता ही क्या है? इस का उत्तर यह है कि **'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः'** अर्थात् जब कोई कार्य सिद्ध होने पर भी विधान किया जाता है तो वह नियमार्थ हो जाता है। यह सूत्र भी नियमार्थ है—क्यच् या क्यङ् परे होने पर नकारान्त शब्द ही पदसञ्ज्ञक होते हैं अन्य शब्द नहीं—यह नियम यहां उपलब्ध होता है। उदाहरण यथा—

वाच्यति—आत्मनो वाचमिच्छति—वाच्यति (अपने लिये वाणी चाहता है)। यहां 'वाच्+अम्' इस सुँबन्त से **'सुँप आत्मनः क्यच्'** (७२०) द्वारा क्यच् प्रत्यय, धातुसञ्ज्ञा और धातु के अवयव सुँप् का लुक् करने पर 'वाच्+य' हुआ। अब यहां लुप्त हुई विभक्ति को मान कर यदि 'वाच्' शब्द की पदसञ्ज्ञा करते हैं तो **'चोः कुः'** (३०६) से चकार को ककार तथा **'झलां जशोऽन्ते'** (६७) से ककार को गकार हो कर अनिष्ट रूप बन जाता है। परन्तु अब इस नियम के कारण इस की पदसञ्ज्ञा नहीं होती अतः कुत्व-जश्त्व नहीं होते। तब लँट् प्र० पु० के एकवचन में 'वाच्यति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार इस नियम के कारण

'आत्मनस्तप इच्छति—तपस्यति' इत्यादियों में ईत्व नहीं होता ।

राजीयति—आत्मनो राजानमिच्छति—राजीयति (अपने लिये राजा चाहता है)। यहां 'राजन्+अम्' से क्यच् हो कर धातुसञ्ज्ञा तथा सुँब्लुक् करने पर 'राजन्+य' हुआ । राजन् शब्द नकारान्त है अतः '**नः क्ये**' (७२३) के नियम से प्रभावित नहीं होता, इस की पदसञ्ज्ञा प्रत्ययलक्षण द्वारा अक्षुण्ण रहती है । तब पदत्व के कारण '**नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य**' (१८०) से नकार का लोप हो कर '**क्यचि च**' (७२२) से अकार को ईत्व करने से लँट् प्र० पु० के एकवचन में 'राजीयति' प्रयोग सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि यहां ईत्व (७.४.३३) करने में नकार का लोप (८.२.७) असिद्ध नहीं होता क्योंकि '**नलोपः सुँप्स्वरसञ्ज्ञातुँग्विधिषु कृति**' (२८२) से सुँब्विधि आदि में ही उस को असिद्ध माना गया है अन्यत्र उस की सिद्धता है ।

गीर्यति—आत्मनो गिरम् इच्छति—गीर्यति (अपने लिये वाणी चाहता है)। यहां 'गिर्+अम्' इस सुँबन्त से पूर्ववत् क्यच्, धातुसञ्ज्ञा तथा सुँब्लुक् हो कर 'गिर्+य' हुआ । अब '**हलि च**' (६१२) से रेफान्त धातु गिर् की उपधा को दीर्घ करने पर 'गीर्य' बना । इस प्रकार लँट् प्र० पु० के एकवचन में 'गीर्यति' प्रयोग सिद्ध होता है ।

पूर्यति—आत्मनः पुरमिच्छति—पूर्यति (अपने लिये पुर्=नगर चाहता है)। यहां भी पूर्ववत् 'पुर्+अम्' से क्यच् प्रत्यय हो कर सिद्धि होती है । '**हलि च**' (६१२) से यहां भी दीर्घ हो जाता है ।

दिव्यति—आत्मनो दिवमिच्छति—दिव्यति (अपने लिये स्वर्ग चाहता है) । यहां पर 'दिव्+अम्' से क्यच् तथा सुँब्लुक् करने पर—दिव्+य । अब यहां '**हलि च**'(६१२) से दीर्घ नहीं हो सकता, क्योंकि वह रेफान्त या वकारान्त धातु की उपधा को दीर्घ करता है यहां 'दिव्' शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है । लँट् प्र० पु० के एकवचन में 'दिव्यति' प्रयोग सिद्ध होता है ।

नोट—गिर् और पुर् शब्द गॄ और पॄ धातुओं से क्विप् प्रत्यय करने पर सिद्ध होते हैं । प्रातिपदिक बन जाने पर भी '**क्विँबन्ता विँजन्ता विँडन्ताः शब्दा धातुत्वं न जहति**' (५०) के अनुसार उन का धातुत्व अक्षुण्ण रहता है अतः क्यच् में '**हलि च**' (६१२) से दीर्घ हो जाता है । परन्तु दिव् शब्द क्विबन्त नहीं (दिव् धातु से क्विप् करें तो 'द्यू' शब्द बनेगा) अतः धातुत्व न होने से उस में दीर्घ नहीं होता ।

समिध्यति—आत्मनः समिधमिच्छति—समिध्यति (अपने लिये समिधा चाहता है) । यहां 'समिध्+अम्' इस सुँबन्त से पूर्ववत् क्यच् प्रत्यय तथा सुँब्लुक् होकर 'समिध्+य' इस स्थिति में '**नः क्ये**' (७२३) इस नियमानुसार पदसञ्ज्ञा न होने से '**झलां जशोऽन्ते**'(६७) द्वारा जश्त्व नहीं होता । तब लँट् प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप् और '**अतो गुणे**'(२७४) से पररूप करने पर 'समिध्यति' प्रयोग सिद्ध होता है ।

लुँट् आदि आर्धधातुक प्रत्ययों में 'समिध्+य+इता' इस स्थिति में '**यस्य हलः**' (७१५) द्वारा यकार का नित्य-लोप प्राप्त होता है । इस पर अग्रिमसूत्र द्वारा विकल्प का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७२४) क्यस्य विभाषा ।६।४।५०।।

हलः परयोः क्यच्क्यङोर्लोपो वाऽऽर्धधातुके । **आदेः परस्य (७२)। अतो लोपः** (४७०) । तस्य स्थानिवत्त्वाल्लघूपधगुणो न । समिधिता, समिध्यिता ।।

अर्थः—हल् से परे क्यच् और क्यङ् का विकल्प से लोप हो आर्धधातुक परे हो तो ।

व्याख्या—क्यस्य ।६।१। विभाषा ।१।१। हलः ।५।१। (**'यस्य हलः'** से)। लोपः । १।१। (**'अतो लोपः'** से)। आर्धधातुके ।७।१। (यह अधिकृत है) । **अर्थः**—(हलः) हल् से परे (क्यस्य) 'क्य' का (विभाषा) विकल्प से (लोपः) लोप हो जाता है (आर्धधातुके) आर्धधातुक परे हो तो । 'क्य' यह सामान्य निर्देश है अतः क्यच् और क्यङ् दोनों का ग्रहण समझना चाहिये । हल् से परे क्यष् का आना सम्भव नहीं अतः ग्रन्थकार ने उस का निर्देश नहीं किया । **'यस्य हलः'** (७१५) से नित्य-लोप प्राप्त था उस का यहां विकल्प किया गया है । यह सूत्र सम्पूर्ण सस्वर 'य' का लोप विधान करता है परन्तु **'आदेः परस्य'** (७२) परिभाषा से उस के आदि 'य्' का ही लोप किया जाता है । शेष बचे अकार का भी **'अतो लोपः'** (२७४) से लोप हो जाता है । इस प्रकार समग्र 'य' लुप्त हो जाता है ।

'समिध्+य+इता' यहां हल्-धकार से परे प्रकृतसूत्र से क्यच् के यकार का लोप हो कर अवशिष्ट अकार का भी **'अतो लोपः'** (२७४) से लोप हो जाता है—समिध्+इता । अब **'पुगन्तलघूपधस्य च'** (४५१) से लघूपधगुण प्राप्त होता है परन्तु अकार के लोप को **'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ'** (६९६) द्वारा स्थानिवत् मान लेने से लघूपध न रहने के कारण वह नहीं हो सकता । अतः यकारलोपपक्ष में 'समिधिता' प्रयोग सिद्ध होता है । जहां यकार का लोप नहीं होता वहां पर **'अतो लोपः'** (२७४) द्वारा केवल अकार का ही लोप हो जाता है—समिध्यिता । इसी प्रकार अन्य आर्धधातुक प्रत्ययों में प्रक्रिया जाननी चाहिये । 'समिध्य' धातु की रूपमाला यथा—

लँट्—**समिध्यति** । लिँट्—(यलोपपक्षे) **समिधाञ्चकार-समिधाम्बभूव-समिधामास** । (यलोपाभावे) **समिध्याञ्चकार-समिध्याम्बभूव-समिध्यामास** । लुँट्—**समिधिता-समिध्यिता** । लृँट्—**समिधिष्यति-समिध्यिष्यति** । लोँट्—**समिध्यतु-समिध्यतात्** । लँङ्—**असमिध्यत्** । वि० लिँङ्—**समिध्येत्** । आ० लिँङ्—**समिध्यात्, समिध्य्यात्** । लुँङ्—**असमिधीत्-असमिध्यीत्** । लृँङ्—**असमिधिष्यत्-असमिध्यिष्यत्** ।

इसी प्रकार आर्धधातुक प्रत्ययों में पूर्वोक्त वाच्य, गीर्य, पूर्य, दिव्य इन धातुओं के भी यकार का वैकल्पिक लोप हो जायेगा—वाचिता-वाच्यिता; वाचिष्यति-वाच्यिष्यति आदि ।

अब नामधातु प्रकरण के दूसरे प्रसिद्ध प्रत्यय काम्यच् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७२५) काम्यच्च ।३।१।९।।

उक्तविषये काम्यच् स्यात् । पुत्रम् आत्मन इच्छति—पुत्रकाम्यति । पुत्रकाम्यिता ॥

अर्थः—इष् (चाहना) धातु के कर्म तथा इच्छुक के सम्बन्धी सुबन्त से 'चाहना' अर्थ में विकल्प से काम्यच् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—काम्यच् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । सुँपः ।५।१। आत्मनः ।५।१। (**'सुँप आत्मनः क्यच्'** से) । कर्मणः ।५।१। इच्छायाम् ।७।१। वा इत्यव्ययपदम् (**'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा'** से) । इस सूत्र की व्याख्या भी **'सुँप आत्मनः क्यच्'** (७२०) सूत्र की तरह समझनी चाहिये । अर्थः—(कर्मणः) इष् धातु के कर्म तथा (आत्मनः) इच्छुक के सम्बन्धी (सुँपः=सुँबन्तात्) सुँबन्त से (इच्छायाम्) 'इच्छा करना' अर्थ में (वा) विकल्प से (काम्यच्) काम्यच् प्रत्यय (च) भी हो जाता है । काम्यच् का अन्त्य चकार **'हलन्त्यम्'** (१) से इत्सञ्ज्ञक है परन्तु ककार की प्रयोजनाभाव से इत्सञ्ज्ञा नहीं की जाती । अतः 'काम्य' ही अवशिष्ट रहता है ।

पुत्रकाम्यति—आत्मनः पुत्रमिच्छति—पुत्रकाम्यति (अपने लिये पुत्र चाहता है) । यहां पर 'पुत्र+अम्' इस सुँबन्त से 'इच्छा करना' अर्थ में प्रकृत सूत्र से काम्यच् प्रत्यय, **'सनाद्यन्ता धातवः'** (४६८) से धातुसञ्ज्ञा तथा **'सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः'** (७२१) से सुँप्-अम् का लुक् करने पर 'पुत्रकाम्य' यह काम्यच्प्रत्ययान्त धातु निष्पन्न होती है । अब इस से कर्तृवाच्य के लँट् प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप् और पररूप करने से 'पुत्रकाम्यति' रूप सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि यहां क्यच् के न होने से **'क्यचि च'** (७२२) द्वारा ईत्व नहीं होता । रूपमाला यथा—

लँट्—**पुत्रकाम्यति** । लिँट्—**पुत्रकाम्याञ्चकार-पुत्रकाम्याम्बभूव-पुत्रकाम्यामास** आदि । लुँट्—**पुत्रकाम्यिता** । लृँट्—**पुत्रकाम्यिष्यति** । लोँट्—**पुत्रकाम्यतु-पुत्रकाम्यतात्** । लँङ्—**अपुत्रकाम्यत्** । वि० लिँङ्—**पुत्रकाम्येत्** । आ० लिँङ्—**पुत्रकाम्य्यात्** । लुँङ्—**अपुत्रकाम्यीत्** । लृँङ्—**अपुत्रकाम्यिष्यत्** ।

नोट—लुँट् के 'पुत्रकाम्य+इता' आदि में 'क्य' न रहने से **'क्यस्य विभाषा'** (७२४) के विकल्प की प्रवृत्ति नहीं होती । किञ्च **'यस्य हलः'** (७१५) से यकार का नित्यलोप भी नहीं होता । इस का कारण यह है कि वहां सङ्घात 'य' का ग्रहण किया गया है । क्यच् और क्यङ् में सङ्घात 'य' अर्थवान् और यहां काम्यच् में प्रत्यय का एकदेश होने से वह अनर्थक है, जैसा कि कहा है—**समुदायो ह्यर्थवान् तस्यैकदेशोऽनर्थकः** । अर्थवान् और अनर्थक के मध्य अर्थवान् का ही ग्रहण उचित होता है—**'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य'** । अतः यहां यकारलोप न हो कर **'अतो लोपः'** (४७०) से अकार का लोप करने पर यथेष्ट रूप सिद्ध होता है ।

ध्यान रहे कि 'अपने लिये चाहना' अर्थ को हम तीन प्रकार से प्रकट कर सकते हैं—(१) क्यच् प्रत्यय के द्वारा (यथा—पुत्रीयति); (२) काम्यच् प्रत्यय के द्वारा (यथा—पुत्रकाम्यति); (३) वाक्य के द्वारा (यथा—आत्मनः पुत्रमिच्छति) ।

अब आचारार्थक प्रत्ययों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (७२६) उपमानादाचारे ।३।१।१०।।

उपमानात् कर्मणः सुँबन्ताद् आचारेऽर्थे क्यच् स्यात्। पुत्रमिवाचरति—पुत्रीयति छात्रम् । विष्णूयति द्विजम् ।।

अर्थः—उपमानवाची कर्म सुँबन्त से 'आचार' अर्थ में विकल्प से क्यच् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—उपमानात् ।५।१। आचारे ।७।१। सुँपः ।५।१। क्यच् ।१।१। (**'सुँप आत्मनः क्यच्'** से)। कर्मणः ।५।१। वा इत्यव्ययपदम् (**'धातोः कर्मणः०'** से) । अर्थः—(उपमानात्) उपमानवाचक[1] (कर्मणः) कर्म (सुँपः=सुँबन्तात्) सुँबन्त से (आचारे) आचरण करना—व्यवहार करना—बर्त्ताव करना अर्थ में (वा) विकल्प से (क्यच्) क्यच् प्रत्यय होता है ।

पीछे **'सुँप आत्मनः क्यच्'** (७२०) द्वारा इच्छा अर्थ में क्यच् कहा गया था, अब आचार अर्थ में क्यच् कहा जाता है । प्रत्यय और प्रक्रिया के एक होने पर भी अर्थ का भेद है । अतः पहले को इच्छाक्यच् और इसे आचारक्यच् कहा जाता है । प्रकरण में जहां जिस का अर्थ ठीक बैठता है वहां उसी का ग्रहण किया जाता है ।

पुत्रमिव आचरति—पुत्रीयति शिष्यम् (शिष्य को पुत्र की तरह आचरण करता है अर्थात् शिष्य के साथ पुत्र का सा व्यवहार करता है) । यहां पर 'पुत्र+अम्' यह उपमानवाचक सुँबन्त है तथा आचरणक्रिया का कर्म भी है अतः प्रकृतसूत्र के द्वारा इस से क्यच् प्रत्यय हो कर पूर्ववत् धातुसञ्ज्ञा, सुँप् का लुक् तथा **'क्यचि च'** (७२२) से ईत्व करने पर लँट् प्र० पु० के एकवचन में 'पुत्रीयति' प्रयोग सिद्ध होता है । 'वा' का अनुवर्त्तन करने से पक्ष में वाक्य भी रहेगा [ध्यान रहे कि मूलवृत्ति में 'वा' लिखना छूट गया है] ।

विष्णुमिव आचरति—विष्णूयति द्विजम् (ब्राह्मण के साथ विष्णु की तरह आचरण करता है अर्थात् ब्राह्मण को विष्णुभगवान् समझ कर पूजता है) । यहां भी पूर्ववत् 'विष्णु+अम्' यह सुँबन्त उपमानवाचक है तथा आचरणक्रिया का कर्म भी है अतः प्रकृतसूत्र से क्यच् प्रत्यय होकर धातुसञ्ज्ञा, सुँब्लुक् तथा **'अकृत्सार्वधातु०'** (४८३) से दीर्घ करने पर लँट् प्र० पु० के एकवचन में 'विष्णूयति' प्रयोग सिद्ध होता है । याद रहे कि यहां अकार के न होने से **'क्यचि च'** (७२२) द्वारा ईत्व नहीं हुआ ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण—

मातरमिव आचरति—मात्रीयति[2] परकलत्रम् (दूसरे की स्त्री को माता के

---

१. उपमीयतेऽनेनेत्युपमानम् । जिस से उपमा दी जाती है उसे उपमान कहते हैं । जैसे—छात्त्रं पुत्रमिवाचरति (छात्त्र को पुत्र की तरह समझता है) यहां 'पुत्र' उपमान है ।

२. **'रीङ् ऋतः'** (१०४२) से मातृ शब्द के ऋकार को रीङ् आदेश हो जाता है।

समान समझता है); शिवमिव आचरति—शिवीयति विष्णुम् (विष्णु को शिव की तरह मानता है); प्रावारम् इवाचरति—प्रावारीयति कम्बलम् (कम्बल का उत्तरीय-वस्त्र के समान प्रयोग करता है) । गर्दभमिवाचरति—गर्दभीयति अश्वम् (घोड़े के साथ गधे का सा व्यवहार करता है) ।

वार्त्तिककार कात्यायनमुनि ने कर्मकारक की तरह उपमानवाचक अधिकरण से भी आचार अर्थ में क्यच् की प्रवृत्ति स्वीकार की है[1]—प्रासादे इवाचरति—प्रासादीयति कुट्यां भिक्षुः (भिक्षुक कुटिया में महल की तरह रहता है) ।

अब अग्रिमवार्त्तिक द्वारा आचार अर्थ में क्विँप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(४५) सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विँब्वा वक्तव्यः ।।

अतो गुणे (२७४) । कृष्ण इवाचरति—कृष्णति । स्व इवाचरति—स्वति । सस्वौ ।।

अर्थः—उपमानवाचक सभी प्रातिपदिकों से आचार अर्थ में विकल्प से क्विँप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—यह वार्त्तिक '**कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च**' (३.१.११) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है, अतः यहां उपमानवाचक कर्त्ता से क्विँप् का विधान समझना चाहिये । यह वार्त्तिक सुँबन्त से प्रत्यय का विधान नहीं करता अपितु प्रातिपदिक से करता है अतः '**सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः**'(७२१) से सुँब्लुक् करने की आवश्यकता नहीं पड़ती । इस से यहां पदकार्य नहीं होते[2] । क्विँप्प्रत्यय का सर्वापहार लोप हो जाता है[3] । क्विँप्प्रत्यय का लोप हो जाने पर वही प्रातिपदिक '**सनाद्यन्ता धातवः**' (४६८) से धातुसञ्ज्ञक बन जाता है ।

कृष्ण इवाऽऽचरति–कृष्णति नटः (नट कृष्णवत् आचरण करता है) । यहां उपमानवाचक कर्तृप्रातिपदिक 'कृष्ण' शब्द से 'आचरण करना' अर्थ में प्रकृतवार्तिक से क्विंप् प्रत्यय कर उस का सर्वापहारलोप करने से 'कृष्ण' यह क्विँबन्त धातु निष्पन्न हो जाती है । अब इस से लँट् प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप् और '**अतो गुणे**' (२७४) से पररूप करने पर 'कृष्णति' प्रयोग सिद्ध होता है । रूपमाला यथा–लँट्–**कृष्णति** । लिँट्–**कृष्णाञ्चकार–कृष्णाम्बभूव–कृष्णामास** । लुँट्–**कृष्णिता** । लृँट्–**कृष्णिष्यति** । लोट्ँ–**कृष्णतु–कृष्णतात्** । लँङ्–**अकृष्णत्** । वि० लिँङ्–**कृष्णेत्** । आ० लिँङ्–**कृष्ण्यात्** । लुँङ्–**अकृष्णीत्** । लृँङ्– **अकृष्णिष्यत्** ।

---

१. **अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्** (वा०)

२. यथा–राजेवाचरति राजानति, यहां '**नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य**' (१८०) से नकार का लोप नहीं होता । त्वगिवाचरति त्वचति, यहां कुत्व नहीं होता ।

३. क्विँप् का ककार '**लशक्वतद्धिते**' (१३६) द्वारा तथा पकार '**हलन्त्यम्**' (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञक होकर लुप्त हो जाता है । इकार उच्चारणार्थक है । शेष बचे अपृक्त वकार का '**वेरपृक्तस्य**' (३०३) से लोप हो जाता है ।

नोट—यह क्विप् उपमानवाची कर्म से नहीं हुआ अतः 'कृष्णति भक्तम्' आदि प्रयोग अशुद्ध हैं। कृष्णति नटः, कृष्णति शिशुः इत्यादिप्रकारेण कर्तृप्रयोग ही शुद्ध हैं।

स्व इवाऽऽचरति—स्वति (अपनी तरह आचरण करता है)। यहां पर उपमानवाची कर्तृप्रातिपदिक 'स्व' शब्द से 'आचरण करना' अर्थ में प्रकृतवार्त्तिक से क्विप् प्रत्यय, उस का सर्वापहारलोप तथा पूर्ववत् धातुसञ्ज्ञा कर लँट् प्र० पु० के एकबचन में तिप्, शप् और पररूप करने से 'स्वति' प्रयोग सिद्ध होता है। लिँट् में 'स्व' धातु के अनेकाच् न होने से आम् न होगा। प्र० पु० के एकवचन में तिप् को णल् तथा अभ्यासकार्य होकर 'स+स्व+अ' इस स्थिति में **'अचो ञ्णिति'** (१८२) से अकार को आकार वृद्धि और **'आत औ णलः'** (४८८) से णल् को औकार आदेश कर **'वृद्धिरेचि'** (३३) से वृद्धि एकादेश करने से 'सस्वौ' प्रयोग सिद्ध होता है[1]। अतुस् आदि में 'सस्व+अतुस्' इस स्थिति में **'अतो लोपः'** (४७०) से अकार का लोप हो जाता है—**सस्वौ, सस्वतुः, सस्वुः। सस्विथ, सस्वथुः, सस्व। सस्वौ-सस्व, सस्विव, सस्विम।** लुँट् आदि आर्धधातुक प्रत्ययों में सर्वत्र **'अतो लोपः'** (४७०) से अत् का लोप हो जाता है। लुँट्—**स्विता**। लृँट्—**स्विष्यति**। लोँट्—**स्वतु-स्वतात्**। लँङ्—**अस्वत्**। वि० लिँङ्—**स्वेत्**। आ० लिँङ्—**स्व्यात्**। लुँङ्—**अस्वीत्, अस्विष्टाम्, अस्विषुः**। लृँङ्—**अस्विष्यत्**।

इदम् इवाऽऽचरति—इदामति (इस की तरह आचरण करता है)। 'इदम्' शब्द से पूर्वोक्त वार्तिक द्वारा आचार अर्थ में क्विप्प्रत्यय होकर उस का सर्वापहारलोप हो जाता है। इस प्रकार 'इदम्' यह क्विबन्त धातु बन जाती है अब इस में अग्रिमसूत्र द्वारा उपधादीर्घ का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—

(७२७) अनुनासिकस्य क्वि-झलोः क्ङिति।६।४।१५॥

अनुनासिकान्तस्योपधाया दीर्घः स्यात् क्वौ झलादौ च क्ङिति। इदमिवाऽऽचरति—इदामति। राजेव (आचरति)—राजानति। पन्था इव (आचरति)—पथीनति॥

अर्थः—क्विँ या झलादि कित् ङित् परे होने पर अनुनासिकान्तों की उपधा के स्थान पर दीर्घ हो।

व्याख्या—अनुनासिकस्य।६।१। क्विंझलोः।७।२। क्ङिति।७।१। उपधायाः।

---

१. वस्तुतः 'सस्व+अ' यहां पर **'ण्यल्लोपौ इयँङ्-यण्-गुण-वृद्धि-दीर्घेभ्यः पूर्वविप्रतिषेधेन'** इस वार्त्तिक से पर वृद्धि (७.२.११५) का भी बाध कर **'अतो लोपः'** (६.४.४८) से अत् का लोप करने से 'सस्व' प्रयोग बनता है। ध्यान रहे कि नागेशभट्ट प्रत्ययान्त धातुओं के अनेकाच् न रहने पर भी लिँट् में उन से परे आम् का विधान मानते हैं। अतः उनके मत में—स्वाञ्चकार-स्वाम्बभूव, स्वामास आदि रूप बनते हैं।

६।१। ('नोपधायाः' से)। दीर्घः ।१।१। ('ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से)। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। 'अनुनासिकस्य' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि होकर 'अनुनासिकान्तस्य अङ्गस्य' बन जायेगा। इसी प्रकार 'क्विझलोः' में 'झल्' अंश 'क्ङिति' का विशेषण है अतः तदादिविधि होकर 'झलादौ किति ङिति' हो जायेगा। अर्थः—(अनुनासिकान्तस्य अङ्गस्य) अनुनासिक वर्ण जिस के अन्त में है ऐसे अङ्ग की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है (क्विँझलोः क्ङिति) क्विँ परे हो या झलादि कित् ङित् परे हो।

झलादि कित् के उदाहरण—शम्+क्त=शम्+त=शाम्+त=शान्तः। शान्तवान्। झलादि ङित् के उदाहरण काशिका में देखें।

'इदम्' यह अनुनासिकान्त क्विँबन्त है। प्रत्ययलक्षण द्वारा इस से परे 'क्विँ' विद्यमान है। अतः प्रकृतसूत्र से इस की उपधा को दीर्घ होकर 'इदाम्' बन जाता है। अब धातुत्वात् लँट्, तिप्, शप् करने पर 'इदामति' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—लँट्—**इदामति**। लिँट्—**इदामाञ्चकार-इदामाम्बभूव-इदामामास**। लुँट्—**इदामिता**। लृँट्—**इदामिष्यति**। लोँट्—**इदामतु**। लँङ्—**ऐदामत्**। वि० लिँङ्—**इदामेत्**। आ० लिँङ्—**इदाम्यात्**। लुँङ्—**ऐदामीत्**। लृँङ्—**ऐदामिष्यत्**।

पन्था इवाचरति—पथीनति (मार्ग की तरह आचरण करता है अर्थात् जैसे मार्ग उपकार करता है वैसे उपकार करता है)। यहां पर 'पथिन्' शब्द से आचार अर्थ में **'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विँब्वा वक्तव्यः'** (वा० ४६) से क्विँप्, उस का सर्वापहार-लोप तथा **'अनुनासिकस्य क्विँझलोः क्ङिति'** (७२७) से अनुनासिकान्त की उपधा को दीर्घ करने पर 'पथीन्' यह क्विँबन्त धातु निष्पन्न होती है। इस से लँट्, तिप्, शप् हो कर 'पथीनति' प्रयोग सिद्ध होता है।

अब क्यङ् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७२८) कष्टाय क्रमणे ।३।१।१४॥

चतुर्थ्यन्तात् कष्टशब्दादुत्साहेऽर्थे क्यङ् स्यात्। कष्टाय क्रमते—कष्टायते। पापं कर्त्तुमुत्सहत इत्यर्थः॥

अर्थः—चतुर्थ्यन्त कष्टशब्द से 'उत्साह करना' अर्थ में क्यङ् प्रत्यय हो।

व्याख्या—कष्टाय ।४।१। क्रमणे ।७।१। क्यङ् ।१।१। (**'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च'** से)। वा इत्यव्ययपदम् (**'धातोः कर्मणः०'** से)। **'प्रत्ययः, परश्च'** दोनों अधिकृत हैं। 'कष्टाय' में चतुर्थ्यन्तनिर्देश के कारण चतुर्थ्यन्त कष्टशब्द से प्रत्यय का विधान माना जाता है। अर्थः—(कष्टाय) चतुर्थ्यन्त कष्ट शब्द से परे (क्रमणे) उत्साह करना अर्थ में (वा) विकल्प से (क्यङ्) क्यङ् प्रत्यय होता है। क्यङ् में ककार और ङकार इत्सञ्ज्ञक हैं, 'य' मात्र शेष रहता है। क्यङ् के ङित्त्व के कारण क्यङन्त धातु से आत्मनेपद का प्रयोग होता है।

कष्टाय क्रमते[1]—कष्टायते (पाप करने के लिये उत्साह करता है)। यहां पर 'कष्ट+ङे' इस चतुर्थ्यन्त से 'उत्साह करना' अर्थ में प्रकृतसूत्र से क्यङ्प्रत्यय, धातुत्वात् सुँब्लुक् तथा 'अकृत्सार्व०' (४८३) से दीर्घ करने पर 'कष्टाय' यह क्यङन्त धातुरूप निष्पन्न होता है। ङिदन्त होने से इस से आत्मनेपद होता है। लँट् प्र० पु० के एकवचन में त, शप्, पररूप तथा टि को एत्व (५०८) करने से 'कष्टायते' प्रयोग सिद्ध होता है।

अग्रिमसूत्रद्वारा पुनः क्यङ् प्रत्यय का विधान करते है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—

(७२९) शब्द-वैर-कलहाऽभ्र-कण्व-मेघेभ्यः करणे।३।१।१७॥

एभ्यः कर्मभ्यः करोत्यर्थे क्यङ् स्यात्। शब्दं करोति—शब्दायते॥

अर्थः—शब्द, वैर, कलह, अभ्र, कण्व और मेघ इन छः कर्मों से परे 'करना' अर्थ में क्यङ् प्रत्यय हो।

व्याख्या—शब्द-वैर-कलहाऽभ्र-कण्व-मेघेभ्यः ।५।३। करणे ।७।१। कर्मभ्यः। ५।३। (**'कर्मणो रोमन्थ०'** से वचनविपरिणाम कर)। क्यङ् ।१।१। (**'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च'** से)। वा इत्यव्ययपदम्। (**'धातोः कर्मणः०'** से)। अर्थः—(कर्मभ्यः) कर्मकारक (शब्द-वैर-कलहाऽभ्र-कण्व-मेघेभ्यः) शब्द, वैर, कलह, अभ्र, कण्व और मेघ इन छः शब्दों से परे (करणे) 'करना' अर्थ में (वा) विकल्प से (क्यङ्) क्यङ् प्रत्यय होता है। विकल्प होने से पक्ष में वाक्य रहेगा। क्यङ् के ङित्त्व के कारण आत्मनेपद का प्रयोग होगा।

शब्दं करोति—शब्दायते (शब्द करता है)। यहां 'शब्द' कर्मकारक है, इस से 'करना' अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होकर अनुबन्धलोप तथा **'अकृत्सार्व०'** (४८३) से दीर्घ करने पर 'शब्दाय' यह क्यङन्त धातुरूप निष्पन्न होता है। लँट् प्र० पु० के एकवचन में त, शप्, पररूप तथा टि को एत्व करने पर 'शब्दायते' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार—वैरं करोति—वैरायते (वैर करता है); कलहं करोति—कलहायते (झगड़ा करता है); अभ्रं करोति—अभ्रायते (बादल बनाता है); कण्वं करोति—कण्वायते (पाप करता है); मेघं करोति—मेघायते (बादल बनाता है)।

नोट—कई लोग यहां 'शब्द+अम्' इस प्रकार सुँबन्त से प्रत्यय कर **'सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः'**(७२१) से सुँप् का लुक् करते हैं। परन्तु यहां 'सुँपः' की अनुवृत्ति न होने से हम ने शब्दमात्र से प्रत्यय दिखलाया है सुँबन्त से नहीं। सुँबन्त से करने का यहाँ कुछ प्रयोजन भी नहीं है।

---

१. कष्टशब्द का यहां तात्पर्य 'पाप' से है। 'क्रमते' में **'वृत्ति-सर्ग-तायनेषु क्रमः'** (१.३.३८) द्वारा सर्ग अर्थात् उत्साह अर्थ में आत्मनेपद का प्रयोग हुआ है। 'कष्टाय' में **'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः'** (२.३.१४) से चतुर्थी विभक्ति हुई है। इस का अर्थ है—कष्टं कर्तुम्।

अब आगे एतत्प्रकरणोपयोगी दो गणसूत्रों का निर्देश करते हैं—

[लघु०] गण-सूत्रम्——तत्करोति तदाचष्टे ॥

इति णिच् ॥

अर्थः—'उसे करता है' तथा 'उसे कहता है' इन अर्थों में प्रातिपदिक से परे णिच् प्रत्यय हो[1]।

व्याख्या—पाणिनीय धातुपाठ के चुरादिगणान्तर्गत यह गणसूत्र पढ़ा गया है। इस से पूर्व वक्ष्यमाण गणसूत्र पढ़ा गया है—'**प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च**' (प्रातिपदिक से परे धातुओं के अर्थ में बहुल कर णिच् प्रत्यय हो और वह इष्ठवत् हो)। इस गणसूत्र में 'धात्वर्थे' कहा गया है। उसी धात्वर्थ को बतलाने के लिये प्रकृतसूत्र रचा गया है। अतः दोनों गणसूत्र एक दूसरे के पूरक हैं। इनके उदाहरण आगे देखें।

[लघु०] गण-सूत्रम्——प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च ॥

प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे णिच् स्यात्। इष्ठे यथा प्रातिपदिकस्य पुंवद्भाव-रभाव-टिलोप-विन्मतुब्लोप-यणादिलोप-प्रस्थ-स्फाद्यादेश-भसञ्ज्ञा-स्तद्वण्णावपि स्युः। इत्यल्लोपः, घटं करोत्याचष्टे वा—घटयति ॥

अर्थः—प्रातिपदिक से परे धातु के अर्थ में बहुल (विकल्प) कर णिच् प्रत्यय हो जाता है। किञ्च इष्ठन् प्रत्यय के परे होने पर जैसे प्रातिपदिक के स्थान पर पुंवद्भाव आदि कार्य होते हैं वैसे इस णिच् प्रत्यय के परे होने पर भी हों।

व्याख्या—प्रातिपदिकात् ।५।१। धात्वर्थे ।७।१। बहुलम् ।१।१। णिच् ।१।१। ('**चुरादिभ्यो णिच्**' इस प्रकरण से प्राप्त)। इष्ठवत् इत्यव्ययपदम्। इष्ठे इव—इष्ठवत्, सप्तम्यन्ताद्वतिः। अर्थः—(प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (धात्वर्थे) धातुओं के अर्थ में (बहुलम्) विकल्प से (णिच्) णिच् प्रत्यय हो जाता है किञ्च (इष्ठवत्) इष्ठन् प्रत्यय में जैसे कार्य होते हैं वैसे यहां प्रातिपदिक को कार्य होते हैं।

किन किन धातुओं के अर्थों में णिच् होता है? इस के लिये '**तत्करोति तदाचष्टे**' यह पीछे कह चुके हैं। 'उसे करता है' और 'उसे कहता है' इन धात्वर्थों में प्रातिपदिक से परे णिच् प्रत्यय किया जायेगा। पाणिनीयधातुपाठ में इन के अतिरिक्त कुछ अन्य धात्वर्थ भी दिये गये हैं उन को **सिद्धान्तकौमुदी** में देखें।

इस णिच् को इष्ठवत् अतिदेश किया गया है। तात्पर्य यह है कि इष्ठन् प्रत्यय के परे होने पर जो जो कार्य होते हैं वे यहां णिच् प्रत्यय के परे होने पर भी

---

१. यहां पर 'करोति' और 'आचष्टे' में लँट् के प्रयोग से यह समझने की भूल नहीं करनी चाहिये कि यह णिच् केवल वर्त्तमानकाल में ही होता है। यहां पर लँट् का अर्थ विवक्षित नहीं वह केवल निदर्शनार्थ है। अतः वर्त्तमानकाल की तरह भूत और भविष्यत् काल में भी इस णिच् का निर्बाध प्रयोग होता है।

हों। इष्ठन् एक तद्धितप्रत्यय है जो **'अतिशायने तमबिष्ठनौ'** (१२१८) सूत्रद्वारा आगे तद्धितप्रकरण में विधान किया गया है। इष्ठन् प्रत्यय के परे रहते निम्नलिखित सात कार्य हुआ करते हैं—

(१) प्रातिपदिक को पुंवद्भाव हो जाता है। यथा—अतिशयेन पट्वी—पटिष्ठा। यहां पट्वीशब्द से इष्ठन् प्रत्यय करने पर **'भस्याढे तद्धिते'** (वा०) से उसे पुंवद्भाव होकर 'पटु+इष्ठ' बन जाता है। पुनः **'टेः'** (११५७) से टि का लोप करने पर टाप् लाकर 'पटिष्ठा' रूप सिद्ध होता है।

(२) प्रातिपदिक को 'र' भाव हो जाता है। यथा—दृढशब्द से इष्ठन् प्रत्यय करने पर 'द्रढिष्ठः' बनता है। यहां **'र ऋतो हलादेर्लघोः'** (११५६) से दृढशब्द के ऋवर्ण को 'र' आदेश हो जाता है।

(३) प्रातिपदिक की टि का लोप हो जाता है। यथा—अतिशयेन साधुः—साधिष्ठः। यहां 'साधु' शब्द से इष्ठन् प्रत्यय करने पर साधुशब्द की टि का **'टेः'** (११५७) से लोप हो जाता है।

(४) विन् और मतुँप् प्रत्ययों का **'विन्मतोर्लुक्'** (१२२९) से लुक् हो जाता है। यथा—अतिशयेन स्रग्वी—स्रजिष्ठः। यहां स्रग्विन् शब्द में विन् प्रत्यय का इष्ठन् परे होने पर लुक् हो गया है। इसी प्रकार—अतिशयेन गोमान्—गविष्ठः यहां गोमत् शब्द के मतुँप्प्रत्यय का लुक् हो जाता है।

(५) यणादि(यण् जिस के आदि में है ऐसे)भाग का लोप हो कर पूर्व को गुण हो जाता है(६.४.१५६)। यथा—अतिशयेन स्थूलः—स्थविष्ठः। यहां इष्ठन् प्रत्यय के परे रहते स्थूल शब्द का यणादि-भाग(ल)लुप्त होकर पूर्व ऊकार को गुण हो जाता है।

(६) प्रिय, स्थिर, स्फिर आदि शब्दों के स्थान पर प्र, स्थ, स्फ आदि आदेश हो जाते हैं—**प्रिय-स्थिर०** (६.४.१५७)। यथा—अतिशयेन प्रियः—प्रेष्ठः। अतिशयेन स्थिरः—स्थेष्ठः। अतिशयेन स्फिरः—स्फेष्ठः (अत्यन्त अधिक)।

(७) भसञ्ज्ञा। यथा—अतिशयेन स्रग्वी—स्रजिष्ठः। यहां विन् का लुक् (१२२५) होकर 'स्रज्+इष्ठ' इस स्थिति में **'यचि भम्'** (१६५) से भसञ्ज्ञा हो जाती है, अतः **'चोः कुः'** (३०६) द्वारा पदनिबन्धन कुत्व नहीं होता।

घटं करोति, घटमाचष्टे वा घटयति (घड़े को करता-बनाता है या घड़े को कहता है)। यहां घटशब्द से 'करना-बनाना या कहना' अर्थ में प्रकृतगणसूत्रों से णिच् प्रत्यय कर 'घट+इ' हुआ। णिच् के इष्ठवद्भाव के कारण पूर्व की **'यचि भम्'** (१६५) से भसञ्ज्ञा होकर **'यस्येति च'** (२३६) से टकारोत्तर अकार का लोप करने से 'घटि' यह णिजन्त धातुरूप निष्पन्न हुआ। ध्यान रहे कि यहां णिच् के णित्त्व को मान कर **'अत उपधायाः'** (४५५) से उपधावृद्धि नहीं होती। इस का कारण यह है कि अकारलोप को **'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ'** (६६६) से स्थानिवत् मान लेने से णित् परे नहीं रहता। अब 'घटि' धातु से लँट्, तिप्, शप्, सार्वधातुकगुण तथा एकार को अयादेश करने पर 'घटयति' प्रयोग सिद्ध होता है। क्रियाफल के कर्त्रभिप्राय होने

पर 'णिचश्च' (६९५) द्वारा आत्मनेपद भी हो जायेगा—घटयते। लुंङ्—में अग्लोपी होने से सन्वद्भाव न होकर 'अजघटत्' रूप बनेगा।

इसी प्रकार—प्रकटं करोति प्रकटयति (लुंङ् में—प्राचकटत्, अग्लोपी होने से सन्वद्भाव नहीं होता), उत्तरम् आचष्टे—उत्तरयति (लुंङ् में—उदततरत्) आदि जानने चाहियें। लुंङ् में अट् आगम के विषय में विशेष बात **सिद्धान्तकौमुदी** की नामधातुप्रक्रिया में देखें।

प्रकृत णिच् में इष्ठवद्भाव के कारण हुए उपर्युक्त कार्यों के उदाहरण यथा—

(१) पुंवद्भाव। पट्वीम् आचष्टे—पटयति (पट्वी—चतुरा को कहता है)। यहां पर 'पट्वी' शब्द से 'आचष्टे-कहता है' अर्थ में प्रकृतगणसूत्रों से णिच् कर उसे इष्ठवत् मानने से **'भस्याढे तद्धिते'** (वा०) से पट्वी को पुंवद्भाव अर्थात् 'पटु' होकर टि का **'टेः'** (११५७) से लोप हो जाता है।

(२) **'र' भाव**। दृढं करोति—द्रढयति (दृढ़ करता है)। यहां पर 'दृढ' शब्द से 'करना' अर्थ में णिच् होता है। णिच् को इष्ठवत् मान कर **'र ऋतो हलादेर्लघोः'** (११५६) से दृढ शब्द के ऋकार को 'र' आदेश हो जाता है।

(३) टिलोप का पूर्वोक्त 'पटयति' उदाहरण है।

(४) विन् और मतुप् का लुक्। स्रग्विणम् आचष्टे—स्रजयति (माला वाले को कहता है)। यहां पर णिच् के इष्ठवद्भाव के कारण **'विन्मतोर्लुक्'** (१२२९) से विन् का लुक् हो गया है। श्रीमन्तं करोति—श्राययति (श्रीसम्पन्न करता है)। यहां पर मतुँप् का लुक् होकर ईकार को ऐकार वृद्धि तथा ऐकार को आयादेश हो जाता है।

(५) यणादि भाग का लोप होकर पूर्व को गुण। स्थूलमाचष्टे करोति वा—स्थवयति (स्थूल को कहता है अथवा स्थूल करता है); दूरं करोति—दवयति (दूर करता है)। यहां पर णिच् को इष्ठवत् मान कर स्थूलशब्द के 'ल' भाग तथा दूर शब्द के 'र' भाग का लोप हो कर पूर्व ऊकारों को गुण हो जाता है (**'स्थूल-दूर-युव-ह्रस्व-क्षिप्र-क्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः'** ६.४.१५६)।

(६) प्र, स्थ आदि आदेश। प्रियमाचष्टे—प्रापयति (प्रिय कहता है)। यहां पर णिच् को इष्ठवत् मानकर **'प्रिय-स्थिर-स्फिरोरु०'** (६.४.१५७) सूत्र से प्रियशब्द को 'प्र' आदेश हो जाता है। अब **'अचो ञ्णिति'** (१८२) से वृद्धि हो कर आकार को पुक् का आगम (७०२) हो जाता है।

(७) भसञ्ज्ञा। स्रग्विणमाचष्टे—स्रजयति। यहां णिच् को इष्ठवत् मान कर सुँबन्त से विहित विन् का लुक् (१२२५) होकर अन्तर्वर्तिनी विभक्ति का आश्रय कर पदत्व के कारण **'चोः कुः'** (३०६) से कुत्व प्राप्त था पर अब **'यचि भम्'** (१६२) से भसञ्ज्ञा के कारण नहीं हुआ।

इति नामधातवः

(यहां पर नामधातुओं का विवेचन समाप्त होता है)

अथ कण्ड्वादयः

अब तिङन्तप्रकरण में कण्डू आदि शब्दों का प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है। कण्डू+आदि=कण्ड्वादि। पाणिनीय गणपाठ में कण्ड्वादि एक गण है। कण्ड्वाद्यन्तर्गत शब्दों को धातु और प्रातिपदिक दोनों प्रकार का माना जाता है। प्रातिपदिक मान कर इन के रूप षड्लिङ्गी के नियमानुसार सातों विभक्तियों में चला करते है। परन्तु जब इन को धातु मानते हैं तब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७३०) कण्ड्वादिभ्यो यक् ।३।१।२७॥

एभ्यो धातुभ्यो नित्यं यक् स्यात् स्वार्थे ॥

अर्थः—कण्ड्वादि धातुओं से स्वार्थ में नित्य यक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—कण्ड्वादिभ्यः ।५।३। यक् ।१।१। धातुभ्यः ।५।३। (**'धातोरेकाचो०'** से वचनविपरिणाम कर)। **'प्रत्ययः, परश्च'** दोनों अधिकृत हैं। कण्डूशब्द आदिर्येषान्ते कण्ड्वादयः, तेभ्यः=कण्ड्वादिभ्यः। अर्थः—(कण्ड्वादिभ्यः) कण्डू आदि (धातुभ्यः) धातुओं से परे (यक्) यक् प्रत्यय हो जाता है। यहां अर्थ का निर्देश नहीं किया गया अतः **'अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति'** के अनुसार यक् प्रत्यय स्वार्थ में किया जायेगा। तात्पर्य यह है कि कण्डू आदि धातुओं से यक् के आ जाने पर भी अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं आयेगा। यक् का ककार इत् होकर लुप्त हो जाता है।

अब सर्वप्रथम कण्डू धातु का वर्णन करते है—

[लघु०] **कण्डूञ् गात्रविघर्षणे** ॥१॥ कण्डूयति, कण्डूयते, इत्यादि ॥

अर्थः—कण्डूञ् (कण्डू) धातु 'शरीर को रगड़ने अर्थात् खुजलाने' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—गणपाठ में कण्डू आदि शब्दों का अर्थनिर्देश नहीं किया गया। साहित्य में प्रयोगों को देख कर पूर्व वैयाकरणों ने इन का अर्थनिर्देश किया है। कण्ड्वादि शब्दों को धातु और प्रातिपदिक उभयविध मानने में निम्न दो प्रमाण दिये जाते हैं—

(१) कण्ड्वादियों से यक् का विधान किया गया है। यक् कित् है। गुणनिषेध के लिये इसे कित् किया गया है। यदि प्रातिपदिक से यक् किया जाता तो उस की आर्धधातुकसञ्ज्ञा न होती क्योंकि वहां **'धातोः'** से विहित प्रत्ययों की ही आर्धधातुकसञ्ज्ञा कही गई है। तब आर्धधातुक न होने से गुण की प्राप्ति स्वतः ही न होती, पुनः उस की निवृत्ति के लिये यक् को कित् क्यों करते? इस से प्रतीत होता है कि आचार्य कण्ड्वादियों को धातु मानते हैं।

(२) यदि कण्ड्वादियों को केवल धातु ही मानें तो इन में कहीं कहीं (जैसे—कण्डू, मही, हृणी आदि) दीर्घ पढ़ा गया है वह व्यर्थ हो जायेगा। क्योंकि यक् करने पर **'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः'** (४८३) से दीर्घ अपने आप सिद्ध हो सकता है।

इस से प्रतीत होता है कि ये प्रातिपदिक भी हैं। प्रातिपदिक अवस्था में यक् के न होने से इन को दीर्घ रखने के लिये तत्तत्स्थानों में इन को दीर्घ पढ़ा गया है।

इस प्रकार कण्ड्वादि, धातु और प्रातिपदिक उभयविध है—यह निश्चित होता है। जैसा कि **महाभाष्य** में कहा है—

धातुप्रकरणाद्धातुः कस्य चासञ्जनादपि ।
आह चायमिमं दीर्घं मन्ये धातुर्विभाषितः ॥

[पीछे धातु का प्रकरण चल रहा है अतः 'धातोः' की अनुवृत्ति आ रही है तथा यक् प्रत्यय में गुणनिषेध के लिये ककार अनुबन्ध लगाया गया है—इस से प्रतीत होता है कि कण्ड्वादि धातुसञ्ज्ञक हैं। परन्तु इन शब्दों को जो कहीं कहीं दीर्घ पढ़ा गया है इस से सिद्ध होता है कि इन की धातुसञ्ज्ञा वैकल्पिक है, ये पक्ष में प्रातिपदिक भी हैं]।

कण्ड्वादियों को जब धातु स्वीकार किया जायेगा। तब इन से प्रकृतसूत्र द्वारा नित्य यक् प्रत्यय हो जायेगा। यथा—कण्डूञ्+यक्=कण्डू+य। यक् आर्धधातुक है, इस के परे होने पर **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** (३८८) से ऊकार को ओकार गुण प्राप्त होता है परन्तु यक् के कित्त्व के कारण **'क्क्ङिति च'** (४३३) से उस का निषेध हो जाता है इस प्रकार 'कण्डूय' यह यगन्त रूप निष्पन्न होता है। अब इस की **'सनाद्यन्ता धातवः'** (४६८) से धातुसञ्ज्ञा होकर कर्त्रादिविवक्षा में लँडादियों की उत्पत्ति होती है। लँट् प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप् और **'अतो गुणे'** (२७४) से पररूप करने पर 'कण्डूयति' प्रयोग सिद्ध होता है। कण्डूञ् धातु ञित् विधान की गई है अतः ञित् के विधानसामर्थ्य से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में इस से आत्मनेपद का भी प्रयोग होगा—कण्डूयते। आर्धधातुकप्रत्ययों में **'अतो लोपः'** (४७०) से यक् के अकार का लोप हो जाता है। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०)**कण्डूयति**। (आत्मने०) **कण्डूयते**[1]। (लिँट्)—(परस्मै०) **कण्डूयाञ्चकार-कण्डूयाम्बभूव-कण्डूयामास**। (आत्मने०)**कण्डूयाञ्चक्रे-कण्डूयाम्बभूव-कण्डूयामास**। लुँट्—(परस्मै०)**कण्डूयिता, कण्डूयितारौ, कण्डूयितारः। कण्डूयितासि—**। (आत्मने०) **कण्डूयिता, कण्डूयितारौ, कण्डूयितारः। कण्डूयितासे—**। लृँट्—(परस्मै०) **कण्डूयिष्यति**। (आत्मने०) **कण्डूयिष्यते**। लोँट्—(परस्मै०) **कण्डूयतु-कण्डूयतात्**। (आत्मने०) **कण्डूयताम्**। लँङ्—(परस्मै०) **अकण्डूयत्**। (आत्मने०) **अकण्डूयत**[2]। वि० लिँङ्—(परस्मै०) **कण्डूयेत्**[3]। (आत्मने०)**कण्डूयेत**। आ० लिँङ्—(परस्मै०) **कण्डूय्यात्**। (आत्मने०) **कण्डूयिषीष्ट**। लुँङ्—(परस्मै०) **अकण्डूयीत्**। (आत्मने०)**अकण्डूयिष्ट**। लृँङ्—(परस्मै०)**अकण्डूयिष्यत्**। (आत्मने०)**अकण्डूयिष्यत**।

---

१. कण्डूयन्ते जरठहरिणाः स्वाङ्गमङ्के मदीये—वैराग्य० ९८।

२. मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः—कुमार० ३.३६।

३. न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः—मनु० ४.८२।

जब कण्डू (खुजलाहट) शब्द प्रातिपदिक होगा तब वह नित्यस्त्रीलिङ्ग होगा। इस का उच्चारण 'वधू' शब्द की तरह चलेगा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	कण्डूः	कण्ड्वौ	कण्ड्वः
द्वितीया	कण्डूम्	,,	कण्डूः
तृतीया	कण्ड्वा	कण्डूभ्याम्	कण्डूभिः
चतुर्थी	कण्ड्वै	,,	कण्डूभ्यः
पञ्चमी	कण्ड्वाः	,,	,,
षष्ठी	,,	कण्ड्वोः	कण्डूनाम्
सप्तमी	कण्ड्वाम्	,,	कण्डूषु
सम्बोधन	हे कण्डु !	हे कण्ड्वौ !	हे कण्ड्वः !

कण्ड्वादिगण के कुछ प्रसिद्ध शब्दों की तालिका यथा—

कण्ड्वादिशब्द	धात्ववस्था में रूप व अर्थ	प्रातिपदिकावस्था में रूप व अर्थ
(१) कण्डू (ञ्)	कण्डूयति-ते=रगड़ता है।	कण्डूः=(स्त्री० वधूवत्) खुजलाहट।
(२) मन्तु	मन्तूयति=क्रुद्ध करता व होता है	मन्तुः=(पुं.भानुवत्) दोष, अपराध।
(३) वल्गु	वल्गूयति=सुन्दर होता है। पूजा करता है। प्रशंसा करता है।	वल्गु (विशेषण)=सुन्दर, मनोज्ञ।
(४) सपर	सपर्यति=पूजा करता है।	सपर(?)=पूजा, सेवा आदि[1]।
(५) मही (ङ्)	महीयते=पूजित होता है।	मही (स्त्री० नदीवत्) पृथ्वी, भूमि।
(६) खेला	खेलायति=खेलता है। प्रसन्न होता है।	खेला (स्त्री० रमावत्)=खेल।
(७) हृणी (ङ्)	हृणीयते=लज्जित होता है।	हृणी (स्त्री० नदीवत्)=लज्जा।
(८) सुख	सुख्यति=सुखी होता है।	सुखम् (नपुं० ज्ञानवत्) सुख, आनंद
(९) दुःख	दुःख्यति=दुःखी होता है।	दुःखम् (नपुं० ज्ञानवत्) दुःख, कष्ट।
(१०) भिषज्	भिषज्यति=चिकित्सा करता है	भिषक् (पुं० ऋत्विग्वत्)=वैद्य।
(११) मेधा	मेधायति=शीघ्र समझता है।	मेधा (स्त्री. रमावत्) धारणावती बुद्धि
(१२) उषस्	उषस्यति=प्रातः होता है।	उषाः (स्त्री० वेधोवत्)=उषःकाल
(१३) उरस्	उरस्यति=बलवान् होता है।	उरः (नपुं० पयोवत्)=छाती, वक्षः।
(१४) पयस्	पयस्यति (गौः)=गाय दूध देती है। (गणरत्न०)	पयः (नपुं० यशोवत्)=दूध व जल।
(१५) लेट्	लेटयति=लेटता है।	लेट्(?)
(१६) लोट्	लोटयति=लोटता है।	लोट्(?)

१. इस अर्थ में 'सपर्या' शब्द बहुत प्रसिद्ध है। यथा—

(१) सपर्यया साधु स पर्यपूपुजत्—माघ० १.१४।

(२) सोऽहं सपर्याविधिभाजनेन—रघु० ५.२२।

नोट—कण्ड्वादिगण में प्रायः तीन प्रकार की धातुएं पाई जाती हैं—

(१) अदन्त धातु। यथा—सपर, सुख, दुःख आदि। इन से यक् करने पर **'अतो लोपः'** (४७०) से अकार का लोप हो जाता है—सपर्यति, सुख्यति, दुःख्यति आदि।

(२) उदन्त धातु। जैसे असु, मन्तु, वल्गु आदि। इन से यक् करने पर **'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः'** (४८३) से दीर्घ हो जाता है—असूयति, मन्तूयति आदि।

(३) दीर्घान्त और हलन्त। यथा—खेला, कण्डू, भिषज् आदि। इन में यक् के परे रहते कुछ परिवर्त्तन नहीं होता—खेलायति, कण्डूयते, भिषज्यति आदि।

इति कण्ड्वादयः

(यहां पर कण्ड्वादियों का विवेचन समाप्त होता है)

अथ आत्मनेपदप्रक्रिया

संस्कृतव्याकरण में आत्मनेपद और परस्मैपद दो पद हुआ करते है—यह पीछे (३७६, ३७७) सूत्रों पर स्पष्ट कर चुके हैं। पदव्यवस्था के लिये साधारणतया तीन मुख्य नियम हैं—

(१) **अनुदात्तङित आत्मनेपदम्** (३७८)। अनुदात्तेत् या ङित् धातुओं से आत्मनेपद का विधान होता है। अनुदात्तेत् यथा—(एधँ=बढ़ना) एधते, एधेते, एधन्ते। ङित् यथा—(शीङ्=सोना) शेते, शयाते, शेरते।

(२) **स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले** (३७९)। स्वरितेत् या ञित् धातुओं से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद का विधान किया जाता है। स्वरितेत् यथा—(वहँ=ले जाना) वहते, वहेते, वहन्ते। ञित् यथा—(डुकृञ्=करना) कुरुते, कुर्वाते, कुर्वते।

(३) **शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम्** (३८०)। आत्मनेपद का कोई निमित्त न हो तो उस धातु से परस्मैपद का विधान होता है। यथा—(भू=होना) भवति, भवतः, भवन्ति।

अब इस प्रक्रिया में आत्मनेपद विधान के कुछ अन्य नियम बतलाये जाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७३१) कर्तरि कर्मव्यतिहारे।१।३।१४॥

क्रियाविनिमये द्योत्ये कर्तरि आत्मनेपदम्। व्यतिलुनीते। अन्यस्य योग्यं लवनं करोतीत्यर्थः॥

अर्थः—क्रिया का विनिमय द्योत्य हो तो कर्तृवाच्य में आत्मनेपद होता है।

व्याख्या—कर्तरि।७।१। कर्मव्यतिहारे।७।१। आत्मनेपदम्।१।१। (**'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** से)। कर्मणो व्यतिहारः—कर्मव्यतिहारः, तस्मिन्—कर्मव्यतिहारे। 'कर्म' पद से यहां 'क्रिया' का ग्रहण अभीष्ट है। अर्थः—(कर्मव्यतिहारे) क्रिया के

व्यतिहार के द्योत्य होने पर (कर्तरि)कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्)धातु से परे आत्मनेपद होता है। कर्मव्यतिहार या क्रियाव्यतिहार के निम्न तीन स्थान समझे जाते हैं—

(१) एक के योग्य कार्य को यदि दूसरा करने लगे तो उसे 'कर्मव्यतिहार' कहते हैं। जैसे खेत काटना मज़दूरों का काम है इसे यदि कोई बुद्धिजीवी ब्राह्मण आदि करने लगे तो यह 'कर्मव्यतिहार' होगा। यथा—**ब्राह्मणः क्षेत्रं व्यतिलुनीते।**

(२) एक दूसरे के साथ एक जैसी पारस्परिक क्रिया को भी 'कर्मव्यतिहार' कहते हैं। जैसे—**सम्प्रहरन्ते राजानः** (राजा लोग एक दूसरे पर प्रहार करते हैं)। **व्यतिलुनते क्षेत्रं कृषकाः** (किसान एक दूसरे का खेत काटते हैं)।

(३) किसी एक विषय में एक दूसरे से बढ़ चढ़ कर होना भी 'कर्मव्यतिहार' कहाता है। यथा नैषध (२.२२) में—

अपि लोकयुगं दृशावपि श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि।
श्रुतिगामितया दमस्वसुर्व्यतिभाते सुतरां धरापते! ॥

यहां पर दमयन्ती के मातृ व पितृ दोनों कुलों का एक दूसरे से बढ़-चढ़ कर प्रसिद्ध होना बताया गया है अतः कर्मव्यतिहार में वि और अति पूर्वक भा (चमकना) धातु का '**व्यतिभाते**' प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार उसके नेत्रों और स्त्रियोचित गुणों के विषय में भी समझना चाहिये। [ध्यान रहे कि 'व्यतिभाते' प्रयोग लट् आत्मने० के प्र० पु० के तीनों वचनों में एक समान बनता है]

व्यतिलुनीते (अन्य के योग्य काटने की क्रिया को कोई अन्य करता है)। यहां पर वि और अति पूर्वक '**लूञ् छेदने**' (क्र्या० उभय०) धातु काटने के व्यतिहार में प्रयुक्त हुई है। ञित् होने से अकर्त्रभिप्राय (परगामी) क्रियाफल में इस से परस्मैपद प्राप्त है परन्तु अब प्रकृतसूत्र से उसका बाध होकर आत्मनेपद का प्रयोग होता है। 'लुनीते' की सिद्धि पीछे क्र्यादिगण में देखें।

अब अग्रिमसूत्र द्वारा कर्मव्यतिहार में आत्मनेपद का अपवाद प्रस्तुत करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(७३२) न गति-हिंसार्थेभ्यः ।१।३।१५॥

व्यतिगच्छन्ति। व्यतिघ्नन्ति ॥

अर्थः—कर्मव्यतिहार में गति (चलना) और हिंसा (मारना) अर्थ वाली धातुओं से आत्मनेपद न हो।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। गतिहिंसार्थेभ्यः ।५।३। कर्मव्यतिहारे ।७।१। ('**कर्तरि कर्मव्यतिहारे**' से)। आत्मनेपदम् ।१।१। ('**अनुदात्तङित आत्मनेपदम्**' से)। गतिश्च हिंसा च गतिहिंसे, गतिहिंसे अर्थौ येषां ते गतिहिंसार्थास्तेभ्यः—गतिहिंसार्थेभ्यः, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहि०। अर्थः—(गतिहिंसार्थेभ्यः)गमनार्थक और हिंसार्थक धातुओं से(कर्मव्यतिहारे) कर्मव्यतिहार में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद (न)नहीं होता। उदाहरण यथा—

व्यतिगच्छन्ति (एक-दूसरे की ओर जाते हैं)। यहां वि और अति इन दो उपसर्गपूर्वक गमनार्थक गम् (**गम्लृ गतौ**, भ्वा० परस्मै०) धातु से कर्मव्यतिहार में

'कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे' (७३१) से आत्मनेपद प्राप्त होता था परन्तु प्रकृतसूत्र से उस का निषेध होकर पुनः 'शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्' (३८०) से परस्मैपद हो जाता है—व्यतिगच्छन्ति ।

व्यतिघ्नन्ति (एक दूसरे की हिंसा करते हैं) । यहां भी पूर्ववत् हिंसार्थक **हन्** (हन हिंसागत्योः, अदा० परस्मै०) धातु से आत्मनेपद का निषेध होकर परस्मैपद हो जाता है—व्यतिघ्नन्ति ।

इसी प्रकार—**व्यतिसर्पन्ति, व्यतिहिंसन्ति, व्यतिधावन्ति** आदियों में जानना चाहिये । वार्त्तिककार ने यहां हस् आदि कुछ अन्य धातुओं से भी कर्मव्यतिहार में आत्मनेपद का निषेध स्वीकार किया है[1]—**व्यतिहसन्ति, व्यतिजल्पन्ति, व्यतिपठन्ति** ।

नोट—कर्मव्यतिहार को प्रकट करने के लिये प्रायः धातु से पूर्व वि और अति उपसर्गद्वय का प्रयोग किया जाता है । कहीं-कहीं इन के विना या अन्य उपसर्गों के साथ भी प्रयोग मिलते हैं—**प्रियामुखं किंपुरुषश्चुचुम्बे** (कालिदास)[2] ।

विश प्रवेशने (प्रवेश करना) यह तुदादिगण की परस्मैपदी धातु है । अतः इस से आत्मनेपद प्राप्त नहीं । परन्तु निपूर्वक होने पर इस से अग्रिमसूत्र के द्वारा आत्मनेपद का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७३३) नेर्विशः ।१।३।१७।।

निविशते ।।

अर्थः—'नि' पूर्वक विश् धातु से आत्मनेपद हो ।

व्याख्या—नेः ।५।१। विशः ।५।१। आत्मनेपदम् ।१।१। (**'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** से) । **अर्थः**—(नेः) 'नि' से परे (विशः) जो विश् धातु, उस से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है । यथा—**निविशते** । नैषधकार श्रीहर्ष का प्रयोग भी है—**निविशते यदि शूकशिखा पदे**—(नैषध ४.११)। अट् का व्यवधान भी बाधक नहीं होता—**न्यविशत** ।

नोट—**'मधुनि विशन्ति भ्रमराः'** यहां पर भी 'नि' से परे विश् धातु है । परन्तु 'मधुनि' शब्द का अङ्ग होने से यहां 'नि' अनर्थक है अतः उस का ग्रहण न होने से विश् से आत्मनेपद नहीं होता (**अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य**)[3] ।

'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये' धातु ञित् है । कर्तृगामी क्रियाफलमें इससे आत्मनेपद सिद्ध है, परन्तु परगामी क्रियाफल में **'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्'**(३८०) द्वारा परस्मैपद प्राप्त होता है । इस पर इस के अपवाद अग्रिमसूत्र के द्वारा आत्मनेपद का विधान करते हैं—

---

१. **प्रतिषेधे हसादीनामुपसङ्ख्यानम्** (वा०) ।

२. मुग्धबोधव्याकरण की टीका में **श्रीदुर्गादासद्वारा** उद्धृत ।

३. **'इत्युक्त्वा मैथिलीं भर्तुरङ्के निविशतीं भयात्'** (रघु० १२.३८) ।

कालिदास का यहां परस्मैपद प्रयोग चिन्त्य है । **भट्टोजिदीक्षित** यहां **'अङ्गानि विशतीं भयात्'** पाठ मानते हैं (देखें १.३.३७ पर शब्दकौस्तुभ) ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७३४) परिव्यवेभ्यः क्रियः ।१।३।१८॥

परिक्रीणीते । विक्रीणीते । अवक्रीणीते ॥

अर्थः—परि, वि और अव उपसर्गों से परे 'क्री' धातु से आत्मनेपद हो ।

व्याख्या—परिव्यवेभ्यः ।५।३। क्रियः ।५।१। आत्मनेपदम् ।१।१। (**'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** से) । परिश्च विश्च अवश्च—परिव्यवाः, तेभ्यः—परिव्यवेभ्यः । इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(परिव्यवेभ्यः) परि, वि, अव इन उपसर्गों से परे (क्रियः) क्री धातु से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद हो । उदाहरण यथा—**परिक्रीणीते** (नियत समय के लिये खरीदता है), **विक्रीणीते** (बेचता है), **अवक्रीणीते** (खरीदता है) । इन के प्रयोग पीछे डुक्रीञ् धातु के उपसर्गयोग में देखें ।

जि जये (जीतना. भ्वा० परस्मै० अनिट्) धातु पीछे मूल में नहीं पढ़ी गई । हम ने इस की रूपमाला तथा प्रक्रिया पृष्ठ (१७०) पर दी है । इस धातु से **'शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्'** (३८०) द्वारा परस्मैपद प्राप्त है । इस पर अग्रिमसूत्र द्वारा विशिष्ट उपसर्गों के योग में आत्मनेपद का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७३५) विपराभ्यां जेः ।१।३।१९॥

विजयते । पराजयते ॥

अर्थः—'वि' अथवा 'परा' उपसर्ग से परे जि धातु से आत्मनेपद हो ।

व्याख्या—विपराभ्याम् ।५।२। जेः ।५।१। आत्मनेपदम् ।१।१। (**'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** से)। अर्थः—(विपराभ्याम्) वि अथवा परा उपसर्ग[1] से परे (जेः) जि धातु से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है । यथा—**वि √ जि**=विजयते (जीतता है या सर्वोत्कर्ष से रहता है), **परा √ जि**=पराजयते (जीतता है या घबराता है) । इन के प्रयोग यथा—**प्रायस्त्वन्मुखसेवया विजयते विश्वं स पुष्पायुधः** (गीतगोविन्द १०.६), **रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते** (उत्तरराम० २.२), **चैद्यः परान् पराजिग्ये** (माघ० १९.८२), **यं पराजयसे मृषा** (याज्ञवल्क्यस्मृति २.७५), **अध्ययनात् पराजयते** (अध्ययन से घबराता या जी चुराता है । देखें काशिका १,४.२६) ।

विपूर्वक 'जि' धातु के कर्तरि रूप यथा—

लँट्—**विजयते, विजयेते, विजयन्ते** । लिँट्—**विजिग्ये, विजिग्याते, विजिग्यिरे । विजिग्यिषे**—[2] । लुँट्—**विजेता** । लृँट्—**विजेष्यते** । लोँट्—**विजयताम्, विजयेताम्, विजयन्ताम् । विजयस्व**— । लँङ्—**व्यजयत** । वि० लिँङ्—**विजयेत** । आ० लिँङ्—

---

१. व्याख्यान से यहां 'वि' और 'परा' उपसर्गों का ही ग्रहण माना जाता है । अत एव इन स्थलों पर आत्मनेपद नहीं होता—**बहुवि जयति वनम्** (बहवो वयः= पक्षिणो यस्मिंस्तद् बहुवि वनं जयतीत्यर्थः), **परा जयति सेना** (परा=उत्कृष्टा सेना जयतीत्यर्थः) ।

२. **'सन्लिँटोर्जेः'** (७.३.५७) से कुत्व तथा क्रादिनियम से सर्वत्र इट् हो जाता है ।

विजेषीष्ट । लुँङ्—**व्यजेष्ट, व्यजेषाताम्, व्यजेषत** । लृँङ्—**व्यजेष्यत** । इसी प्रकार **परा**√जि के रूप जानने चाहियें ।

ष्ठा गतिनिवृत्तौ (ठहरना, भ्वा० परस्मै० अनिट्) धातु पीछे मूल में नहीं पढ़ी गई । हम ने इस की व्याख्या तथा रूपमाला पृष्ठ (१८७) पर दी है । इस धातु से **'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्'** (३८०) द्वारा परस्मैपद प्राप्त है । इस पर अग्रिमसूत्र द्वारा विशिष्ट उपसर्गों के योग में आत्मनेपद का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७३६) समवप्रविभ्यः स्थः ।१।३।२२।।

सन्तिष्ठते । अवतिष्ठते । प्रतिष्ठते । वितिष्ठते ।।

अर्थः—सम्, अव, प्र, वि—इन उपसर्गों से परे स्था धातु से आत्मनेपद हो ।

व्याख्या—समवप्रविभ्यः ।५।३। स्थः ।५।१। आत्मनेपदम् ।१।१। (**'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** से)। **अर्थः**—(सम्-अव-प्र-विभ्यः) सम्, अव, प्र, वि—इन उपसर्गों से परे (स्थः) स्था धातु से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद हो ।

सम्√स्था—सन्तिष्ठते (रहना, निवास करना, ठहरना—**तीक्ष्णादुद्विजते मृदौ परिभवत्रासान्न सन्तिष्ठते**—मुद्रा० ३.५; **दारिद्र्योपहतस्य बान्धवजनो वाक्ये न सन्तिष्ठते**—मृच्छ० १.३६ । समाप्त होना—**सन्तिष्ठते यज्ञः** । मरना—**संस्थास्ये विषमुपभुज्य पश्यतस्ते**—चम्पूरामायण २.२०, संस्थास्ये=मरिष्यामि) ।

अव√स्था—अवतिष्ठते (रुकना, प्रतीक्षा करना—**क्षणं भद्रावतिष्ठस्व**—भट्टि० ८.११ । ठहरना, स्थिर होना—**अनीत्वा पङ्क्तां धूलिमुदकं नाऽवतिष्ठते**—माघ २.३४, **न शासनेऽवास्थित यो गुरूणाम्**—भट्टि० ३.१४) ।

प्र√स्था—प्रतिष्ठते (प्रस्थान करना, रवाना होना, चल पड़ना—**पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे रथवर्त्मना**—रघु० ४.६०, **आश्रमाय प्रतस्थे**—भट्टि० २.२४) ।

वि√स्था—वितिष्ठते (ठहरना, स्थिर होना—**पादैर्भुवं व्याप्य वितिष्ठमानम्**—माघ ४.४) ।

निदर्शनार्थं **प्र√स्था** की आत्मनेपद में रूपमाला यथा—

लँट्—**प्रतिष्ठते, प्रतिष्ठेते, प्रतिष्ठन्ते** । लिँट्—**प्रतस्थे** । लुँट्—**प्रस्थाता** । लृँट्—**प्रस्थास्यते** । लोँट्—**प्रतिष्ठताम्** । लँङ्—**प्रातिष्ठत** । वि० लिँङ्—**प्रतिष्ठेत** । आ० लिँङ्—**प्रस्थासीष्ट** । लुँङ्—**प्रास्थित, (स्थाघ्वोरिच्च ६२४; ह्रस्वादङ्गात् ५४५), प्रास्थिषाताम्, प्रास्थिषत** । लृँङ्—**प्रास्थास्यत** ।

ज्ञा अवबोधने (जानना) धातु क्र्यादिगण में परस्मैपदी पढ़ी गई है । अतः **'शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्'** (३८०) द्वारा इस से परस्मैपद प्राप्त होता है । इस पर अग्रिमसूत्रद्वारा आत्मनेपद का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७३७) अपह्नवे ज्ञः ।१।३।४४।।

शतमपजानीते, अपलपतीत्यर्थः ।।

अर्थः—'छिपाना, इन्कार करना' अर्थ में ज्ञा धातु से आत्मनेपद हो ।

व्याख्या—अपह्नवे ।७।१। ज्ञः ।५।१। आत्मनेपदम् ।१।१। (**'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** से)। अर्थः—(अपह्नवे) छिपाना या इन्कार करना अर्थ में (ज्ञः) ज्ञा धातु से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है। उपसर्गरहित अवस्था में ज्ञा धातु का 'छिपाना-इन्कार करना-मुन्कर होना' अर्थ नहीं हुआ करता, यह अर्थ अपपूर्वक ज्ञा का ही होता है। अतः अपपूर्वक ज्ञा धातु से इस अर्थ में क्रिया-फल के कर्तृगामी या परगामी किसी के भी होने पर आत्मनेपद विधान किया जाता है। उदाहरण यथा—

शतम् अपजानीते—(सौ को छिपाता या इन्कार करता है)। यहां अपपूर्वक ज्ञा धातु अपह्नव अर्थ में वर्तमान है अतः इस से आत्मनेपद हो गया है। आत्मनेपद में ज्ञा धातु की रूपमाला पीछे क्र्यादिगण में इसी धातु पर लिख आये हैं वहीं देखें। अन्य उदाहरण यथा—

आत्मानमपजानानः शशमात्रोऽनयद् दिनम् (भट्टि० ८.२६)अर्थात् हनुमान् जी ने अपने आप को छिपाते हुए अपनी आकृति शशक की तरह बना कर सारा दिन वहां लङ्का में व्यतीत किया। यहां अपपूर्वक ज्ञा धातु अपह्नव अर्थ में स्थित है अतः आत्मनेपद शानच् प्रत्यय हुआ है।

पुनः ज्ञा धातु से आत्मनेपद का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७३८) अकर्मकाच्च ।१।३।४५॥

सर्पिषो जानीते, सर्पिषोपायेन प्रवर्त्तत इत्यर्थः॥

अर्थः—अकर्मक ज्ञा धातु से आत्मनेपद हो।

व्याख्या—अकर्मकात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। ज्ञः ।५।१। (**'अपह्नवे ज्ञः'** से)। आत्मनेपदम् ।१।१। (**'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** से)। अर्थः—(अकर्मकात्) अकर्मक (ज्ञः) ज्ञा धातु से (च) भी (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद हो। उदाहरण यथा—

सर्पिषो जानीते (घृत द्वारा भोजनादि में प्रवृत्त होता है)। यहां पर ज्ञा धातु का अर्थ 'जानना' नहीं अपितु 'प्रवृत्त होना' है अतः वह अकर्मक है। इस से प्रकृतसूत्र द्वारा आत्मनेपद हुआ है। ध्यान रहे कि यहां 'सर्पिष्' (घृत) करण है अत एव इस का अर्थ करते हुए वृत्तिकार ने 'सर्पिषा उपायेन' कहा है। यहां करण में शेष की विवक्षा में **'ज्ञोऽविदर्थस्य करणे'**(२.३.५१; जानना अर्थ न होने पर ज्ञा धातु के करण में षष्ठी विभक्ति होती है) सूत्रद्वारा षष्ठी विभक्ति हो कर 'सर्पिषः' बना है।

इसी प्रकार—**'मधुनो जानीते'** आदि समझने चाहियें।

प्रश्न—'सर्पिषो जानीते' आदि में तो **'अनुपसर्गाज्ज्ञः'** (१.३.७६; उपसर्गहीन ज्ञा धातु से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद हो) सूत्र से ही आत्मनेपद सिद्ध था पुनः इस सूत्र की क्या आवश्यकता ?

उत्तर—यह सत्य है; परन्तु **'सर्पिषोऽनुजानीते, मधुनोऽनुजानीते'** इत्यादि सोपसर्ग स्थानों पर आत्मनेपद के विधान के लिये यह सूत्र आवश्यक है।

चर गतौ भक्षणे च (गमन करना या खाना. भ्वा० परस्मै० सेट्) धातु का

वर्णन पीछे मूल में नहीं आया, हम ने इस की व्याख्या पृष्ठ (१२२) पर की है। इस से '**शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम्**'(३८०) द्वारा परस्मैपद प्राप्त है। इस पर अग्रिमसूत्रद्वारा आत्मनेपद का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७३९) उदश्चरः सकर्मकात् ।१।३।५३।।

धर्ममुच्चरते । उल्लङ्घ्य गच्छतीत्यर्थः ।।

अर्थः—उद्पूर्वक सकर्मक चर् धातु से आत्मनेपद हो।

व्याख्या—उदः ।५।१। चरः ।५।१। सकर्मकात् ।५।१। आत्मनेपदम् ।१।१। ('**अनुदात्तङित आत्मनेपदम्**' से)। अर्थः—(उदः) उद् उपसर्ग से परे (सकर्मकात्) सकर्मक (चरः) चर् धातु से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद हो। यथा—

धर्ममुच्चरते (धर्म का उल्लङ्घन कर चलता है)। यहां पर उद्पूर्वक चर् धातु सकर्मक है, 'धर्मम्' इस का कर्म है। अतः इस से आत्मनेपद हो गया है। इसी प्रकार **गुरुवचनमुच्चरते, कुटुम्बमुच्चरते** आदि जानने चाहियें। उद्+चरते=उज्+चरते(**स्तोः श्चुना श्चुः** ६२)=उच्चरते(**खरि च** ७४)। उद्√चर् की रूपमाला यथा—

लँट्—**उच्चरते**। लिँट्—**उच्चेरे, उच्चेराते, उच्चेरिरे**। लुँट्—**उच्चरिता**। लृँट्—**उच्चरिष्यते**। लोँट्—**उच्चरताम्**। लँङ्—**उदचरत**। वि० लिँङ्—**उच्चरेत**। आ० लिँङ्—**उच्चरिषीष्ट**। लुँङ्—**उदचरिष्ट**। लृँङ्—**उदचरिष्यत**।

'सकर्मकात्' कहने से—**वाष्पमुच्चरति** (वाष्प ऊपर जाता है) इत्यादि स्थानों पर जहां उद्पूर्वक चर् धातु अकर्मक है, आत्मनेपद नहीं होता।

अग्रिमसूत्रद्वारा पुनः चर् धातु से आत्मनेपद का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७४०) समस्तृतीयायुक्तात् ।१।३।५४।।

रथेन सञ्चरते ।।

अर्थः—सम्पूर्वक चर् धातु यदि तृतीयान्त से युक्त हो तो उस से आत्मनेपद होता है।

व्याख्या—समः ।५।१। तृतीयायुक्तात् ।५।१। चरः ।५।१। ('**उदश्चरः सकर्मकात्**' से)। आत्मनेपदम् ।१।१। अर्थः—(समः) सम् उपसर्ग से परे (तृतीयायुक्तात्) तृतीयान्त से युक्त (चरः) चर् धातु से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है। तृतीयान्त के साथ चर् का योग आर्थिक होता है। उदाहरण यथा—

रथेन सञ्चरते (रथ से सञ्चरण करता है)। यहां पर 'चर्' धातु 'रथेन' इस तृतीयान्त से अर्थद्वारा युक्त है तथा सम्पूर्वक भी है, अतः प्रकृतसूत्र से इस से आत्मनेपद हुआ है। कालिदास का प्रयोग—**क्वचित् पथा सञ्चरते सुराणाम्** (रघु० १३.१९)।

तृतीयान्त का प्रयोग न होने पर आत्मनेपद न होगा—**उभौ लोकौ सञ्चरसि इमं चामुं च देवल!** (काशिका)।

दाण् दाने(देना. भ्वा० परस्मै० अनिट्)धातु पीछे मूल में नहीं आई। हम इस की प्रक्रिया तथा रूपमाला पृष्ठ(१८७)पर लिख चुके हैं। इस से '**शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्**'

(३८०) से परस्मैपद प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७४१) दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे ।१।३।५५।।

सम्पूर्वाद् दाणस्तृतीयान्तेन युक्तादुक्तं स्यात्, तृतीया चेच्चतुर्थ्यर्थे । दास्या संयच्छते कामी ।।

अर्थः—सम्पूर्वक दाण् धातु यदि तृतीयान्त से युक्त हो तो उस से आत्मनेपद होता है परन्तु वह तृतीया चतुर्थी के अर्थ में प्रयुक्त होनी चाहिये ।

व्याख्या—दाणः ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । सा ।१।१। चेत् इत्यव्ययपदम् । चतुर्थ्यर्थे ।७।१। समः ।५।१। तृतीयायुक्तात् ।५।१। (**'समस्तृतीयायुक्तात्'** से) आत्मने-पदम् ।१।१। (**'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** से)। अर्थः—(समः) सम् उपसर्ग से परे (तृतीयायुक्तात् दाणः) तृतीयान्त से युक्त दाण् धातु से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद हो जाता है (चेत्) यदि (सा) वह तृतीया (चतुर्थ्यर्थे) चतुर्थी के अर्थ में प्रयुक्त हो ।

अशिष्टव्यवहार में चतुर्थी के अर्थ में तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ करता है । यथा—**दास्या (रतिं) संयच्छते कामी** (कामी पुरुष दासी को रति देता है)। दासी के साथ कामुकसम्बन्ध रखना अशिष्ट व्यवहार है, ऐसा शिष्ट घरानों में वर्जित है । यहां पर दासी को रति दी जा रही है अतः वह सम्प्रदान है, उस में **'चतुर्थी सम्प्रदाने'** (८६७) से चतुर्थी विभक्ति आनी चाहिये थी परन्तु **'अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया'** इस वार्त्तिक से उस में तृतीया का प्रयोग हुआ है । ऐसे प्रयोगों में सम्पूर्वक दाण् धातु से प्रकृतसूत्र से आत्मनेपद का प्रयोग होता है । जैसा कि यहां किया गया है ।

सम्√दाण् धातु की आत्मनेपद में रूपमाला यथा—

लँट्—**संयच्छते**[1] । लिँट्—**सन्ददे, सन्ददाते, सन्ददिरे । सन्ददिषे**— । लुँट्—**संदाता** । लृँट्—**संदास्यते** । लोँट्—**संयच्छताम्** । लँङ्—**समयच्छत** । वि० लिँङ्—**संयच्छेत** । आ० लिँङ्—**संदासीष्ट** । लुँङ्—**समदित (गातिस्था० ४३६, स्थाघ्वोरिच्च ६२४, ह्रस्वादङ्गात् ५४५), समदिषाताम्, समदिषत । समदिथाः**— । लृँङ्—**समदास्यत** ।

नोट—**'उदश्चरः सकर्मकात्'** (७३६) तथा **'दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे'** (७४१) ये दो दोनों सूत्र किसी अन्य उपसर्ग के व्यवधान में भी प्रयुक्त होते हैं । यथा—**धर्मम् उदाचरते**, यहां उद् और चर् के बीच में आङ् उपसर्ग का व्यवधान है तो भी (७३६) सूत्र से आत्मनेपद हो गया है । **दास्या संप्रयच्छते कामी**, यहां सम् और दाण् धातु के बीच में 'प्र' उपसर्ग का व्यवधान है तो भी (७४१) सूत्र से आत्मनेपद हो गया है । इस का विशेष विवेचन **काशिका** वा **सिद्धान्तकौमुदी** में देखें ।

अब सन्नन्त से आत्मनेपद का विधान करते हैं—

---

१. लँट्, लोँट्, लँङ् और विधिलिँङ् में शप् शित् के परे रहते **'पाघ्रा-ध्मास्थाम्नादाण्०'** (४८७) सूत्र से दाण् को यच्छ् आदेश हो जाता है ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७४२) पूर्ववत्सनः ।१।३।६२।।

सनः पूर्वो यो धातुस्तेन तुल्यं सन्नन्तादप्यात्मनेपदं स्यात् । एदिधिषते ।।

अर्थः—सन् से पूर्व जो धातु, उस के समान सन्नन्त से भी आत्मनेपद हो ।

व्याख्या—पूर्ववत् इत्यव्ययपदम् । सनः ।५।१। आत्मनेपदम् ।१।१। (**'अनुदात्त-ङित आत्मनेपदम्'** से) । पूर्वेण तुल्यम्—पूर्ववत्, **'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः'** (११४८) इति वतिँप्रत्ययः । किस के पूर्व ? निकट में सन् का उल्लेख है अतः सन् से पूर्व का ग्रहण किया जाता है । अर्थः—(पूर्ववत्) सन् प्रत्यय से पूर्व जो धातु, उस के समान (सनः=सन्नन्तात्) सन्नन्त से भी (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद हो जाता है । तात्पर्य यह है कि सन् की प्रकृतिभूत धातु यदि आत्मनेपदी होगी तो सन्नन्त से भी आत्मनेपद होगा अन्यथा नहीं । उदाहरण यथा—

एदिधिषते (बढ़ने की इच्छा करता है) । यहां पर एध् धातु से सन् प्रत्यय किया गया है । एध् धातु अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी थी तो सन्नन्त से भी आत्मने-पद हुआ है[1] ।

इसी प्रकार शीङ् आदि धातुओं में सन् प्रत्यय करने पर सन्नन्त से भी आत्मनेपद हो जाता है—**शिशयिषते** । पूर्व धातु के ञित् होने पर सन्नन्त से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में ही आत्मनेपद होता है अन्यत्र नहीं—(कृञ्) **चिकीर्षते** । परगामी क्रिया-फल में—**चिकीर्षति** । यदि पूर्व धातु आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होगी तो सन्नन्त से आत्मनेपद न होकर परस्मैपद ही होगा—(भू) **बुभूषति**, (गम्) **जिगमिषति** आदि ।

यदि किसी उपसर्ग के योग में किसी धातु से आत्मनेपद का विधान होगा तो उस उपसर्ग के योग में सन्नन्त से भी आत्मनेपद हो जायेगा । यथा—**निविविक्षते** (प्रवेश करने की इच्छा करता है) । निपूर्वक विश् धातु से **'नेर्विशः'** (७३३) द्वारा आत्मनेपद का विधान है । अब निपूर्वक सन्नन्त से भी आत्मनेपद हो गया है । **पराजि-गीषते** (पराजित करने की इच्छा करता है) । परापूर्वक जि धातु से **'विपराभ्यां जेः'** (७३५) द्वारा आत्मनेपद का विधान है अब सन्नन्त से भी आत्मनेपद हो गया है । इसी प्रकार—**विजिगीषते** आदि में भी जानना चाहिये ।[2]

---

१. एध् धातु से सन् प्रत्यय करने पर सन् को इट् का आगम हो जाता है—एधिष । अब यहां **'सन्यङोः'** (७०६) से अजादि सन्नन्त धातु के द्वितीय एकाच् 'धिष्' को द्वित्व तथा अभ्यास-कार्य करने पर 'एदिधिष' यह सन्नन्त रूप बना । अब **'पूर्ववत्सनः'** द्वारा इस सन्नन्त से पूर्व धातु (एध्) के तुल्य आत्मनेपद होता है । सन् से पूर्व धातु 'एध्' आत्मनेपदी है अतः सन्नन्त से भी आत्मनेपद हो गया । लँट्, त, शप्, पररूप तथा टि को एत्व करने पर 'एदिधिषते' प्रयोग सिद्ध हुआ ।

२. इस सूत्र का **'ज्ञा-श्रु-स्मृ-दृशां सनः'** (१.३.५७) सूत्र अपवाद है । ज्ञा आदि धातुओं के सन्नन्त से आत्मनेपद का ही विधान है—**धर्मं जिज्ञासते, गुरुं शुश्रूषते, नष्टं सुस्मूर्षते, नृपं दिदृक्षते** ।

अब प्रसङ्गवश **'निविविक्षते'** की सिद्धि मे उपयोगी अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(७४३) हलन्ताच्च ।१।२।१०।।

इक्समीपाद् हलः परो झलादिः सन् कित् । निविविक्षते ।।

अर्थः—इक् के समीप हल् से परे झलादि सन् कित् हो ।

व्याख्या—हल् ।५।१। (लुप्तविभक्तिको निर्देशः) अन्तात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । इकः ।६।१। झल् ।१।१। (**'इको झल्'** से) । 'इकः' का षष्ठयन्ततया विपरिणाम हो जाता है)।सन् ।१।१। (**'रुद-विद-मुष-ग्रहि-स्वपि-प्रच्छः संश्च'** से)। कित् ।१।१। (**'असंयोगाल्लिंट् कित्'** से) । सूत्र में पठित 'अन्त' शब्द समीप का वाचक है । 'झल्' यह 'सन्' का विशेषण है अतः तदादिविधि होकर 'झलादिः सन्' बन जाता है । अर्थः—(इकः) इक् के (अन्तात्) समीप (हलः) जो हल्, उस से परे (झलादिः सन्) झलादि सन् (कित्) कित् हो जाता है । विश्+स, गुह्+स, भिद्+स—इत्यादि स्थानों में इक् के समीप हल् से परे झलादि सन् कित् हो जाता है अतः तन्निमित्तक लघूपधगुण का **'क्ङिति च'** (४३३) से निषेध हो जाता है ।

निविविक्षते—निपूर्वक विश् धातु से सन्, विश् के अनुदात्त होने से इट् का **'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्'** (४७५) से निषेध तथा लघूपधगुण के प्राप्त होने पर **'हलन्ताच्च'** (७४२) से झलादि सन् के कित्त्व के कारण उस का भी निषेध हो जाता है । पुनः द्वित्व, अभ्यासकार्य, **'व्रश्चभ्रस्ज०'** (३०७) से शकार को षकार तथा **'षढोः कः सि'** (५४८) से षकार को ककार तथा अन्त में सन् के सकार को षत्व करने पर 'निविविक्ष' यह सन्नन्तरूप सिद्ध होता है । अब यहां **'पूर्ववत्सनः'** (७४२) के अनुसार पूर्व धातु की तरह आत्मनेपद होकर लँट् प्र० पु० के एकवचन में 'निविविक्षते' प्रयोग सिद्ध होता है ।

डुकृञ् करणे (करना. तना० उभय०) धातु क्रियाफल के कर्त्रभिप्राय होने पर आत्मनेपदी है । परन्तु क्रियाफल के परगामी होने पर भी इस से अग्रिमसूत्रद्वारा विशिष्ट अर्थों में आत्मनेपद का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (७४४) गन्धनाऽवक्षेपण-सेवन-साहसिक्य-प्रतियत्न-प्रकथनोपयोगेषु कृञः ।१।३।३२।।

गन्धनम्—सूचनम्, उत्कुरुते—सूचयतीत्यर्थः । अवक्षेपणम्—भर्त्सनम्, श्येनो वर्त्तिकामुत्कुरुते—भर्त्सयतीत्यर्थः । हरिम् उपकुरुते—सेवत इत्यर्थः । परदारान् प्रकुरुते—तेषु सहसा प्रवर्त्तते । एधो दकस्योपस्कुरुते—गुणमाधत्ते । कथाः प्रकुरुते—कथयतीत्यर्थः । शतं प्रकुरुते—धर्मार्थं विनियुङ्क्ते । एषु किम् ? कटं करोति ।।

अर्थः—(१) गन्धन, (२) अवक्षेपण, (३) सेवन, (४) साहसिक्य, (५) प्रति-

यत्न, (६) प्रकथन और (७) उपयोग—इन सात अर्थों में वर्त्तमान कृञ् धातु से आत्मनेपद हो ।

व्याख्या—गन्धनावक्षेपण—प्रकथनोपयोगेषु ।७।३। कृञः ।५।१। आत्मनेपदम् ।१।१।(**'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** से)।अर्थः—(गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्न-प्रकथनोपयोगेषु) गन्धन, अवक्षेपण, सेवन, साहसिक्य, प्रतियत्न, प्रकथन और उपयोग—इन सात अर्थों में (कृञः) कृञ् धातु से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है ।

(१) **गन्धन**—सूचित करना, दूसरे के दोष को प्रकट करना, चुगली करना आदि[1] । यथा—**उत्कुरुते** (सूचित करता है, चुगली करता है, दोष प्रकट करता है) । पूरा वाक्य बनेगा—**स तमुत्कुरुते** ।

(२) **अवक्षेपण**—भर्त्सना करना, झिड़कना, काबू में करना आदि । यथा—**श्येनो वर्तिकाम् उत्कुरुते**[2] (बाज़ बटेर को काबू में करता है)। इसी प्रकार—**दुर्वृत्तान् अवकुरुते** (दुष्टों की भर्त्सना या तिरस्कार करता है)—पाल्यकीर्ति ।

(३) **सेवन**—सेवा करना, आज्ञा मानना आदि । यथा—**हरिमुपकुरुते** (हरि की सेवा करता है)। इसी प्रकार—**गणकान् प्रकुरुते, महापात्रान् प्रकुरुते**—पाल्यकीर्ति ।

(४) **साहसिक्य**—सहसा (बलेन) प्रवर्त्तते इति साहसिकः, **'ओजः सहोऽम्भसा वर्त्तते'** (४.४.२७) इति ठक् । तस्य कर्म—साहसिक्यम्, ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् । बलपूर्वक किये गये निन्दित कर्म को 'साहसिक्य' कहते हैं[3] । यथा—**परदारान् प्रकुरुते** (पराई स्त्रियों में बलपूर्वक प्रवृत्त होता है) ।

---

१. **गन्ध अर्दने** (हिंसा करना) धातु से 'गन्धन' शब्द बना है । अत एव काशिका में कहा है—**गन्धनम् अपकारप्रयुक्तं हिंसात्मकं सूचनम्** । दूसरे की हिंसा हो जाये या उसे नुक्सान पहुँचे अथवा उस का अपकार हो—इस प्रकार की दुर्भावना को लेकर जो सूचन, चुगलखोरी या निन्दा की जाती है उसे यहां 'गन्धन' कहा गया है ।

२. यह उदाहरण बहुत प्राचीन है । श्येन (बाज़) वर्त्तिका (बटेर)को मार कर खाया करता है । वह बटेर की क्या भर्त्सना करेगा ? यह समझ में नहीं आता । किसी शकुनिविशेषज्ञ से पूछने का अवसर नहीं मिला । हम ने अव+क्षेपण का अर्थ 'नीचे फेंकना-दबाना-काबू में करना' आदि किया है, यह अर्थ यहां उचित प्रतीत होता है ।

३. हिंसा करना, चोरी करना, दूसरे की स्त्री को वशीभूत करना, झूठ बोलना आदि निन्दित कर्मों को 'साहस' कहते हैं । जैसा कि नारदस्मृति में कहा है—

मनुष्यमारणं स्तेयं परदाराभिमर्षणम् । पारुष्यमनृतञ्चैव साहसं पञ्चधा स्मृतम् ।

आजकल हिन्दीभाषा में 'साहस' शब्द अच्छे भाव को प्रकट करता है परन्तु संस्कृत-साहित्य में यह बुरे भाव को ही प्रकट करता है । जिस प्रकार राक्षस (रक्षतीति राक्षसः) आदि शब्द समय की थपेड़ों से अपने अच्छे अर्थ 'रक्षक' को खोकर बुरे अर्थ 'भक्षक' में प्रयुक्त होने लगे हैं इसी प्रकार ठीक इसके विपरीत साहस शब्द बुरे अर्थ को छोड़कर अच्छे अर्थ को ग्रहण कर चुका है ।

(५) **प्रतियत्न**—किसी वस्तु में नये गुण का आधान करना—उत्पन्न करना 'प्रतियत्न' कहाता है। यथा—**एधो दकस्योपस्कुरुते** (लकड़ी पानी को उपस्कृत करती है अर्थात् उसे गरम या गुणयुक्त करती है)। ध्यान रहे कि यहां **'उपात् प्रतियत्न०'** (६८३) से कृ के ककार से पूर्व सुट् का आगम हो जाता है।

इसी अर्थ में **'कृञः प्रतियत्ने'** (२.३.५३) से षष्ठी विभक्ति भी होती है। इस उदाहरण का विशेष विवेचन पीछे (६८३) सूत्र पर कर चुके हैं वहीं देखें।

(६) **प्रकथन**—प्रकर्षेण कथनम् प्रकथनम्—भली भांति कहना। यथा—**कथाः प्रकुरुते** (कथाओं को भली भांति कहता है), **गाथाः प्रकुरुते** (वैदिक कथाओं को भली भांति कहता है)। **जनापवादान् प्रकुरुते** (लौकिक निन्दाओं को कहता है—पाल्यकीर्ति)।

(७) **उपयोग**—उपयोग करना, लगाना, व्यय करना आदि। यथा—**शतं प्रकुरुते** (सौ रु० खर्च करता है)। यह उपयोग अच्छे बुरे दोनों प्रकार के कार्यों में हो सकता है।

इन अर्थों के अतिरिक्त अन्य अर्थों में यह सूत्र आत्मनेपद का विधान नहीं करता। यथा—**कटं करोति** (चटाई बनाता है)। ध्यान रहे कि कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में यहां भी आत्मनेपद हो सकता है।

अब ग्रन्थकार पूर्वप्रतिपादित एक सूत्र का स्मरण दिलाते हैं—

[लघु०] **भुजोऽनवने (६७२)**। ओदनं भुङ्क्ते। अनवने किम्? महीं भुनक्ति॥

व्याख्या—पीछे रुधादिगण के अन्त में 'भुजोऽनवने' (६७२) सूत्र मूल में आ चुका है। इस का अर्थ है—पालन-भिन्न अर्थ में भुज् धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—**ओदनं भुङ्क्ते** (भात खाता है), यहां भुज् धातु का पालन करना अर्थ नहीं अपितु भक्षण करना अर्थ है अतः इस से आत्मनेपद होकर 'भुङ्क्ते' रूप बना है। इसी प्रकार—**'वृद्धो नरो दुःखशतानि भुङ्क्ते'** आदि में जानना चाहिये। पालन अर्थ में आत्मनेपद नहीं होता, वहां **'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्'** (३८०) से परस्मैपद होता है। यथा—**महीं भुनक्ति** (राजा पृथ्वी को पालता है), यहां पालन अर्थ होने से भुज् से परस्मैपद हुआ है। इस सूत्र की विस्तृत व्याख्या पीछे इसी सूत्र पर कर चुके हैं, वहीं देखें।

लघुकौमुदी में आत्मनेपद के कुल इतने ही निमित्त दिये गये हैं। इस के अन्य निमित्त काशिका प्रथमाध्याय के तृतीयपाद में या सिद्धान्तकौमुदी की आत्मनेपद-प्रक्रिया में देखने चाहियें।

इति आत्मनेपदप्रक्रिया

(यहां पर आत्मनेपदप्रक्रिया का विवेचन समाप्त होता है)

अथ परस्मैपदप्रक्रिया

अब परस्मैपदप्रक्रिया प्रारम्भ की जाती है। परस्मैपद विधान के लिये **'शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्'** (३८०) यह साधारणनियम पहले बताया जा चुका है। जब किसी धातु से आत्मनेपद का विधान नहीं होता तब उस से परस्मैपद किया जाता है। यथा—भवति, जयति आदि। अब इस प्रक्रिया में ऐसे सूत्रों का उल्लेख किया जायेगा जो या तो उभयपद धातुओं से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में प्राप्त आत्मनेपद का निषेध करेंगे या फिर आत्मनेपदी धातुओं से आत्मनेपद का सीधा बाध करेंगे।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७४५) अनुपराभ्यां कृञः ।१।३।७९॥

कर्तृगे च फले गन्धनादौ च परस्मैपदं स्यात्। अनुकरोति। पराकरोति॥

अर्थः—क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर या गन्धन आदि पूर्वोक्त (सूत्र ७४४) अर्थों में अनु अथवा परा उपसर्गों से परे कृञ् धातु से परस्मैपद हो।

व्याख्या—अनु-पराभ्याम् ।५।२। कृञः ।५।१। परस्मैपदम् ।१।१। (**'शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्'** से)। अर्थः—(अनुपराभ्याम्) अनु तथा परा उपसर्ग से परे (कृञः) कृञ् धातु से (परस्मैपदम्) परस्मैपद हो।

कृञ् धातु ञित् है। क्रियाफल के परगामी होने पर इस से परस्मैपद सिद्ध है ही, अतः यह सूत्र कर्त्रभिप्राय क्रियाफल के लिये समझना चाहिये। किञ्च गन्धन आदि अर्थों में पीछे (७४४) परगामी क्रियाफल में भी जो आत्मनेपद का विधान किया गया है उस का भी यह अपवाद समझना चाहिये।

अनु √कृ = अनुकरोति (नकल करता है, अनुकरण करता है)। **ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रोष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य**—कुमार० १.४४।

परा √कृ = पराकरोति (दूर करता है—परे हटाता है)। **तां हनुमान् पराकुर्वन्नगमत् पुष्पकं प्रति**—भट्टि० ८.५०।

ध्यान रहे कि इस सूत्र में **'शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्'** (३८०) सूत्र से 'कर्तरि' की अनुवृत्ति आती है। अतः कर्तृवाच्य में ही इसकी प्रवृत्ति होती है। कर्मवाच्य आदि[1] में **'भावकर्मणोः'** (७५१) से आत्मनेपद ही होता है—**अनुक्रियते साध्वी पद्धतिः, पराक्रियते समुपस्थिता बाधा।**

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७४६) अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः ।१।३।८०॥

---

१. 'आदि' शब्द से कर्मकर्ता में भी इस से आत्मनेपद समझना चाहिये। यहां पर 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' (७३१) से दूसरे 'कर्त्तरि' की अनुवृत्ति आकर **'कर्त्तैव यः कर्ता न तु कर्मकर्ता'** इस प्रकार व्याख्यान कर लिया जाता है। **अनुक्रियते स्वयमेव, पराक्रियते स्वयमेव।**

क्षिपँ प्रेरणे । स्वरितेत् । अभिक्षिपति ।।

अर्थः—अभि, प्रति अथवा अति उपसर्गों से परे क्षिप् धातु से परस्मैपद हो ।

व्याख्या—अभिप्रत्यतिभ्यः ।५।३। क्षिपः ।५।१। परस्मैपदम् ।१।१। (**'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्'** से)। अर्थः—(अभिप्रत्यतिभ्यः) अभि, प्रति अथवा अति उपसर्गों से परे (क्षिपः) क्षिप् धातु से (परस्मैपदम्) परस्मैपद हो जाता है ।

क्षिपँ प्रेरणे (फेंकना) धातु पाणिनीय धातुपाठ के तुदादिगण में स्वरितेत् पढ़ी गई है[1] । क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर इस से **'स्वरितञितः०'** (३७९) द्वारा आत्मनेपद प्राप्त था । परन्तु अब प्रकृतसूत्र से अभि, प्रति और अति उपसर्गों से परे इस से परस्मैपद का विधान किया जाता है । उदाहरण यथा—

अभि √ क्षिप्=अभिक्षिपति (अभिभूत करता है—दबाता है—निवारण करता है) । **अभिक्षिपन्तमैक्षिष्ट रावणं पर्वतश्रियम्**—भट्टि० ८.५१ ।

प्रति √ क्षिप्=प्रतिक्षिपति (हटाता है—दूर करता है) ।

अति √ क्षिप्=अतिक्षिपति (दूर करता है—निवारण करता है)।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७४७) प्राद्वहः ।१।३।८१।।

प्रवहति ।।

अर्थः—'प्र' उपसर्ग से परे वह् धातु से परस्मैपद हो ।

व्याख्या—प्रात् ।५।१। वहः ।५।१। परस्मैपदम् ।१।१। (**'शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्'** से) । अर्थः—(प्रात्) 'प्र' उपसर्ग से परे (वहः) वह् धातु से (परस्मैपदम्) परस्मैपद होता है ।

वहँ प्रापणे (ले जाना) धातु पीछे भ्वादिगण में स्वरितेत् पढ़ी गई है । अतः कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में **'स्वरितञितः०'** (३७९) से आत्मनेपद प्राप्त होता था । उस का अपवाद यह सूत्र जानना चाहिये । उदाहरण यथा—

---

१. यह धातु अनुदात्त होने से अनिट् है परन्तु लिँट् में क्रादिनियम से सेट् हो जाती है । कर्तरि रूपमाला यथा (परस्मैपदे)—लँट्—**क्षिपति** । लिँट्—**चिक्षेप, चिक्षिपतुः, चिक्षिपुः** । **चिक्षेपिथ** — । लुँट्—**क्षेप्ता** । लृँट्—**क्षेप्स्यति** । लोँट्—**क्षिपतु-क्षिपतात्** । लँङ्—**अक्षिपत्** । वि० लिँङ्—**क्षिपेत्** । आ० लिँङ्—**क्षिप्यात्** । लुँङ्—**अक्षैप्सीत्, अक्षैप्ताम्, अक्षैप्सुः** । लृँङ्—**अक्षेप्स्यत्** । (आत्मनेपदे) लँट्—**क्षिपते** । लिँट्—**चिक्षिपे** । लुँट्—**क्षेप्ता** । लृँट्—**क्षेप्स्यते** । लोँट्—**क्षिपताम्** । लँङ्—**अक्षिपत** । वि० लिँङ्—**क्षिपेत** । आ० लिँङ्—**क्षिप्सीष्ट** (**लिँङ्सिँचावात्मनेपदेषु** ५८९) । लुँङ्—**अक्षिप्त, अक्षिप्साताम्, अक्षिप्सत** । लृँङ्—**अक्षेप्स्यत** । **उत्क्षिपति**=ऊपर फेंकता है । **प्रक्षिपति**=फेंकता है । **सङ्क्षिपति**=संक्षेप करता है । **आक्षिपति**=आक्षेप करता है । **निक्षिपति**=पटकता है, अमानत रखता है । **विक्षिपति**=दूर फेंकता है । **अधिक्षिपति**=आक्षेप करता है ।

प्र√वह्=प्रवहति (बहती है)। आस्वाद्यतोयाः प्रवहन्ति नद्यः—हितोप०। अतः 'प्रवहमाणः स नद्यां निमग्नः' ऐसे प्रयोग नहीं करने चाहियें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७४८) परेर्मृषः ।१।३।८२॥

परिमृष्यति ॥

अर्थः—परिपूर्वक मृष् धातु से परस्मैपद हो।

व्याख्या—परेः ।५।१। मृषः ।५।१। परस्मैपदम् ।१।१। ('**शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्**' से)। अर्थः—(परेः) परि उपसर्ग से परे (मृषः) मृष् धातु से (परस्मैपदम्) परस्मैपद होता है।

मृषँ तितिक्षायाम् (सहना) धातु पीछे दिवादिगण में स्वरितेत् पढ़ी गई है। कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में इस से आत्मनेपद प्राप्त था, उस का यह सूत्र अपवाद है।

परि√मृष्=परिमृष्यति=असूया करता है। **मघोने परिमृष्यन्तम् आरमन्तं परं स्मरे**—भट्टि० ८.५२।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७४९) व्याङ्परिभ्यो रमः ।१।३।८३॥

रमुँ क्रीडायाम्। विरमति ॥

अर्थः—विपूर्वक, आङ्पूर्वक तथा परिपूर्वक रम् धातु से परस्मैपद हो।

व्याख्या—व्याङ्परिभ्यः ।५।३। रमः ।५।१। परस्मैपदम् ।१।१। ('**शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्**' से)। अर्थः—(व्याङ्परिभ्यः) वि, आङ् और परि उपसर्गों से परे (रमः) रम् धातु से (परस्मैपदम्) परस्मैपद होता है।

रमुँ क्रीडायाम् (खेलना, रमण करना, आनन्द मनाना) धातु पाणिनीय धातुपाठ के भ्वादिगण में अनुदात्तेत् पढ़ी गई है। '**अनुदात्तङित आत्मनेपदम्**' (३७८) द्वारा इस से नित्य आत्मनेपद प्राप्त था। अब यहां इस सूत्र से परस्मैपद का विधान किया जाता है।[1]

वि√रम्=विरमति (रुकता है, विरत होता है)। **विरम विरमायासाद् अस्माद् दुरध्यवसायतः**—नीति० ८९; **आत्मनीनमुपतिष्ठते गुणाः सम्भवन्ति विरमन्ति**

---

१. रम् धातु अनुदात्त होने से अनिट् है। परन्तु लिँट् में क्रादिनियम से सेट् हो जाती है। थल् में भारद्वाजनियम से इट् का विकल्प होता है। आत्मनेपद में रूपमाला यथा—(लँट्) **रमते**। (लिँट्) **रेमे, रेमाते, रेमिरे। रेमिषे**—(लुँट्)**रन्ता**। लृँट्—**रंस्यते**। लोँट्—**रमताम्**। लङ्—**अरमत**। वि० लिँङ्—**रमेत**। आ० लिँङ्—**रंसीष्ट**। लुँङ्—**अरंस्त, अरंसाताम्, अरंसत**। लृँङ्—**अरंस्यत**। विपूर्वक रम् की परस्मैपद में रूपमाला यथा—(लँट्) **विरमति**। लिँट्—**विरराम, विरेमतुः, विरेमुः**। **विरेमिथ-विररन्थ**—। लुँट्—**विरन्ता**। लृँट्—**विरंस्यति**। लोँट्—**विरमतु-विरमतात्**। लँङ्—**व्यरमत्**। वि० लिँङ्—**विरमेत्**। आ० लिँङ्—**विरम्यात्**। लुँङ्—**व्यरंसीत्, व्यरंसिष्टाम्, व्यरंसिषुः** (यमरमनमातां सक् च ४९५)। लृँङ्—**व्यरंस्यत्**।

चापदः—किरात० १३.६९; **अविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्**—उत्तरराम० १.२७।

आङ् √रम्=आरमति (सर्वतः रमण करता है)। **आरेमुरित्वा पुलिनान्यशङ्कं छायां समाश्रित्य विशश्रमुश्च**—भट्टि० ३.३८।

परि √रम्=**परिरमति** (प्रसन्न होता है, आनन्द मनाता है)। **क्षणं पर्यरमत् तस्य दर्शने मारुतात्मजः**—भट्टि० ८.५३॥

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७५०) उपाच्च।१।३।८४॥

यज्ञदत्तमुपरमति। उपरमयतीत्यर्थः। अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम्॥

अर्थः—उपपूर्वक रम् धातु से परस्मैपद हो।

व्याख्या—उपात्।५।१। च इत्यव्ययपदम्। रमः।५।१। (**'व्याङ्परिभ्यो रमः'** से)। परस्मैपदम्।१।१। (**'शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्'** से)। अर्थः—(उपात्) उप उपसर्ग से परे (च) भी (रमः) रम् धातु से (परस्मैपदम्) परस्मैपद हो।

इस सूत्र से आगे **अष्टाध्यायी** में **'विभाषाऽकर्मकात्'** (१.३.८५) सूत्र द्वारा उपपूर्वक अकर्मक रम् धातु से परस्मैपद का विकल्प विधान किया गया है (**अध्ययनाद् उपरमति उपरमते वा**—पढ़ने से विरत होता है), अतः प्रकृतसूत्र सकर्मक रम् धातु के विषय में समझना चाहिये। परन्तु उपपूर्वक रम् धातु अकर्मक होती है। इसलिये यहां अन्तर्भावित णिजर्थ का आश्रय कर प्रकृतसूत्र की सङ्गति लगाई जाती है। तात्पर्य यह है कि उपपूर्वक रम् धातु के **अर्थ में णिच्** प्रत्यय का अर्थ (प्रयोज्य-प्रयोजक-भाव)भी सम्मिलित हो जाता है[1]। उपपूर्वक रम् का **अर्थ** है—विरत होना, हटना, मरना आदि। णिच् के अर्थ के अन्तर्भावित हो जाने से अब इस का अर्थ हो जायेगा विरत करना, हटाना, मारना आदि। इस सूत्र का उदाहरण यथा—

यज्ञदत्तम् उपरमति (यज्ञदत्त को हटाता है वा मारता है) यहां उपरम् के अर्थ में णिच् का अर्थ भी अन्तर्भूत है अतः यह धातु सकर्मक हो गयी है। इस का कर्म 'यज्ञदत्तम्' है।

इस प्रक्रिया में मूलोक्त नियमों के अतिरिक्त निम्न चार नियम विद्यार्थियों के लिये अनुवादादि में परम उपयोगी होने से नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) **बुध-युध-नश-जनेङ्-प्रु-द्रु-स्रुभ्यो णेः**।१।३।८६॥ बुध्, युध्, नश्, जन्, इङ्, प्रु, द्रु, स्रु—इन आठ ण्यन्तों से परस्मैपद हो। यह **'णिचश्च'** (६९५) सूत्र का अपवाद है। उदाहरण यथा—**बोधयति पद्मम्। योधयति काष्ठानि। नाशयति दुःखम्। जनयति सुखम्। अध्यापयति। प्रावयति** (प्राप्त कराता है)। **द्रावयति** (पिघलाता है)। **स्रावयति** (टपकाता है)।

(२) **निगरणचलनार्थेभ्यश्च**।१।३।८७॥ भक्षणार्थक तथा कम्पनार्थक ण्यन्त

---

१. णिच् प्रत्यय न करने पर भी धातुओं के अनेकार्थक होने के कारण कहीं कहीं धात्वर्थ के अन्दर णिच् का अर्थ (प्रेरणा) भी सम्मिलित हो जाता है। इसी का नाम **'अन्तर्भावितण्यर्थ'** होता है।

धातुओं से परस्मैपद होता है। यह भी 'णिचश्च' (६६५) का अपवाद है। भक्षणार्थक यथा—**खादयति, आदयति, भोजयति**[1], **निगारयति** (निगलवाता है) आदि[2]। कम्पनार्थक यथा—**कम्पयति**। **चलयति**[3]। आदि।

(३) **अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्** ।१।३।८७॥ जो धातु अण्यन्त अवस्था में अकर्मक हो तथा साथ ही चेतन कर्ता वाली हो तो ण्यन्त अवस्था में उस से परस्मैपद होता है। यह भी 'णिचश्च'(६६५) का अपवाद है। देवदत्तः शेते—**देवदत्तं शाययति**। आस्ते देवदत्तः—**आसयति देवदत्तम्**।

(४) **न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवसः** ।१।३।८९॥ पा (पाने), दम्, आङ्√यम्, आङ्√यस्, परि√मुह्, रुच्, नृत्, वद्, वस्—इन ण्यन्तों से पूर्वोक्त दोनों सूत्रों द्वारा परस्मैपद नहीं होता। 'णिचश्च' (६६५) सूत्र द्वारा ही इन की व्यवस्था होगी। **पाययते** (पिलाता है), **दमयते** (दमन कराता है), **आयामयते**, **आयासयते** (फिकवाता है), **परिमोहयते** (भली भांति मोहित करता है), **रोचयते** (पसन्द कराता है), **नर्त्तयते** (नचाता है), **वादयते** (कहलाता है या बजाता है), **वासयते** (बसाता है)।

इति परस्मैपदप्रक्रिया

(यहां पर परस्मैपदप्रक्रिया का विवेचन समाप्त होता है)

इति पदव्यवस्था

(यहां पर आत्मने० और परस्मै० पदों की व्यवस्था भी समाप्त होती है)

अथ भावकर्मप्रक्रिया

(Impersonal and Passive Voices)

'लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः' (३७३) सूत्र में लकारों के तीन अर्थ बताये गये थे—कर्त्ता, कर्म और भाव। सकर्मक धातुओं से लकार कर्म और कर्त्ता अर्थ में तथा अकर्मक धातुओं से लकार भाव और कर्त्ता अर्थ में विधान किये गये थे। पीछे सकर्मक-अकर्मक दोनों से अब तक लकार केवल कर्त्ता अर्थ में दिखाए गये थे। अब अकर्मकों से भाव और सकर्मकों से कर्म अर्थ में इनको दर्शाने के लिये यह प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है। अतः इस प्रकरण को 'भावकर्म-प्रक्रिया' कहते हैं। यह प्रकरण

---

१. अतएव **'भुङ्क्ते भोजयते चैव'**—यह पञ्चतन्त्र (४.१३) का पाठ ठीक नहीं है।

२. इन भक्षणार्थों में अद् धातु का निषेध है—**अदेः प्रतिषेधः** (वा०) **आदयते देवदत्तेन** (देवदत्त को खिलाता है)।

३. घटादित्वात् **'मितां ह्रस्वः'** (७०४) से उपधाह्रस्व हो जाता है।

अनुवादादि के लिये अतीव उपयोगी है। कर्तृप्रयोगों की अपेक्षा कर्मणिप्रयोग अधिक सुन्दर तथा सरल भी होते हैं। अतः विद्यार्थियों को दत्तचित्त होकर इस प्रक्रिया का सम्यक्प्रकारेण अभ्यास करना चाहिये।

भाववाच्य और कर्मवाच्य में धातु से कौन सा पद किया जाये—इस का सर्वप्रथम विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७५१) भाव-कर्मणोः ।१।३।१३॥

लस्यात्मनेपदम् ॥

अर्थः—भाव और कर्म में हुए लकार के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय हों।

व्याख्या—भाव-कर्मणोः ।७।२। आत्मनेपदम् ।१।१। (**'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** से)। अर्थः—(भावकर्मणोः) भाव और कर्म में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं। आत्मनेपद-परस्मैपद सब प्रत्यय पीछे (३७५) सूत्र द्वारा लकार के स्थान पर आदेश किये गये हैं अतः यहां भाव और कर्म वाच्य में लकार के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय समझने चाहियें।

ध्यान रहे कि भाववाच्य और कर्मवाच्य में परस्मैपद का नितान्त अभाव होता है। धातु चाहे परस्मैपदी हो या आत्मनेपदी अथवा उभयपदी भी क्यों न हो, भाववाच्य और कर्मवाच्य में आत्मनेपद ही का प्रयोग होगा परस्मैपद का नहीं।

पीछे लकारों के स्थान पर तिङ् प्रत्ययों के करने के बाद धातु और सार्वधातुक तिङ् के बीच में शप्, श्यन् आदि विकरण आ जाया करते थे। परन्तु वे सब कर्तृवाच्य में विहित होने से यहां नहीं होते। यहां भाववाच्य और कर्मवाच्य के लिये अग्रिमसूत्र द्वारा नये विकरण का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७५२) सार्वधातुके यक् ।३।१।६७॥

धातोर्यक् भावकर्मवाचिनि सार्वधातुके ॥

अर्थः—भाव या कर्म के वाचक सार्वधातुक परे होने पर धातु से यक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—सार्वधातुके ।७।१। यक् ।१।१। भावकर्मणोः ।७।२। (**'चिण्भावकर्मणोः'** से)। **'प्रत्ययः, परश्च'** दोनों अधिकृत हैं। धातोः ।५।१। (**'धातोरेकाचो०'** से)। अर्थः—(भावकर्मणोः) भाव या कर्म अर्थ में (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे होने पर (धातोः) धातु से (परः) परे (यक्) यक् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है। यक् में ककार इत्सञ्ज्ञक होकर लुप्त हो जाता है, **'य'** यह सस्वर शेष रहता है। यक् में ककार जोड़ने का प्रयोजन गुण-वृद्धि का निषेध करना तथा सम्प्रसारण करना है। यथा—**'भूयते'** में यक् के कित्त्व के कारण आर्धधातुकगुण का निषेध हो जाता है। **'मृज्यते'** में **'मृजेर्वृद्धिः'** (७.३.११४) से वृद्धि का निषेध हो जाता है। **'इज्यते'** में यक् के कित्त्व के कारण यज् धातु के यकार को **'वचिस्वपि०'** (५४७) से सम्प्रसारण हो जाता है।

भाववाच्य और कर्मवाच्य क्या होते हैं? इस का क्रमशः विवेचन करते हुए ग्रन्थकार प्रथम भाववाच्य (Impersonal Voice) को स्पष्ट करते हैं—

[लघु०] भावः क्रिया, सा च भावार्थक-लकारेणाऽनूद्यते । युष्मदस्मद्भ्यां सामानाधिकरण्याऽभावात् प्रथमः पुरुषः । तिङ्वाच्यक्रियाया अद्रव्यरूपत्वेन द्वित्वाद्यप्रतीतेर्न द्विवचनादि । किन्त्वेकवचनमेवोत्सर्गतः । त्वया मयाऽन्यैश्च भूयते । बभूवे ।।

अर्थः—धातु के अर्थ क्रिया को 'भाव' कहते हैं । भावार्थक लकार उसी धात्वर्थ का अनुवाद करता है । भाववाच्य में लकार की युष्मद् और अस्मद् के साथ समानाधिकरणता नहीं होती अतः प्रथमपुरुष का प्रयोग होता है । भाव अद्रव्य होता है, उस में द्वित्व आदि की प्रतीति नहीं होती इसलिये भाववाच्य में द्विवचन और बहुवचन नहीं होते । केवल एकवचन का ही प्रयोग होता है क्योंकि वह औत्सर्गिक (उत्सर्गसिद्ध) होता है । यथा—**त्वया भूयते, मया भूयते, अन्यैश्च भूयते** आदि ।

व्याख्या—भाववाच्य में लकार द्वारा धातु का अर्थ कहा जाता है कर्त्ता वा कर्म नहीं । धातु जिस क्रिया को कहता है लकार भी उसी क्रिया को कहता है । प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब धातुद्वारा क्रिया कही जा चुकी है तो लकारद्वारा पुनः उसे कहने का क्या प्रयोजन ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि लकार किसी नई क्रिया को नहीं कहता, वह तो धातुद्वारा कही जा चुकी क्रिया का अनुवाद करता है । अर्थात् उसे दोहराता है । दोहराना स्पष्टप्रतिपत्ति के लिये हुआ करता है अतः कोई दोष नहीं आता ।

भाववाच्य में लकार का वाच्य धातुप्रोक्त क्रिया होती है युष्मद् वा अस्मद् नहीं अतः मध्यम और उत्तम पुरुषों के होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता । '**शेषे प्रथमः**' (३८५) से युष्मद्-अस्मद् के अविषय में केवल प्रथमपुरुष का ही प्रयोग होता है ।

भाववाच्य में लकारद्वारा क्रिया का अनुवाद किया जाता है । क्रिया द्रव्यरूप नहीं होती, उस का कोई मूर्तरूप नहीं होता अतः उस में संख्या की प्रतीति न होने से द्विवचन और बहुवचन का प्रयोग नहीं होता । एकवचन को भाष्यकार ने अनैमित्तिक तथा औत्सर्गिक माना है, वह एकत्व संख्या की अपेक्षा नहीं करता, द्वित्वादि के अभाव में वह निर्बाध सर्वत्र हो सकता है[1] । इससे भाववाच्य में केवल एकवचन का ही प्रयोग होता है । सार यह है कि भाववाच्य में प्रत्येक लकार का प्रथमपुरुष के एकवचन में ही प्रयोग होता है । उदाहरण यथा—

---

१. '**द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने**' (१.४.२२) इस योग का विभाग कर '**एकवचनम्, द्वयोर्द्विवचनम्**' तदनन्तर '**बहुषु बहुवचनम्**' इस प्रकार पाठ कर के एकवचन को निर्निमित्तक सिद्ध किया जाता है । '**एकवचनम्**'—प्रत्येक शब्द से एकवचन हुआ करता है । '**द्वयोर्द्विवचनम्**'—द्वित्व की विवक्षा में द्विवचन होता है । '**बहुषु बहुवचनम्**'—बहुत्व की विवक्षा में बहुवचन होता है । इस प्रकार संख्या की अपेक्षा के विना एकवचन को औत्सर्गिक-स्वाभाविक सिद्ध कर लिया जाता है । (**वैयाकरणभूषणसार के भैमीभाष्य से उद्धृत**) ।

त्वया मया अन्यैश्च भूयते (तुझ से, मुझ से या अन्यों से हुआ जाता है)। यहां अकर्मक भू धातु से वर्त्तमानकाल की विवक्षा में भाव में लँट् प्रत्यय हुआ है। इस भाव के '**युष्मद्, अस्मद् या अन्य**' कर्त्ता तो हैं परन्तु लकार द्वारा वे उक्त नहीं अतः '**कर्तृकरणयोस्तृतीया**' (८९५) द्वारा उन अनुक्त कर्त्ताओं में तृतीया विभक्ति हो जाती है। युष्मद् वा अस्मद् के साथ लकार का सामानाधिकरण्य न होने से मध्यम वा उत्तम पुरुष नहीं हो सकता। '**शेषे प्रथमः**' (३८५) से केवल प्रथम पुरुष हो जाता है। भाव के अमूर्त्तरूप होने से द्वित्वादि की प्रतीति न होने से केवल औत्सर्गिक एकवचन का ही प्रयोग होता है। भाववाच्य में '**भावकर्मणोः**' (७५१) द्वारा आत्मनेपद का विधान होने से लँट् के स्थान पर 'त' आदेश हो कर '**तिङ्शित्सार्वधातुकम्**' (३८६) से उसकी सार्वधातुकसञ्ज्ञा हो जाती है। अब सार्वधातुक के परे रहते '**सार्वधातुके यक्**' (७५२) द्वारा यक् विकरण आ जाता है—भू+यक्+त=भू+य+त। '**आर्धधातुकं शेषः**' (४०४) से यक् आर्धधातुक है, इस को मान कर 'भू' अङ्ग को गुण (३८८) प्राप्त होता है परन्तु यक् के कित्त्व के कारण '**क्ङिति च**' (४३३) से उस का निषेध हो कर '**टित आत्मनेपदानां टेरे**' (५०८) से टि को एत्व करने पर '**भूयते**' प्रयोग सिद्ध होता है। भाववाच्य के लँट् में भू धातु का केवल यही एक रूप बनता है अन्य रूप नहीं। इसी प्रकार अन्य लकारों का भी भाववाच्य में केवल एक एक प्रयोग बनेगा।

नोट—'भूयते' में लकार भाव का वाचक है कर्त्ता का नहीं, अतः कर्त्ता का तथा उस के वचन एकवचन द्विवचन बहुवचन का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अत एव—**तेन भूयते, ताभ्यां भूयते, तैः भूयते, त्वया भूयते, युवाभ्यां भूयते, युष्माभिः भूयते, मया भूयते, आवाभ्यां भूयते, अस्माभिः भूयते**—इत्यादियों में '**भूयते**' अपरिवर्त्तित रहता है।

लिँट्—लिँडादेश आर्धधातुक होता है अतः यक् नहीं होता। 'त' को एश् आदेश (५१३), वुक् का आगम (३९३) तथा द्वित्व आदि कार्य करने पर '**बभूवे**' प्रयोग सिद्ध होता है।

लुँट्—में 'त' आदेश तथा यक् का अपवाद तास् प्रत्यय हो कर—भू+तास्+त। अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७५३) स्य-सिँच्-सीयुट्-तासिषु भावकर्मणो-रुपदेशेऽज्झन-ग्रह-दृशां वा चिण्वदिट् च ।६।४।६२॥

उपदेशे योऽच् तदन्तानां हनादीनां च चिणीव अङ्गकार्यं वा स्यात् स्यादिषु भावकर्मणोर्गम्यमानयोः, स्यादीनामिडागमश्च। चिण्वद्भावपक्षेऽयमिट्। चिण्वद्भावाद् वृद्धिः—भाविता, भविता। भाविष्यते, भविष्यते। भूयताम्। अभूयत। भूयेत। भाविषीष्ट, भविषीष्ट॥

अर्थः—भाव वा कर्म गम्यमान हों तो उपदेश में जो अच् तदन्त धातुओं को

तथा हन्, ग्रह् और दृश् धातुओं को स्य, सिँच्, सीयुट् या तास् परे होने पर विकल्प से चिण्वत् कार्य होते है; चिण्वत्पक्ष में स्य आदियों को इट् का आगम भी हो जाता है।

व्याख्या—स्य-सिँच्-सीयुट्-तासिषु ।७।३। भावकर्मणोः ।७।२। उपदेशे ।७।१। **अज्झनग्रहदृशाम्** ।६।३। वा इत्यव्ययपदम् । चिण्वत् इत्यव्ययपदम् । इट् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । 'उपदेशे' पद का 'अच्' अंश के साथ सम्बन्ध होता है। 'अङ्गस्य' के अधिकृत होने से तदन्तविधि हो कर—'उपदेशे योऽच् तदन्तानाम् अङ्गानाम्' बन जाता है। वह अङ्ग धातु ही हो सकता है। अतः 'धातूनाम्' समझ लेना चाहिये। चिणि इव चिण्वत्, सप्तम्यन्ताद्वतिँः। अर्थः—(भाव-कर्मणोः) भाव और कर्म के विषय में (स्य-सिँच्-सीयुट्-तासिषु) स्य, सिँच्, सीयुट्[1] वा तास् के परे होने पर (उपदेशे, अज्झनग्रहदृशाम्) उपदेश में जो अच् तदन्त धातुओं के तथा हन्, ग्रह् और दृश् धातुओं के स्थान पर (चिण्वत्) चिण् परे होने की तरह (वा) विकल्प से अङ्गकार्य हो जाते हैं (इट् च) किञ्च स्य आदियों को इट् का आगम भी हो जाता है।

ध्यान रहे कि **'सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः'** इस परिभाषा के बल से जिस पक्ष में चिण्वद्भाव होगा प्रकृतसूत्र द्वारा इट् का आगम भी उसी पक्ष में होगा। परन्तु चिण्वद्भाव अङ्ग को होगा और इट् का आगम स्य आदियों को—यह नहीं भूलना चाहिये। क्योंकि **महाभाष्य** (६.४.६२) में कहा है—**यावान् इण् नाम स सर्व आर्धधातुकस्यैव भवति।**

चिण्वद्भाव का अभिप्राय यह है कि जैसे चिण् परे होने पर अङ्गकार्य होते हैं वैसे यहां स्य आदियों के परे होने पर भी अङ्गकार्य हों। चिण् णित् प्रत्यय है इस के परे होने पर प्रायः निम्न चार अङ्गकार्य होते हैं वे यहां भाववाच्य और कर्मवाच्य में स्य आदियों के परे होने पर भी होंगे—

(१) चिण् परे होने पर **'अचो ञ्णिति'** (१८२) या **'अत उपधायाः'** (४५५) से णिन्निमित्तक वृद्धि होती है वह यहां स्य आदियों में भी होगी। यथा—भू + इट् + स्य + ते = भौ + इ + स्य + ते = भाविष्यते। ग्रह् + इट् + स्य + ते = ग्राहिष्यते।

(२) चिण् परे होने पर **'आतो युक् चिण्कृतोः'** (७५७) सूत्र से आदन्त धातुओं को युक् का आगम हो जाता है वह यहां स्य आदियों में भी हो जायेगा। यथा—दा + इट् + स्यते = दा + युक् + इट् + स्यते = दायिष्यते।

(३) चिण् के णित् होने से उस के परे रहते **'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु'** (७.३.५४) से हन् धातु के हकार को घकार होता है वह यहां स्य आदियों में भी हो जायेगा। यथा—हन् + इट् + स्यते = घन् + इ + स्यते = घान् + इ + स्यते = घानिष्यते।

(४) चिण् परे होने पर **'चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्'** (६.४.९३) द्वारा मित् अङ्ग की उपधा को वैकल्पिक दीर्घ होता है वह इन स्य आदियों में भी होगा। यथा—शम् + इ + स्यते = शामिष्यते-शमिष्यते।

---

१. यह सूत्र **'आर्धधातुके'** (६.४.४६) के अधिकार में पढ़ा गया है अतः आ० लिङ् के सीयुट् का ही यहां ग्रहण होता है, सार्वधातुक वि० लिङ् के सीयुट् का नहीं।

महाभाष्य—(६.४.६२) में चिण्वद्भाव के इन प्रयोजनों को अत्यन्त सुन्दर शालिनी छन्द द्वारा प्रतिपादित किया गया है—

चिण्वद् वृद्धिर्युक् च हन्तेश्च घत्वं दीर्घश्चोक्तो यो मितां वा चिणीति ।
इट् चाऽसिद्धस्तेन मे लुप्यते णिर्नित्यश्चायं वल्निमित्तो विघाती ॥

चिण् परे होने पर जैसे वृद्धि, युक् का आगम, हन् को घत्व तथा मितों को वैकल्पिक दीर्घ होता है वैसे यहां चिण्वद्भाव में भी समझना चाहिये। इस चिण्वद्भाव के साथ विधीयमान इट् (आभीयत्वेन) असिद्ध होता है अतः **'णेरनिटि'** (५२९) से णि का लोप हो जाता है। यह इट् नित्य तथा वलादिलक्षण वाला इट् अनित्य होता है। [कारिका के उत्तरार्ध का स्पष्टीकरण आगे किया गया है—वहीं देखें]

'भू+तास्+त' यहां भू धातु उपदेश में अजन्त है तथा इस से परे तास् विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से चिण्वद्+इट् हो जाता है—भू+इतास्+त। चिण्वद्भाव के कारण **'अचो ञ्णिति'** (१८२) से ऊकार को औकार वृद्धि हो जाती है—भौ+इतास्+त। अब औकार को आव् आदेश, त को डा आदेश तथा टि का लोप करने पर 'भाविता' प्रयोग सिद्ध होता है। जिस पक्ष में चिण्वद्+इट् नहीं होता वहां **'आर्धधातुकस्येड् वलादेः'** (४०१) से वलादिलक्षण इट् होकर आर्धधातुकगुण और अवादेश करने से 'भविता' प्रयोग बनता है। इस प्रकार लुँट् में **'भाविता-भविता'** दो रूप सिद्ध होते हैं।

लृँट्—में 'भू+स्य+ते' इस स्थिति में पूर्ववत् चिण्वद्+इट् करने पर वृद्धि और आवादेश करने से **'भाविष्यते'** प्रयोग सिद्ध होता है। पक्ष में वलादिलक्षण इट् होकर गुण हो जाता है—**भविष्यते**। इस प्रकार **'भाविष्यते-भविष्यते'** दो रूप सिद्ध होते हैं।

लोँट्—यहां सार्वधातुकत्वात् यक् हो जाता है—**भूयताम्**। इसी प्रकार लँङ् और विधिलिँङ् में भी। लँङ्—**अभूयत**। वि० लिँङ्—**भूयेत**। आ० लिँङ्—में सीयुट् के होने से चिण्वद्+इट् होकर वृद्धि हो जाती है—**भाविषीष्ट**। पक्ष में वलादिलक्षण इट् होकर गुण हो जाता है—**भविषीष्ट**।

लुँङ्—में च्लिप्रत्यय तथा अट् का आगम करने पर 'अभू+च्लि+त' इस स्थिति में **'च्लेः सिँच्'** (४३८) का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७५४) चिण् भाव-कर्मणोः ।३।१।६६॥

च्लेश्चिण् स्याद् भावकर्मवाचिनि तशब्दे परे। अभावि। अभाविष्यत, अभविष्यत ॥

अर्थः—भाववाचक या कर्मवाचक 'त' शब्द परे हो तो च्लि के स्थान पर चिण् आदेश हो।

व्याख्या—चिण् ।१।१। भावकर्मणोः ।७।२। ते ।७।१। (**'चिण् ते पदः'** से)। च्लेः ।६।१। (**'च्लेः सिँच्'** से)। अर्थः—(भाव-कर्मणोः) भाव और कर्म में (ते) 'त' शब्द

परे हो तो (च्लेः) च्लि के स्थान पर (चिण्) चिण् आदेश हो जाता है। चिण् में चकार-णकार इत् हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'इ' मात्र शेष रहता है।

'अभू+च्लि+त' यहां पर भाव का वाचक 'त' शब्द परे विद्यमान है। अतः प्रकृतसूत्र से च्लि के स्थान पर चिण् आदेश होकर—अभू+इ+त। चिण् के णित्त्व के कारण **'अचो ञ्णिति'** (१८२) से वृद्धि तथा **'एचोऽयवायावः'** (२२) से औकार को आव् आदेश हो जाता है—अभावि+त। अब **'चिणो लुक्'** (६४१) से 'त' प्रत्यय का लुक् करने पर **'अभावि'** प्रयोग सिद्ध होता है।

लृँङ्—में चिण्वद्+इट् हो जाता है—**अभाविष्यत**। पक्ष में वलादिलक्षण इट् हो कर गुण और अवादेश हो जाते हैं—**अभविष्यत**।

अब ग्रन्थकार कर्मवाच्य (Passive Voice) का वर्णन करते हैं—

[लघु०] अकर्मकोऽप्युपसर्गवशात् सकर्मकः। अनुभूयते आनन्दश्चैत्रेण त्वया मया च। अनुभूयेते। अनुभूयन्ते। त्वम् अनुभूयसे। अहमनुभूये। अन्वभावि। अन्वभाविषाताम्, अन्वभविषाताम्॥

व्याख्या—अकर्मक धातु भी उपसर्गयोग के कारण कई बार सकर्मक हो जाती है। जैसे 'भू' धातु का अर्थ है—होना, इस अर्थ में यह अकर्मक है। परन्तु 'अनु' उपसर्ग लगाने से इसका अर्थ 'अनुभव करना—महसूस करना' हो जाता है। अब यह सकर्मक है। अकर्मकों से भाववाच्य और सकर्मकों से कर्मवाच्य में लकार आता है यह पीछे (३७३) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं। अनु√भू से सकर्मकत्वात् कर्म में लँट् की उत्पत्ति होती है। जब लकार कर्म में आता है तब कर्म के उक्त होने से उस में प्रथमा विभक्ति आती है। किञ्च कर्म के एक-द्वि-बहु वचनों के अनुसार तङ् में भी वचन होते हैं। इसलिये भाववाच्य में जहां प्रत्येक लकार के प्र० पु० के एकवचन में ही रूप बनते हैं वहां कर्मवाच्य में सब पुरुषों के सब वचनों में रूप बनते हैं।

उदाहरण यथा—

तेन आनन्दोऽनुभूयते (उस से आनन्द अनुभव किया जाता है)।

ताभ्याम् आनन्दोऽनुभूयते (उन दो से आनन्द अनुभव किया जाता है)।

तैरानन्दोऽनुभूयते (उन सब से आनन्द अनुभव किया जाता है)।

त्वयाऽऽनन्दोऽनुभूयते (तुझ से आनन्द अनुभव किया जाता है)।

युवाभ्यामानन्दोऽनुभूयते (तुम दो से आनन्द अनुभव किया जाता है)।

युष्माभिरानन्दोऽनुभूयते (तुम सब से आनन्द अनुभव किया जाता है)।

मयाऽऽनन्दोऽनुभूयते (मुझ से आनन्द अनुभव किया जाता है)।

आवाभ्यामानन्दोऽनुभूयते (हम दो से आनन्द अनुभव किया जाता है)।

अस्माभिरानन्दोऽनुभूयते (हम सब से आनन्द अनुभव किया जाता है)।

इन सब में कर्म 'आनन्द' है। उस के एकवचनान्त होने से कर्मवाच्य की क्रिया 'अनुभूयते' में भी एकवचन का प्रयोग हुआ है। यदि कर्म द्विवचनान्त वा बहुवचनान्त

होगा तो उस में भी द्विवचन वा बहुवचन का प्रयोग होगा। यथा—**मया सुखदुःखे अनुभूयेते। त्वया शीतवर्षातपादयोऽनुभूयन्ते।** इसी प्रकार यदि कर्म युष्मद् वा अस्मद् होगा तो क्रिया के साथ भी क्रमशः मध्यमपुरुष और उत्तमपुरुष का प्रयोग किया जायेगा। यथा—**तेन त्वम् अनुभूयसे, तेन युवाम् अनुभूयेथे, तेन यूयम् अनुभूयध्वे। तेन अहम् अनुभूये, तेन आवाम् अनुभूयावहे। तेन वयम् अनुभूयामहे।** ध्यान रहे कि कर्मवाच्य में कर्म तो उक्त रहता है परन्तु कर्त्ता अनुक्त, अतः '**कर्तृकरणयोस्तृतीया**' (८९५) से अनुक्त कर्त्ता में तृतीया विभक्ति होती है।

भाववाच्य और कर्मवाच्य की प्रक्रिया में प्रायः कोई भेद नहीं। दोनों में यक्, चिण्वद्भाव+इट् और आत्मनेपद समान हैं। इन दोनों में अन्तर केवल इतना है कि **जहां भाववाच्य में केवल प्र० पु० के एकवचन में ही रूप बनते हैं वहां कर्मवाच्य में सब पुरुषों के सब वचनों में रूप चलते हैं।**

अनु √ भू की कर्मवाच्य में रूपमाला यथा—

लँट्—**अनुभूयते, अनुभूयेते, अनुभूयन्ते। अनुभूयसे, अनुभूयेथे, अनुभूयध्वे। अनुभूये, अनुभूयावहे, अनुभूयामहे।** लिँट्—**अनुबभूवे, अनुबभूवाते, अनुबभूविरे। अनुबभूविषे, अनुबभूवाथे, अनुबभूविढ्वे-अनुबभूविध्वे (विभाषेटः ५२७)। अनुबभूवे, अनुबभूविवहे, अनुबभूविमहे।** लुँट्—**अनुभाविता-अनुभविता[1], अनुभावितारौ-अनुभवितारौ, अनुभावितारः-अनुभवितारः। अनुभावितासे-अनुभवितासे—।** लृँट्—**अनुभाविष्यते-अनुभविष्यते—।** लोँट्—**अनुभूयताम्, अनुभूयेताम्, अनुभूयन्ताम्। अनुभूयस्व—।** लँङ्—**अन्वभूयत, अन्वभूयेताम्, अन्वभूयन्त।** वि० लिँङ्—**अनुभूयेत, अनुभूयेयाताम्, अनुभूयेरन्** इत्यादि। आ० लिँङ्—**अनुभाविषीष्ट-अनुभविषीष्ट** आदि। लुँङ्—**अन्वभावि[2], अन्वभाविषाताम्-अन्वभविषाताम्[3], अन्वभाविषत-अन्वभविषत। अन्वभाविष्ठाः-अन्वभविष्ठाः, अन्वभाविषाथाम्-अन्वभविषाथाम्, अन्वभाविढ्वम्-अन्वभाविध्वम्-अन्वभविढ्वम्-अन्वभविध्वम्। अन्वभाविषि-अन्वभविषि, अन्वभाविष्वहि-अन्वभविष्वहि, अन्वभाविष्महि-अन्वभविष्महि।** लृँङ्—**अन्वभाविष्यत-अन्वभविष्यत** इत्यादि।

भू धातु से '**हेतुमति च**'(७००) द्वारा हेतुमण्णिच् करने पर अनुबन्धलोप, वृद्धि तथा आवादेश करने पर 'भावि'(हुवाना) यह णिजन्तरूप निष्पन्न होता है। '**सनाद्यन्ता धातवः**' (४६८) से 'भावि' की धातुसञ्ज्ञा है। सकर्मक होने से 'भावि' से कर्मणि लकार हो जायेंगे। अब इस की प्रक्रिया का वर्णन करते हैं—

---

१. '**स्यसिँच्सीयुट्०**' से वैकल्पिक चिण्वद्+इट् हो जाता है। चिण्वत्पक्ष में वृद्धि तथा तदभाव में आर्धधातुकगुण होता है।

२. '**चिण्भावकर्मणोः**' (७५४) से च्लि को चिण्, अजन्तलक्षणा वृद्धि (१८२) आवादेश तथा '**चिणो लुक्**' (६४१) से 'त' का लुक् हो जाता है।

३. च्लि को सिँच् होकर वैकल्पिक चिण्वद्+इट् हो जाता है। चिण्वत्पक्ष में वृद्धि तथा अभावपक्ष में आर्धधातुकगुण होकर रूप सिद्ध होते हैं।

[लघु०] णिलोपः—भाव्यते। भावयाञ्चक्रे, भावयाम्बभूवे, भावयामासे। चिण्वदिट्—भाविता, आभीयत्वेनाऽसिद्धत्वाण्णिलोपः। भावयिता। भावयिषीष्ट। अभावि। अभाविषाताम्, अभावयिषाताम्॥

व्याख्या—'भावि' इस हेतुमण्णिजन्त से कर्मवाच्य में लँट्, प्र० पु० के एकवचन की विवक्षा में **'भावकर्मणोः'** (७५१) से 'त' प्रत्यय तथा **'सार्वधातुके यक्'** (७५२) से यक् विकरण करने पर 'भावि+य+त' इस स्थिति में अनिडादि आर्धधातुक यक् के परे रहते **'णेरनिटि'** (५२६) से णि का लोप करने पर 'भाव्यते' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—**भाव्यते, भाव्येते, भाव्यन्ते** आदि।

लिँट्—में 'भावि' धातु से अनेकाच् होने के कारण **'कास्यनेकाच आम् वक्तव्यो लिँटि'** (वा० ३४) से आम्प्रत्यय तथा णिलोप का बाध कर **'अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु'** (५२६) से णि के इकार को अयादेश कर 'भावयाम्+लिँट्' हुआ। अब **'आमः'** (४७१) से लिँट् का लुक् होकर **'कृञ्चानु०'** (४७२) से लिँट्परक कृ-भू-अस् का अनुप्रयोग हो जाता है। **'भाव-कर्मणोः'** (७५१) द्वारा इन सब से आत्मनेपद का प्रयोग होकर रूपसिद्धि होती है—**भावयाञ्चक्रे-भावयाम्बभूवे-भावयामासे** आदि।

लुँट्—में तास् होकर प्र० पु० के एकवचन में 'भावि+तास्+त' इस स्थिति में **'स्य-सिँच्-सीयुट्०'** (७५३) सूत्र की प्रवृत्ति होती है। वहां की वृत्ति में **'उपदेश में जो अच् तदन्त धातु'** के अनुसार 'भावि' का भी ग्रहण हो जाता है[1]। अतः इस से चिण्वद्+इट् होकर 'भावि+इतास्+त' हुआ। चिण्वद् के साथ हुआ इट् आभीय कार्य है; इधर **'णेरनिटि'** (५२६) दूसरा आभीय कार्य है। दोनों समानाश्रय कार्य हैं। अतः प्रथम किया गया आभीय इडागम **'असिद्धवदत्राऽऽभात्'** (५६२) से **'णेरनिटि'** (५२६) की दृष्टि में असिद्ध है, उसे सामने इट् दिखाई नहीं देता अपितु अनिडादि आर्धधातुक दिखाई देता है। इस से णि का लोप होकर 'भाव्+इतास्+त' हो जाता है। अब लुँट् की प्रक्रिया के अनुसार 'त' को डा आदेश तथा डित्वसामर्थ्य से भसञ्ज्ञा न होते हुए भी टि का लोप करने से 'भाविता' प्रयोग सिद्ध होता है[2]। चिण्वद्+

---

१. सीधा **'उपदेश में अजन्त धातु'** न कह कर **'उपदेश में जो अच् तदन्त धातु'** इसलिये कहा गया था कि णिजन्तों से तास् आदि करने पर चिण्वदिट् हो सके। तथाहि—यदि 'उपदेश में अजन्त धातु' कहते तो 'भावि' आदि णिजन्त धातुओं का कहीं उपदेश न होने से उनका ग्रहण न हो सकता। परन्तु अब 'उपदेश में जो अच् तदन्त धातु' कहने से उन का निर्बाध ग्रहण हो जाता है, क्योंकि इ(णिच्) प्रत्यय का **'हेतुमति च'** (७००) द्वारा उपदेश किया गया है और तदन्त धातु 'भावि' आदि स्पष्ट हैं ही।

२. यदि कहें कि 'भावि+तास्+त' इस स्थिति में चिण्वदिट् (६.४.६२) और वलादिलक्षण इट् (७.२.३५) के युगपत् प्राप्त होने पर परत्व के कारण वलादिलक्षण इट् ही क्यों नहीं करते—तो यह ठीक नहीं। क्योंकि वलादिलक्षण इट् अनित्य और चिण्वदिट् नित्य है। जो कार्य विरोधी के होने या न होने दोनों प्रकार की

इट् के अभावपक्ष में 'भावि+तास्+त' इस स्थिति में **'आर्धधातुकस्येड् वलादेः'**(४०१) द्वारा वलादिलक्षण इट् हो जाता है। यह इट् आभीय न होने से **'णेरनिटि'** (५२६) की दृष्टि में असिद्ध नहीं होता, उसे सामने इडादि आर्धधातुक दीखता है, अनिडादि नहीं; इसलिये णि का लोप नहीं होता। अब **'सार्वधातुकाऽऽर्धधातुकयोः'** (३८८) से आर्धधातुकगुण होकर अयादेश करने पर 'भावयिता' प्रयोग सिद्ध होता है। इस प्रकार लुट् में **'भाविता-भावयिता'** दो रूप बनते हैं। तस् आदियों में भी इसी तरह प्रक्रिया समझनी चाहिये।

लृट्—में भी लुट् की तरह प्रक्रिया होती है। (चिण्वदिट्पक्षे) **भाविष्यते, भाविष्येते, भाविष्यन्ते** आदि। (तदभावे) **भावयिष्यते, भावयिष्येते, भावयिष्यन्ते।** लोट्—**भाव्यताम्, भाव्येताम्, भाव्यन्ताम्।** लङ्—**अभाव्यत, अभाव्येताम्, अभाव्यन्त।** वि० लिङ्—**भाव्येत, भाव्येयाताम्, भाव्येरन्।** आ० लिङ्—(चिण्वदिट्पक्षे) **भाविषीष्ट, भाविषीयास्ताम्, भाविषीरन्,।** (तदभावे) **भावयिषीष्ट, भावयिषीयास्ताम्, भावयिषीरन्।** लुङ्—**अभावि,** (चिण्वदिट्पक्षे) **अभाविषाताम्, अभाविषत।** (तदभावे) **अभावयिषाताम्, अभावयिषत।** लृङ्—(चिण्वदिट्पक्षे) **अभाविष्यत।** (तदभावे) **अभावयिष्यत।**

भू धातु से इच्छा अर्थ में **'धातोः कर्मणः०'** (७०५) से सन् प्रत्यय होकर **'सन्यङोः'** (७०६) से द्वित्वादि करने पर 'बुभूष' (होने की इच्छा) यह सन्नन्त रूप निष्पन्न होता है। **'सनाद्यन्ताः०'**(४६८) से इसकी धातुसञ्ज्ञा है। यह अकर्मक धातु है अतः इस से **'लः कर्मणि०'**(३७३) के अनुसार कर्त्ता या भाव में लकार हो सकते हैं। कर्तृप्रयोग सन्नन्तप्रक्रिया में दिखाये जा चुके हैं, अब भाव में प्रक्रिया दिखाते हैं—

[लघु०] बुभूष्यते। बुभूषाञ्चक्रे। बुभूषिता। बुभूषिष्यते ॥

व्याख्या—'बुभूष' इस सन्नन्त धातु से भाव में लट् करने पर प्र० पु० के एकवचन में 'त' आदेश, यक् तथा **'अतो लोपः'** (४७०) से सन् के अकार का लोप कर टि को एत्व (५०८) करने से **'बुभूष्यते'** प्रयोग बनता है। तेन बुभूष्यते (उस से होने की इच्छा की जाती है)। भाव में लकार होने से आगे रूप नहीं बनते।

लिट्—में धातु के अनेकाच् होने से आम् हो कर **'अतो लोपः** (४७०) से

अवस्थाओं में प्राप्त हो उसे नित्य कहते हैं—**कृताऽकृतप्रसङ्गी यो विधिः स नित्यः।** यहां पर वलादिलक्षण इट् चाहे प्रवृत्त भी हो जाये तो भी चिण्वदिट् की प्राप्ति बनी रहती है परन्तु यदि चिण्वदिट् कर दें तो वलादि न रहने से वलादिलक्षण इट् की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः चिण्वदिट् नित्य तथा वलादिलक्षण इट् अनित्य है—ऐसा निश्चय होता है। नित्य और अनित्य कार्यों का विरोध होने पर सदा नित्य कार्य ही हुआ करता है। इस प्रकार प्रथम चिण्वदिट् हो जायेगा और उपर्युक्तप्रकार से कोई दोष नहीं आयेगा। पीछे चिण्वद्भाव के प्रयोजनों को बतलाने वाली महाभाष्य की कारिका के उत्तरार्ध का भी यही आशय था—**इट् चाऽसिद्धस्तेन मे लुप्यते णिर्नित्यश्चायं वल्निमित्तो विघाती** (वल्निमित्त इट् विघाती=प्रवृत्त्ययोग्य इत्यर्थः)।

अत् का लोप, 'आमः' (४७१) से लिँट् का लुक् तथा 'कृञ्चानु०' (४७२) से लिँट्परक कृ-भू-अस् का अनुप्रयोग होकर आत्मनेपद लाने से 'बुभूषाञ्चक्रे-बुभूषाम्बभूवे-बुभूषामासे' ये तीन प्रयोग सिद्ध होते हैं।

लुँट्—में 'बुभूष+तास्+त' इस स्थिति में धातु के उपदेश में अजन्त होने के कारण 'स्यसिँच्सीयुट्०' (७५३) से वैकल्पिक चिण्वदिट् होकर 'अतो लोपः' (४७०) से अकार का लोप तथा लुँट् की सामान्य प्रक्रिया करने पर 'बुभूषिता' प्रयोग सिद्ध होता है। चिण्वदिट् के अभाव में भी वलादिलक्षण इट् करने पर यही रूप सिद्ध होता है कोई अन्तर नहीं आता।

लृँट्—में भी पूर्ववत् अल्लोप हो जाता है—**बुभूषिष्यते**।

लोँट्—**बुभूष्यताम्**। लँङ्—**अबुभूष्यत**। वि० लिँङ्—**बुभूष्येत**। आ० लिँङ्—**बुभूषिषीष्ट**। लुँङ्—**अबुभूषि** (चिण्भावकर्मणोः ७५४, अतो लोपः ४७०, चिणो लुक् ६४१)। लृँङ्—**अबुभूषिष्यत**।

भू धातु से क्रियासमभिहार में 'धातोरेकाचो हलादेः०' (७११) से यङ्, 'सन्यङोः' (७०६) से द्वित्व तथा 'गुणो यङ्लुकोः' (७१२) से अभ्यास को गुण करने पर 'बोभूय' (बार बार होना या अतिशय होना) यह यङन्त रूप निष्पन्न होता है। 'सनाद्यन्ता धातवः' (४६८) से इस की धातुसञ्ज्ञा होती है। 'बोभूय' यह अकर्मक धातु है। अकर्मकों स कर्त्ता और भाव में लकार होते हैं। कर्तरिप्रयोग यङन्तप्रक्रिया में दिखाये जा चुके हैं। अब यहां भाववाच्य की प्रक्रिया दिखाते हैं—

[लघु०] बोभूय्यते॥

व्याख्या—'बोभूय' इस यङन्त धातु से भाव में लँट् करने पर प्र० पु० के एकवचन में 'त' आदेश, यक् तथा 'अतो लोपः' (४७०) से यङ् के अकार का लोप कर टि को एत्व करने से 'बोभूय्यते' रूप सिद्ध होता है। तेन बोभूय्यते (उस से बार बार या अतिशय हुआ जाता है)।

लिँट्—में धातु के अनेकाच् होने से आम् हो कर 'अतो लोपः' (४७०) से अकार का लोप हो जाता है—**बोभूयाञ्चक्रे, बोभूयाम्बभूवे, बोभूयामासे**।

लुँट्—में धातु के उपदेश मे अजन्त होने से 'स्यसिँच्०' (७५३) द्वारा वैकल्पिक चिण्वदिट् हो कर अकार का लोप (४७०) हो जाता है—**बोभूयिता**। तदभावपक्ष में भी वलादिलक्षण इट् हो कर अल्लोप करने से यही रूप बनता है।

लृँट्—**बोभूयिष्यते**। लोँट्—**बोभूय्यताम्**। लँङ्—**अबोभूय्यत**। वि० लिँङ्—**बोभूय्येत**। आ० लिँङ्—**बोभूयिषीष्ट**। लुँङ्—**अबोभूयि** (च्लि को चिण्, अल्लोप तथा 'चिणो लुक् ६४१)। लृँङ्—**अबोभूयिष्यत**।

भू धातु से क्रियासमभिहार में यङ् करने पर 'यङोऽचि च' (७१८) से उस यङ् का अनैमित्तिक लुक् कर प्रत्ययलक्षण से उसे यङन्त मान कर 'सन्यङोः' (७०६) से द्वित्व तथा अभ्यासगुण आदि कार्य करने पर 'बोभू' (बार बार होना या अतिशय

होना) यह यङ्लुगन्त धातु निष्पन्न होती है। यह धातु अकर्मक है अतः इस से कर्त्ता और भाव में लकार होते हैं। कर्त्तरि प्रयोग पीछे यङ्लुगन्तप्रक्रिया में दिखा चुके हैं अब भाववाच्य की प्रक्रिया दिखाते हैं—

[लघु०] बोभूयते ।।

व्याख्या—'बोभू' इस यङ्लुगन्त धातु से भाव में लँट् कर प्र० पु० के एकवचन में त आदेश तथा यक् विकरण करने से—**'बोभूयते'** प्रयोग सिद्ध होता है। तेन बोभूयते (उस से बार बार या अतिशय हुआ जाता है)। ध्यान रहे कि यङ्लुगन्त में यद्यपि परस्मैपद होता है तथापि वह केवल कर्तृवाच्य के लिये ही है। यहां भाववाच्य में **'भावकर्मणोः'** (७५१) से आत्मनेपद ही होता है।

लिंट्—**बोभवाञ्चक्रे—बोभवाम्बभूवे—बोभवामासे ।**

लुंट्—में **'स्यसिंच्०'** (७५३) से पाक्षिक चिण्वदिट् होकर वृद्धि और आवादेश हो जाते है—**बोभाविता** । पक्ष में वलादिलक्षण इट् होकर गुण अवादेश हो जाता है—**बोभविता** । इसी प्रकार—लृँट्—**बोभाविष्यते-बोभविष्यते** । लोँट्—**बोभूयताम्** । लँङ्—**अबोभूयत** । वि० लिँङ्—**बोभूयेत** । आ० लिँङ्—**बोभाविषीष्ट-बोभविषीष्ट** । लुंङ्—**अबोभावि** (चिण्, वृद्धि, आवादेश तथा 'त' का लुक्)। लृँङ्—**अबोभाविष्यत-अबोभविष्यत** ।

नोट—यङन्त या यङ्लुगन्त धातु अपनी मूल धातु की तरह सकर्मक वा अकर्मक होती हैं। यथा—भू धातु अकर्मक है तो बोभूय (यङन्त) और बोभू (यङ्लुगन्त) भी अकर्मक है; कृ धातु सकर्मक है तो चेक्रीय (यङन्त) और चर्कृ (यङ्लुगन्त) भी सकर्मक है। सकर्मक धातुओं से कर्मवाच्य में लकार होगा। यथा—**मया घटाश्चेक्रीयन्ते, त्वया पटाश्चर्क्रियन्ते** ।

ष्टुञ् स्तुतौ(स्तुति करना)धातु पाणिनीय धातुपाठ के अदादिगण में उभयपदी पढ़ी गई है। यह धातु सकर्मक है अतः इस से कर्त्ता और कर्म में लकार होते हैं। कर्तृवाच्य में इस के **'स्तौति, स्तुतः, स्तुवन्ति'** आदि रूप बनते हैं। अब यहां इस के कर्मवाच्य में रूप दिखाये जाते हैं—

[लघु०] **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** (४८३)—स्तूयते विष्णुः। स्ताविता, स्तोता। स्ताविष्यते, स्तोष्यते। अस्तावि। अस्ताविषाताम्, अस्तोषाताम् ।।

व्याख्या—स्तु (ष्टुञ्) धातु से कर्मणि लँट् होकर प्र० पु० के एकवचन की विवक्षा में लकार को 'त' आदेश तथा **'सार्वधातुके यक्'** (७५२) से यक् करने पर 'स्तु+य+त' इस स्थिति में **'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः'** (४८३) से दीर्घ हो जाता है—स्तू+य+त। अब **'टित आत्मनेपदानां टेरे'** (५०८) से टि को एत्व करने से 'स्तूयते' प्रयोग सिद्ध है। भक्तेन स्तूयते विष्णुः (भक्त से विष्णु की स्तुति की जाती

है) । रूपमाला यथा—**स्तूयते, स्तूयेते, स्तूयन्ते । स्तूयसे, स्तूयेथे, स्तूयध्वे । स्तूये, स्तूयावहे, स्तूयामहे** ।

लिँट्—में धातु के अनेकाच् न होने से आम् नहीं होता । द्वित्व होकर '**शर्पूर्वाः खयः**' (६४८) से शर्पूर्व खय्—तकार के शेष रहने पर '**अचि श्नु०**'(१९९) से उकार को उवँङ् आदेश हो जाता है—**तुष्टुवे, तुष्टुवाते, तुष्टुविरे । तुष्टुषे, तुष्टुवाथे, तुष्टुढ्वे । तुष्टुवे, तुष्टुवहे, तुष्टुमहे** । ध्यान रहे कि स्तु धातु '**ऊदृदन्तैः०**' के अनुसार अनुदात्त होने से अनिट् है । क्रादियों में स्तु का साक्षात् उल्लेख है अतः लिँट् में भी क्रादिनियम द्वारा इट् नहीं होता ।

लुँट्—में '**स्यसिँच्सीयुट्०**' (७५३) से पाक्षिक चिण्वदिट् होकर '**अचो ञ्णिति**' (१८२) से वृद्धि हो जाती है—**स्ताविता, स्तावितारौ, स्तावितारः । स्तावितासे** आदि । तदभाव में—धातु के अनुदात्त होने से वलादिलक्षण इट् का '**एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्**' (४७५) से निषेध होकर आर्धधातुकगुण हो जाता है—**स्तोता, स्तोतारौ, स्तोतारः । स्तोतासे**— । इसी प्रकार लृँट्—**स्ताविष्यते, स्तोष्यते** ।

लोँट्—**स्तूयताम्, स्तूयेताम्, स्तूयन्ताम्,** । **स्तूयस्व**— । लँङ्—**अस्तूयत, अस्तूयेताम्, अस्तूयन्त** । वि० लिँङ्—**स्तूयेत, स्तूयेयाताम्, स्तूयेरन्** । आ० लिँङ्—**स्ताविषीष्ट, स्तोषीष्ट** आदि । लुँङ्—**अस्तावि** (च्लि को चिण्, वृद्धि, आवादेश तथा 'त' का लुक्), **अस्ताविषाताम्-अस्तोषाताम्, अस्ताविषत-अस्तोषत** । लृँङ्—**अस्ताविष्यत, अस्तोष्यत** ।

ठीक इसी प्रकार **श्रु श्रवणे** (सुनना. भ्वा० परस्मै० अनिट्) धातु के कर्मवाच्य में रूप बनते हैं । लँट्—**श्रूयते, श्रूयेते, श्रूयन्ते** । लिँट्—**शुश्रुवे, शुश्रुवाते, शुश्रुविरे । शुश्रुषे** (पूर्ववद् इण्निषेध)— । लुँट्—**श्राविता-श्रोता** । लृँट्—**श्राविष्यते-श्रोष्यते** । लोँट्—**श्रूयताम्, श्रूयेताम्, श्रूयन्ताम्** । लँङ्—**अश्रूयत, अश्रूयेताम्, अश्रूयन्त** । वि० लिँङ्—**श्रूयेत** । आ० लिँङ्—**श्राविषीष्ट-श्रोषीष्ट** । लुँङ्—**अश्रावि, अश्राविषाताम्-अश्रोषाताम्, अश्राविषत-अश्रोषत** । लृँङ्—**अश्राविष्यत-अश्रोष्यत** ।

ऋ गतौ (जाना) धातु पाणिनीय धातुपाठ के जुहोत्यादिगण में परस्मैपदी पढ़ी गई है । यह सकर्मक है अतः इस से कर्ता व कर्म में लकार आते हैं । कर्तृवाच्य में '**इयर्ति, इयृतः, इय्रति**' आदि रूपमाला **सिद्धान्तकौमुदी** में देखें । यहां कर्मवाच्य में प्रक्रिया दिखाते हैं—

[लघु०] **ऋ गतौ । गुणोऽर्ति०** (४९८) इति गुणः—अर्यते । **स्मृ स्मरणे**[1] । स्मर्यते । सस्मरे । उपदेशग्रहणाच्चिण्वदिट्—आरिता, अर्ता । स्मारिता, स्मर्ता ॥

व्याख्या—ऋ धातु से कर्मवाच्य में लँट् आने पर प्र० पु० के एकवचन में त और यक् होकर 'ऋ+य+त' हुआ । यक् के कित्त्व के कारण गुण का निषेध होकर

१. यहां पर '**स्मृ चिन्तायाम्**' पाठ उचित था ।

'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' (५४३) से ऋ को रिङ् आदेश प्राप्त था। इस पर **'गुणोऽर्ति-संयोगाद्योः'** (४९८) से ऋ को गुण अर् होकर टि को एत्व करने से **'अर्यते'** प्रयोग सिद्ध होता है। अर्यते मया गृहम् (मुझ से घर जाया जाता है) रूपमाला यथा—**अर्यते, अर्येते, अर्यन्ते**।

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन में 'त' को एश् आदेश होकर द्वित्व करने पर 'ऋ+ऋ+ए' इस स्थिति में अभ्यास के ऋवर्ण को **'उरत्'** (४७३) से अत्, रपर, हलादिशेष तथा **'अत आदेः'** (४४३) से अभ्यास के अत् को दीर्घ करने से 'आ+ऋ+ए' हुआ। अब **'असंयोगाल्लिँट् कित्'** (४५२) से एश् के कित्त्व के कारण आर्धधातुक-गुण का निषेध होकर **'इको यणचि'** (१५) से यण् आदेश करने से **'आरे'** प्रयोग सिद्ध होता है। **आरे, आराते, आरिरे। आरिषे** (क्रादिनियम से इट्), **आराथे, आरिढ्वे-आरिध्वे (विभाषेटः ५२७)। आरे, आरिवहे, आरिमहे।**

लुँट्—'ऋ+तास्+त' यहां **'स्यसिँच्सीयुट्०'** (७५३) से पाक्षिक चिण्व-दिट् तथा **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** (३८८) से गुण युगपत् प्राप्त होते हैं। दोनों अपने अपने स्थानों पर सावकाश हैं। चिण्वदिट् को 'दायिता' आदि में तथा गुण को 'कर्तव्यम्, करणीयम्' आदि में अवकाश प्राप्त है। **'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'** (११३) से परकार्य गुण हो जाता है—अर्+तास्+त। अब यहां धातु के अजन्त न रहने से चिण्वद्-इट् प्राप्त नहीं हो सकता परन्तु वहां **'उपदेश में अजन्त'** कहने से यहां चिण्वदिट् करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती; क्योंकि चाहे अब यह धातु हलन्त हो गई है लेकिन उपदेश (आद्योच्चारण) में तो यह अजन्त थी। इस प्रकार चिण्वदिट् होकर उपधावृद्धि और डा आदि साधारण कार्य करने पर **'आरिता'** प्रयोग सिद्ध होता है। चिण्वदिट् के अभाव में धातु के अनिट् होने से इण्निषेध हो जाता है—**अर्ता**।

लृँट्—में भी लुँट् की तरह प्रक्रिया समझनी चाहिये। चिण्वदिट्पक्ष में—**आरिष्यते**। तदभाव में **'ऋद्धनोः स्ये'** (४९७) से इट् का आगम हो जाता है—**अरिष्यते**।

लोँट्—**अर्यताम्**। लँङ्—**आर्यत**। वि० लिँङ्—**अर्येत**। आ० लिँङ्—**आरिषीष्ट-ऋषीष्ट** (चिण्वदिट् के अभाव में **'उश्च'** ५४४)। लुँङ्—**आरि** (च्लि को चिण्, गुण, उपधावृद्धि, 'त' का लुक्, आट् का आगम तथा **'आटश्च'** से वृद्धि), **आरिषाताम्-आर्षाताम्, आरिषत-आर्षत**। लृँङ्—**आरिष्यत-आरिष्यत** (दोनों की सिद्धि में अन्तर है)।

इसी प्रकार **स्मृ चिन्तायाम्** (स्मरण करना, भ्वा० परस्मै० अनिट्) धातु की कर्मवाच्य में प्रक्रिया होती है। रूपमाला यथा—लँट्—**स्मर्यते, स्मर्येते, स्मर्यन्ते**। लिँट्—**सस्मरे (ऋतश्च संयोगादेर्गुणः ४९६) सस्मराते, सस्मरिरे। सस्मरिषे—**। लुँट्—**स्मारिता-स्मर्ता**। लृँट्—**स्मारिष्यते-स्मरिष्यते**। लोँट्—**स्मर्यताम्**। लँङ्—**अस्मर्यत**। वि० लिँङ्—**स्मर्येत**। आ० लिँङ्—**स्मारिषीष्ट-स्मृषीष्ट**। लुँङ्—**अस्मारि,**

अस्मारिषाताम्-अस्मृषाताम्, अस्मारिषत-अस्मृषत। लृँङ्—**अस्मारिष्यत-अस्मरिष्यत**।

स्रंसुँ अवस्रंसने (नीचे गिरना) धातु पीछे भ्वादिगण के आत्मनेपद में व्याख्यात है। यह धातु अकर्मक है अतः इस से कर्त्ता और भाव में लकार होते हैं। कर्तृवाच्य का विवेचन पीछे पृष्ठ (२४६) पर कर चुके हैं वहीं देखें। अब भाववाच्य का प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] **अनिदिताम्०** (३३४) इति नलोपः—स्रस्यते। इदितस्तु नन्द्यते। सम्प्रसारणम्—इज्यते॥

व्याख्या—स्रंस् धातु नोपध है यह पीछे पृष्ठ (२५०) पर स्पष्ट कर चुके हैं। इस से भाव में लँट् करने पर प्र० पु० के एकवचन में 'त' आदेश होकर यक् हो जाता है—स्रंस्+य+त। अब यक् के कित् होने के कारण **'अनिदितां हल उपधायाः०'** (३३४) द्वारा उपधा के नकार का लोप होकर **'स्रस्यते'** प्रयोग सिद्ध होता है।

लिँट्—धातु के संयोगान्त होने से **'असंयोगाल्लिँट् कित्'** (४५२) द्वारा लिँट् कित् नहीं होता। अतः उपधा के नकार का लोप नहीं होता—**सस्रंसे**।

लुँट्—इस धातु का परिगणन **'स्यसिँच्सीयुट्०'** (७५३) सूत्र में नहीं किया गया अतः चिण्वदिट् का प्रसंग नहीं; धातु सेट् है इसलिये वलादिलक्षण इट् होकर—**स्रंसिता**।

लृँट्—**स्रंसिष्यते**। लोँट्—**स्रस्यताम्**। लँङ्—**अस्रस्यत**। वि० लिँङ्—**स्रस्येत**। आ० लिँङ्—**स्रंसिषीष्ट**। लुँङ्—**अस्रंसिष्ट**। लृँङ्—**अस्रंसिष्यत**।

अनिदितां हलः० (३३४) सूत्र द्वारा कित् ङित् परे होने पर अनिदित् धातु की उपधा के नकार का लोप हो जाता है। यदि धातु इदित् होगी तो लोप न होगा। यथा—**टुनदिँ समृद्धौ** (समृद्ध होना. भ्वा० परस्मै० सेट्) यह धातु इदित् है। **'इदितो नुम् धातोः'** (४६३) से इसे नुम् का आगम होकर अनुस्वार और परसवर्ण करने से **'नन्द्'** बन जाता है। अब इस से भाव में लँट् करने पर प्र० पु० के एकवचन में 'त' आदेश और यक् विकरण लाने पर 'नन्द्+य+त' हुआ। यहां पर यक् कित् के परे होने पर भी धातु के अनिदित् न होने के कारण **'अनिदितां हलः०'** (३३४) से उपधा के नकार का लोप नहीं होता—**नन्द्यते**। लिँट्—**ननन्दे**। लुँट्—**नन्दिता**। लृँट्—**नन्दिष्यते**। लोँट्—**नन्द्यताम्**। लँङ्—**अनन्द्यत**। वि० लिँङ्—**नन्द्येत**। आ० लिँङ्—**नन्दिषीष्ट**। लुँङ्—**अनन्दि**। लृँङ्—**अनन्दिष्यत**।

यज् (देवताओं को पूजना आदि) धातु **'यजन्ते सात्त्विका देवान्, यक्षरक्षांसि राजसाः'**...

यज् (देवताओं को पूजना आदि) धातु **'यजन्ते सात्त्विका देवान्, यस्तिलैर्यजते पितॄन्, तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्'** इत्यादि प्रयोगों के अनुसार सकर्मक है। अतः इस से कर्मवाच्य में लँट्, प्र० पु० के एकवचन में 'त' आदेश और यक् विकरण करने पर 'यज्+य+त' हुआ। यक् के कित्त्व के कारण **'वचिस्वपियजादीनां किति'** (५४७) से यकार को सम्प्रसारण इकार होकर **'सम्प्रसारणाच्च'** (२५८) से पूर्वरूप करने पर—**इज्यते, इज्येते, इज्यन्ते**।

लिँट्—में 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से लिडादेश कित् हैं अतः **'सम्प्रसारणं तदाश्रयञ्च कार्यं बलवत्'** इस परिभाषा के अनुसार द्वित्व से भी पहले सम्प्रसारण और पूर्वरूप हो जाता है—इज्+ए। अब द्वित्व, हलादिशेष तथा सवर्णदीर्घ करने पर—**ईजे, ईजाते, ईजिरे**।

लुँट्—में चिण्वदिट् का प्रसङ्ग नहीं। धातु के अनुदात्त होने से वलादिलक्षण इट् का भी निषेध हो जाता है। **'व्रश्चभ्रस्ज०'** (३०७) से षत्व तथा **'ष्टुना ष्टुः'** (६४) से ष्टुत्व करने पर—**यष्टा, यष्टारौ, यष्टारः। यष्टासे**—।

लृँट्—में षत्व कर **'षढोः कः सि'** (५४८) से कत्व और प्रत्यय के सकार को षत्व करने पर—**यक्ष्यते, यक्ष्येते, यक्ष्यन्ते**।

लोँट्—**इज्यताम्**। लँङ्—**ऐज्यत**[1]। वि० लिँङ्—**इज्येत**। आ० लिँङ्—**यक्षीष्ट**। लुँङ्—**अयाजि, अयक्षाताम्**[2], **अयक्षत**। लृँङ्—**अयक्ष्यत**।

तनादिगण की प्रथम धातु **'तनुँ विस्तारे'** (विस्तार करना) सकर्मक है। अतः इस से कर्मणि लँट्, त आदेश और यक् विकरण करने पर तन्+य+त। अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७५५) तनोतेर्यकि ।६।४।४४॥

आकारान्तादेशो वा स्यात्। तायते, तन्यते॥

अर्थः—यक् परे होने पर तन् धातु के नकार को विकल्प से आकार आदेश हो।

व्याख्या—तनोतेः ।६।१। यकि ।७।१। आत् ।१।१। (**'विड्वनोरनुनासिकस्यात्'** से)। विभाषा ।१।१। (**'ये विभाषा'** से)। **अर्थः**—(यकि) यक् परे होने पर (तनोतेः) तन् धातु के स्थान पर (विभाषा) विकल्प से (आत्) आकार आदेश हो। अलोऽन्त्य-परिभाषा से तन् के नकार को ही आकार आदेश होता है।

'तन्+य+त' यहां यक् परे है अतः प्रकृतसूत्र से तन् के नकार को विकल्प से आकार आदेश होकर सवर्णदीर्घ तथा टि को एत्व करने से 'तायते' प्रयोग सिद्ध होता है। आत्व के अभाव में—तन्यते। रूपमाला यथा—(आत्वपक्षे) **तायते**[3], **तायेते, तायन्ते**। (आत्वाभावे) **तन्यते, तन्येते, तन्यन्ते**।

लिँट्—में **'अत एकहल्मध्ये०'** (४६०) से एत्वाभ्यासलोप हो जाता है—**तेने, तेनाते, तेनिरे**। लुँट्—धातु के सेट् होने से वलादिलक्षण इट् हो जाता है—

---

१. आ+इज्यत=ऐज्यत (**आटश्च १९७**)। सम्प्रसारण करने के बाद ही आट् का आगम करना चाहिये। एतद्विषयक टिप्पण पीछे सूत्र (४२३) पर लिख चुके हैं वहीं देखें।

२. कई इस प्रक्रिया का मर्म न जानते हुए **'अयाजिषाताम्, अयाजिषत'** का प्रयोग करते हैं वह अशुद्ध है।

३. **येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु**—यजु० ३४.४;
तद्दूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते—माघ २.३०।

तनिता । लृँट्—तनिष्यते । लोँट्—तायताम्-तन्यताम् । लँङ्—अतायत-अतन्यत । वि० लिँङ्—तायेत-तन्येत । आ० लिँङ्—तनिषीष्ट । लुँङ्—अतानि, अतनिषाताम्, अतनिषत । लृँङ्—अतनिष्यत ।[1]

तप सन्तापे (तपना-तपाना, भ्वा० परस्मैपद अनिट्) धातु अकर्मक और सकर्मक दोनों प्रकार से प्रयुक्त होती है, अतः इस से भाव और कर्म में लकार होते हैं । रूपमाला यथा—लँट्—तप्यते, तप्येते, तप्यन्ते । लिँट्—तेपे, तेपाते, तेपिरे । तेपिषे— । लुँट्—तप्ता । लृँट्—तप्स्यते । लोँट्—तप्यताम् । लँङ्—अतप्यत । वि० लिँङ्—तप्येत । आ० लिँङ्—तप्सीष्ट ।

लुँङ्—'अतप्+च्लि+त' इस स्थिति में 'चिण् भावकर्मणोः' (७५४) द्वारा च्लि को चिण् प्राप्त होता है । इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(७५६) तपोऽनुतापे च ।३।१।६५।।

तपश्च्लेश्चिण् न स्यात् कर्मकर्तरि अनुतापे च । अन्वतप्त पापेन । **घुमास्था०** (५८८) इतीत्वम्—दीयते । धीयते । ददे ।।

अर्थः—कर्मकर्ता में अथवा पश्चात्ताप अर्थ में तप् धातु से परे च्लि को चिण् नहीं होता ।

व्याख्या—तपः ।५।१। अनुतापे ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । च्लेः ।६।१। ('च्लेः सिँच्' से)।चिण् ।१।१।('चिण्ते पदः' से)।न इत्यव्ययपदम् ('न रुधः' से)।कर्मकर्तरि ।७।१। ('अचः कर्मकर्तरि' से) । अर्थः—(तपः) तप् धातु से परे (च्लेः) च्लि के स्थान पर (चिण्) चिण् (न) नहीं होता (कर्मकर्तरि) कर्मकर्ता में (च) अथवा (अनुतापे) पश्चात्ताप में । कर्मकर्त्ता का उदाहरण काशिका अथवा सिद्धान्तकौमुदी की कर्मकर्तृ-प्रक्रिया में देखें । यहां भावकर्मप्रक्रिया में पश्चात्ताप का उदाहरण दिया जाता है—

अन्वतप्त पापेन [पापकर्म से (पापी) अनुतप्त-दुःखी किया गया । अथवा—पापी पुरुष से पछताया गया][2]। अनुपूर्वक तप् धातु पश्चात्ताप अर्थ को प्रकट करती है

---

१. जन् (जनीँ प्रादुर्भावे दिवा० आत्मने० सेट्) धातु का कर्तृवाच्य में 'ज्ञाजनोर्जा' (६३९) से 'जा' आदेश होकर 'जायते' रूप बनता है, पर भाववाच्य में 'ये विभाषा' (६७५) से नकार को वैकल्पिक आत्व करने से 'जायते-जन्यते' ये दो रूप बनते हैं ।

२. पहले अर्थ में पाप कर्त्ता और पापी पुरुष कर्म है । शुद्धकर्म में लकार हुआ है । यहां अनुतप् का अर्थ पश्चात्ताप=बाद में तपाना—दुःखी करना है । पापी पाप कर चुका है परन्तु अब उसे वह पाप कर्म याद आ कर दुःख दे रहा है । दूसरे अर्थ में पाप शब्द का अर्थ है—पापी । यहां भाव में प्रत्यय हुआ है । यहां भी पाप-शब्द कर्त्ता है । ध्यान रहे कि नपुंसकलिङ्ग में पापशब्द पापकर्म का वाचक है । परन्तु मत्वर्थीय अच् प्रत्यय करने से यह 'पापी' का वाचक हो जाता है—पापमस्यास्तीति पापः । अब यह विशेष्यनिघ्न है—पापः पुरुषः, पापा कुलटा, पापं कुलम् ।

अतः अनुपूर्वक का उदाहरण दिया गया है। इस से कर्म या भाव में 'अतप्+च्लि+त' इस स्थिति में पश्चात्ताप अर्थ होने के कारण प्रकृतसूत्र से च्लि को चिण् का निषेध हो गया। अब **'च्लेः सिँच्'** (४३८) से च्लि को सिँच् होकर **'झलो झलि'** (४७८) से उस का लोप हो जाता है—अतप्त=अन्वतप्त। पश्चात्ताप अर्थ न होने पर चिण् हो जायेगा—**उदतापि सुवर्णं सुवर्णकारेण (सुनार से सोना तपाया गया)।**

लृँङ्—**अतप्स्यत।**

दा (डुदाञ् दाने, जुहो० उभय० अनिट्) धातु सकर्मक है अतः इस से कर्म में लकार उत्पन्न होते हैं। लँट् प्र० पु० के एकवचन में यक् विकरण करने पर 'दा+य+त' इस स्थिति में कित् परे होने के कारण **'घुमास्थागापाजहातिसां हलि'** (५८८) द्वारा घुसञ्ज्ञक दा के आकार को ईकार होकर टेरेत्व करने से 'दीयते' प्रयोग सिद्ध होता है। **दीयते, दीयेते, दीयन्ते।**

लिँट्—में **'असंयोगाल्लिँट् कित्'** (४५२) से लिँडादेश कित् होते हैं अतः द्वित्व और अभ्यासकार्य करने के बाद **'आतो लोप इटि च'** (४८९) से आकार का लोप हो जाता है—**ददे, ददाते, ददिरे। ददिषे**—। क्रादिनियम से इट् हो जाता है।

लुँट्—दा धातु अनिट् हैं अतः इस से वलादिलक्षण इट् का निषेध प्राप्त है, परन्तु उपदेश में अजन्त होने से **'स्यसिँचसीयुट्'** (७५३) द्वारा इसे पाक्षिक चिण्वदिट् होकर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७५७) आतो युक् चिण्कृतोः ।७।३।३३॥

आदन्तानां युगागमः स्याच्चिणि ञ्णिति कृति च। दायिता-दाता। दायिषीष्ट-दासीष्ट। अदायि। अदायिषाताम् [अदिषाताम्]। भज्यते॥

अर्थः—चिण् प्रत्यय या ञित्-णित् कृत् प्रत्यय परे होने पर आदन्त धातुओं का अवयव युक् हो जाता है।

व्याख्या—आतः ।६।१। युक् ।१।१। चिण्कृतोः ।७।२। ञ्णिति ।७।१। (**'अचो ञ्णिति'** से)। **'अङ्गस्य'** यह अधिकृत है। 'आतः' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि होकर 'आदन्तस्य अङ्गस्य' बन जाता है। 'ञ्णिति' को 'चिण्कृतोः' के कृत् अंश के साथ सम्बद्ध करना चाहिये। अर्थः—(आतः=आदन्तस्य) आदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग का अवयव (युक्) युक् हो जाता है (चिणि) चिण् परे हो या (ञ्णिति कृति) ञित् णित् कृत् परे हो। युक् का आगम **'आद्यन्तौ टकितौ'** (८५) के अनुसार आदन्त अङ्ग का अन्तावयव हो जाता है। युक् में उकार उच्चारणार्थक तथा ककार उपर्युक्तप्रकारेण स्थान के अवधारण के लिये इत् है। ञित् णित् कृत् के उदाहरण आगे कृदन्तप्रकरण में आयेंगे। यहां चिण् का उदाहरण प्रस्तुत है—

दा धातु से लुँट् प्र० पु० के एकवचन में **स्यसिँच्सीयुट्०** (७५७) से पाक्षिक चिण्वदिट् होकर 'दा+इतास्+त' इस स्थिति में तास् के चिण्वद्भाव के कारण चिण् परे विद्यमान रहता है, इधर 'दा' यह आदन्त अङ्ग भी है अतः प्रकृतसूत्र से दा के

अन्त में युक् (य्) का आगम कर लुंट् के सामान्यकार्य डा आदेश और टि का लोप करने से 'दायिता' प्रयोग सिद्ध होता है। चिण्वदिट् के अभाव में—दाता। इसीप्रकार लृँट् में—**दायिष्यते-दास्यते**।

लोँट्—**दीयताम्**। लँङ्—**अदीयत**। वि० लिङ्—**दीयेत**। आ० लिँङ्—**दायिषीष्ट-दासीष्ट**। लुँङ्—**अदायि, अदायिषाताम्-अदिषाताम्** ('स्थाघ्वोरिच्च' ६२४ से दा को इदन्त आदेश तथा सिँच् को कित्त्व हो जाता है), **अदायिषत-अदिषत**।

लृँङ्—**अदायिष्यत-अदास्यत**।

इसी प्रकार धा (डुधाञ् धारणपोषणयोः, जुहो० उभय० अनिट्) धातु के कर्म-वाच्य में रूप बनते है। लँट्—**धीयते** (घुमास्था० ५८८)। लिँट्—**दधे**। लुँट्—**धायिता-धाता**। लृँट्—**धायिष्यते-धास्यते**। लोँट्—**धीयताम्**। लँङ्—**अधीयत**। वि० लिँङ्—**धीयेत**। आ० लिँङ्—**धायिषीष्ट-धासीष्ट**। लुँङ्—**अधायि, अधायिषाताम्-अधिषाताम्, अधायिषत-अधिषत**। लृँङ्—**अधायिष्यत-अधास्यत**।

भञ्ज् (तोड़ना. रुधा० परस्मै० अनिट्) धातु सकर्मक है अतः इस से कर्म में लकार आ जायेंगे। लँट् प्र० पु० के एकवचन में त आदेश और यक् विकरण करने पर 'भञ्ज्+य+त' इस स्थिति में कित् परे होने के कारण '**अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति**' (३३४) से उपधा के नकार का लोप होकर टि को एत्व करने से '**भज्यते**' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि भञ्ज् धातु '**नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु**' के अनुसार नोपध है।

लिँट्—धातु के संयोगान्त होने से लिँट् कित् नहीं होता अतः उपधा के नकार का लोप नहीं होता—**बभञ्जे, बभञ्जाते, बभञ्जिरे**।

लुँट्—भञ्ज् धातु चिण्वदिट् का विषय नहीं। अनिट् होने से वलादिलक्षण इट् भी नहीं होता। कर्तृवाच्य की तरह '**चोः कुः**' (३०६) द्वारा कुत्वादिप्रक्रिया हो जाती है—**भङ्क्ता**। लृँट्—**भङ्क्ष्यते**। लोँट्—**भज्यताम्**। लँङ्—**अभज्यत**। वि० लिँङ्—**भज्येत**। आ० लिँङ्—**भङ्क्षीष्ट**।

लुँङ्—प्र० पु० के एकवचन में च्लि को चिण् होकर 'अभञ्ज्+इ+त' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७५८) भञ्जेश्च चिणि ।६।४।३३॥

नलोपो वा स्यात्। अभाजि, अभञ्जि। लभ्यते॥

अर्थः—चिण् परे हो तो भञ्ज् धातु के नकार का विकल्प से लोप हो।

व्याख्या—भञ्जेः ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। चिणि ।७।१। विभाषा ।१।१। ('**जान्तनशां विभाषा**' से)। नलोपः ।१।१। ('**श्नान्नलोपः**' से)। अर्थः—(चिणि) चिण् परे होने पर (भञ्जेः) भञ्ज् धातु के (नलोपः) नकार का लोप (विभाषा) विकल्प से हो जाता है।

'अभञ्ज्+इ+त' यहां चिण् (इ) परे है अतः प्रकृतसूत्र से भञ्ज् के नकार

का विकल्प से लोप हो जाता है। लोपपक्ष में **'अत उपधायाः'** (४५५) से उपधावृद्धि होकर **'चिणो लुक्'** (६४१) से 'त' का लुक् हो जाता है—अभाजि। लोप के अभाव में केवल 'त' का लुक् होकर—अभञ्जि। रूपमाला यथा—**अभाजि-अभञ्जि, अभङ्क्षाताम्, अभङ्क्षत।**

लृँङ्—**अभङ्क्ष्यत, अभङ्क्ष्येताम्, अभङ्क्ष्यन्त।**

लभ्=पाना (**डुलभँष् प्राप्तौ**) धातु पाणिनीय धातुपाठ के भ्वादिगण के आत्मनेपद में पढ़ी गई है। यह धातु अनिट् है परन्तु लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है। सकर्मक होने के कारण इस धातु से कर्त्ता और कर्म में लकार उत्पन्न होते हैं[1]। कर्मवाच्य के लँट् प्र० पु० के एकवचन में त आदेश, यक् विकरण और टि को एत्व करने से 'लभ्यते' प्रयोग सिद्ध होता है। **लभ्यते, लभ्येते, लभ्यन्ते।**

लिँट्—में 'अत एकहल्०' (४६०) से एत्वाभ्यासलोप हो जाता है—**लेभे, लेभाते, लेभिरे। लेभिषे—।**

लुँट्—में चिण्वदिट् तथा वलादिलक्षण इट् में से कोई प्राप्त नहीं। लभ्+तास्+त' इस स्थिति में **'झषस्तथोः०'** (५४९) से तास् के तकार को धकार होकर **'झलां जश् झशि'** (१९) से जश्त्व हो जाता है—लब्+धास्+त। अब लुँट् की सामान्य प्रक्रियानुसार डा आदेश तथा टि का लोप करने से 'लब्धा' प्रयोग सिद्ध होता है—**लब्धा, लब्धारौ, लब्धारः। लब्धासे—।**

लृँट्—में **'खरि च'** (७४) से चर्त्व हो जाता है—**लप्स्यते, लप्स्येते, लप्स्यन्ते।**

लोँट्—**लभ्यताम्।** लँङ्—**अलभ्यत।** वि० लिँङ्—**लभ्येत।** आ० लिँङ्—**लप्सीष्ट।**

लुँङ्—प्र० पु० के एकवचन में त आदेश तथा च्लि को चिण् आदेश होकर 'अलभ्+इ+त' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७५९) विभाषा चिण्णमुलोः ।७।१।६९॥

लभेर्नुमागमो वा स्यात्। अलम्भि, अलाभि ॥

अर्थः—चिण् या णमुल् परे होने पर लभ् धातु को विकल्प से नुम् का आगम हो।

व्याख्या—विभाषा ।१।१। चिण्णमुलोः ।७।२। लभेः ।६।१। ('लभेश्च' से)।

---

१. कर्तृवाच्य में लभ् धातु की रूपमाला यथा—

लँट्—**लभते, लभेते, लभन्ते।** लिँट्—**लेभे, लेभाते, लेभिरे।** लुँट्—**लब्धा।** लृँट्—**लप्स्यते।** लोँट्—**लभताम्।** लँङ्—**अलभत।** वि० लिँङ्—**लभेत।** आ० लिँङ्—**लप्सीष्ट।** लुँङ्—**अलब्ध (झलो झलि ४७८, झषस्तथोः० ५४९, झलां जश्० १९), अलप्साताम्, अलप्सत। अलब्धाः, अलप्साथाम्, अलब्ध्वम्। अलप्सि, अलप्स्वहि, अलप्स्महि।** लृँङ्—**अलप्स्यत।** उपसर्गयोग—**उपलभते**=पाता है। **विप्रलभते**=ठगता है। **आलभते**=छूता है या हिंसा करता है। **उपालभते**=निन्दा करता है (**उच्चैरुपालब्ध स कैकयीं च—भट्टि० ३.३०**), उलाहना देता है।

नुम् ।१।१। ('इदितो नुम् धातोः' से)।अर्थः—(चिण्णमुलोः) चिण् या णमुल् परे होने पर (लभेः) लभ् धातु का अवयव (नुम्) नुम् (विभाषा) विकल्प से हो जाता है।

'अलभ्+इ+त' यहां चिण् परे है अतः प्रकृतसूत्र से लभ् को नुम् का वैकल्पिक आगम होकर नकार को अनुस्वार तथा अनुस्वार को परसवर्ण करने पर अलम्भ्+इ+त। अब 'चिणो लुक्' (६४१) से 'त' का लुक् करने से 'अलम्भि' प्रयोग सिद्ध होता है। नुम् के अभाव में उपधावृद्धि होकर 'त' का लोप हो जाता है—अलाभि। रूपमाला यथा—अलम्भि-अलाभि, अलप्साताम्, अलप्सत। अलब्धाः, अलप्साथाम्, अलब्ध्वम्। अलप्सि, अलप्स्वहि, अलप्स्महि।

लृङ्—अलप्स्यत।

नोट—यहां व्यवस्थितविभाषा का आश्रय कर सोपसर्ग लभ् से नित्य नुम् होता है—उपालम्भि। यहां पर 'उपालाभि' नहीं बनता।

अब हम यहां कुछ प्रसिद्ध धातुओं के कर्म वा भाव-वाच्य के रूप दे रहे हैं। ये रूप लट् और लुङ् के प्र० पु० के एकवचन में ही दिये जा रहे हैं। शेष रूपों की स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिये—

(१) अर्च्—अर्च्यते=पूजा जाता है।*
(२) अस्—अस्यते=फेंका जाता है।
(३) अस्—भूयते=हुआ जाता है।
(४) आप्—प्राप्यते=पाया जाता है।
(५) आस्—आस्यते=बैठा जाता है।
(६) इङ्—अधीयते=पढ़ा जाता है।
(७) इष्—इष्यते=चाहा जाता है।
(८) उज्झ्—प्रोज्झ्यते=छोड़ा जाता है
(९) कथ—कथ्यते=कहा जाता है।
(१०) कृ—क्रियते=किया जाता है।
(११) कृष्—कृष्यते=जोता जाता है।
(१२) क्री—क्रीयते=खरीदा जाता है।
विक्रीयते=बेचा जाता है।
(१३) क्षिप्—क्षिप्यते=फेंका जाता है।
(१४) खाद्—खाद्यते=खाया जाता है।
(१५) गण्—गण्यते=गिना जाता है।
(१६) गम्—गम्यते=जाया जाता है[1]।
(१७) गै—गीयते=गाया जाता है।
(१८) ग्रन्थ्—ग्रथ्यते=गूंथा जाता है।
(१९) ग्रह्—गृह्यते=ग्रहण किया जाता है
(२०) घ्रा—घ्रायते=सूंघा जाता है।
(२१) चर्—आचर्यते=आचरण किया जाता है।
(२२) चिन्त्—चिन्त्यते=सोचा जाता है
(२३) चुर्—चोर्यते=चुराया जाता है।
(२४) छिद्—छिद्यते=काटा जाता है।
(२५) जॄ—जीर्यते=जीर्ण हुआ जाता है।
(२६) ज्ञा—ज्ञायते=जाना जाता है।

*इन धातुओं के लुङ् प्र० पु० के एकवचन में रूप यथा—

१. आर्चि। २. आसि। ३. अभावि। ४. प्रापि। ५. आसि। ६. अध्यगायि-अध्यायि। ७. ऐषि। ८. प्रौज्झि। ९. अकथि। १०. अकारि। ११. अकर्षि। १२. अक्रायि, व्यक्रायि। १३. अक्षेपि। १४. अखादि। १५. अगणि। १६. अगामि। १७. अगायि। १८. अग्रन्थि। १९. अग्राहि। २०. अघ्रायि। २१. आचारि। २२. अचिन्ति। २३. अचोरि। २४. अच्छेदि। २५. अजारि। २६. अज्ञायि।

१. लृट् में 'गंस्यते' बनेगा, 'गमेरिट् परस्मैपदेषु' (५०६) वाला इट् नहीं होगा।

(२७) तड्—ताड्यते=पीटा जाता है।*
(२८) तन्—तायते-तन्यते=फैलाया जा०
(२९) तॄ—तीर्यते=पार किया जाता है।
(३०) त्यज्—त्यज्यते=छोड़ा जाता है।
(३१) त्रस्—त्रस्यते=डराया जाता है।
(३२) दह्—दह्यते=जलाया जाता है।
(३३) दा—दीयते=दिया जाता है।
(३४) दिश्—दिश्यते=दिया जाता है।
(३५) दुह्—दुह्यते=दोहा जाता है।
(३६) दृङ्—आद्रियते=आदर किया जा०
(३७) दृश्—दृश्यते=देखा जाता है।
(३८) द्रुह्—द्रुह्यते=द्रोह किया जाता है
(३९) ध्मा—ध्मायते=फूंका जाता है।
(४०) ध्यै—ध्यायते=ध्यान किया जाता०
(४१) नम्—नम्यते=नमस्कार किया जा०
(४२) निन्द्—निन्द्यते=निन्दा की जाती०
(४३) नी—नीयते=ले जाया जाता हैं।
(४४) नृत्—नृत्यते=नाचा जाता है।
(४५) पच्—पच्यते=पकाया जाता हैं।
(४६) पठ्—पठ्यते=पढ़ा जाता है।
(४७) पा—पीयते=पिया जाता है (५८८)
(४८) पा—पायते=रक्षा किया जाता है
(४९) पाल्—पाल्यते=पाला जाता है।
(५०) पुष्—पुष्यते=पुष्ट किया जाता है
(५१) पू—पूयते=पवित्र किया जाता है
(५२) पूज्—पूज्यते=पूजा जाता है।
(५३) पॄ—पूर्यते=पूर्ण किया जाता है।
(५४) प्रच्छ्—पृच्छ्यते=पूछा जाता है।
(५५) बन्ध्—बध्यते=बांधा जाता है।
(५६) ब्रू—उच्यते=कहा जाता है।
(५७) भक्ष्—भक्ष्यते=खाया जाता है।
(५८) भण्—भण्यते=कहा जाता हैं।
(५९) भाष्—भाष्यते=कहा जाता है।
(६०) भिद्—भिद्यते=तोड़ा जाता है।
(६१) भू—भूयते=हुआ जाता है।
(६२) भृ—भ्रियते=धारण किया जाता है
(६३) भ्रंश्—भ्रश्यते=नीचे गिराया जा०
(६४) मन्थ्—मथ्यते=मथा जाता हैं।
(६५) मृज्—मृज्यते=शुद्ध किया जाता है
(६६) मा—मीयते=मापा जाता है।
अनुमीयते=अनुमान किया जाता०
(६७) यज्—इज्यते=पूजा जाता हैं।
(६८) याच्—याच्यते=मांगा जाता है।
(६९) युज्—युज्यते=मिलाया जाता है

*२७. अताडि। २८. अतानि। २९. अतारि। ३०. अत्याजि। ३१. अत्रासि। ३२. अदाहि। ३३. अदायि। ३४. अदेशि। ३५. अदोहि। ३६. आदारि। ३७. अदर्शि। ३८. अद्रोहि। ३९. अध्मायि। ४०. अध्यायि। ४१. अनामि। ४२. अनिन्दि। ४३. अनायि। ४४. अनर्ति। ४५. अपाचि। ४६. अपाठि। ४७. अपायि। ४८. अपायि। ४९. अपालि। ५०. अपोषि। ५१. अपावि। ५२. अपूजि। ५३. अपारि। ५४. अप्रच्छि। ५५. अबन्धि। ५६. अवाचि[1]। ५७. अभक्षि। ५८. अभाणि। ५९. अभाषि। ६०. अभेदि। ६१. अभावि। ६२. अभारि। ६३. अभ्रंशि। ६४. अमन्थि। ६५. अमार्जि। ६६. अमायि, अन्वमायि। ६७. अयाजि। ६८. अयाचि। ६९. अयोजि।

१. दशकुमारचरित आदियों में 'अवोचि' प्रयोग मिलता है, वह ठीक नहीं, क्योंकि 'वच उम्' (५९८) से उम् का आगम अङ् परे होने पर ही होता है यहां तो चिण् है। कुछ लोग 'वच उम्' (५९८) में अनुवृत्त 'अङि' का अर्थ 'अङ् च इ च' इस प्रकार विग्रह कर 'इ' से चिण् का भी ग्रहण मानते हैं। परन्तु इस प्रकार की व्याख्या महाभाष्य आदि में उपलब्ध न होने से मान्य नहीं है।

(७०) रभ्—आरभ्यते = आरम्भ किया०*
(७१) रुद्—रुद्यते = रोया जाता है ।
(७२) रुध्—रुध्यते = रोका जाता है ।
(७३) रुह्—आरुह्यते = चढ़ा जाता है ।
(७४) लभ्—लभ्यते = पाया जाता है ।
(७५) लिख्—लिख्यते = लिखा जाता है
(७६) लिह्—लिह्यते = चाटा जाता है ।
(७७) लू—लूयते = काटा जाता है ।
(७८) वन्द्—वन्द्यते = वन्दना किया जा०
(७९) वप्—उप्यते = बोया जाता है ।
(८०) वर्ण्—वर्ण्यते = वर्णन किया जा०
(८१) वस्—उष्यते = निवास किया जा०
(८२) वह्—उह्यते = उठाया जाता है ।
(८३) विश्—उपविश्यते = बैठा जाता है
(८४) व्यध्—विध्यते = बींधा जाता है ।
(८५) शास्—शिष्यते = सिखाया जाता०
शास्—आशास्यते = आशा किया०

(८६) शी—शय्यते = सोया जा० (५८३)।
(८७) श्रु—श्रूयते = सुना जाता है ।
(८८) सिच्—सिच्यते = सींचा जाता है ।
(८९) सृ—अनुस्रियते = अनुसरण किया जाता है ।
(९०) स्तु—स्तूयते = स्तुति किया जाता०
(९१) स्था—स्थीयते (५८८) ठहरा जा०
(९२) स्ना—स्नायते = स्नान किया जा०
(९३) स्मृ—स्मर्यते = याद किया जाता०
(९४) स्रंस्—स्रस्यते = नीचे गिराया जा०
(९५) स्वप्—सुप्यते = सोया जाता है ।
(९६) हन्—हन्यते = मारा जाता है ।
(९७) हा—हीयते = छोड़ा जाता है ।
(९८) हु—हूयते = हवन किया जाता है
(९९) हृ—ह्रियते = हरा जाता है ।
(१००) ह्री—ह्रीयते = शर्माया जाता है

कर्तृवाच्य से भाववाच्य और कर्मवाच्य के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं। विद्यार्थियों को इसी प्रकार वाच्यपरिवर्त्तन का अभ्यास करना चाहिये—

(कर्तृ-वाच्य)	(कर्म वा भाव वाच्य)
(१) स भवति ।	(१) तेन भूयते ।
(२) त्वं चाहं चान्ये च भवामः ।	(२) त्वया मयाऽन्यैश्च भूयते ।
(३) अहं कटं करोमि ।	(३) मया कटः क्रियते ।
(४) युवां पितरौ वन्देथे ।	(४) युवाभ्यां पितरौ वन्द्येते ।
(५) स ग्रामं गच्छति ।	(५) तेन ग्रामो गम्यते ।
(६) बालाः पुष्पाणि चिन्वन्ति ।	(६) बालैः पुष्पाणि चीयन्ते ।

*७०. आरम्भि (७.१.६३)। ७१. अरोदि । ७२. अरोधि । ७३ आरोहि । ७४. अलम्भि-अलाभि (७५६)। ७५. अलेखि । ७६. अलेहि । ७७. अलावि । ७८. अवन्दि । ७९. अवापि । ८०. अवर्णि । ८१. अवासि । ८२. अवाहि । ८३. उपावेशि । ८४. अव्याधि । ८५. अशासि, आशासि । ८६. अशायि । ८७. अश्रावि । ८८. असेचि । ८९. अन्वसारि । ९०. अस्तावि । ९१. अस्थायि । ९२. अस्नायि । ९३. अस्मारि । ९४. अस्रंसि । ९५. अस्वापि । ९६. अघानि (२८७)[1] । ९७. अहायि । ९८. अहावि । ९९. अहारि । १००. अह्रायि ।

१. रामेण नो वा किमहानि ताटका (१.४३)—यह वासुदेवविजय का पाठ अपपाठ है । चिण् के णित् होने से घत्व (२८७) होगा ही ।

(७) त्वं घटं कुरु ।	(७) त्वया घटः क्रियताम् ।
(८) ते देवान् यजन्ति ।	(८) तैर्देवा इज्यन्ते ।
(९) कोऽत्र स्थास्यति ।	(९) केनाऽत्र स्थायिष्यते ।
(१०) भक्तो विष्णुं स्तौति ।	(१०) भक्तेन स्तूयते विष्णुः ।
(११) वटवो मन्त्रौ स्मरन्ति ।	(११) वटुभिर्मन्त्रौ स्मर्येते ।
(१२) असौ धनम् अलब्ध ।	(१२) अमुना धनमलम्भि ।
(१३) नृपो रूपम् अद्राक्षीत् ।	(१३) नृपेण रूपम् अदर्शि ।
(१४) त्वं फलान्यभिनः ।	(१४) त्वया फलान्यभिद्यन्त ।
(१५) यूयं कार्यम् अकार्ष्ट ।	(१५) युष्माभिः कार्यम् अकारि ।
(१६) नाऽहं पास्यामि जलम् ।	(१६) न मया पास्यते जलम् ।
(१७) कवयो महेश्वरम् अस्ताविषुः ।	(१७) कविभिर्महेश्वरोऽस्तावि ।
(१८) शृगालः शब्दम् अश्रौषीत् ।	(१८) शृगालेन शब्दोऽश्रावि ।
(१९) स नृपं स्तोता ।	(१९) तेन नृपः स्ताविता ।
(२०) गच्छतु भवान् पुनर्दर्शनाय ।	(२०) गम्यतां भवता पुनर्दर्शनाय ।
(२१) स सुष्ठु वेदमधीते ।	(२१) तेन सुष्ठु वेदोऽधीयते ।
(२२) पापम् पापिनम् अन्वताप्सीत् ।	(२२) पापेन पापी अन्वतप्त ।
(२३) पापः पुरुषोऽन्वताप्सीत् ।	(२३) पापेन पुरुषेणान्वतप्त ।
(२४) प्रसिद्धः पुरुषो भवेत् ।	(२४) प्रसिद्धेन पुरुषेण भूयेत ।

संस्कृतव्याकरण में दुह्, याच्, पच् आदि कुछ धातु द्विकर्मक हैं। कर्मवाच्य में इन के किस कर्म में लकार किया जाये ? यह प्रश्न उत्पन्न होता है। इस का निर्णय महाभाष्य में इस प्रकार किया गया है—

"गौणे कर्मणि दुह्यादेः, प्रधाने नी-हृ-कृष्-वहाम्"

अर्थात् दुह् आदि धातुओं के गौण (अप्रधान) कर्म में तथा नी, हृ, कृष् और वह् धातुओं के प्रधान कर्म में लकार हुआ करते हैं। जिस कर्म में लकार होगा वह कर्म उक्त हो जायेगा तब उस में प्रथमा विभक्ति आयेगी। दूसरा कर्म अनुक्त होने से यथापूर्व रहेगा। उदाहरण यथा—

कर्तृवाच्य	कर्मवाच्य
	अप्रधाने कर्मणि—
(१) (सः) गां दोग्धि पयः।	(१) (तेन) गौर्दुह्यते पयः।
(२) (सः) बलिं याचते वसुधाम् ।	(२) (तेन) बलिर्याच्यते वसुधाम् ।
(३) (सः) तण्डुलानोदनं पचति ।	(३) (तेन) तण्डुला ओदनं पच्यन्ते ।
(४) (राजा) गर्गान् शतं दण्डयति ।	(४) (राज्ञा) गर्गाः शतं दण्ड्यन्ते ।
(५) (गोपः) व्रजमवरुणद्धि गाम् ।	(५) (गोपेन) व्रजोऽवरुध्यते गाम् ।
(६) (सः) माणवकं पन्थानं पृच्छति ।	(६) (तेन) माणवकः पन्थानं पृच्छ्यते ।
(७) (वटुः) वृक्षमवचिनोति फलानि ।	(७) (वटुना) वृक्षोऽवचीयते फलानि ।

(८) (गुरुः) **माणवकं** धर्मं ब्रूते ।
(९) (गुरुः) **माणवकं** धर्मं शास्ति ।
(१०) (सः) शतं जयति **देवदत्तम्** ।
(११) (सः) सुधां **क्षीरनिधिं** मथ्नाति ।
(१२) (चौरः) **देवदत्तं** शतं मुष्णाति ।

(१३) (सः) ग्रामम् **अजां** नयति ।
(१४) (सः) ग्रामम् **अजां** हरति ।
(१५) (सः) ग्रामम् **अजां** कर्षति ।
(१६) (सः) ग्रामम् **अजां** वहति ।

(८) (गुरुणा) **माणवको** धर्मम् उच्यते
(९) (गुरुणा) **माणवको** धर्मं शिष्यते ।
(१०) (तेन) शतं जीयते **देवदत्तः** ।
(११) (तेन) सुधां **क्षीरनिधिर्मथ्यते** ।
(१२) (चौरेण) **देवदत्तः** शतं मुष्यते ।

प्रधाने कर्मणि—
(१३) (तेन) ग्रामम् **अजा** नीयते ।
(१४) (तेन) ग्रामम् **अजा** ह्रियते ।
(१५) (तेन) ग्रामम् **अजा** कृष्यते ।
(१६) (तेन) ग्रामम् **अजा** उह्यते ।

इति भावकर्मप्रक्रिया

(यहां पर भावकर्मप्रक्रिया का विवेचन समाप्त होता है)

अथ कर्मकर्तृप्रक्रिया

विवक्षातः कारकाणि भवन्ति (कारक वक्ता की इच्छा के अधीन होते हैं) यह पीछे ण्यन्तप्रक्रिया में (६९८) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं। कभी कभी वक्ता प्रयोजनवशात् करण, कर्म आदियों को भी कर्ता बना कर प्रयुक्त करता है। यथा— **असिश्छिनत्ति** (तलवार काटती है), **अग्निः पचति** (आग पकाती है), **काष्ठं भिद्यते** (लकड़ी टूटती है), **फलं पच्यते** (फल पकता है), **स्थाली पचति** (बटलोई पकाती है)। यहां तलवार और अग्नि वस्तुतः करण हैं, काष्ठ और फल कर्म हैं तथा स्थाली अधिकरण है। परन्तु इन में वक्ता की कर्तृविवक्षा है अतः इन का करणादि-रूपेण प्रयोग न कर कर्तृरूपेण प्रयोग किया गया है। इस प्रकार की विवक्षा में प्रायः सौकर्यातिशय (अत्यन्त आसानी) आदि का द्योतित कराना ही प्रयोजन होता है। '**असिश्छिनत्ति**' में वक्ता को तलवार की धार के तेज़ होने से काटने में आसानी का द्योतित कराना अभीष्ट है। यही '**अग्निः पचति**' में अभीष्ट है। '**काष्ठं भिद्यते**' में 'लकड़ी की शुष्कता के कारण उसके तोड़ने में कठिनाई का न होना' वक्ता को विवक्षित है। '**स्थाली पचति**' में बटलोई के पेंदे के पतलेपन के कारण पाक में अत्यन्त आसानी का होना वक्ता को अभीष्ट है। इस प्रकार के प्रयोग संस्कृत में ही नहीं, अन्य भाषाओं में भी उपलब्ध होते हैं। हिन्दी में यथा—

(क) कैंची अपने आप कतर रही है ।
(ख) उस्तरा अपने आप चल रहा है ।
(ग) पैर भूमि में धंसा जा रहा है ।
(घ) कपड़ा फटा जा रहा है ।
(ङ) तागा अपने आप टूटता चला जा रहा है ।

संस्कृतव्याकरणानुसार जब करण या अधिकरण आदि को कर्त्ता बनाया जाता है तब कुछ विशेष परिवर्त्तन नहीं होता, साधारणतया उन को कर्त्ता मानकर उन में लकारों का विधान कर सरलता से प्रयोग निष्पन्न हो जाते हैं। परन्तु जब कर्म को कर्त्ता बनाया जाता है तब उस में कहीं कहीं विशेष परिवर्त्तन होता है। इसी को बताने के लिये **'कर्मकर्तृप्रक्रिया'** का यह प्रकरण प्रारम्भ किया गया है।

अब सब से पहले ग्रन्थकार कर्मकर्त्ता का तात्पर्य समझाते हैं—

[लघु०] यदा कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितं तदा सकर्मकाणामपि अकर्मकत्वात् कर्त्तरि भावे च लकारः॥

अर्थः—जब वक्ता को कर्म ही कर्तृत्वेन कहना अभीष्ट होता है तो सकर्मक धातुएं भी (प्रायः) अकर्मक बन जाती हैं। तब अकर्मक होने से उन धातुओं से कर्त्ता और भाव में लकार होते हैं।

व्याख्या—कई बार वक्ता सौकर्यातिशय (अत्यन्त आसानी) आदि को प्रकट करने के लिये कर्म को भी कर्त्ता बना कर प्रयोग किया करता है। ऐसी स्थिति में सकर्मक धातु भी अकर्मक हो जाती है। यथा—**काष्ठं भिद्यते** (लकड़ी अपने आप टूटती है)[1]। यहां भिद् धातु जो सकर्मक हुआ करती है अब कर्म के कर्त्ता बन जाने से अकर्मक हो गई है। सकर्मक अवस्था में इस का अर्थ होता था—तोड़ना। अब इस का अर्थ हो गया है—टूटना। अकर्मक धातुओं से **'लः कर्मणि०'** (३७३) सूत्र के अनुसार कर्त्ता और भाव में लकार हुआ करते हैं, तो यहां भी धातु से कर्त्ता और भाव में लकार होंगे। प्रथम कर्त्ता में लकार लाने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेशसूत्रम्—(७६०) कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः।३।१।८७॥

कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्त्ता कर्मवत् स्यात्। कार्यातिदेशोऽयम्। तेन यगात्मनेपदचिण्चिण्वदिटः स्युः। पच्यते फलम्। भिद्यते काष्ठम्। अपाचि। अभेदि। भावे तु भिद्यते काष्ठेन॥

अर्थः—कर्म में स्थित क्रिया के साथ तुल्य क्रिया वाला कर्त्ता कर्मवत् हो। यह कार्यातिदेश है अतः कर्मवाच्य के यक्, आत्मनेपद, चिण् और चिण्वदिट् कार्य यहां भी हो जाते हैं।

व्याख्या—कर्मवत् इत्यव्ययपदम्। कर्मणा।३।१। तुल्यक्रियः।१।१। कर्त्ता।१।१। (**'कर्त्तरि शप्'** से विभक्तिविपरिणाम करके)। 'कर्मणा' के कर्मशब्द से व्याख्यानद्वारा यहां कर्मस्थ क्रिया का ग्रहण अभीष्ट है। तुल्या क्रिया यस्य स तुल्य-

---

१. यहां सौकर्यातिशय को समझाने के लिये प्रायः इस प्रकार कहा जाता है— **देवदत्तः काष्ठं भिनत्ति। देवदत्तः काष्ठं किं भिनत्ति, काष्ठं तु स्वयमेव भिद्यते।** कोई कहता है कि देवदत्त लकड़ी को तोड़ता है। इस पर दूसरा कहता है कि देवदत्त क्या तोड़ता है लकड़ी तो स्वयं ही टूटती जा रही है।

क्रियः, बहु० । अर्थः—(कर्मणा) कर्मस्थ क्रिया के साथ (तुल्यक्रियः) तुल्य क्रिया वाला (कर्त्ता) कर्त्ता (कर्मवत्) कर्मवत् होता है । तात्पर्य यह है कि कर्म के कर्त्ता बनने के पूर्व जो क्रिया कर्म में स्थित होती है यदि वही क्रिया अब कर्मकर्तृप्रक्रिया के कर्त्ता में स्थित हो तो कर्त्ता कर्मवत् हो जाता है । यथा—'**कालः फलं पचति, देवदत्तः काष्ठं भिनत्ति**' इत्यादियों में पच् धातु की विक्लेदन (गलना) क्रिया तथा भिद् धातु की द्वैधीभाव क्रिया जो कर्म में स्थित है वही क्रिया कर्मकर्तृप्रक्रिया के '**फलं पच्यते**' तथा '**काष्ठं भिद्यते**' वाक्यों के कर्त्ता में भी विद्यमान है, उस में कुछ अन्तर नहीं आया अतः यहां का कर्त्ता कर्मवत् हो जायेगा । कर्त्ता को कर्मवत् अतिदेश करने का अभिप्राय यह है कि कर्म अर्थात् कर्मवाच्य में जो कार्य हुआ करते हैं वे अब कर्मकर्तृप्रक्रिया में कर्म के कर्त्ता बन जाने पर भी होंगे । कर्मवाच्य में आत्मनेपद, यक्, चिण् तथा चिण्वदिट्—ये कार्य सुप्रसिद्ध हैं, वे अब कर्मकर्तृप्रक्रिया में भी होने लगेंगे । सार यह है कि कर्मकर्त्ता का कर्त्ता कर्मवाच्य के समान कार्यभाक् हो जायेगा । उदाहरण यथा—

पच्यते फलम् (फल पकता है) । यहां पर वस्तुतः '**कालः फलं पचति**' के स्थान पर वक्ता ने सौकर्यातिशय को प्रकट करने के लिये कर्म को कर्त्ता बना कर '**पच्यते फलम्**' का प्रयोग किया है । पूर्व का कर्म '**फल**' अब कर्ता बन गया है । पर तब कर्म में पाक (विक्लित्ति) रूप जो क्रिया विद्यमान थी वही क्रिया अब कर्त्ता में भी विद्यमान है अतः उस के कर्ता बन जाने पर भी प्रकृतसूत्र से कर्मवद् अतिदेश के कारण उस में कर्मवाच्य के समान कार्य होंगे । जैसे कर्मवाच्य में '**भावकर्मणोः**' (७५१) से आत्मनेपद, '**सार्वधातुके यक्**' (७५२) से यक् प्रत्यय, '**स्यसिंच्सीयुट्०**' (७५३) से चिण्वदिट् तथा '**चिण्भावकर्मणोः**' (७५४) से च्लि को चिण् होता है वैसे यहां पर भी होने लगेगा । अतः कर्मकर्तृप्रक्रिया में 'पच्+ल्' इस स्थिति में तङ्, यक् तथा टि को एत्व करने से 'पच्यते' आदि प्रयोग सिद्ध होंगे[1] । रूपमाला यथा—

लँट्—**पच्यते, पच्येते, पच्यन्ते** । लिँट्—**पेचे, पेचाते, पेचिरे** । लुँट्—कर्मवद्भाव के होने पर भी '**स्यसिंच्सीयुट्०**' (७५३) सूत्र में प्रोक्त धातुओं के अन्तर्गत न होने से चिण्वदिट् नहीं होता—**पक्ता** । लृँट्—**पक्ष्यते** । लोँट्—**पच्यताम्** । लँङ्—**अपच्यत** । वि० लिँङ्—**पच्येत** । आ० लिँङ्—**पक्षीष्ट** । लुँङ्—**अपाचि** (कर्मवद्भाव के कारण च्लि को चिण् हो कर उपधावृद्धि तथा 'त' का लुक् हो जाता है), **अपक्षाताम्, अपक्षत** । लृँङ्—**अपक्ष्यत** ।

इसी प्रकार—भिद्यते काष्ठम् (लकड़ी अपने आप टूटती है) में समझना चाहिये । भिद् धातु की कर्मकर्तृप्रक्रिया में रूपमाला यथा—लँट्—**भिद्यते, भिद्येते, भिद्यन्ते** । लिँट्—**बिभिदे** । लुँट्—**भेत्ता** । लृँट्—**भेत्स्यते** । लोँट्—**भिद्यताम्** ।

---

१. भूतपूर्व कर्म के कर्त्ता बन जाने पर उस के लकार द्वारा उक्त होने के कारण उस में प्रथमा विभक्ति आती है । **फलं पच्यते, ओदनः पच्यते** आदि ।

लँङ्—अभिद्यत । वि० लिँङ्—भिद्येत । आ० लिँङ्—भित्सीष्ट । लुँङ्—अभेदि, अभित्साताम्, अभित्सत । लृँङ्—अभेत्स्यत ।

कर्मकर्तृप्रक्रिया का सुन्दर उदाहरण मुण्डकोपनिषद् (२.८) का यह श्लोक है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते[1] चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे पराऽवरे ॥

अर्थात् उस परावर ब्रह्म के साक्षात्कार कर लेने पर हृदय की गांठ खुल जाती है, सब संशय नष्ट हो जाते हैं तथा इस के सब कर्म क्षीण हो जाते हैं ।

विशेष वक्तव्य—ध्यान रहे कि केवल उसी क्रिया का कर्त्ता कर्मवद्भाव को प्राप्त होता है जिस क्रिया के कर्म में स्थित होने पर कर्म में स्पष्टतया कुछ विकार प्रतीत होता है । जैसे पच् के कर्म पके हुए चावलों और भिद् के कर्म चीरी हुई लकड़ियों को देख कर स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन में पाक व भेदन क्रिया का असर हुआ है । अतः इन धातुओं के कर्म के कर्त्ता बनने पर कर्मस्थक्रिय होने से कर्मवद्भाव हो जाता है—**ओदनः पच्यते, फलं पच्यते, काष्ठं भिद्यते** आदि । परन्तु गम्, दृश्, ज्ञा आदि कर्तृस्थक्रिय धातुओं के कर्म में इस प्रकार का कोई स्पष्ट विकार दिखाई नहीं देता[2] । अतः इन धातुओं के कर्म के कर्त्ता बनने पर भी कर्मवद्भाव नहीं होता शुद्ध कर्तृप्रक्रियावत् रूपसिद्धि होती है । यथा—**ग्रामः स्वयमेव गच्छति** (ग्राम स्वयं ही जाता है), **घटः स्वयमेव पश्यति** (घड़ा स्वयं ही दिखाई देता है), **श्लोकार्थः स्वयमेव जानाति** (श्लोक का अर्थ स्वयमेव ज्ञात होता है)। इसी प्रकार—**अधिगच्छति शास्त्रार्थः स्मरति श्रद्दधाति च । यत्कृपालेशतस्तस्मै नमोऽस्तु गुरवे सदा ।** इस विषय का विशेष विवेचन **वैयाकरणभूषणसार** पर हमारे **भैमीभाष्य** की सातवीं कारिका पर देखें ।

इस प्रक्रिया में अब तक के सब उदाहरण कर्म के कर्त्ता बन जाने पर **'लः कर्मणि०'** (३७३) द्वारा कर्त्ता में लकार करने पर ही दिये गये हैं । यदि कर्म-कर्तृप्रक्रिया में भाव में लकार करेंगे तो उस कर्त्ता के अनुक्त होने से **'कर्तृकरणयोस्तृतीया'** (८९५) द्वारा उस में तृतीया विभक्ति हो जायेगी । यथा—**भिद्यते काष्ठेन** (लकड़ी से अपने आप टूटा जाता है) । यहां काष्ठ कर्म के कर्त्ता बन जाने पर भी उस के अनुक्त होने से उस में तृतीया विभक्ति हुई है ।

शङ्का—**'भिद्यते काष्ठेन'** में यद्यपि काष्ठ अब कर्म नहीं रहा कर्त्ता बन गया है परन्तु **'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः'** (७६०) द्वारा उस में कर्मवद्भाव अक्षुण्ण है तभी तो **'भिद्यते'** में आत्मनेपद तथा यक् प्रयुक्त हुआ है । तो इस प्रकार उस के कर्मवत् हो जाने पर उस अनुक्त कर्म में **'कर्मणि द्वितीया'** (८९१) द्वारा द्वितीया विभक्ति होनी चाहिये थी न कि तृतीया ?

---

१. यहां पर अन्तर्भावितण्यर्थ क्षि धातु का कर्मकर्त्ता में प्रयोग समझना चाहिये ।

२. किसी के ग्राम को जाने से ग्राम में बाह्यतः कोई परिवर्त्तन दिखाई नहीं देता; घट के देख लेने से घट में बाह्यतः कोई परिवर्त्तन नहीं आता; श्लोकार्थ के जान लेने पर उस अर्थ में स्पष्टतः कोई परिवर्त्तन नहीं होता ।

समाधान—'कर्मवत्कर्मणा०' (७६०) सूत्र में पीछे से 'लः' की अनुवृत्ति आती है। अतः यदि कर्त्ता लकारसम्बन्धी अर्थात् लकार द्वारा उक्त होता है तभी उस में कर्मवद्भाव हुआ करता है अन्यथा नहीं। यहां 'भिद्यते काष्ठेन' में लकार के भाव में होने के कारण कर्त्ता लकार द्वारा उक्त नहीं अतः कर्मवद्भाव की प्राप्ति नहीं होती, इस से उस में द्वितीया का प्रसंग ही नहीं उठता। आत्मनेपद और यक् यहां कर्मवद्भाव के कारण नहीं आये अपितु भाववाच्य के कारण आये हैं।

इति कर्मकर्तृप्रक्रिया

(यहां पर कर्मकर्तृप्रक्रिया का विवेचन समाप्त होता है)

अथ लकारार्थप्रक्रिया

तिङन्तप्रकरण के आरम्भ में **'वर्त्तमाने लँट्'** (३७४) आदि सूत्रों के द्वारा लकारों के सामान्य अर्थ बताये जा चुके हैं। अब उत्सर्गापवादपूर्वक उन के कुछ विशेष अर्थ बतलाने के लिये यह प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७६१) अभिज्ञावचने लृँट् ।३।२।११२॥

स्मृतिबोधिन्युपपदे भूताऽनद्यतने धातोर्लृँट्। लँङोऽपवादः। **वस निवासे**। स्मरसि कृष्ण ! गोकुले वत्स्यामः। एवं बुध्यसे, चेतयसे इत्यादिप्रयोगेऽपि॥

अर्थः—स्मृतिबोधक पद समीप हो तो भूत अनद्यतन काल में धातु से लृँट् होता है।

व्याख्या—अभिज्ञावचने ।७।१। लृँट् ।१।१। भूते ।७।१।(यह अधिकृत है) अनद्यतने ।७।१।(**'अनद्यतने लँङ्'** से) धातोः ५।१।(यह अधिकृत है)। अभिज्ञा स्मृतिः, सा उच्यतेऽनेनेत्यभिज्ञावचनम्, करणे ल्युट्। अभिज्ञावचन इति सतिसप्तम्यन्तम्। **अर्थः**—(अभिज्ञावचने) स्मृतिबोधक पद निकट पड़ा हो तो (भूते) भूत (अनद्यतने) अनद्यतन अर्थ में (धातोः) धातु से (लृँट्) लृँट् हो जाता है। भूत अनद्यतन अर्थ में **'अनद्यतने लँङ्'** (४२२) द्वारा लँङ् का विधान है, यह उस का अपवाद है। उदाहरण यथा—

स्मरसि कृष्ण ! गोकुले वत्स्यामः (हे कृष्ण ! तुम्हें याद है कि हम गोकुल में रहते थे[1])। यहां 'स्मरसि' यह स्मृति-बोधक पद निकट पड़ा है अतः **'अनद्यतने लँङ्'** (४२२) से प्राप्त लँङ् का बाध कर प्रकृतसूत्र से भूतानद्यतन में लृँट् हो गया है। **वस निवासे** (रहना. भ्वा० परस्मै० अनिट्)धातु के लृँट् में स्य प्रत्यय करने पर (**'सः स्यार्धधातुके'** (७०७)से धातु के सकार को तकार आदेश हो जाता है—**वत्स्यति, वत्स्यतः, वत्स्यन्ति** आदि। यहां उ० पु० के बहुवचन में **'वत्स्यामः'** का प्रयोग किया गया है[2]।

---

१. यहां पर **'पश्य मृगो धावति'**की तरह 'स्मरसि' का कर्म सम्पूर्ण वाक्यार्थ है।

२. वस् धातु की रूपमाला यथा—

इसी प्रकार—बुध्यसे कृष्ण ! गोकुले वत्स्यामः । चेतयसे[1] कृष्ण । गोकुले वत्स्यामः । अभिजानासि देवदत्त ! कश्मीरेषु वत्स्यामः (काशिका) । साहित्य के उदाहरण यथा—

(१) नाऽभिज्ञा ते महाराज ! जेष्याव: शक्रपालितम्—भट्टि० १६.३६ (हे महाराज ! क्या आप को याद नहीं कि हम ने इन्द्र-पालित सुरालय को जीता था ?)। (२) सम्भविष्याव एकस्यामभिजानासि मातरि—भट्टि० ६.१४१ (हम एक ही माता में पैदा हुए हैं—क्या यह तुम्हें स्मरण है ?)। (३) माघ (१.६८) का उदाहरण यथा—

स्मरत्यदो दाशरथिर्भवन्भवानमुं वनान्ताद्वनितापहारिणम् ।
पयोधिमाविद्धचलज्जलाविलं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति ॥

(आप दशरथ के पुत्र राम बन कर समुद्र पर पुल बांध, उस के जल को अस्थिर तथा गदला कर के उस पार गये थे । वहां पहुँच कर लङ्कापुरी के निकट, वन में से सीतादेवी को चुराने वाले उस रावण को आप मार चुके हैं—क्या यह बात आप को स्मरण है ?)

नोट—इस प्रकार के संस्कृत वाक्यों का हिन्दी में अनुवाद करते समय बड़ी सावधानी की आवश्यकता है । लृँट् को देखकर भविष्यत्कालिक अर्थ नहीं करना चाहिये । संस्कृत की यह अपनी शैली (style) है ।

अब 'यद्' शब्द के योग में इस सूत्र के द्वारा प्राप्त लृँट् का अपवाद प्रस्तुत करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(७६२) न यदि ।३।२।११३॥

यद्योगे उक्तं न । अभिजानासि कृष्ण ! यद्वने अभुञ्ज्महि ॥

अर्थः—'यद्' शब्द के योग में स्मृतिबोधक पद के निकट रहने पर भी भूतानद्यतन अर्थ में लृँट् नहीं होता ।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम् । यदि ।७।१। 'अभिज्ञावचने लृँट्' (७६१) इस पूर्व-सूत्र का तथा पूर्ववत् 'भूते', 'अनद्यतने' तथा 'धातोः' पदों का अनुवर्त्तन होता है । 'यदि' यह भावसप्तम्यन्त है । अर्थः—(यदि अभिज्ञावचने) 'यद्' शब्द से युक्त स्मृतिबोधक पद

लँट्—वसति । लिँट्—कित्प्रत्ययों में यजादित्वात् 'वचिस्वपि०' (५४७) से सम्प्रसारण होकर द्वित्व हो जाता है । अकितों में 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' (५४६) से अभ्यास को सम्प्रसारण होता है । उवास, ऊषतुः, ऊषुः । उवसिथ-उवस्थ— । लुँट्—वस्ता । लृँट्—वत्स्यति । लोँट्—वसतु-वसतात् । लँङ्—अवसत् । वि० लिँङ्—वसेत् । आ० लिँङ्—उष्यात् (५४७) । लुँङ्—अवात्सीत्, (४६५) अवात्ताम् (४७८), अवात्सुः । लृँङ्—अवत्स्यत् । भावे—उष्यते । णिचि—वासयते-वासयति (१.३.८९)। सनि—विवत्सति । यङि—वावस्यते । यङ्लुकि—वावसीति-वावस्ति ।

१. बुध्यसे, चेतयसे आदि यद्यपि स्मृतिवाचक नहीं हैं तथापि प्रकरणादि के वश से स्मृतिबोधक बन जाते हैं ।

निकट पढा हो तो (भूते अनद्यतने) भूत अनद्यतन अर्थ में (धातोः) धातु से परे (लृँट्) लृँट् (न) नहीं होता। यह पूर्वसूत्र का निषेध करता है। अतः लृँट् से मुक्त होने पर 'अनद्यतने लँङ्' (४२२) द्वारा औत्सर्गिक लँङ् हो जाता है। उदाहरण यथा—

अभिजानासि कृष्ण ! यद् वने अभुञ्ज्महि (कृष्ण ! क्या तुम्हें याद है कि हम ने वन में खाया था)। यहां 'यद्' शब्द का योग है अतः 'अभिजानासि' इस स्मृतिबोधक पद के उपपद रहते हुए भी प्रकृतसूत्र से पूर्वप्राप्त लृँट् का निषेध हो जाता है। तब **'अनद्यतने लँङ्'** (४२२) से लँङ् होता है। 'अभुञ्ज्महि' यह भक्षणार्थक भुज् धातु के आत्मनेपद लँङ् के उ० पु० का बहुवचन है। यहां **'भुजोऽनवने'** (६७२) से आत्मनेपद हुआ है।

इसी प्रकार—**अभिजानासि देवदत्त ! यत्कश्मीरेषु अवसाम।**

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७६३) लँट् स्मे ।३।२।११८॥

लिँटोऽपवादः। यजति स्म युधिष्ठिरः॥

अर्थः—'स्म' शब्द उपपद हो तो भूतानद्यतन परोक्ष अर्थ में धातु से परे लँट् प्रत्यय होता है।

व्याख्या—लँट् ।१।१। स्मे ।७।१। भूते ।७।१। धातोः ।५।१। (अधिकृत हैं) अनद्यतने ।७।१।(**'अनद्यतने लङ्'** से) परोक्षे ।७।१। (**'परोक्षे लिँट्'** से)। अर्थः—(स्मे) 'स्म' शब्द का योग हो तो (भूते अनद्यतने परोक्षे) भूत अनद्यतन परोक्ष अर्थ में वर्तमान (धातोः) धातु से (लँट्) लँट् प्रत्यय होता है। भूतानद्यतन परोक्ष अर्थ में **'परोक्षे लिँट्'** (३९१) से लिँट् प्राप्त था उस का यह अपवाद है। उदाहरण यथा—

यजति स्म युधिष्ठिरः (युधिष्ठिर यज्ञ करते थे)। यहां 'स्म' शब्द का योग है अतः भूतानद्यतन परोक्ष अर्थ में **'परोक्षे लिँट्'** (३९१) से प्राप्त लिँट् का बाध कर प्रकृतसूत्र से लँट् हो गया है। यहां आत्मनेपद का प्रयोग होता तो अच्छा था।

इस सूत्र से आगे अष्टाध्यायी में **'अपरोक्षे च'** (३.२.११९) सूत्र आता है। उस से स्म के योग में भूतानद्यतन अपरोक्ष में भी लँट् का विधान किया गया है। इस प्रकार स्म के योग में भूतानद्यतन मात्र में चाहे वह परोक्ष हो या अपरोक्ष लँट् का विधान समझना चाहिये। यथा—**एवं स्म पिता ब्रवीति** (पिताजी ऐसा कहते थे) **इति स्मोपाध्यायः कथयति** (इस प्रकार उपाध्याय कहते थे)। 'स्म' के योग के कुछ साहित्यिक उदाहरण—

(१) **कस्मिंश्चिद्वने भासुरको नाम सिंहः प्रतिवसति स्म**—पञ्च०।

(२) **क्रीणन्ति स्म प्राणमूल्यैर्यशांसि**—माघ १८.१५।

(३) **अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युरित्युच्यते ताभिरुमा स्म नम्रा** (कुमार० ७.२८)

नोट—ध्यान रहे कि 'मा स्म' के योग में लँट् नहीं होता। वहां भूतानद्यतन काल सम्भव नहीं होता। किंच **'स्मोत्तरे लँङ् च'** (४३६) से लुँङ् या लँङ् वहां प्रवृत्त होते हैं—**भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः** (शाकुन्तल ४.१७)।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—

(७६४) वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा ।३।३।१३१।।

वर्त्तमाने ये प्रत्यया उक्तास्ते वर्तमानसामीप्ये भूते भविष्यति च वा स्युः । कदाऽऽगतोऽसि? अयमागच्छामि; अयमागमं वा । कदा गमिष्यसि? एष गच्छामि; गमिष्यामि वा ।।

अर्थः—वर्तमान काल में जो प्रत्यय जिस जिस अर्थ में कहे गये है वे प्रत्यय वर्तमान काल के समीपवर्ती भूत और भविष्यत् काल में विकल्प से हों ।

व्याख्या—वर्त्तमानसामीप्ये ।७।१। वर्त्तमानवत् इत्यव्ययपदम् । वा इत्यव्ययपदम् । **'प्रत्ययः'** यह अधिकृत है । समीपमेव सामीप्यम् । **'चतुर्वर्णादीनां स्वार्थ उपसङ्ख्यानम्'** इस वार्तिक से स्वार्थ में ष्यञ् हुआ है[1] । वर्त्तमानकाल के समीप भूत और भविष्यत् ही हो सकते हैं अतः उन का ग्रहण होता है । अर्थः— (वर्त्तमानसामीप्ये) वर्त्तमानकाल के समीपवर्ती भूत और भविष्यत् काल में (वर्त्तमानवत्) वर्त्तमान-काल की तरह प्रत्यय[2] (वा) विकल्प से हो जाते हैं ।

भूतकाल में यथा—किसी ने पूछा—**कदाऽऽगतोऽसि** ? (तुम कब आये ?) भूतकाल में प्रश्न है । उत्तर मिलता है—**अयम् आगच्छामि** (यह मैं आ रहा हूँ) । उत्तर वर्त्तमानकाल में दिया गया है । कारण कि यह भूतकाल वर्त्तमानकाल के निकटवर्ती है अतः भूतकाल में भी प्रकृत सूत्र की सहायता से **'वर्त्तमाने लट्'** (३७४)

---

१. यहां ष्यञ् लगाने की आवश्यकता ही क्या है ? सीधा **'वर्त्तमानसमीपे वर्त्तमानवद्वा'** ऐसा सरल सूत्र ही क्यों नही बनाया ? इस का समाधान करते हुए **काशिकाकार** कहते हैं कि इस से यह ज्ञापित कराना अभीष्ट है कि कुछ शब्दों से स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय हो जाता है । यथा—चतुर्वर्णा एव—चातुर्वर्ण्यम्; चतुराश्रमा एव—चातुराश्रम्यम्; सेना एव—सैन्यम्; षड्गुणा एव—षाड्गुण्यम्; सन्निधिरेव—सान्निध्यम्; उपमा एव—औपम्यम्; त्रिस्वरा एव—त्रैस्वर्यम् । **'चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसङ्ख्यानम्'** वार्त्तिक का यही मूल है ।

२. **'वर्त्तमानकालिक प्रत्यय हों'** ऐसा न कह कर **'वर्त्तमानकाल की तरह प्रत्यय हों'** ऐसा कहा गया है । इन दोनों कथनों में बड़ा अन्तर है । यदि वर्त्तमानकालिक प्रत्ययों का विधान करते तो **अष्टाध्यायी** के वर्त्तमानकालिक सब प्रत्यय सब धातुओं से होने लगते । **'पूङ्यजोः शानन्'** (३.२.१२८) से विधीयमान वर्त्तमानकालिक शानन् प्रत्यय आसन्नभूत और आसन्नभविष्यत् में अन्य धातुओं से भी होने लग जाता इस से बड़ा घोटाला हो जाता । परन्तु अब 'वर्त्तमानकाल की तरह प्रत्यय हों' इस कथन से जिस जिस धातु से जिस जिस उपाधि के साथ जो जो वर्त्तमानकालिक प्रत्यय विधान किया गया है वह वह वैसा ही होगा । इस से पूङ् और यज् धातु से ही आसन्नभूत और आसन्न भविष्यत् में शानन् होने से कोई दोष नहीं आयेगा । सूत्र में 'वत्' लगाने का यही प्रयोजन **महाभाष्य** और **काशिका** आदि में स्पष्ट किया गया है ।

द्वारा लँट् हो गया है। 'वा' कहने से पक्ष में भूतकाल का भी प्रयोग हो सकता है—**अयम् आगमम्** (यह मैं आया था) यहां लुँङ् का प्रयोग किया गया है।

भविष्यत्काल में यथा—किसी ने पूछा—**कदा गमिष्यसि** ? (कब जायेगा ?)। उत्तर मिला—**एष गच्छामि** (यह मैं अभी जा रहा हूं)। भविष्यत्कालिक प्रश्न का उत्तर वर्त्तमानकाल में दिया गया है। यहां पर भविष्यत्काल वर्त्तमानकाल के निकट है वह अभी जाने ही वाला है अतः प्रकृतसूत्र की सहायता से '**वर्त्तमाने लँट्**' (३७४) द्वारा भविष्यत्काल में भी लँट् का प्रयोग किया गया है। '**वा**' कहने से लृँट् का भी प्रयोग होगा—**एष गमिष्यामि** (मैं अभी जाऊँगा)।

इसी प्रकार वर्त्तमानकालिक शतृ, शानच्, इष्णुच् आदि प्रत्ययों के विषय में भी समझना चाहिये—**देवदत्त ! कदाऽऽगतः ? आगच्छन्तमेव मां विद्धि। यज्ञदत्त ! कदा गमिष्यसि ? गच्छन्तमेव मां विद्धि।**

वर्त्तमानकाल की समीपता में ही यह सूत्र प्रवृत्त होता है विप्रकृष्टता में नहीं। यथा—**कदाऽऽगतो भवान् ? अस्मान्मासात् पूर्वस्मिन् मासे आगच्छम्। कदा गमिष्यति भवान् पाटलिपुत्रम् ? वर्षेण गमिष्यामि।**

नोट—हिन्दी में भी इसी प्रकार आसन्नभूत और आसन्नभविष्यत् में वर्त्तमानकालवत् वैकल्पिक व्यवहार होता है यथा—तुम कब आये ? अभी आ ही रहा हूँ या अभी आया हूँ। कब जाओगे ? जा ही रहा हूँ या अभी जाऊँगा। इस प्रकार का व्यवहार प्रायः बोलचाल में ही हुआ करता है; इस से यह भी सिद्ध होता है कि संस्कृत कभी बोलचाल की भाषा थी।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७६५) हेतुहेतुमतोर्लिँङ् ।३।३।१५६॥

वा स्यात्। कृष्णं नमेच्चेत् सुखं यायात्। कृष्णं नंस्यति चेत् सुखं यास्यति। भविष्यत्येवेष्यते—नेह, हन्तीति पलायते॥

अर्थः—हेतुहेतुमद्भाव अर्थात् कारणकार्यभाव में धातु से विकल्प से लिँङ् हो। **भविष्यत्येवेष्यते**—इस सूत्र की भविष्यत्काल में ही प्रवृत्ति अभीष्ट है।

व्याख्या—हेतु-हेतुमतोः।७।२। लिँङ् ।१।१। विभाषा ।१।१। ('**विभाषा धातौ सम्भावन०**' से)। धातोः ।५।१। (यह अधिकृत है)। कारण को 'हेतु' तथा कार्य को '**हेतुमत्**' कहते हैं—यह पीछे (४४२) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं। यहां पूर्वसूत्रों से लिँङ् की अनुवृत्ति आने पर भी पुनः 'लिँङ्' का ग्रहण इस बात का द्योतक है कि यह लिँङ् किसी विशेष काल में ही होता है। महाभाष्यानुसार वह विशेषकाल यहां भविष्यत् ही अभीष्ट है। अर्थः—(हेतुहेतुमतोः) हेतु और हेतुमत् अर्थात् कारणकार्यभाव के द्योत्य होने पर (भविष्यति) भविष्यत्काल में (धातोः) धातु से परे (विभाषा) विकल्प से (लिँङ्) लिँङ् प्रत्यय हो जाता है। लिँङ् के अभाव में भविष्यत्सामान्य में '**लृँट् शेषे च**' (४०८) से लृँट् हो जायेगा। उदाहरण यथा—

कृष्णं नमेच्चेत् सुखं यायात् (यदि वह कृष्ण को नमस्कार करेगा तो सुख

पायेगा)। यहां 'कृष्ण को नमस्कार करना' हेतु तथा 'सुख को पाना' हेतुमत् अर्थात् कार्य है। अतः हेतुहेतुमद्भाव में नम् और या दोनों धातुओं से[1] लिङ् होकर यह वाक्य निष्पन्न हुआ है। पक्ष में भविष्यत्सामान्य में लृँट् (४०८)का प्रयोग होगा—**कृष्णं नंस्यति चेत् सुखं यास्यति।**

इसी प्रकार—**गुरुं प्रणमेच्चेच्छास्त्रान्तं गच्छेत्। गुरुं प्रणंस्यति चेच्छास्त्रान्तं गमिष्यति। वृष्टिर्भवेच्चेत् सुभिक्षं स्यात्; वृष्टिर्भविष्यति चेत् सुभिक्षं भविष्यति। गुरुपूजां यदि कुर्वीत स्वर्गमारोहेत्; गुरुपूजां यदि करिष्यति स्वर्गम् आरोक्ष्यति।**

हेतुहेतुमद्भाव में लिँङ् भविष्यत्काल में ही आता है अन्य कालों में नहीं। यथा—**हन्तीति पलायते** (वह मारता है इसलिये दूसरा भागता ह)। यहां पर 'मारना' हेतु तथा 'भागना' हेतुमत् है, परन्तु वर्त्तमानकाल में स्थित होने से लिँङ् का प्रयोग न होकर '**वर्त्तमाने लँट्**' (३७४) से लँट् हो गया है। '**पलायते**' में परा-पूर्वक '**अय गतौ**' धातु का प्रयोग हुआ है। '**उपसर्गस्यायतौ**'(५३५) से उपसर्गस्थ रेफ को लत्व हो गया है। इसीप्रकार—'**वर्षतीति धावति**' आदि में समझना चाहिये।

इसी भविष्यत्कालिक हेतुहेतुमद्भाव में जब वक्ता को प्रमाणान्तर से क्रिया की असिद्धि का निश्चय हो जाता है तो इस लिँङ् का अपवाद लृँङ् विधान किया जाता है—यह सब पीछे (४४२) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं।

अब ग्रन्थकार पूर्वोक्त '**विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्ट०**' (४२५) सूत्र का स्मरण कराते हुए 'विधि' आदि शब्दों की व्याख्या करते हैं—

[लघु०] **विधिनिमन्त्रणा० (४२५)** इति लिँङ्। विधिः=प्रेरणम्=भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्त्तनम्—यजेत। निमन्त्रणम्=नियोगकरणम्=आवश्यके श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादेः प्रवर्त्तनम्—इह भुञ्जीत। आमन्त्रणम्=कामचाराऽनुज्ञा—इहासीत। अधीष्टम्=सत्कारपूर्वको व्यापारः—पुत्रमध्यापयेद् भवान्। सम्प्रश्नः=सम्प्रधारणम्—किं वेदमधीयीय उत तर्कम्। प्रार्थनम्=याच्ञा—भो भोजनं लभेय। एवं लोँट्॥

व्याख्या—इस स्थल की व्याख्या हम विस्तारपूर्वक इसी सूत्र पर पृष्ठ (६४-६५) पर कर चुके हैं, वहीं देखें। लकारार्थप्रक्रिया **काशिका** तथा **सिद्धान्तकौमुदी** में पर्याप्त लम्बी है। **वरदराजजी** ने यहां अत्यन्त संक्षेप से काम लिया है। हम बालकोपयोगी कुछ अन्य सूत्रों का यहां सोदाहरण चयन कर रहे हैं—

(१) **यावत्पुरानिपातयोर्लँट्** (३.३.४) यावत् और पुरा निपातों के प्रयोग

---

१. ध्यान रहे कि हेतुहेतुमद्भाव या कारणकार्यभाव में दो धातुएँ होती हैं। एक धातु से हेतु (कारण) तथा दूसरी धातु से हेतुमत् (कार्य) द्योतित होता है। हेतुहेतुमद्भाव में लिँङ् का विधान होने से दोनों धातुओं से ही लिँङ् किया जाता है। हेतुहेतुमद्भाव को प्रकट करने के लिए ऐसे वाक्यों में 'चेत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है, परन्तु 'चेत्' शब्द कभी वाक्य के आदि में नहीं आता।

में भविष्यत्काल में भी लँट् प्रयुक्त होता है। 'यावत्' और 'पुरा' दोनों निपात निश्चय अर्थ को प्रकट करते है—यावद् भुङ्क्ते (निश्चय है कि वह खायेगा); **आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा** (बलिकर्म में व्यापृत वह तुझे निश्चित दृग्गोचर होगी —मेघदूत ८५)।

(२) **विभाषा कदा-कर्ह्योः** (३.३.५)—कदा और कर्हि (कब) के प्रयोग में भविष्यत्काल में भी विकल्प से लँट् हो जाता है। कदा गच्छन्ति गुरवः—कदा गमिष्यन्ति गुरवः (गुरुजी कब जायेंगे); कर्हि भुङ्क्ते—कर्हि भोक्ष्यते (वह कब खायेगा)।

(३) **ननौ पृष्टप्रतिवचने** (३.२.१२०)—ननु के योग में प्रश्न के उत्तर में भूतकाल में भी लँट् प्रयुक्त होता है। अकार्षीः किम् ; ननु करोमि भोः।

(४) **नन्वोर्विभाषा** (३.२.१२१)—'न' अथवा 'नु' का योग होने पर प्रश्न के उत्तर में भूतकाल में विकल्प से लँट् प्रयुक्त होता है—अकार्षीः कटं देवदत्त ! (देवदत्त क्या तूंने चटाई बनाई)—न करोमि, न अकार्षं वा (मैंने नहीं बनाई)। इसी प्रकार—नु करोमि, न्वकार्षं वा।

(५) **पुरि लुँङ् चाऽस्मे** (३.२.१२२)—पुरा (पूर्वकाल में) के योग में भूत अनद्यतनकाल में विकल्प से लँट् और लुँङ् दोनों का प्रयोग होता है। पक्ष में यथाप्राप्त प्रत्यय हो जाते हैं। वसन्तीह पुरा छात्राः—अवात्सुरिह पुरा छात्राः। अवसन्निह पुरा छात्राः। ऊषुरिह पुरा छात्राः[1]। 'स्म' के योग में केवल लँट् ही होता है—यजति स्म पुरा।

(६) **शकि लिँङ् च** (३.३.१७२)—यदि धातु के अर्थ की शक्तता (हो सकना) गम्यमान हो तो धातु से लिँङ् और कृत्यप्रयय हो जाते हैं—त्वं भारं वहेः, त्वया भारो वोढव्यो वहनीयो वा (तुम भार उठा सकते हो)। **कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेः धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये** (मैं पिनाकधारी शिव का भी धैर्य लुप्त कर सकता हूं अन्य धनुर्धारी मेरे सामने हैं ही क्या ? —कुमार० ३.१०)।

(७) **अर्हे कृत्यतृचश्च**(३.३.१६९)—योग्य कर्त्ता वाच्य हो तो धातु से लिँङ् कृत्य और तृच् प्रत्यय हो जाता है। यथा—त्वं कन्यां वहेः, त्वया कन्या वोढव्या, त्वं कन्याया वोढा (तुम कन्या को ब्याहने योग्य हो)।

(८) **आशंसायां भूतवच्च** (३.३.१३२)—आशंसा (अप्राप्त की इच्छा) गम्यमान हो तो भविष्यत्काल में भी भूतवत् या वर्तमानवत् प्रत्यय होते हैं। यथा—मेघश्चेद् अवर्षीद् धान्यम् अवप्स्याम, मेघश्चेद् वर्षति धान्यं वपामः, मेघश्चेद् वर्षिष्यति धान्यं वप्स्यामः (यदि मेघ बरसेगा तो धान्य बोएंगे)।

(९) **क्षिप्रवचने लृँट्** (३.३.१३३)—यदि शीघ्रवाचक कोई शब्द उपपद हो तो आशंसा गम्यमान होने पर भी भविष्यत्काल में लृँट् ही प्रयुक्त होता है। यथा—वृष्टिश्चेद् आशु आयास्यति शीघ्रं वप्स्यामः।

---

१. इस का उदाहरण यह स्मार्तवचन भी सम्भव हो सकता है—**'पुरा कल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते'**। 'पुरा' के योग में **'इष्यते'** लिँट् के अर्थ में है।

(१०) आशंसावचने लिङ्(३.३.१३४)—आशंसावाचक शब्द यदि उपपद हो तो भविष्यत्काल में लिङ् का ही प्रयोग होता है। यथा—उपाध्यायश्चेदागच्छेत् आशंसे व्याकरणमधीयीय (यदि उपाध्यायजी आ जायेंगे तो आशा है व्याकरण पढ़ूंगा)।

इति लकारार्थप्रक्रिया

(यहां पर लकारार्थप्रक्रिया का विवेचन समाप्त होता है)

अभ्यास (१७)[1]

(१) निम्न शंकाओं का समाधान कीजिये—

(क) 'परा जयति सेना' में 'विपराभ्यां जेः' द्वारा आत्मनेपद क्यों नहीं होता ?

(ख) 'मधुनि विशन्ति भ्रमराः' में 'नेर्विशः' द्वारा आत्मनेपद क्यों नहीं होता ?

(ग) 'वाष्पम् उच्चरति' में 'उदश्चरः०' द्वारा आत्मनेपद क्यों नहीं होता ?

(घ) 'व्यतिहिंसन्ति योधाः' में 'कर्तरि कर्म०' से आत्मनेपद क्यों नहीं होता ?

(ङ) 'रामः' में 'सुँपो धातु०' द्वारा सुँप् का लुक् क्यों नहीं होता ?

(च) 'वाच्यति' में पदनिबन्धन कुत्व क्यों नहीं होता ?

(छ) 'गीर्यति, पूर्यति' की तरह 'दिव्यति' में दीर्घ क्यों नहीं होता ?

(२) संक्षिप्त उत्तर दीजिये—

(क) भाववाच्य में प्र० पु० के एकवचन का ही सदा प्रयोग क्यों होता है ?

(ख) 'विष्णूयति' में 'क्यचि च' द्वारा ईत्व क्यों नहीं होता ?

(ग) द्विकर्मक धातुओं के कर्मवाच्य में किस कर्म में लकार होते हैं ?

(घ) यङ् के लुक् को अनैमित्तिक क्यों कहा जाता है ?

(ङ) एकवचन को भाष्यकार ने किस प्रकार औत्सर्गिक सिद्ध किया है ?

(च) यङ्लुगन्त को कई वैयाकरण वैदिक क्यों मानते हैं ?

(छ) 'हन्तीति पलायते' में 'हेतुहेतुमतोर्लिङ्' द्वारा लिङ् क्यों नहीं होता ?

(३) निम्न विषयों पर संक्षिप्त नोट लिखें—

(क) अन्तर्भावित-ण्यर्थ।

(ख) 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' में वत्करण।

(ग) यङन्त से आत्मनेपद तथा यङ्लुगन्त से परस्मैपद का होना।

(घ) कर्मकर्तृप्रक्रिया में सकर्मक धातुओं का भी अकर्मक हो जाना।

(ङ) कण्ड्वादियों को धातु और प्रातिपदिक उभयविध मानना।

(च) सन्नन्त और णिजन्त की पदव्यवस्था।

(४) कर्मकर्तृप्रक्रिया के अनुसार संस्कृत में अनुवाद कीजिये—

(क) घट अपने आप जाना जाता है।

(ख) पुस्तक अपने आप पढ़ी जाती है।

---

१. यह अभ्यास पूर्वोक्त ग्यारह प्रक्रियाओं का समुदितरूपेण बनाया गया है।

(ग) लकड़ियां अपने आप टूटती हैं।

(घ) ग्राम अपने आप आता है।

(५) कर्मव्यतिहार किसे कहते हैं ? इस में किस पद का प्रयोग होता है ? गत्यर्थकों और हिंसार्थकों से भी क्या यही पद प्रयुक्त होगा ?

(६) चतुर्थी के अर्थ में कब तृतीया का प्रयोग होता है ? तब दाण् धातु से कौन सा पद किया जाता है ?

(७) स्वार्थणिजन्त चुरादियों से हेतुमण्णिच् करने पर भी रूप में कोई अन्तर नहीं आता—इस का कारण क्या है ?

(८) निम्न-वचनों की व्याख्या करें—

(क) विवक्षातः कारकाणि भवन्ति।

(ख) भावः क्रिया, सा च भावार्थकलकारेणानूद्यते।

(ग) युष्मदस्मद्भ्यां सामानाधिकरण्याभावात् प्रथमः पुरुषः।

(घ) णिच्यच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्त्तव्ये।

(ङ) प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च।

(च) भूसुवोरिति गुणनिषेधो यङ्लुकि भाषायां न०।

(छ) यङो वेतीट्पक्षे गुणं बाधित्वा नित्यत्वाद् वुक्।

(९) 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' में 'स्वतन्त्रः' का क्या अभिप्राय है स्पष्ट करें।

(१०) सप्रमाण शुद्ध करें—

१. वृद्धो दुःखशतानि भुनक्ति। २. अयजत् स्म युधिष्ठिरः। ३. सत्यमेव विजयति नाऽनृतम्। ४. गुरुं शुश्रूषति। ५. रामायणं प्रकरोति (प्रकथयति)। ६. परदारान् प्रकुर्वन्ति। ७. कार्यान्नि विरमते। ८. वायुमार्गेण सञ्चरति। ९. वस्त्राणि विक्रीणाति। १०. पराकुरुते बाधाम्। ११. न गुरोरनुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् (मनु० २.१९९)। १२. व्यतिलुनन्ति ब्राह्मणाः। १३. आरामेऽत्रारमामहे। १४. स्मरसि देवदत्त ! यद्वने निवत्स्यामः। १५. सन्मार्गमभिनिविशन्ति सन्तः। १६. गुरवश्चेद् आगमिष्यन्ति आशंसे व्याकरणमध्येष्यामहे। १७. मया भूये। १८. अद्य संस्थास्यति यज्ञः। १९. शतमपजानाति। २०. परेषामनुकुरुते। २१. भुङ्क्ते भोजयते चैव। २२. पुस्तकं स्वयमेव पठ्यते। २३. देवदत्त एदिधिषति। २४. विक्रीणाति तिलैस्तिलान्।

(११) सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. कर्मवत्कर्मणा०। २. ओः पुयण्ज्यपरे। ३. कर्तरि कर्मव्यतिहारे। ४. धातोरेकाचो हलादेः०। ५. धातोः कर्मणः०। ६. तत्प्रयोजको हेतुश्च। ७. स्यसिँच्०। ८. सुँप आत्मनः क्यच्। ९. नः क्ये। १०. पूर्ववत्सनः। ११. उपाच्च। १२. तपोऽनुतापे च। १३. वर्त्तमानसामीप्ये०। १४. हेतुहेतुमतोर्लिङ्। १५. तत्करोति तदाचष्टे। १६. हेतुमति च। १७. यस्य हलः। १८. सन्यङोः। १९. अर्तिह्रीव्ली०। २०. क्यस्य विभाषा। २१. हलन्ताच्च।

(१२) निम्न-रूपों की सिद्धि करें—

१. भावयति । २. अबीभवत् । ३. अतिष्ठिपत् । ४. घटयति । ५. ज्ञपयति । ६. अजिज्ञपत् । ७. पिपठिषति । ८. जिघत्सति । ९. चिकीर्षति । १०. बुभूषति । ११. बोभूयते । १२. वाव्रज्यते । १३. वाव्रजिता । १४. जरीगृह्यते । १५. बोभवीति-बोभोति । १६. अबोभूवीत् । १७. पुत्रीयति । १८. राजीयति । १९. समिधिता-समिध्यिता । २०. पुत्रीयति छात्रम् । २१. कृष्णति । २२. सस्वौ । २३. इदामति । २४. कष्टायते । २५. शब्दायते । २६. घटयति । २७. निविविक्षते । २८. बोभूयते । २९. बोभूय्यते । ३०. आरिता-अर्ता । ३१. अन्वतप्त पापेन । ३२. तायते-तन्यते । ३३. दीयते । ३४. अदायि । ३५. स्रस्यते । ३६. अलम्भि । ३७. अभाजि । ३८. भिद्यते काष्ठेन । ३९. इज्यते । ४०. स्मर्यते ।

(१३) रूपमाला लिखें—

प्र√स्था, वि√रम्, सम्√दा (आत्मने०)—लँट्, लिँट्, लुँङ् में ।
लभ्, भञ्ज्, स्मृ, यज्, स्तु, अनुभू, श्रु—(कर्मणि) लँट्, लुँट्, लुँङ् में ।

(१४) निम्न-धातुओं से कौन सा पद होगा सप्रमाण लिखें—

आ√रम्; प्र√वह्; अनु√कृ; अभि√क्षिप्; वि√जि; वि√क्री; वि√स्था; परि√मृष्; नि√विविक्ष; एदिधिष; बोभूय; बोभू; बुभूष; चिकीर्ष; भावि; भुज् (भोजने); भुज् (पालने); उद्√कृ (भर्त्सने); अनु√भू (कर्मणि); पठ् (कर्मकर्तरि); भिद् (कर्मकर्तरि) ।

(१५) 'चिण्वद्वृद्धिर्युक् च०' कारिका की व्याख्या करें ।

(१६) 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विँब्वा वक्तव्यः' वाले क्विँप्प्रत्यय का सुँबन्तों से विधान क्यों नहीं किया गया ?

इति तिङन्तप्रकरणं समाप्तम्

(यहां पर तिङन्तप्रकरण का विवेचन समाप्त होता है ।)

इति भूतपूर्वाऽखण्डभारतान्तर्गत-सिन्धुतटवर्त्ति-डेराइस्माईलखाना-ख्यनगरवास्तव्य-भाटियावंशावतंस-स्वर्गत-श्रीमद्रामचन्द्र-वर्म-सूनुना एम्० ए० साहित्यरत्नेत्याद्यनेको-पाधिभृता वैद्येन भीमसेनशास्त्रिणा विरचितायां लघुसिद्धान्तकौमुद्या भैमीव्याख्यायां तिङन्ताख्यो द्वितीयो भागः पूर्त्तिमगात्

लघु-सिद्धान्त-कौमुद्या भैमीव्याख्याविभूषितः ।
तिङन्ताख्यो द्वितीयेऽर्धे भागोऽकारि मया मुदा ॥१॥

मामकीनं श्रमं वीक्ष्य नूनमन्वेषणप्रियाः ।
मोदम्परमवाप्स्यन्ति पठकाः पाठका अपि ॥२॥

करुणेश-कृपा-लेश-शिथिलाऽज्ञान-बन्धनः ।
कथञ्चिज्जातसामर्थ्यः पारं प्राप्तास्मि विस्मितः ॥३॥

ईदृक्षोऽनुग्रहश्चेत्स्यात् सर्वभूताधिवासिनः ।
अस्या भागस्तृतीयोपि व्याख्यायाः प्राप्स्यतेऽचिरात् ॥४॥

वसु-पक्ष-ख-नेत्राऽब्दे वैक्रमे शुभवत्सरे ।
भैमीव्याख्यायुतो भागो द्वितीयः पूर्त्तिमागतः ॥५॥

(२०२८ वैक्रमाब्द, सन् १९७१)

●

[शुभं भूयादध्यायकानामध्यापकानां च ॥]

(१) परिशिष्ट—अष्टाध्यायीसूत्रतालिका

(यहां हम लघुकौमुदीस्थ तिङन्तप्रकरणान्तर्गत अष्टाध्यायीसूत्रों की वर्णानुक्रम से सूची दे रहे हैं। इन के आगे पृष्ठ संख्या दी गई है)

---

(२) परिशिष्ट--वार्तिकगणसूत्रतालिका

इस परिशिष्ट में तिङन्तभाग के वार्तिकों तथा गणसूत्रों की वर्णानुक्रमणी दी जा रही है। आगे पृष्ठसंख्या दी गई है।

---

(३) परिशिष्ट--धातुतालिका

इस परिशिष्ट में मूललघुकौमुदीस्थ तथा भैमीव्याख्या में उद्धृत धातुओं की सूची दे रहे हैं। मूलोक्त धातुएं मोटे टाइप में दी गई हैं। इदित् धातुओं को नुम्सहित पढ़ा गया है। उच्चारणार्थक अकार को छोड़ कर प्रत्येक धातु का सानुबन्धपाठ कोष्ठक में दिया गया है। धातुओं के आगे पृष्ठसंख्या जाननी चाहिये।

(४) परिशिष्ट—कारिकादि–तालिका

इस परिशिष्ट में हम भैमीव्याख्या तथा मूल में व्याख्यात व्याकरण-सम्बन्धी विशेष कारिकाओं तथा श्लोकों की तालिका प्रस्तुत कर रहे हैं। आगे पृष्ठसंख्या दी गई है॥

---

(५) परिशिष्ट–विशेष-द्रष्टव्य-स्थल-तालिका

[इस परिशिष्ट में विशेष द्रष्टव्य स्थलों की पृष्ठानुक्रम से सूची दी गई है]

---

(६) परिशिष्ट—परिभाषादितालिका

[इस परिशिष्ट में भैमीव्याख्या वा मूलगत व्याख्यातपरिभाषाओं न्यायों तथा विशेषवचनों की वर्णानुक्रमणी दे रहे हैं। इन के आगे पृष्ठसंख्या दी गई है।]

(७) परिशिष्ट—विशेषस्मरणीय पद्य वा वचन

[भैमीव्याख्या के इस तिङन्तप्रकरण में उद्धृत सैंकड़ों वचनों में से कुछ विशेष स्मरणीय पद्य वा वचन यहां संगृहीत किये गये हैं ।]

(१) त्रिष्वस्मासु प्रक्षीणायाः सद्यो मृत्यर्जातोऽम्बायाः ।
प्रासोष्ट द्राक् पुत्रं जाया 'इस का बट्टा उस में आया' ॥ (पृष्ठ ३)

(२) फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं सकर्मकत्वम् ॥ (पृष्ठ ५)

(३) फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वम् अकर्मकत्वम् ॥ (पृष्ठ ५)

(४) लज्जा-सत्ता-स्थिति-जागरणं वृद्धि-क्षय-भय-जीवित-मरणम् ।
शयन-क्रीडा-रुचि-दीप्त्यर्थं धातुगणं तमकर्मकमाहुः ॥ (पृष्ठ ५)

(५) गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् ।
बुद्ध्या प्रकल्पिताऽभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥ (पृष्ठ ७)

(६) भ्वाद्यदादी जुहोत्यादिर्दिवादिः स्वादिरेव च ।
तुदादिश्च रुधादिश्च तन-क्र्यादि-चुरादयः ॥ (पृष्ठ ८)

(७) यस्यार्थस्य प्रसिद्ध्यर्थमारभ्यन्ते पचादयः ।
तत्प्रधानं फलं तेषां न लाभादि प्रयोजकम् ॥ (पृष्ठ १३)

(८) अहरुभयतोऽर्धरात्रमेषोऽद्यतनः काल इति पूर्वे वैयाकरणाः । (पृष्ठ २६)

(९) परोभावः परस्याक्षे परोक्षे लिटि दृश्यताम् ।
उत्वं वाऽऽदेः परादक्ष्णः सिद्धं वाऽस्मान्निपातनात् ॥ (पृष्ठ २६)

(१०) कथं जातीयकं पुनः परोक्षं नाम ? केचित्त्वाहुः—वर्षशतवृत्तं परोक्षमिति । अपर आहुः—वर्षसहस्रवृत्तं परोक्षमिति । अपर आहुः—कुड्य-कटान्तरितं परोक्षमिति । अपर आहुः—द्व्यहवृत्तं त्र्यहवृत्तं चेति । (पृष्ठ २७)

(११) वृक्षः प्रचलन् सहावयवैः प्रचलति । (पृष्ठ ३२)

(१२) व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति । तद्यथा नटानां स्त्रियो रङ्गगता यो यः पृच्छति कस्य यूयमिति तं तं तव तवेत्याहुः । एवं व्यञ्जनान्यपि यस्य यस्याचः कार्यमुच्यते तं तं भजन्ते । (पृष्ठ ३२)

(१३) कर्मधारयपक्षे स्यादादिशब्दस्य पूर्वता ।
षष्ठीसमासे त्वानक्षेत्यादौ शेषः प्रसज्यते ॥ (पृष्ठ ३४)

(१४) इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे। (पृष्ठ ३५)

(१५) अप्यहमन्तरायाण्यार्य? (क्या मैं अन्दर आ सकता हूं श्रीमन्)। (पृष्ठ ५९)

(१६) उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराऽऽहार-संहार-विहार-परिहारवत् ॥ (पृष्ठ ८८)

(१७) संयोगे गुरुसञ्ज्ञायां गुणो भेत्तुर्न सिध्यति।
क्नु-सनोर्यत्कृतं कित्त्वं ज्ञापकं स्याल्लघोर्गुणे ॥ (पृष्ठ १०२)

(१८) श्तिपा शपानुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च।
यत्रैकाज्ग्रहणं चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि ॥ (पृष्ठ ११०)

(१९) णोपदेशास्तु अनर्द-नाटि-नाथ्-नाध्-नन्द-नक्क-नृ-नृतः।
(पृष्ठ ११५)

(२०) सन्-क्यच्-काम्यच्-क्यङ्-क्यषोऽथाऽऽचारक्विब्-णिजूयङस्तथा।
यगाय ईयङ् णिङ् चेति द्वादशाऽमी सनादयः ॥ (पृष्ठ १३५)

(२१) आय ईयङ् च णिङ् चेति, त्रय आयादयः स्मृताः। (पृष्ठ १३६)

(२२) आमोऽमित्त्वमदन्तत्वाद् अगुणत्वं विदेस्तथा।
आस्कासोराम्विधानाच्च पररूपं कतन्तवत् ॥ (पृष्ठ १३७)

(२३) ऊदृदन्तैर्यौति-रु-क्ष्णु-शीङ्-स्नु-नु-क्षु-श्वि-डीङ्-श्रिभिः।
वृङ्-वृञ्भ्यां च विनैकाचोऽजन्तेषु निहताः स्मृताः ॥ (पृष्ठ १४७)

(२४) अनुदात्ता हलन्तेषु धातवस्त्र्यधिकं शतम्। (पृष्ठ १४९)

(२५) उपदेशग्रहोऽप्यत्र वक्ष्यमाणोऽपकृष्यते।
गुणे नित्ये कृतेऽप्येष ऋदन्ते प्राप्नुयात्कथम् ॥ (पृष्ठ १६४)

(२६) अजन्तोऽकारवान् वा यस्तास्यनिट् थलि वेडयम्।
ऋदन्त ईदृङ् नित्याऽनिट् क्राद्यन्यो लिटि सेड् भवेत् ॥ (पृष्ठ १६६)

(२७) नाकमिष्टसुखं यान्ति सयुक्तैर्वडवारथैः।
अथ पत्काषिणो यान्ति येऽचीकमतभाषिणः ॥ (पृष्ठ २३९)

(२८) नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु।
सकारजः शकारश्चे षाट् टवर्गस्तवर्गजः ॥ (पृष्ठ २५०)

(२९) यजिर्वपिर्वहिश्चैव वसिर्वेञ् व्येञ् इत्यपि।
हेञ्वदी श्वयतिश्चैव यजाद्याः स्युरिमे नव ॥ (पृष्ठ २७४)

(३०) हलोऽनुवर्त्तनाद्वापि निर्दिश्यमानतोऽथवा।
हस्य धत्वं भवेच्चेति रुदिहीति न दोषभाक् ॥ (पृष्ठ २८९)

(३१) सन्ध्यावन्दनवेलायां तन्तडागं द्विजोत्तमैः ।
अत्र क्रियापदं गुप्तं यो जानाति स पण्डितः ॥ (पृष्ठ ३३०)

(३२) इङिकावध्युपसर्गतो न व्यभिचरतः । (पृष्ठ ३३८)

(३३) ध्वमि ते च वहौ थासि दन्त्ये क्सो लुप्यतेऽखिलम् ।
दुहृदिहोर्लिहृगुहोश्चैव नान्यत्रेति विनिर्णयः ।
लोपोऽजादौ तदन्तस्याऽविशेषेणाभिधीयते ॥ (पृष्ठ ३५२)

(३४) वाच्य ऊर्णोर्णुवद्भावो यङ्प्रसिद्धिः प्रयोजनम् ।
आमश्च प्रतिषेधार्थम् एकाचश्चेडुपग्रहात् ॥ (पृष्ठ ३६४)

(३५) देङ्-दाणौ दो-डुदाञौ च, धेट्-डुधाञावुभावपि ।
पाणिनीये महातन्त्रे, प्रोक्ता घुसञ्ज्ञका अमी ॥ (पृष्ठ ३९८)

(३६) निधानं धर्माणां किमपि च विधानं नवमुदां
प्रधानं तीर्थानाममलपरिधानं त्रिजगतः ।
समाधानं बुद्धेरथ खलु तिरोधानमधियां
श्रियामाधानं नः परिहरतु तापं तव वपुः ॥ (पृष्ठ ४०५)

(३७) राघवस्य शरैर्घोरैर्घोररावणमाहवे ।
अत्र क्रियापदं गुप्तं मर्यादा दशवार्षिकी ॥ (पृष्ठ ४२०)

(३८) ब्राह्मणस्य महत्पापं सन्ध्यावन्दनतर्पणैः । (पृष्ठ ४२०)

(३९) परयापि तृषा विबाधितो न हि रथ्यागतमम्बु पीयते । (पृष्ठ ४३४)

(४०) धूनोति चम्पकवनानि धुनोत्यशोकं
चूतं धुनाति धुवति स्फुटितातिमुक्तम् ।
वायुर्विधूनयति चम्पकपुष्परेणून्
यत्कानने धवति चन्दनमञ्जरीश्च ॥ (पृष्ठ ४५७)

(४१) मुच्-सिचौ लुप्-लिपौ चेति विद्-खिदौ कृत् - पिशौ तथा ।
नुम्भाजः शे भवन्त्यष्टौ मुञ्चतीति निदर्शनम् ॥ (पृष्ठ ४७४)

(४२) विन्दतिश्चान्द्रदौर्गादिरिष्टो भाष्येऽपि दृश्यते ।
व्याघ्रभूत्यादयस्त्वेनं नेह पेठुरिति स्थितम् ॥ (पृष्ठ ४७७)

(४३) उञ्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलम् ॥ (पृष्ठ ४८७)

(४४) अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥

(४५) एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोरिति यो बभाषे ।
नूनं न दृष्टः कविनापि तेन दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी ॥ (पृष्ठ ५०१)

(४६) स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति ।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डनपण्डितौघः ॥ (पृष्ठ ५१२)

(४७) धित्वे ष्टुत्वेऽप्यनुस्वारे जश्त्वे परसवर्णता ।
सवर्णे च झरो लोपे शिण्ढि-पिण्ढीति जायते ॥ (पृष्ठ ५४४)

(४८) सत्तायां विद्यते, ज्ञाने वेत्ति, विन्ते विचारणे ।
विन्दते विन्दति प्राप्तौ, श्यन्-लुक्-श्नम्-शेष्विदं क्रमात् ॥
(पृष्ठ ५४९)

(४९) वेत्ति सर्वाणि शास्त्राणि गर्वस्तस्य न विद्यते ।
विन्ते धर्मं सदा सद्भिस्तेषु पूजां च विन्दति ॥ (पृष्ठ ५४९)

(५०) स्कुनाति च स्कुनीते च स्कुनोत्याप्लवतेऽपि च ।
स्कन्दते स्कुन्दते चापि षडाप्लवनवाचिनः ॥ (पृष्ठ ५७६)

(५१) एष विधिर्न चुरादिणिजन्तात् स्यादिति कश्चन निश्चिनुते स्म ।
आप्तवचोऽत्र न किञ्चिद् दृष्टं लक्षयतेः स्वरितेत्त्वमनार्षम् ॥ (पृष्ठ ६००)

(५२) प्रागन्यतः शक्तिलाभान्न्यग्भावापादनादपि ।
तदधीनप्रवृत्तित्वात् प्रवृत्तानां निवर्त्तनात् ॥
अदृष्टत्वात् प्रतिनिधेः प्रविवेकेऽपि दर्शनात् ।
आरादप्युपकारित्वात् स्वातन्त्र्यं कर्तुरिष्यते ॥ (पृष्ठ ६०९)

(५३) धातुप्रकरणाद् धातुः कस्य चासञ्जनादपि ॥
आह चायमिमं दीर्घं मन्ये धातुर्विभाषितः ॥ (पृष्ठ ६६०)

(५४) अपि लोकयुगं दृशावपि श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि ।
श्रुतिगामितया दमस्वसुर्व्यतिभाते सुतरां धरापते ॥ (पृष्ठ ६६३)

(५५) मनुष्यमारणं स्तेयं परदाराभिमर्षणम् ।
पारुष्यमनृतञ्चैव साहसं पञ्चधा स्मृतम् ॥ (पृष्ठ ६७२)

(५६) चिण्वद् वृद्धिर्युक् च हन्तेश्च घत्वं दीर्घश्चोक्तो यो मितां वा चिणीति ।
इट् चासिद्धस्तेन मे लुप्यते णिर्नित्यश्चायं वल्निमित्तो विघाती ॥
(पृष्ठ ६८३)

(५७) गौणे कर्मणि दुह्यादेः, प्रधाने नी-हृ-कृ ष्-वहाम् । (पृष्ठ ७०१)

(५८) भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ (पृष्ठ ७०५)

(५९) अधिगच्छति शास्त्रार्थः स्मरति श्रद्दधाति च ।
यत्कृपालेशतस्तस्मै नमोऽस्तु गुरवे सदा ॥ (पृष्ठ ७०५)

(६०) पश्य मृगो धावति । (पृष्ठ ७०६)

●●●●

✻ भैमी प्रकाशन के ग्रन्थों की नवीन सूची ✻

(१) लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (प्रथम भाग)

यह भाग पञ्च-सन्धि-षड्लिङ्ग-अव्ययप्रकरणात्मक है । यह द्वितीय बार मुद्रित हुआ है । इस नवीनतम संस्करण में लेखक ने अनेक नये संशोधन वा परिवर्धन किये हैं। विषय को परिमार्जित तथा स्पष्ट करने के लिये सैकड़ों नये उदाहरण तथा दो सौ से अधिक नये शोधपूर्ण फुटनोट तथा टिप्पण दिये गये हैं । अव्ययप्रकरण को पहले से लगभग दुगना कर दिया है । इस प्रकार प्रायः दो सौ पृष्ठों की ठोस सामग्री पूर्वापेक्षया इस संस्करण में अधिक संगृहीत है । अन्य भागों की तरह इस भाग को भी समानरूप में परिणत किया गया है। चार प्रकार के नवीन आधुनिक टाइपों के द्वारा सुन्दर शुद्धतम छपाई, अंग्रेजी पक्की सिलाई, स्क्रीनप्रिंटिड आकर्षक मजबूत जिल्द । (२३ × ३६) ÷ १६ साइज के लगभग साढ़े छः सौ पृष्ठों का मूल्य केवल एक सौ पचास रुपये (Rs. 150/-) ।

(२) लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (द्वितीय भाग)

इस भाग में दस गण और एकादश प्रक्रियाओं की विशद व्याख्या प्रस्तुत की गई है । तिङन्तप्रकरण व्याकरण की पृष्ठास्थि (Backbone) समझा जाता है । क्योंकि धातुओं से ही विविध शब्दों की सृष्टि हुआ करती है । अतः इस भाग की व्याख्या में विशेष श्रम किया गया है । प्रत्येक सूत्र के पदच्छेद, विभक्तिवचन, समासविग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, प्रत्येक पद का अर्थ, परिभाषाजन्य वैशिष्ट्य, अर्थनिष्पत्ति, उदाहरण-प्रत्युदाहरण और सारसंक्षेप के अतिरिक्त प्रत्येक धातु के दसों लकारों की रूपमाला सिद्धिसहित दिखाई गई है । चार सौ से अधिक सार्थ उपसर्गयोग तथा उनके लिये विशाल संस्कृतसाहित्य से चुने हुए एक सहस्र से अधिक उदाहरणों का अपूर्व संग्रह प्रस्तुत किया गया है । लगभग डेढ़ हजार रूपों की ससूत्र सिद्धि और एक सौ के करीब शास्त्रार्थ और शङ्का-समाधान इस में दिये गये हैं । अनुवादादि के सौकर्य के लिये छात्रोपयोगी णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त, भावकर्म आदि प्रक्रियाओं के अनेक शतक और संग्रह भी अर्थसहित दिये गये हैं । अन्त में अनुसन्धानोपयोगी छह: प्रकार के परिशिष्ट दिये गये हैं । सुन्दर, बढ़िया, जिल्द तथा पक्की सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है । यह भाग (२३ × ३६) ÷ १६ आकार के ७५० पृष्ठों में समाप्त हुआ है । मूल्य : केवल तीन सौ रुपये (Rs 300/ - Only)

(३) लघु-सिद्धान्त-कौमुदी भैमीव्याख्या (तृतीय भाग)

इस भाग में कृदन्त और कारक प्रकरणों का विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है । सुप्रसिद्ध कृत्प्रत्ययों के लिये कई विशाल शब्दसूचियां अर्थ तथा ससूत्र-

टिप्पणों के साथ बड़े यत्न से गुम्फित की गई हैं, जिनमें अढ़ाई हजार से अधिक शब्दों का अपूर्व संग्रह है। प्रायः प्रत्येक प्रत्यय पर संस्कृतसाहित्य में से अनेक सुन्दर सुभाषितों या सूक्तियों का संकलन किया गया है। कारकप्रकरण लघुकौमुदी में केवल सोलह सूत्रों तक ही सीमित है जो स्पष्टतः बहुत अपर्याप्त है। भैमीव्याख्या में इन सोलह सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करते हुए अन्त में अत्यन्त उपयोगी लगभग पचास अन्य सूत्र-वार्तिकों की भी सोदाहरण सरल व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस प्रकार कुल मिलाकर कारकप्रकरण ५६ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। अनेक प्रकार के उपयोगी परिशिष्टों सहित यह भाग लगभग चार सौ पृष्ठों में समाश्रित हुआ है। पूर्ववत् अङ्ग्रेजी पक्की सिलाई, स्क्रीनप्रिंटिड आकर्षक जिल्द। मूल्य केवल एक सौ बीस रुपये (Rs. 120/-)।

(४) लघु-सिद्धान्त-कौमुदी भैमीव्याख्या (चतुर्थ भाग)

भैमीव्याख्या के इस चतुर्थ भाग में समासप्रकरण का अत्यन्त विस्तार के साथ लगभग तीन सौ पृष्ठों में विवेचन प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थगत प्रत्येक प्रयोग के लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के विग्रह निर्दिष्ट कर उस की सूत्रों द्वारा अविकल साधनप्रक्रिया दर्शाई गई है। मूलोक्त उदाहरणों के अतिरिक्त सैंकड़ों अन्य नवीन उदाहरणों को विशाल संस्कृतसाहित्य से चुन-चुन कर इस व्याख्या में गुम्फित किया गया है। इस प्रकार इस व्याख्या में बारह सौ से अधिक समासोदाहरण संगृहीत किये गये हैं। साहित्यिक उदाहरणों के स्थलनिर्देश भी यथासम्भव दे दिये गये हैं। प्रबुद्ध विद्यार्थियों के मन में स्थान स्थान पर उठने वाली दो सौ से अधिक शङ्काओं का भी इस में यथास्थान समाधान किया गया है। जगह जगह उपयोगी पादटिप्पण (फुटनोट्स) दिये गये हैं। मूलगत सूत्रवार्त्तिक आदियों के अतिरिक्त छात्रोपयोगी कई अन्य सूत्रवार्त्तिक आदियों का भी इसमें सोदाहरण व्याख्यान किया गया है। लघुकौमुदी के अशुद्ध या भ्रष्ट पाठों पर भी अनेक टिप्पण दिये गये हैं। व्याख्याकार की सूक्ष्मेक्षिका, स्वाध्याय-निपुणता तथा कठिन से कठिन विषय को भी नपे-तुले शब्दों में समझा देने की अपूर्व क्षमता इस व्याख्या में पदे पदे परिलक्षित होती है। समासप्रकरण पर इतनी विस्तृत व्याख्या आज तक लिखी ही नहीं गई। इस से विद्यार्थिवर्ग और अध्यापकवृन्द दोनों जहां लाभान्वित होंगे वहां अनुसन्धानप्रेमियों को भी प्रचुर अनुसन्धानसामग्री प्राप्त होगी। विद्वान् लेखक ने सततोत्थायी हो कर दो वर्षों के कठोर परिश्रम से सैकड़ों ग्रन्थों का मन्थन कर इस भाग को तैयार किया है। अन्त में विविध परिशिष्टों से इस ग्रन्थ को विभूषित किया गया है। व्याख्यागत बारह सौ उदाहरणों की समासनामनिर्देशसहित बनी वर्णानुक्रमणी इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषताओं में एक समझी जायेगी। इस के सहारे सम्पूर्ण समासप्रकरण की आवृत्ति करने में विद्यार्थियों को महती सुविधा रहेगी। ग्रन्थ में यथास्थान अनेक अभ्यास दिये गये हैं। समीक्षकों का कहना है कि यदि इन अभ्यासों को सुचारु रूप में हल कर लिया जाये तो विद्या-

थियों को सिद्धान्तकौमुदी या काशिका में समासप्रकरण को समझने का स्वतः सामर्थ्य प्राप्त हो सकता है। (२३ × ३६) ÷ १६ साइज के लगभग तीन सौ पृष्ठों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है। साफ सुथरी शुद्ध छपाई, पक्की सिलाई तथा सुन्दर स्क्रीन प्रिंटिड जिल्द से यह ग्रन्थ और भी अधिक आकर्षक बन गया है। मूल्य एक सौ बीस रुपये मात्र (Rs. 120/-)।

(५) लघु-सिद्धान्त-कौमुदी भैमीव्याख्या (पञ्चम भाग)

इस भाग में लघुसिद्धान्तकौमुदी के तद्धितप्रकरण की अतीव सरल ढंग से सविस्तार व्याख्या प्रस्तुत की गई है। प्रत्येक सूत्र की व्याख्या के बाद हर एक उदाहरण का विग्रह, अर्थ तथा विशद सिद्धि इस में दर्शाई गई है। मूलगत उदाहरणों के अतिरिक्त साहित्यगत विविध उदाहरणों से भी यह ग्रन्थ विभूषित है। पठन-पाठन में उठने वाली प्रत्येक शङ्का का इस में समाधान किया गया है। मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त भी छात्रोपयोगी अनेक सूत्रों की इस में व्याख्या दर्शाई गई है। यत्र-तत्र यत्न से अभ्यास निबद्ध किये गये हैं जिन की सहायता से सारा प्रकरण दोहराया जा सकता है। अन्त में अनेक परिशिष्टों के अतिरिक्त उदाहरणसूची वाला परिशिष्ट इस ग्रन्थ का विशेष आकर्षण है। मूल्य दो सौ पचास रुपए।

(६) लघु-सिद्धान्त-कौमुदी भैमीव्याख्या (षष्ठ भाग)

इस भाग में लघुकौमुदी के स्त्रीप्रत्ययप्रकरण की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है। प्रत्येक सूत्र की विशद व्याख्या के अनन्तर तद्गत प्रत्येक प्रयोग की विस्तृत सिद्धि तथा अनेकविध उदाहरण-प्रत्युदाहरणों एवं शङ्कासमाधानों से यह भाग विभूषित है। मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त छात्रोपयोगी अन्य भी अनेक सूत्र और वार्त्तिक इस में सोदाहरण व्याख्यात किये गये हैं। जगह जगह साहित्यिक उदाहरण ढूंढ ढूंढ कर संकलित किये गये हैं। 'स्वाङ्ग' और 'जाति' सरीखे पारिभाषिक शब्दों तथा अन्य कठिन स्थलों की सरलभाषा में विस्तार के साथ विवेचना की गई है। दूसरे शब्दों में ग्रन्थ का कोई भी व्याख्येयांश विना व्याख्या के अछूता छोड़ा नहीं गया। पठितविषय की आवृत्ति के लिये यत्र-तत्र अनेक अभ्यास दिये गये हैं। नानाविध सूचीपरिशिष्टों विशेषतः प्रत्ययनिर्देशसहित दी गई उदाहरणसूची से इस ग्रन्थ का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। अन्त में स्त्रीप्रत्ययसम्बन्धी एक सौ से अधिक पद्यबद्ध अशुद्धियों का सहेतुक शोधन दर्शा कर लक्ष्यों के प्रति विद्यार्थियों की जागरूकता को प्रबुद्ध करने का विशेष प्रयत्न किया गया है। अनुसन्धानप्रेमी जनों के लिये भी दर्जनों महत्त्वपूर्ण टिप्पण जहां तहां दिये गये हैं। कई स्थानों पर पाणिनीतरव्याकरणों का आश्रय ले कर भी विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। वस्तुतः इतनी विशद सर्वाङ्गीण व्याख्या स्त्रीप्रत्ययप्रकरण पर पहली बार प्रकाशित हुई है। (२३ × ३६) ÷ १६ साइज के डेढ़ सौ से अधिक पृष्ठों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है। सुन्दर शुद्ध छपाई, बढ़िया स्क्रीन-प्रिंटिड जिल्द तथा पक्की सिलाई से यह ग्रन्थ और भी चमत्कृत हो उठा है। मूल्य

साठ रुपये मात्र (Rs. 60/-)

नोट—अब लघुकौमुदी भैमीव्याख्या के सब खण्ड मुद्रित हो चुके हैं।

(७) **अव्ययप्रकरणम्**। लघुकौमुदी का अव्ययप्रकरण भैमीव्याख्यासहित पृथक् भी छपवाया गया है। इस में लगभग सवा पाञ्च सौ अव्ययों का सोदाहरण साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक अव्यय पर वैदिक वा लौकिक संस्कृतसाहित्य से अनेक सुन्दर सुभाषितों वा सूक्तियों का संकलन किया गया है। कठिन सूक्तियों का अर्थ भी साथ में दे दिया गया है। आज तक इतना शोधपूर्ण परिश्रम इस प्रकरण पर पहली बार देखने में आया है। साहित्यप्रेमी विद्यार्थियों तथा शोध में लगे जिज्ञासुओं के लिये यह ग्रन्थ विशेष उपादेय है। सुन्दर अंग्रेजी सिलाई, आकर्षक जिल्द। मूल्य केवल पँच्चीस रुपये। (Rs. 25/-)

(८) **वैयाकरण-भूषणसार (धात्वर्थनिर्णय) भैमीभाष्य**। इस हिन्दी भाष्य से इस ग्रन्थ की दुरूहता समाप्त हो गई है। अब परीक्षा में भूषणसार की पंक्तियों को रटने की कोई आवश्यकता नहीं रही। सरल भाषा में लिखे इस ग्रन्थ का एक बार पारायण करना ही पर्याप्त है। देश-विदेश में समानरूप से आदृत यह ग्रन्थ विद्वत्समाज में अपना गौरवपूर्ण स्थान पा चुका है। मूल्य : डेढ़ सौ रुपये (Rs 150/- Only)

(९) **बालमनोरमा-भ्रान्ति-दिग्दर्शन**। यह निबन्ध विद्वत्समाज की आंखों को खोलने वाला विलक्षण शोधपत्र है। एक बार पढ़ जाइये, ज्ञानवृद्धि के साथ-साथ आप का मनोरञ्जन भी होगा। मूल्य केवल दस रुपये। (Rs. 10/-)

(१०) **प्रत्याहारसूत्रों का निर्माता कौन?** इति माहेश्वराणि सूत्राणि—के अन्धविश्वासरूप तिमिर से मुक्त होने के लिये यह शोधपत्र प्रत्येक जिज्ञासु के लिये संग्रहणीय, मननीय तथा अभ्यसनीय है। अश्रुतपूर्व अनेक प्रमाणों के आलोक में निश्चय ही वर्षों से छाया इस विषय का अज्ञान मिट जायेगा। मूल्य केवल पच्चीस रुपये (Rs. 25/-)।

(११) **न्यास-पर्यालोचन**। यह ग्रन्थ व्याकरणसम्बन्धी सैकड़ों अश्रुतपूर्व विषयों का आगार है। इस प्रकार का शोधपूर्ण प्रयत्न व्याकरणविषय पर प्रथम बार प्रकाशित हुआ है। इस के विषयवार वैशिष्ट्य के लिये पुस्तकसूची देखें। स्क्रीन प्रिंटिड सुन्दर जिल्द, पक्की अङ्ग्रेजी सिलाई। मूल्य केवल एक सौ पचास रुपये।

संस्कृत के छात्र, विद्वज्जन एवं अध्यापक लघुसिद्धान्तकौमुदी (भैमीव्याख्या) के सभी छह भाग 25% की विशेष छूट के साथ 750.00+25.00 (डाकव्यय) = 775.00 का मनीआर्डर भेजकर सीधे हमसे मंगवा सकते हैं–

भैमी प्रकाशन
५३७, लाजपतराय मार्केट,
दिल्ली-११०००६